प्रकाशक :

साहित्य प्रकाशन समिति

(जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा)

३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट,

कलकत्ता-१

★

अर्थ-सहायक :

सुराणा मेमोरियल ट्रस्ट

८१, सदर्न एवेन्यू,

कलकत्ता

★

प्रकाशन तिथि :

मर्यादा महोत्सव शताब्दी समारोह

(माघ शुक्ला सप्तमी)

संवत् २०२१

★

प्रथमावृत्ति

११००

★

पृष्ठ संख्या :

८१८

मूल्य :

पन्द्रह रुपये

★

मुद्रक :

शोभाचन्द सुराना

रेफिल आर्ट प्रेस,

३१, बड़तल्ला स्ट्रीट,

कलकत्ता-७

समर्पण

●

तेरापन्थ-इतिहास के शब्द-शरीर में
जिनकी अर्थात्मा परिव्याप्त है,
उन तपोधन, महामहिम
आचार्यश्री भीखणजी
के चरणों
में

●

॥
॥
वि
न
या
व
न
त

—मुनि बुद्धमल्ल

प्रकाशकीय

जिनका इतिहास नहीं उनकी स्मृति नही। जो स्मरणीय होता है उसे विस्मृति मे डाल देना पीढ़ियो की अकर्मण्यता का द्योतक तो है ही साथ-साथ उनके पतन का भी। इतिहास का काम है कि भविष्यत् मे उत्पन्न होनेवाली संतानों को प्रेरणा देता रहे। यो तो स्मृति मे इतिहास की बातें रहती ही हैं पर ज्यो-ज्यों समय निकलेगा स्मृति औझलता के साथ विच्छिन्न भी होती जायगी। इसीलिए आवश्यकता है कि इतिहास लिपिबद्ध किया जाय ताकि चिर काल तक मानव-समाज को उत्प्राणित करता रहे।

चारित्र विशुद्धि में तेरापंथ का इतिहास बड़ा क्रान्तिकारी रहा है। धर्म के नाम से मानवता की कमजोरी का लाभ तथाकथित धर्मज्ञो ने उठाया है। धर्म जहाँ आत्मा की विशुद्धि का एकमात्र कारण है, वहाँ इसके नाम से शोषण की भी कमी नही रही है। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए मनुष्य रात को दिन बताने जैसा कार्य, अधर्म को धर्म बताकर कर डालता है। स्वामी भीखणजी की क्रान्ति इसीलिए थी कि लोगो को धर्म का विशुद्ध स्वरूप ज्ञात हो। मानवता धर्म के नाम से होनेवाले आडम्बरों एवं रूढ़ियों मे फँस डूबे नहीं, वरन् संयम, अहिंसा तथा सत्य आदि मौलिक गुणों का सही स्वरूप जानकर तथा उन्हें जीवन मे ढालकर जीवन को सफल बनावें। यही स्वामीजी का ध्येय रहा और उसी को आज दो सौ वर्षों के ऊपर तक पश्चादनुवर्ती नौ आचार्य सामने रखकर जनमानस को आत्मोत्थान का सदेश देते आ रहे है।

मुनिश्री बुद्धमल्लजी ने इसी इतिहास को हस्तलिखित जीवनियो तथा ख्यातो से संचय कर एक स्थान पर लिखने का प्रयास किया है। मुनिश्री जैन श्वेताम्बर तेरापथ के नवमाधिशास्ता आचार्य श्री तुलसी के मेधावी शिष्यों में से है। विश्ववंद्य आचार्य श्री तुलसी ने तेरापंथ की द्विशताब्दी को संवत् २०१७ (ईसवी सन् १९६०) मे केलवा तथा राजनगर में मनाने की जब उद्घोषणा की तो उसके साथ तेरापंथ के हस्तलिखित साहित्य को प्रकाश मे लाने की परिकल्पना भी पैदा हुई। अपनी मर्यादा मे रहते हुए सन्त-समुदाय ने अपना काम किया तो उन्हीं ग्रन्थो को विधिवत् धार कर प्रकाशन का काम श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा,

आदर्श साहित्य-संघ आदि विविध संस्थानों ने किया। मुनि श्री बुद्धमल्लजी को तेरापंथ का पूर्व इतिहास लिखने का कार्य आचार्य श्री तुलसी ने सौंपा। भाव, भाषा, शैली तथा वस्तु आदि दृष्टि से मुनि श्री का ज्ञान समृद्ध है। द्विशताब्दी के अवसर पर आचार्य श्री ने प्रसन्न होकर आपको साहित्य परामर्शक की उपाधि से विभूषित किया था। अणुव्रत आन्दोलन के प्रचार में आपका विशेष सहयोग प्राप्त हुआ है। आप एक उच्च कोटि के कवि है, लेखक है। आपके ग्रन्थों की सूची इस पुस्तक के शेषांश मे दी गई है।

तेरापंथ सम्प्रदाय का बीज वपन कैसे हुआ, वह अंकुरित कैसे हुआ, तत्पश्चात् पल्लवित पुष्पित होकर अपनी सौरभ से मानव-समाज को कैसे-कैसे सुरभि देता हुआ उनका पथ प्रदर्शन करता रहा—यह इस इतिहास का विषय है। मुनिश्री बुद्धमल्लजी ने इतिहास को लिपिबद्ध कर तेरापथ शासन की बहुत बड़ी सेवा ही नहीं वरन् शासन की एक आवश्यक भाग की पूर्ति की है।

यह कृति सेठ मन्नालाल सुराणा मेमोरियल ट्रस्ट के आर्थिक सहयोग से प्रकाशित की जा रही है। इस ट्रस्ट के स्थापनकर्ता प्रमुख समाजसेवी तथा सुश्रावक श्री हनुतमलजी सुराणा (चूरू निवासी) है। श्री हनुतमलजी साहब सुराणा ने अपने पिता स्वर्गीय श्री मन्नालालजी की स्मृति में यह एक बड़ा ट्रस्ट कायम किया है, जो समाज के लिये एक अनुकरणीय कदम है। इस ट्रस्ट की वार्षिक आय पचास हजार रुपये से.उपर की है एवं सारी आय प्रति वर्ष सभी वर्ग के लोगों की हर उचित आवश्यकताओं की पूर्ति मे। लगाई जाती है—जैसे छात्रवृत्ति, दैवी विपत्ति, बाढ, भूकम्प या अकाल आदि के समय मे तथा अर्थाभाव से ग्रस्त, असहाय लोगों की सेवा मे इसका बहुत बड़ा भाग नैतिक मूल्यो के प्रचार-प्रसार मे लगता है, जैसे अणुव्रत प्रचार मे, संत-साहित्य संकलन तथा उसके प्रकाशन मे। अभी हाल ही मे भारत की राजधानी दिल्ली मे अणुव्रत विहार की जमीन की लागत के लिये २५000) पचीस हजार रुपये का दान इस ट्रस्ट द्वारा घोषित किया गया है। आदर्श साहित्य संघ तथा अखिल भारतीय अणुव्रत समिति आदि संस्थाओं को ट्रस्ट का हर समय बड़ा सहयोग प्राप्त होता रहता हे। समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति में इस ट्रस्ट तथा श्री हनुतमलजी साहब सुराणा का बहुत बड़ा सहयोग हर समय मिलता रहता हे। आप महासभा के पृष्ठपोषको मे हैं। साहित्य प्रकाशन समिति को अपने

कार्य मे आप से आकांक्षित सहयोग प्राप्त हुआ है, इसके लिये हम आपके प्रति आभार प्रगट करते है ।

जैन श्वेताम्बर तेरापंथ के साहित्य को प्रकाशन करने के लिए महासभा ने एक पृथक् साहित्य प्रकाशन समिति द्विशताब्दी के अवसर से स्थापित कर रखी है। समिति का उद्देश्य तेरापन्थ के मनीषी आचार्य, साधक व तत्त्व-चिन्तकों द्वारा अनुस्यूत सत्साहित्य का प्रकाशन व प्रचार करना है। उक्त समिति ने इस लघु अवधि मे अपने यत्किंचित् परिश्रम द्वारा सत्साहित्य को विविध स्रोतों मे प्रकाशित कर जैन वाङ्मय का संवर्धन किया है। तदनुसार "तेरापंथ का इतिहास" को प्रकाशन कर समिति ने अपनी ऐतिहासिक धारा को अक्षुण्ण रखा है, यह हमारे लिये प्रसन्नता का विषय है।

साहित्य प्रकाशन समिति के प्रथम व भूतपूर्व सयोजक श्रीचन्दजी रामपुरिया तेरापन्थी श्रावकों मे से एक अच्छे मेधावी विद्वान् है। अन्यान्य ग्रन्थो के प्रकाशन के साथ-साथ प्रस्तुत इतिहास के प्रकाशन मे भी सर्वप्रथम आपका सहयोग सराहनीय रहा है। अत: मै उनको इस अवसर पर धन्यवाद देता हूं और अपेक्षा करता हूं कि पूर्वापेक्षया भविष्य मे भी आपका हार्दिक सहयोग इसी तरह मिलता रहेगा।

विश्व को सहृदयता की कड़ी मे जोड़ने वाले सुज्ञ अन्वेषको तथा जिज्ञासु पाठकों के लिये यह पुस्तक यदि प्रेरणा देने वाली सिद्ध हुई तो हम अपना परिश्रम सार्थक समझ संतोष प्राप्त करेंगे।

[illegible]

पौष पूर्णिमा संवत् २०२१
(दिनांक १७-१-६५)
कलकत्ता

संतोषचन्द बरड़िया
संचालक—साहित्य विभाग
—साहित्य प्रकाशन समिति
श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता

भूमिका

'धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ' अर्थात् धर्म उसी के पास ठहरता है, जिसका मन विशुद्ध होता है। अशुद्ध मन धर्म के लिए उपयुक्त क्षेत्र नहीं होता। मन की वैयक्तिक तथा सामष्टिक विशुद्धता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए तदनुकूल धार्मिक व्यवस्था तथा वातावरण की आवश्यकता होती है। उसके अभाव में जन-मानस की विशुद्धि अशुद्धि में बदलने लगती है। सामष्टिक अशुद्धि का प्राबल्य जब असामान्य होने लगता है तब उसके विरुद्ध वातावरण बनता है और धर्म-क्रान्ति के लिए भूमिका तैयार होती है। ऐसे अवसर पर मार्ग-दर्शन के लिए प्रायः कोई-न-कोई महापुरुष इस संसार में आता है और प्रसुप्त जन-मानस को झकझोर कर जगाता है। धर्म के प्रति वितृष्णा और अधर्म के प्रति अनुराग तभी उत्पन्न होता है जबकि धर्म का वास्तविक स्वरूप आँखों के सामने से ओझल हो जाता है। महापुरुष अपने दिव्य नेत्रों से उस स्वरूप को पहचानते हैं और जन-मानस में उसकी पुनः प्रतिष्ठा करते हैं। प्रत्येक धर्म-क्रान्ति की प्रायः यही प्रक्रिया रही है। इस परिप्रेक्ष्य में तेरापन्थ की स्थापना को एक सफल धर्म-क्रान्ति के रूप में देखा व परखा जा सकता है।

आज से लगभग दो शताब्दी पूर्व वि० सं० १८१७ आषाढ़ पूर्णिमा को तेरापन्थ की स्थापना हुई थी। वह कोई सहसा ही घटित हो जाने वाली घटना मात्र नहीं थी; अपितु उस समय की एक अनिवार्य आवश्यकता तथा अवर्जनीय माँग थी। वह ऐसा समय था जबकि भारतीय जन-मानस अंध-परम्पराओं तथा रूढ़ियों से परिव्याप्त होकर ह्रासोन्मुख हो चुका था, राजनैतिक वर्चस्व पराजय की शृङ्खलाओं में आबद्ध कराह रहा था, सामाजिक संघटना की कड़ियाँ एक-एक कर विछिन्न होती जा रही थीं और आर्थिक क्षेत्र में हीनता के बीज उप्त किये जा चुके थे। धार्मिक क्षेत्र भी उस विपन्नावस्था से अछूता नहीं रहा। आचार और विचार सम्बन्धी शैथिल्य ने उस समय के जन-मान्य साधु-समाजों में एक दुष्पूर रिक्तता उत्पन्न कर दी थी। धार्मिक संगठन वृद्धावस्था से जर्जरित शरीर की तरह लड़खड़ाने लगे थे। इन सभी स्थितियों की सम्मिलित घुटन में तेरापन्थ के रूप में सम्मुख आने वाली इस धर्म-क्रान्ति के बीज अंकुरित हुए थे।

क्रान्तद्रष्टा आचार्य श्री भीखणजी ने इस धर्म-क्रान्ति का मार्ग-दर्शन तथा नेतृत्व किया। सम्यग् आचार और सम्यग् विचार का पुनः संस्थापन ही उनका एकमात्र उद्देश्य था। वे उसमें पूर्णतः सफल हुए। बहुत से लोगों ने उनके क्रान्त विचारों का

पहले तो तीव्रता से विरोध किया, बाद में उन्हें जिज्ञासा से सुना और अन्त में सत्य व हितकर पाकर अपनाया। जैन धर्म के लिए तेरापन्थ को जहाँ एक नव-प्राणदायी संगठन कहा जा सकता है, वहाँ उसे आचार-विशुद्धि के क्षेत्र में होने वाली धर्म-क्रान्तियों का नवनीत कहा जा सकता है।

तेरापन्थ की स्थापना को दो सौ वर्ष पूर्ण हो चुके हैं। एक धर्म-संस्था के लिए यह कोई बहुत लम्बा समय नहीं होता; फिर भी इस अवधि में तेरापन्थ ने जिस इतिहास का निर्माण किया है, वह अत्यन्त प्रेरक तथा गौरवास्पद है। अपने संगठन के रूप में तेरापन्थ जितना अर्वाचीन है; बीजात्मक परम्परा के रूप में उतना ही प्राचीन। मूलतः वह प्राचीनता और अर्वाचीनता का एक ऐसा संगम है जहाँ दोनों को ही उपयुक्त महनीयता प्राप्त हुई है। उसने दोनों को अपना शृङ्गार बनाया है; शिर का भार नहीं। यही कारण है कि तेरापन्थ जहाँ धर्म के मौलिक स्वरूप के संरक्षणार्थ सबल प्रहरी बनकर कार्य कर सका है, वहाँ संगठन के क्षेत्र में अनेक नवोन्मेष भी कर पाया है। प्रत्येक शताब्दी-वर्ष पर अपनी व्यवस्थाओं का पुनर्निरीक्षण कर अपने नवीकरण का उसे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रथम शताब्दी की सम्पन्नता पर जयाचार्य ने और द्वितीय शताब्दी की सम्पन्नता पर आचार्यश्री तुलसी ने उसमें नव-स्फूर्ति की प्रतिष्ठा की है। तेरापन्थ ने अपनी इस तृतीय शताब्दी में जिस स्फूर्त्त चेतना के साथ पदन्यास किया है, वैसा प्रसंग धर्म-संघों के इतिहास में अपूर्व ही कहा जा सकता है।

द्विशताब्दी की सम्पन्नता के अवसर पर तेरापन्थ का इतिहास लिखने का कार्य आचार्यश्री ने मुझे समर्पित किया; इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ। इससे मुझे अनन्य श्रद्धेय स्वामी भीखणजी के चरणों में जहाँ अपनी यह श्रद्धा-कुसुमांजलि अर्पित करने का अवसर मिला, वहाँ इस महान् संघ की गतिविधियों का गहराई से अध्ययन करने का भी अवसर प्राप्त हुआ। संघ का एक सदस्य होने के नाते मेरे मस्तिष्क में तेरापन्थ के इतिहास-निर्माताओं के जो चित्र सहजरूप से अंकित थे, वे इस प्रक्रिया में अधिक गहरे और स्पष्ट हुए हैं। एतद् विषयक मेरे ज्ञात में जो बहुत सारा अज्ञात छिपा हुआ था, उसमें अपेक्षाकृत न्यूनता होकर ज्ञातांश की जो वृद्धि हुई है, वह भी मेरे लिए कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

विस्मृत का अन्वेषण और स्मृत का संरक्षण ही इतिहास कहलाता है। प्राचीन इतिहास के प्रकाश में उस नवीन इतिहास का निर्माण होता है, जो भावी संतति के लिए अनुभव-कोष बनता है। जो अपने इतिहास की अवहेलना करते हैं और उसके द्वारा संप्राप्त अनुभवों की ओर से आँख मीचते हैं, वे अपने गौरव की समाप्ति के साथ-

साथ स्वयं भी समाप्त हो जाते हैं। तेरापन्थ इस विषय में प्रारम्भ से ही जागरूक रहा है। उसने न केवल गौरवशाली इतिहास का निर्माण ही किया है, अपितु उससे प्राप्त अनुभवों के आधार पर अपने आपको अधिक सावधान तथा प्रगतिशील बनाने में भी सफल हुआ है। इतिहास लिखते समय मेरे सम्मुख यह तथ्य बारबार स्पष्ट हुआ है।

प्रस्तुत इतिहास ग्रन्थ को मैंने दो खण्डों में विभक्त किया है। प्रथम खण्ड का नाम—'तेरापन्थ के आचार्य' और द्वितीय खण्ड का 'तेरापन्थ की उपलब्धियाँ' रखा गया है। प्रथम खण्ड में तेरापन्थ के नौ आचार्यों का जीवन-वृत्त वर्णित है जबकि द्वितीय में चतुर्विध संघ, साहित्य, मन्तव्य और व्यवस्था आदि का परिचय कराया गया है।

दोनों खण्ड मिलकर ही तेरापन्थ-इतिहास की समग्रता प्रस्तुत करते हैं, अतः दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। यद्यपि प्रस्तुत खण्ड में सभी आचार्यों का जीवन-वृत्त आ गया है, फिर भी उनके जीवन की जो अनेक घटनाएँ विभिन्न साधु-साध्वियों तथा श्रावक-श्राविकाओं के जीवन से सम्बन्धित होकर द्वितीय खण्ड के विभिन्न स्थलों पर आई हैं, उनका तथा साहित्यिक कृतियों और अनुशासन के प्रकार आदि का पारायण किए बिना किसी भी जीवन-वृत्त को पूर्ण कैसे कहा जा सकता है? इसी प्रकार द्वितीय खण्ड में उल्लिखित व्यक्तियों के जीवन की भी अनेक घटनाएँ विभिन्न आचार्यों के जीवन में आ गई हैं, अतः वे भी वहाँ अपूर्ण ही हैं। इस परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि दोनों खण्डों की पूर्णता और उसी प्रकार अपूर्णता भी परस्पर सापेक्ष है।

इसके लेखन में संघ के हस्तलिखित ग्रन्थों का ही मुख्यतः आधार रहा है। प्रस्तुत खण्ड में छह आचार्यों (क्रमशः पाँच प्रथम आचार्य एवं अष्टम आचार्य) के जीवन-वृत्त उनके पद्यबद्ध जीवन-चरित्रों के आधार पर लिखे गये हैं, जबकि माणकगणी और डालगणी (षष्ठ और सप्तम आचार्य) के जीवन-वृत्त मुख्यतः ख्यात के आधार पर। आचार्यश्री तुलसी के जीवन-वृत्त का प्रथमांश ख्यात के आधार पर और शेषांश या अधिकांश : जैन "भारती" में प्रकाशित विवरणों तथा एतद् विषयक अन्य विकीर्ण सामग्री में से श्रम-साध्य छंटनी करके लिखा गया है। निकटता तथा प्रत्यक्षता के कारण आचार्यश्री के जीवन-वृत्त का लेखन मैंने सरल समझा था परन्तु सामग्री-संचयन और लेखन की दृष्टि से वही मेरे लिए सर्वाधिक कठिन रहा।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ प्राचीन बहियाँ, चोपड़ियाँ तथा इतस्ततः लिखित अन्य विकीर्ण सामग्री भी मेरे इस कार्य में बहुत सहायक हुई है। क्वचित् उनसे संवादक-सामग्री उपलब्ध हुई तो क्वचित् नवीन भी। मैंने उन सबका यथोचित

और यथावश्यक उपयोग करने का प्रयास किया है। प्राचीन सामग्री में जहाँ परस्पर विरोधी या अस्पष्ट बातें मिलीं, वहाँ उन्हें उद्धृत करते हुए पूर्वापर कथनों अथवा स्थितियों को ध्यान में रखकर अपनी ओर से निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है। मैंने यहाँ कुछ ऐसी घटनाओं को भी ग्रहण किया है, जिनका प्राचीन सामग्री में कहीं उल्लेख तो उपलब्ध नहीं हुआ परन्तु वे श्रुतानुश्रुति से संघ में काफी प्रचलित रही हैं।

इस ग्रन्थ का बहुलांश दिल्ली में वि० सं० २०१५-१६ तथा कुछ २०१७-१८ में विभिन्न स्थानों पर लिखा गया है। उपयोगिता की दृष्टि से मैंने इसे संवत्-क्रम के बजाय विषय-क्रम से लिखा है।

प्राचीन सामग्री में घटनाओं का समय बतलाते हुए क्वचित् जैन-क्रम से संवत् का उल्लेख किया गया है तो क्वचित् पञ्चाङ्ग-क्रम से। पञ्चाङ्ग के अनुसार आधे चैत्र के पश्चात् नव वर्ष का प्रारम्भ होता है जबकि जैन-क्रम से श्रावण के साथ। इससे आधे चैत्र से आषाढ तक में घटित होने वाली घटनाओं के समय-निर्धारण में अन्तर आ जाता है। मैंने यथाज्ञात पञ्चाङ्ग-क्रम को ही काम में लिया है।

प्रस्तुत खण्ड के अन्त में ६ परिशिष्ट जोड़े गए हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—द्विशताब्दी-समारोह, धवल-समारोह, व्यक्ति-नामावलि, ग्राम-नामावलि, पारिभाषिक-शब्दकोश, उद्धृत ग्रन्थ एवं संकेत-सूचि। प्रथम दो परिशिष्ट तेरापन्थ के इतिहास की दो नवीन कड़ियों की अवगति कराने वाले हैं और शेष चार अध्येता को उद्दिष्ट की जानकारी में सुगमता प्रदान करने वाले।

इतिहास-लेखन के इस कार्य में आचार्यश्री का जो निर्देशन मेरे लिए मार्ग-दर्शक रहा, वह महत्त्वपूर्ण तो अवश्य है पर नवीन कुछ भी नहीं। उनका मार्ग-दर्शन मेरे समग्र जीवन-निर्माण में ही परिव्याप्त रहा है। उन्होंने अपनी व्यस्तता में भी समय निकालकर इस ग्रन्थ का आद्योपान्त जो निरीक्षण किया है, वह इसकी प्रामाणिकता को असन्दिग्ध बनाने में बहुत अपेक्षणीय कहा जा सकता है।

लेखनकाल में उठी आशंकाओं में से अनेक का समाधान मैंने वयोवृद्ध मुनिश्री चम्पालालजी 'मीठिया' द्वारा प्राप्त किया है। उनके अतिरिक्त अन्य अनेक रात्निकों तथा सहयोगियों से भी यथावश्यक सहयोग प्राप्त होता रहा है। मैं उन सबके प्रति कृतज्ञ हूँ।

मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' प्रायः मेरी हर कृति की सुव्यवस्था में सहयोगी रहे हैं। इसमें भी आद्योपान्त उनका श्रम लगा है। मुनि ऋद्धकरणजी (श्री डूंगरगढ़)

लगभग तीस वर्ष तक जनपद-विहार करते हुए भगवान् महावीर ने जनता को अहिंसा और अनेकांतवाद का उपदेश दिया। उन्होंने अपना अंतिम वर्षावास मध्यम पावा में बिताया। वहाँ वि० पू० ४७० (ई० पू० ५२७) कार्त्तिक अमावस्या की रात्रि में वे निर्वाणपद को प्राप्त हुए।

उत्तरवर्ती आचार्य

भगवान् महावीर के निर्वाण प्राप्त होने के पश्चात् आर्य सुधर्मा से उत्तरवर्त्ती आचार्यों की परंपरा प्रारंभ होती है। विभिन्न ग्रंथों में वर्णित आचार्य परंपराओं के अवलोकन से ज्ञात होता है कि वह मुख्यतः तीन प्रकार से वर्णित मिलती है—

१—गणाचार्य

२—वाचनाचार्य

३—युग-प्रधान आचार्य

गणाचार्य परम्परा अपने-अपने गण के गुरु-शिष्य क्रम से चलती रही है ; जबकि वाचक तथा युग-प्रधान परम्परा किसी एक गण से सम्बन्धित नहीं है। वह जिस किसी भी गण या शाखा में होने वाले एक के पश्चात् दूसरे समर्थ वाचनाचार्यो तथा युग-प्रधान आचार्यो के क्रम को जोड़ने से बनी है। अपने युग के सर्वोपरि प्रभावशाली आचार्य को युग-प्रधान आचार्य माना गया है। वे गणाचार्य तथा वाचनाचार्य दोनों में से हुए हैं। गणाचार्य का कार्य गण की चारित्रिक सुव्यवस्था करना और वाचनाचार्य का कार्य शैक्षणिक सुव्यवस्था करना है। आचार्य सुहस्ती तक ये दोनों कार्य अविभक्त थे परन्तु बाद में विभक्त हो गये। गणाचार्य-परम्परा को गणधर-वंश तथा वाचनाचार्य-परम्परा को वाचक-वंश या विद्याधर-वंश भी कहा जाता रहा है।

विभिन्न पट्टावलियाँ

१—हिमवंत की स्थविरावलि के अनुसार वाचक-वंश या विद्याधर-वंश की परम्परा इस प्रकार है—

(१) गणधर सुधर्मा
(२) आचार्य जम्बू
(३) ,, प्रभव
(४) ,, शय्यंभव
(५) ,, यशोभद्र
(६) ,, संभूति विजय
(७) ,, भद्रबाहु
(८) ,, स्थूलभद्र
(९) ,, महागिरि
(१०) आचार्य सुहस्ती
(११) आर्य बहुल और बलिसह
(१२) आचार्य (उमा) स्वाति
(१३) ,, श्याम
(१४) ,, सांडिल्य (स्कंदिल)
(१५) ,, समुद्र
(१६) ,, मंगुसूरि
(१७) ,, नंदिलसूरि
(१८) ,, नागहस्तीसूरि

विषयानुक्रम

प्रथम परिच्छेद

(उत्स का सन्धान १-२८)

द्वितीय परिच्छेद

(आचार्य श्री भीखणजी २६-१२२)

तृतीय परिच्छेद

(आचार्य श्री भारमलजी १२३-१६४)

चतुर्थ परिच्छेद

(आचार्य श्री रायचन्दजी १६५-१९०)

पंचम परिच्छेद

(श्री जयाचार्य १६१-२८६)

षष्ठ परिच्छेद

(आचार्य श्री मघवागणी २८७-३१६)

सप्तम परिच्छेद

(आचार्य श्री माणकगणी ३१७-३३४)

अष्टम परिच्छेद

(आचार्य श्री डालगणी ३३५-३८८)

नवम परिच्छेद

(आचार्य श्री कालूगणी ३८९-४९७)

दशम परिच्छेद

(आचार्य श्री तुलसी ४९९-६७७)

परिशिष्ट १

(द्विशताब्दी-समारोह ६८१-६९४)

परिशिष्ट २

(धवल-समारोह ६९७-७०६)

परिशिष्ट ३

परिशिष्ट ४

परिशिष्ट ५

परिशिष्ट ६

प्रथम परिच्छेद

उत्स का सन्धान

प्रथम परिच्छेद

उत्स का सन्धान

: १ :

प्राग्-ऐतिहासिक काल

उत्स की ओर

तेरापथ का इतिहास वि० स० १८१७ आषाढ पूर्णिमा (ईस्वी सन् १७६०) से प्रारम्भ होता है। इस आधार पर उसे एक अर्वाचीन धर्म-सगठन कहा जा सकता है, परन्तु उसके उत्स का संधान करते समय क्रमशः भगवान् महावीर और फिर भगवान् ऋषभनाथ तक के समय का अवगाहन करना अनिवार्य हो जाता है। उस स्थिति में अर्वाचीन तेरापथ अपने में प्राचीनता की उस सीमा को सभाले हुए आगे बढता प्रतीत होता है, जो कि सुज्ञात भारतीय इतिहास की सीमा से भी बहुत परे की है। यो कहा जा सकता है कि तेरापंथ जैन-धर्म की शाश्वत प्रवहमान धारा का युग-धर्म के रूप में एक नवीन संस्करण है। तेरापथ के इतिहास को जानने के साथ यह आवश्यक है कि उसके उत्स की ओर भी एक दृष्टि-निक्षेप किया जाए।

भगवान् ऋषभनाथ

अहिंसा, सत्य आदि धर्म के शाश्वत तत्त्व है, फिर भी मानव-संस्कृति के विकास और ह्रास के साथ-साथ वे स्मृत और विस्मृत होते रहते हैं। विस्मृत धार्मिक तत्त्वों को पुनः स्मृत कराना धर्म का सस्थापन कहा जाता है। वर्तमान कालचक्र के अवसर्पिणी भाग में भगवान् ऋषभनाथ ने सर्वप्रथम धर्म का संस्थापन किया।

उपलब्ध इतिहास की दृष्टि से उस काल को प्राग्-ऐतिहासिक काल कहा जाता है। वर्तमान मानव-सभ्यता का उस काल में बीज-वपन हुआ था। उससे पूर्व मनुष्य युगलरूप में रहता था। वृक्षों से ही अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति किया करता था।

सभ्यता का विकास

भगवान् ऋषभनाथ ने नई सभ्यता की नीव डाली। उन्होंने लोगों को कृषिकर्म करना सिखलाया। अग्नि से काम लेने की प्रक्रिया स्थापित की। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक तन्त्रों की व्यवस्था की। सभ्यता का वह आदि युग था। भगवान् ऋषभनाथ उसके सस्थापक थे अतः वे आदिनाथ कहलाये।

धर्म-प्रवर्त्तन

लोक-धर्म की स्थापना के पश्चात् भगवान् ऋषभनाथ ने लोकोत्तर-धर्म—मोक्ष-धर्म का प्रवर्त्तन किया। वह भोग से त्याग की ओर, असंयम से संयम की ओर तथा तम से ज्योति की ओर अभियान था। इस कालचक्र में जैनधर्म का आदि स्रोत वहीं से प्रारम्भ हुआ। भगवान् ऋषभ जैन धर्म के चौवीस तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर थे।

भगवान् अरिष्टनेमि

भगवान् ऋषभ के पश्चात् होने वाले तीर्थंकरों में अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर थे। वे श्रीकृष्ण के चचेरे भाई होने के साथ-साथ उनके आध्यात्मिक गुरु भी थे। छांदोग्य उपनिषद् में श्रीकृष्ण के गुरु का नाम घोर आंगिरस बतलाया गया है। उन्होंने श्रीकृष्ण को आत्मयज्ञ का उपदेश दिया था। उस यज्ञ की दक्षिणा बतलाई गई है—तपश्चर्या, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्य[1]। ये सबके सब आत्मगुण हैं। वेदों में आत्म-तत्त्व की कोई सुस्थिर मान्यता प्रतिपादित नहीं मिलती, जबकि जैनधर्म प्रारम्भ काल से ही आत्मवाद की भित्ति पर अवस्थित है। अतः कुछ इतिहासवेत्ताओं का मत है कि वेदों से भी पूर्व आत्म-विषयक इतना सुव्यवस्थित उपदेश देने वाले जैन तीर्थंकर अरिष्टनेमि ही थे। वैदिक साहित्य में वे ही घोर आंगिरस नाम से वर्णित हुए हैं।

इतिहास की परिधि

भगवान् ऋषभ से लेकर भगवान् अरिष्टनेमि तक के बाईस तीर्थंकरों का काल प्राग्-ऐतिहासिक इसलिए कहा जाता है कि उस काल पर प्रकाश डालने वाला कोई सम-सामयिक साहित्य अथवा वास्तु-शिल्प आदि उपलब्ध नहीं है। जैन-साहित्य का विशाल भाग प्रायः भगवान् महावीर के पूर्व का नहीं है। थोड़ा भाग भगवान् पार्श्व की परम्परा का उसमें अवश्य सम्मिलित माना जाता है। बौद्ध-साहित्य ने तो निस्सन्देह महात्मा बुद्ध से ही अपना आदि स्रोत प्रारम्भ किया है।

वैदिक-साहित्य अपेक्षाकृत अवश्य प्राचीन है। उसमें वेद सबसे प्राचीन माने जाते हैं। उनका अस्तित्व पाँच हजार वर्ष पूर्व का कहा जाता है। वर्तमान इतिहास की परिधि भी प्रायः वहीं तक सीमित है। उसके पूर्व की घटनाओं को सिद्ध करने का कोई मार्ग उपलब्ध नहीं है।

सुदूर अतीत

उपर्युक्त बाईस तीर्थंकरों का समय इतिहास की दृष्टि-शक्ति से परे सुदूर अतीत में चला जाता है। यद्यपि वेदों में भगवान् ऋषभ, अजित और अरिष्टनेमि का नामोल्लेख हुआ है[2]

१—छांदोग्य उपनिषद् : ३-१७

२—'इण्डियन फिलॉसॉफी' में डॉ॰ राधाकृष्णन् लिखते हैं—

"The Yajurveda mentions the names of three Tirthankaras—Rishabha, Ajitnath and Arishtanemi." (Vol. 1, p. 287)

और वहाँ उनकी स्तुति की गई है फिर भी उससे केवल इतना ही सिद्ध किया जा सकता है कि वेद-रचना से पूर्व उन महापुरुषो के नामो से जनता परिचित थी।

: २ :
ऐतिहासिक काल

भगवान् पार्श्वनाथ

तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे। उनका जन्म वाराणसी में हुआ था। उनके पिता राजा अश्वसेन और माता वामादेवी थी। उन्होने भगवान् महावीर से प्राय दो सौ-पचास वर्ष पूर्व तीर्थ-प्रवर्त्तन किया था। उनकी परम्परा भगवान् महावीर के समय तक अविच्छिन्न चलती रही। स्वय भगवान् महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के ही अनुयायी थे। भगवान् पार्श्वनाथ चातुर्याम धर्म का उपदेश देते थे[1]। वे चार याम ये थे—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और बहिर्धादान।

जैन परम्परा के अनुसार प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर पंचयाम धर्म का प्रवर्त्तन करते है और शेष बाईस तीर्थंकर चातुर्याम धर्म का। भगवान् महावीर ने जब पचयाम धर्म का प्रवर्त्तन किया तब भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के अनेक मुनि सदिग्ध हुए कि एक उद्देश्य से प्रवृत्त होने पर भी धर्म में यह द्वैध कैसा ? वे भगवान् महावीर के शिष्यो से मिले, चर्चाएं कीं और दोनों का अभेद समझकर अन्तत पंचयाम धर्म में प्रविष्ट हो गये[2]।

उस सम्मिलन से पूर्व तक भगवान् पार्श्व की परम्परा काफी सबल रूप में चलती रही थी। समाज के प्राय: सभी वर्गों को उसने प्रभावित किया था। बौद्ध-धर्म-प्रवर्त्तक महात्मा बुद्ध भी प्रारभ में उस परपरा से प्रभावित रहे थे। बौद्ध विद्वान् धर्मानंद कौशांबी का मत है कि बोधि-प्राप्ति से पूर्व कुछ समय के लिए महात्मा बुद्ध पार्श्व-परम्परा में दीक्षित हुए थे[3]। बोधि-प्राप्ति से पूर्व का अपना जीवन-चरित्र बतलाते हुए स्वय बुद्ध ने जो बातें कही है वे कौशांबीजी के मत को पुष्ट करने वाली है। वे अधिकांश बातें जैनाचार से सम्बन्धित हैं। उन्होने अपने तपस्वी जीवन का वर्णन करते हुए कहा है—"मैं नग्न रहा। हाथो में भोजन लिया। अभिहित, उद्दिष्ट तथा निमंत्रण का भोजन नहीं किया। केश-लुचन करता रहा। उदक के एक बिन्दु पर भी दया करता रहा। मुझ से सूक्ष्म जीव भी न मर जाए—ऐसे सावधान रहता था। ग्रीष्म तथा शीत में अकेला भयकर जंगल में नग्न रहता। आग से नही तापता और मुनि-अवस्था में लीन रहता[4]।"

१—उत्तराध्ययन : २३.२३

२—वही : २३

३—पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म : पृ० २४-२६

४—मज्झिमनिकाय, महासीहनाद सुत्तन्त १२ पृ० ४८-५०

भगवान् महावीर

भगवान् महावीर चौबीसवें तीर्थंकर थे। बिहार प्रांत के क्षत्रिय कुंडपुर में ई० पू० ५९९ में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को उनका जन्म हुआ था। उनके पिता राजा सिद्धार्थ और माता वैशालीपति चेटक की बहिन त्रिशला थी[1]। भगवान् महावीर जब युवावस्था को प्राप्त हुए तब यशोदा नामक राजकन्या के साथ उनका विवाह किया गया[2]। उनके प्रियदर्शना नामक एक पुत्री हुई जो कि राजकुमार जमालि को ब्याही गई।

तीस वर्ष की पूर्ण युवावस्था में सहज प्राप्त सुखों को ठुकराकर वे आत्म-साधना में लग गये। दीक्षित होते समय उनकी प्रथम प्रतिज्ञा थी—आज से मेरे लिए सब प्रकार के दोषाचरण अकरणीय है[3]। उन्होंने अपने आपको तपश्चर्या और तत्त्व-चिन्तन में लगा दिया। बारह वर्ष और साढे पाँच महीने की निरन्तर साधना के अनन्तर उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हुई।

अपनी साधना के शिखर को प्राप्त कर लेने के पश्चात् उन्होंने मध्यम पावा में आकर सब प्राणियो के हितार्थ धर्मोपदेश दिया। उन्हीं दिनो वहाँ सोमिल नामक धनाढ्य ब्राह्मण के यहाँ यज्ञ विषयक एक विशाल अनुष्ठान चल रहा था। उसकी पूर्ति के लिए इन्द्रभूति आदि ग्यारह वेदविद् ब्राह्मण वहाँ आये हुए थे। महावीर की प्रशसा सुनकर उनका पाडित्य आहत हुआ। वे उनको शास्त्रार्थ में परास्त करने के लिए एक-एक करके वहाँ आये किन्तु उनके धर्मोपदेश से स्वयं प्रभावित हो गये। महावीर ने उनके प्रच्छन्न सशयों का भी समाधान प्रस्तुत कर दिया। वे श्रद्धाशील बने और भगवान् के पास प्रव्रजित हो गये। भगवान् ने साधु-समूह की व्यवस्था का भार उपर्युक्त ग्यारह विद्वान्-शिष्यो को सौंपा अतः वे गणधर कहलाये। साध्वी-समूह की व्यवस्था के लिए उन्होंने आर्या चंदनबाला को नियुक्त किया। उनके गृहस्थ भक्त श्रावक और श्राविका कहलाए। इस प्रकार चतुर्विध संघ की स्थापना हुई और धर्म-तीर्थ का प्रवर्त्तन हुआ।

उन्होंने अग, वंग, मगध, विदेह, काशी, कोशल, वत्स, अवन्ती, कलिंग, पांचाल और सिंधु-सौवीर आदि देशों में विहार किया। मगधराज श्रेणिक (बिंबसार) और कुणिक (अजातशत्रु), वैशालीपति चेटक, अवन्तीपति प्रद्योत, कौशांबीपति शतानीक आदि प्रभावशाली राजा तथा आनद कामदेव आदि धनकुबेर वैश्य उनके अनन्य भक्त बन गये। स्कदक आदि अन्य धर्मावलम्बी संन्यासी भी उनके सर्व-भूत-समभावकारी उपदेश से प्रभावित होकर उनके पास प्रव्रजित हुए। हरिकेशी जैसे शूद्र समझे जाने वाले व्यक्ति भी उनके धर्म-तीर्थ में आकर देव-पूजित बन गये।

१—आवश्यक चूर्णी में कहा गया है—"भगवतो माया चेडगस्स भगिणी"; परन्तु दिगंबर मान्यता है कि वे चेटक की पुत्री थीं।

२—दिगंबर मान्यता है कि महावीर अविवाहित थे।

३—सव्वं मे अकरणिज्जं पाव कम्मंति (आचा० २०२४)

लगभग तीस वर्ष तक जनपद-विहार करते हुए भगवान् महावीर ने जनता को अहिंसा और अनेकांतवाद का उपदेश दिया। उन्होंने अपना अंतिम वर्षावास मध्यम पावा में विताया। वहाँ वि० पू० ४७० (ई० पू० ५२७) कार्तिक अमावस्या की रात्रि में वे निर्वाणपद को प्राप्त हुए।

उत्तरवर्ती आचार्य

भगवान् महावीर के निर्वाण प्राप्त होने के पश्चात् आर्य सुधर्मा से उत्तरवर्ती आचार्यों की परपरा प्रारंभ होती है। विभिन्न ग्रंथो में वर्णित आचार्य परपराओ के अवलोकन से ज्ञात होता है कि वह मुख्यत. तीन प्रकार से वर्णित मिलती है—

१—गणाचार्य

२—वाचनाचार्य

३—युग-प्रधान आचार्य

गणाचार्य परम्परा अपने-अपने गण के गुरु-शिष्य क्रम से चलती रही है ; जवकि वाचक तथा युग-प्रधान परम्परा किसी एक गण से सम्वन्धित नही है। वह जिस किसी भी गण या शाखा में होने वाले एक के पश्चात् दूसरे समर्थ वाचनाचार्यो तथा युग-प्रधान आचार्यो के क्रम को जोडने से वनी है। अपने युग के सर्वोपरि प्रभावशाली आचार्य को युग-प्रधान आचार्य माना गया है। वे गणाचार्य तथा वाचनाचार्य दोनो में से हुए है। गणाचार्य का कार्य गण की चारित्रिक सुव्यवस्था करना और वाचनाचार्य का कार्य शैक्षणिक सुव्यवस्था करना है। आचार्य सुहस्ती तक ये दोनों कार्य अविभक्त थे परन्तु वाद में विभक्त हो गये। गणाचार्य-परम्परा को गणधर-वंश तथा वाचनाचार्य-परम्परा को वाचक-वंश या विद्याधर-वंश भी कहा जाता रहा है।

विभिन्न पट्टावलियाँ

१—हिमवंत की स्थविरावलि के अनुसार वाचक-वंश या विद्याधर-वंश की परम्परा इस प्रकार है—

(१) गणधर सुधर्मा
(२) आचार्य जम्बू
(३) ,, प्रभव
(४) ,, शय्यंभव
(५) ,, यशोभद्र
(६) ,, सम्भूति विजय
(७) ,, भद्रवाहु
(८) ,, स्थूलभद्र
(९) ,, महागिरि
(१०) आचार्य सुहस्ती
(११) आर्य वहुल और वलिसह
(१२) आचार्य (उमा) स्वाति
(१३) ,, श्याम
(१४) ,, सांडिल्य (स्कंदिल)
(१५) ,, समुद्र
(१६) ,, मंगुसूरि
(१७) ,, नंदिलसूरि
(१८) ,, नागहस्तीसूरि

(१९) आचार्य रेवतिनक्षत्र
(२०) „ सिंहसूरि
(२१) „ स्कंदिल
(२२) „ हिमवन्त क्षमाश्रमण
(२३) „ नागार्जुनसूरि
(२४) „ भूतदिन्न
(२५) आचार्य लोहित्यसूरि
(२६) „ दूष्यगणी
(२७) „ देववाचक (दिवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण)
(२८) „ कालक (चतुर्थ)
(२९) „ सत्यमित्र (अंतिम पूर्वविद्)

२—दुस्सम-काल-समण-सघत्यव और विचार-श्रेणी के अनुसार 'युग-प्रधान-पट्टावली' और समय इस प्रकार है —

आचार्यों के नाम	समय (वीर निर्वाण)
(१) गणधर सुधर्मा	१ से २०
(२) आचार्य जम्बू	२० से ६४
(३) „ प्रभव	६४ से ७५
(४) „ शय्यंभव	७५ से ९८
(५) „ यशोभद्र	९८ से १४८
(६) „ सभूति विजय	१४८ से १५६
(७) „ भद्रबाहु	१५६ से १७०
(८) „ स्थूलभद्र	१७० से २१५
(९) „ महागिरि	२१५ से २४५
(१०) „ सुहस्ती	२४५ से २९१
(११) „ गुणसुन्दर	२९१ से ३३५
(१२) „ श्याम	३३५ से ३७६
(१३) „ स्कंदिल	३७६ से ४१४
(१४) „ रेवतिमित्र	४१४ से ४५०
(१५) „ धर्मसूरि	४५० से ४९५
(१६) „ भद्रगुप्तसूरि	४९५ से ५३३
(१७) „ श्री गुप्तसूरि	५३३ से ५४८
(१८) „ वज्रस्वामी	५४८ से ५८४
(१९) „ आर्यरक्षित	५८४ से ५९७
(२०) „ दुर्बलिका पुष्यमित्र	५९७ से ६१७
(२१) „ वज्रसेनसूरि	६१७ से ६२०
(२२) „ नाग हस्ती	६२० से ६८९
(२३) „ रेवतिमित्र	६८९ से ७४८

(२४) आचार्य सिंहसूरि	७४८ से ८२६
(२५) „ नागार्जुनसूरि	८२६ से ९०४
(२६) „ भूतदिन्नसूरि	९०४ से ९८३
(२७) „ कालकसूरि (चतुर्थ)	९८३ से ९९४
(२८) „ सत्यमित्र	९९४ से १०००
(२९) „ हारिल्ल	१००० से १०५५
(३०) „ जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण	१०५५ से १११५
(३१) „ (उमा) स्वाति सूरि	१११५ से ११९७
(३२) „ पुष्यमित्र	११९७ से १२५०
(३३) „ संभूति	१२५० से १३००
(३४) „ माठर संभूति	१३०० से १३६०
(३५) „ धर्म ऋषि	१३६० से १४००
(३६) „ जेष्ठांगगणी	१४०० से १४७१
(३७) „ फल्गुमित्र	१४७१ से १५२०
(३८) „ धर्मघोष	१५२० से १५९८

३—वाल्लभी युग-प्रधान-पट्टावली इस प्रकार है—

	काल
(१) आर्य सुधर्मा	२० वर्ष
(२) आचार्य जम्बू	४४ वर्ष
(३) „ प्रभव	११ वर्ष
(४) „ शय्यभव	२३ वर्ष
(५) „ यशोभद्र	५० वर्ष
(६) „ सम्भूति विजय	८ वर्ष
(७) „ भद्रबाहु	१४ वर्ष
(८) „ स्थूलभद्र	४६ वर्ष
(९) „ महागिरि	३० वर्ष
(१०) „ सुहस्ती	४५ वर्ष
(११) „ गुणसुन्दर	४४ वर्ष
(१२) „ कालक	४१ वर्ष
(१३) „ स्कंदिल	३८ वर्ष
(१४) „ रेवतिमित्र	३६ वर्ष

(१५) आचार्य मगू		२० वर्ष
(१६) „	धर्म	२४ वर्ष
(१७) „	भद्रगुप्त	४१ वर्ष
(१८) „	आर्यवज्र	३६ वर्ष
(१९) „	रक्षित	१३ वर्ष
(२०) „	पुष्यमित्र	२० वर्ष
(२१) „	वज्रसेन	३ वर्ष
(२२) „	नागहस्ती	६९ वर्ष
(२३) „	रेवतिमित्र	५९ वर्ष
(२४) „	सिंहसूरि	७८ वर्ष
(२५) „	नागार्जुन	७८ वर्ष
(२६) „	भूतदिन्न	७९ वर्ष
(२७) „	कालक	११ वर्ष
	कुल	९८१ वर्ष

४—माथुरी युग-प्रधान पट्टावली इस प्रकार है—

(१) आर्य सुधर्मा
(२) आचार्य जम्बू
(३) „ प्रभव
(४) „ शय्यंभव
(५) „ यशोभद्र
(६) „ सम्भूति विजय
(७) „ भद्रबाहु
(८) „ स्थूलभद्र
(९) „ महागिरि
(१०) „ सुहस्ती
(११) „ बलिसह
(१२) „ स्वाति
(१३) „ श्याम
(१४) „ सांडिल्य
(१५) „ समुद्र
(१६) „ मंगु
(१७) आचार्य आर्यधर्म
(१८) „ भद्रगुप्त
(१९) „ वज्र
(२०) „ रक्षित
(२१) „ आनदिल
(२२) „ नागहस्ती
(२३) „ रेवतिनक्षत्र
(२४) „ ब्रह्म-दीपक सिंह
(२५) „ स्कंदिल
(२६) „ हिमवत
(२७) „ नागार्जुन
(२८) „ गोविन्द
(२९) „ भूतदिन्न
(३०) „ लोहित्य
(३१) „ दूष्यगणी
(३२) „ देवर्द्धिगणी

शुद्ध परंपरा

भगवान् महावीर को निर्वाण हुए सहस्र वर्ष भी पूरे नहीं हो पाये थे कि उनकी शुद्ध-परम्परा का लोप हो गया। सुप्रसिद्ध आगम-टीकाकार अभयदेवसूरि के कथनानुसार देवर्धिगणी क्षमाश्रमण तक ही भाव-परपरा चलती रही परन्तु उसके पश्चात् मुनि-गण शिथिलाचारी हो गया और नानारूपों में द्रव्य-परपरा का बोलवाला हो गया [1]।

शिथिलाचार का प्रारम्भ

शिथिलाचार का प्रारम्भिक सूत्रपात आर्य सुहस्ती से हुआ। वे सम्राट् संप्रति के गुरु बनकर कुछ सुविधाओ का उपभोग करने लगे थे। सप्रति ने दुर्भिक्ष के समय मुनिजनो को आहार सुलभ करने के लिए लोगों को कुछ सकेत किया और तदनुसार साधुओ को यथेष्ट भोजन मिलने लगा। आचार्य महागिरि जब वहाँ आये और दुर्भिक्ष के समय भी आहार की इतनी सुलभता देखी तो उन्हें कुछ सदेह हुआ। पता लगाने पर सारी स्थिति स्पष्ट सामने आ गई। उन्होंने आर्य सुहस्ती से उस विषय में पूछा तो वे उसका यथेष्ट उत्तर नहीं दे पाये। इसपर महागिरि ने उनसे सम्बन्ध विच्छेद कर लिया[2]। आचार्य महागिरि की उस दृढ नीति ने आर्य सुहस्ती को सभलने के लिए बाध्य कर दिया। यद्यपि आर्य सुहस्ती तो शीघ्र ही संभल गये, परन्तु जो शिथिलाचार उनसे प्रश्रय पा चुका था, वह निर्मूल नही हो सका। अन्दर-ही-अन्दर शुद्ध परम्परा के साथ-साथ एक शिथिल परम्परा भी चल पडी और चलती रही।

पडित बेचरदासजी के मतानुसार तो शिथिलता का चक्र और भी पहले प्रारम्भ हो गया था। वे लिखते हैं—"जम्बूस्वामी तक ही जैन मुनियों का यथोपदिष्ट आचार रहा। उसके बाद ही जान पडता है कि बुद्धदेव के अतिशय लोकप्रिय मध्यम मार्ग का उनपर प्रभाव पड़ने लगा। शुरू-शुरू में तो शायद जैन धर्म के प्रसार की भावना से ही वे बौद्ध साधुओ जैसी आचार की छूट लेते होंगे, परन्तु पीछे उसका उन्हें अभ्यास हो गया। इस तरह एक सदभिप्राय से भी उक्त शिथिलता बढती गई जो आगे चलकर चैत्यवास में परिणत हो गई[3]।"

सम्प्रदाय-भेद के बीज

जहाँ विचार होता है वहाँ विचार-भेद की संभावना भी रहती ही है। विचार-समन्वय और विचार-भेद का इतिहास प्रायः एक समान ही प्राचीन है। पारम्परिक विचार-समन्वय जहाँ किसी भी संगठन के लिए नींव का पत्थर बनता है, वहाँ विचार-भेद उसको विभक्त

१—देवड्ढि खमासमणजा, परंपरं भावओ वियाणेमि।
सिढियायारे ठविया, दव्वेण परंपरा बहुहा॥—आगम अष्टोत्तरी

२—बृहत्कल्प चूर्णि उ० १

३—जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३५१

कर देने वाला विस्फोट होता है। विस्फोट में से फिर विचार-समन्वय की खोज होती है और उसी आधार पर नये संगठन अथवा सम्प्रदायों की नींव रखी जाती है।

भगवान् महावीर के शासन में विचार-भेद का क्रम उनकी विद्यमानता में ही प्रारम्भ हो गया था। गोशालक प्रारम्भ में उनका शिष्य रहा था परन्तु बाद में पृथक् होकर वह आजीवक सम्प्रदाय का आचार्य बन गया था। महावीर का जामाता जमालि भी उनकी विद्यमानता में ही विचार-भेद हो जाने पर उनके धर्म-संघ से पृथक् हो गया और अपना स्वतन्त्र प्रचार करने लगा था। गोशालक जैन-परम्परा से सर्वथा विछिन्न हो गया था, जबकि जमालि कुछ बातों में ही मत-भेद रखता था। उन दोनों ने भगवान् महावीर के सिद्धान्तों की प्रामाणिकता का विरोध किया था, अतः उनके संगठनों को जैन-शासन के अंगभूत सम्प्रदायों की गणना में नहीं लिया जाता। भगवान् महावीर और उनके सिद्धान्तों पर अखंड विश्वास रखने वाले विभिन्न संगठनों को ही इस गणना में लिया जाता है।

जैन-संघ में तीर्थङ्कर-वाणी को सर्वोपरि प्रमाण माना जाता है। वह आत्मानुभूत प्रत्यक्ष के आधार पर सूत्ररूप में प्ररूपित है। उसकी व्याख्या में विभिन्न मतभेद हुए, जो कि संप्रदाय-भेद के बीज कहे जा सकते हैं। भाष्यकार तथा टीकाकार प्रत्यक्षदर्शी नहीं थे। उन्होंने सूत्र के आशय को यद्यपि परम्परा के प्रकाश में ही देखने का प्रयास किया, फिर भी जहाँ-जहाँ वह हृदयंगम नहीं हो पाया, वहाँ-वहाँ उन्होंने अपनी-अपनी युक्तियों को काम में लिया। फलस्वरूप अनेक मतभेद हुए और वे समय-परिपाक से विभिन्न-सम्प्रदायों के रूप में फलित हुए।

श्वेताम्बर और दिगम्बर

वीर-निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् दिगम्बर-सम्प्रदाय की स्थापना हुई—ऐसी श्वेताम्बर-परम्परा की मान्यता है। दिगम्बरों का कथन है कि वीर-निर्वाण से ६०६ में श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का जन्म हुआ। दोनों सम्प्रदाय अपने को मूल और दूसरे को अपनी शाखा मानकर चलते हैं। कौन मूल है तथा कौन शाखा है—यह अनुसंधान का विषय है। शब्द की दृष्टि से श्वेताम्बर और दिगम्बर— ये दोनों ही परस्पर-सापेक्ष हैं। इनमें से किसी एक का नामकरण होने के पश्चात् ही दूसरे के नामकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी। दोनों ही नामों में वस्त्र को प्रधानता दी गई है, अतः सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि परस्पर अन्य कितने ही मत-भेद क्यों न रहे हों परन्तु सम्प्रदाय-भेद का मुख्य कारण अचेलत्व-सचेलत्व का प्रश्न ही रहा था।

भगवान् महावीर ने अपने संघ में सचेल और अचेल—दोनों ही प्रकार के श्रमणों को समान रूप से स्थान दिया था। अचेल मुनि जिनकल्पिक और सचेल मुनि स्थविरकल्पिक कहलाते थे। उनके प्रभावक व्यक्तित्व का पोष पाकर संयम की भूमिका पर उगा हुआ श्रमण-संघ का वह वृक्ष समन्वय के अपने प्रकांड पर चिरकाल तक दोनों ही शाखाओं को समानरूप से धारण करता रहा।

वह अभेद महावीर-निर्वाण के पश्चात् बहुत लम्बा नही चल सका। जम्बू स्वामी के दिवगत होने के साथ ही भेद-वृत्ति पनपने के संकेत मिलते हैं। उनके दिवंगत होने के साथ ही जिन दस वस्तुओं का लोप माना गया है, उनमें एक जिनकल्पिक अवस्था भी है[1]। सम्भव है अन्तरंग में पनप रहे द्वैध की वह प्रथम घोषणा रही हो। उसके कुछ वर्ष पश्चात् दशवैकालिक में आचार्य शय्यभव का यह स्पष्टीकरण भी कि ज्ञातपुत्र महावीर ने संयम और लज्जा के निमित्त वस्त्र-धारण को परिग्रह नहीं कहा है, उन्होने तो मूर्च्छा को परिग्रह कहा है[2]—उसी भेद-रेखा की ओर अधिक स्पष्टता के साथ सकेत करता है। इतना होते हुए भी उस समय वह मतभेद अन्दर-ही-अन्दर चलता रहा प्रतीत होता है।

बाहर उस मतभेद की स्पष्ट अभिव्यक्ति तब हुई जबकि आचार्य भद्रबाहु की अनुपस्थिति में वी० नि० १६० के लगभग पाटलीपुत्र में महासम्मेलन बुलाया गया और उसमें ग्यारह अगों का सकलन किया गया। वह वाचना सबको पूर्ण मान्य नहीं हो सकी। उससे पूर्व परस्पर में केवल आचार-सम्बन्धी मतभेद ही चलता था, परन्तु उसके पश्चात् श्रुत-सम्बन्धी मतभेद भी चालू हो गया। इतना होने पर भी दोनो ही परम्पराएँ ज्यों-त्यों साथ-साथ चलती रही। कालान्तर में जब मतभेदो का दबाव इतना अधिक हो गया कि साथ-साथ चल पाना असभव हो गया, तब वी० नि० ६०९ (ईस्वी सन् ८३) में जैन श्रमण-संघ का एकत्व श्वेताम्बर और दिगम्बर के द्वित्व में परिणत हो गया।

चैत्यवासी और संविग्न

जैन धर्म में सुव्यवस्था के लिए प्रारम्भ में अनेक गणो की व्यवस्था थी। भगवान् महावीर के समय में ग्यारह गण थे। उनके पश्चात् भी पृथक्-पृथक् आचार्यों के नाम से पृथक्-पृथक् गण या गच्छ चलते रहे थे। परन्तु वे सब परस्पर अविरोधी थे। उनमें कोई मतभेद अथवा विग्रह नहीं था। वी० नि० ८८२ में चैत्यवासी सम्प्रदाय की स्थापना हुई[3]। इसके साथ ही दूसरा पक्ष सविग्न, सुविहित-मार्गी या विधिमार्गी कहलाया। फलस्वरूप श्वेताम्बर मुनि-गण दो विभागों में विभक्त हो गये।

चारित्रिक शिथिलता का प्रारम्भ तो आर्य सुहस्ती से ही हो गया था, परन्तु सम्प्रदाय रूप में उसकी व्यवस्थित स्थापना नौवी शताब्दी में हुई। उस समय शिथिलाचार के कारण कुछ मुनि उग्र विहार छोडकर मन्दिरों के परिपार्श्व में रहने लगे। धीरे-धीरे

१—गण परमोहि-पुलाए, आहारग-खवग-उवसमे कप्पे।
संजम-तिय केवलि-सिज्झणाय जवुम्मि वुछिन्ना ॥ —विशेषावश्यक भाष्य २५९३

२—जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुच्छणं।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारति परिहरंति य ॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्त महेसिणा ॥ —दशवैकालिक ६। १९, २०

३—धर्मसागरकृत पट्टावली

उन्होंने अपना वल वढाया। वी० नि० की दसवी शताब्दी तक उनके सम्प्रदाय का कोई प्रावल्य नही था। देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के दिवगत होते ही उनका वल वढ गया। उन्होंने विद्यावल और राज्यवल—दोनो के द्वारा उग्र विहारी श्रमणों पर पर्याप्त प्रहार किया। स्वय वे लोग मठाधीश वनकर तो रहने ही लगे थे, पर साथ ही वैद्यक, निमित्त-कथन तथा मत्र, डोरा, तावीज आदि भी करने लगे थे। सुविहित-मार्गी मुनियों ने उनके शिथिलाचार के विरुद्ध लम्बे समय तक अपना अभियान चालू रखा था। आचार्य हरिभद्र ने 'सवोधप्रकरण' में, आचार्य जिनवल्लभ ने 'संघ-पट्टक' में और आचार्य जिनपति ने उसकी टीका में चैत्यवासियों के शिथिलाचार पर प्रवल प्रहार किये है।

लोंकामत

विक्रम की सोलहवी शताब्दी में लोंकाशाह ने आचार की कठोरता के पक्ष को प्रवल किया। उन्होने व्यर्थ के क्रियानुष्ठानों, कुसस्कारों आदि को मिटाने का प्रयास किया। मूर्त्तिपूजा के वे प्रवल विरोधी थे। कवीर आदि ने मूर्त्ति-पूजा का विरोध प्राचीन शास्त्रों को छोडकर केवल आत्मानुभव के आधार पर किया था, परन्तु लोंकाशाह ने इस कार्य में प्रधानतः प्राचीन शास्त्रों का ही आश्रय लिया। ऐसा अभिमत है कि वे कुछ समय तक कवीर के समकालीन थे।

कुछ लोगों की मान्यता है कि लोकाशाह ने स्वय दीक्षित होकर धर्म-प्रचार किया था, तो कुछ उसके विपरीत यह मानते हैं कि वे अन्त तक गृहस्थ ही रहे थे। दोनों ही धारणा वाले व्यक्ति इस वात पर एक मत हैं कि उन दिनों उनके मन्तव्यो का प्रचार वड़े जोरों से हुआ था। कहा जाता है कि उन्हीं दिनों तीर्थ-यात्रा के लिए जाता हुआ कोई सघ अहमदावाद मे ठहरा था। उसके अनेक व्यक्ति लोंकाशाह के सम्पर्क में आये। उन्हीं में से पैंतालीस व्यक्ति प्रतिवुद्ध हुए और उन सवने वि० स० १५३१ में (कुछ के मतानुसार १५३३ में) एक साथ दीक्षा ग्रहण की। तभी से उनके गच्छ का नाम 'लोकागच्छ' हुआ। कुछ लोग उनके धर्म को 'दया-धर्म' भी कहते हैं। जितने वेग से लोकामत का प्रसार हुआ था उतने ही वेग से वह छिन्न-भिन्न भी हो गया। केवल तीस वर्ष की अवधि मे ही उसमें अनेक शाखाएँ हो गई। मूलत: लोंकामत का सघीयपक्ष प्रारम्भ से ही निर्वल रहा। उसकी सम्यक् व्यवस्था कभी हो ही नहीं पाई थी।

स्थानकवासी

लोकाशाह के अनुयायियो में आगे चलकर लवजी मुनि हुए। उन्होंने वि० सं० १७०९ में 'ढूंढिया' सम्प्रदाय का उद्भव किया[1]। कालान्तर में इस सम्प्रदाय की एक शाखा के आचार्य धर्मदासजी (वि० स० १७१६ मे दीक्षित) हुए। उनके निन्यानवे शिष्य हुए।

1—ऊ० भि० ज० र० १-२२

आचार्य धर्मदास के दिवगत होने पर वे सब बाईस शाखाओं में विभक्त हो गये। फलस्वरूप उनकी शिष्य-परम्परा 'बाईसटोला' नाम से प्रसिद्ध हुई। इस समय तक उक्त परपरा की सत्रह शाखाओं का पूर्णत: लोप हो चुका है[१]। शेष पाँच शाखाओं में भी साधुओ की सख्या नगण्य रह गयी है, फिर भी यह नाम इतना प्रचलित हुआ कि ढूढिया सम्प्रदाय की समग्र शाखाओ को लोग इसी नाम से पहचानने लगे।

'स्थानकवासी' नाम अपेक्षाकृत अर्वाचीन है परन्तु वर्त्तमान में यही अधिक प्रचलित है। यह नाम सम्भवत: तब प्रचलित हुआ जबकि इस सम्प्रदाय के मुनि स्थानको में रहने लगे। सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य क्षितिमोहन सेन का इस विषय में यह अभिमत है—"बाद में जब लोगों में ठीक रूप से उनकी प्रतिष्ठा हो गई तब इस सम्प्रदाय के लोग भिन्न-भिन्न जगहो में अड्डे जमाने लगे और साम्प्रदायिक वैभव खड़ा होने लगा। क्रमश: उनको 'स्थानक' दोप स्पर्श करने लगा। इसलिए उन्हें 'स्थानकवासी' कहने लगे[२]।"

तेरापंथ

स्थानकवासी सम्प्रदाय में से तेरापंथ का उद्भव हुआ। आचार्य धर्मदासजी के बाईस शिष्यों में से एक धन्नोजी थे। उनके तृतीय पट्ट पर आचार्य रुघनाथजी हुए। तेरापंथ के प्रवर्त्तक आचार्य भीखणजी ने उन्हीं के पास दीक्षा ग्रहण की थी। उन्होंने संघ के आचार विचार को आगमों के कपोपल पर कस कर देखा, तो अनेक अपूर्णताएँ मिली। संगठन के अभाव ने भी उनके मन को झकझोरा। फलस्वरूप वि० स० १८१७ आषाढ पूर्णिमा के दिन तेरापथ की स्थापना हुई। आदि में तेरह साधु तथा तेरह ही श्रावक थे, अत: इसका नाम 'तेरापथ' पड गया। स्वामीजी ने उस नाम को स्वीकार करते हुए उसका अर्थ किया— "हे प्रभो ! यह तेरापंथ है।"

स्वामी भीखणजी ने श्रमण-संघ के जिस सुदृढ स्वरूप का स्वप्न देखा था, उसे उन्होंने तेरापंथ में मूर्त्त रूप दिया। आचार-शुद्धि बनाये रखने के लिए उन्होंने अनेक मर्यादाएँ की। आगमानुमोदित विचारों की स्थापना के लिये उन्होंने आगम-मथन किया और अनेक नये तथ्यों का उद्घाटन किया। सगठन की दृढता के लिए उन्होंने व्यक्तिगत शिष्य प्रथा को समाप्त किया और समूचे सघ के लिए एक ही आचार्य का होना मान्य रखा। थोड़े ही दिनों में एक आचार्य, एक आचार और एक विचार के लिए तेरापंथ अन्य श्रमण-सघो के लिए अनुकरणीय बन गया।

१—वि० सं० १९९१ में प्रकाशित 'श्री जैन धर्म नो प्राचीन सक्षिप्त इतिहास अने प्रभुवीर पट्टावली' पृ० २२०

२—जैन धर्म की प्राणशक्ति शीर्षक लेख—जैन भारती १९४९, १०-३

दिगम्बर तेरापंथ

श्वेताम्बरों के समान दिगम्बरों में भी अनेक शाखाएँ हुई। उनमें भी एक शाखा का नाम 'तेरापंथ' है। वह भी शिथिलाचार के विरुद्ध एक क्रांति का ही परिणाम है। दिगम्बर परम्परा में भी जब शिथिलाचार व्याप्त होने लगा, तब मुनिजन उग्र विहार छोडकर मठवासी बनने लगे। जो 'भट्टारक' शब्द पूज्य तथा आदरणीय अर्थ में दिगम्बराचार्यो के नाम के साथ उपाधि रूप में जोडा जाता था, कालान्तर में वह किसी मठ या मन्दिर से संबद्ध मुनि के लिए रूढ हो गया। मठवास की यह प्रवृत्ति चौथी-पाँचवी शती मे बढने लगी थी। परम्परा-निष्ठ साधु उनके शैथिल्य से बडे असन्तुष्ट थे। उन्होने यथासमय तीव्रता से उनका विरोध किया। फलस्वरूप उनमें दो संघ हो गये—वनवासी और चैत्यवासी। ये दोनों क्रमश मूल-संघ और द्राविड़-संघ नाम से प्रसिद्ध हुए।

देवसेन कृत 'दर्शनसार' के मतानुसार पूज्यपाद देवनंदी के शिष्य वज्रनंदी ने द्राविड-संघ की स्थापना सं० ५२६ में की थी। उसके पश्चात् उसका बल बढता गया और ग्यारहवीं शदी तक पहुँचते-पहुँचते प्राय· सभी प्रमुख आचार्य मठाधीश हो गये। भट्टारक सम्प्रदाय के ये आचार्य न केवल मठादि की व्यवस्था ही करते थे अपितु उनकी सपत्ति का भी उपभोग करने लगे थे। राजगुरु होकर ये छत्र, पालकी, सुखासन आदि द्वारा एक प्रकार से राज-वैभव सपन्न हो गये। इनकी प्रवृत्तियाँ प्राय. श्वेताम्बर चैत्यवासियो के समान ही कही जा सकती हैं। तेरहवी शताब्दी में भट्टारक वसतकीर्त्ति ने अपवाद-वेष के रूप में कभी-कभी वस्त्र धारण करने की परम्परा भी प्रचलित की थी।

श्वेताम्बरों में जिस प्रकार लोकाशाह ने मूर्त्ति-पूजा को अमान्य किया था, उसी प्रकार दिगम्बर-परम्परा में तारण स्वामी (वि० १५०५ से १५७२) ने भी मूर्त्ति को अमान्य घोषित किया। उन्होंने 'तारण-तरण समाज' की स्थापना की। यह समाज चैत्यालय के स्थान पर 'सरस्वती भवन' बनाता है और मूर्ति के स्थान पर शास्त्रों को विराजित करता है। इस समाज का बल अधिक नहीं बढ सका। भट्टारकों की सत्ता पर इसका कोई अधिक प्रभाव नहीं पडा। वे परिग्रह से अधिकाधिक सबद्ध होते गये। कुछ तो मंत्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि में ही अपना बहुत-सा समय लगाने लगे।

भट्टारको के शैथिल्य की प्रतिक्रिया हुई। धर्म-ग्रन्थो के अभ्यासी विद्वान् व्यक्ति उन लोगो को अनादर की दृष्टि से देखने लगे। उनकी ओर से उदासीन होकर वे लोग कुंदकुंद, अमृतचद्र, सोमप्रभ आदि के अध्यात्म-ग्रन्थो का अभ्यास करने लगे थे, अत· 'अध्यात्मी' कहलाने लगे। सत्रहवीं शताब्दी में पंडित बनारसीदासजी द्वारा इस परम्परा को विशेष बल मिला। तब से

अध्यात्म-विद्वानों की वह परम्परा वाणारसीय या बनारसी मत के नाम से प्रसिद्ध हुई[1]। किन्तु आगे चलकर उसका नाम तेरापथ हो गया। इसके साथ ही भट्टारकों का प्राचीन मार्ग 'बीसपथ' कहलाने लगा।

श्वेताम्बर और दिगम्बर—इन दोनों ही परपराओं में 'तेरापथ' का यह नाम-साम्य एक विचित्र संयोग की ही बात कही जा सकती है। श्वेताम्बर तेरापथ नामकरण का तो एक सुनिश्चित इतिहास है[2]। किन्तु दिगम्बर तेरापथ का नाम कब हुआ और क्यो हुआ—यह अभी तक अज्ञात ही है। दिगम्बर आम्नाय के सुप्रसिद्ध विद्वान् पडित नाथूरामजी 'प्रेमी' का अनुमान है कि श्वेताम्बर तेरापंथ के उदय के पश्चात् ही दिगम्बर-परम्परा में यह नाम प्रयुक्त होने लगा है। वे लिखते है—"बहुत सभव है कि ढूढकों स्थानकवासियों) में से निकले हुए तेरापथियों के जैसा निंदित बतलाने के लिए वे लोग जो भट्टारकों को अपना गुरु मानते थे तथा इनसे द्वेष रखते थे, इसके अनुगामियों को तेरापथी कहने लगे हों और धीरे-धीरे उनका दिया हुआ यह कच्चा 'टाइटल' पक्का हो गया हो, साथ ही वे स्वय इनसे बड़े बीसपंथी कहलाने लगे हो। यह अनुमान इसलिए भी ठीक जान पडता है कि इधर के लगभग डेढ-सौ वर्ष के ही साहित्य में तेरहपथ के उल्लेख मिलते है, पहले के नहीं[3]।"

अन्तिम सम्प्रदाय

जैन धर्म में तेरापंथ को अन्तिम सम्प्रदाय कहा जा सकता है। इसके प्रवर्त्तक स्वामी भीखणजी ने इसकी संगठना में अत्यन्त दूरदर्शिता से काम लिया है। आचार-विशुद्ध के आग्रह के साथ-साथ उन्होंने सघ की एकता पर विशेष रूप से बल दिया। उन्होंने सघ की नियमावलि में इस प्रकार की सुव्यवस्था की कि सघ का हर सदस्य परस्पर समानता का अनुभव कर सके, पक्षपात-रहित न्याय प्राप्त कर सके, आवश्यकता पर पूर्णरूपेण सेवा प्राप्त कर सके और सबसे प्रमुख बात यह है कि संयम के अनुकूल वातावरण प्राप्त कर सके।

तेरापंथ के दो-सौ वर्षो का इतिहास इस बात का साक्षी है कि उसके सदस्यो की एकता किन्हीं सामयिक स्वार्थों के खडों को जोडकर नहीं बनाई गई है, अपितु आत्मार्थिता की भावना के शैल-शिखर से अखड रूप में तराशी गई है। यह इसी प्रकार से अखड रह सके, इसके लिए सावधानी बरतने में सघ के हर सदस्य का समान उत्तरदायित्व है।

१—युक्ति-प्रबोध १८

२—इसी पुस्तक का दूसरा परिच्छेद

३—जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३६७

: ३ :

उद्भवकालीन स्थितियाँ

राजनैतिक स्थिति

तेरापंथ का उद्भव कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। वह तो उस युग की परिस्थितियो की एक अनिवार्य मांग थी। एक अर्से से युग के गर्भ में धार्मिक-क्रांति का जो बीज परिपाक पा रहा था, उसी का स्फोट स० १८१७ आषाढ पूर्णिमा (इस्वी सन् १७६०) को तेरापंथ के रूप में जनता के सामने आया।

सारा भारतवर्ष उस युग में राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की विकट उलझनों में से गुजर रहा था। वह समय मुगल साम्राज्य के पतन और अंग्रेजों के शासन के प्रारम्भ का था। औरगजेब की मृत्यु (सन् १७०७) के बीस-बाईस वर्ष पश्चात् ही मुगल साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था। अराजकता के उस अवसर का अंग्रेजों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया था। वे यहाँ की राजनीति में हस्तक्षेप करने लगे थे। उत्तर तथा दक्षिण में अनेक राजाओं और नवावों के पारस्परिक सघर्षों में वे किसी एक पक्ष को अपना बनाकर अपना प्रभाव तथा व्यापार बढाते रहे। कालान्तर में वे यहाँ राज्य भी स्थापित करने लगे। अपने षड्यन्त्रों के द्वारा राजाओं तथा नवावों को गद्दी से उतारना तथा बिठाना भी उनके लिए खेल मात्र हो गया था। भारत में उनके राज्य की नींव पहले-पहल तब जमी, जबकि उन्होंने बगाल के नवाब सिराजुद्दौला के मन्त्री को रिश्वत देकर फोड लिया था और उसी के आधार पर सन् १७५७ में पलासी का युद्ध जीता था। उस युद्ध से बगाल का शासन तो बदला ही परन्तु उसका दूरगामी प्रभाव सारे भारत पर भी हुआ। उस विजय के पश्चात् उन्होंने बहुत शीघ्र ही अपने व्यापारिक प्रतिद्वन्द्वी डचों को सन् १७५९ में और फ्रांसीसियों को सन् १७६० में इतनी करारी हार दी कि फिर उन लोगों का व्यापार भारत में जम ही नहीं पाया।

इधर सन् १७६१ में अफगानों के साथ पानीपत की लडाई में मराठे हार गये और उनका शौर्य राहु-ग्रस्त हो गया। उधर सन् १७६४ में बक्सर की लडाई में सम्राट् शाहआलम अंग्रेजों का बन्दी हो गया और फिर उनकी सरक्षता में रहने लगा। इस प्रकार उस समय भारत के राजनैतिक वातावरण में अंग्रेजों के उदय और भारतीय राजाओं तथा नवावों की प्रतिभा और शक्ति के ह्रास से बड़ी उथल-पुथल मची हुई थी।

राजस्थान की दशा तो उस समय और भी अधिक चिन्तनीय हो रही थी। वह अनेक राजनैतिक इकाइयो में विभक्त तो था ही, परन्तु उनमें भी कोई प्रभावशाली राजा नही रह गया था। रण-बांकुरे राजपूत वीरो की तलवारों का पानी उतर चुका था। शत्रु-दमन के समय काम आने वाला शौर्य पारस्परिक वैमनस्य की आग में भस्म हुआ जा रहा था। एक दूसरे को गिराने की भावना से उत्पन्न परिस्थिति ने सारे राजस्थान को निष्प्रभ बना डाला था। ऐसे अवसरों से लाभ उठाने में निष्णात अग्रेजो ने राजस्थान पर भी अपने दांत लगा रखे थे।

तेरापथ की जन्मस्थली मेवाड की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति तो राजस्थान के अन्य रजवाडो से भी गई-बीती थी। वहाँ के महाराणाओ की तेजस्विता का सूर्य अस्ताचलगामी हो चुका था। सागा और प्रताप के वशज बीते युग की मधुर घटनावलियो की स्मृति-मात्र शेप रह गये थे, न उनका कोई प्रभाव था और न व्यक्तित्व। सामतों का आतक जनता पर तो छाया हुआ था ही पर राणा-परिवार भी उससे बच नही पाया था। सोलह तथा बत्तीस कहे जाने वाले सरदारों के जिन पूर्वजो ने राणा-परिवार की रक्षा की थी और मेवाड का मुख उज्ज्वल किया था, उन्ही के वशजों में परस्पर वैमनस्य चल रहा था। महाराणाओं को कभी शक्तावतो की ओर भुकना पडता था तो कभी चूडावतो की ओर। शक्ति-संतुलन के लिए सरदारों द्वारा किये जाने वाले षड्यंत्रों में आये दिन महाराणाओ की हत्याएँ होती रहती थी।

अराजकता की सी उस स्थिति से पडोसी राज्यो को लाभ उठाने का खूब अवसर मिल गया था। कभी मराठा, कभी सिंधिया तथा कभी होल्कर की सेनाएँ राज्य मे घुस आती और वहाँ की अस्तव्यस्तता को और अधिक बढा देती थी। उनको प्रसन्न रखने तथा उनकी मांग पूरी करने में राज्य का खजाना खाली हो चुका था। आक्रांत सैनिको के हाथो मेवाडी प्रजा आये दिन लुटती रहती थी। कोई सरक्षण देने वाला नही था। महाराणा अपने सरदारों को भी वश में नही कर पा रहे थे, अत बाहरी आक्रमणो को खदेड देना उनके वश की बात हो ही कैसे सकती थी। जनता अपने भाग्य के भरोसे ही जी रही थी।

तेरापथ की स्थापना के समय मेवाड मे महाराणा राजसिह (द्वितीय) राज्य कर रहे थे। वातावरण बडा विक्षुब्ध था। कुछ समय पूर्व ही मराठों ने आक्रमण किया था और वे बहुत-सा धन ले गये थे। उनके कुछ समय पश्चात् मल्हार राव होल्कर का आक्रमण हुआ। महापुरुषों (दादूपथी नागाओं) की सेना का उपद्रव भी उग्रता में चालू था[1]। इस प्रकार वहाँ की राजनैतिक स्थिति अत्यन्त अस्थिर और भयावह थी।

१—महापुरुष (नागा) दादूपंथी साधु होते थे, जो कि जयपुर की सेना में बड़ी संख्या में रहते थे। ये लोग अविवाहित ही रहते थे। मेवाड़ के विद्रोही सामंत रत्नसिह ने सहायतार्थ इन्हें मेवाड़ में बुलाया था।

सामाजिक स्थिति

आज से दो सौ वर्ष पूर्व का समाज प्राय अज्ञान और रूढियो में जकड़ा हुआ था। परं-पराओं के प्रकाश में जहाँ अपने गंतव्य मार्ग पर आगे बढा जा सकता है, वहाँ उन्हीं परं-पराओं को लोगो ने अपने पैरों की बेडियाँ बना लिया था। नवीनता के जीवित बालक से भी कही अधिक प्रिय और आकर्षक उन्हें पुरातनता का शव लगा करता था। पुरातनता की तरह नवीनता में भी कुछ आदेय तथा नवीनता की तरह पुरातनता में भी कुछ हेय हो सकता है—यह तथ्य बहुत कठिनता से ही स्वीकार्य हो पाता था।

उस युग में समाज का नियन्त्रण राज्य से कही अधिक पचो के हाथ में था। उनका दबदबा प्राय· सभी व्यक्तियो पर आतङ्क की तरह छाया रहता था। वे लोग छोटी-छोटी बातों पर अनेक परिवारों को समाज से बहिष्कृत कर दिया करते थे। उनका कार्य मानो इतने में ही सीमित रह गया था कि वे अपने ही समाज के कुछ व्यक्तियों को अपमानित, पीड़ित व बहिष्कृत करते रहें, ताकि अवशिष्ट व्यक्ति उनकी इच्छा के विपरीत चलने का साहस न कर पाये। जाति-बहिष्कृत व्यक्ति या तो अत्यन्त दयनीय जीवन जीने को बाध्य हो जाते थे या फिर अपने गुट को प्रबल बनाकर अलग इकाई बनाने को बाध्य हो जाते थे। इस क्रम से जातियो और उपजातियों की उत्पत्ति को तो प्रश्रय मिलता ही था, साथ ही पारस्परिक घृणा तथा सामाजिक भेद-भाव की घातक वृत्ति भी प्रबलता पाती रहती थी।

सचार-साधनो की प्राय· सर्वत्र ही कमी थी। पर्वतीय भूमि होने के कारण मेवाड में वह और भी अधिक मात्रा में थी। अपने राज्य की सीमाओ को लांघकर बाहर जाने वाले व्यक्तियों की सख्या में अधिकांश भाग सीमान्त-निवासियो का ही हुआ करता था। वाणिज्य की स्थिति उन्नत नही थी। अधिकांश वणिग्-जन आसपास के गाँवों में फेरी देकर या कहीं छोटी-मोटी दुकान चलाकर ही अपने परिवार का भरण-पोषण करने को बाध्य थे। पर्वतों के कारण कृषि-योग्य भूमि की बहुलता नही थी। यत्र-तत्र बिखरे हुए छोटे-छोटे खेतो की भूमि ही धान्य-उत्पत्ति का साधन थी।

विद्यार्जन की प्रवृत्ति प्राय· नहीं के समान ही थी। समाज का एक अङ्ग नारी-समाज तो अज्ञान के अन्धकार में आकठ ही डूबा हुआ था। उनके लिये विद्यार्जन की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी जाती थी। 'एक घर मे दो कलमे नही चल सकतीं'—ऐसी कहावतें स्त्री-शिक्षा-विषयक तत्कालीन जन-मानस की भावना को स्पष्ट कर देती है। पुरुष-समाज में भी अध्ययन की कोई अधिक अच्छी स्थिति नही थी। वणिग्-जनों के अतिरिक्त अक्षर-ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्ति कम ही हुआ करते थे। वणिग्-जाति का सम्बन्ध व्यापार से प्राय कम या अधिक रहा ही है, अत उनमें अक्षर-ज्ञान कर लेने तथा कुछ पहाड़े आदि याद कर लेने की प्रवृत्ति थी। साधारण व्यापार चला लेने तथा बही-खाता लिख लेने से अधिक ज्ञान प्राप्त करने वाला व्यक्ति तो कोई अपवाद स्वरूप ही मिलता था। ब्राह्मण आदि जिन जातियों

में विद्याध्ययन की परम्परा रही थी, उनमें भी विद्याध्ययन से कहीं अधिक विद्याभिमान व्याप्त हो गया था। राज्य अथवा समाज की ओर से ज्ञान-वृद्धि की कोई समुचित व्यवस्था नहीं थी।

संत-समागम की प्रवृत्ति उस समय प्राय. सभी व्यक्तियों में थी। संतवाणी को कण्ठस्थ कर उससे तत्त्वज्ञान की पिपासा शान्त करने की पद्धति भी चालू थी। एक के पास से दूसरा व्यक्ति तत्त्वज्ञान कंठस्थ करता और वह क्रम आगे-से-आगे चलता रहता था। कुछ व्यक्ति उस ज्ञान को लिख भी लेते थे। उससे दूसरे व्यक्तियों को कंठस्थ करने में सुविधा हो जाती थी। तत्त्वज्ञान कंठस्थ करने की यह पद्धति स्त्री-समाज मे भी थी। अक्षर-ज्ञान न होने पर भी वे संतवाणी के सैकड़ो पद्य कण्ठस्थ कर लिया करती थीं। इस प्रकार से ज्ञानार्जन करने वाले पुरुषों या स्त्रियों की संख्या स्वल्प ही हुआ करती थी। जनता का अधिक भाग तो अज्ञान में रहने को ही बाध्य था।

धार्मिक स्थिति

उस समय के व्यक्ति प्राय. धर्मानुरागी थे। धर्म के प्रति उनकी अभिरुचि रहा करती थी, किन्तु धार्मिक नेताओं ने धर्म के शुद्ध स्वरूप को इस प्रकार आच्छादित कर दिया था कि उसको परख पाना असम्भव हो गया था। साथ ही तत्कालीन साधु-वर्ग के शिथिलाचार ने भी धर्मानुरागी व्यक्तियों के हृदयों को आलोडित कर रखा था। उनकी चर्या साधना-पथ से विमुख दिशा में चलने लगी थी। आचारहीन साधुओं ने समाज में ऐसी धांधली मचा रखी थी कि उससे सारे समाज में एक प्रकार की मूक उथल-पुथल उभर कर मुखर होने को तड़प उठी थी।

स्वामी भीखणजी ने उस समय के साधुओं के शिथिलाचार का जो चित्रण किया है, यदि उसका सारांश अति संक्षेप में जानना हो तो उसके लिये उनका यह एक पद्य ही पर्याप्त होगा—

> वैराग घट्यो नै भेख वधियो, हाथ्यां रो भार गधां लदियो।
> थक गया बोझ दियो रालो, एहवा भेखधारी पाँचमें कालो॥[1]

वे कहते हैं—"विराग घट गया है और वेष बढ़ गया है। संयम की साधना के लिये योग्य व्यक्तियों के स्थान पर अयोग्य व्यक्तियों को दीक्षित किया जा रहा है। लगता है हाथियों का भार गधों पर लादा जा रहा है। गधे उस भार को वहन नहीं कर सकते। वे उसे इधर-उधर बिखेर कर खराब कर देते हैं। इसी प्रकार अयोग्य व्यक्ति भी संयम की साधना नहीं कर सकते। वे उसे खण्डित करते हैं और धर्म की अवज्ञा करवाते हैं। इस पंचमकाल में ऐसे वेषधारी साधु ही रह गये हैं।"

साधु-समाज की वह विपन्नावस्था इतनी व्यापक थी कि उसमें कहीं सुधार की भी गुंजा-यश नहीं रह गई थी। गुरु से लेकर शिष्य तक सभी शिथिलाचारी हो गये थे। कौन किसे

१—आ० चौ० ३-२८

कहे और कौन किसकी सुने। स्वामीजी ने प्रारम्भ में सुधार करने का प्रयास किया था, परन्तु उसमे उन्हें अनेक कटु अनुभव हुए। उन्हें लगा कि आपाद-मस्तक व्याप्त यह रोग अब साधारण उपचारो से मिटने वाला नहीं है। फटे वस्त्र को 'थेगडी'– कारी लगाकर ठीक किया जा सकता है, परन्तु जब आकाश ही फट जाए तब उसके कौन-सी 'थेगडी' लगाई जाए[1] ? वस्तुत. उस समय के साधु-वर्ग मे आचार-शैथिल्य की जो दरारें पड चुकी थी, वे बहुत गहरी और दुष्पूर थी।

स्वामीजी ने उस समय उन लोगो में जो खामियाँ देखी थी, उनका उन्होने बाद में अपने ग्रन्थो मे विशद् विवेचन किया था। 'आचार की चौपई' मे उन दोषो के विषय मे आगमिक आधार पर उन्होने बहुत प्रभावक ढङ्ग से प्रकाश डाला है। उनकी समीक्षाओ के अनुसार उस समय के साधु-समाज मे आचार-शैथिल्य की मुख्य रूप से ये बातें थीं—

(१) अपने निमित्त बनाये गये मकानो (स्थानको) में रहते है[2]।

(२) पुस्तक, पात्र और उपाश्रय आदि मोल लिवाते हैं[3]।

(३) लोलुपतावश सरस आहार की खोज में भटकते रहते हैं[4]।

(४) मनोनुकूल पदार्थ देने वाले की प्रशसा और अन्य की निन्दा करते हैं[5]।

(५) जीमनवार में गोचरी जाते हैं[6]।

१—आभे फाटे थीगरी, कुण छै देवणहार।
ज्यू गुर सहित गण बिगड़ियो, त्या रे चिहु दिस परिया वघार॥ —आ० चौ० ६ दोहा ८

२—साधां रें काजें थानक करावें, छकाय री कर घमसांण।
तिण थांनक माहें रहिवा लागा, त्यां भांगी छै श्री जिन आंण रे॥ —आ० चौ० २५-१
बांध्यां थानक पकड्या ठिकाणा रे, गृहस्थ सु मोह बंधाणा।
सुखसीलिया साताकारी रे, डूबा साधु नों भेष धारी॥ —आ० चौ० ८-९

३—पुस्तक पातर उपासरादिक, लिखरावें ले ले नाम जी।
आछा भूंडा कही मोल बतावें, ते करें गृहस्थ नों काम जी॥ —आ० चौ० १-७

४—रसगृद्धी ते हिलिया गटकें रे, सरस आहार नें कारण भटकें।
भेष लेई आतम नहीं हटकै रे, त्यांरें चिहुं दिस फांदा लटकें॥ —आ० चौ० ४-१

५—ताक ताक जाये घर ताजें रे, साधु भेष लियो नहीं लाजें।
पर घर जाय पडघो मांडे रे, नहीं दिया भांड ज्यू भांडे॥
दाता रा करै गुणग्रामो रे, पाडें नहीं दें तिण री मामो।
करै गृहस्थ आगें बातां रे, नहीं बहिरावें त्यांरी करै तांतां॥ – आ० चौ० ४-६,७

६—जीमणवार में वहरण जाए, आ साधां री नहीं रीत जी।
वरज्यो आचारंग वृहतकल्प मे, उत्तराधेन नसीत जी॥
आल्स नहीं आरां में जातां, वले बैठी पांत वसेप जी।
सरस आहार ल्यावै भर पातर, त्यां लज्यां छोड़ी ले भेष जी॥—आ० चौ० १-२०,२१

(६) गृहस्थ को ऐसी प्रतिज्ञा दिलाते है कि यदि तू दीक्षा ले तो मेरे पास ही लेना, अन्य किसी के पास नही[१]।

(७) शिष्य-सख्या बढाने को इतने आतुर रहते हैं कि लडको को उडा लेते है और अन्य किसी ग्राम में जाकर उन्हे दीक्षित कर लेते है[२]।

(८) अच्छे भोजन तथा अच्छे वस्त्रो का लालच दिखलाकर नासमझ व्यक्तियो को दीक्षा के लिये तैयार करते रहते है[३]।

(९) श्रावको से रुपया दिलवाकर शिष्य खरीदते है[४]।

(१०) तत्त्वज्ञान कराये विना ही अज्ञानी व्यक्तियो को दीक्षित कर लेते है[५]।

(११) शिष्य-शिष्याओ के लिए परस्पर झगडते है और एक दूसरे के शिष्य को फोडकर अपना बना लेते है[६]।

(१२) दूसरो की निन्दा करने मे रत रहते है[७]।

(१३) गृहस्थ के साथ समाचार भेजते हैं तथा कागद लिखने की प्रेरणा देते हैं[८]।

१—दिख्या ले तो मो आगै लीजे, ओर कनै ढे पाल जी।
कुगुरु एहवो सस करावै, ए चोड़ै उंधी चाल जी॥—आ० चौ० १-१८

२—वले चेला करै ते चोर तणी परे, ठग पासीगर ज्यू ताम जी।
वले उजवक ज्यू तिणने उचकाय, ले जाय मडै और गाम जी॥—आ० चौ० १२-७३

३—आछो आहार दिखाये तिण ने, कपड़ादिक महीं दिखाय जी।
इत्यादिक लालच लोभ बताए, भोलां ने मडै भरमाय जी॥—आ० चौ० १२-७४

४—चेला करण री चलगत उंधी, चालां ग्रोहत चलाय जी।
साथे लियां फिरे गृहस्थ नें, वले रोकड़ दाम दराय जी॥—आ० चौ० १-२२
जो चेलो हूँतो जाणै आपरो, तो उणनें रोकड़ दाम दरावै रे।
पांचमो महाव्रत भांगनें, तो ही साध रो विड़द धरावै रे॥—आ० चौ० १९-२१

५—भुर सु केई नव तत्त्व नहीं भण्या, ते तो सांग पहरी मुनिराज वण्या।
ज्यू नाहर री खाल पहरी स्यालो, एहवा भेषधारी पाँचमे कालो॥—आ० चौ० ६-२९
जीवादिक जाणें नहीं तेहनें, पाँचो ही महाव्रत उचरावै रे।
साध रो सांग पेहरायनें, भोला लोकां नै पगां लगावै रे॥—आ० चौ० १९-२२

६—वले चेलो करवा कारणे, मांहोमां झगड़ो मांडै रे।
फाड़ा तोड़ो करता लाजे नही, इण साध रा भेष ने भांडै रे॥—आ० चौ० १९-२४

७—पर निन्दा में राता-माता, चित्त में नहीं संतोष जी।
वीर कह्यो दशमां अंग में, तिण वचन मे तेरे दोष जी॥—आ० चौ० १-१७

८—गृहस्थ साथे कहै संदेसो, तो भेलो हुओ संभोग जी।
तिण नै साधु किम सरधीजे, लागो जोग नै रोग जी॥
समाचार विवरा सुध कहि कहि, सानी कर गृही बुलाय जी।
कागद लिखावै कै आमना, पर हाथे दिए चलाय जी॥—आ० चौ० १-२७,२८

(१४) मर्यादा से अधिक वस्त्र रखते है[1] ।

(१५) गृहस्थ के घर उपधि छोड जाते है। महीनो तक कोई उनका प्रतिलेखन नही करता[2] ।

(१६) अपने पारिवारिक जनो की आर्थिक-स्थिति सुधारने के लिए धन की व्यवस्था करवाते है[3] ।

(१७) दोषी व्यक्तियो के दोष दबा दिये जाते है। उन्हे भय रहता है कि कही वह सबकी पोल न खोल दे[4] ।

(१८) समिति, गुप्ति और महाव्रतो में सावधानी का पूर्णत अभाव है[5] ।

१—कपड़ा मे लोपी मरजादा, लांबा पेना लगाय जी।
इधको राखे दोयवड़ ओटे, वले बोले मृषावाय जी ॥ —आ० चौ० १-८१

२—वस्तर पातर पोथी पानादिक, जाए गृहस्थ रे घरे मेल जी।
पछे करे विहार दे घणी भलावण, तिण प्रवचन दीधा ठेल जी ॥ —आ० चौ० १२-२१

वले विण पडिलेह्या रहे सदा नित, गृहस्थ रा घर माय जी।
ओ साधपणो रहसी किम त्यागे, जोवो मूतर रो न्याय जी ॥
जो विण पडिलेह्या रहे एक दिन, तिण नें दड कह्यो मासीक जी।
नसीत रे दूजे उद्देसे, तिहां जोय करो तहतीक जी ॥ —आ० चौ० १२-२४,२५

३—मात पितादिक सगा सनेही, त्यांरा घर मे देखे खाल जी।
त्यां नें परिग्रहो साध दरावें, आ चोड़े कुगुरु री चाल जी ॥
सानीकर साध दरावें रुपिया, वरत पाचमो भांग जी।
वले पूछ्या झूठ कपट सूं बोले, तिण पेहर बिगाड्यो सांग जी ॥
न्यातीलां नें दाम दरावें, त्यां रे मोह न मिटियो कोय जी।
वले सार संभार करावे त्यांरी, ते निश्चे साध न होय जी ॥ —आ० चौ० १२-२६,२७,२८

४—कुसीलिया भागल भेला रहे, तिणरो न काढे निकाल।
कूड कपट करता फिरे, वले साधां सिर दे आल ॥
परसंसा करे आप आपरा, दोषण देवे ढांक।
भागल भागल मिल गया, किण री न राखे सांक ॥
जो एकण ने अलगो करे, तो करे घणां रो उघाड़।
पलमां दूर कियां डरे, ओ खोटो नाणो असार ॥ —आ० चौ० ५-१८,१९-२०

५—पांच सुमत तीन गुपत मे, दीसे छिद्र अनेक।
पाच महाव्रत मांहिलो, आखो न दीसे एक ॥ —आ० चौ० ५-२१

(१९) आचारवान् साधुओं के पास जाने वाले व्यक्तियों को नाना दवाव डालकर रोकते हैं। न मानने पर उनके कुटुम्ब में कलह का बीज बो देते है[1]।

(२०) आज के साधु बिना अकुश के हाथी और बिना लगाम के घोडे की तरह हो रहे है[2]।

स्वामीजी ने आचार-शैथिल्य के जो विषय प्रस्तुत किये हैं उनमें कुछ ऐसे हैं जो उस समय प्रचुरता से व्याप्त थे, किन्तु आगम-दृष्टि से सर्वथा अकरणीय थे, कुछ ऐसे है जो यत्र-तत्र मिलते थे। विभिन्न व्यक्तियो के आचार-शैथिल्य में अन्य अनेक कारण हो सकते है, परन्तु एक कारण प्राय: सभी के मूल में था कि यह दुष्षम काल है, पचम आरा है, इसमे इतने कठोर नियमों का पालन अशक्य है। इस हीन धारणा ने शिथिलाचार का जो बीज बोया, वही फलित होकर उस समय की धार्मिक स्थिति को प्रभावित करने लगा था। राजनैतिक और सामाजिक स्थितियों से पीडित जन-मानस ने जब धार्मिकता में भी इतनी गडबड देखी तब स्वभावत. ही वह अश्रद्धा की ओर बढने लगा।

उस स्थिति में तेरापंथ का उद्भव नितांत आवश्यक और समयानुरूप था। स्वामीजी ने जनता के श्रद्धापक्ष को सबल बनाया, धर्म के शुद्ध स्वरूप पर आच्छन्न आवरणो को दूर किया और पचमकाल के नाम पर शैथिल्य को प्रश्रय देने वाले साधु-वर्ग से कहा कि यदि तुम साधुत्व के कठोर नियम नही पाल सकते तो अपनी उस दुर्वलता को पंचम काल के सिर पर तो मत मढो। साधुता का ढोग रचने से तो यह कही अधिक अच्छा है कि श्रावक-व्रत धारण किये जाए[3]। स्वामीजी के उस क्रान्तिकारी और सबल आह्वान की फल-परिणति ही तेरापथ है।

ग्रह-स्थिति

तेरापथ के उदभव में उस समय की धार्मिक स्थितियाँ तो कारण बनी ही थी, किन्तु आकाशीय स्थितियाँ भी उसमें कारणभूत बनी थी, इस कथन को प्रमाणित करने के लिए

१—सासू वहू मा बेटियां, वले सगा संबंधियां मांहि।
त्यांनै राग ने धेष सिखावता, भेद घलावै ताहि॥
केई आवै शुध साधां कनै, तो मतियां नै कहै आम।
थे वरजी राखो घर रा मिनख ने, जावा मत द्यो ताम॥ —आ० चौ० ५-३२-३३

२—बिन अंकुस जिम हाथी चालै, घोड़ो बिगर लगाम जी।
एहवी चाल कुगुरु री जाणो, कहिवां नैं साधु नाम जी॥ —आ० चौ० १-३५

३—साधपणों थां सू समतो न दीसै, तो श्रावक नाम धरावो।
सगत सारू वरत चोखा पालो, दोषण मतीय लगावो रे॥
आचार थां सूं पलतो न दीसै, तो आरा रै माथै मत न्हाखो।
भगवंत रा केड़ायत बाजो, झूठ बोलता क्यूं नहीं सांको रे॥ —आ० चौ० ९-१९,२०

प्राचीन जैन ग्रंथो को उद्धृत किया जा सकता है। कल्पसूत्र मे कहा गया है—"जिस रात्रि मे भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया, उसी रात्रि मे क्रूर स्वभाव वाला 'भस्म राशि' नामक महाग्रह दो सहस्र वर्षो के लिये उनके जन्म-नक्षत्र मे सक्रांत हुआ। उसका फल यह होगा कि दो सहस्र वर्ष पर्यन्त भगवान् महावीर के शासन की उन्नति में बाधाएँ उपस्थित होती रहेंगी। जब वह ग्रह भगवान् के जन्म-नक्षत्र से व्युत्क्रांत हो जाएगा, तब फिर से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों का उदय और पूजा-सत्कार होगा[१]।"

वगचूलिया में कहा गया है—"भगवान् महावीर के निर्वाण के २९१ वर्ष पश्चात् सम्प्रति राजा होगा, उसके पश्चात् १६९९ वर्षो तक दुष्ट-जन श्रुत की अवमानना करते रहेगे। उसके पश्चात् वीर-निर्वाण के १९९० वर्ष व्यतीत हो जाने पर सघ तथा श्रुत की जन्मराशि पर धूमकेतु नामक ग्रह लगेगा। वह उस राशि पर ३३३ वर्ष पर्यंत रहेगा। उसके उतर जाने पर सघ और श्रुत का उदय होगा[२]।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि वीर-निर्वाण के पश्चात् दो सहस्र वर्ष पर्यन्त 'भस्म राशि' महाग्रह का दुष्प्रभाव धर्म-शासन को प्रभावित करता रहा और जब उसका समय समाप्त होने को आया तब उसके पर्यवसान से दस वर्ष पूर्व ही 'धूमकेतु' नामक महाग्रह का दुष्प्रभाव चालू हो गया, जो कि ३३३ वर्षो तक चलता रहा। दोनो ग्रहों की समन्वित काल-गणना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वीर-निर्वाण के पश्चात् २३२३ वर्ष

१—जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं खुद्दाए 'भासरासी' नाम महागहे दो वास सहस्सट्ठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्मनक्खत्तं संकन्ते।

जप्पभिइं च णं से खुद्दाए 'भासरासी' महग्गहे दो वास सहस्सट्ठिई समणस्स भगवओ महावीरस्स जम्मनक्खत्तं संकन्ते, तप्पभिइं च णं समणाणं निग्गंथाणं निग्गंथीणं च नो उदिए उदिए पूआ सक्कारे पवत्तइ।

जया णं से खुद्दाए जाव जम्मनक्खत्ताओ विइक्कंते भविस्सइ तया णं समणाणं निग्गंथाणं निग्गंथीणं च उदिए उदिए पूआसक्कारे भविस्सइ। —कल्पसूत्र सू० १२८-३०

२—मोक्खाओ वीर-पहुणो दुसएहिं य एगनवइ अहिएहिं।
वरिसाइं संपइ निवो जिण-पडिमा-ठावगो होही॥
ततो सोल-सएहिं नवनवइ पुणो जुएहिं वरिसेहिं।
ते दुट्ठा वाणियगा अवमन्नइस्संति सुयमेयं॥
तम्मिगए अग्गिदत्ता संघ-सुय-जम्मरासि नक्खत्ते।
अडतीसइमो दुट्ठो लगिस्सइ धूमकेउ गहो॥
तस्स ठिइ तिन्नि सया तेतीसा एग रासि वरिसाण।
तम्मिय मीण पइट्ठे संघस्स सुयस्स उदयोत्थि॥ - वंगचूलिया

तक उन ग्रहो का दुष्प्रभाव रहा । वीर-निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम सवत् का प्रवर्त्तन हुआ । अत. उसके अनुसार यह समय वि० स० १८५३ का होता है ।

भस्मग्रह जब वृद्ध हो चुका था, उस समय लोकाशाह ने धर्म-क्रांति के वीज वोये थे । भस्मग्रह के उतरते ही वे फलीभूत हुए और वि० स० १५३१ में लोकाशाह के प्रतिवोधित पैंतालीस व्यक्तियो ने एक साथ दीक्षा ग्रहण की । उन लोगो ने लोकाशाह के मन्तव्य को वडी तीव्रता के साथ प्रसारित किया । 'लोकाशाह की हुडी' मे वर्णित श्राद्ध और आचार का मनन करने से प्रतीत होता है कि लोकाशाह ने शुद्ध परम्परा की स्थापना की थी । यद्यपि उस समय 'धूमकेतु' लग चुका था, परन्तु प्रारम्भिक काल होने से उसका बल तीव्र नही हो पाया था । ज्योही उसका वल वढा त्यो ही उस परम्परा में शिथिलता आ गई और लोंका के अनुयायी अपने क्रान्ति-मार्ग पर पूर्ववत् सुदृढ नही रह पाये[1] ।

इसी प्रकार धूमकेतु वृद्ध हुआ तव स० १८१७ मे तेरापथ का उद्भव हुआ । परन्तु जब तक वह पूर्णत उस राशि पर से हट नही गया, तव तक तेरापंथ किसी प्रकार की प्रगति नही कर पाया । क्रांति के प्रारम्भ में स्वामी भीखणजी आदि तेरह साधु थे, परन्तु एक समय ऐसा भी आया कि वे घट कर केवल छह ही रह गये । वि० स० १८५३ से पूर्व एक वार के लिए भी तेरह की वह संख्या फिर से पूर्ण नही हो पाई । धूमकेतु की अवधि वीर-निर्वाण २३२३ अर्थात् वि० स० १८५३ में समाप्त हुई । उसी वर्ष मुनि हेमराजजी ने स्वामीजी के पास दीक्षा ग्रहण की और वे तेरहवें साधु हुए । उसके पश्चात् उस सख्या मे कभी ह्रास नही हुआ[2] । तेरापथ के लिए क्रमश चतुर्मुखी प्रगति का समय वस्तुत वही से प्रारम्भ होता है । उपर्युक्त ग्रहों की स्थिति के साथ श्रमण-सघ के हानि-विकास की जो भविष्यवाणी उपर्युक्त प्राचीन ग्रथो में की गई है, वह यथार्थ प्रमाणित हुई है ।

भविष्य के लिये

तेरापथ के रूप मे होने वाली इस धर्म-क्रांति के मूल में आचार-शिथिलता से लेकर ग्रह-प्रभाव तक के अनेक दृश्य तथा अदृश्य कारणो का सामवायिक प्रभाव कहा जा सकता है, परन्तु उसकी सफलता तभी संभव हुई जब कि सत्य-निष्ठ और धर्म-प्राण आचार्य भीखणजी जैसे महत्तम व्यक्ति का उसे नेतृत्व प्राप्त हुआ । क्रांत-द्रष्टा आचार्य भीखणजी विघटन और संघटन की सीमाओ के मर्मज्ञ थे । वे जानते थे कि क्रांति की सफलता विघटन मे नही, किन्तु विघटन के पश्चात् किये जाने वाले सघटन में होती है । विधीयमान सघटन की

---

१ – लूंका नां प्रतिबोधिया, सुध ववहार जणाय ।
धूमकेतु बल बाधियां, तेपिण ढीला थाय ॥ —ल० भि० ज० र० १-२१

२—द्वादश मुनि था तेपनें, स्वाम भिक्खु रै जोय ।
तब हेम हुआ मुनि तेरमा, पछै न घटियो कोय ॥ —ल० भि० ज० र० १-१४

निर्दोषता ही क्रांति की निर्दोषता सिद्ध करती है। श्रमण-संघ को अपनी पूर्वकालीन दुर्बलताओं और उनके प्रतिफलों का इतिहास फिर कभी दुहराना न पड़े, इसलिए उन्होंने एक सबल, निर्दोष और क्रियाशील संगठन की नींव रखी। 'तेरापथ' नाम उन्हीं विशेषताओं की सम्मिलित क्षमता का प्रतीक है।

स्वामीजी की संघटन-क्षमता की सुदृढ़ नींव पर तेरापथ का भवन निर्मित हुआ। भवन की विशुद्धता के लिए जिस प्रकार बारी-जालियों से लेकर नालियों तक की सुनियोजित व्यवस्था आवश्यक होती है, उसी प्रकार संगठन की विशुद्धि के लिए भी गुण-स्वीकार और दोष-परिहार की संयोजना आवश्यक होती है। स्वामीजी ने उसके लिए मर्यादाओं का निर्माण किया। उन मर्यादाओं द्वारा संगठन के सदस्यों के कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की सीमाएँ निर्धारित की गईं। हितकर स्थितियों के संरक्षण और विकास तथा अहितकर स्थितियों के परिष्कार और निरसन की व्यवस्था भी की गई। मर्यादाओं का उल्लंघन न होने पाये, इसलिए प्रत्येक सदस्य के मन में मर्यादा के प्रति बहुमान जागृत किया गया। मर्यादाएँ रूढ़ि बनकर कालान्तर में कहीं वातावरण में घुटन पैदा न कर दे, इसलिए वैधानिक स्तर पर विचार-प्रेरित उत्क्रांति का द्वार खुला रखा गया। अनियोजित परिवर्त्तन जितना हानिकर होता है, सुनियोजित परिवर्त्तन उतना ही लाभकर होता है। तेरापथ उसका उदाहरण बनकर क्रमशः उन्नति के पथ पर अग्रसर हुआ।

किसी भी नये संगठन के साफल्य और स्थायित्व के विषय में जन-मानस का सशंयालु होना स्वाभाविक ही होता है। तेरापथ के विषय में भी ऐसे अनेक संशय उत्पन्न हुए। प्रारम्भ में तो लोगों को यह विश्वास ही नहीं हो पाया था कि यह संगठन कभी आगे बढ़ भी पायेगा। उस समय इसके सम्मुख बाधाओं पर बाधाएँ और चुनौतियों पर चुनौतियाँ आती रहती थीं। सब परिस्थितियों का सामना करते हुए यह आगे बढ़ा, फला-फूला और जन-मानस में स्थान प्राप्त करने में पूर्ण रूप से सफल हुआ। इसके संस्थापक स्वामी भीखणजी ने स्वयं अपने जीवन-काल में ही वैसी सफलता प्राप्त की थी, जिसकी पहले उन्होंने कल्पना तक नहीं की थी[1]। इतना होने पर भी एक संदेह बराबर लोगों के मन में उभरता रहा कि पहले भी शैथिल्य के विरुद्ध अनेक उत्क्रांतियाँ हो चुकी हैं, यदि वे स्थायी नहीं बन सकीं तो यह फिर स्थायी कैसे बन जाएगी? काल-परिपाक से यह संस्था भी क्या शिथिलता के उसी मार्ग पर अग्रसर नहीं हो जाएगी, जिस पर कि उसकी पूर्ववर्ती सभी संस्थाएँ अग्रसर हो चुकी हैं?

एक व्यक्ति ने एक बार यह प्रश्न कुछ प्रकारान्तर से स्वयं स्वामी भीखणजी के सामने ही रख दिया था। उसने स्वामीजी से पूछा था—"आपको अपना यह उत्क्रांति-मार्ग कितने वर्षों तक चलता लगता है?"

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २७६

स्वामीजी ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था—"इस मार्ग का अनुगमन करने वाले साधु जब तक श्रद्धा और आचार में सुदृढ रहेंगे, वस्त्र-पात्र आदि उपकरणो की मर्यादा का उल्लघन नही करेंगे और स्थानक खडे करने के फेर में नही पडेंगे , तव तक यह मार्ग अच्छी तरह से चलता रहेगा[1] ।"

स्वामी भीखणजी के उपर्युक्त उत्तर को भविष्य के लिए तेरापथ को दिया गया एक मार्ग-दर्शन कहा जा सकता है। तेरापथ जव तक इस मार्ग पर आरूढ रहेगा, तब तक उसकी प्रगति में कोई वाधा नही आ सकेगी। उत्क्रांति करने वाली पूर्ववर्ती सस्थाओ में जो शिथिल-ताएँ आ गई थी उनका कारण और निवारण स्वामी भीखणजी अच्छी तरह से जानते थे। उन्होंने इस विषय में लिखा है—"अपने निमित्त स्थान वनवाने वाले व्यक्ति वस्त्र-पात्र आदि की मर्यादा का भी लोप कर देते हैं। वे फिर उग्र विहार छोडकर किसी सुविधापूर्ण स्थान में पडा रहना पसंद करने लगते है। इस प्रकार से शिथिल हो जाते है। इसके विपरीत जो साधु मर्यादा को वहुमान देकर चलते है, वे शिथिल नही होते[2] ।" शिथिलता के इन मुख्य कारणों का मूलोच्छेद स्वामीजी ने तेरापंथ की आधारशिला रखने के समय से ही कर दिया था। इसके अतिरिक्त उन्होने सघ के प्रत्येक सदस्य में मर्यादाओ के प्रति इतना वहुमान जागरित किया कि श्रमण-सघ के किसी भी उत्क्रांति-इतिहास में इतने सुदृढ सगठन की स्थापना का कोई दूसरा उदाहरण नही मिलता।

वर्त्तमान मे

आद्य प्रवर्त्तक आचार्य भीखणजी से लेकर वर्तमान तक तेरापथ में निम्नोक्त नौ आचार्य हुए है—

(१) आचार्य श्री भीखणजी
(२) आचार्य श्री भारमलजी
(३) आचार्य श्री रायचदजी
(४) आचार्य श्री जीतमलजी (जयाचार्य)
(५) आचार्य श्री मघराजजी
(६) आचार्य श्री माणकलालजी
(७) आचार्य श्री डालचदजी
(८) आचार्य श्री कालूरामजी
(९) आचार्य श्री तुलसीरामजी (वर्त्तमान आचार्य)

प्रत्येक आचार्य ने अपने शासन-काल में तेरापथ को क्रमश विकसित किया है। वर्त्तमान में आचार्य श्री तुलसी भी उसके चतुर्मुखी विकास मे लगे हुए है। तेरापथ का इतिहास

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ३०७
२—भिक्खु-दृष्टांत दृ० ३०७

आद्योपान्त प्रगति का, संघर्ष विजय का और मर्यादानुवर्तिता का इतिहास रहा है। तेरापथ आत्मानुशासन का एक अलभ्य उदाहरण है। आचार्य का अनुशासन केवल साक्षीमात्र या मार्ग-दर्शक मात्र होता है।

प्रारम्भ से आज तक इस सघ में दीक्षित होने वाले चारित्रात्माओ की सख्या १६७३ है, जिनमें ६६८ साधु तथा १३०५ साध्वियां हैं। विद्यमान चारित्रात्माओ की सख्या ६५५ है, जिनमें १६६ साधु और ४८६ साध्वियां हैं[१]। लाखो की सख्या में श्रावक-श्राविकाएँ है।

एक आचार, एक विचार और एक आचार्य की अभिनव रत्नत्रयी ने तेरापथ को जो स्थैर्य प्रदान किया है। यह तेरापथ के लिए ही नही अपितु समग्र जैन समाज के लिए एक गौरवास्पद बात है। इसी क्रम के आधार पर तेरापथ में, एक के लिए सब और सब के लिए एक' का आदर्श कार्यरूप में परिणत हुआ है। तेरापंथ का भूतकाल गौरवशील और भविष्यकाल नवोन्मेषों की कल्पना-स्थली रहा है। उसका हर वर्तमान काल अपनी प्रगतिशीलता के आधार पर नवोन्मेष की कल्पनाओ को वास्तविकता का रूप देता हुआ आगे बढता रहा है।

१—उपर्युक्त आंकड़े सं० २०१७ आषाढ़ पूर्णिमा तक के हैं।

द्वितीय परिच्छेद

आचार्य श्री भीखणजी

द्वितीय परिच्छेद

आचार्य श्री भीखणजी

: १ :

गृहि-जीवन

विरले मनुष्यो मे से एक

आचार्य श्री भीखणजी तेरापथ के प्रथम आचार्य थे। तेरापथ-सघ की स्थापना करके उस समय जैन सस्कृति के अनुकूल, शास्त्रानुमोदित शुद्ध आचार के द्वार खोल देने का श्रेय उनको ही प्राप्त है। वे एक निर्भीक और प्रत्युत्पन्न बुद्धि वाले आचार्य थे। उन्होने अपनी जीवन-तत्री पर सदा सत्य का ही आलाप भरा। "सच्चमि धिइ कुव्वह[1]"—अपनी बुद्धि को सत्य में ही लगाओ—शास्त्र की इस प्रेरक वाणी को उन्होने पूर्णत हृदयगम कर लिया था। सत्य के लिए प्राण भी देने पडते तो वे उन्हें भी देने का निर्णय कर चुके थे। उनके मुह से निकले हुए ये शब्द—"आत्मा रां कारज सारसां, मर पूरा देसां"[2] कितने मार्मिक, दृढता-सूचक और सत्य पर बलिदान होने के भावो की गहराई के द्योतक है।

सत्य-प्रेमी प्राय सभी होते हैं परन्तु सत्य के लिये सुख, प्रतिष्ठा, पद और चिर-पालित परम्पराओ को ठोकर मार देने वाले विरल ही होते हैं। स्वामीजी उन विरल मनुष्यो में से ही एक थे। सत्य को स्वीकार करने में उन्होने कभी ढील नही की और असत्य से कभी सम-झौता नहीं किया। वे सत्य की फुनगियो पर मडराने वाले भँवरे नही थे, किन्तु उसकी जड़ को अपने में जमा लेने वाले उर्वर भूमितल थे। सत्य के प्रति जितनी निष्ठा उनके हृदय में विद्य-मान थी, असत्य के प्रति उतनी ही घृणा। सत्य के वे अद्वितीय नम्र भक्त थे तो असत्य के उतने ही कठोर आलोचक।

वास्तविकता के समुद्र में गहराई तक पैठ कर मुक्ता प्राप्त करने वाले वे एक सूक्ष्म-चिन्तक व्यक्ति थे। जनापवाद के शैवाल से घबराकर किनारे पर बैठे रहना और ककर बीनते रहना उन्होंने कभी पसन्द नही किया। जनसाधारण जहाँ बाह्य दृष्टि से देखता है, वहाँ उन्होने अन्तर्दृष्टि से देखने पर बल दिया। बाह्य दृष्टि स्थूल होती है, अत: उसकी पहुच सूक्ष्म तक नहीं हो सकती। सत्य की सूक्ष्मता तक पहुचने के लिये दृष्टि की सूक्ष्मता नितान्त अपेक्षित होती है। स्थूल-दृष्टि सदा ही तत्त्व से दूर रही है। तत्त्व-जिज्ञासु के लिये उनका यह मार्ग दर्शन बहुत ही उपयोगी रहा है।

१—आचारांग १।३।२

२—भिक्खु-दृष्टांत दृ० २७६

जन्म

स्वामीजी का जन्म राजस्थान के जोधपुर राज्य के 'कंटालिया' ग्राम में विक्रम् संवत् १७८३ की आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के दिन हुआ था। वे ओसवाल जाति के संकलेचा गोत्र में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता का नाम शाह्बल्लूजी और माता का नाम दीपा बाई था। पति-पत्नी दोनों ही भद्र स्वभाव के और धार्मिक प्रकृति के थे। ऐसे माता-पिता की संतान धर्म-निष्ठ और सत्य-शोधक हो—इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

वंशावलि

स्वामीजी के पूर्वजों मे वीरदासजी बहुत प्रभावशाली व्यक्ति हुए थे। अपने गाम में तो वे मुख्य माने ही जाते थे। आसपास के गामों में भी उनका अच्छा प्रभाव था। वीरदासजी से लेकर स्वामीजी तक की वंशावलि[1] इस प्रकार है।

पढ़ाई
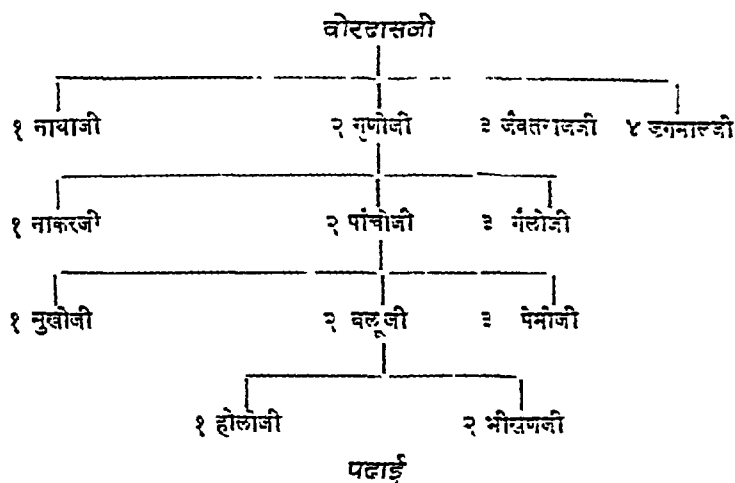
स्वामीजी बचपन से ही बड़े निपुण और कुशाग्र बुद्धि वाले थे। उस समय की पद्धति के अनुसार उन्होंने गुरु के पास पढ़ाई की। महाजनी हिसाब में वे बहुत दक्ष थे। व्यवहार बुद्धि भी उनकी बड़ी सजग थी। एक बार बता देने के पश्चात् वे अपना पाठ बहुत शीघ्र याद कर लेते थे। गुरु को उनके लिये विशेष परिश्रम करने की कभी आवश्यकता नहीं पड़ी।

---

१ – सिरियारी उपाश्रय के महात्मा (मथेरण) स्वामीजी के परिवार में कुलगुरु माने जाते थे। वे वंशावलियां रखा करते थे। स्वामीजी के समय उस उपाश्रय में महात्मा रूपचन्द जी थे। उनके पट्टक्रम से वर्तमान में वहाँ वयोवृद्ध महात्मा शेषमल जी हैं। उनके पास वंशा-वलि की जो हस्तलिखित पुस्तक है, उसी के आधार पर उपर्युक्त वंशावलि दी गई है। राजनगर के महात्मा दाखूलाल जी के पास भी एक हस्तलिखित पुस्तक है, जिसमें भी स्वामीजी की वंशावलि का यही क्रम उल्लिखित है।

स्वाभिमान

बाल्यावस्था में जहाँ उन्हें अन्य अनेक गुणो की अतिशयता प्राप्त थी, वहाँ स्वाभिमान भी उसी अनुपात से प्राप्त था। अपमान-जनक स्थिति उन्हें कही भी सह्य नही हुई। उनके चाचा बहुधा उनके सिर पर प्यार से चपत लगा दिया करते थे। कई बार धीमे तो कई बार जोर से भी। जब वे थोडे बडे हुए तो चाचा का वह व्यवहार उन्हें बहुत अखरने लगा। उन्होंने कई बार उसपर अपनी अप्रसन्नता भी व्यक्त की, पर चाचा नही माने। वे उन्हें चिढाने के लिये पहले से भी अधिक चपत लगाने लगे। आखिर चाचा का वह स्वभाव उनके स्वाभिमान को एक चुनौती हो गया। उन्होने उसे छुडाने के लिये अनेक उपाय किये, पर सफल नही हुए। उन्होने निर्णय किया कि अब यहाँ मृदु उपाय काम नही देंगे, कठोर उपाय से ही काम लेना होगा।

एक दिन वे अपनी पगडी[1] के नीचे कांटे देकर चाचा के पास आये। चाचा ने अपने स्वभावानुसार उनके सिर पर ज्यों ही कसकर हाथ मारा त्यो ही हथेली मे कांटे ही कांटे चुभ गये। चाचा कराह उठे और वे भाग गये। उनके स्वाभिमान ने चाचा का वह स्वभाव सदा के लिये छुडा दिया।

विवाह

उनका विवाह कब हुआ, इसका कोई उल्लेख नही मिलता। परन्तु राजस्थान की तत्कालीन व्यवस्था के अनुसार सम्भवत वह छोटी अवस्था में ही कर दिया गया था। बाल्यावस्था से ही वैवाहिक जीवन में डाल देने पर भी उनका जीवन वैराग्य-भावना से ओतप्रोत रहा। उनका गृहस्थ-जीवन बहुत ही संयत था। उनकी पत्नी उनके अनुरूप ही धार्मिक वृत्तिवाली तथा विनयशील थी। उनके एक पुत्री भी हुई थी[2]।

निपुण गृहस्थ

स्वामीजी दो भाई थे। बडे भाई का नाम होलोजी था। वे पृथक् रहा करते थे। स्वामीजी अपनी माता के साथ रहा करते थे। घर के काम-काज तथा व्यापार मे बहुत शीघ्र ही भाग लेने लगे थे। गृह-भार को वहन करने की उनमें सहज निपुणता थी। अपने ग्राम में वे सर्वाधिक बुद्धिमान् व्यक्ति गिने जाते थे। अत. पच-पचायती में भी उनकी बात का बहुत मूल्य समझा जाता था। असाधारण बुद्धि और दूर-दर्शिता ने उनको हर स्थान पर महत्त्वशील व्यक्ति बना दिया था।

१—उस समय राजस्थान में बालक जब कुछ बड़े हो जाते थे तब अपने सिर पर प्रायः पगड़ी ही बांधा करते थे।

२—स्वामीजी की पत्नी के नाम का उल्लेख कहीं नहीं मिल पाया है। पर महात्मा शेषमलजी तथा दाखूलालजी के पास वंशावलि की पुस्तक में मिलता है कि वह बांठिया परिवार की लड़की थी। उनकी पुत्री के विषय मे लिखा है कि वह 'निर्वांवास' में ब्याही गई थी।

सुधारवादी

वे सत्य-सेवी थे, इसलिये जन-साधारण को गटका देने वाले दभों और प्राचीनता का मवल पाकर चलने वाली रूढियों से उनका प्रारम्भ से ही विरोध रहा। ममय-समय पर उन्होंने उस विरोध को प्रगट भी किया और समाज को सजग करने का प्रयास किया। यद्यपि वे प्रयास कोई व्यवस्थित समाज-सुधार के निमित्त नहीं किये गये थे, फिर भी उनके रूप में हम स्वामीजी के जीवन में सुधारवादिता का जो बीज था, उसे देख सकते हैं। दभो और रूढियों के प्रति उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने वाली अनेक घटनाओं में से कुछ यहाँ दी जा रही हैं।

दभ का विरोध

एक बार गांव में किसी के घर पर चोरी हो गई। पास के ही गाँव में एक अन्धा कुम्हार रहता था, जो कहा करता कि उसके मुँह देवता बोला करते हैं। लोगो का उसकी बात पर विश्वास भी था, अत चोर का पता लगाने के लिये उसे बुलाया गया। स्वामीजी गाँव में सबसे अधिक बुद्धिमान् गिने जाते थे। दभी कुम्हार दिन में उनके पास आया और इधर-उधर की बातें करने के पश्चात् चोरी का प्रसग छेडते हुए पूछने लगा—"आपका सदेह किस पर है?" स्वामीजी उसकी ठग-विद्या को भट ताड गये और बोले—"मेरा सन्देह तो 'मजने' पर है।"

रात को जब चोरी वाले घर पर लोग एकत्रित हुए और कुम्हार को रहस्योद्‌घाटन के लिये कहा गया, तो उसने अपने पूर्व निश्चित लहजे से बोलते हुए कहा—"डाल दे रे, डाल दे, गहने डाल दे।" परन्तु इस तरह कहने से कौन गहने डालता? लोगों ने चोर का नाम बताने के लिये प्रार्थना की। कुम्हार ने तड़कते हुए कहा—"चोर 'मजना' है, उसी ने गहने चुराये हैं।" घर के मालिक ने कहा—"मजना क्या गहने चुराएगा, यह तो मेरे बकरे का नाम है।" यह बात सुनकर लोग हँस पड़े।

अवसर देखकर स्वामीजी ने दिन में कुम्हार से जो बातचीत हुई थी, वह सुनाई और कहा—"तुम लोगो की बुद्धि कहाँ गई है जो आँखों वाले से चुराये गये माल का पता इस अधे आदमी से लगवाना चाहते हो?" इस प्रकार कुम्हार की पोल खोलकर स्वामीजी ने सारे गांव को उसके दभ से बचा लिया[1]।

ओ कुण कालो जी कावरो

जमाई जब ससुराल जाता है तब उसे गालियाँ गाई जाती है। राजस्थान में आमतौर से यह रूढि प्रचलित है। एक बार जब स्वामीजी ससुराल गये और वहाँ भोजन करने बैठे तो स्त्रियाँ गालियाँ गाने लगी—"ओ कुण कालो जी कावरो।" स्वामीजी को यह रूढि बहुत बुरी लगी। अपने लगडे साले की ओर सकेत करते हुए उन्होंने स्त्रियो से कहा—"अन्धे,लूले

१—भिक्खु-दृष्टांत दृ० १०६

तथा लगडे को तो आप अच्छा बताती है और अच्छे को 'बुरा। मैं इसे पसन्द नही करता।" ऐसा कहकर भोजन वीच में ही छोडकर वे उठ खडे हुए। उनके उस विरोध का तत्काल असर हुआ और आगे के लिये गालियाँ वन्द हो गई[१]।

गाली गाने की कुप्रथा

स्वामीजी अपने आचार्य-काल में भी गालो गाने की इस कुप्रथा का विरोध करते रहे। उन्होने इस प्रथा को स्त्री-जाति की लज्जाशीलता के विल्कुल विपरीत वतलाया। उनकी दृष्टि में यह प्रथा स्त्री-जाति की वैचारिक नग्नता है, जो कि शारीरिक नग्नता से भी अधिक भयकर होती है। वे कहते है—

आ तो नारी लाज करें घणी, न दिखालें मुख नें आंख रे।
पिण गाल्यां गावण नें उसरी, जांणें कपडा दीधा न्हाख रे[२] ॥

शीतला आदि का विरोध

स्वामीजी शीतला, भैरू आदि देवो की पूजा को भी एक अज्ञानमय परम्परा ही मानते थे। अनेक वार वे अपने व्याख्यानो मे इनका विरोध करते[३]। वे गृहस्थों मे व्याप्त इस अज्ञान-मूलक परम्परा को छुडा देना चाहते थे। आचार्य-काल की उनकी यह सुधारवादी भावना गृहस्थ-काल की सुधारवादी भावना का ही एक अधिक परिष्कृत रूप कहा जा सकता है।

धर्म-जिज्ञासा

स्वामीजी के माता-पिता गच्छवासी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। अतः स्वामीजी का पहले-पहल उसी सम्प्रदाय के साधुओ के पास आवागमन प्रारम्भ हुआ। किन्तु वहाँ के वातावरण में स्वामीजी के धर्म-जिज्ञासु अन्त करण को तृप्ति नही मिल सकी। कालान्तर में उनके वहाँ आना-जाना छोडकर वे 'पोतियावध-सम्प्रदाय[४]' के साधुओं के पास व्याख्यान आदि सुनने के लिए जाने लगे[५]। परन्तु उनके प्रति भी स्वामीजी की भक्ति चिर-स्थायी नही वन सकी। आखिर उनका सपर्क स्थानकवासी सम्प्रदाय की एक शाखा के आचार्य श्री रुघनाथजी से हुआ और वे उनके अनुयायी वन गये।

१—भिक्खु-दृष्टांत दृ० १०५
२—भिक्षु-ग्रंथ रत्नाकर (द्वितीय खंड) : चेडा कोणिक री सिंध, १८-१६
३ -भिक्खु दृष्टांत दृ० २७९
४—इस सम्प्रदाय के विषय में देखें—भि० ग्रं० र० (प्रथम खंड) पृ० ३१९-३३३ : पोतियावंध की चौपाई तथा लेखक द्वारा लिखित 'श्रमण संस्कृति के अंचल में' पृ० ६९ से ७३
५—स्वामीजी के संसारपक्षीय एक काका पोतिया-वंध सम्प्रदाय में दीक्षित हुये थे। संभव है तभी से स्वामीजी का उन लोगों के पास आवागमन प्रारम्भ हुआ हो।

इस प्रकार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के संसर्ग में आने से उन्हें धर्म-विषयक अनेक प्रकार के विचारों से अवगत होने का अवसर मिला। उनकी तात्त्विक बुद्धि उन विभिन्नताओं के स्पर्श से और प्रखर हो उठी। उससे एक लाभ यह हुआ कि सांसारिक जीवन के प्रति उनकी उदासीनता बढ़ती गई।

उत्कट विराग

धर्म-साधना और भोग-साधना का साथ नहीं हो सकता। दोनों में से किसी एक को ही अपनाया जा सकता है। स्वामीजी ने इस निष्कर्ष पर पहुँच कर अपने आपको धर्म-साधना के लिए ही समर्पित करने का निश्चय किया। उनकी अन्तर्दृष्टि ने उन्हें बताया कि भोग-साधना में अपने को खपा देना इस अमूल्य शरीर का दुरुपयोग है। उन्होंने प्राप्त भोगों को स्वाधीनतापूर्वक छोड़ कर दीक्षित होने का निर्णय किया। उनके साथ उनकी पत्नी ने भी इसी मार्ग का अवलम्बन करने का विचार किया और दोनों संयम की पूर्व-साधना के रूप में ब्रह्मचर्य का पालन करने लगे।

पूर्ण युवावस्था में ब्रह्मचर्य पालन करने का नियम लेकर दोनों ने अपने अन्तःकरण से उठी हुई धर्म-भावना को मूर्तरूप देना प्रारम्भ कर दिया। ब्रह्मचर्य के साथ-साथ दोनों ने यह अभिग्रह भी किया कि जब तक उनकी दीक्षा की भावना कार्य रूप में परिणत नहीं हो जाएगी, तब तक वे एकान्तर उपवास किया करेंगे। यह उनकी उत्कट विराग-भावना का एक स्पष्ट उदाहरण कहा जा सकता है।

पत्नी-वियोग

इस प्रतिज्ञा के कुछ समय पश्चात् ही उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। पत्नी की उस अचानक मृत्यु ने उनकी भावनाओं को एक साथ ही झकझोर डाला। वे सोचने लगे—"काल का कोई भरोसा नहीं है, अत: शुभ काम में समय मात्र का प्रमाद भी भयंकर भूल है। आगम कहते है कि अपने सकल्पित काम को भविष्य के ऊपर तीन ही व्यक्ति छोड़ सकते हैं—एक तो वे, जिनकी मृत्यु के साथ मित्रता है। दूसरे वे, जो मृत्यु के सामने से भाग जाने का सामर्थ्य रखते हैं और तीसरे वे, जो यह समझते हैं कि उनकी मृत्यु कभी होगी ही नहीं[1]।" स्वामीजी रात-दिन इन्ही विचारों में लीन रहने लगे। वे अपनी इच्छा को अब बहुत शीघ्रता से सफलीभूत कर लेना चाहते थे, अत: स्वभावतः ही उनकी आकृति पर गांभीर्य रहने लगा।

लोगों ने उस गांभीर्य को पत्नी के वियोग से उत्पन्न हुआ औदासीन्य समझा। उन्होंने स्वामीजी की भावना को अपनी भावना के अनुरूप ही आंका और सान्त्वना के साथ-साथ

१—जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, से हु कंखे सुए सिया ॥—उत्त० १४-२७

दूसरा विवाह कर लेने के लिए समझाने लगे। परन्तु विरक्त स्वामीजी ने साफ इन्कार कर दिया। अच्छे सम्बन्ध मिलते हुए भी उन्होंने सबको ठुकरा दिया और यावज्जीवन ब्रह्मचर्य पालने की प्रतिज्ञा कर ली।

आत्म-परीक्षा

सयम आत्म-विजयी के लिए जितना सुखदायक है, कायर के लिए उतना ही अधिक दु खदायक है। मन और इन्द्रियो पर नियन्त्रण स्थापित किये बिना इस ओर पैर बढा देना, खतरो से भरा हुआ है। इसीलिए स्वामीजी ने दीक्षा से पूर्व अपने आपको पूर्णरूप से कसौटी पर कस कर देख लिया था कि वे पग-पग पर आने वाले परीपहो का दृढता से सामना कर सकते हैं या नही। उस परीक्षण-काल में एक बार तो उन्होने कैर-का ओसाया हुआ पानी भी पीकर देखा था। अति नीरस उस जल को पीकर वे यह देख लेना चाहते थे कि साधु बनने पर अचित्त जल पीने के नियम को वे निभा सकेंगे या नही? अपने दीक्षित-जीवन के उत्तरार्ध में हेमराजजी स्वामी से उस घटना का उल्लेख करते हुए उन्होने कहा था— "साधु होने के पश्चात् आजतक वैसा नीरस जल पीने का काम नही पडा[१]।" उन्होने आत्म-परीक्षण के रूप में इस प्रकार के अनेक प्रयोग करके अपने आपको पूर्ण रूप से तोलकर देख लिया था।

आज्ञा की माग

जब उन्हें अपनी क्षमता का पूर्ण विश्वास हो गया, तब उन्होने अपना विचार माता दीपां बाई के सामने रखा और दीक्षा के लिए आज्ञा मागी। वे अपनी माता के अत्यन्त प्रिय और विनीत पुत्र थे। साह बलूजी का देहान्त होने के पश्चात् वे उनकी हर आवश्यकता का बडा ध्यान रखा करते थे। ऐसी स्थिति में पुत्र के मुँह से दीक्षा लेने की बात सुनकर दीपां बाई को बडा धक्का लगा। स्वामीजो से उन्हें बडी आशाएँ थी। वे बहुधा कहा करती थी—"मेरा बेटा बडा होनहार है। यह गर्भ में था तब मैंने सिंह का स्वप्न देखा था, अत समय पाकर यह कोई महान् यशस्वी व्यक्ति बनेगा।" अपने एक मात्र सहारे को यो छोड देना उन्हे कभी अभीष्ट नही था, अत दीक्षा के लिए आज्ञा देने से उन्होने साफ इन्कार कर दिया।

बुआ का विरोध

परिवार के अन्य सम्बन्धी व्यक्तियो ने भी यथासाध्य स्वामीजी को अपने निर्णय से विचलित करने का प्रयास किया। उनकी बुआ ने तो दबाव देते हुए यहाँ तक भय दिखलाया कि यदि तुम दीक्षा लोगे तो मैं पेट मे कटारी खाकर मर जाऊँगी। परन्तु स्वामीजी इन सब कठिनाइयो से घबराये नही। उन्होने अपनी बुआ से कहा—"कटारी क्या कोई पूणी है कि कोई उसे पेट में मार ले। ऐसी व्यर्थ की बातो से मुझे अटकाने का प्रयास करना निरर्थक है[२]।"

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १०७

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २८०

स्वप्न की सत्यता

आचार्य रुघनाथजी को जब स्वामीजी के दीक्षा लेने के विचारों का पता लगा तो वे स्वयं आकर दीपां बाई को आज्ञा देने के लिए समझाने लगे। दीपां बाई ने सिंह के स्वप्न की चर्चा करते हुए आचार्य रुघनाथजी से कहा—"भीखण के भाग्य में साधु होना नहीं, कोई वैभवशाली पुरुष होना बदा है। मैं अपने होनहार पुत्र को दीक्षा की आज्ञा कैसे दे सकती हूँ ?"

आचार्य रुघनाथजी ने कहा—"बहन! तुम्हारा स्वप्न मिथ्या नहीं होगा। दीक्षा लेकर तुम्हारा पुत्र सिंह की तरह गूँजेगा।"

आचार्य रुघनाथजी की वह भविष्य-वाणी वास्तव में ही सत्य निकली। स्वामीजी की सिंह-गर्जना ने जैन-शासन के सेवको में पुन प्राण प्रतिष्ठित कर दिये। चिरकाल से सोई शुद्ध आचार-विचार की चेतना फिर से जागरित हो उठी। माता की धारणा के अनुसार स्वामीजी कोई वैभवशाली व्यक्ति भले ही नही हुए हों, परन्तु वे चारित्र-आत्माओ के प्रकाश-स्तभ और तत्त्वज्ञों के सम्राट् महापुरुष अवश्य निकले।

आचार्य रुघनाथजी की उपर्युक्त भविष्य-वाणी ने माता के स्वप्न-विषयक विचार को एक नया मोड प्रदान किया। श्रमणो की वे भक्त थी। उनकी बातो को उन्होंने महत्वपूर्ण माना। अपने पुत्र की श्रमण-सघ में सिंह के समान स्थिति-विषयक-कल्पना ने उनके मन को एक समाधान प्रदान किया। वह समाधान ही स्वामीजी को दीक्षा-विषयक आज्ञा-प्रदान करने में सहायक हुआ।

माता के मन में पहले उनके जीवन-सम्बन्धी जो कल्पनाएँ थी, वे सब आर्थिक वैभव से सम्बन्धित थीं। किन्तु बाद में उन सब का सयम-वैभव में सक्रमण हो गया। अपने स्वप्न का वह समाधान उनके मन में इतना गहरा बैठा कि बाद में स्वय आचार्य रुघनाथजी भी उसे अन्यथा नही कर सके। स्वामीजी जब स्थानकवासी सम्प्रदाय से पृथक् हो गये थे, तब स्वय आचार्य रुघनाथजी ने दीपां बाई को यह समझाने का बहुत प्रयास किया था कि तुम्हारा पुत्र तुम्हारे स्वप्न के अनुरूप न होकर अविनीत सिद्ध हुआ। परन्तु दीपां बाई ने उस समय उन्हें वह उत्तर प्रदान किया कि उसके सामने आचार्य जी को निरुत्तर हो जाना पडा। उन्होंने कहा—"महाराज! अब आप दूसरी स्थितियो से प्रभावित होकर कह रहे हैं, किन्तु पहले जो कुछ आपने कहा था वह निष्पक्ष दृष्टि से कहा था। आप अपने पूर्व कथन का स्मरण कीजिये। इस समय के कथन से तो आप स्वय अपने को ही असत्य सिद्ध कर रहे हैं[1]।"

१—श्रावक शोभजी कृत ढाल :

माता सुपना में सिंह देखियो, जब किधी रुघनाथजी ने बूझ।
रुघनाथजी कहै सुत तुम तणों, रहसी केसरी जिम गुज ॥६॥
पूज्य शुद्ध हुआं कहै रुघनाथजी, कुमति हुओ तुम बाल।
मात कहै-केसरी जिम गजसी, थारो भाख्यो वचन संभाल ॥७॥

आज्ञा-प्राप्ति

दीपा बाई ने स्वामीजी को दीक्षा के लिए अनुमति प्रदान कर दी। यह उनका एक महान् त्याग था। वैधव्य-जीवन के एकमात्र सहारे अपने प्रिय पुत्र को दीक्षा की अनुमति देकर उन्होने नारी-जाति की त्याग-वृत्ति का एक ज्वलत उदाहरण रख दिया। उनका यह महान् त्याग ससार के लाखो मनुष्यो के कल्याण का हेतु बना।

माता की व्यवस्था

माता की आज्ञा प्राप्त होते ही स्वामीजी सयम-ग्रहण करने के लिये उद्यत हो गये। अब आवश्यकतावश जो देर हो रही थी, वह भी उन्हें अखरने लगी। उन्होने अत्यन्त शीघ्रता से अपने विणज-व्यापार को समेटा और सारी पूजी को व्यवस्थित किया। दीक्षा लेने से पूर्व वे अपनी माता की अच्छी व्यवस्था कर देना चाहते थे, ताकि वृद्धावस्था में उन्हें किसी प्रकार के आर्थिक सकट का सामना न करना पडे। उन्होने जमीन-जायदाद के अतिरिक्त लग-भग एक हजार रोक रुपया अपनी माता को दिया। उस समय के वस्तुओ के भावो[1] को देखते हुए वह रकम एक अच्छी खासी कही जा सकती है।

१—संवत् १८०८ में मारवाड़ में वस्तुओं के क्या भाव थे, इसका पता लगाने का प्रयास तो किया गया था पर मिले नहीं। कंटालिया के पास ही मुसालिया है, वहाँ एक भाई के पास पुरानी वहियाँ थीं। उनमें पुरानी से पुरानी सं० १८४३ की वही थी। उस वर्ष के भाव उसमें कच्चे मन के आधार पर यों दिये गये हैं—

वस्तु	तोल	मूल्य
गेहूँ	१ मन	१२ आना
मूंग	,,	,,
तिल	,,	९ आना
चना	,,	८॥ आना
कुरां	,,	४ आना
कपास	,,	१ रुपया
दाल	,,	,,
बाजरी	,,	,,
गुड़	,,	,,
घी	१ सेर	२॥ आना
सूत	३ छटाँक	१। पैसा

वहीं पर सं० १८६६ की एक वही में जो भाव प्राप्त हुए हैं उनसे पता लगता है कि वस्तुएँ क्रमशः महगी होती जा रही थीं। वे भाव इस प्रकार हैं—

गेहूँ	१ मन	१। रुपया
मूंग	,,	,,
मोठ	,,	१४ आना
चना	,,	१३॥ आना
घी	१ सेर	८ आना

: २ :

भाव-संयम की भूमिका

दीक्षा-ग्रहण

स्वामीजी घर की सारी व्यवस्थाओं से निवृत्त होने के पश्चात् दीक्षा के लिये तैयार हुए। वे कटालिया से चलकर बगडी शहर में आये और वहाँ स० १८०८ मृगसिर कृष्णा द्वादशी के दिन आचार्य रुघनाथजी के हाथ से दीक्षित हुए। उस समय स्वामीजी की अवस्था २५ वर्ष की थी। युवावस्था का नैसर्गिक तेज आध्यात्मिकता से भावित होकर देदीप्यमान हो उठा था। स्वामीजी की वह दीक्षा वास्तव में उनकी भाव-दीक्षा की एक अज्ञात तैयारी थी। वे इससे एक ऐसी भूमि पर आ गये थे कि जिसमे भाव-संयम की उन्हें आवश्यकता प्रतीत हो सकी थी और वे उसके लिये उपयुक्त तैयारी कर सके थे।

मित्र रामचरणजी

गृहस्थावस्था में स्वामीजी के एक बाल-मित्र रामचरणजी थे। उनका यह नाम दीक्षित अवस्था का था। पहले उनका नाम रामकृष्ण था। वे विजयवर्गीय वैश्य थे। स्वामीजी की ही तरह वे भी बहुत विरक्त प्रकृति के थे। उनके ग्राम सोडा मे स्वामीजी की बुआ का घर था। इसलिये स्वामीजी का वहाँ आवागमन रहता था। वह आवागमन उन दोनो की मित्रता का कारण बन गया। दोनो ही विरक्त प्रकृति के थे, अत वह मित्रता धीरे-धीरे प्रगाढता मे बदल गई। स्वामीजी के सम्पर्क से वे जैनधर्म से परिचित हुए और उसमे श्रद्धा रखने लगे थे। कहा जाता है कि वे साथ-साथ दीक्षा-ग्रहण करने के लिये भी परस्पर वचन-बद्ध हो गये थे।

कालान्तर मे रामकृष्णजी का सम्पर्क संत कृपारामजी से हुआ। उनके विराग की धारा धीरे-धीरे उधर मुड गई। वे स्वामीजी की दीक्षा से लगभग तीन महीने पूर्व स० १८०८ भाद्रपद शुक्ला सप्तमी को दांतडा मे संत कृपारामजी के पास दीक्षित हो गये। स्वामी भीखणजी के साथ किया हुआ वचन सम्भवतः उन्हें विस्मृत तो नही हुआ होगा, परन्तु विचार-परिवर्तन की स्थिति में उसका पालन सम्भव नही रह गया था।

दीक्षित होने के पश्चात् स० १८१५ में गलते के मेले में उन्हे तत्कालीन साधुओ की खडबड के बडे कटु अनुभव हुए। उनका मन उस ओर से हट गया। उन्हें तब निर्गुण भक्ति की अन्त प्रेरणा हुई और वे मेवाड में आकर उसके प्रचार मे लग गये। फलस्वरूप रामस्नेही परम्परा मे शाहपुरा-शाखा का प्रवर्तन हुआ।

ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी और रामचरणजी यद्यपि भावीवशात् दो विभिन्न परम्पराओं में दीक्षित हुए थे , फिर भी उनका पारस्परिक सम्बन्ध चालू रहा। वे यदा-कदा एक-दूसरे से मिलते भी रहे हो तो कोई आश्चर्य नही। रामचरणजी ने अपनी कृति में 'तेरापथ' शब्द को काम में लिया है। वहाँ उन्होने अपनी ओर से 'तेरापथ' की जो व्याख्या की है, वह यह वतलाती है कि वे उस शब्द की मूल व्युत्पत्ति से परिचित थे। उनके पद्य इस प्रकार है—

सोही तेरापथ का, मेरा कहे न कोय।
मैं मेरी से लग रह्यो, तो जगत पथ है सोह ॥ १८ ॥
काम क्रोध तृष्णा तजे, दुविधा देय उठाय।
रामचरण ममता मिटे, तेरापथ वह पाय[1] ॥ १९ ॥

अध्ययन और मीमासा

दीक्षा के पश्चात् स्वामीजी ने अपना सारा ध्यान अध्ययन और चिन्तन में लगा दिया। कुछ ही वर्षो में उन्होंने जैन आगमो का गम्भीर ज्ञान अर्जित कर लिया। उनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी, अत तत्त्व को पकडते उन्हें कोई देर नही लगती। दर्शन और धर्म का जो ज्ञान स्वामीजी ने किया, वह केवल रटत रूप नही था, किन्तु मीमांसापूर्वक होने के कारण तल-स्पर्शी[2] और गहरा था। आगमो के नैरन्तरिक अध्ययन और मन्थन से उन्हें ऐसा आभास होने लगा कि जैसे शुद्ध श्रद्धा और शुद्ध आचार—दोनों ही का साधु-सघ में अभाव हो। पहले कुछ समय तक तो यह मथन मन ही मन में चलता रहा। ज्यो-ज्यो गहराई से सोचा गया त्यो-त्यो अधिकाधिक कमियां सामने आती गई। परन्तु स्वामीजी ने अपने कुछ वर्षों के अध्ययन के आधार पर कोई निर्णय कर लेना तवतक के लिये उचित नही समझा , जवतक कि सामने के पक्ष का समर्थन अच्छी तरह से नहीं समझ लिया जाये। इसीलिये आगम-मन्थन से उत्पन्न विचारों ने जिज्ञासा का रूप लिया और वह जिज्ञासा समय-समय पर वाणी के माध्यम

१—वि० संवत् १९८१ में 'रामनिवास धाम' शाहपुरा से प्रकाशित 'स्वामी रामचरणजी की अणभेवाणी' (अनुभव वाणी) पृष्ठ ७१ पर अन्तिम पद 'तेरापंथ वह पाय' के स्थान पर 'तव पिव के पंथ जाय' लिखा है।

२—स्थानकवासी मुनि श्री मणिलालजी अपनी पुस्तक "श्री जैनधर्म नों प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने प्रभु वीर पट्टावली" (पृष्ठ २४९) में लिखते हैं—

दीक्षा लई तेमणे खब शास्त्राभ्यास कर्यो।
अभ्यास ने अंते तेमणें जैनधर्म नी खूबी।
वधु ने वधु रहस्य भरी रीते प्रतिपादित थई।

मे प्रश्न के रूप मे सामने आने लगी। स्वामीजी जब-तब तत्त्व और आचार-विचार विषयक गूढ प्रश्न सामने रखते रहते। प्रश्न स्वय साधु-समाज के आचार-विचार पर एक गहरी टिप्पणी जैसे होते। आचार्य रुघनाथजी ऐसे प्रश्न उपस्थित होने पर टालमटोल उत्तर देकर बात को टाल देते।

आचार्य रुघनाथजी को स्वामीजी की तीक्ष्ण[1] बुद्धि और ग्रहणशक्ति पर बडा गर्व था। वे उनके एक अत्यन्त प्रिय शिष्य थे। स्वामीजी द्वारा बार-बार ऐसे गूढ प्रश्न पूछे जाने तथा उन पर तर्क-वितर्क किये जाने पर भी आचार्यजी को उन पर कोई सन्देह नही था। स्वामीजी की आन्तरिक विराग-वृत्ति को वे जानते थे, अत आचार-विषयक वे प्रश्न उनकी विराग-भावना के अनुरूप होने के कारण गुरु के मन पर कोई विपरीत भाव नही आने देते थे, प्रत्युत विराग-भावना की उस उत्कटता से वे गुरु के आन्तरिक स्नेह के पात्र बन गये थे। यही कारण था कि सघ के आन्तरिक वातावरण मे यह बात प्रकट-सी हो चुकी थी कि भावी आचार्य वे ही होंगे।

गुरु-शिष्य का वह स्नेह लगभग सात वर्ष तक अबाध गति से चलता रहा। शिष्य की निर्बन्ध जिज्ञासा-वृत्ति ने गुरु के मन पर और सघ के आचार-शैथिल्य ने शिष्य के मन पर कोई द्वैधभाव पैदा नही होने दिया। इस अद्वैध-वृत्ति की छाया मे स्वामीजी का अध्ययन उनकी अपनी मीमांसा के साथ मुक्त-भाव से चलता रहा।

श्रावकों मे अश्रद्धा

काल अपनी गति से बहता रहा। और कार्य अपनी गति से होते रहे। परन्तु काल के परिपाक मे उन्ही दिनों में एक ऐसी घटना घटी जिसने स्वामीजी के जीवन-प्रवाह को एकदम से मोड दिया। वह घटना वि० स० १८१५ की है। उस समय मेवाड के राजनगर शहर में आचार्य रुघनाथजी की आम्नाय के श्रावक काफी बडी संख्या मे रहते थे। उनमें से कुछ श्रावक अच्छे विद्वान् और आगम-रहस्य के ज्ञाता थे। वे तत्कालीन साधु-वर्ग की शिथिलताओं से बहुत खिन्न थे। आये दिन शिथिलता के उस सूचना-पट्ट पर क्रमांक घटने के बजाय बढते ही जा रहे थे। ऐसी स्थिति में वहाँ के श्रावक-वर्ग ने साहस-पूर्वक यह घोषित कर दिया कि जब तक श्रमण-सघ अपने मे घुस आई कमजोरियो को दूर करने के लिए कटिबद्ध नही हो जाता, तब तक हम न तो उसे मान्य करेंगे और न वन्दन आदि से सत्कृत ही करेंगे। उन लोगों की यह घोषणा वस्तुत साधु-सघ की कमजोरियो के कारण उत्पन्न हुई अश्रद्धा का ही एक व्यक्त रूप थी।

१—स्वामीजी की तीक्ष्ण बुद्धि और विरागवृत्ति के विषय में स्थानकवासी श्रीमद फकीरामजी रचित 'सिद्धांत सार' के गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना में लिखा है—"भीखणजीना संसार थी उदासीन परिणाम तो खरा, तेम बुद्धि पण तीक्ष्ण हती।"

गुरु का आदेश

उस समय आचार्य रुघनाथजी मारवाड में विहार कर रहे थे। बहिष्कार का यह संवाद जब उनके कानो तक पहुँचा तो वे बहुत चिन्तित हुए। उन श्रावकों को समझाकर मार्ग पर लाना जितना आवश्यक था, उतना ही कठिन भी था। साधारण साधु से बन सकने वाला वह काम नहीं था। वहाँ तो किसी ऐसे विद्वान् साधु को ही भेजने की आवश्यकता थी, जो वहाँ की सारी परिस्थिति को सम्भाल कर श्रावकों के सन्देहों को दूर कर सके। कारणवशात् स्वयं आचार्य रुघनाथजी का वहाँ जाना सम्भव नहीं था। वे अपने चातुर्मास[1] की स्वीकृति भी दे चुके थे।

आखिर उन्होंने उस कार्य के लिए अपने प्रिय शिष्य भीखणजी को ही चुना[2], क्योंकि वे शास्त्रज्ञ होने के साथ-साथ असाधारण बुद्धिमान् भी थे। स्वामीजी को बुलाकर उन्होंने वहाँ की सारी स्थिति बतलाते हुए कहा—"तुम स्वयं बुद्धिमान् हो, अतः कोई ऐसा उपक्रम करना जिससे उनकी शंकाएँ मिटें और वे पुनः वन्दन करने लगें।"

राजनगर मे

स्वामीजी ने गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य कर राजनगर की ओर विहार किया। टोकरजी, हरनाथजी, वीरभाणजी और भारमलजी—ये चार साधु उनके साथ थे। चातुर्मास करने के लिए स्वामीजी राजनगर पहुँचे तो तत्रस्थ श्रावकों को यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई। क्योंकि वे एक विरागी और तत्त्वज्ञ साधु के रूप में प्रसिद्ध थे। श्रावकों ने उस अवसर का लाभ उठाने का निश्चय किया। साधु-समाज के विषय में जो कुछ भी वे कहना चाहते थे, वह सब खुल-कर कह देने के लिए ऐसा पात्र उन्हें अनायास ही मिल गया।

ध्यानाकर्षण

धर्म-क्रांति के आवाहक राजनगर के उन श्रावकों में चतरोजी पोरवाल तथा बच्छराजजी ओसवाल प्रमुख थे। दोनों ही अच्छे तत्त्वज्ञानी श्रावक थे। राजनगर का समग्र श्रावक-वर्ग उन दोनों के नेतृत्व में था। चतरोजी के पुत्र ब्रजलालजी और लालूजी तथा पौत्र जवेरचन्दजी भी धर्म के मर्मज्ञ थे[3]। अन्य भी अनेक तत्त्वज्ञ श्रावक एकत्रित हुए। वे सब मिलकर स्वामीजी

१—'सद्धर्म मंडनम्' की भूमिका के अनुसार आचार्य रुघनाथजी का वह चातुर्मास 'सोजत' में था।

२—स्थानकवासी श्रीमद् कनीरामजी रचित 'सिद्धान्तसार' के गुजराती अनुवाद की भूमिका में लिखा है—"एकदा प्रस्तावे पूज्य श्रीए तेमने विचक्षण जाणी बीजा साधु साथे आपी मेवाड़ देश मां आवेला राजनगरे चौमासुं करवा मोकल्या।"*

३—इस समय राजनगर में प्राय: ओसवाल श्रावकों के ही घर हैं, पोरवालों का केवल एक घर है। किन्तु उस समय वहाँ ओसवालों की अपेक्षा पोरवालों का ही आधिक्य था। 'घाणेराव' के महात्मा मणिलालजी के पोथे में लिखी हुई वहाँ के पोरवालों की वंशावलि के अनुसार कालांतर में वे सब व्यापारार्थ उदयपुर, गोगूदा और सायरा में चले गये। वे सब एक ही परिवार के व्यक्ति थे। उस पोथे में चतरोजी के चार पुत्र बतलाये गये हैं—तिलोकजी, सूरजमलजी, ब्रजलालजी और लालूजी। उपर्युक्त जवेरचन्दजी ब्रजलालजी के पुत्र थे। वे दो भाई थे। दूसरे भाई का नाम लिखमीचन्दजी था।

के पास आए। स्वामीजी ने उन सबसे उनकी शंकाओं तथा वंदन-व्यवहार छोड़ देने आदि विषयों पर बातचीत की।

तब श्रावकों ने साधु-समाज के आचार-विचार-सम्बन्धी दयनीय स्थिति की ओर स्वामीजी का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने उस समय जो कुछ कहा, उसका सार यह है—"आप लोग तो अब जान-बूझकर दोषों का सेवन करने लगे है। कहीं आपके निमित्त स्थानक बनाये जाते है; कही मोल लिए जाते है, पर आप लोग इन बातों की ओर जरा भी ध्यान नहीं देते। मानो आधाकर्म आदि दोष आपके लिए लागू है ही नहीं। वस्त्र-पात्र सम्बन्धी मर्यादाओं का भी खुलेआम लोप होता है, पर कोई बोलता तक नहीं। शिष्यों के लिए तो आप जो कुछ न कर लें, वही थोडा है। बिना आज्ञा मूड लेना, बहका कर कहीं अन्यत्र भगा ले जाना, दूसरे के शिष्य तथा भावी-शिष्य को उलटी-सीधी बातें सिखाकर अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास करना आदि तो इतनी सामान्य बातें हो गई हैं कि जिनके विषय में कुछ कहना व्यर्थ है। न आप में शुद्ध श्रद्धा है और न शुद्ध आचार, फिर हम आपको वंदन करें तो किसलिए ?"

एक आश्वासन

श्रावकों की ये बातें सुन लेने के पश्चात् स्वामीजी से यह छिपा नहीं रहा कि श्रावक जो दोषारोपण कर रहे हैं, वे सत्य है और साधुओं का आचार-विचार दूषित है। परन्तु गुरु की बात ऊँची रखने के व्यामोह ने तथा मत-पक्ष ने उनके मन को दोष-स्वीकृति की आज्ञा नहीं दी। उन्होंने अपने बुद्धि-बल से श्रावकों को समझाने का प्रयास किया और नरम-गरम अनेक उपायों का सहारा लेकर उन्हें चरण छूकर वदन करने के लिए सहमत कर लिया।

श्रावकों ने वदन करना प्रारम्भ तो कर दिया, पर साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया कि आप विरागी है, अत. हम आपके विश्वास पर वन्दन करते हैं, किन्तु हमारे मन की शंकाएँ तो मिटी नहीं हैं।

स्वामीजी ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा—"चार महीने हमारे सामने हैं, यह काफी लम्बा समय है, अत. धीरे-धीरे सारी शकाओ का समाधान होता ही रहेगा।"

इस कथन से श्रावकों को जहाँ थोडा-बहुत आश्वासन हुआ, वहाँ स्वयं स्वामीजी के मन में एक तुमुल सघर्ष छिड गया। श्रावकों की शकाओं ने उन्हें आत्म-निरीक्षण के लिए बाध्य कर दिया। उनका सत्य-प्रेम वस्तुत॰ उस समय कसौटी पर चढ गया था। यही कारण है कि राजनगर का वह चातुर्मास उनके लिए मानसिक संघर्ष का काल रहा। उससे जो कुछ फलित हुआ वह स्वय उनके लिए ही नही, परन्तु सारे ससार के लिए बहुत गुणकारक हुआ। श्रीमज्जयाचार्य ने इसीलिए उनके उस चातुर्मास को 'चौमासो गुणकार[1]' कहकर सम्बोधित किया है।

१—भिक्खु जश रसायण २-६

हृदय-मंथन

उस घटना के पश्चात् ही सयोगवश स्वामीजी को बडे जोर से ज्वर का प्रकोप हुआ। शीत-दाह से उनका शरीर थर-थर कांपने लगा। ज्वर के उस आकस्मिक आक्रमण ने शरीर के साथ-साथ उनके मन को भी झकझोर डाला। उनकी विचारधारा में गहरी हल चल मच गई। थोडी देर पहले उन्होंने जिस मत-पक्ष से प्रेरित होकर श्रावको .की बातो को उलटने का प्रयास किया था, अब उन्हें स्पष्ट ही वह एक मोह ज्ञात होने लगा। असत्य को सत्य और सत्य को असत्य सिद्ध करने का वह प्रयास अब स्वय ही उनकी आत्मा को कचोटने लगा। आत्म-ग्लानि और पश्चात्ताप की तीव्र अनुभूति करते हुए वे सोचने लगे—"मैंने जिनेश्वरदेव के वचनों को छिपाकर सच्चों को झूठा ठहराया—यह कैसा अनर्थ कर डाला ? यदि इस समय मेरी मृत्यु हो जाय तो अवश्य ही मुझे दुर्गति में जाना पडे। क्या ऐसी स्थिति में यह मत-पक्ष और ये गुरु मेरे लिये शरणभूत हो सकते हैं ?" इन विचारों ने उनके मन के किसी कोने में छिपे पड़े मताग्रह को धो डाला।

एक प्रतिज्ञा

दु:ख के समय जहाँ पामर प्राणी हाय-तोबा मचाता है ; वहाँ उत्तम पुरुष आत्म-कल्याण की ओर अधिक वेग से प्रवृत्त होता है। दु:ख उसके लिए अभिशाप नहीं ; किन्तु वरदान बन जाता है। स्वामीजी को उस वेदना ने मानो झकझोर कर जगा दिया। सहसा उनकी आन्तरिक आखें खुल गईं और उन्हें अपना कर्त्तव्य-पथ सामने दिखाई देने लगा। रात्रि के नीरव एकान्त में चलने वाली हृदय-मथन की उस प्रक्रिया ने स्वामीजी को अपार बल दिया। उन्होंने साहस और दृढता के साथ प्रतिज्ञा की—"यदि मैं इस बीमारी से मुक्त हुआ तो अवश्य ही निष्पक्ष-भाव से खोजकर सत्य-मार्ग को अपनाऊँगा। जिन-भाषित आगमो के अनुसार ही मैं अपनी चर्या बनाऊँगा। साधुओं के लिए निर्दिष्ट मार्ग के अनुरूप आचरण करने में मैं किसी की भी परवाह नहीं करूँगा।"

उस प्रतिज्ञा के पश्चात् स्वामीजी का ज्वर क्रमश: शान्त होता गया और रात्रि के साथ ही उसका अन्त हो गया। प्रभात के समय जब कुछ व्यक्ति आये तो स्वामीजी ने उनसे अपने रात्रिकालीन निश्चय का जिक्र करते हुए कहा—"मैंने जो बातें कही थीं, उनके विषय में एक बार फिर से विचार कर लेना चाहता हूँ। आगमो की कसौटी पर अपने विचारो को कस लेने के पश्चात् जो भी निष्कर्ष निकलेगा, वह मैं आप सबके सामने रख दूँगा।

श्रावक-वर्ग स्वामीजी की विरागवृत्ति से पहले ही प्रभावित था, अब सत्यान्वेषण के प्रति उनकी उदार भावना और तटस्थ वृत्ति को देखकर और भी प्रभावित हुआ। उन्होंने स्वामीजी से जो आशा लगाई थी, वह सब फलवती होती हुई नजर आने लगी।

आगम-मंथन

स्वामीजी के ऊपर अब एक असाधारण कर्त्तव्य का भार आ गया, जिसकी न तो उपेक्षा करना ही उपयुक्त था और न अधीरता से किसी परिणाम पर पहुँचने की उतावल करना ही। उपेक्षा जहाँ तत्त्व-गवेषणा की ओर से उदासीन कर देती है, वहाँ अधीरता सत्य के निष्कर्ष पर पहुँचने में बाधक बनती है। स्वामीजी को दोनों दोषों से बचकर चलना था। एक ओर श्रावकों के द्वारा उठाये गये प्रश्न तथा अध्ययन-काल में स्वयं स्वामीजी के मन में उठने वाले विचार थे, दूसरी ओर अपने सम्प्रदाय के आचार-विचार की प्रणाली थी। दोनों में जहाँ संघर्ष था, वहाँ आगम ही निर्णायक हो सकता था। इसीलिए स्वामीजी ने दोनों प्रकार के विचारों को आगमों की कसौटी पर कसकर देख लेने का निर्णय किया। परन्तु वह कार्य बहुत गम्भीर था।

विचार के पीछे जो 'अपना' अथवा 'पराया' विशेषण लगा रहता है, वह तटस्थता से निर्णय करने में बाधक बन जाता है। 'स्व' और 'पर' से ऊपर उठकर केवल निर्विशेषण विचार को परखने की क्षमता एक विरक्त मुमुक्षु में ही हो सकती है। मुमुक्षु व्यक्ति अपना मन्तव्य पुष्ट करने में नहीं; किन्तु सत्य को पुष्ट करने में अपना गौरव समझता है। सत्य को परखने में गलती की संभावना हो सकती है, इसलिए उसे देख-देखकर पैर रखना पड़ता है। किसी भी विचार को एक बार या दो बार ही नहीं, किन्तु बार-बार सत्य की कसौटी पर कस लेने के पश्चात् जब कोई सन्देह नहीं रह जाता, तब वह अपने अनुभव में आये हुए विचारों को साफ-साफ जनता के सामने रख देता है।

स्वामीजी ने भी अन्तिम निर्णय के लिए उसी मार्ग का अवलम्बन लिया। उन्होंने तटस्थ बुद्धि से सूत्रों का दो बार सूक्ष्मतापूर्वक पारायण किया। सत्य को असत्य बतलाना जहाँ आत्म-पतन का कारण होता, वहाँ गुरु-पक्ष लेकर असत्य को सत्य सिद्ध करना भी दुर्गति का कारण होता। न सत्य के प्रति अन्याय होना चाहिए था और न गुरु के प्रति। यह एक दुधारी तलवार पर चलने के समान कठिन काम था। उससे अक्षत बचने के लिए आगम-मथन ही एकमात्र उपाय था। स्वामीजी ने उस चातुर्मास में अपना अधिक समय उसी कार्य में लगा दिया।

निष्कर्ष की घोषणा

वे शास्त्रों का अध्ययन-मनन कर रहस्यों को हृदयंगम करते रहे। अन्ततः आगम-मंथन के उस महान् परिश्रम से उपनिषद्भूत जो निष्कर्ष सामने आया, उससे स्वामीजी को पूरा-पूरा भरोसा हो गया कि श्रावकों का पक्ष सत्य है। साधु-समाज जिन-आज्ञा के अनुसार नहीं चल रहा है। दर्शन और चारित्र—ये दो ही साधुता के अनिवार्य अङ्ग है, किन्तु यहाँ इन दोनों का सम्यग् भाव दृष्टिगत नहीं होता।

स्वामीजी अपने निष्कर्ष को गोल-मटोल भाषा में छिपाकर रखना नही चाहते थे। वे अपनी पूर्वकृत भूल को सुधार कर सब कुछ स्पष्ट कह देने का निश्चय कर चुके थे। इसलिए पहले अपने साथ के अन्य साधुओं के सामने उन्होंने सारी बातें विस्तार सहित रखी। साधु का वास्तविक आचार-विचार क्या होना चाहिए—यह उन सब को आगम-सम्मत दृष्टिकोण से समझाया। चारो साधुओं ने अच्छी तरह समझ लेने के पश्चात् स्वामीजी के उस दृष्टिकोण का अनुमोदन किया।

इधर चातुर्मास भी समाप्ति के करीब आने लगा था। तब एक दिन श्रावकों की सभा के सम्मुख अपना चिर-प्रतीक्षित निर्णय सुनाते हुए स्वामीजी ने निर्भीकता-पूर्वक उद्घोषित किया—"श्रावको! तुम लोग सत्य-मार्ग पर हो, हम गलत हैं। वास्तव में ही साधु-वर्ग शास्त्र-सम्मत मार्ग से भटक गया है, किन्तु इसके लिये धैर्य खोने की आवश्यकता नहीं है। मैं आचार्य के पास जाकर निवेदन करूँगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे इस पर ध्यान देकर साधु-सघ को पुन: नियंत्रित करेंगे, ताकि सघ में शुद्ध आचार और शुद्ध विचार का वातावरण फिर से फैल सके। अवश्य ही कोई न कोई ऐसा उपाय खोज लिया जायगा, जो लक्ष्य तक पहुँचने में सहायक होगा और गति में तीव्रता लाएगा। आप सब लोगो को तब तक के लिये धैर्य-पूर्वक कुछ और प्रतीक्षा करनी चाहिये।"

स्वामीजी की उस खरी बात को सुनकर श्रावक बड़े ही प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—"हमें आप से जैसा भरोसा था, वैसा ही काम आपने कर दिखाया।"

संघ-कल्याण की दृष्टि

स्वामीजी ने सत्य-मार्ग को स्वीकार करने की प्रतिज्ञा की थी, उसका तात्पर्य यह नहीं था कि वे स्वयं आचार्य बनना चाहते थे या अलग मत निकालना चाहते थे। उनके सामने तो केवल सत्य का ही प्रश्न था। वे आत्म-कल्याण के पथ पर शिष्यत्व या गुरुत्व में कोई भेद नहीं मानते थे। किसी भी प्रकार से सत्य का पालन हो, आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो—यही उनका प्रमुख लक्ष्य था।

वे अपने अकेले का ही नही; किन्तु सारे सघ का कल्याण चाहते थे। इसीलिये आचार्य को गलत समझ लेने पर भी उन्होंने उनसे सम्बन्ध-विच्छेद नही किया, प्रत्युत उनके दृष्टिकोण को बदलकर सारे संघ को शुद्ध-मार्ग पर प्रवृत्त करने का ही निश्चय किया। आचार्य के न मानने पर जो कुछ करने का था उसका निर्णय भी वे कर चुके थे। परन्तु उस निश्चय को काम में न लेना पडे, इसीलिये पहले गुरु को सोचने तथा समझने का काफी अवसर दे देना चाहते थे। इतने पर भी यदि गुरु और सत्य—इन दोनों में से केवल एक को ही चुनना पड़े तो वे सत्य को चुनने का निश्चय कर चुके थे।

आचार्य की ओर

चातुर्मास समाप्त होने पर स्वामीजी ने राजनगर से मारवाड की ओर विहार किया, क्योंकि आचार्य रुघनाथजी का चातुर्मास मारवाड में ही था। स्वामीजी के मार्ग में छोटे-छोटे ग्राम पड़ते थे, अत उन्होंने सुविधा की दृष्टि से साधुओं के दो दल कर दिये। दूसरे दल में वीरभाणजी नामक साधु प्रमुख थे। उनको अच्छी तरह से समझाते हुए स्वामीजी ने कहा—"यदि तुम आचार्य के पास पहले पहुँच जाओ तो वहाँ इस विषय की कोई चर्चा मत करना, क्योंकि अधूरी बातों को सुनकर यदि पहले से ही मन में कोई आग्रह बद्ध-मूल हो गया तो फिर समझाने में कठिनाई होगी। आखिर वे अपने गुरु हैं ; अत अवसर देखकर विनयपूर्वक ही सब बातें उनके सामने रखनी होंगी। मैं स्वय पहुँचकर उनके पास सारी स्थिति रखूँगा और उन्हें सत्य-मार्ग पर लाने का प्रयास करूँगा।"

साथी की भूल

संयोगवश वीरभाणजी ही पहले पहुँचे। उस समय आचार्य रुघनाथजी सोजत में थे। वदन और सुख-प्रश्न आदि व्यवहार के पश्चात् उन्होंने वीरभाणजी से पूछा—"श्रावकों की शकाएँ दूर हुईं या नहीं ?"

वीरभाणजी ने उत्तर दिया—"श्रावकों के शकाएँ होतीं, तव तो वे दूर भी होतीं परन्तु उन्होंने तो सिद्धान्तों का सच्चा भेद पा लिया है। आधाकर्म स्थानक, अशुद्ध-आहार, नित्य-पिंड, मर्यादा से अधिक वस्त्र-पात्र, विना आज्ञा दीक्षा देना-आदि अनेक दोषों का हमलोग सेवन करते है। इतना ही नहीं, हम उन्हें उचित ठहराने का भी प्रयास करते हैं। श्रावक यदि इन बातों का दोष हम लोगों में निकालते है तो वे सत्य ही कहते हैं। उनकी शकाएँ मिथ्या नहीं है।"

आचार्य रुघनाथजी ने जव ये बातें सुनीं तो स्तम्भित हो गये। उन्होंने वीरभाणजी को टोकते हुए कहा—"तुम इस तरह कैसे बोल रहे हो ?"

वीरभाणजी ने जोर देते हुए कहा—"मैं सत्य ही कह रहा हूँ। साधु-संघ में दोष-सेवन होता है, यह निश्चित है। परन्तु मेरे पास तो सुनाने के लिये केवल नमूना मात्र ही है, पूरी वात तो भीखणजी के आने से मालूम होगी।"

इस प्रकार वीरभाणजी ने अधैर्यवश सारी बातें पहले ही कह डाली। स्वामीजी द्वारा सावधान कर देने पर भी वे वात को पचा नहीं सके। कौन-सी वात कव और कैसे कहनी चाहिये, इसका उन्होंने कोई विचार नहीं किया।

आचार्य रुघनाथजी उनकी बातों से वहुत उदास हुए। वे वडी व्याकुलता के साथ स्वामीजी की प्रतीक्षा करने लगे। स्वामीजी के पहुँचने से पहले ही वहाँ के वातावरण में एक अज्ञात कटुता घुलने लगी। साथी के उतावलेपन से की गई थोड़ी-सी भूल ने कार्य की सफलता को काफी दूर ढकेल दिया और उनके मार्ग को भी कटकाकीर्ण बना दिया।

गुरु का रुख

स्वामीजी आये और उन्होंने गुरु-चरणों में भक्तिपूर्वक वंदन किया। परन्तु न तो उन्होंने वंदन ही स्वीकार किया और न रुख ही जोड़ा। चतुर स्वामीजी ने तत्काल भांप लिया कि वीरभाणजी ने पहले ही सारी बात कहकर अवसर बिगाड़ दिया है। परन्तु स्वामीजी बिगड़ी को भी सुधारना जानते थे, अत. नम्रतापूर्वक आचार्य से उनकी उदासी का कारण पूछा।

आचार्य रुघनाथजी ने कहा—"तुम्हारे मन में शकाएँ पड गई हैं, इसलिए तुम्हारा और हमारा मन अब मिल नहीं सकता। आज से तुम्हारा और हमारा आहार भी सम्मिलित नहीं होगा।"

स्वामीजी ने सोचा—"इनमें और हममें—दोनों में ही सम्यक्त्व नहीं है, परन्तु इस समय यह वाद-विवाद करना निरर्थक होगा। सम्भवत: इनको यह आशंका हो कि शिष्य रूप में रहना मुझे स्वीकार नही है और मैं स्वयं इनसे अलग होना ही चाहता हूँ तो इसके लिए उचित होगा कि यह आशका दूर कर इनके हृदय में विश्वास पैदा करूँ कि मेरे विचार ऐसे नहीं हैं। समस्त साधु-संघ को सुधारना है तो पहले गुरु से सम्पर्क रखना और उन्हें सारी बातों से अवगत कराना आवश्यक है। यह सब विश्वास के बिना नही हो सकता। अविश्वास जहाँ कार्य को नष्ट करता है, वहाँ विश्वास नष्ट हुए कार्य को भी पुनः सुधार देता है।"

यह सब सोचकर स्वामीजी ने कहा—"यदि मेरे मन में व्यर्थ की शकाएँ पड गई हैं तो उनको दूर कीजिये और मुझे प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध करके सहभोजी कीजिये।" इस प्रकार आचार्य की व्यर्थ की आशकाओं को दूर कर वे सांभोगिक बने और वार्त्तालाप करने का अवसर प्राप्त किया।

नम्र निवेदन

स्वामीजी ने कुछ समय पश्चात् ही अवसर देखकर आचार्यजी के साथ तत्त्व-मीमांसा करने का उपक्रम किया। उन्होंने नम्रता-पूर्वक यथावसर एक के पश्चात् एक आचार-विचार सम्बन्धी सारी बातें आगम-न्याय सहित सामने रखीं। उनके कथन का सार था—"हमलोगों ने आत्म-कल्याण के लिये घर छोड़ा है, इसलिए किसी प्रकार का आग्रह न रखकर आगम-वाणी के अनुसार ही अपनी मान्यताएँ रखनी चाहिये। जो मान्यताएँ मिथ्या हैं, आगमों की कसौटी पर ठीक नहीं उतरती, उन्हें तत्काल छोड देना चाहिये। पूजा-प्रशसा तो इस जीव को बहुत बार मिल चुकी है, परन्तु शुद्ध-श्रद्धा का होना बहुत दुर्लभ है, अतः दूसरी बातों को गौण समझ कर इसी का निर्णय करें। यदि आप-आगम-कथित शुद्ध दर्शन और चारित्र का पुन-

रुद्धार करेंगे तो आप हमारे पूज्य गुरु[1] होने के साथ-साथ संसार के लिए भी एक महान् प्रकाश-स्तम्भ होंगे। ऐसा किये विना हम सबके लिये गृह-त्याग करने का अर्थ ही क्या रह जाएगा ? अपने सघ की स्थिति को देखकर यह कहा जा सकता है कि यहाँ आगम-विरुद्ध आचार की परिपाटी चल रही है। इतना ही नहीं, किन्तु श्रद्धा भी आगमानुमोदित नहीं लगती। दृष्टांत स्वरूप पुण्य और पाप की क्रिया को ही ले लीजिये। अपने संघ में एक ही क्रिया से दोनों—कुछ पुण्य और कुछ पाप का होना भी सम्भव माना है। परन्तु आगम-दृष्टि है कि अशुभ योगों की प्रवृत्ति से पाप और शुभ योगों की प्रवृत्ति से पुण्य का बंध होता है। एक साथ दो योगों की प्रवृत्ति नहीं की जा सकती, जिससे पुण्य और पाप दोनों का बंध हो सके। शुभ और अशुभ योगों के अतिरिक्त कोई ऐसा तीसरा प्रकार नहीं है कि जिसमें शुभ और अशुभ—दोनों योगों का मिश्रण हो सके। इस आगमिक दृष्टिकोण से स्पष्ट होता है कि एक क्रिया से एक ही बंध (पुण्य या पाप का) होता है। न तो मिश्र क्रिया होती है और न मिश्र बंध। अत. आपसे मेरा नम्र निवेदन है कि जिन-आज्ञा पर पूरा ध्यान देकर इन बातों को सोचिये। जिन-आज्ञा से बाहर कोई धर्म नहीं है। हम उसे आराध कर ही जीवन की आराधना कर सकते हैं।"

कोई प्रभाव नहीं

आचार्य रुघनाथजी पर स्वामीजी की उन बातों का कोई अनुकूल प्रभाव नहीं हुआ। उलटे वे अधिक क्रुद्ध हो उठे। चिर-परिचित और चिर-पालित धारणाओं का मोह कसौटी के लिये तैयार ही कब होता है ? फिर भी कोई बलात् उसकी कसौटी करना चाहे तो वह उसके लिये कैसे सह्य हो सकता है ?

स्वामीजी सदा से आशावादी थे। निराशा चाहे कभी आई हो भी, पर वह टिक कभी नहीं पाई। उन्होंने सोचा कि गुरु का रुख कड़वा है। सत्य-सूर्य को देखने के लिये जिस

१—स्थानकवासी श्रीमद् कनीरामजी विरचित 'सिद्धांतसार' के गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना में इस तथ्य को इन शब्दों में स्वीकार किया गया है—"मठपति पणुं छोड़ी फरी थी दीक्षा ग्रहण करो तो तमें अमारा गुरु अने अमे तुमारा शिष्य, नहीं तो हवे अमे अमारुं धार्युं काम करवाना छीए।"

जयाचार्य ने स्वामीजी की एतत् सम्बन्धी भावना को इन शब्दों में व्यक्त किया है :

जो थे मानो हो सूतर नीं बात,
तो थेहिज म्हारा नाथ।
नहिंतर ठीक लागै नहीं ॥
म्हे घर छोड़्यो हो आतम तारण काम,
और नहीं परिणाम।
तिणस्यूं वार-वार कहूँ आपने ॥ —भि० ज० र० ४—१०,११

दोप-मुक्त दृष्टि की आवश्यकता होती है, वह इस समय यहाँ नही है। सत्य को सीधा स्वीकार कर लेना तो और भी अधिक साधना-सापेक्ष होता है। परन्तु सम्भव है, यह मत-पक्ष का सामयिक आवेश ही हो। समय पाकर जब आवेश का अधड दूर हो जायेगा तब कुछ सोचने का अवसर अवश्य मिलेगा। उस समय स्वत ही सत्यता का प्रकाश अप्रत्याहत गति से आत्मा में फैल जाएगा। ऐसे समय मे सारी परिस्थिति नम्रतापूर्वक उनके सामने रखूँगा तो अवश्य ही यह समस्या बहुत सरलता से सुलझ सकेगी। उतावल करने से काम नही होगा। आग्रह अपना स्थान छोडने में कुछ समय मांगता ही है। मुझे इस समय धीरज से काम लेना चाहिये।

धैर्य-पूर्वक प्रतीक्षा

स्वामीजी अनुकूल समय की प्रतीक्षा करने लगे। जब-जब ऐसा अवसर मिला उन्होने अपने विचार वेधडक सामने रखे और उन पर चर्चा चलाई। इस प्रकार काफी समय गुजर गया। चातुर्मास के दिन समीप आने लगे।

एक दिन स्वामीजी ने अवसर देखकर निवेदन किया—"इस वार चातुर्मास एक साथ किया जाये, जिससे कि चर्चनीय विषयो पर पूरा विचार किया जा सके और सत्यासत्य को परखने का अवसर मिल सके।"

आचार्य रुघनाथजी ऐसा करने में सहमत नही थे। उन्हें भय था कि कही दूसरे शिष्यो पर भी इस वात का असर न हो जाए। उन्होने स्वामीजी से कहा भी कि ऐसा करने पर तुम मेरे अन्य शिष्यों को भी अपने पक्ष मे लेने का प्रयास करोगे अत मैं साथ में चातुर्मास करना उपयोगी नही समझता।

स्वामीजी ने इस भय को दूर करने के लिए सुझाव देते हुए कहा—"यदि आपको ऐसा भय है तो आप अपने ऐसे शिष्यो को ही साथ में रखिये जो हमारी चर्चा के विषय में कुछ विशेप न समझ सकें। इसके अतिरिक्त आपको उचित लगे वैसा कोई अन्य उपाय भी आप कर सकते है, परन्तु इस अवसर का हमे समुचित लाभ उठाना ही चाहिए। यदि इस समय आप जैसे समर्थ आचार्य शासन का कुछ सुधार कर सकें तो सहज ही शुद्ध आचार का निर्माण होकर साधु-सघ सारे विश्व के लिए उपयोगी वन सकेगा। अन्यथा आचार-शैथिल्य के कारण यह सघ ससार के लिए एक भार वन जाएगा।"

इतने पर भी आचार्य रुघनाथजी ने स्वामीजी की वात को नहीं माना और चातुर्मास एक साथ करने में सहमत नही हुए। आखिर उनका वह चातुर्मास अलग-अलग क्षेत्रो में ही हुआ। स्वामीजी ने फिर भी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करने के मार्ग को ही अपनाया।

संबध-विच्छेद

चातुर्मास के पश्चात् स्वामीजी फिर वगडी में आचार्य रुघनाथजी से मिले और चर्चा कर सत्य-शोधन के लिए अनुरोध किया। परन्तु उन्होंने फिर भी उनकी वात पर कोई ध्यान नही

दिया। इस प्रकार लगभग एक वर्ष और पौने पाँच महीने तक[1] स्वामीजी का वह प्रयास निरन्तर चलता रहा। उसके पश्चात् जब सुधार का कोई आसार दृष्टिगत नहीं हुआ, तब उन्होंने साफ-साफ समझ लिया कि ये इस कार्य के लिए कभी तैयार नहीं हो सकते।

स्वामीजी ने तब आचार्य रुघनाथजी से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। उनके साथ ही अन्य चार संतों ने भी रुघनाथजी से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर स्वामीजी का साथ देने का निर्णय किया। ये चारो[2] संत—टोकरजी, हरनाथजी, वीरभाणजी और भारमलजी—वे ही थे जो राजनगर चातुर्मास में स्वामीजी के साथ थे। तत्काल पाँचो साधु स्थान को छोड़कर बाहर आ गये। वह चैत्र शुक्ला नवमी का दिन था। वि० सं० १८१७ का प्रथम दिन। उस दिन वस्तुत नये वर्ष का नया सूर्य जैन शासन के नये उदय का प्रकाश लेकर उदित हुआ था।

: ३ :

नव जीवन की ओर

जैतसिंहजी की छतरी में

स्वामीजी ने स्थानक-वासी सम्प्रदाय से पृथक् होकर शुद्ध साधुता के नव जीवन की ओर अपने चरण बढ़ाये। शुद्ध संयम के लिए जैनागमों में जिस आचार-विचार का प्रतिपादन है, उसे वे अपनी जीवन-साधना में उतारकर प्रत्यक्ष कर देना चाहते थे। उस समय के अधिकांश व्यक्तियों में जब यह भावना घर कर चुकी थी कि इस युग में शुद्ध साधुता का पालन असंभव है, तब स्वामीजी ने उसके विरुद्ध यह सिद्ध कर दिखाने का निर्णय किया कि असंभव कुछ भी नहीं है, केवल दृढ आत्मबल की ही आवश्यकता है। वे उसी प्रकार के सुदृढ आत्म-बल को लेकर आगे बढ़े। वे जानते थे कि नव जीवन के इस मार्ग में अनेक बाधाएँ आएगी। पहले पहल तो सहानुभूति रखने वाले व्यक्ति भी विरल ही मिलेंगे ; सहयोग के नाम पर केवल

१—यह समय सं० १८१५ के राजनगर चातुर्मास के पश्चात् सं० १८१७ के चैत्र शुक्ला नवमी (नये वर्ष के प्रथम दिन) तक का था, अतः एक वर्ष पौने पाँच महीने के लगभग ही होता है। परन्तु 'ख्यात' तथा 'शासन-प्रभाकर' में इसे 'दो वर्ष जाभा' कहा है, जो ठीक नहीं मालूम होता।

२—इनके नामों का 'भिक्खु जश रसायण' में यद्यपि कोई उल्लेख नहीं है फिर भी पाँच की संख्या का उल्लेख है, अत यही संभावना उचित प्रतीत होती है।
भारमलजी स्वामी के पिता 'किसनोजी' राजनगर चातुर्मास मे भी साथ नहीं थे। मालूम होता है वे यहाँ भी साथ नहीं थे। संभव है वे किसी दूसरे सिंघाड़े के साथ हों और कुछ दिन पश्चात् स्वामीजी से मिले हों।
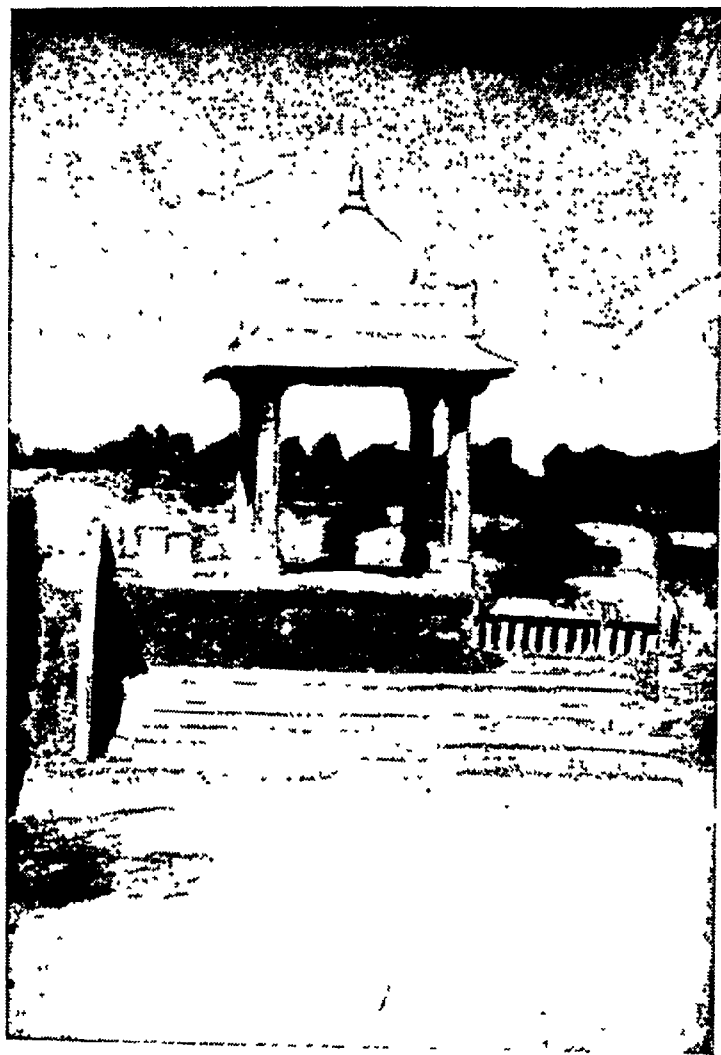
जैतसिंहजी की छतरी

अपना आत्म-विश्वास ही होगा। दूसरे तो प्राय असहयोगी ही नही, किन्तु विरोधी होगे। इतना सब कुछ सोच-समझ लेने के पश्चात् ही उन्होने उस मार्ग पर अपने चरण बढाये।

आचार्य रुघनाथजी उस समय स्थानक-वासी सम्प्रदाय के एक बड़े टोले के आचार्य थे। स्वामीजी ने उनसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद किया तो उन्होने उनके विरुद्ध नाना विरोध और वहिष्कारों के रूप में विपत्तियों के पहाड खडे कर दिये। फिर से स्थानक में आने को बाध्य करने के लिए सघ ने सेवक के द्वारा सारे शहर मे ढिंढोरा पिटवा दिया कि कोई भी व्यक्ति भीखणजी को ठहरने के लिए स्थान न दे। यदि कोई स्थान देगा तो उसे सर्व-सघ की आन है।

स्वामीजी उस विरोध से विचलित होने वाले नही थे। वे अपने विचारो के पक्के थे। आने वाले किसी भी तूफान का सामना कर सकने का उनमें भरपूर आत्म-बल था। उन्होंने शहर में रहने-योग्य स्थान की काफी गवेषणा की, परन्तु सघ की 'आण' के भय से कोई भी व्यक्ति स्थान देने को तैयार नही हुआ। उन लोगो की यह एक चाल थी कि सारे शहर में जब कोई स्थान नहीं मिलेगा, तब आखिर स्वय ही इन्हें स्थानक में आना पड़ेगा। परन्तु स्वामीजी उसे अच्छी तरह से जानते थे अत उन्होने सोचा—"स्थानाभाव से घबरा कर यदि मैं पुन स्थानक में चला जाऊँगा तो फिर से उसी छूटे हुए जाल में फँस जाऊँगा। वहाँ से फिर निकल पाना अत्यन्त कठिन हो जाएगा।"

स्थानक में वापिस जाने को अपेक्षा विहार करना ही उचित समझ कर उन्होने बगडी[1] शहर से विहार कर दिया। वे शहर से बाहर ही हुए थे कि जोर से आंधी चलने लगी। तेज आंधी में विहार करना उचित न समझ कर वे वही पार्श्वस्थित जैतसिहजी की छतरी[2] में ठहर गये। वह उनका प्रथम निवास-स्थान था। जगत् जिसे अपनी मजिल का अन्तिम स्थान समझता है, स्वामीजी ने उसे अपनी मजिल का प्रथम स्थान बनाया। वह था भी ठीक। सामान्य जहाँ अपनी सीमा को समाप्त करता है, विशेष वही से अपनी सीमा का प्रारम्भ करता है। सामान्य और विशेष का अन्तर यही तो स्पष्ट होता है।

गुरु के मोहोद्‌गार

छतरी में ठहरने का सवाद जब आचार्य रुघनाथजी ने सुना तो वे अनेक लोगो के साथ

१—स्वामीजी के उस महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् 'बगड़ी' को 'सुधरी' भी कहा जाने लगा है।

२—यह छतरी अब भी विद्यमान है। स्वामीजी के उस महान् दिवस की स्मृति में द्वि-शताब्दी संपन्न होने के अवसर पर अभी सं० २०१७ चैत्र शुक्ला नवमी (५ अप्रैल १९६० ईस्वी) के दिन आचार्य श्री तुलसी के नेतृत्व में उसी स्थान पर 'अभिनिष्क्रमण-समारोह' मनाया गया था। इसमें दूर-दूर से समागत हजारों की संख्या में जनता ने भाग लिया था। उस अवसर पर राजस्थान के मुख्य मंत्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया तथा वित्त मंत्री श्री हरिभाऊ उपाध्याय आदि अनेक विशिष्ट व्यक्तियो ने स्वामीजी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की थी।

वहाँ आये[1] और स्वामीजी पर दवाब डालते हुए कहने लगे—"तुम्हें समय देखकर चलना चाहिए। इस समय में इतनी कठोर चर्या की बात किसी भी प्रकार से निभ नहीं सकती, अतः निरर्थक हठ को छोड़कर मेरे साथ फिर से स्थानक में चले आओ।"

स्वामीजी ने कहा—"समय के बहाने से शिथिलाचार को प्रश्रय देना उचित नहीं हो सकता। इस समय भी साधु-चर्या के कठोर नियम उसी प्रकार निभाये जा सकते हैं, जिस प्रकार कि पहले निभाये जाते थे। इसी विश्वास के आधार पर हम लोग जिन-आज्ञा के अनुसार शुद्ध सयम पालना चाहते हैं। आपसे भी इसीलिए निवेदन किया था कि यदि आप इस क्रियोद्धार के लिए उद्यत हों, तो अब भी पूर्ववत् आप हमारे गुरु हैं और हम आपके शिष्य। इसके अतिरिक्त और कोई बात मत समझिये।"

स्वामीजी की यह बात सुनकर रुघनाथजी को बड़ी निराशा हुई। सघ का गौरव बढाने योग्य और असाधारण प्रतिभा वाले अपने प्रिय शिष्य के इस निष्क्रमण ने उनके हृदय और आँखो को द्रवीभूत कर दिया। उस समय उनके साथ आए साधुओं में 'सामजी ऋषि' के सप्रदाय के उदयभाणजी नामक एक साधु भी थे, जो कि रुघनाथजी के पास ही खड़े थे। उन्होने कहा—"आप एक टोले के नायक हैं, आपको ऐसा नहीं करना चाहिए" आचार्य रुघनाथजी ने कहा—"किसी का एक जाता है तो उसे भी चिन्ता होती है, यहाँ तो भला एक साथ पाँच जा रहे हैं।"[2]

गुरु के उस मोह को देखकर भी स्वामीजी विचलित नहीं हुए। उन्होने सोचा—"जिस

१—स्थानकवासी श्रीमद् कनीरामजी के 'सिद्धान्तसार' की भूमिका में छत्रियो में आचार्य रुघनाथजी के आगमन को इन शब्दो में व्यक्त किया है—"करुणाशील परम प्रीतीय भाव धारण करता थका तेमने समजाववा खातर सामने पधार्या।"

२—स्थानकवासी श्रीमद् कनीरामजी रचित 'सिद्धान्तसार' के गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना के अनुसार आचार्य रुघनाथजी को यह चिन्ता तथा मोह उस समय हुआ था जब कि स्वामीजी उनसे अलग होने लगे थे तथा अपने साथ जाने वालो के नामो से उनको अवगत किया था। वहाँ उस स्थिति को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—"ते सांभली श्री गुरु ईषत् धर्मानुराग रूप सराग वशे चिन्ता ग्रसित थया।"

जयाचार्य ने इसे छतरियों की ही घटना माना है। उनके शब्दो में वह इस प्रकार है :

ए वचन सुणी द्रव्य गुरु भणी, तूही आश तिवार।
मोह आयो तिण अवसरै, चिन्ता हुई अपार॥
सामजी ऋषि नो साध थो, उदैभाण कहै एम।
टोला तणा धणी वाजने, आंसपच करो केम॥
किणरो एक जावै तरै, आवै फिकर अपार।
म्हारां पांच जावै सही, गण में पड़ै बधार॥ भिक्खु जश रसायण ५-५, ६, ७

दिन मैंने घर छोडा था उस दिन मेरी माता ने भी स्नेहवश आँसू बहाये थे, परन्तु मैंने उनकी कोई परवाह न करके गृह-त्याग किया था, तो अब इन आँसुओ का मूल्य ही क्या हो सकता है ? यदि मैं इस मोह के प्रवाह में बह जाऊँ तो आत्म-कल्याण के अपने लक्ष्य को किसी भी प्रकार पूरा नही कर सकता ।" स्वामीजी पूर्ण रूपेण दृढ-चित्त रहे और मोह का अपने ऊपर कोई असर नहीं होने दिया ।

एक धमकी

मोह मनुष्य को जितना द्रवित कर सकता है, उतना ही अधिक कठोर भी बना सकता है । स्वामीजी की उस दृढ-चित्तता से आचार्य रुघनाथजी के अभिमान को भारी धक्का लगा । वे धमकी भरे कठोर शब्दो में कहने लगे—"अच्छा, तो अब तू भी देखना । आगे तू है और पीछे मैं हूँ । तेरे पीछे इतने लोगो को लगा दूँगा कि तू फिर याद ही करता रहेगा ।"

स्वामीजी उसी शांत भाव से बोले—"मैं अपने जीवन में सम्यक् चारित्र की साधना करने जा रहा हूँ । अत आप जो कह रहे है, वह तो स्वत ही होने वाला है । फिर भी इस विशेष अवसर पर मैं आपके इन दोनो ही वाक्यो को अपने लिये आशीर्वाद ही मानता हूँ । यदि आप इन वाक्यो में धमकी दे रहे है तो भी मेरे लिये कोई चिन्ता की बात नही है, क्योंकि मैं तो परीषह सहन करने के लिये तुला हुआ ही हूँ । तब फिर इस प्रकार की धमकियो से क्या डरूँगा ? किन्तु आप स्वय अपनी आत्मा के लिये सोच लीजियेगा और उसके लिये जैसा कल्याणकारी हो, वैसा ही कीजियेगा ।"

इस तरह के शात और सतुलित उत्तर से आचार्य रुघनाथजी हतप्रभ हो गये । आगे और कुछ कहने को न तो उनके पास कोई बात ही शेष रह गई थी और न साहस ही । जब वे अपनी नरम और गरम—दोनो ही प्रकार की प्रवृत्तियो से स्वामीजी को वापिस आने के लिये तैयार नही कर सके तो अनन्योपाय होकर शहर में आ गये ।

स्वामीजी ने अपनी शांत वृत्ति के द्वारा यह सिद्ध कर दिखाया कि सत्यनिष्ठ और दृढ-निश्चयी को न तो स्नेह, मोह या नरमी ही विचलित कर सकते हैं और न धमकियाँ, विरोध एव गरमी ही । प्रत्युत वे तो उसके आत्मबल की वृद्धि ही किया करते है । कई बार तो उनके साथ किया जाने वाला सघर्ष ही उसके विकास और आत्मबल का माप-दड बन जाता है ।

बरलू की चर्चा

स्वामीजी ने बगडी से बरलू की ओर विहार किया । आचार्य रुघनाथजी भी उनके पीछे बरलू आये । वहाँ फिर डटकर चर्चा हुई । चर्चा में जब आचार्य रुघनाथजी के पास कोई उत्तर नही रहा, तब उन्होने पचम-काल का नाम लेते हुए कहा—"यह दुःषम काल है, इसमे पूरी साधुता नही निभ सकती ।"

स्वामीजी ने उसका उत्तर देते हुए कहा—"दुःषम काल का तात्पर्य यह थोड़े ही हो सकता है कि उसमें धर्म की पूर्ण साधना नहीं की जा सकती। इसका तात्पर्य तो इतना ही कहा जा सकता है कि इस काल में बल, संहनन आदि हीन होंगे, अतः धर्म-साधना में नाना प्रकार की शारीरिक और मानसिक कठिनाइयाँ रहेंगी। जो चारित्र-पालन करना चाहेगा उसे अधिक सावधानी और अधिक पुरुषार्थ की आवश्यकता होगी। भगवान् ने इसीलिये कहा है—"जो शिथिलाचारी और पुरुषार्थहीन होंगे, वे ही यह कहेंगे कि इस काल में शुद्ध संयम नहीं पाला जा सकता।[1]"

यह सुनकर आचार्य रुघनाथजी ने बात का रुख बदलते हुए कहा—"शुद्ध चारित्र क्या कोई मामूली बात है? केवल दो घड़ी शुद्ध ध्यान करने और शुद्ध चारित्र पालने से ही केवल-ज्ञान प्राप्त हो सकता है।"

स्वामीजी बोले—"संयम तो एक निरन्तर की साधना है। वह घड़ी-दो-घड़ी के लिये ही पर्याप्त नहीं होती। उसकी साधना में एक क्षण का प्रमाद भी उचित नहीं माना जा सकता। यदि दो घड़ी की शुद्ध साधना से ही केवल-ज्ञान प्राप्त किया जा सकता हो तो इतने काल के लिये तो मैं श्वास रोककर भी शुद्ध ध्यान कर सकता हूँ। प्रभव स्वामी और शय्यंभव स्वामी आदि को—जो कि क्रमशः जम्बूस्वामी के पश्चात् ही हुए, केवल-ज्ञान नहीं हुआ था, तो क्या उन्होंने दो घड़ी के लिये भी शुद्ध संयम नहीं पाला था? भगवान् महावीर के चौदह हजार शिष्यों में से केवल सात सौ ही केवली हुए, तो क्या अवशिष्ट साधुओं ने दो घड़ी के लिये भी शुद्ध संयम नहीं पाला? स्वयं भगवान् महावीर भी संयम लेने के पश्चात् लगभग साढ़े बारह वर्ष तक छद्मस्थ ही रहे। क्या आप कह सकते हैं कि उस अवधि में दो घड़ी के लिये भी उन्होंने शुद्ध ध्यान नहीं ध्याया और शुद्ध चारित्र नहीं पाला? यों तो दो घड़ी क्यों, इससे कम समय में भी भरत, मरुदेवा आदि ने केवल-ज्ञान प्राप्त किया है। परन्तु देशऊन करोड़ पूर्व तक शुद्ध साधुता पालने पर भी किसी-किसी को केवल-ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इसलिये शुद्ध साधुता जीवन भर के लिये एक साधना है, चाहे केवल-ज्ञान उससे प्राप्त हो अथवा न हो।"

इस प्रकार पारस्परिक चर्चा का वह दौर भी समाप्त हो गया। किन्तु स्थिति में किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं आ सका।

आचार्य जयमलजी से मिलन

बगड़ी से विहार कर स्वामीजी आचार्य जयमलजी से मिले। वे भी स्थानकवासी सम्प्रदाय के एक बड़े टोले के अधिनायक थे। आचार्य रुघनाथजी के वे गुरुभाई थे, अतः स्वामीजी के चाचा गुरु थे। स्वामीजी ने सोचा "जब मेरे गुरु आचार्य रुघनाथजी इतना प्रयास करने के पश्चात् भी नहीं समझ रहे हैं और न उनके समझने की अब कोई सम्भावना ही रही है, तो

१—आचारांग

ऐसी स्थिति में आचार्य जयमलजी से मिलकर शासन-शुद्धि के विचार को आगे बढाया जाए और स्वय उनको इस कार्य के लिये तैयार किया जाए। यदि इस कार्य में सफलता मिल गई तो आचार-शुद्धि के लक्ष्य को बहुत सहजता से प्राप्त किया जा सकता हैं। वे प्रकृति से बहुत सरल और भद्र-परिणामी है, अत उनसे ऐसी आशा करना कोई असंगत बात नही होगी।" यही बातें सोचकर स्वामीजी उनसे मिले।

यह मिलन कहाँ और कब हुआ—इसका कोई निश्चित प्रमाण देखने मे नही आया। फिर भी "भिक्खु जश रसायण" के अनुसार बरलू से विहार कर देने के पश्चात् ही कही अन्यत्र स्वामीजी उनसे मिले थे। आचार्य जयमलजी का विहार-क्षेत्र नागोर, जोधपुर, बीलाडा तथा उनके चौतरफ के क्षेत्र ही प्रमुख रूप से रहे, अत यह मिलन उन्ही मे से किसी एक क्षेत्र में हुआ होगा। अधिक सभव है कि वे जोधपुर[1] में ही मिले थे।

पूर्ण सहयोग का निर्णय

आचार्य जयमलजी के साथ स्वामीजी का वह मिलन अत्यन्त सहृदयतापूर्ण वातावरण मे हुआ था। अत उनमें जो परस्पर विचार-विमर्श हुआ वह भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक हुआ। स्वामीजी ने उनके सामने अपने सारे विचार रखे। तात्कालिक मान्यताओ तथा कार्य-प्रणालियो में शास्त्रीय विधान की दृष्टि से जो विरोध आ गया था, वह भी स्पष्ट रूप से बतलाया। उसके सुधार के लिए किये गये उपक्रमों और उनसे उत्पन्न स्थिति से भी उन्हें परिचित किया। इन सबके साथ-साथ भावी कार्य-क्रम और उसमें आकांक्षित सक्रिय सहयोग के लिए भी बातचीत की।

आचार्य जयमलजी स्वामीजी के विचारो से बहुत प्रभावित हुए। सैद्धांतिक दृष्टिकोण के

१—हेमराजजी स्वामी के दृष्टान्तों के अन्तर्गत तेरहवें दृष्टान्त में कहा है कि स्वामीजी जब भाव-संयम लेने को तैयार हुए थे, तब एक चातुर्मास जोधपुर मे जयमलजी के साथ किया था। वहाँ जयमलजी के टोले के साधु थिरपालजी, फतेचंदजी आदि के तथा स्वयं जयमलजी को भी स्वामीजी की श्रद्धा जंच गई थी। उस समय रुघनाथजी ने सोजत के भाइयों द्वारा एक पत्र-जोधपुर में जयमलजी के पास भिजवाया और उनके परिणाम फिरा दिये। इस दृष्टान्त में से यदि चातुर्मास करने की बात को छोड़ दिया जाए तो शेष सभी बातों से यही स्पष्ट होता है कि वे जोधपुर में ही मिले थे। इसमें चातुर्मास करने की जो बात लिखी है, वह किसी के लेखन या श्रवण की भूल का परिणाम हो सकती है। क्योंकि राजनगर के पश्चात् और भाव-संयम ग्रहण करने से पूर्व, स्वामीजी ने सं० १८१६ का केवल एक चातुर्मास ही किया था, जो कि नागोर में था। अतः यही ठीक जंचता है कि उनका वहाँ चातुर्मास न होकर शेषकाल की ग्रीष्म-ऋतु में यह मिलन हुआ था।

'भारीमाल चरित्र' के अनुसार स्वामीजी का 'बीलाड़ा' में भी जयमलजी से मिलना हुआ था। संभवतः भाव-संयम की तैयारी के समय यह उनका दूसरी बार का मिलन था। उस बार स्वामीजी ने भारमलजी स्वामी के पिता किसनोजी को उन्हें सौंपा था।

आधार पर विचार और आचार-सम्बन्धी शुद्धीकरण के उस शुभ कार्य में उन्होने पूर्ण सहयोगी के रूप में अपना साथ देने का निर्णय व्यक्त किया। स्वामीजी उनकी उस भावना से बहुत संतुष्ट हुए।

परिणाम-भंग

आचार्य रुघनाथजी को जब पता चला कि जयमलजी के भीखणजी की श्रद्धा बैठ गई है और वे उनका साथ देने को तैयार है, तो वे बडे खिन्न हुए। उनके विचारों को परिवर्तित करने के लिए उन पर नाना स्थानो मे दबाव डाले जाने लगे। स्वय रुघनाथजी ने भी अपने प्रभाव का उपयोग करते हुए उन्हें इस कार्य मे अलग होने के लिए बाध्य किया। उनके विचारो का प्रतिनिधित्व करने वाला एक पत्र सोजत के भाइयो द्वारा जोधपुर में जयमलजी के पास भेजा गया, जिसका आशय था—"यदि आप भीखणजी के साथ मिल जाएगे तो आपका नाम न होकर भीखणजी का ही नाम होगा। अभी आपको फुसलाने के लिए चाहे कुछ भी कहा जाए, परन्तु निश्चित है कि टोला—सम्प्रदाय भीखणजी के ही नाम से चलेगा। साधु आपके होगे, काम भीखणजी का होगा। आपके साधुओ में से जो विद्वान् हैं, उन्हें तो वे छांट कर ले लेंगे। किन्तु अवशिष्ट साधुओ को 'ढीले' कहकर अवश्य ही अलग रखना चाहेंगे। ऐसी स्थिति में वे सारे निराधार हो जाएगे। उनके पारिवारिक गृहस्थ उनकी दुविधाओं से दु खी होकर आपको ही कोसेंगे। अत अपने इतने वडे टोले की सुव्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर किसी बहाव मे बह जाना आप जैसे सुविज्ञ सघ-नायक के लिए शोभास्पद नही है[1]।"

इस प्रकार की अनेक बातें सुनकर आचार्य जयमलजी के परिणाम गिर गये। उन्होंने स्वामीजी के साथ मिलकर आचार-शुद्धि के लिए जो निश्चय किया था, उसे बदल दिया। स्वामीजी के सामने अपनी उस विवशता को व्यक्त करते हुए उन्होने स्पष्ट शब्दों में कह भी दिया—"भीखणजी! मैं तो गले तक इसी वातावरण में डूब चुका हूं। मेरा निकलना अब सहज नही है। तुम पडित हो, मेरी स्थिति को अच्छी तरह से समझ सकते हो। इसलिए थोड़े मे ही जान लो। तुम शुद्ध साधु-जीवन का पालन करो। मेरे लिए तो यह लाभ प्राप्त करना अशक्य ही है।[2]"

नव निर्माण का निश्चय

इस घटना से स्वामीजी को यह स्पष्ट पता लग गया कि आचार्य-पद पर आसीन किसी भी व्यक्ति से क्रियोद्धार की आशा करना व्यर्थ है। वह बाह्य वातावरण के दबाव से इतना घिरा हुआ होता है कि अपनी स्थिति से तिलभर भी इधर-उधर होने का विचार स्वय उसे या उसके पद को खतरा पैदा कर सकता है। पद को छोटे-वडे किसी भी परिवर्तन से वडी

१—हेम दृष्टांत दृ० १३

२—हेम दृष्टांत दृ० १३

घवराहट रहती है। पद से चिपकने की मनोवृत्ति क्रान्ति के लिए उपयोगी नहीं हो सकती। उसके लिए तो पद-त्याग करने की मनोवृत्ति ही काम कर सकती है।

आचार्य जयमलजी से वार्त्तालाप कर लेने के पश्चात् स्वामीजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब जो कुछ करना है, वह सब स्वय के बलबूते पर ही करना है। दूसरों की प्रतीक्षा में और अधिक समय व्यतीत करना उचित नही होगा। किसी पूर्व-गठित संघ का आचार-विचार के आधार पर उद्धार करने का लक्ष्य उनके सामने अब नही रहा, क्योंकि उसके लिए अनेक बार प्रयास करने के पश्चात् भी उन्हें कोई सफलता नही मिली और आगे के लिए सफलता की कोई सम्भावना भी दृष्टिगत नही हो रही थी। अब तो केवल आमूलचूल नये सघ-निर्माण की ही आवश्यकता थी। स्वामीजी ने उसके लिए पृष्ठ-भूमि तैयार करने का निश्चय किया।

जोधपुर के बाजार मे

नव निर्माण की दिशा में प्रथम चरण-न्यास करने के लिए स्वामीजी ने यह आवश्यक समझा कि अब अपने विचारों का जनता में प्रचार किया जाये। इतने दिनो तक मुख्यत: विभिन्न साधुओं को ही वे अपने विचार बताते रहे, किन्तु अब उन्हें विस्तारपूर्वक सबके सम्मुख रखने की आवश्यकता हुई। यह कार्य स्थानक में रहते हुए नही किया जा सकता था। उनका सिद्धान्तवादी मन यह भी स्वीकार नही कर सकता था कि स्वय जीवन में उतारे बिना किसी सिद्धान्त का प्रचार किया जाये।

जब वे स्थान की गवेषणा करने लगे तो उन्हें बाजार में कुछ दुकानें खाली मिलीं। दुकान के स्वामी की आज्ञा लेकर वे वहाँ ठहर गये। बाजार होने के कारण लोगो का आवा-गमन वहाँ यों ही काफी था, अब स्वामीजी के ठहरने से धर्म-चर्चा के लिए भी वह एक केन्द्र बन गया।

स्वामीजी आगन्तुक व्यक्तियों को अपने विचारों से अवगत कराने लगे। वे जैनागम-सम्मत आचार और विचार के सम्बन्ध में बहुत सी सारगर्भित बातें बतलाते। प्राय सारे दिन उनके पास जिज्ञासु व्यक्तियों का तांता लगा रहता। अनेक व्यक्तियों के मन में स्वामीजी के विचार जमने लगे और वे उनके भक्त बन गये। उन श्रद्धालु व्यक्तियों में गेरूलालजी व्यास आदि कुछ ऐसे व्यक्ति भी थे, जिन्होंने स्वामीजी के विचारो को केवल समझा ही नही, किन्तु दूसरों को समझाने में भी काफी भाग लिया। जोधपुर के उन व्यक्तियो को तेरापथ के आद्य श्रावक होने का श्रेय प्राप्त है।

स्वामीजी वहाँ कुछ ही दिन ठहरे थे, परन्तु उतने ही दिनों में वहाँ के धार्मिक वातावरण में एक हलचल-सी पैदा हो गई। स्वामीजी का व्यक्तित्व तथा उनके विचार उस समय के साधु व श्रावक-वर्ग में चर्चा के मुख्य विषय बन गये। कोई उनके पक्ष में बोलता तो कोई विपक्ष में। स्वामीजी जब जोधपुर से विहार कर आगे पधार गये, तब भी शहर में उनके

विचारो की चर्चा उसी प्रकार से चलती रही। व्यासजी आदि श्रावक उन विचारों के प्रचार में लगे हुए थे। स्वामीजी के द्वारा प्रज्वलित सत्-श्रद्धा की ज्योति को वे अपने प्रयास की आहुति से और भी अधिक तेज बना देना चाहते थे।

एक केन्द्र

स्वामीजी स्थानक के कट्टर विरोधी थे, अत उनके भक्तजनों के लिए भी यह आवश्यक था कि वे स्थानक को किसी प्रकार का प्रश्रय न दें और न उसे अपना आधार बनायें। स्वामीजी के विचार स्थानक के विषय में बिलकुल स्पष्ट थे। उनका कथन था—"जिस प्रकार साधारण गृहस्थ के 'घर', सेठ के 'हवेली' और राजा के 'महल' होता है, तथा विभिन्न सन्यासियों के मठ, अस्थल, आसन, मढी आदि नाम से मकान होते हैं, उसी प्रकार जैन-साधुओं के निमित्त 'स्थानक' बनाये जाते है। इन सब में केवल नाम का ही अन्तर है, वस्तु-दृष्टि से तो ये सब घर ही हैं। यह एक प्रकार का प्रच्छन्न परिग्रह है, जो साधु को अपरिग्रही नहीं रहने देता। अन्य मकानों के निर्माण की ही तरह इनके निर्माण में भी जीव-हिंसा होती है। यह जीव-हिंसा साधु के निमित्त होती है, अत. ऐसे मकानो में ठहरने से साधु अहिंसक नहीं रह सकता। उसे 'आधाकर्म' दोष का भागी होना पडता है।"[1]

इसीलिए स्वामीजी के विचारो पर श्रद्धा रखने वाले वे थोडे से लोग प्रायः प्रतिदिन उस दुकान पर ही एकत्रित हुआ करते थे। वहाँ वे लोग सामायक, पौषध आदि धर्म-क्रिया करते तथा धर्म-विषयक विचार-विमर्श करते। अन्य आस-पास की दुकानों में जहाँ सांसारिक व्यापार चला करता, वहाँ उस दुकान में धार्मिक व्यापार चलता। वहाँ भी अनेक नये-नये तत्त्व-जिज्ञासु ग्राहक के रूप में आया करते और तत्त्व-चर्चा में भाग लिया करते। उन दिनो वह स्थान स्वामीजी के विचार-प्रसार का एक अच्छा केन्द्र बना हुआ था। केवल विचार-प्रसार का ही नही, किन्तु स्वामीजी सम्बन्धी प्रत्येक जानकारी का भी वह केन्द्र था।

तेरह साधु

स्वामीजी जब जोधपुर से चले तब यह निर्णय करके ही चले थे कि अब जिन-भाषित पथ पर उन्हें आगे बढते ही जाना है। कौन उसमें उनके साथी होते है और कौन नही—इसकी चिन्ता छोड देनी है। वस्तुत· उन्होने वैसा ही किया। जो इस पथ पर आना चाहें, वे आवें और जो न चाहें, वे न आयें—यही उनका दृष्टि-कोण रहा। सयम-जीवन के महल का नया पाया रखते समय जो उसकी नींव में अपने आपको सर्वभाव से समर्पण करने के लिए उद्यत थे, वे ही उस समय उनके साथी थे। उनकी संख्या अधिक नही थी। बलिदानियो की संख्या अधिक हुआ भी नही करती। वे कुल मिलाकर चौदह साधु थे। उनमें भी एक 'किसनोजी' को, जो कि भारमलजी स्वामी के पिता थे, कठोर प्रकृति के कारण स्वामीजी ने अपने साथ लेने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार केवल तेरह साधु ही रह गये थे।

१—भिक्खु-दृष्टांत दृ० ३०८

इनमें से स्वामीजी आदि पाँच साधु तो रुघनाथजी के टोले के थे, छह जयमलजी के टोले के और दो किसी अन्य टोले[1] के थे। प्रभु के पथ पर वलिदान होने के लिए उद्यत होने वाले उन तेरह व्यक्तियों[2] में एक तो स्वामी भीखणजी थे ही, जो कि उस अनुष्ठान के आद्य प्रेरक थे। शेष साधुओं के नाम क्रमशः इस प्रकार है :

१. थिरपालजी
२. फतेचदजी
३. वीरभाणजी
४. टोकरजी
५. हरनाथजी
६. भारमलजी
७ लिखमीचन्दजी
८. वखतरामजी
९. गुलावजी
१०. भारमलजी (दूसरे)
११. रूपचदजी
१२. पेमजी

तेरह श्रावक और दीवान

एक दिन जोधपुर के श्रावक वाजार की पूर्वोक्त दुकान पर एकत्रित होकर सामायिक आदि धर्मानुष्ठान कर रहे थे। उस दिन श्री फतहमलजी सिंघी का वाजार में से निकलना

१—इन दो साधुओं के विषय में कहीं उल्लेख तो देखने में नहीं आया, पर सुना जाता है कि ये श्यामदासजी के टोले के थे।

२—'शासन प्रभाकर' (२-६८) के अनुसार ये तेरह साधु जोधपुर में ही एकत्रित हो गये थे। यदि यह कथन सत्य हो तो यह अनुमान होता है कि भारमलजी स्वामी के पिता किसनोजी जोधपुर के पश्चात् ही स्वामीजी के साथ हुए थे। संभव है वे 'वीलाड़ा' में ही स्वामीजी से मिले हों और वहीं स्वामीजी ने उनको अपने साथ लेने से इन्कार कर दिया हो।

परन्तु उपर्युक्त अनुमान ख्यात के कथन से विपरीत जाता है। ख्यात के अनुसार किसनोजी जोधपुर से पहले ही स्वामीजी से मिल चुके थे और आचार्य जयमलजी को सौंप दिये गये थे। ख्यात का यह उल्लेख चिन्तनीय है, क्योंकि भारीमाल चरित्र (१-६) तथा भिक्खु-दृष्टान्त (२०२) से यह स्पष्ट है कि किसनोजी की घटना वीलाडा में हुई थी। यदि इसे जोधपुर से पहले की घटना माना जाए तो भाव-दीक्षा से पूर्व स्वामीजी का विहार-क्रम वनता है—वगड़ी, वरलू, वीलाड़ा और जोधपुर। परन्तु वरलू से वीलाड़ा काफी पीछे रह जाता है जवकि जोधपुर आगे रहता है। वगड़ी से विलाड़ा और फिर वरलू होकर जोधपुर विहार क्रम ठीक वैठ सकता है, परन्तु उस क्रम में किसनोजी की घटना ठीक नहीं वैठ सकती। 'भिक्षु जश रसायण' के अनुसार वरलू की चर्चा के पश्चात् ही स्वामीजी और आचार्य जयमलजी का मिलन हुआ था। अतः उससे पूर्व वे वीलाड़ा में किसनोजी को सौंपते भी तो किसे ? उन्होंने उनको जयमलजी को ही सौंपा था, इसमें सभी ग्रन्थ एकमत हैं। ऐसी स्थिति में सव कथनों का समन्वय इसी आधार पर हो सकता है कि स्वामीजी जोधपुर के पश्चात् वीलाड़ा पधारे थे और किसनोजी की घटना तभी घटित हुई थी।

हुआ। वे एक जैन श्रावक थे और उस समय जोधपुर राज्य के दीवान थे[1]। उन्होंने बाजार के चौहटे में श्रावकों को सामायक करते देखा तो उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ। वे उस दुकान की ओर आये और श्रावकों से पूछने लगे—"आप लोगों ने स्थानक में सामायिक न करके यहाँ बाजार के चौहटे में कैसे की है ?"

श्रावकों ने उनके प्रश्न के उत्तर में आचार्य रुघनाथजी से स्वामी भीखणजी के पृथक् होने की सारी बात कह सुनाई और बतलाया कि अनेक मत-भेदों के साथ-साथ स्थानक के विषय में भी स्वामीजी अपना भिन्न मत रखते हैं। उनका कथन है कि साधुओं के निमित्त कोई स्थान नहीं होना चाहिए। मठाधीश और परिग्रही का साधुता से क्या सम्बन्ध हो सकता है ? गृहस्थावास का अपना एक घर छोड़ने वाला साधु यदि ग्राम-ग्राम में घर बनवाकर बैठ जाएगा तो वह गृहस्थ से भी गया-गुजरा हो जाएगा। जैनागमों की दृष्टि से भी अपने निमित्त बने स्थान का उपभोग करने से 'आधाकर्म' दोष लगता है, जो कि एक बहुत बड़ा दोष माना गया है। श्रावकों ने कहा कि वे भी स्वामीजी के इन विचारों से सहमत हैं, अत स्थानक को छोड़कर यहाँ सामायिक कर रहे हैं।

अन्य मत-भेदों के विषय में भी सिंघीजी ने जिज्ञासा की तो श्रावकों ने कहा—"सारी बातों को सुनने में काफी समय लग सकता है। आज तो आप किसी कार्यवश जाते हुए मार्ग में से यहाँ पधार गये हैं, फिर कभी फुरसत का समय निकालें तो उन सभी विषयों पर बात की जाए।"

दीवानजी ने जिज्ञासा की उसी मुद्रा में कहा—"इस समय मैं फुरसत में ही हूँ। कोई ऐसा आवश्यक कार्य नहीं, जो मुझे इसी समय करना हो। अतः आप लोग निश्चिंत होकर सुनाइये।"

श्रावकों ने तब उनके सामने श्रद्धा और आचार के मत-भेदों की सारी बातें रखीं और प्रत्येक के विषय में स्वामीजी के विचारों से उन्हें अवगत कराया।

सारी बातों को ध्यानपूर्वक सुन लेने के पश्चात् उन्होंने पूछा—"इस समय कितने साधु इस विचारधारा का समर्थन कर रहे हैं ?"

श्रावकों ने उत्तर दिया—"तेरह।"

दीवानजी ने फिर पूछा—"अपने यहाँ जोधपुर में उनका अनुसरण करने वाले आप लोग कितने श्रावक हैं ?"

श्रावकों ने कहा—"हम लोग भी तेरह ही हैं, जो सारे-के-सारे यहाँ उपस्थित हैं।"

दीवानजी ने यह सुनकर कहा—"यह अच्छा संयोग रहा कि तेरह ही साधु और तेरह ही श्रावक।"

१—सिंघीजी सं० १७९३ से सं० १८३३ तक जोधपुर राज्य के दीवान थे। उनका नाम यद्यपि फतहचंदजी लिखा मिलता है पर वस्तुतः वह फतहमलजी ही होना चाहिए। जोधपुर में समानान्त नाम देने की पद्धति चालू रही है। अब तक भी वहाँ वह काफी रूप में चालू है। मानमलजी सिंघी आदि उनके वंशधर 'मल्लोत' ही रहे हैं।

नामकरण

सिंघीजी के साथ उस समय 'सेवग' जाति का एक कवि भी था। वह उपर्युक्त सारी बातें बडे ध्यान से सुन रहा था। साधुओ और श्रावकों की सख्या का यह आकस्मिक समान योग उस कवि-हृदय व्यक्ति को प्रेरणादायक बना और उसने उसी समय एक दोहा बनाकर सुनाया। उस दोहे में इस 'तेरह' की सख्या के आधार पर राजस्थानी भाषा के अनुसार स्वामीजी के इस सघ के अनुयायियों को 'तेरापथी' नाम से सबोधित किया गया था। वह दोहा इस प्रकार है :

साध साध रो गिलो करै, ते आप आपरो मत।
सुणज्यो रे शहर रा लोकां, ए तेरापथी तत॥

उस सेवग कवि के मुख से जब यह नामकरण हुआ तो उसे पहले-पहल स्वामीजी के विरोधी व्यक्तियों ने ही पकडा। वे उसका उपहास के रूप में प्रयोग करने लगे और जब-तब स्वामीजी के अनुयायियों को 'तेरापथी' कहकर चिढाने का प्रयास करने लगे। उन्होने उस नाम को दूर-दूर तक फैलाने का भी काम किया, ताकि उनके पक्षवाले स्वामीजी तथा उनके अनुयायियों को उपहास-पात्र बना सकें।

तेरापंथ का अर्थ

स्वामीजी तक वह नाम पहुँचा, तब वे सभवत· मारवाड के 'कांठा' (सीमांत) के किसी क्षेत्र में विहार कर रहे थे। जब उन्होने नाम और नामकरण के समय की उस सारी घटना को सुना, तो उनकी मूलग्राहिणी प्रतिभा ने उस शब्द को तत्काल स्वीकार कर लिया। कवि द्वारा सहज रूप से व्यवहृत उस 'तेरापथी' शब्द में उनको बडा अर्थ-गौरव जान पडा। उन्हें अपनी आन्तरिक विचारधारा की सारी अभिव्यक्ति उसी एक शब्द में होती हुई दिखाई दी। तत्काल उन्होंने उस शब्द को अपना 'प्रतीक शब्द' बना लिया और अपने संघ की अभिव्यक्ति के लिए उसे 'सज्ञा' के रूप में स्वीकार कर लिया।

राजस्थानी भाषा में संख्यावाची 'तेरह' शब्द को 'तेरा' कहा जाता है और 'तू' सर्वनाम के षष्ठ्यन्त एक वचन का रूप भी 'तेरा' बनता है। स्वामीजी ने इन दोनो ही प्रकारो को ध्यान मे रखते हुए अपनी प्रत्युत्पन्न बुद्धि के द्वारा इस शब्द की व्याख्या की। उन्होने प्रभु को नमस्कार करते हुए कहा—"हे प्रभो! यह तेरापंथ है। हम सब निर्भ्रान्त होकर इस पर चलने वाले है, अत 'तेरापथी' है।"

मूलत कवि की भावना को उस शब्द की सख्या ने ही प्रेरणा प्रदान की थी, अत स्वामीजी ने उसे भी उतना ही महत्त्व देते हुए उस शब्द का दूसरा अर्थ सख्या-परक करते हुए कहा—"पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति—इन तेरह नियमो की पूर्णरूप से श्रद्धा तथा पालना करने वाले व्यक्ति 'तेरापथी' हैं।"

नाम और काम का तादात्म्य

स्वामीजी ने 'तेरापथ' शब्द के साथ उपर्युक्त विवेचन और अर्थ का तादात्म्य स्थापित किया और अपने संघ को इतना आचार-कुशल बनाया कि जो व्यक्ति व्यग के रूप में उसका प्रयोग करना चाहते थे, वे अपनी चाल को भूल गये एव 'तेरापथ' के नाम से घबराने लगे। उनकी अपनी आचार-शिथिलता ने उनके मन में इस नाम से एक भय पैदा कर दिया।

स्वामीजी का विश्वास नाम पर नही, काम पर था। उन्होंने अपने अनुगामियों के सामने केवल काम ही प्रस्तुत किया। नाम की उन्होने कोई चिन्ता की ही नहीं। सभवत. नामकरण के समय तक भी उनके मन में यह कल्पना नहीं उठी थी। किन्तु जनता को पहचानने की सरलता के लिए हर काम के साथ नाम भी चाहिए। उसकी पूर्ति एक सेवग कवि ने की तो उसका प्रचार विरोधियों ने किया और उसको अर्थ स्वामीजी ने दिया। स्वामीजी ने अर्थ क्या दिया, वस्तुतः उस नाम को फिर से काम में पलट दिया। इसीलिए 'तेरापंथ' केवल सज्ञा ही नहीं रहा, किन्तु आचार-कुशलता और विचार-दृढता का एक सक्रिय-उदाहरण बनकर ससार के सम्मुख उपस्थित हुआ।

: ४ :

जीवन-संग्राम

पूर्व तैयारी

स्वामीजी का जीवन एक सैनिक का-सा जीवन था। उन्होंने अपने जीवन को सदैव एक संग्राम समझा। वे सदैव एक सफल योद्धा की तरह अपने उस जीवन-संग्राम में असयम के विरुद्ध जूझते रहे। असंयम पर विजय-प्राप्ति कर संयम की स्थापना करना उनका ध्येय था। वे अपने ध्येय में पूर्ण सफल हुए।

यद्यपि उस क्षेत्र मे उन्हें निर्विकल्प विजय प्राप्त हुई थी, फिर भी उनका जीवन-सग्राम चालू ही रहा। भाव-संयम की स्थापना के पश्चात् वे प्रकृति-जनित तथा विरोधियो द्वारा उत्पन्न किये गये परीषहों से जूझते रहे। वे उस सग्राम में कभी थके नही, ऊबे नहीं और झुके नहीं। पराजय तो कभी उनके सामने आ ही नहीं सकी। फलत जीवन-संग्राम के उस विजयी योद्धा ने अपनी प्रथम विजय भाव-संयम के रूप में प्राप्त की।

जोधपुर से विहार करते हुए कांठा क्षेत्र में आ जाने के पश्चात् स्वामीजी आदि तेरह ही साधु भाव-सयम के लिए शीघ्रतापूर्वक तैयारी करने लगे। वहाँ उनमे परस्पर सैद्धान्तिक चर्चाएँ हुई। आगमो का फिर से मन्थन और मनन किया गया। विचारो के पारस्परिक आदान-प्रदान के आधार से श्रद्धा और आचार-विषयक निर्णयो को पूर्णरूप दिया गया।

परन्तु जितना बड़ा काम था, उतने दिन हाथ में नही थे। चातुर्मास निकट आ जाने से कुछ विषयों पर अन्तिम रूप से विचार नही किया जा सका। इसलिए स्वामीजी ने सब साथियों को सम्बोधित करते हुए कहा—"चातुर्मास निकट है, इसलिए अवशिष्ट विषयों पर विचार करने का अवकाश नही रह गया है। चातुर्मास समाप्त होने पर हम सब फिर मिलेंगे और चर्चा करेंगे। श्रद्धा और आचार मिलने पर हम सम्मिलित रहेंगे अन्यथा नही।" इस प्रकार सब को पहले से ही समझा दिया गया कि यह पारस्परिक सम्बन्ध किसी घटना-विशेष या आग्रह परक नहीं, किन्तु विशुद्ध आचार और विचार के आधार पर ही है। स्वामीजी ने सब साथियों के लिए चातुर्मास के स्थानों का निर्धारण कर दिया और कहा कि आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के दिन हम सब को भाव-संयम ग्रहण कर लेना है।

केलवा में

स्वामीजी ने मारवाड़ से विहार कर मेवाड़ में पदार्पण किया। अपने चातुर्मास के लिए उन्होंने 'केलवा' नामक ग्राम को चुना[1]। वे वहाँ आषाढ़ शुक्ला त्रयोदशी के दिन पहुँचे[2]।

१—केलवा से राजनगर लगभग सात मील है। स्वामीजी ने अपने प्रथम चातुर्मास के लिए राजनगर को न चुनकर केलवा को चुना। यद्यपि वे राजनगर पहुँच सकते थे परन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया। क्यों नहीं किया? यह एक प्रश्न है। संभावित उत्तर यह हो सकता है कि क्रांति की मूल प्रेरणा में तो वहाँ के भाई अग्रणी थे, परन्तु बाद में आचार्य रुघनाथजी तथा समाज का दबाव पड़ने पर वे अपने लक्ष्य पर डटे नहीं रह सके। यद्यपि यह एक अनुमान ही है, परन्तु इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि उसके पश्चात् भी स्वामीजी ने वहाँ केवल एक ही चातुर्मास (सं० १८२० में) किया था। यदि वहाँ के श्रावक स्वामीजी के लक्ष्य में सहयोगी रहे होते तो कोई कारण नहीं था कि उन्हें प्रथम चातुर्मास नहीं मिलता तथा बाद में भी सारे जीवन में केवल एक ही चातुर्मास मिलता।

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में दूसरा अनुमान यह है कि स्वामीजी अपने प्रथम चातुर्मास के लिए राजनगर ही जा रहे थे, किन्तु वर्षा हो जाने से बीच के नदी नालों में पानी चढ़ आया था और मार्ग अवरुद्ध हो गया था। फलस्वरूप उन्हें 'केलवा' में ही चातुर्मास करना पड़ा। श्रावक शोभजी के एक पद्य में इस बात का कुछ अस्पष्ट-सा संकेत भी मिलता है। उन्होंने लिखा है:

> सोभो गर्भ माँहें वर्ष सतरै, जद बादल जादा झरिया,
> जनम किल्याण श्री पूज केलवे, साध थई संचरिया।

यहाँ शब्दों में स्पष्ट न होते हुए भी भावों में यह बात स्पष्ट झलकती है कि उस वर्ष (स० १८१७ में) वर्षा अधिक हुई थी, अतः स्वामीजी का संयम-सम्बन्धी जन्म-कल्याण केलवा में हुआ।

२—यह तिथि 'सापोल' के विरधीचंदजी कोठारी के पास एक प्राचीन चोपड़ी में प्राप्त हुई है। उसमें लिखा है—"सं० १८१७ का आषाढ़ सुदी १३ श्री भीखणजी महाराज कंटालिया वाला केलवा पधार बराज्या।"

उस समय स्वामीजी के साथ हरनाथजी, टोकरजी और भारमलजी—ये तीन साधु और थे[१]। ये तीनों ही पूरे विनीत और पूर्ण विश्वास-योग्य थे। स्वामीजी के प्रति उन सब की अटूट श्रद्धा थी।

यद्यपि स्वामीजी केलवा में चातुर्मास प्रारम्भ होने के करीब ही पहुँचे थे, फिर भी वहाँ पहुँचने से पहले ही उनके विरुद्ध विरोधियों द्वारा प्रचार प्रारम्भ किया जा चुका था। स्वामीजी के विरुद्ध अनेक अफवाहें और बातें उडाई गई थीं। सामाजिक स्तर पर उनका पूर्ण बहिष्कार करने के लिए श्री-संघ की ओर से अनेक आज्ञाएँ भी प्रचारित की गई थीं। स्थानीय जनता के मन में स्वामीजी के प्रति घृणा और भय का प्रसार इस रूपमें किया गया था कि वे जब वहाँ पहुँचे, तब उन्हें कोई स्थान देने वाला भी नहीं मिला।

अंधेरी ओरी

स्थान की गवेषणा करने में स्वामीजी को वहाँ काफी परिश्रम और पूछताछ करनी पड़ी। आखिर ग्राम के कुछ व्यक्तियों ने परामर्श करके एक स्थान देने का निर्णय किया। वह स्थान था स्थानीय जैन-मंदिर[२] की एक 'अंधेरी ओरी'[३]। न वहाँ हवा का प्रवेश था और न प्रकाश का। मानो वह स्वयं स्वामीजी से नई हवा और नये प्रकाश की एक लहर प्राप्त करने की प्रतीक्षा में ही इतने दिनो तक मौन और एकाकी साधना में खडी रही हो। वह एकदम शून्य और उपेक्षित स्थान था। लोग वहाँ दिन में जाने से भी सकुचाते थे। रात्रि को तो भूलकर भी कोई वहाँ नहीं रहता। लोगो में श्रुतानुश्रुति के रूप में यह बात प्रचलित थी कि वह भय

१—साधुओं की उपर्युक्त संख्या 'भिक्षु जश रसायण' के आधार पर दी गई है। यद्यपि जयाचार्य ने वहाँ संख्या का कोई निर्धारण नहीं किया है फिर भी स्वामीजी के अतिरिक्त तीन ही संतों के नाम दिये गये हैं, अतः स्वयं ही निर्धारण हो गया है। वह पद्य इस प्रकार है :

हरनाथजी हाजर हुंता, टोकरजी भिक्खु पास,
परम भगता भारीमालजी, पूरो ज्यांरो विश्वास।

इस उल्लेख के विपरीत 'ख्यात' में स्वामीजी सहित पाँच संतों का उल्लेख किया गया है, पर वहाँ किसी का नाम नहीं है। वहाँ की शब्दावली भी असंदिग्ध नहीं है। लिखा गया है—"आप केलवे पाँच संतां सूं आसरे पधारया।" यह 'आसरे' शब्द अनुमानतः या लगभग का द्योतक है।

'शासन प्रभाकर' के अनुसार भी स्वामीजी सहित वहाँ पाँच साधु थे, परन्तु नामोल्लेख वहाँ भी चार का ही किया गया है। एक के लिए कहा गया है—"एकांरो नाम लिख्यो न दिखात। (२-८९)

२—यह मंदिर भगवान् चंद्रप्रभ का है। इसमें एक शिलालेख भी है जिसके अनुसार इसका निर्माण-काल सं० १०१० आषाढ़ शुक्ला द्वितीया है।

३—अब उसे सुधार कर ठीक कर दिया गया है, अतः वहाँ अंधेरे का स्थान प्रकाश ने ले लिया है।
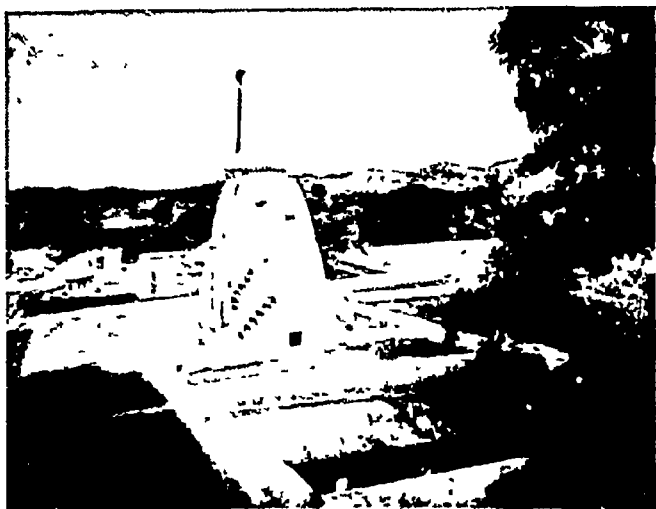
केलवा की ऐतिहासिक अन्धेरी कोठरी

अन्धेरी कोठरी का एक दृश्य

का स्थान है। रात्रिकाल में जो वहाँ रहेगा, वह प्रातः काल तक बचकर बाहर नहीं आ पाएगा। संभवतः इसी जनश्रुति के आधार पर किसी दुरभिसंधि से प्रेरित होकर लोगों ने स्वामीजी को वह स्थान देने की बात सोची थी। सांप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे—इस कहावत को वे चरितार्थ करना चाहते थे। स्वामीजी को स्थान बताते हुए उन लोगों ने कहा—"हमारे पास तो यही एक स्थान है, सो बता दिया, अब रहने न रहने की बात आप स्वय सोच लें।"

स्वामीजी के सामने न रहने का तो कोई प्रश्न ही नही था। वे धार-विचार कर आये थे। चातुर्मास करना था। स्थानाभाव का विचार उनपर क्या असर डाल सकता था, जब कि कुछ समय पूर्व वे इस समस्या के समाधानार्थ श्मसानभूमि में भी ठहर चुके थे। अन्य स्थान न मिलने पर वह स्थान तो प्राय· हर ग्राम में मिल ही सकता है। फिर वहाँ तो एक स्थान मिल रहा था। चाहे वह कैसा भी क्यों न हो, श्मसान भूमि से तो ठीक ही होना सभव था। स्वामीजी तो अभाव में से भी भाव को निचोड लेने वाले व्यक्ति थे। अत· किसी प्रकार के अभाव का उनके सामने प्रश्न ही नही था। उन्होंने उस स्थान को तत्काल स्वीकार कर लिया और आज्ञा लेकर वहाँ ठहर गये। गृहस्थ-वर्ग भी निश्चिन्त हुआ कि चलो बला टली।

दिन भर किसी के आने की तो आशा ही क्या की जा सकती थी। संतजन अपने स्वाध्याय-मनन में मग्न रहे। एकान्त में यह कार्य अत्यन्त सुचारुता से सम्पन्न हुआ। अन्य सारी दैनिक चर्या भी सानन्द सम्पन्न हुई। किसी प्रकार का कोई व्याघात उपस्थित नहीं हुआ।

रात्रि के समय वहाँ एक सर्प का 'उपसर्ग' अवश्य हुआ था, पर वह बाल साधु भारमलजी की निर्भयता और स्वामीजी की सतत जागरूक आत्म-शक्ति के द्वारा सदा के लिए शांत हो गया। जिन लोगों ने अपनी दुरभिसंधि के आधार पर उन्हें वह स्थान बतलाया था, वे प्रात· काल उसका परिणाम देखने की उत्सुकता से वहाँ आये तो स्वामीजी आदि सभी संतों को सकुशल पाकर बहुत चकित हुए। उन लोगों की वह चाल विफल हो चुकी थी। यद्यपि उन लोगों ने मुह से कुछ कहा तो नहीं, पर उद्देश्य की विफलता की चिंता उनके मुह पर स्पष्ट अंकित थी। सबसे बडी चिन्ता उनको यह थी कि स्वामीजी को वहाँ स्थान मिल गया था।

भावसंयम

स्थान की समस्या हल हो चुकी थी। चातुर्मास प्रारम्भ होने ही वाला था। वि० सं० १८१७[1] की आषाढी पूर्णिमा आ गई थी। स्वामीजी ने अन्यत्र विहार करने वाले साधुओं

1—अष्टादश सोले समैं, सुदि पूनम आषाढ।
संयम स्वाम समाचर्यो, शुभ मिलो दिल गाढ॥
उपर्युक्त प्रकार के कुछ पद्यों में सं० १८१६ का उल्लेख भी मिलता है, किन्तु उसे संवत् परिवर्तन के जैन परम्परा के आधार पर किया गया उल्लेख समझना चाहिये। पंचांग के अनुसार तो वह १८१७ ही है।

को भाव-संयम लेने के लिए जिस दिन का निर्देश दिया था, यह वही दिन था। स्वामीजी तया उनके सहवर्ती साधुओ के मन में अपूर्व उत्साह था। एक प्रकार के नये जीवन का प्रारम्भ होने जा रहा था। पुराने जीवन के लिए व्युत्सर्ग-भाव और नये जीवन के लिए स्वीकार-भाव से सव साधुओं की मुखाकृति आनन्दातिरेक से दमक उठी थी।

पूर्व निर्णीत समय पर स्वामीजी और उनके साथी संत सम्मिलित होकर पूर्व-दिशि ईशान-कोण के अभिमुख बैठे। सर्वप्रथम अरिहत भगवान् को सवने मिलकर नमस्कार किया। तदनन्तर स्वामीजी ने मेघमंद्र स्वर से सामायिक-सूत्र के पाठ का उच्चारण करते हुए सामायिक-चरित्र ग्रहण किया। तत्रस्थ अन्य साधुओं ने भी स्वामीजी द्वारा उच्चारित सामायिक पाठ के द्वारा चारित्र ग्रहण किया। तेरापथ का नामकरण कुछ दिन पहले ही हो चुका था, पर उसकी वास्तविक स्थापना स्वामीजी के भाव-सयम ग्रहण करने के साथ ही हुई।

युग प्रवर्तक स्वामीजी ने नये युग का प्रारम्भ करने के लिए जो दिन चुना, वह वस्तुतः जैनागम सम्मत ऐसा संधि-दिन था कि जहाँ से काल-परिवर्तन की गणना सदा से की जाती रही है। कालचक्र, अवसर्पिणी काल, उत्सर्पिणी काल, अर तथा सवत्-परिवर्तन के लिए मान्य सधि-दिन, द्रव्य-संयम और भाव-संयम का भी संधि-दिन हो गया।

श्रद्धा के अंकुर

केलवा में स्वामीजी का वह प्रथम चातुर्मास परीषहों का सामना करने और उन पर विजय पाने का उपक्रम कहा जा सकता है। विरुद्ध प्रचार के द्वारा स्वामीजी के विषय में जो धारणाएँ वहाँ पहले से फैला दी गई थीं, उनके कारण लोगों का आवागमन अत्यन्त विरल था। जो आते थे, वे भी सहृदयता से नहीं किन्तु द्वेष-बुद्धि से प्रेरित होकर ही आते थे। तत्त्व-जिज्ञासा से तो कोई ही आता था। स्वामीजी सव को शांत भाव से उत्तर देते थे। धीरे-धीरे लोगों की द्वेष-बुद्धि में परिवर्तन आने लगा। स्वामीजी की सहिष्णुता ने उनके द्वेष पर विजय पाई। श्रद्धा के अकुर फूटने लगे। फलस्वरूप अनेक समझदार व्यक्ति जिज्ञासा लेकर भी आने लगे और तत्त्व को समझने का प्रयास करने लगे।

चातुर्मास के अन्त तक केलवा में अनेक परिवार स्वामीजी के भक्त वन चुके थे। सर्वप्रथम वहाँ के कोठारी (चोरडिया) परिवार के व्यक्तियो ने स्वामीजी के पास तत्त्व को समझा। उनमें मुख्यतः ये व्यक्ति थे—मूणदासजी, जो कि केलवा ठिकाणे के प्रधान थे, भैरोजी, जो कि श्रावक शोभजी के पिता थे और केसोजी[1] आदि।

ठाकुर मोखमसिंहजी

अंधेरी ओरी की विजय ने लोगों के हृदय की अंधेरी ओरी पर भी विजय पाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। केलवा में साधारण किसान से लेकर ग्राम के अधिपति तक स्वामीजी

१—ये नाम उनके वंशजों के पास की बहियों से प्राप्त हुए हैं।

ठाकुर मोखमसिंहजी

केलवा का राजमहल

से प्रभावित हुए। उस समय वहाँ के शासक ठाकुर मोखमसिंहजी थे। वे अनेक बार स्वामीजी के सम्पर्क में आये और तत्त्व-चर्चा करके बडे सतुष्ट हुए। आगे के चातुर्मासों में तो उनपर स्वामीजी का ऐसा रग चढा कि एक दिन भी अनुपस्थित रहना उन्हें अखरने लगा। उनकी स्वामीजी पर अगाध भक्ति थी। स्वामीजी के आगमन को वे अपने सौभाग्य का सूचक मानते थे। उनकी भक्ति का परिचय निम्नोक्त घटना से अच्छी तरह स्पष्ट होता है।

एक बार वर्षा के कारण बड़ा कीचड़ हो गया था। मोखमसिंहजी प्रतिदिन व्याख्यान में आया करते थे। उस दिन आधे रास्ते तक आने के पश्चात् इतना कीचड़ आ गया कि उसमें पैर टेके बिना आगे बढ सकना असम्भव था। उनको बडी निराशा हुई। वे सोच ही रहे थे कि अब क्या करें। इतने में ही एक छुट-भाई ने उनकी मानसिक असमंजसता को ताड़ लिया और कीचड पर अपनी ढाल रखते हुए कहा—"आप इस पर पैर रखकर पधार जाइये।" ठाकुर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने स्वामीजी के दर्शन कर व्याख्यान सुना। जब वापस जाने का समय हुआ तब स्वामीजी को वन्दन करते हुए उस भाई की तरफ सकेत करके कहने लगे—"आज का सत्सग-लाभ तो इस भाई के कारण ही हो सका है। इस हर्ष पर मैं इसे 'केरिंगपुरा'[1] ग्राम प्रदान करता हूँ।"

भक्त-परिवार

ठाकुर मोखमसिंहजी की उस भक्ति का प्रभाव उनके सारे परिवार पर पडा। परिवार के सभी सदस्य स्वामीजी के प्रति बड़े श्रद्धालु हो गये। अन्य श्रावकों के समान ही गोचरी आदि के लिए भी उनकी बडी उत्कट भावना रहा करती थी। कहा जाता है कि भाव-सयम ग्रहण करने के पश्चात् पहले-पहल पात्र-दान का अवसर इसी परिवार को मिला था। आज भी इस परिवार के सदस्य तेरापथ और उसके आचार्यों के प्रति बहुत बडी श्रद्धा रखते है। वे तेरापथ और अपने परिवार के चिर-सम्बन्धों से परिचित है और उस पर गौरव अनुभव करते है। उदाहरण स्वरूप वर्त्तमान ठाकुर के वयोवृद्ध चाचा ठाकुर रामसिंहजी के पत्र उद्‌धृत किये जा सकते हैं। ठाकुर रामसिंहजी भक्त-प्रकृति के व्यक्ति हैं। वे विद्वान् होने के साथ-साथ कवि भी हैं। आचार्य श्री तुलसी के प्रति उनके मन में अगाध भक्ति है। समय-समय पर आचार्य श्री की सेवा में उनके पत्र आते रहते हैं। यहाँ उनमें से एक पत्र का कुछ अंश उद्‌धृत किया जाता है। वे लिखते हैं ·

ऋषभ देव पद वंदिके, वदों पुनि महावीर।
भव-जीवन उद्धार हित, घरी देह दुहु धीर ॥१॥

1—इस ग्राम का पूरा नाम 'केसरीसिंहपुरा' है किन्तु स्थानीय उच्चारण तथा संक्षेप की स्थिति में वह 'केरिंगपुरा' नाम से ही प्रायः समझा जाता है। यह भी सुना जाता है कि उस छुट भाई का नाम केसरीसिंह था, अतः ग्राम का यह नाम बाद में प्रचलित हुआ है। पहले उसका नाम कुछ और ही था।

करि साधन कृतकृत्य ह्वै, दिय उपदेश अमोल।
महत गुप्ति निधि मुक्ति को, दियो राजपथ खोल ॥२॥
कह्यो—चह्यो काट्यो करम, चलो धरम-पथ वीर।
अवस याहि तें पाईहो, भवसागर को तीर ॥३॥
सम्मुख तुमरे रखत है, मुक्तिमणी को खोल।
लेहु जाहि यह प्रिय लगे, मस्तक या को मोल ॥४॥
कठिन काम गिनि कातरन, तजी मुक्ति की आस।
दृढ़ व्रतधारी भीष्म मुनि, रच न भये निरास ॥५॥
संप्रदाय निज साधुवन, समझाये बहु बार।
सहज न पालन साधुता, कठिन खड्ग की धार ॥६॥
पच महाव्रत दृढ गहो, तजो जगत दुख रास।
कामादिक दुष्टन अरिन, लरि करि करो विनाश ॥७॥
रक्षा करिये भेष की, चलिके पूर्वज चाल।
मा हित दंभ प्रसारिहै, कठिन क्रूर कलिकाल ॥८॥
विकल समस्या सुनि विकल, भये क्लीव भुवि भार।
भीष्म धीर दृढ धीर धरि, गह्यो शास्त्र निज सार ॥९॥
वंदो भीष्म वरिष्ठ मुनि, जिहि जस अचल जहान।
उग्र तपस्या करि अवनि, थिति पाई सुर थान ॥१०॥
तिहिं मुनिराज प्रताप तें, चल्यो त्रयोदश पंथ।
सकल संत वहि आचरत, कहत सार सद्ग्रंथ ॥११॥
उन सतन के मुकुटमणि, श्री तुलसी महाराज।
तिनको वंदन करत हूं, सादर सहित समाज ॥१२॥
सिद्ध गये हूँ पूजियत, सिद्ध रहे की ठोर।
यह नहिं नाथ विसारियो, करिके हृदय कठोर ॥१३॥
अनुचित अंकित ह्वै अखर, लखिये नाहिं लिगार।
अबुधन के अपराध को, बुधजन देत विसार[1] ॥१४॥

सफल चातुर्मास

केलवा के उस राज-परिवार की भक्ति स्वामीजी से प्रारम्भ होकर जिस प्रकार आज तक चालू है, उसी प्रकार वहाँ के छोटे-बड़े प्रायः सभी परिवार भी तेरापथ के प्रति श्रद्धावनत है। परिपूर्णता की यह स्थिति बहुत समय पश्चात् हुई थी। प्रथम चातुर्मास में तो जो कुछ

1—यह पत्र विक्रम संवत् २००० माघ कृष्णा द्वादशी का लिखा हुआ है।

हुआ था, वह इसका बीज रूप ही कहा जा सकता है। फिर भी कालान्तर में फैलने वाले हर वृक्ष का महत्त्व उसके नन्हें से बीज में ही निहित रहता है। स्वामीजी के उस प्रथम चातुर्मास में उपकार की अपेक्षा प्रतिकार की ही बहुलता रही थी। परन्तु सघर्षों पर विजय पाने का क्रम भी वही से प्रारम्भ हुआ। बाद के सघर्षों में पाई गई हर विजय के मूल में केलवा की सफलता का ही स्वर सुनाई देता है। इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि स्वामीजी का वह प्रथम चातुर्मास अत्यन्त सफल रहा।

तेरह मे से छह

चातुर्मास समाप्त होने के पश्चात् पूर्व निर्णय के अनुसार तेरह ही सत एकत्रित हुए। कुछ बोल पहले चर्चित हो चुके थे। जो अवशिष्ट थे, उन्हें समुचित रूप से चर्चित कर एक निर्णय करना था। स्वामीजी ने सबके साथ पुन चर्चा चालू की। बखतरामजी और गुलाबजी का झुकाव कालवादियो की तरफ हो गया था तथा द्वितीय भारमलजी, रूपचन्दजी और प्रेमजी की मान्यता भी मिल नही सकी, अतः उन पाँचों को स्वामीजी ने प्रारम्भ से ही सम्मिलित नही किया[1]।

अवशिष्ट आठ साधु सम्मिलित रहें। बाद में वीरभाणजी को अविनीत होने के कारण पृथक् कर दिया गया जो कि अन्त मे इन्द्रियवादी हो गये। लिखमोजी भी बाद में सघ को छोडकर स्वयं पृथक् हो गये।

इस प्रकार आदि के तेरह साधुओ में से केवल आचार्य भीखणजी, थिरपालजी, फतेचन्दजी, टोकरजी, हरनाथजी और प्रथम भारमलजी—ये छह साधु ही रहे थे, जिन्होने आजीवन साथ निभाकर तेरापन्थ-संघ की अभिवृद्धि और विकास में अपना योगदान दिया।

समस्या-सकुल वर्ष

स्वामीजी के लिए वह समय अनेक समस्याओ से भरा हुआ था। पग-पग पर विरोध और विपत्तियों का सामना करना पड रहा था। आचार्य रुघनाथजी ने स्थान-स्थान पर लोगो को बहका कर स्वामीजी के विरुद्ध ऐसा वातावरण बना दिया था कि वे जहाँ जाते, वहाँ उन्हें विरोध का एक दावानल-सा सुलगता मिलता। कोई उन्हें निह्नव कहता, तो कोई जमालि और गोशालक से उनकी तुलना करता। कोई कहता—"इन्होंने देव-गुरु-धर्म को उठा दिया है। ये दान-दया के विरोधी हैं। ये जीव को बचाने में अठारह पाप बतलाते हैं।" इस तरह के अनेक अनर्गल आरोप उन पर लगाए जाते। जयाचार्य ने स्वामीजी के प्रति घृणा का

१—'शासन प्रभाकर' में उन पाँचों के प्रारम्भ से ही अलग रहने का उल्लेख है। अन्यत्र कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। 'भिक्खु जश रसायण' की ५२ वीं ढाल में, शासन-विलास की पहली ढाल में तथा ख्यात में जहाँ संघ के सभी दीक्षित साधुओं तथा टालोकरों के नाम गिनाए गए हैं, वहाँ किसी में भी उन पाँचों के नाम नहीं हैं। इससे भी यह अनुमान ठीक ही जान पड़ता है कि वे पहले से ही अलग रहे।

वातावरण बनाने के इस प्रयास की तुलना, उत्तराध्ययन में प्रतिपादित भृगु पुरोहित के द्वारा अपने पुत्रों के मन में साधुओं के प्रति घृणा भरने के असफल प्रयास से की है[1]।

स्थान, वस्त्र और आहार—शरीर-धारण के साथ ये तीन अनिवार्य आवश्यकताएँ क्रमशः अधिक महत्त्वपूर्ण होती हैं, किन्तु स्वामीजी को इन तीनों में से एक की भी सुविधा नहीं थी। उनके विरुद्ध में किये जाने वाले दुष्प्रचार के प्रवाह में बहकर लोगों ने वैयक्तिक रूप से और जहाँ सम्भव हो सका, वहाँ सामाजिक रूप से भी अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने प्रारम्भ कर दिये। उनके संयम-जीवन के कुछ प्रारम्भिक वर्ष तो बहुत ही कष्टपूर्ण तथा समस्या-संकुल रहे।

स्थान की समस्या

वे किसी गाँव में जाते तो पहले-पहल स्थान की समस्या ही उनके सामने आती। सहज रूप से स्थान नहीं मिलता। जब कभी कोई स्थान मिल जाता तो विरोधी लोग उसे छुड़ाने का प्रयत्न करने लगते। मकान मालिक पर अनेक प्रकार से दबाव डाले जाते कि वह अपने मकान को खाली करा ले। यही कारण है कि स्वामीजी के जीवन में ऐसे अनेक अवसर आये, जब उन्हें आवास छोड़कर जाना पड़ा। परन्तु स्वामीजी ऐसी बातों से तनिक भी विचलित नहीं हुए।

पाली में स्थान-परिवर्तन

एक बार पाली में चातुर्मास करने के लिए स्वामीजी गये। वहाँ एक दुकान में ठहरे। आचार्य रुघनाथजी भी पाली में ही थे। उन्होंने दुकान वाले के घर जाकर उसकी औरत को बहका दिया। उसने स्वामीजी को स्थान खाली करने के लिए कहा और बोली—"यहाँ ठहरने की आज्ञा नहीं है।"

स्वामीजी ने उसे समझाने का प्रयास किया, परन्तु वह टस से मस नहीं हुई। उसने कहा—"मुझे तुम्हारे जैसे ही पट्टीवाले साधुओं ने आकर बतलाया है कि चातुर्मास प्रारम्भ होने के पश्चात् तो कार्तिक पूर्णिमा तक तुम किसी भी प्रकार से मकान नहीं छोड़ोगे। इसलिए मेरा मकान अभी ही खाली कर दो।"

आखिर स्वामीजी ने वह मकान छोड़ दिया और उदयपुरिया बाजार की एक दुकान की मेड़ी पर चले गये। दिन में ऊपर रहते और रात को नीचे बाजार में व्याख्यान देते। पहले स्थान की अपेक्षा वह कहीं अधिक अच्छा तथा मौके का था। रात को वहाँ व्याख्यान में लोग काफी आने लगे। उस जगह को भी छुड़ाने का प्रयास किया गया, किन्तु मकान-मालिक ने

१—भृगु भिड़काया पुत्रां भणी, साधां में चूक बताय।
ज्यं भिक्खु रुप भिड़कावियां, ओहिज मिलियों न्याय ॥ —भि० ज० र० ९ दो० ५

कहा—"कार्तिक पूर्णिमा तक तो मैं उन्हें किसी भी हालत में मना नहीं करूँगा, उसके पश्चात् वे ठहरेंगे नहीं।"

उस चातुर्मास में वर्षा बहुत हुई। अत. स्वामीजी जिस दुकान में पहले ठहरे थे, वह सयोग वशात् गिर गई। स्वामीजी को जब यह पता लगा तब उन्होंने फरमाया कि स्थान छुडाने की प्रेरणा करने वालों पर छद्मस्थता के कारण क्रोध आना सम्भव था, पर मानना चाहिये कि उन्होंने हमारे साथ यह उपकार ही किया[1]।

नाथद्वारा से निष्कासन

स्वामीजी के सामने जैसे मकान-परिवर्त्तन की स्थिति उत्पन्न कर दी जाती थी, वैसे ही ग्राम-परिवर्त्तन के प्रयास भी चलते रहते थे। स० १८४३ में स्वामीजी ने नाथद्वारा में चातुर्मास किया। वहाँ पर उनका वह प्रथम चातुर्मास था। विरोधी लोग यह नहीं चाहते थे कि नाथद्वारा भी उनके विहार-क्षेत्र की सूची में आये। वे स्वामीजी के विरुद्ध जनता को उकसाने लगे।

उस वर्ष वहाँ वर्षा बहुत कम हुई। विरोधी लोगों ने उसका दोष स्वामीजी पर ही मढा। वे गोसाईंजी के पास पहुँचे और उन्हें इस प्रकार से बहका दिया कि जब तक ये लोग यहाँ रहेंगे, तब तक आपके शहर में वर्षा नहीं हो सकेगी। गोसाईंजी ने उन सबकी बातों में आकर अपने हरकारों को यह आज्ञा दी कि मुंहपट्टी वाले साधुओं को यहाँ से निकाल दो।

हरकारों ने आकर जब स्वामीजी को गोसाईंजी का आदेश बतलाया तो उन्होंने किसी प्रकार का आग्रह या ननु-नच किए बिना वहाँ से कोठारिये की ओर विहार कर दिया। नाथद्वारा से प्रस्थान करते हुए मार्ग में स्थानक आ गया। वहाँ भी कुछ साधुओं का चातुर्मास था। उन्हें इस बात का पता तो पहले ही लग गया था कि भीखणजी को यहाँ से चले जाने का आदेश हो गया है। अब यह भी पता चला कि वे इसी मार्ग से होकर जा रहे हैं। सम्भवत: उनकी इस स्थिति का मखौल करने के लिए अथवा यों ही साधारण-दृष्टि से कुछ साधु स्थानक के दरवाजे पर तथा कुछ ऊपर की खिड़कियों पर आकर बाहर देखने लगे।

जब स्वामीजी स्थानक के सामने आये, तब उन लोगों को यों खडा देखकर सहजभाव से उधर बढे और ज्ञात तथा अज्ञातभाव से हुई किसी भी प्रकार की कटुता के लिए 'खमत-खामणा' करते हुए आगे बढ गये। स्वामीजी के साथ कुछ स्थानीय श्रावक भी थे। वे स्वामीजी के प्रति बहुत श्रद्धा रखते थे, परन्तु उस अवसर पर वे कुछ कर सकने की स्थिति में

1—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २ में इस घटना का विवरण तो दिया है, परन्तु संवत् का उल्लेख नहीं है। स्वामीजी का पाली में प्रथम चातुर्मास सं० १८२३ में हुआ था। संभव है यह घटना उसी वर्ष की हो।

नहीं थे। वह उनकी शक्ति और पहुँच के बाहर की बात थी। यथाशक्ति प्रयास का कोई फल नहीं निकल सका। विवश होकर वे स्वामीजी के साथ-साथ स्वयं भी कोठारिया चले जाने के लिए तैयार होकर आये थे। वे भी 'खमत खामणा' कर आगे बढ गये।

हरकारों ने स्वामीजी को तथा उनके अनुवर्ती भाइयों को उन लोगों से बातचीत करते देखा और उनको भी मुंह पर पट्टी बांधे हुए देखा तो गोसाईंजी का आज्ञा-पत्र दिखलाते हुए बोले—"आप लोगों को यहाँ ठहरने की आज्ञा नहीं है, अत: यहाँ से चले जाइये।"

उन लोगों ने इस विषय पर हरकारों से काफी उत्तर-प्रत्युत्तर किये और उन्हें यह समझाने का प्रयास किया कि यह आज्ञा तो केवल तेरापंथियों के लिए थी, हम लोगों के लिए नहीं। परन्तु हरकारों ने उस बात को नहीं माना। वे तो सभी मुंहपट्टी वालों को निकालने पर ही आज्ञा का पालन मान रहे थे। उनके श्रावकों को जब यह पता लगा तो वे भी काफी दौड़े भागे, परन्तु अपने ही हाथों से किया कार्य उन्हें अपने ही लिए भारी पड़ गया। गोसाईंजी को उनका कोई तर्क समझ में नहीं आ रहा था कि किसी एक मुंहपट्टी वाले से यदि वर्षा रुक सकती है तो वह दूसरे से क्यों नहीं रुकेगी।

आखिर वे अपने प्रयास में सफल नहीं हो सके और उन साधुओं को विवश होकर वहाँ से जाना पड़ा। स्वामीजी का विरोध करते हुए उन्हें अपने ही शस्त्र का शिकार हो जाना पड़ा। कहा नहीं जा सकता कि स्वामीजी का वह निष्कासन उन लोगों के लिए उल्लास का विषय रहा या विषाद का?

वस्त्र की समस्या

प्रथम वर्षो में स्वामीजी को वस्त्र भी बहुत कठिनता से ही मिल पाता था। अपने संस्मरण सुनाते समय हेमराजजी स्वामी से एक बार इस बात का वर्णन करते हुए स्वामीजी ने कहा था—"कभी सवा रुपये मूल्य की बासती (रेजी) मिल जाती, तब भारमल कहता कि आप इसकी पछेवड़ी बना लीजिये। मैं कहता कि पछेवड़ी नहीं, चोलपट्टे बनाओ। एक तुम्हारे काम आ जाएगा और एक मेरे"[1] ऐसे वस्त्राभाव के दिनों में भी उनके मुख पर कभी मालिन्य की छाया नहीं आई, क्योंकि जिस व्यक्ति ने एकमात्र संयम की आराधना के लिए सब कुछ परित्याग कर दिया, उसे वह वस्त्राभाव अपने गन्तव्य मार्ग से कैसे विचलित कर सकता था?

आहार की समस्या

आहार के लिए भी उन्हें असाधारण कष्ट उठाने पड़े थे। लगभग पाँच[2] वर्ष तक तो रुखी-सूखी रोटियाँ भी पूरी नहीं मिलती थीं, घी-चुपडे की तो बात ही कहाँ थी। नाना

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २७६

२—पंच वर्ष पहिछांण रे, अन्न पिण पूरो ना मिल्यौ।
बहुल पणै बच जाण रे, घी चोपड़ तो जिहांई रह्यौ॥ —भि० ज० ढ० १०

प्रकार की भ्रांतियो से भरे लोग उन्हें रोटी देने में आनाकानी करते थे। एक बार बिलाड़ा में स्वामीजी पधारे। लोगों को पता लगते ही उन्होंने बन्दोबस्त किया " जो भी भीखणजी को रोटी देगा, उसे ग्यारह सामायिक दंड की आयेगी।"[1] एक दिन एक घर में गोचरी पधारे तो बाई ने कहा—"तुम्हे रोटी दे दूँ तो स्थानक में सामायिक कर रही मेरी ननद की सामायिक गल जाए"[2] इस प्रकार के अनेक भ्रम फैलाकर विरोधियों ने उन्हें पराजित करना चाहा, परन्तु वे सदा अपराजेय ही रहे।

घी सहित घाट

प्रारम्भिक वर्षों में उन्हें आहार-सम्बन्धी कठिनाइयाँ कितनी रही थी—उसका अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि स्वामीजी के अन्तिम वर्षों तक भी गोचरी में कहीं-कहीं अनेक कटु अनुभव हो जाया करते थे। सवत् १८५५ में स्वामीजी नाथद्वारा में थे। उस समय साध्वियाँ भी वहाँ थीं। एक दिन 'अजवूजी' किसी घर में गोचरी के लिए गई। वहाँ उन्हें घी बहराया गया। दूसरे घर में गई तो वहाँ एक बहिन ने 'घाट' लेने को कहा। साध्वियों ने घी वाले पात्र में ही घाट भी ले ली। अभी पात्र झोली में रखा भी नहीं था कि बहिन ने पूछा—"आप कौन से टोले की है ? "

साध्वियों ने कहा—"हम तो भीखणजी स्वामी के टोले की हैं।"

यह सुनते ही उसने गुस्से में आकर कहा—"रांडियों ! तुम पिछली बार भी भूल ही भूल में मेरे घर से आहार ले गयी थी। इस बार फिर आ गई। दे दो मेरी घाट वापिस।" उसने आव देखा न ताव, पात्र को झट उठाकर घी और घाट को वापिस अपने पात्र में उडेल लिया।

उसकी पड़ोसिन एक वैष्णव बहिन ने उससे कहा—"कोकी। यह क्या कर रही हो ? अतीत (सन्यासी) को दिया हुआ भी क्या कभी कोई वापिस लेता है ?"

उसने इसका उत्तर देते हुए कहा—"यह भोजन मैं कुत्तों को तो डाल दूंगी किन्तु इन्हें नहीं दूंगी।"

अजवूजी ने आकर स्वामीजी को जब यह घटना सुनाई तो उन्होंने कहा—"इस कलिकाल में जो न हो जाए वही कम है। आज तक ऐसे किस्से तो अनेक हो गये हैं कि कोई न दे, इनकार कर दे अथवा जान बूझकर अशुद्ध होने का बहाना कर दे, किन्तु दिया हुआ वापिस लेने की घटना तो यही सुनने में आई है।"

उस वैष्णव बहिन के द्वारा उपर्युक्त घटना का जब लोगों को पता लगा तो लोग उसके पति को चिढाने लगे कि वाह साहब ! दुकान पर तो तुम कमाई करते हो और घर पर तुम्हारी औरत। वह बेचारा इस व्यंग से बड़ा लज्जित होता, पर कर क्या सकता था।

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ४२

२— वही

स्वामीजी के परम भक्त श्रावक शोमजी को जब इस घटना का पता लगा तो उन्होंने उस पर एक व्यंगपूर्ण दोहा कह सुनाया। वह इस प्रकार है :

बादर साह री डीकरी, कीकी थारो नाम।
घाट सहित घी ले लियो, ठाली कर दियो ठाम॥

इस घटना के कुछ दिन पश्चात् राखी के त्यौहार पर अचानक ही 'कीकी' का लड़का गुजर गया। पुत्र का शोक मध्यम भी नहीं पड़ पाया था कि उसका पति भी गुजर गया। उन दोनों मौतों से 'कीकी' के मन पर बड़ा आघात लगा। जन-क्षय के साथ ही उसे धन-क्षय की स्थिति का भी सामना करना पड़ा। मानसिक क्लेशों के अथाह समुद्र में भटकती हुई वह बिलकुल अकेली रह गई। इन दुःखद घटनाओं के पश्चात् 'कीकी' को साध्वियों के साथ किये गये अपने व्यवहार का बहुत पश्चात्ताप हुआ। वह अपनी उस विपत्ति का मूल कारण उसी दुर्व्यवहार को मानने लगी थी।

साधु-साध्वियों में 'कीकी' का नाम और उसका द्वेष प्रसिद्ध हो गया। अतः वर्षों तक उसके यहाँ कोई गोचरी के लिए नहीं गया। अनेक वर्षों के पश्चात् उसके घर में कोई अपरिचित साधु गोचरी के लिए गया। 'कीकी' ने बड़ी भावना से आहार दिया। उस अज्ञात घर में इतनी भावना और भक्ति देखकर उस साधु ने जब परिचय की जिज्ञासा की तो 'कीकी' की आँखें भर आई। पश्चात्ताप के दावानल में दग्ध हुई वाणी में उसने कहा—"क्या आप मुझे नहीं जानते ? मैं तो वही पापिनी 'कीकी' हूँ, जिसने साध्वियों के पात्र से घाट वापिस ले ली थी। कोई तो इस भव के कर्म अगले भव में भोगता है, परन्तु मैंने तो अपने किये का फल यहीं हाथोंहाथ पा लिया।"

उसका नाम सुनते ही वह साधु एक बार के लिए सकपका गया। उसे लगा कि अज्ञानवश उस घर में आकर उसने गलती की है। वह जाने को ही था कि उस बहिन ने कहा—"महाराज! उस दिन के पश्चात् आप लोगों ने तो आज ही मेरे घर में पदार्पण किया है। आप आते रहियेगा, जिससे मेरा वह पाप कुछ तो धुपेगा।"

'कीकी' में परिवर्तन आया और गोचरी के लिए भावना आई—यह सब अनेक वर्षों के बाद की बात है। शायद स्वामीजी के देहावसान के भी बाद की। परन्तु इस घटना के पूर्वांश से यह स्पष्ट पता लग जाता है कि स्वामीजी के समय में आहार की उपलब्धि में कितनी बाधाएँ रहा करती थीं [1]।

आत्मबल ही एकमात्र सहायक

उस समय में स्वामीजी की स्थिति कितनी संघर्षमय रही होगी, जब कि संयम-जीवन के निर्वाहार्थ हर आवश्यक वस्तु का अभाव उन्हें घेरे रहता था। रघनाथजी जैसे समर्थ आचार्य

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २९१

विरोधी होकर प्रचार कर रहे थे। अपने साथ से पृथक् होने वाले साधु भी अनेक प्रकार से उन पर दोषारोपण कर रहे थे। गृहस्थो में गड्डुरी-प्रवाह चल रहा था। अत सत्य की परख करने को सहजतया कोई तत्पर नही था। साथ में साधुओ की सामग्री भी इतनी नही थी कि उन सब विरोधों का बराबर उत्तर दिया जा सके। ऐसी विकट परिस्थिति में भी उन्होने छह साधुओ के उस छोटे से सघ से प्रारम्भ करके जो काम कर दिखाया, वास्तव में ही वह उनकी अद्‌भुत आत्म-शक्ति का द्योतक था। वस्तुत· उस समय उनका अपना आत्म-बल ही एकमात्र सहायक था।

एक संस्कृत कवि ने लका-अभियान के विषय में राम की विषम स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है—"लंका जैसी दुर्जेय नगरी को जीतना था, समुद्र के अगाध पानी को लांघना था, रावण जैसे बलिष्ठ शत्रु से मुकाबला था, युद्ध में सहायता देने वाले थे बदर। फिर भी अकेले राम ने राक्षस-वश को पराजित कर दिया। क्योंकि कार्य-सिद्धि महापुरुषो के मनोबल पर जितनी आधारित होती है, उतनी बाह्य उपकरणों पर नही[1]"। उपर्युक्त राम की स्थिति से स्वामीजी की उस समय की स्थिति बहुत कुछ मेल खाती है। उनकी अपनी विजय का मूल भी उन्हें मिली हुई तुच्छ साधन-सामग्री में नही था, किन्तु उनके अपार आत्मबल में ही निहित था। अन्यथा इतने बड़े विरोध के सामने अकेले व्यक्ति का टिके रहना बहुत ही असंभव होता। स्वामीजी में असंभव को भी सम्भव कर दिखाने का आत्मबल था। उसीके बल पर वे उन सब समस्याओं के सामने अडिग धैर्य के साथ डटे रहे।

आत्म-केन्द्रित

स्वामीजी ने अपनी थोडी-सी सामग्री से जिस कार्य को प्रारम्भ किया था, उसका एक-मात्र उद्देश्य यही था कि भगवान् महावीर के सिद्धान्तो का शुद्ध स्वरूप जनता के सामने रखा जाए और उसके प्रकाश में ही सारे धार्मिक आचार-विचारों का विशदीकरण किया जाए। किन्तु उस समय जनता की मानसिक स्थिति स्वामीजी के विचारो को सुनने और उन पर मनन करने के अनुकूल नहीं थी। विरोधियों के प्रचार ने स्वामीजी के विरुद्ध इतनी तीव्र भावना भर दी थी कि पहले तो कोई आता ही नही था, यदि कोई आता भी तो तत्त्व-जिज्ञासु होकर नहीं, किन्तु स्वामीजी को कुछ अवज्ञापूर्ण शब्द सुनाकर अपने मन की निकालने के लिए ही।

लोगों की द्वेष-बुद्धि और अज्ञानता को देखकर स्वामीजी ने सोचा—"इस समय जनता धर्म-द्वेष-युक्त बनी हुई है। अन्ध-श्रद्धा के आवेग में सम्यग्-दर्शन के लिये किसी को चिन्ता

१—विजेतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधिः,
विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः।
तथाप्येको रामः सकलमवधीद् राक्षसकुलं,
क्रिया-सिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे॥

नहीं है। स्थिति-पोषकता के विषमय वातावरण से बाहर निकल कर, भगवान् महावीर के उदात्त सिद्धान्तो के मलय-पवन का आसेवन, उनके चिरदूषित फेफड़ों को अनुकूल नहीं लग रहा है। सत्य को विवेक की तुला पर न तोलकर 'करते आये हैं' की तुला पर तोला जा रहा है। ऐसी स्थिति में धर्म-प्रचार के लिए समय लगाकर उसे व्यर्थ ही गमाना होगा। जब लोग बात सुनने से ही कतराते हैं, तो शुद्ध श्रद्धा धारण कर श्रावक-श्राविका बनने तथा चारित्र धारण कर साधु-साध्वी बनने की बात तो बहुत दूर की है। अब मुझे धर्म-प्रचार की ओर से ध्यान हटाकर सर्वभाव से आत्म-कल्याण पर ही अपने आपको केन्द्रित कर लेना चाहिए।"

लोमहर्षक तपस्या

उसके पश्चात् स्वामीजी अपनी सम्पूर्ण शक्ति स्व-कल्याण में ही लगाने लगे। ऐसा लगता है कि वे क्षण स्वामीजी के जीवन में कुछ दुविधा-जनक थे। जीवन के एक क्रम से हटकर दूसरे क्रम पर लगना बहुत कठिन होता है। वैसे क्षणो में व्यक्ति परिस्थितियो के सम्मुख हार मान लेता है और निराश होकर बैठ जाता है। परन्तु स्वामीजी ने न तो परिस्थितियों के सम्मुख हार मानी और न निराश होकर ही बैठे। चट्टान से अवरुद्ध होकर स्रोत जिस तरह अपना मार्ग जरा हटकर निश्चित कर लेता है, फिर भी उसी चट्टान से लगातार टकराता रहता है और एक दिन उसकी जड़ खोद ही डालता है, वैसे ही स्वामीजी ने जन-कल्याण का मार्ग अवरुद्ध पाकर स्वयं को आत्म-कल्याण की ओर पूर्ण वेग से लगा दिया। किन्तु उनका संघर्षशील जीवन अन्ध-श्रद्धा और अन्ध-परम्परा से संधि करने को कभी उद्यत नहीं हुआ। जन-कल्याण और आत्म-कल्याण—इन दो प्रवाहों में बहने वाले जीवन की धारा का रुझान केवल आत्म-कल्याण की ओर ही हो जाने से उसमें और भी प्रखरता आ गई।

उन्होंने अन्य सहयोगी साधुओ के साथ एकान्तर तप प्रारम्भ कर दिया और वे नित्य सूर्य की आतापना लेने लगे। चौविहार उपवास, ग्रीष्म-ऋतु के दिन, मरु प्रदेश में चलने वाली लू के झोंके और वहाँ के वन की उत्तप्त धूलि—इन सबको मन की कल्पना में समन्वित करके जब स्वामीजी और उनके साथी साधुओं की उस तपस्या को समझने का प्रयास किया जाता है तो रोमांच होने लगता है। उनकी वह लोमहर्षक तपस्या इस बात का स्पष्ट संकेत करती है कि उनमें आत्म-कल्याण की कितनी उत्कट भावना थी।

महापुरुषों की परम्परा मे

लोग स्वामीजी को कष्ट देने का प्रयास करते थे, पर स्वामीजी तपस्या प्रारम्भ करके उन कष्टों के साथ ही अपनी ओर से कुछ और कष्ट मिलाकर मानो जनता को यह जता देना चाहते थे कि तुम जो कष्ट पहुँचाना चाहते हो, उससे भी कहीं अधिक कष्ट सहन करने की क्षमता हम रखते हैं। कष्ट और तपस्या में वस्तुतः बहुत ही थोड़ा अन्तर होता है। भावना-हीन तपस्या कष्ट बन जाती है, तो समभाव से सहा गया कष्ट तपस्या बन जाता है। जनता की दृष्टि में जो कष्ट था, स्वामीजी की दृष्टि में वह कर्म काटने का एक साधन था। इसी-

लिए उन्होंने प्रत्येक कष्ट के सामने अपने आपको पूर्ण रूप से उपस्थित किया और पूर्ण शक्ति के साथ उसका सामना किया। उन्होंने कष्ट-भोग को दैन्य के प्रतीक से उठाकर वीरत्व के सिंहासन पर ला बिठाया। उनके विचार में वह तो उनकी साधना का एक उपयुक्त साधन-मात्र था।

महापुरुषों की परम्परा में कष्ट-सहन की जो अनिवार्यता देखी गई है, स्वामीजी उसके अपवाद कैसे हो सकते थे? उन्होंने कष्ट सहे और वीरतापूर्वक सहे। अपना मार्ग चुनते समय उन्हें आगामी कष्टों का भान नहीं था—ऐसी बात नहीं है। वे जानते थे कि जरा-सा झुक-कर या स्थिति-पोषकता के महायन्त्र का एक पुर्जा बनकर वे दुःख के स्थान में सुख भी पा सकते हैं, किन्तु उन्हें यह सब स्वीकार्य नहीं था। किसी भी महापुरुष को यह स्वीकार्य हो भी कैसे सकता है? उसका मार्ग तो कांटों के ऊपर से ही जाता है। कष्ट उसके उस महत्त्वपूर्ण जीवन का संबल होता है।

कार्यं वा साधयेयं, देहं वा पातयेयम्

स्वामीजी अपने कार्य को प्राणों की बाजी लगाकर करने वाले व्यक्ति थे। या तो वे अभीष्ट कार्य को कर लेते थे या फिर उसी की सिद्धि में अपने को मिटा देने को उद्यत हो जाते थे। यही दृढ़ता उनकी सफलता का मन्त्र थी। अपने कष्टमय जीवन और उसके पश्चात् मिली आशातीत सफलता का उल्लेख करते हुए हेमराजजी स्वामी को सुनाये गये अपने संस्मरणों में स्वयं स्वामीजी ने जो कुछ कहा है, वह उनकी इसी दृढ़ता को सिद्ध करता है। उनके वे प्रेरक शब्द इस प्रकार हैं—"म्हे उणा नै छोड्या जद पाँच वर्ष तांई तो पूरो आहार न मिल्यो'''। आहार पाणी जाचनै उजाड में सर्व साथ परहा जावता। रूखरा री छाँयां आहार पाणी मेलनै आतापना लेता। आथण रा पाछा गाँव में आँवता। इण रीते कष्ट भोगवता, कर्म काटता। म्हे या न जाणता—म्हारो मारग जमसी, नै म्हा में यूं दीक्षा लेसी, नै यूं श्रावक श्राविका हुसी। जाण्यो आतम नां कारज सारसा, मर पूरा देसां, इम जाण नै तपस्या करता''।"[1]

स्वामीजी के उपर्युक्त कथन से जहाँ यह अच्छी तरह जाना जा सकता है कि उन्हें पाँच वर्ष तक जनता की उत्कट अवज्ञा का सामना करना पड़ा था और उन्हें जितनी सफलता मिली थी, उसकी स्वयं उन्हें कोई सम्भावना नहीं थी, वहाँ यह भी स्पष्ट है कि वे अपने निश्चय से अंशमात्र भी विचलित होने वाले नहीं थे। जनता का सहयोग न मिलने पर वे अकेले ही अपने अभीष्ट मार्ग पर बढ़ चले थे। कवीन्द्र रवीन्द्र की निम्नोक्त पंक्तियाँ उनके उस एकाकी गमन पर बहुत ही ठीक उतरती हैं :

> यदि तोर डाक सुने केउ ना आसे,
> तबे एकला चल ओरे।
> एकला चल, एकला चल, एकला चल ओरे॥

1—भिक्खु दृष्टान्त दृ० २७६

अर्थात्—तुम्हारी आवाज सुनकर भी यदि कोई साथ चलने को तैयार न हो, तो तुम अकेले ही चल पडो, अकेले ही चल पडो।

सत्य के लिए उनका अद्वितीय आग्रह भर्तृहरि के इस सूक्त को याद दिला देता है :

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मी. समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथ प्रविचलन्ति पद न धीरा: ॥[1]

अर्थात्—धीर पुरुष न्याय-पथ से एक कदम भी इधर-उधर नहीं होते। ऐसा करने में लोग चाहे उनकी निंदा करें या स्तुति, सपत्ति ठहरे या जाए, चाहे मृत्यु आज ही आ जाए या युगों के वाद आए, वे उनकी कोई परवाह नहीं करते,। स्वामीजी के "आतम नां कारज सारसां मर पूरा देसा"—ये शब्द '*कार्यं वा साधयेय, देह वा पातयेयम्*' की भारतीय ऋषि-मानस से उद्भूत शाश्वत प्रतिज्ञा को एक वार फिर से दुहरा देने वाले थे। उनकी यह अजेय प्रतिज्ञा ही उनके जीवन-सूत्र की सचालक थी।

: ५ :

जन-उद्धारक आचार्य

आत्मानुकम्पी से उभयानुकम्पी

स्वामीजी की लोमहर्पक तपस्या चालू थी। आत्मानुकम्पी के रूप में उनका प्राय· समस्त समय अपनी ही धर्म-क्रियाओं में लगने लगा। लोगों पर विशेप परिश्रम करने का उनका ध्येय अब नही रहा। कोई आ जाता और जिज्ञासा करता तो उत्तर दे देते, अन्यथा अपने ही चिंतन-मनन में लगे रहते।

उस एकान्त-साधना और मौन-तपस्या का धीरे-धीरे किन्तु अज्ञात रूप से जनता पर प्रभाव पडने लगा। लोगो ने अव समझना प्रारम्भ किया कि जो व्यक्ति शुद्ध जीवन के लिए प्राणों की भी वाजी लगा सकते है, वे कितने-वड़े त्यागी और महान् होते है। साधारण-जन की तरह उनकी दृष्टि खान-पान की समस्या में ही उलझ कर नही रह जाती। वे खान-पान-सम्बन्धी कठिनाइयो से वहुत ऊपर उठ चुके होते है। उनका लक्ष्य वहुत ऊँचा होता है। वे इन्द्रियों के दास वनकर नही, किन्तु स्वामी वनकर जीने वाले होते हैं। इस प्रकार लोगो की सहानुभूति स्वामीजी की ओर होने लगी। जो पहले स्वामीजी के मार्ग में वाधक वनना ही श्रेयस्कर मानते थे, वे अव श्रेय की खोज में उनके पास आने लगे। जो नहीं आते थे उनके मन में भी यह वात जमने लगी कि कम से कम उनकी वात तो सुननी ही चाहिए।

१—नीतिशतक ८४

इन भावनाओं से प्रेरित होकर जो लोग स्वामीजी के पास आते, उन्हें वे आगमिक आधार से धर्म-अधर्म, व्रत-अव्रत आदि का तत्त्व बहुत ही विश्लेषणात्मक ढग से समझाते। धीरे-धीरे लोग उनके सिद्धान्तों की सत्यता को पहचानने और उसे हृदयगम करने लगे। कुछ विचारशील व्यक्तियों ने विवेकपूर्वक शुद्ध श्रद्धा और आचार को पहचाना, तथा धर्म के सच्चे स्वरूप को ग्रहण किया। परन्तु स्वामीजी तब भी उस ओर से पूर्ववत् उदास ही बने रहे। वह उदासी सम्भवत· और भी लम्बी चलती, परन्तु एक प्रेरक घटना ने उनके उस जीवन-क्रम को ऐसा बदल दिया कि वे सहसा ही आत्मानुकम्पी से उभयानुकम्पी बन गये और एक जन-उद्धारक आचार्य के रूप में जन-जीवन में आ गये।

एक प्रेरणा

शाक्य मुनि गौतम बुद्ध को बोधि प्राप्त हुई, तब उन्हें लगा कि सुखैषी लोग उनकी बात नहीं सुनेंगे और उसका अनुसरण नहीं करेंगे, अत एकान्त में मौन धारण कर रहना ही ठीक होगा। उस समय ब्रह्मदेव ने आकर उन्हें प्रेरणा दी कि धर्म को समझने वाले अनेक लोग आपको मिलेंगे। आप उपदेश दें। आपके मौन से उन धर्म-जिज्ञासुओं को भारी हानि हो रही है, जो आपके धर्म-वाक्य सुनकर उद्बुद्ध होने वाले है।

स्वामी भीखणजी के जीवन में भी ऐसी ही घटना घटी थी। उन्हें भी मौन साधना करते देखकर ब्रह्मदेव की तरह दो साधुओं ने धर्म-प्रचार के लिए प्रेरित किया था। उन प्रेरक संतों के नाम थे—थिरपालजी स्वामी और फतहचदजी स्वामी। ये दोनों ही साधु, जयमलजी के टोले से स्वामीजी के साथ आये थे[1] और संसार-पक्ष से पिता-पुत्र थे। दोनों ही बड़े तपस्वी, भद्र और विचारशील साधु थे। स्थानकवासी सम्प्रदाय में रहते समय दोनों साधु दीक्षा-पर्याय में स्वामीजी से बड़े थे, अत· परमार्थी और नम्र स्वभावी स्वामीजी ने अपनी निरहंकारिता और उदारता का परिचय देते हुए भाव-चारित्र लेते समय भी उन्हें दीक्षा-पर्याय में अपने से बड़ा रखा। वृद्ध सन्तों के प्रति स्वामीजी की आदर-भावना का यह सजीव उदाहरण कहा जा सकता है।

उन दोनों वृद्ध सन्तों ने जब देखा कि लोग आते हैं, जिज्ञासा करते हैं और अन्तत: समझते भी है, परन्तु स्वामीजी उन पर अधिक ध्यान नहीं देते तब एक दिन दोनों ही आए और हाथ जोड़कर विनयपूर्वक स्वामीजी से निवेदन करने लगे—"गुरुदेव! घोर तपस्या के द्वारा आप अपने शरीर को इस प्रकार क्षीण मत कीजिए। तपस्या करने के लिए तो हम बहुत हैं, क्योंकि इससे आगे हमारी पहुँच नही है। आप धर्म-प्रचार कर सकते हैं, आपकी प्रत्युत्पन्न बुद्धि, अगाध शास्त्र-ज्ञान, मर्मस्पर्शिनी प्रतिपादन-शैली और भावोपयुक्त भाषा संसार को प्रकाश देकर सन्मार्ग दिखला सकती है। आप भगवान् महावीर के इस अमृतमय धर्म का उपदेश दीजिए। आपके द्वारा प्रतिपादित धर्म-रहस्य को हृदयगम करने की योग्यता रखने वाले अनेक व्यक्ति आपको मिलेंगे। जगत् में ऐसे अनेक जीव है जिनकी ज्ञानशक्ति पर काई आई हुई है।

१—लघु भिक्खु जश रसायण ४-१

आपके धर्म-वाक्य कान में पडने पर वह हटेगी और जनता को ज्ञान-लाभ होगा। आपने जो आलोक पाया है, उसपर समस्त संसार का अधिकार है, क्योंकि आप समस्त संसार के आत्मीय हैं। अपने इस आलोक को मुक्त-भाव से वितरित कीजिए। हमें विश्वास है कि वह उत्तरोत्तर फैलेगा और जनता उससे अपना लक्ष्य प्राप्त करेगी।"

प्रेरणा की प्रतिक्रिया

मुनि-युगल के अन्त करण से निकली हुई वाणी स्वामीजी के हृदय पर असर कर गई। उनके उस सत्-परामर्श को सम्मान देते हुए उन्होंने कहा—"मुनिजनों! आप दोनों तात्त्विक हैं, अत. पूजनीय हैं। आपकी यह लोक-हितैषिता बहुत ही प्रशसनीय है। आप जिस बात की प्रेरणा देने आये है, वह तो मेरे स्वभाव के सदा अनुकूल रही है। किन्तु जनता की उदासीनता ही इसमें बाधक थी। आज आपके सरल हृदय से उद्गत विचारों ने जो माँग की है, मैं उसे ठुकराऊँगा नहीं। आपकी भविष्यवाणी को कार्यरूप में परिणत करने में जिस प्रयास की आवश्यकता है, उसका भार अपने ऊपर लेने में मुझे तनिक भी हिचकिचाहट नहीं है।" साधु थिरपालजी और फतहचन्दजी अपने परामर्श की इस सहज-स्वीकृति से गद्‌गद् हो उठे।

अवसर पर दी गई यह छोटी-सी प्रेरणा उस समय केवल एक बात के ही रूप में थी, परन्तु आज वह स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य एक विशिष्ट गौरव-पूर्ण घटना के रूप में हमारे सामने है। उस समय स्वय प्रेरकों को भी यह अनुमान नही होगा कि उनकी वह प्रेरणा लाखों जीवों के कल्याण की हेतु बनकर ससार के लिए एक अलौकिक देन सिद्ध होगी। वस्तुत' वह प्रेरणा नवोदित तेरापंथ के जीवन में एक नयामोड़ ला देने वाली हुई। स्वामीजी के जन-उद्धारक जीवन का सूत्रपात करने का श्रेय इसी घटना को दिया जा सकता है।

धर्म-प्रचार की ओर

इस घटना के पश्चात् स्वामीजी धर्म-प्रचार की ओर विशेष ध्यान देने लगे। जो लोग आने उन पर अथक परिश्रम करते और आगम न्याय के आधार पर उनके हृदय में सम्यग् दर्शन का बीजारोपण करते। क्रमश' लोगों का आवागमन बढने लगा और तात्त्विक विचारों की जिज्ञासा जोर मारने लगी।

स्वामीजी ने उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सर्व-जनहित के दृष्टिकोण से अपने आगमिक विचारों को पद्य-बद्ध रचना का रूप दिया। अनुकम्पा, दान, दया, व्रत-अव्रत जैसे अनेक चर्चास्पद विषयों पर 'जोड़ों[१]' द्वारा अपने युक्ति पुरस्सर विचार व्यक्त किये। नव तत्त्वों पर महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखा। श्रावको के बारह व्रतो पर नया प्रकाश डाला। ब्रह्मचर्य की नववाड़ों पर विशेष प्रेरणादायी ढालों की रचना की। साधु-आचार पर ढालें बनाकर शिथिलाचार का निराकरण किया। इस प्रकार स्वामीजी ने अपना जीवन स्व-कल्याण के साथ-साथ धर्म-प्रसार में अर्पण कर दिया।

१—पद्य-बद्ध रचना को राजस्थानी भाषा में 'जोड़' कहते हैं।

अकल्पनीय सफलता

धीरे-धीरे उस कार्य में उन्हें अकल्पनीय सफलता भी मिलने लगी। लोग उनसे अपने-अपने ग्रामों में पधारने के लिए प्रार्थना करने लगे। ग्राम-के-ग्राम उनके भक्त बन गये। फिर भी उस भक्तिभाव से स्वामीजी का मन कभी अहकार से नही भरा। वे तो अपने आपको भगवान् का एक सदेशवाहक ही मानते रहे। केलवा के रावल ठाकुर मोखमसिंहजी के प्रश्न पर दिये गये उत्तर से उनकी यह भावना एकदम स्पष्ट हो जाती है। एक बार केलवा में स्वामीजी विराजमान थे। धर्म-परिपद् लगी हुई थी। रावल मोखमसिंहजी दर्शन करने आये, व्याख्यान सुना और उसके पश्चात् भी बातचीत करने के लिए सेवा में बैठ गये। कुछ लोग बाहर से आये हुए थे। वे स्वामीजी से अपने वहाँ पधारने के लिये प्रार्थना कर रहे थे। स्वामीजी जब उनसे निवृत्त हुए तो रावलजी ने प्रश्न करते हुए कहा—"स्वामीजी ! आपके पास गाँव-गाँव की प्रार्थनाएँ आती हैं, लोग आपकी इतनी भक्ति करते है, आपको अपने यहाँ आया देखकर हर्ष-विभोर हो उठते है, आप में ऐसी क्या विशेषताएँ है कि जिससे आपके प्रति सबका यह आकर्षण है ?"

स्वामीजी ने कहा—"जिस प्रकार किसी सेठानी का पति परदेश में हो और उसका सदेश लेकर कोई सदेश-वाहक आये तो उससे वह पतिव्रता सेठानी बहुत प्रसन्न होती है। उसको ससम्मान पास में बिठाकर सारी बातें पूछती है, भोजन आदि सुविधाओ की भी व्यवस्था करती है। कासीद का वह सम्मान उसकी अपनी गुण-गरिमा से नही, किन्तु पति का सदेश लेकर आने से होता है। उसी प्रकार जनता हमारा जो सम्मान करती है, तथा हमें जो चाहती है, उसका कारण भी यही है कि हम भगवान् के सदेश-वाहक हैं। उनकी वाणी सुनाते हैं और लोगों को आत्मिक सुख और शान्ति की ओर प्रेरित करते है। हमारे प्रति लोगों के आकर्पण का यही कारण है।"[1]

ठाकुर मोखमसिंहजी का उपर्युक्त प्रश्न तथा स्वामीजी का उत्तर इस बात के प्रमाण है कि स्वामीजी जब धर्म-प्रचार की ओर ध्यान देने लगे, तब जनता में उनके प्रति आकर्पण बढा और वह उनकी भक्त बनने लगी। वस्तुत स्वामीजी में एक चुबकीय शक्ति थी, जिससे लोग स्वत· ही उनकी ओर खिचते चले आते थे। जो लोग स्वामीजी के भक्त बने होंगे संभवत· उनके पूर्व गुरुओ ने ही निराश होकर यह कहा होगा—"भीखण रा भरमाया, कदे न पाछा आया।" इससे पता लगता है कि स्वामीजी एक महान् साधु, महान् आचार्य, महान् सुधारक और महान् जन-उद्धारक पुरुप के रूप में इस धरती पर आये थे और अपने लक्ष्य पर पूर्ण-रूपेण सफल होकर जनता के हृदयेश्वर बन गये।

चतुर्विध संघ

स्वामीजी के सिद्धान्तों का प्रसार धीरे-धीरे जनता में होने लगा। निरन्तर के अथक परिश्रम से स्वामीजी ने अनेक व्यक्तियों को अपनी विचारधारा का रहस्य समझाया।

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ८७

इसके परिणामस्वरूप साधु तथा श्रावक-श्राविकाओ की संख्या क्रमशः बढ़ने लगी, परन्तु कई वर्षों तक सघ में साध्वियां नहीं हुई । इस पर किसी ने व्यग करते हुए स्वामीजी से कहा—"भीखणजी ! तुम्हारे सघ में तो केवल तीन ही तीर्थ हैं—साधु, श्रावक और श्राविका। साध्वियों के अभाव में यह तुम्हारे सघ का मोदक खांडा अपूर्ण ही है।" स्वामीजी ने उस व्यग का उत्तर देते हुए कहा—"हमारा यह मोदक खांडा भले ही हो, पर है चौगुनी चीनी का। इसलिए जितना है, उतना पूर्ण रूप से स्वादिष्ट है।"[1]

अपने इस उत्तर से स्वामीजी ने यह भी समझा दिया कि जिस प्रकार चीनी के अभाव में पूर्ण मोदक भी स्वादहीन होता है, उसी तरह चारित्र के अभाव में सघ की चतुर्विधता भी महत्त्वहीन ही होती है। जिस सघ में गुणी तथा चारित्रवान् व्यक्ति रहते हैं, वहाँ चतुर्विधता चाहे न हो, पर उसकी महत्ता और वास्तविकता कहीं नहीं जाती।

इस घटना के थोडे दिन पश्चात् ही स्वामीजी के सघ में तीन साध्वियां दीक्षित हुई। तीन बहनो ने एक साथ मिलकर स्वामीजी से अपनी दीक्षा के विषय में प्रार्थना की। स्वामीजी प्रत्येक कार्य बडी ही दूरदर्शिता और सावधानी से किया करते थे। अतः अपने स्वभावानुसार उन्होने सोचा कि जैन-आगमों के नियमानुसार कम-से-कम तीन साध्वियो का एक साथ रहना आवश्यक है। यदि इनके प्रव्रजित होने के पश्चात् किसी एक का भी वियोग हो जाए तो शेष दो साध्वियों के लिए सलेखना के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह जाता। यह विचार स्वामीजी ने दीक्षार्थी बहिनों के सम्मुख भी रखा और दीक्षा लेने से पूर्व उस पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करने के लिए कहा।

तीनो ही बहिनो ने उस बात पर गहराई से विचार कर स्वामीजी से निवेदन किया कि यदि हम में से किसी एक का वियोग हुआ तो शेष दो सलेखना-पूर्वक शरीर-विसर्जन के लिए प्रस्तुत रहेंगी। बहिनो के उस वीरता-सूचक उत्तर से स्वामीजी बडे प्रसन्न हुए। उनके वैराग्य भाव से तो वे पहले से ही आश्वस्त थे, अब उनकी दृढता का भी परिचय मिल गया था। इस प्रकार उनकी पूर्ण परीक्षा कर लेने के पश्चात् स्वामीजी ने तीनों बहिनो को एक साथ दीक्षा प्रदान की। तेरापंथ में सर्वप्रथम दीक्षित उन साध्वियो के नाम क्रमशः कुशालाजी, मटूजी और अजबूजी थे।

साध्वियो के तीर्थ की यह स्थापना सवत् १८२१ में हुई थी[2]। उससे पूर्व स्वामीजी की

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २२

२—'शासन विलास में' जयाचार्य इस घटना का समयोल्लेख करते हुए कहते हैं:

इक्वीसारै आसरै, तीन जण्यां तिहवार।
एक साथ व्रत आदरया, पहिलां कियो करार ॥ (ढाल २ दो० २)

यहाँ यह 'आसरै'—अर्थात् लगभग शब्द का प्रयोग उपर्युक्त समय-निर्धारण में कुछ अनिश्चितता ला देता है। १८२१ में तीन बहिनो के तैयार होने का तो उल्लेख है, पर दीक्षा कब हुई, यह उल्लेख नहीं है। परन्तु साधुओ की ख्यात में जहाँ स्वामीजी की जीवनी दी है, वहाँ १८२१ में ही दीक्षा होने का उल्लेख है।

भाव-दीक्षा के पश्चात् लगभग चार वर्ष तक तीन ही तीर्थ रहे। स्वामीजी के सघ की क्रमिक विकासशीलता में यह घटना भी एक कडी के रूप में है। सघ के चारो अगो की उस पूर्ति के पश्चात् वह परम्परा निरतर चालू रही। यद्यपि उन तीनो में से एक अजवूजी वाद में प्रकृति की खरावी के कारण पृथक् कर दी गई थी, फिर भी शेप साध्वियो के समक्ष सलेखना करने की कोई परिस्थिति पैदा नहीं हुई। क्योंकि उस समय तक और भी अनेक साध्वियां दीक्षित हो चुकी थी।

: ६ :

जीवन के विविध पहलू

स्वामीजी का समस्त जीवन उस उत्तम पुस्तक के समान था, जिसके प्रत्येक पृष्ठ की प्रत्येक पक्ति प्रेरणादायक होती है। उनके जीवन की छोटी-छोटी घटनाए भी आज मानव-समाज के लिए प्रकाश-स्तभ के समान मार्ग-दर्शन का कार्य करती है। प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की समस्त घटनाओ का विवरण करना तो वहुत अधिक-प्रयास-साध्य और अन्वेपण-सापेक्ष है। परन्तु यहाँ हम उनके जीवन की कुछ उन घटनाओ का उल्लेख कर देना चाहेंगे, जो कि वहुत रोचक होने के साथ-साथ शिक्षाप्रद और मार्ग-दर्शक हैं।

१ : विरोध का सामना विनोद से

स्वामीजी के समय में उनके अनुयायियों की सख्या से कहीं अधिक उनके द्वेपियों की सख्या थी। द्वेपी व्यक्तियो में रहकर भी अद्वेपी वने रहना साधारण कार्य नही है। कमल और सत्पुरुष—ये दो ही ऐसे होते है, जो अपने चारो ओर फैले कीचड से भी सार खीचते हैं और फिर उसे सुगन्ध रूप में परिणत करके जगत् को वाँट देते है। इतने पर भी स्वयं उस कीचड में कभी लिप्त नही होते और सदा उससे ऊपर उठे हुए होते है।

स्वामीजी वस्तुत द्वेपवृत्ति से वहुत ऊपर उठे हुए महापुरुप थे। न उन्हें द्वेपी जनो के कर्ण-कटु शब्द विचलित कर पाते थे और न ही अपने विरुद्ध मे किये जाने वाले कार्य। द्वेप भरी वात का उत्तर भी वे इस सहज भाव से देते थे कि पासा पलट जाता और कहने वाले को चुप हो जाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नहीं मिल पाता था। वे विरोधी परिस्थिति को अपने विनोद से पराजित कर देते थे।

और तुम्हारा मुह देखने से ?

एक वार स्वामीजी विहार करते हुए 'देसूरी' जा रहे थे। मार्ग में 'घाणेराव' का एक भाई मिला। स्वामीजी को उसने वदन किया, पर पीछे आशका होने पर पूछा—"आपका क्या नाम है ?"

स्वामीजी ने नाम बताते हुए कहा—"भीखण।"

"भीखणजी तेरापथी !!"—भय-मिश्रित आश्चर्य से विस्फारित-नेत्र होकर उसने नाम को इस प्रकार से दुहराया कि स्वय स्वामीजी को भी आश्चर्य हुए बिना न रहा।

स्वामीजी ने जिज्ञासा-युक्त वाणी में पूछा—"क्यो, क्या बात हुई ?"

अन्त.करण में छिपे द्वेष और तज्जन्य भय को अभिव्यक्ति देते हुए वह बोला—"तुम्हारा तो मुँह देखने मात्र से ही आदमी को नरक मिलता है।"

स्वामीजी ने तत्काल उलट कर पूछा—"और तुम्हारा मुह देखने से ?"

उसने सिर ऊँचा उठाते हुए गर्वीले स्वर में कहा—"स्वर्ग"

स्वामीजी बोले—"किसी का मुह देखने मात्र से स्वर्ग या नरक मिलता हो - यह बात मैं मानता तो नही, पर तुम्हारे ही कथन को सत्य मान लिया जाए तो यह बतलाओ कि तुम कहाँ जाओगे और मैं कहाँ ?"

अब उस भाई के पास बोलने को कुछ भी अवशिष्ट नहीं था, क्योकि उसने अपने आपकी नरकगामिता और स्वामीजी की स्वर्गगामिता स्वय ही सिद्ध करदी थी[1]।

तुम विधवा कैसे हो गई ?

एक बार स्वामीजी 'पींपाड' में पधारे हुए थे। गोचरी के समय जब वे एक मुहल्ले में गये तो एक बहिन ने उन्हे स्थानकवासी साधु समझकर कहा—"तेरापथी बनने वाले को अपने आप दंड मिल जाता है। हमारे मोहल्ले की अमुक औरत ने भीखणजी को गुरु धारण किया था, अत· थोड़े ही दिनों मे वह 'रांड' हो गई।"

सयोगवश वह बहिन स्वयं विधवा थी, अत स्वामीजी ने स्मित-मुख होकर कहा—"बहिन। तुम्हारी बातो से लगता है कि तुम भीखणजी की काफी निंदा करती हो। पर यह तो बतलाओ कि फिर भी तुम इस छोटी अवस्था मे ही विधवा कैसे हो गई ?"

पास में खडी अन्य बहिनो ने बात के क्रम से भांप लिया कि ये स्वय भीखणजी ही है। उन्होंने जब यह बात उस बहिन को बतलाई तो वह इतनी लज्जित हुई कि खड़ी नही रह सकी और भागकर घर में घुस गई[2]।

नृत्य को रोक क्यो रहे हो ?

पाली में स्वामीजी का चातुर्मास था। वहाँ के मूर्ति-पूजक भाई स्वामीजी के प्रति काफी द्वेषभाव रखते थे। पर्युषण पर्व में मूर्ति-पूजकों ने इन्द्रध्वज महोत्सव मनाते हुए जुलूस निकाला। स्वामीजी जिस मकान में विराजते थे उसके सामने से जुलूस लेकर वे आये और वहाँ काफी देर तक ठहरकर नाचते-गाते रहे। व्याख्यान मे बाधा पहुँच रही थी, अत कुछ देर प्रतीक्षा करने पर भी जब जुलूस आगे नही बढा तो कुछ श्रावको को गुस्सा आ गया। वे उत्तेजित होकर

१—भिक्खु दृष्टान्त दृ० १५

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ३८

जुलूस वालो को बुरा भला कहने लगे तो स्वामीजी ने उन्हें टोकते हुए जुलूस वालों को सुनाकर कहा—"ये लोग प्रतिमा को भगवान् मानते हैं, अत या तो भगवान् के सामने नाचते-गाते हैं या भगवान् की प्रतिमा—साधुओ के सामने। तुम भला गुस्सा करके इन्हें रोक क्यों रहे हो ?"

स्वामीजी के इस कथन से श्रावक तो वहाँ से हट ही गये थे, पर नाचने वाले भी अपने उद्देश्य से विपरीत प्रभाव हुआ देखकर आगे चलते बने। वे स्वामीजी को चिढाना चाहते थे, पर स्वामीजी ने पासा पलट कर उनके मूल उद्देश्य को ही उलट दिया[१]।

पोता चेला

स्थानकवासी साधु टीकमजी के एक शिष्य कचरोजी सिरियारी में स्वामीजी के पास पहुचे। स्वामीजी ने आने का कारण पूछा तो बोले—"तुम्हारे विषय में बातें सुनते-सुनते कान थक गये, अतः सोचा कि चलो देखें तो सही कि आखिर भीखणजी ऐसी क्या बला है ?"

स्वामीजी ने सस्मित होकर कहा—"लो देख लो मैं ही हूँ भीखण।"

देख लेने के पश्चात् कचरोजी स्वामीजी से बात करने का लोभ भी संवृत नही कर सके, अत: बोले—"कुछ चर्चा तो पूछिये।"

स्वामीजी—"जब देखने के लिए ही आए हो तो तुमसे क्या चर्चा पूछें ?"

कचरोजी—"फिर भी कुछ तो पूछ ही लें।"

स्वामीजी ने उनका आग्रह देखकर पूछा—"तीसरे महाव्रत के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण क्या हैं ?"

कचरोजी—"यह सब तो मेरे पास पत्र में लिखा पडा है।"

स्वामीजी—"पत्र फट जाए या गुम हो जाए तब क्या करोगे ?"

कचरोजी को जब इस बात का कोई उत्तर नहीं सूझा तो बात को दूसरी ओर घुमाते हुए बोले—"मेरे गुरुजी ने एक बार तुम से चर्चा पूछी थी, उसका उत्तर तुम्हें नही आया था।"

स्वामीजी—"क्या हर्ज है, वही चर्चा तुम फिर से पूछ लो। यदि उन्हें उत्तर दिया है तो तुम्हें भी दे देंगे।"

कचरोजी—"मैं तो तुम्हारा पोता चेला हूँ, अत· चर्चा में तुम्हारे से कैसे जीत सकता हूँ ?"

स्वामीजी ने निरर्थक की बातों में समय जाता देखकर एक ही बात में सारी बात समाप्त करते हुए कहा—"कम से कम मुझे तो ऐसा पोता चेला नही चाहिए।"

कचरोजी के सामने अब चुप होकर चले जाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह गया था[२]।

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ९५

२—भिक्खु दृष्टान्त दृ० ४६

साला हो सकता हूँ

स्वामीजी के साथ शास्त्रार्थ में पराजित हो जाने पर एक मूर्ति-पूजक साधु को इतना क्रोध आया कि वह उस सभा में ही उत्तेजना-वश बोल पडा—"इस साले भीखण का सिर काट दिया जाए तो सारा झंझट ही समाप्त हो जाए।"

स्वामीजी ने तत्काल अपने ढग से मुस्कराते हुए कहा—"जगत् की सब स्त्रियाँ मेरी बहिने है, अत मैं तुम्हारा साला हो सकता हूँ, किन्तु पहले यह तो बतलाओ कि तुमने अपने उपाश्रय में कितनी स्त्रियां रख रखी हैं ?"

वस्तुतः ऐसे अवसर पर भी उत्तेजित न होना, यह उस सभा में स्वामीजी की दूसरी विजय थी, जो कि शास्त्रार्थ में प्राप्त की गई पहली विजय से भी अधिक प्रभावशाली थी[1]।

२ : बुराई मे भी भलाई की खोज

ससार मे ऐसे व्यक्ति बहुत कम मिलेंगे जो अपने कानो से अपनी निंदा सुनकर भी उत्तेजित न हों। स्वामीजी मे यह विशेषता इतनी उत्कृष्ट थी कि वे अपनी निंदा को हँसते हुए सुन ही नहीं लेते थे, किन्तु अपने ही हाथो से उन बातो को लिख भी लेते थे। उनके हाथ से लिखे गये ऐसे अनेक पत्र आज भी सुरक्षित है, जिनपर उनके तथा-कथित अवगुण लिखे हुए है।

उनके जीवन में ऐसे अवसर अनेक बार आये थे, जबकि स्वय उन्हीं के सामने तथा अगल-बगल के स्थानो पर विरोधी लोग विरुद्ध बातें प्रचारित करते रहते थे। वे अपने विरोधियो द्वारा किये गये किसी भी कार्य को गुण रूप में लेने का ही प्रयास किया करते थे। कहा जा सकता है कि वे अनन्य रूप से गुणग्राही व्यक्ति थे। गुण को ग्रहण करना और मानना एक बात है, पर किसी के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अवगुण किये जाने पर भी उसमें कहीं-न-कहीं गुण को खोज निकालने का प्रयास करना बिलकुल दूसरी बात है। यह तो किसी महापुरुष का ही कार्य हो सकता है। स्वामीजी निस्सन्देह ऐसे ही व्यक्तियों में से थे, जो बुराई में भी भलाई खोज लेते है।

अवगुण निकालने ही है

किसी ने आकर स्वामीजी को बतलाया कि अमुक जगह लोग एकत्रित हो रहे हैं और वहाँ अमुक व्यक्ति आपके अवगुण निकाल रहा है।

स्वामीजी बोले—"निकाल ही रहा है, डाल तो नहीं रहा ? यह तो बहुत अच्छी बात है। मुझे अवगुण निकालने ही है। कुछ मैं निकालूँगा, कुछ वे निकालेंगे। चलो यों कुछ और भी शीघ्र निकल जाएगे।"[2]

१—भिक्खु दृष्टान्त दृ० ९१

२—भिक्खु दृष्टान्त दृ० १३

समझ आने पर भक्ति भी करेगा

स्वामीजी के साथ चर्चा करते समय एक भाई बहुत कटु बोला करता था। इस पर किसी ने स्वामीजी से कहा—"यह इतना उल्टा-सीधा बोलता है तो फिर आप इससे चर्चा क्यो करते हैं ?"

स्वामीजी ने कहा—"बालक जब तक नही समझता तब तक अपने पिता की मूछें भी पकड लेता है, पगडी पर भी हाथ मारता है, किन्तु कुछ समझ आने पर वही बालक पिता की सेवा करता है। यह आज कटु इसलिए बोलता है कि इसे अभी तक साधुओ की पूरी पहचान नहीं है। पर जब वैसी समझ आ जाएगी, तब यह भक्ति भी करने लगेगा।"[1]

ठोक बजाकर देखता है

एक बार चर्चा में पराजित होकर एक भाई ने आवेश-वश स्वामीजी के सिर पर ठोले की मार दी। पास में खडे साधुओ को यह बात बहुत बुरी लगी। उन्होने उस व्यक्ति को फटकारा। स्वामीजी से उन्होंने प्रार्थना की कि ऐसे अयोग्य व्यक्तियों से चर्चा करने में कोई लाभ नही है।

स्वामीजी ने मुस्कराते हुए कहा—"जब कोई आदमी मिट्टी की हंडिया खरीदता है, तब पहले उसे ठोक-बजाकर देख लेता है कि कहीं फूटी हुई तो नही है ? यहाँ तो फिर आने-दो आने की ही बात नहीं है। जीवन भर के लिए गुरुधारणा की बात है, अत यह बेचारा ठोक बजाकर देख लेना चाहे तो अनुचित क्या है ?"

: ३ : आकर्षण के केन्द्र

स्वामीजी जनता के लिए एक आकर्षण के केन्द्र बने हुए थे। वे जहाँ भी जाते लोग उत्सुकता पूर्वक उनकी बाट देखते रहते थे। किसी स्थान पर कुछ दिन रहकर जब वे विहार करते तो लोग तरसते से रह जाते। जिनको उनसे मिलने का कभी अवसर नहीं मिला होता, वे उनके विषय में नाना कल्पना किया करते थे। जो मिल सकते थे, वे अवसर पाकर मिलने को लालायित रहते। जो उनसे एकबार मिल लेते थे, वे प्राय सदा के लिए उनके ही हो जाया करते थे। उनके विरोधी इसीलिए अपने अनुयायियो को उनके पास जाने से रोकने का प्रयास किया करते किन्तु वे उस कार्य में बहुधा असफल ही हुआ करते थे। स्वामीजी का आकर्षण इन सब रोक-थामों के बावजूद भी उन्हें अपनी ओर खीच लिया करता था।

ऐसा हठ मत करना

स्वामीजी सिरियारी से विहार करने लगे। जनता ने कुछ दिन और ठहरने की प्रार्थना की। स्वामीजी नही माने तो प्रार्थना का रूप हठ में बदलने लगा। फिर भी स्वामीजी नही माने तो स्थानीय भाई सामजी भडारी ने आगे बढकर अपनी पाग स्वामीजी के पैरों मे रख दी और कहा—"कम-से-कम आज तो आपको विराजना ही पडेगा, इस पगडी की लाज रखनी ही होगी।"

१—भिक्खु दृष्टान्त दृ० २८७

स्वामीजी ने उस दिन के लिए ठहरने की स्वीकृति देते हुए कहा—"आज तो तुम्हारी बात मान लेते है, पर फिर कभी ऐसा हठ मत करना।"[1]

ऐसी प्रार्थना मत करना

आगरिया से स्वामीजी विहार करने लगे तो लोगों ने कुछ दिन और विराजने की प्रार्थना की। स्वामीजी ने उसे अस्वीकार करते हुए विहार कर दिया। जनता का मन एकदम उदास हो गया।

भारमलजी स्वामी ने जनता की अत्यंत उदासी देखी तो मार्ग में स्वामीजी से कहा—"आपने विहार तो कर दिया है, किन्तु यहाँ की जनता इससे बहुत उदास हो गई है। आप उनकी प्रार्थना मान लेते तो अच्छा रहता।"

दयालु स्वामीजी ने विहार स्थगित कर दिया और वापिस ग्राम में पधार गये। किन्तु सब को सावधान करते हुए कहा—"सन्तों के विहार से ऐसी उदासी क्यों आनी चाहिए?" भारमलजी स्वामी से कहा—"आज तो तुम्हारी बात मानकर वापिस आ गये है, पर फिर कभी ऐसी प्रार्थना मत करना।"[2]

कभी इतनी महिमा है

पुर और भीलवाडे के मार्ग में विहार से थक कर स्वामीजी किसी वृक्ष की छाया में विश्राम के लिए बैठे थे। साथ के अन्य साधु पीछे रह गये। ढूंढार की तरफ का एक सनातनी भाई कहीं से आ रहा था। स्वामीजी को देखा तो वन्दन किया और परिचय आदि पूछने लगा। स्वामीजी ने अपना नाम 'भीखण' बतलाया तो उसको इतना आश्चर्य हुआ कि मानो वह उसे मानने से ही इन्कार कर देगा।

उसने कहा—"हमने कभी आपको देखा तो नही, पर आपकी महिमा इतनी सुनी थी कि देखने को मन ललचाया करता था। आपकी महिमा के आधार पर हमने अपने मन में जो आपकी कल्पना की थी, वह तो यह थी कि आप किसी बड़े मठ की गद्दी के अधिपति होगे। हम तो समझते थे कि आपके साथ हाथी, घोडे, रथ, पालकी आदि बहुत बडा लवाजमा रहता होगा। पर आप तो उस कल्पना के सर्वथा विपरीत अकेले ही वृक्ष की छाया में बैठे हैं।"

स्वामीजी ने उसे जैन साधु का मार्ग समझाते हुए बतलाया—"ये सब आडबर नही रखते तभी इतनी महिमा है, अन्यथा दूसरे मठाधीशों की तरह ही हमारी भी स्थिति होती।"[3]

१—भिक्खु दृष्टान्त दृ० ८५

२—भिक्खु दृष्टान्त दृ० ८६

३—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १२५

कैसे लगे ?

पाली के मूर्त्ति-पूजकों ने शोभाचन्द सेवग को स्वामीजी के विषय में निन्दा-परक कविता करने को उकसाया। उसने कहा—"मैंने भीखणजी के विषय में बातें तो अनेक प्रकार की सुनी है, पर जब तक एक बार उनसे प्रत्यक्ष मिल नहीं लेता, तब तक उनके विषय में कुछ जोडना उचित नहीं समझता।"

स्वामीजी उन दिनो खेरवा में थे। कार्यवश जब वह सेवग वहाँ गया तो स्वामीजी से भी मिला। बातचीत करके बडा प्रभावित हुआ। निन्दा-परक कविता की जगह स्तुति-परक कविता जोड कर लाया।

पाली में आते ही मूर्त्ति-पूजक भाइयों ने पूछा—"खैरवे गया था तो वहाँ भीखणजी से मिला होगा और उनके विषय में कुछ जोडकर भी लाया होगा ?"

सेवग ने कहा—"जी, मिला था और कुछ जोड कर भी लाया हूँ।" पत्र निकालकर सुनाने को तैयार हुआ तो वे बोले—"यहाँ नहीं, तेरापंथी श्रावकों के सामने ही सुनाना।"

वे उसे लेकर श्रावकों के पास आये और कहने लगे—"यह तो एक सेवग है, अतः किसी एक के पक्ष का न होकर निष्पक्ष है। इसे न हमारे से कुछ मतलब है और न तुम्हारे से। यह तो जैसा जानता है वैसा ही कहेगा।"

सेवग को बोलने के लिए प्रेरित करते हुए वे बोले—"क्यों भाई शोभाचद ! तू भीखणजी के पास जाकर आया है, उनसे बातचीत भी करके आया है। बोल। तुझे वे कैसे लगे ?"

सेवग ने अपना बचाव-सा करते हुए कहा—"रहने दीजिए, उनके विचार उनके पास हैं और आपके विचार आपके पास। मुझे क्यों बीच में डालते हैं ? मैं उनके विषय में क्या बताऊँगा ?"

आग्रह करते हुए वे बोले—"हम कोई तुझे झूठ कहने के लिए थोडे ही कह रहे हैं। जैसा देखा अथवा जाना है, वैसा कहने में हानि भी क्या है ?"

सेवग ने तब स्वामीजी के गुणानुवाद की कविताएँ सुनाई और कहा—"वे तो अपनी कथनी के समान ही करनी वाले हैं। मैंने ऐसा सत पुरुष आज तक कहीं नहीं देखा।"

विरोधी व्यक्तियोंने जब अपनी आशा के विपरीत स्वामीजी के गुण सुने तो जल-भुनकर रह गये। श्रावक-वर्ग बडा प्रसन्न हुआ और सेवग को पुरस्कारस्वरूप बीस-पच्चीस रुपये दिये[1]।

४ : अपराजेय व्यक्तित्व

स्वामीजी केवल आकर्षण के केन्द्र ही नहीं थे, किन्तु कुछ व्यक्तियों के लिए विभीषिका के केन्द्र भी थे। उनके विरोधी सदैव उनसे घबराते थे। उनके साथ चर्चा करने का साहस कर पाना भी उनके लिए कठिन था। चर्चा में उन्हें जीत लेने का तो किसी को स्वप्न भी शायद ही आया हो।

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ९६

धर्म-चर्चा करने की उनकी क्षमता सदा मार्ग-दर्शन देने वाली थी। तत्त्व-जिज्ञासु उन्हें कभी भूल नहीं सकते। आगमों के विवादास्पद विषयों का निर्णय करने के समय अवश्य ही वे भावी पीढ़ियों द्वारा याद किये जाते रहेंगे। वेणीरामजी स्वामी ने उनके विषय में बिल्कुल उपयुक्त कहा है :

हिवें सोध्यां तो पावै नहीं रे, भिक्खु सरीखा साध।
करडो काम पडसी चर्चा तणो रे, तिण वेलाआवसी याद[1] ॥

स्वामीजी के साथ चर्चा करना एक महत्त्व की बात समझी जाने लगी थी। किसी भी बात पर उनसे एक बार चर्चा कर लेने मात्र से समाज के दूसरे व्यक्तियों में उनका दर्जा कुछ ऊँचा उठ जाया करता था।

कुछ व्यक्ति उनसे शास्त्रीय चर्चा करने आया करते थे, तो वे उन्हें शास्त्रीय ढंग से ही उत्तर दिया करते थे। पर कुछ व्यक्ति यों ही केवल बुद्धि आजमाने भी आ जाया करते थे। स्वामीजी उन्हें भी निराश नहीं करते थे। उनको उनके ही ढंग का उत्तर देकर निरुत्तर कर देना भी उनके बांए हाथ का खेल था। इसलिए जब वे किसी ग्राम में जाते तो उससे पूर्व ही वहाँ के विरोधियों में एक हलचल-सी मच जाया करती थी। सब पर एक इस प्रकार की विभीषिका का साम्राज्य छा जाता था कि जिसका सामना करने में वे अपने आपको असमर्थ पाते थे। वस्तुतः स्वामीजी का व्यक्तित्व पूर्णतः अपराजेय था।

मंत्रवादी के समान

किसी ने स्वामीजी से पूछा—"आप जहाँ जाते है, वहाँ के विरोधी व्यक्तियों में इतना भय क्यों छा जाता है ?"

स्वामीजी ने एक उदाहरण देते हुए कहा—"जिस ग्राम में डाकिनियाँ हों, वहाँ यदि कोई ऐसा मत्रवादी आये कि जो उन सबका भेद खोल देने के साथ-साथ उन्हें अपनी मत्र-शक्ति से नष्ट भी कर दे, तो उसके आगमन पर साधारण जनता को तो यह प्रसन्नता ही होती है कि आयंदा के लिए ग्राम से डाकिनियो का उपद्रव शांत हो जाएगा। पर डाकिनियो तथा उनके परिवार वालों के धसका पडता है। वे उस मत्रवादी को नहीं चाहते, क्योंकि उससे सबके सामने उनकी पोल खुलती है। इसी प्रकार हमारे जाने से भव्य जनता तो प्रसन्न ही होती है, पर जिनके आचार में खामियां है, उनके तथा उनके अनुयायियों के मन में स्वत ही भय छा जाता है।"[2]

१—भिक्खु-चरित्र ११-१३
२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २९९

चर्चा मंहगी पड़ती है

स्थानकवासी साधु गुमानजी के शिष्य रतनोजी चाहते थे कि मैं भीखणजी से चर्चा करूँ। गुमानजी ने उन्हें समझाते हुए कहा—"उनसे चर्चा करते तो हमें भी भय लगता है, तब तू क्या चर्चा करेगा ?"

रतनोजी ने भय लगने का कारण पूछा तो गुमानजी बोले—"भीखणजी चर्चा का जो उत्तर देते है पीछे उसकी जोड कर देते हैं, ग्राम-ग्राम में उसे भाइयो को सिखा भी देते हैं। इस प्रकार वे सारे ग्रामो को विगाड देते हैं। हमें चर्चा का उत्तर देने के लिए तव एक भीखणजी ही नहीं, किन्तु फौज की फौज खडी हो जाती है। चर्चा हमारे लिए सदा ही महगी पडती है।"[1]

अकबरी मोहरें

पुर मे स्वामीजी से चर्चा करते हुए गुलाव ऋषि जव निरुत्तर हो गये तो कहने लगे—"मुझे निरुत्तर कर देने से कुछ नहीं होता। हमारे गोगूदा के श्रावक तुंगिया नगरी के श्रावको जैसे है। उनसे चर्चा करोगे तव तुम्हें पता लगेगा। वे तो सव अकवर की मोहरें है।" स्वामीजी वोले—"अवसर आने पर उनसे भी चर्चा करने के भाव है।"

वह अवसर शीघ्र ही आ गया। स्वामीजी गोगूदा पधारे। वहाँ के श्रावको से चर्चा हुई। स्वामीजी ने उन्हें आगमो के आधार पर आचार-विचार सम्वन्धी सारी वातें समझाईं। फलस्वरूप वहाँ का श्रावक-वर्ग स्वामीजी का भक्त वन गया।

गुलाव ऋषि ने जव यह वात सुनी तो स्वय वहाँ आये और स्वामीजी से चर्चा करने लगे।

श्रावकों ने स्वामीजी को रोकते हुए कहा—"ये हमारे पहले के गुरु हैं, अत· हमें ही इनसे चर्चा करने का अवसर दें। स्वामीजी ने उनकी वात मान ली। भाइयो ने गुलाव ऋषि से ऐसी चर्चा की कि उन्हें निरुत्तर हो जाना पडा। आखिर क्रुद्ध होकर कहने लगे—"गोगूंदे के तुम श्रावको को मैं तो अकवर की मोहर के समान समझा करता था। पर तुम तो बिल्कुल ही ठीकरी (मिट्टी) के सिक्के निकले।"[2]

किस न्याय से ?

उदयपुर में एक व्यक्ति स्वामीजी के पास आया और वोला—"भीखणजी। कोई चर्चा पूछो।"

स्वामीजी ने पहले तो उसे टालने का प्रयास किया, पर जव वह आग्रह करने लगा तो कहा—"अच्छा, वताओ तुम संज्ञी हो या असज्ञी ?"

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ९४

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ९०

वह व्यक्ति—"सन्नी।"

स्वामीजी—"किस न्याय से ?"

वह व्यक्ति—"नहीं, मैं असन्नी हूँ।"

स्वामीजी—"किस न्याय से ?"

दोनो वार ही जब स्वामीजी ने न्याय पूछा तो वह समझा कि सभवत मेरे पूर्वोक्त दोनो ही कथन गलत थे। अब की वार उस गलती को सुधारते हुए बोला—"मैं तो संनी या असंज्ञी-दोनो ही नहीं हूँ।"

स्वामीजी—"दोनो ही क्यो नहीं हो, इसका भी न्याय बतलाना होगा।"

तब वह क्रुद्ध होकर बोला—"तुमने न्याय-न्याय की रट लगाकर हमारे सारे मत को ही बिखेर दिया।" और स्वामीजी की छाती पर मुक्का मारकर चलता बना।[1]

घोड़े के कितने पैर ?

स्वामीजी चर्चा में किसी से हारते नहीं थे, अतः कुछ व्यक्तियों ने षड्यन्त्र रचकर उन्हें हराने की बात सोची। वे स्वामीजी के पास आये और पूछने लगे—"भीखणजी ! घोड़े के कितने पैर होते हैं ?"

स्वामीजी इस प्रश्न के पीछे छिपी दुरभिसन्धि को भांपते हुए जरा सोचकर और जोर से गिनकर कहने लगे—"चार।"

वे व्यक्ति स्वामीजी के उत्तर देने के उस अजीब ढग को न समझने के कारण बोले—"इस प्रश्न के उत्तर में इतनी देर तक सोचने और गिनने की क्या बात थी ?"

स्वामीजी ने कहा—"इसमें तो इतनी सोचने और गिनने की कोई बात नहीं थी, पर तुम इसके पश्चात् मुझे 'कान खजूरे' के पैरो की सख्या भी तो पूछ सकते हो। इसका चट से उत्तर दूँ और उसमें अटकूँ, इससे तो अच्छा यही था कि इसका गिनकर उत्तर दूँ तो अगले के लिए भी गिनने का अवसर रह जाए।"

वे व्यक्ति स्वामीजी की इस बात पर चकित होकर बोले—"भीखणजी ! आप वस्तुत: ही अपराजेय हैं। हम जो सोचकर आये थे, वह आपने बिल्कुल ठीक रूप से पहले ही भांप लिया।"

५ : समझाने का उत्तम तरीका

स्वामीजी का किसी व्यक्ति को समझाने का प्रकार भी अपना अलग ही था। बहुत-सी बातो को वे दृष्टांत देकर इतने सरल ढग से समझा देते कि लोग आश्चर्य-चकित रह जाते। कभी-कभी उनके दृष्टांत कुछ कडे भी हुआ करते थे। इसके विषय में एक भाई ने जब यह पूछा कि आप इतने कड़े दृष्टांत क्यो देते हैं, तो स्वामीजी ने उसका खुलासा करते हुए कहा—"साधारण रोग साधारण औषधि से मिट जाते हैं, पर कुछ रोग ऐसे असाधारण होते है, जो

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ४७

साधारण औषधि से नही मिटते । उनके लिए शरीर के अवयव-विशेष को 'दागना' (लोह की गरम शलाका से जला देना) आवश्यक हो जाता है । उसी प्रकार कभी-कभी मुझे दृष्टान्तो के द्वारा ही बात समझानी पडती है ।"[1]

जो बात दूसरा व्यक्ति परिश्रम कर लेने पर भी किसी के गले नहीं उतार पाता था, वही बात स्वामीजी सहजरूप से समझा देते थे । वे जैसी और जितनी समझ का आदमी देखते, वैसी और उतनी ही मात्रा की बात कहा करते थे ताकि समझने वाले व्यक्ति को विचारो का अपच न होने पाये ।

गाय को क्या खिलाती हो ?

काफरला गाव में साधु गोचरी गये । वहाँ एक जाटणी के घर पर 'धोवण' का प्रासुक पानी था, पर वह देना नही चाहती थी । सन्तो ने उसे समझाने का काफी प्रयास किया, पर सारा निष्फल ही सिद्ध हुआ । न देने में उसका तर्क यह था कि जो व्यक्ति जैसा देता है, वैसा ही आगे पाता है । अत यदि मैं आपको 'धोवण' दूगी तो मुझे भी आगे यही मिलेगा । किन्तु मेरे से यह हरगिज नही पिया जाएगा ।

सन्तो को पानी की आवश्यकता थी और पानी विद्यमान था, पर जाटणी दे नही रही थी । निरुपाय होकर वे वापिस आ गये । उन्होने जब यह सारी बात स्वामीजी से कही तो वे बोले—"चलो मैं चलकर समझाता हूँ ।" उन्होने जाटणी को प्रासुक पानी देने के लिए कहा तो उसने अपनी वही बात 'जैसा देता है वैसा ही पाता है' दुहराकर पानी देने से इन्कार कर दिया ।

स्वामीजी ने कहा—"तुम अपनी गाय को क्या खिलाती हो ?"

जाटणी—"घास फूस-आदि ।"

स्वामीजी—"तो क्या गाय तुम्हें वापिस घास-फूस ही देती है ?"

जाटणी—"नहीं, वह तो दूध देती है ।"

स्वामीजी—"तो फिर तुम यह कैसे कहती हो कि 'जैसा देता है वैसा ही पाता है' ।"

जाटणी के दिमाग में यह बात झट से बैठ गई और वह प्रासुक पानी देने के लिए तैयार हो गई[2] ।

ज्ञान भी तो चारा बन गया

बूदी में सवाईरामजी ओसवाल स्वामीजी से धर्म-चर्चा कर रहे थे । आचार, विचार, दान, दया, आज्ञा, अनाज्ञा आदि अनेक विषयो पर काफी देर तक बात कर लेने के पश्चात् भी जब उन्होंने बात का क्रम समाप्त नहीं किया तो स्वामीजी ने कहा—"गाय भैंस के सामने जब चारा अधिक डाल दिया जाता है, तो वे उसे अधिक बिखेरती है । अत आज जितनी बात की है, पहले उसे हृदयगम कर लो, आगे की बात उसके पश्चात् करेंगे ।"

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ६९

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ३४

इस वात पर सत्राईरामजी कुछ अप्रसन्न होकर बोले—"आपने तो मुझे पशु समझा है, तव फिर और वात क्या करनी है ?"

स्वामीजी ने उनकी अप्रसन्नता का उन्मूलन करते हुए कहा—"यदि यो उपमा देने मात्र से तुम पशु वन गये तो साथ ही मेरा ज्ञान भी तो चारा वन गया ।"

इस वात पर वे प्रसन्न हो उठे। स्वामीजी का ज्ञान यदि चारा वनता हो तो उसे चरने के लिए पशु वनना उन्हें विल्कुल ही नहीं अखरा[1] ।

साधु कौन और ढोंगी कौन ?

किसी व्यक्ति ने स्वामीजी से पूछा—"ससार में साधु का वेप पहनने वालों की सख्या काफी है। उनमें सच्चे कौन हैं और ढोंगी कौन ?"

स्वामीजी ने कहा—"किसी वैद्य से एक अचक्षु व्यक्ति ने पूछा कि इस शहर में नंगे कितने है और सवस्त्र कितने ?" वैद्य ने कहा—"इनकी संख्या करना मेरा काम नही है, मैं औषधि के द्वारा तुम्हारी दृष्टि ठीक कर देता हूँ, फिर तुम स्वय इस वात की जाँच कर सकते हो ? इसी प्रकार व्यक्तिश किसी के विपय में कुछ कहना मेरे लिए कठिन है। मैं साधु के लक्षण वताकर तुम्हें दृष्टि प्रदान कर सकता हूँ, फिर साधु और असाधु के विपय में जाँच तुम स्वय कर सकते हो ।"[2]

साहूकार और दिवालिया

एक वार उपर्युक्त प्रश्न एक अन्य भाई ने भी स्वामीजी से किया था। तव स्वामीजी ने दूसरी प्रकार से वही वात यों कहकर समझाई थी—"रुपये उधार लेकर जो सम्मान सहित वापिस चुका देता है, वह साहूकार होता है, और जो नहीं चुकाता तथा माँगने पर झगड़ा करता है, वह दिवालिया होता है। इस लक्षण के आधार पर शहर के किसी भी व्यक्ति का परीक्षण किया जा सकता है। इसी तरह जो व्यक्ति ग्रहण किये हुए पाँचों महाव्रतो को निष्ठा-पूर्वक पालते हैं, वे साधु होते है और जो उन्हें नहीं पालते वे असाधु। इस लक्षण के आधार पर तुम किसी भी साधु के लिए निर्णय कर सकते हो ।"[3]

ऐसे ही समझदार

उत्तमोजी इराणी मूर्त्ति-पूजक मान्यता के थे। उन्होने स्वामीजी से कहा—"वडे-वड़े लखपतियो, करोडपतियों ने मन्दिर वनवाये हैं। वे सव अज्ञानी थोडे ही थे ?"

स्वामीजी ने कहा—"यदि तुम्हारे पास पचास हजार रुपये हो जाएँ तो तुम मन्दिर वनवाओ कि नहीं ?"

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ९९

३—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १००

उत्तमोजी—"अवश्य बनवाऊ।"

स्वामीजी—"तुम्हारे में जीव का भेद कौन-सा है ? गुणस्थान कौन-सा है ? योग तथा उपयोग कितने हैं ?"

उत्तमोजी—"यह तो मैं नही जानता।"

स्वामीजी—"तो उस समय के धनिक भी ऐसे ही समझदार रहे होंगे। धन हो जाने मात्र से तत्त्व का ज्ञान नही हो जाता।"[1]

आप मन्दिर को उड़ाते हैं

खेरवा में शोभाचन्द सेवग ने स्वामीजी से पूछा—"मैंने सुना है कि आप भगवान् को उत्थापते हैं।"

स्वामीजी—"हमने तो भगवान् के वचनो पर ही घर छोडा है, अत· उन्हें उत्थापने की बात यदि तुमने सुनी है तो वह सर्वथा गलत है।"

सेवग—"नहीं, मेरा तात्पर्य है कि आप मन्दिर को उडाते हैं।"

स्वामीजी—"मन्दिर में तो हजारों मन पत्थर लगते हैं। उसे उड़ाने का सामर्थ्य हमारे में तो नहीं है।"

सेवग—"नहीं, आप भगवान् की प्रतिमा को पत्थर कहते हैं।"

स्वामीजी—"हमें झूठ तो बोलना है नही, अत· जो प्रतिमा जिस चीज की बनी होती है, उसे उसी चीज की कहते है। जैसे सोने की प्रतिमा को सोने की और चाँदी की प्रतिमा को चाँदी की कहते हैं, वैसे ही पत्थर की प्रतिमा को पत्थर की कहते है, किन्तु सबको नही।"[2]

इन उत्तरों के द्वारा स्वामीजी ने उस सेवग को वह तत्त्व समझा दिया जो उसके लिए अन्य किसी प्रकार से समझ पाना कठिन था। उसी दिन से वह स्वामीजी का भक्त हो गया।

६ : न्याय के विविध प्रकार

कभी-कभी स्वामीजी का न्याय इतना विचित्र और प्रभावशाली होता था कि झगडने वाले व्यक्ति स्वयं ही लज्जित होकर झगडे से विरत हो जाया करते थे। स्वामीजी पारस्परिक मन-मुटाव व झगडों के पूर्णत· विरोधी थे। अत जब किसी व्यक्ति को साधारण बातो पर झगडता देखते तो उन्हें बडा दु·ख होता। अपने सघ के साधु-साध्वियो के लिए तो उन्होंने मर्यादा बनाते समय यहाँ तक लिख दिया कि यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे चलने, बोलने तथा प्रतिलेखन करने आदि की दैनिक क्रियाओं में सच्ची तथा झूठी भी गलती निकाले तो तुम उसका प्रतिवाद मत करो। आगे के लिए उस विषय में अधिक सावधान रहने का ही विचार व्यक्त करो।

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ३९

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ९६

इसीलिए साधारण बातों को लेकर छद्मस्थता के कारण यदि साधु-जनों में कोई बात का खिंचाव हो जाता तो स्वामीजी का न्याय उन्हें आत्म-चिन्तन की ओर प्रेरित करने वाला ही होता।

रस्सी से माप आओ

एक बार दो सन्तों में परस्पर विवाद हो गया। एक ने कहा—"तुम गोचरी से आ रहे थे तब तुम्हारे पात्र में से इतनी दूर तक पानी के टपके गिर रहे थे।"

दूसरे ने कहा—"टपके तो गिरे थे, पर तुम कहते हो उतनी दूर तक नहीं। उससे बहुत कम दूर तक गिरे थे।"

दोनों ही स्वामीजी के पास पुकार लेकर आये। एक कहता था—इतनी दूर तक टपके गिरे थे। दूसरा कहता था—इतनी दूर से कम थे।

स्वामीजी ने दोनों को समझाते हुए कहा—"टपके गिरे थे यह बात तुम दोनों ही कह रहे हो। तब फिर दूरी का क्या झगड़ा है? उसके विषय में तो दोनों का अपना-अपना अनुमान ही तो है।"

इस पर भी जब वे अपनी-अपनी बात को ही सिद्ध करने पर तुले रहे, तब स्वामीजी ने कहा—"तुम्हें अपने-अपने अनुमान की सच्चाई का इतना अधिक विश्वास है तब क्यों न उसकी परीक्षा कर ली जाए? तुम दोनो ही एक रस्सी लेकर जाओ और उस स्थान को माप आओ, ताकि हमें भी पता रहे कि किस का अनुमान पूर्ण सत्य निकलता है।"

रस्सी लेकर मापने की आज्ञा ने दोनो की व्यावहारिकता को जगा दिया। वे दोनों ही लज्जित हो गये। परस्पर क्षमा-याचना करते हुए उन्होंने अपना विवाद वहीं समाप्त कर दिया[1]।

लोलुप कौन ?

लोलुपता के विषय में किन्हीं दो संतों के परस्पर विवाद हो गया। एक ने कहा—"तुम लोलुप हो।" दूसरे ने कहा—"तुम लोलुप हो।" आखिर उस विवादास्पद मसले को लेकर स्वामीजी के पास न्याय कराने के लिए आये।

स्वामीजी ने दोनो को समझाते हुए कहा—'हर एक व्यक्ति को स्वाद पर विजय पानी चाहिए, फिर भी जब तक छद्मस्थता है, तब तक विभिन्न अवसरों पर हर किसी की लोलुपता उभर सकती है।"

इतने पर भी उन दोनो का विवाद शांत नहीं हुआ और वे एक दूसरे को ही लोलुप सिद्ध करने का प्रयास करते रहे। तब स्वामीजी ने कहा—"तुम दोनो आचार्य की आज्ञा का आगार रखकर विगय का परित्याग कर दो। जो व्यक्ति पहले आज्ञा मांगेगा, वही दूसरे की अपेक्षा अधिक लोलुप समझा जाएगा।"

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १६७

यह बात दोनो ने मान ली और आज्ञा का आगार रखकर विगय का परित्याग कर दिया। लगभग चार महीने तक विगय टालने के पश्चात् उनमें से एक ने आकर स्वामीजी से आज्ञा मांगी। स्वामीजी ने उसे आज्ञा दी तब दूसरे को भी पूर्व-निर्णय के अनुसार आज्ञा हो गई। पहले आज्ञा मांगने वाले ने अपेक्षाकृत अपनी अधिक लोलुपता को बिना किसी दबाव या कहे-सुने स्वत ही मान लिया।[1]

७ आचार-हीनता के विरोधी

विभिन्न देशो, विभिन्न जातियों और विभिन्न प्रकृतियो के व्यक्ति सयम ग्रहण करके एक सघ में रहते है, तब उनके एकत्व का माध्यम एक मात्र आगम-निर्दिष्ट आचार ही होता है। उनका पारस्परिक स्नेह-भाव भी मोह-भाव न होकर केवल आचार-ऐक्य का प्रतीक ही होता है। किसी एक भी आचार-हीन व्यक्ति को सघ में महत्त्व प्रदान करना, सारे सघ की प्रतिष्ठा को विनष्ट कर देना है। स्वामीजी इस विषय में अत्यन्त सावधान व्यक्ति थे। उनका कहना था :

कहो साधु किसका सगा जी, तटकै तोडै नेह।
आचारी स्यू हिलमिलै जी, अणाचारी सू छेह ॥[2]

वे शुद्ध आचार के ही पक्षपाती थे। आचार-हीनता को वे कभी सहन नही करते थे। उन्होने अपने सघ के अनेक साधुओ तथा आर्याओं को इसीलिए पृथक् कर दिया था कि वे आचार में परिपूर्ण नही थे। उस समय उनके पास साधु-साध्वियो की सख्या बहुत कम थी, किन्तु उन्होंने इसकी कोई परवाह नही की।

पाँच आर्याओ का सबध-विच्छेद

चंडावल में फत्तूजी आदि पाँच आर्याओ को स्वामीजी ने कपडा दिया। उन्होने जितनी आवश्यकता बतलाई थी उतना कपडा दे चुकने के पश्चात् स्वामीजी को सदेह हुआ कि कही उन्होंने कल्प से अधिक तो नही ले लिया। तत्काल अखैरामजी स्वामी को भेजकर साध्वियो से वह कपडा वापिस मगवाया और उसे मापा। पाँचो ही साध्वियो के पास वह कल्प से अधिक निकला। इस पर स्वामीजी ने उन्हें उपालभ तो दिया ही पर आगामी काल के लिए भी कल्प-विषयक अप्रतीति हो जाने से पाँचों को अपने सघ से पृथक् कर दिया।[3]

रात भर पीसा ढकनी मे उसेरा

आचार-हीन साधुओ और श्रावको के लिए स्वामीजी का कथन था कि जिस प्रकार आंधी से बचाव किये बिना कोई घट्टी पीसने बैठे तो रात भर पीसने के पश्चात् भी उसके हाथ विशेष

१—भिक्खु-दृष्टान्त द० १६८

२—आचार की चोपई ११-४

३—भिक्खु-दृष्टान्त द० १५४

आटा नहीं लगता, उसी प्रकार दोषों से बचाव किये बिना कोई भी साधु या श्रावक विशेष लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। वह तो केवल 'रात भर पीसा ढकनी में उसेरा' वाली कहावत ही चरितार्थ करता है।[1]

सब काला ही काला

आचार-हीन और सम्यक्त्व-हीन व्यक्तियों ने भी स्वामीजी पर यह दबाव डालना प्रारम्भ किया कि तुम हमारा समर्थन नहीं करके विरोध क्यों करते हो? तुम्हें यदि हमारी कुछ बातें अच्छी नहीं लगतीं तो केवल उनको टाल दो।

स्वामीजी ने उदाहरण देते हुए कहा—"एक बार कुछ अन्धों ने मिलकर गोठ करने का विचार किया। उसके लिए अमावस की रात्रि का समय उपयुक्त समझा गया। कोयलों को पीसकर आटे की जगह काम में लिया गया। उसे काली हांडी में डालकर राब बनाई गई। बनाने वाले तो अंधे थे ही, पर खाने और परोसने वाले भी सब अन्धे ही थे। जब सब अपनी-अपनी थाली को सामने लेकर खाने बैठे तब मुखिया ने खखारते हुए कहा—"सावधान! कोई काला-कलूटा न आ जाए, सब कोई ध्यान रखकर उसे टालते रहना।" अब बताओ उसमें से क्या टालें और क्या न टालें? इसी प्रकार जहाँ न आचार-विशुद्धि पर ध्यान दिया जाता है और न सम्यक्त्व-शुद्धि पर, वहाँ तो सब कुछ एक जैसा ही एकत्रित हो जाता है। उसमें से अब क्या टालें और क्या न टालें।"[2]

तार निकालो

स्थानकवासी श्रावक अपने किसी साधु की गलती पर रुष्ट होकर स्वामीजी से कहने लगे—"भीखणजी! तुम इस बात का तार निकालो।"

स्वामीजी ने कहा—"जिन्हें बड़े-बड़े शहतीर भी दिखाई नहीं देते, उन्हें तार क्या दिखाई देगा? अभी तक तुम लोगों को आधाकर्मी स्थानक आदि बड़े दोष भी ध्यान में नहीं आ रहे हैं तो फिर दूसरे छोटे दोषों का क्या पता लग सकता है?"[3]

लड़का सगाई के लिए कब कहता है?

स्वामीजी आधाकर्मी स्थानक का विरोध किया करते थे। जैनागमों के उद्धरण देकर वे उसे आचार-हीनता का प्रतीक बतलाया करते थे। एक बार किसी स्थानकवासी साधु ने स्वामीजी से कहा—"हम कब कहते हैं कि हमारे लिए स्थानक बनाओ।"

स्वामीजी ने उसका उत्तर देते हुए कहा—"जिस तरह लड़का स्वयं अपनी सगाई के लिए नहीं कहता, किन्तु सगाई की जाती है तब प्रसन्न होता है। उसके बाद विवाह उसी का होता है, पत्नी उसी के आती है और घर उसी का बसता है। उसी तरह स्थानक

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १७५
२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १७३
३—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १७४

बनाने के लिए यदि कोई कहते नही, तो भी बनने के पश्चात् वे उसमें रहते है, उनका वह स्थानक कहलाता है। वे भी उसमे बसने के कारण 'स्थानकवासी' कहलाते हैं।"[१]

जमाई हलुआ बनाने को कब कहता है ?

एक बार उपर्युक्त कथन का उत्तर देते हुए स्वामीजी ने यह उदाहरण भी दिया था—"जमाई ससुराल जाता है, तब वहाँ यह नही कहता कि मेरे लिए हलुआ बनाओ। परन्तु जब हलुआ बनाया जाता है तो वह उसे बडी प्रसन्नता से खा लेता है। इसीलिए ससुराल वाले आवश्यकता होने पर फिर उसके लिए हलुआ बनाते हैं। यदि वह उसका परित्याग कर देता है तो उसके लिए हलुआ बनाना बन्द कर दिया जाता है। इसी प्रकार यदि कोई साधु स्थानक बनाने के पश्चात् उसमें रहने लगते हैं तो उनके लिए आगे से आगे स्थानक बनते रहते हैं। परन्तु यदि वे स्थानक में रहना त्याग दें तो फिर स्थानक बनने भी स्वतः ही बन्द हो जाएँ।"[२]

८ : आचार-निष्ठ व्यक्तित्व

स्वामीजी एक परिपूर्ण आचार-निष्ठ व्यक्ति थे। इसीलिए वे आजीवन आचार की शिथिलता के विरुद्ध अपनी सारी शक्ति लगाकर जूझते रहे। वे जानते थे कि ऐसा करने पर वे लोग उनके विरुद्ध हो जायेंगे जो कि आचार-पालन मे ढिलाई रखते हैं। वे यह भी जानते थे कि कुछ लोग चिढकर अपने सुधार की अपेक्षा उनको कोसने में ही तत्पर हो जायेंगे तथा उनकी हर छोटी-से-छोटी क्रिया का ध्यान रखकर उसमें गलती खोजने का प्रयास करेंगे। परन्तु उन्हें उन बातो का कोई भय नही था। वे स्वय में परिपूर्ण एव जागरूक थे।

दूसरे की आलोचना करने वाला या गलती बतलाने वाला यदि स्वय अपनी सावधानी नहीं रखता हो तो उसके कथन का दूसरो पर कोई प्रभाव नही पड सकता। स्वामीजी इतने सावधान रहते थे कि जहाँ थोडी-सी भी शका पडने का स्थान होता वहाँ वे आवश्यक होने पर भी उस काम को नही करते। इसीलिए वे दूसरो को बेधडक सावधान किया करते थे और दूसरे उनमें कही अगुली रखने को भी स्थान नही पाते थे।

व्यक्तिगत कपड़ा भी नहीं लेंगे ?

रीवा के सेठ हरजीमलजी एक धनाढ्य व्यक्ति थे। विभिन्न सम्प्रदाय के साधुओ को उन्होने अनेक बार कपडे का दान दिया था। एक बार स्वामीजी को भी उन्होने कपडे की प्रार्थना की।

स्वामीजी ने कहा—"तुम सन्तो के लिए कपडा मोल लेते हो, अतः हमें वह नही कल्पता।"

सेठ—"दूसरे सन्त तो ले लेते हैं। इसमें क्या कोई दोष लगता है ?"

स्वामीजी—"यह तो उन लेने वालो से ही पूछना।"

सेठ—"तो आप मेरे काम के कपड़े में से कुछ ले लें।"

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ६३
२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ६४

स्वामीजी —"हाँ, वह हमें कल्पता है, किन्तु हम उसमें से भी नहीं लेंगे, क्योंकि लोग तो यही समझेंगे कि तुम्हारे यहाँ से दूसरे साधु भी कपड़ा ले गये थे और भीखणजी भी ले गये। यह तार कौन निकालेगा कि भीखणजी उनके व्यक्तिगत कपड़े में से ले गये, जो कि साधुओं के लिए खरीदा नहीं गया था।"[1]

पात्र खोलकर दिखलाओ

एक बार स्वामीजी किशनगढ़ में पांडियों के वास में गोचरी पधारे। वहाँ एक घर में नुक्ता (मृत्युभोज) था। अन्य सम्प्रदाय के साधु ऐसे अवसरों पर उस घर में गोचरी जाया करते थे। परन्तु स्वामीजी उसका निषेध किया करते थे।

अन्य सम्प्रदाय के एक साधु ने अनुमान लगाया कि भीखणजी उस वास में गये हैं तो अवश्य ही नुक्ते वाले घर में गये होंगे। उन्हें रंगे हाथों पकड़ने का अच्छा अवसर समझकर कुछ भाइयों के साथ वह साधु उस मुहल्ले की ओर आया। स्वामीजी गोचरी करने के पश्चात् वापिस आ रहे थे। उस मुहल्ले के नुक्कड़ पर ही वे उन्हें मिल गये।

उस साधु ने अपने अनुमान को सत्य मानकर व्यंग करते हुए कहा--"भीखणजी ! तुम तो विरागी कहलाते हो, फिर इस मिठाई पर मन कैसे ललचा गया ?"

स्वामीजी उनकी मानसिक भावना को झट ताड़ गये, अतः इस घटना से भी लाभ उठाने का सोचकर बोले—"क्यों, गोचरी में मिठाई ले आना भी कोई दोष है क्या ?"

उस साधु को अपने अनुमान की सच्चाई पर अब तो और भी अधिक विश्वास हो गया, अतः लोगों को इकट्ठा करने की भावना से जोर-जोर से बोलते हुए कहा—तुम चाहे जो कुछ कर लो, उसमें कभी कोई दोष थोड़ा ही होता है ? दोष तो हम करते हैं तब होता है। किन्तु जब तुम जीवनवार में गोचरी जाने का निषेध करते हो तो कम-से-कम स्वयं तो उसे पालते। सम्भवतः मिठाई के लालच ने ही तुम से यह गलती करा दी है।"

इतनी देर में तो लोग काफी एकत्रित हो गये थे। स्वामीजी ने अवसर देखकर स्पष्टीकरण करते हुए कहा—"मैं तो नुक्ते वाले घर नहीं गया।"

ये अब इतने लोगों में लज्जित होकर मुकर रहे हैं, अतः पोल पूरी ही खोल देनी चाहिए, यह सोचकर उस साधु ने कहा—"यदि तुम सत्य कहते हो तो अपने पात्र खोलकर दिखलाओ।"

स्वामीजी ने झोली को और दृढ़ता से पकड़ते हुए कहा—"मैं जब कह ही रहा हूँ तो फिर पात्र दिखलाने की क्या आवश्यकता है ?"

इस कथन में स्वामीजी की कमजोरी का अनुमान लगाते हुए वह साधु तथा उसके सहवर्ती भाई और भी अधिक जोर डालते हुए बोले—"सच्चाई को भय नहीं होता, भय तो झूठ को होता है, अतः तुम सच्चे हो तो पात्र क्यों नहीं दिखलाते ? पात्र न दिखलाने का कारण यही हो सकता है कि तुम्हें पात्र खुलते ही पोल खुल जाने का भय है।"

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २५

स्वामीजी ने पात्र खोलने में जितना विलम्ब किया, उतना ही अधिक उनका आग्रह बढता गया और लोग भी उस विवाद का निष्कर्ष देखने को एकत्रित होते गये। जब स्वामीजी ने देखा कि उनका आग्रह अब चरम सीमा को छूनेवाला है तो उन्होने अपने पात्र खोलकर दिखला दिये। उनमें मिठाई नाम मात्र भी नही थी। तब आग्रह करने वाले स्वयं तो लज्जित हुए ही पर वहाँ एकत्रित जनता ने भी उनका स्वरूप पहचान लिया।[1]

बतलाना नही कल्पता

रीयां और पीपाड के मार्ग में एक स्थानकवासी साधु स्वामीजी से मिलने आये। उन्होंने स्वामीजी को एकान्त में ले जाकर कुछ देर बात की और वापिस चले गये। स्वामीजी ने उस घटना की कोई बात नही चलाई तो उत्सुकता-वश हेमराजजी स्वामी ने पूछ लिया—"वे क्या कह रहे थे ?"

स्वामीजी ने कहा—"किसी बात की 'आलोयणा' करने आये थे।"

हेमराजजी स्वामीने जिज्ञासा से फिर पूछा —"किस बात की आलोयणा ?"

अपने कल्प-अकल्प के विषय में पूर्ण-सावधान स्वामीजी ने तत्काल कहा—"यह बतलाना नहीं कल्पता।"

हेमराजजी स्वामी का ध्यान तब गया कि उनका दूसरा प्रश्न आवश्यक नहीं था।[2]

हाथ कहाँ धोयेगी ?

एक बहिन जब-जब आती तब-तब स्वामीजी से गोचरी की प्रार्थना किया करती थी। एक दिन स्वामीजी उसके घर पधार गये तो वह अत्यत प्रसन्न हुई। आहार देने लगी तो स्वामीजी ने उससे पूछा —"बहिन ! आहार देने के पश्चात् सम्भवत तुझे हाथ धोने पडें तो सचित्त पानी से धोएगी या उष्ण पानी से ?"

वह बोली—"उष्ण पानी से।"

स्वामीजी—"कहाँ धोएगी ?"

नाली की ओर सकेत करते हुए उसने कहा—"यहाँ धोऊँगी।"

स्वामीजी —"इस नाली से पानी नीचे गिरता है अत वायुकाय की अयत्ना होती है। ऐसी स्थिति में मुझे यह आहार लेना नही कल्पता।"

बहिन—"आप तो अपना आहार शुद्ध देखकर ले लें, पीछे से हम गृहस्थ क्या करते हैं, इसका आपको क्या करना है ? हम ससार में रहते हैं तो अपनी पद्धति से ही काम करते हैं। उसे छोडना भी तो ठीक नही है।"

स्वामीजी—"परन्तु रोटी के लिए मैं अपनी निरवद्य क्रिया को कैसे छोड दू, जब कि तू

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २८

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ५७

सावद्य क्रिया छोड़ने को भी तैयार नहीं है। ऐसा आहार लेने से मुझे 'पश्चात् कर्म' का दोष लगता है, यों कहकर वे वहाँ से आहार बिना लिए ही वापिस आ गये।"[1]

६ : सत्य-भक्त

स्वामीजी का सारा जीवन सत्य की आराधना के लिए ही समर्पित था। 'सव्वाइं विज्जाइं सच्चे पइट्ठियाइं' अर्थात् 'सारा ज्ञान सत्य में ही प्रतिष्ठित है'—इस आगमवाणी को उन्होंने पूर्णतः हृदयंगम कर लिया था। उन्हें अपनी बात का कोई आग्रह नहीं था, केवल सत्य की खोज थी। इस खोज में उन्हें जो तत्त्व भासित हुआ उसीका उन्होंने प्रचार और प्रसार किया, फिर भी अपने मस्तिष्क का द्वार उन्होंने कभी बन्द नहीं होने दिया। आचार की सचाई के प्रति भी उनका उतना ही दृढ़ विश्वास था जितना कि सत्य विचारों के प्रति।

पछेवड़ी बड़ी नहीं निकली

पाली में एक भाई ने हेमराजजी स्वामी से कहा—"आपकी पछेवड़ी कल्प से बड़ी लगती है।"

हेमराजजी स्वामी ने उससे कहा—"स्वामीजी ने स्वयं अपने हाथ से माप कर दी है, अतः बड़ी कैसे हो सकती है?"

इस पर भी उस भाई का सन्देह बना रहा। वह बड़ी होने की आशंका कर रहा था और हेमराजजी स्वामी उसका निराकरण। स्वामीजी कुछ देर तो उनकी बातें सुनते रहे पर जब उस भाई का सन्देह निवृत्त होता नहीं देखा तो हेमराजजी स्वामी को अपने पास बुलाकर पछेवड़ी उतरवा ली और उसके सामने माप कर दिखलाई। वह बराबर निकली तब भाई ने अपनी गलती स्वीकार करते हुए कहा—"मुझे झूठा ही भ्रम हो गया था।"

स्वामीजी ने कहा—"यह तो पछेवड़ी थी अतः माप कर बता दी, किन्तु तुझे तो यह भ्रम भी हो सकता है कि प्यास लगने पर हम मार्ग में नदी आदि का सचित्त पानी भी पी लेते होंगे। साधुता हम अपनी ही आत्मा की सच्चाई से पाल सकते हैं। चार अंगुल कपड़े के लिए यदि हम अपनी सच्चाई को खो देंगे तो वह अन्यत्र भी हमारे जीवन में कहीं दृष्टिगत नहीं हो सकेगी।"[2]

बात सत्य है या असत्य ?

स्वामीजी ने अनुकम्पा-विषयक अपने विचार व्यक्त करते हुए यह पद्य बनाया :

छ लेस्या हुंती जद वीर में जी, हूंता आठूं ई कर्म।
छद्मस्थ चूका तिण समैं जी, मूरख थापै धर्म॥[3]

भारमलजी स्वामी ने इसे देखकर कहा—"इसका तीसरा पद लोगों में ऊहापोह खड़ा करने वाला लगता है, अतः इसकी जगह कुछ और कर दें तो अच्छा रहे।"

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ३२
२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ७७
३—अनुकम्पा की चौपाई ६-१२

स्वामीजी—"लोगो में ऊहापोह उत्पन्न करने वाला चाहे हो, पर बात सत्य है या असत्य ?"

भारमलजी स्वामी—"बात तो बिलकुल सत्य है ।"

स्वामीजी—"तो फिर लोगों का क्या भय ? न्याय-मार्ग पर चलनेवाले को इस भय की कोई परवाह नहीं करनी चाहिए ।"[1]

उस दिन दिगम्बर बन जायेंगे

एक बार सरावगियों ने स्वामीजी से कहा—"आपकी क्रिया आदि तो बहुत ही उच्चकोटि की है, पर यह एक कमी है कि आप वस्त्र रखते हैं ।"

स्वामीजी ने कहा—"हमने श्वेताम्बर-आगमो के आधार पर सयम ग्रहण किया है । उनमें साधु के लिए निर्दिष्ट प्रमाण-युक्त वस्त्र रखने का विधान है । उन आगमो पर हमारा विश्वास है, इसीलिए हम वस्त्र रखते है । दिगम्बर-आगमो पर जिस दिन उतना विश्वास हो जाएगा, उस दिन वस्त्र छोड देने में हमें कोई हिचकिचाहट नही होगी ।"[2]

१० : असत्य के विरोधी

सत्य को पालने में वे जितनी शीघ्रता रखते थे, उतनी ही शीघ्रता असत्य का उघाड कर देने में भी रखते थे । असत्य के वे पूर्णत: विरोधी थे, वे उससे इतनी घृणा करते थे कि जहाँ थोडा-सा भी असत्य मालूम होता, वे उसकी पोल खोलकर ही दम लेते । यह स्वभाव उनका प्रारम्भ से ही था ।

गुड़ कौन लाया ?

एक बार जब वे स्थानकवासी सम्प्रदाय में थे तब एक दिन किसी दरजी के घर गोचरी गये । वह भाई साधुओं के पास आया-जाया करता था । अत कल्प-अकल्प के विषय में उसे जानकारी थी । वह बोला—"कल आपका एक शिष्य गुड ले गया था अत आज मेरे यहाँ की गोचरी का कल्प नही है ।"

स्वामीजी ने स्थान पर जाकर सन्तों से पूछा कि कल उसका गुड कौन लाया था ? पर किसीने भी स्वीकार नहीं किया । उन्होंने वह बात पूछी तो साधारण रूप से ही थी, पर जब कोई भी नही बोला तब उन्हें यह सोचकर बहुत बुरा लगा कि इतनी-सी बात को भी सत्य कहने का जिसमें साहस नही है वह साधुता का पालन कैसे कर सकता है ?

उन्होंने उस झूठ को प्रकट कर देने के लिए सोचा और सध्या को स्थडिल-भूमि जाते समय सबके साथ दरजी के घर चले गये । उन्होंने गुड ले जाने वाले सन्त को पहचानने के

1—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १७८

2—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ३१

लिए कहा तो दरजी ने एक साधु की ओर इशारा करके बतला दिया कि ये सन्त ले गये थे। सबने उसे समझ लिया।[1]

कयरे मग्ग मक्खाया ?

एक पंडित को अपने संस्कृत-ज्ञान का बडा घमड था। उसने स्वामीजी से कहा—"संस्कृत पढे बिना प्राकृत-भाषा के आगमो का अर्थ नही किया जा सकता।"

स्वामीजी ने कहा—"प्राकृत-भाषा का अभ्यास होने पर संस्कृत पढे बिना भी उसका अर्थ किया जा सकता है, अन्यथा संस्कृत पढ लेने पर भी नही किया जा सकता।"

पडित इस बात को मानने के लिए कतई तैयार नही हुआ तो स्वामीजी ने उसके झूठे घमड को तोड़ने के लिए पूछा —"पडितजी! तुम तो व्याकरण के अच्छे ज्ञाता हो, तो क्या आगमों का अर्थ कर सकते हो ?"

पडित ने गर्वभरी वाणी में कहा—"मजे से कर सकता हूँ, आपका हो तो पूछ कर देख लो।"

स्वामीजी ने तब पूछा—"कयरे मग्ग मक्खाया'—शास्त्र के इस वाक्य का क्या अर्थ है ?"

पण्डित ने थोडी देर सोचने के पश्चात् कहा—"यह तो कोई कठिन बात नहीं पूछी गई है। इसका अर्थ तो सीधा ही है कि कैर और मूंग मावत्त नही खाने चाहिए।"

स्वामीजी ने कहा—"इसका अर्थ तो यह है—"तीर्थंकरों ने मोक्ष-मार्ग कौन-कौन से कहे हैं ?" तब पण्डित के झूठे घमड का पर्दाफाश हो गया।[2]

जीवित हो !

स्वामीजी रात्रि के समय व्याख्यान दे रहे थे। सामने काफी सख्या में लोग बैठे हुए थे। पास में आसोजी बैठे हुए नीद लेने लगे। स्वामीजी ने उन्हें टोकते हुए कहा—"आसोजी! नीद ले रहे हो ?"

किसी सभा आदि में नींद लेते समय टोके जाने वालो के मुह से प्राय जो उत्तर अचानक निकल जाया करता है, ठीक उसे ही दुहराते हुए आसोजी ने कहा—"नही महाराज!"

थोडी देर पश्चात् वे फिर नींद लेने लगे तो स्वामीजी ने फिर टोका। उन्होने फिर वही बंधा हुआ उत्तर देते हुए कहा—"नही महाराज!"

यो जितनी बार उन्हें टोका गया उन्होंने हर बार यही उत्तर दिया। आखिर स्वामीजी ने उनके इस असत्य का उघाड करने के लिए उसी लहजे में पूछा—"आसोजी! जीवित हो ?"

उन्होने चट से कहा—"नहीं महाराज!"

उपस्थित लोग उनका उत्तर सुनकर हस पडे, तब वे सावधान हुए।[3]

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १९९

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २१८

३—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ४८

११ : गहरे व्यंग

स्वामीजी जहाँ उदाहरणों तथा दृष्टान्तो आदि से अपनी बात समझाते थे, वहाँ कभी-कभी उनकी बात में गहरा व्यग भी हुआ करता था। अपने छोटे से व्यंग में वे इतना कुछ कह जाते थे कि फिर और कुछ कह सकने को स्थान ही नहीं रह पाता था। अपनी बात को व्यंग की भाषा में वे प्राय तभी कहते जब कि उन्हें किसी की कटु भाषा का उत्तर मधुरता से देना होता, परन्तु उनकी वह मधुरता इतनी पैनी होती कि उससे कटुता स्वयं कट कर रह जाती। कभी-कभी उनकी व्यग-भाषा तब स्फुटित होती थी, जब कि संक्षेप में ही किसी का मुह बंद करना होता। किसी का झूठा विश्वास या गलत स्वभाव छुड़ाने में तथा वास्तविकता को भांपने के लिए भी वे व्यग का प्रयोग कर लिया करते थे।

दोनो सच्चे लगते है

स्वामीजी के समय में स्थानकवासी संप्रदाय में अनेक 'टोले' थे। 'बाईस टोले' तो पहले से ही थे। उस समय संभवत: वह संख्या और भी बढी हुई थी। उसमें परस्पर यहाँ तक विरोध चलता था कि वे एक दूसरे को साधु नही मानते थे। एक टोले का साधु दूसरे टोले में आता तो उसे नई दीक्षा दी जाती थी। इसी बात को लेकर किसी ने स्वामीजी से कहा—"अमुक-अमुक टोले वाले परस्पर एक दूसरे को 'झूठा' कह रहे थे।"

स्वामीजी ने अत्यन्त संक्षेप में कहा—"कथन की दृष्टि से तो दोनों ही सच्चे लगते हैं।"[१]

यह कला किससे सीखी ?

स्वामीजी एक बार अमरसिंहजी के स्थानक में पधारे। वहाँ दरवाजे के एकदम पास ही 'खेजडा' उगा हुआ देखकर स्वामीजी ने मुनि अमरसिंहजी से पूछा—"रात को परिष्ठापन आदि के लिए जाते समय इसकी दया कैसे पलती होगी ?"

पास में ही खडे उनके एक शिष्य ने मुह बनाकर स्वामीजी की नकल उतारते हुए उसी वाक्य को फिर से दुहराया तो स्वामीजी ने उसके ठहरते ही पूछा—"इस कला का अध्ययन तुमने स्वय ही किया या गुरु ने करवाया ?"

उसके गुरु अमरसिंहजी कटकर रह गये। शिष्य को वहाँ से चले जाने का कहते हुए उन्होंने स्वामीजी से कहा—"यह तो मूर्ख है, इसकी कही हुई बात मन में मत रखना।"[२]

दु:खी की रात

पीपाड में रात्रिकालीन व्याख्यान में जनता बहुत आती थी। विरोधी व्यक्ति उसका और कोई उपाय नही कर सके तो व्याख्यान में आ बैठते और बीच-बीच में टोक-टोक कर कहा करते—"समय बहुत हो गया है, रात सवा-पहर, डेढ-पहर आ गई है।"

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ७६

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ९३

स्वामीजी ने कई वार तो सुना, अंत में उन्हें वन्द होते नहीं देखा तो कहा—"हाँ, मैं जानता हूँ कि दुःखी आदमी को रात बड़ी ही मालूम हुआ करती है।"[१]

निःशंक ही अशुद्ध था

स्वामीजी जब स्थानकवासियों में थे तब एक दिन रुघनाथजी के साथ गोचरी गये। एक भाई चरखा लोढ रहा था। रुघनाथजी ने उसके हाथ से आहार लिया। वाहर आने पर उन्होंने स्वामीजी से पूछा—"भीखणजी! कोई शंका तो नहीं है?"

स्वामीजी ने अपने स्वभावानुसार वेधड़क कहा—"नहीं, इसमें शंका की कोई वात ही नहीं। यह तो निःशंक ही अशुद्ध था।"[२]

रुपयों के श्रावक

पाली में बहुत सारे व्यक्ति तेरापंथी बने तव विरोधियों ने यह प्रचार प्रारम्भ किया कि विजयचंदजी पटवा रुपये दे-देकर लोगों को तेरापंथी बना रहे हैं।

स्वामीजी ने जव यह वात सुनी तो कहा—"जब रुपयों के लिए तुम्हारे श्रावक तेरापंथी वन जाते हैं तो उन्होंने तुम्हारे मार्ग को क्या समझा? यदि ये सब रुपये लेकर ही समझे हैं तो किसी के अवशिष्ट रहने की आशा भी तुम्हें नहीं करनी चाहिए।"[३]

खोटा काम

पीपाड़ में स्थानकवासी साधु जीवणजी ने स्वामीजी से कहा—"साधु का भोजन करना भी अव्रत में है, अतः यह एक खोटा काम ही है।"

स्वामीजी साधु के भोजन को अव्रत में नहीं मानते थे, क्योंकि वह रस-लोलुपता या केवल शरीर-पोषण के लिए न होकर संयम-पोषण के लिए होता है। जीवणजी वाहर प्रायः स्वामीजी को मिल जाया करते थे, तब स्वामीजी उन्हें प्रायः पूछ लिया करते थे—"क्यों, जीवणजी! खोटा काम कर आये या जाकर करोगे?"

हमेशा यों पूछने पर उन्हें उत्तर देना भारी हो गया और आखिर एक दिन कहने लगे—"भीखणजी! साधु का आहार खोटा काम न होकर अच्छा काम ही है।"[४]

दिये हुए 'डाम'

पीपाड़ के एक भाई ने स्वामीजी के पास गुरु-धारणा की। उसके घर वालों को जब यह पता लगा तो वे सब तरह-तरह से उसे तंग करने लगे और धमकियाँ देने लगे। उनका कहना था कि यदि हमारे साथ सुख से रहना है तो भीखणजी के पास की गई गुरु-धारणा उन्हें वापिस दे आओ।

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १८

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ७८

३—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २३४

४—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ३

वह भाई तग आकर स्वामीजी के पास आया और कहने लगा—"स्वामीजी ! मेरे परिवार वाले मुझे बडी तकलीफ देते हैं, अत. आप गुरु-धारणा वापिस ले लें।"

स्वामीजी ने कहा—"तू ही बता, क्या भला दिये हुए 'डाम' (रोग-विशेष को ठीक करने के लिए शरीर के अवयव-विशेष को गरम की हुई लोह-शलाका से दागा जाता है, उसे 'डाम' कहते हैं) वापिस लिये जा सकते है ?"[1]

मोटे पुरुष अब भी खाते हैं

अपने आपको विरागी और तपस्वी मानने वाले अन्य सम्प्रदाय के एक साधु ने स्वामीजी से कहा—"साधु को लड्डू आदि मिठाई खानी नहीं कल्पती। उन्हें घी, दूध आदि पदार्थ भी खाने नहीं कल्पते। उन्हें कौन से बच्चे पैदा करने है जो ऐसी वस्तुएँ खाएँ।"

स्वामीजी बोले—"देवकी के पुत्रो ने मोदक (लड्डू) लिए थे—ऐसा आगमो में वर्णन आता है तब तुम कैसे कहते हो कि साधु को लड्डू खाना नहीं कल्पता।"

वह साधु—"वे तो मोटे पुरुष थे। उनकी क्या तुलना हो सकती है ?"

स्वामीजी—"जो मोटे पुरुष हैं वे अब भी खाते हैं।"[2]

मेरणियाँ और दीक्षा

कटालिया के एक भाई ने स्वामीजी से कहा—"मेरे दीक्षा के भाव तो हैं किन्तु माता के प्रति मोह होने के कारण, जब तक वे जीवित है, तब तक तो दीक्षा ली नहीं जा सकेगी।"

कुछ वर्षों पश्चात् जब उसकी माता गुजर गई तब स्वामीजी ने उससे पूछा—"दीक्षा के लिए तेरी भावना थी न ? अब तो तेरी माता भी गुजर चुकी है। फिर देरी किस लिए करता है?"

वह भाई बोला—"स्वामीजी ! माँ तो गुजर गई पर अब तो एक और अडचन लग गई है। मैं मगरे के ग्रामों में व्यापार किया करता हूँ। वहाँ 'मेर' बसते हैं। मेरा मोह कुछ मेरणियों से हो गया है। सोचता हूँ कुछ ठहर कर ही दीक्षा लूँ।"

स्वामीजी उसकी कमजोरी को लक्ष्य करके बोले—"माता तो एक ही थी, पर ये मेरणियाँ तो बहुत हैं। कब वे मरेंगी और कब तुझे दीक्षा आयेगी ?"[3]

नगजी का तत्त्व-ज्ञान

केलवा के नगजी नामक भाई अचक्षु थे। बुद्धि भी बहुत कम थी। वीरभाणजी वहाँ रहकर आये तब स्वामीजी से बोले—"नगजी को हमने सम्यक्त्वी बना दिया है।"

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ११९

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ७५

भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ४३

स्वामीजी ने कहा—"उसकी तो ऐसी बुद्धि ही नहीं थी। तुमने उसको क्या तत्त्व-ज्ञान सिखाया ?"

वीरभाणजी—" 'ओल्खणा थोरी भवि जीवाँ' यह ढाल और 'नंदन मणियारे का व्याख्यान' ।"

कुछ समय पश्चात् स्वामीजी जब केलवा पधारे तब नगजी भी दर्शन करने आये। स्वामीजी ने उनसे पूछा—"नगजी ! तुमने जो 'नंदन मणियारे' का व्याख्यान सीखा है, उसमें 'मणिया' सोने का है अथवा लकड़ी या रुद्राक्ष का ?"

नगजी—"स्वामीजी ! यह तो आगमों में आया है, अतः सोने का ही 'मणिया' होगा, लकड़ी या रुद्राक्ष का तो क्या होगा ?"

स्वामीजी ने फिर पूछा—" 'ओल्खणां' की ढाल में आया है—'सावधियां नै जड़णो चाल्यो' यहाँ ये 'वधियां' (वमनी) कौन-सी हैं ? गाड़ी—लुहारों वाली छोटी है अथवा स्थानीय लुहारों वाली बड़ी ।"

नगजी—"आगमों में आई हैं, अतः छोटी कैसे हो सकती है, ये तो बड़ी ही हैं ।"[1]

: ७ :

जीवन का संध्याकाल

सक्रिय जीवन

स्वामीजी का सारा जीवन एक सक्रिय व्यक्ति का जीवन था। विश्राम की न उन्हें कभी आवश्यकता महसूस हुई और न कभी उन्होंने उसे महत्त्व ही दिया। जीवन के संध्याकाल में भी पूर्ववत् युवकोचित साहस और सामर्थ्य से कार्य करते रहे। वृद्धावस्था उनकी कार्यक्षमता पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकी। जनपद-विहार, धर्म-प्रचार, आगमिक चर्चाएँ, शिष्यों को प्रशिक्षण देना आदि दैनिक कार्यों में उनकी दिन-चर्या अत्यन्त व्यस्त रहा करती थी।

दो पुस्तकों का भार

अपना कार्य प्रायः वे स्वयं अपने ही हाथों से किया करते थे। गोचरी के लिए प्रायः स्वयं जाया करते थे। विहार में अपनी निश्राय के भंडोपकरण तो वे अपने पास रखते ही थे, परन्तु उसके अतिरिक्त दो पुस्तकों का भार भी वे अपने पास रखते थे। पुस्तकों का वह लगभग पाँच सेर भार शिष्यों के अनेक बार आग्रह करने पर भी उन्होंने सं० १८५३ तक नहीं छोड़ा। उसके पश्चात् जब हेमराजजी स्वामी की दीक्षा हुई, तब बहुत आग्रह के बाद ही उन्होंने वह "बांगला' हेमराजजी स्वामी को दिया था।

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २२०

खड़े होकर प्रतिक्रमण

प्रात और सायकाल में वे प्रतिक्रमण भी खडे होकर किया करते थे। वे इस बात का पूरा ध्यान रखा करते थे कि हर अनुयायी अपने नेता का ही अनुकरण करता है। यदि नेता अपनी चर्या में थोडी-सी भी ढील करता है तो अनुयायी उस ढील को और भी वडे पैमाने पर करने लगते हैं। यदि नेता अधिक कठिनता से काम लेता है तो अनुयायी कम-से-कम एक मध्यम सीमा तक की कठिनाई को तो स्वीकार कर ही लेते है।

एक वार किसी ने स्वामीजी से कहा—"इस वृद्धावस्था में आप खड़े-खड़े प्रतिक्रमण क्यो करते हैं, वैठकर ही क्यों न कर लिया करते ?"

स्वामीजी ने उत्तर देते हुए कहा —"मैं जो वैठकर प्रतिक्रमण करूँगा तो मेरे पीछे वाले शायद सोकर करेंगे। मै यदि खडा-खडा करूँगा तो वे लोग कम से कम वैठकर तो अवश्य ही करेंगे।"[१]

सोया ही कौन था ?

उनके जीवन की सक्रियता का एक सर्वोत्कृष्ट उदाहरण यह कहा जा सकता है—एक वार पाली में रात्रिकालीन व्याख्यान देने के पश्चात् वे दो भाइयो से धर्म-चर्चा करने वैठे। चर्चा आगे से आगे वढती ही गई। रात्रि उसका साथ कहाँ तक दे पाती ? वह क्रमश घटती गई। यो प्रात कालीन प्रतिक्रमण की वेला आ गई। वे भाई भी वडे तत्त्व-जिज्ञासु थे कि रात्रि का इतना लम्वा समय उन्हें कुछ मालूम नही दिया। वे दोनों स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित तत्त्व को समझे और खडे होकर गुरु धारणा कर ली।

स्वामीजी ने उसके पश्चात् सन्तो को जगाते हुए कहा—"उठो, प्रतिक्रमण का समय हो गया है।" सन्त उठे और स्वामीजी से पूछने लगे कि आपको जागे कितनी देर हुई ?

स्वामीजी ने कहा—"सोया ही कौन था ? जागने का समय तो तव ही वतलाया जाए जव कोई सोया हो।"[२]

इस प्रकार उपकार के निमित्त सारी रात जगाने में भी वे किसी प्रकार का कष्ट अनुभव नहीं करते थे। पूर्वावस्था के इस प्रकार के जीवन ने वृद्धावस्था में भी उन्हें सक्रिय वनाये रखा था।

सिरियारी चातुर्मास

स्वामीजी ने संवत् १८५६ में पाली चातुर्मास किया था। उसकी पूर्ति पर वहाँ से चाणोद और पीपाड के मध्यवर्ती गामो को पवित्र करते हुए सोजत पधारे। वहाँ वाजार के वीच में छत्रियाँ हैं, उनमें विराजे। सन्त-सतियो ने भी भिन्न-भिन्न स्थानों से विहार कर सोजत में स्वामीजी के दर्शन किये और आगामी चातुर्मास के स्थानो का निर्देशन प्राप्त किया। वहाँ

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २१२

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० ५३

सिरियारी से आये हुए श्रावक हुकमचंदजी आछा ने स्वामीजी को सिरियारी चातुर्मास करने की प्रार्थना की। साथ ही बाजार में अपनी पक्की दुकान में विराजने की भी प्रार्थना की। स्वामीजी ने उनके आग्रह पर वहाँ का चातुर्मास स्वीकार कर लिया। सोजत से कंटालिया तथा बगडी होते हुए सिरियारी चातुर्मास करने के लिए पधारे और पूर्वोक्त पक्की हाट में विराजे।

उस चातुर्मास में स्वामीजी की सेवामें—(१) भारमलजी, (२) खेतसीजी, (३) उदयरामजी, (४) ऋषि रायचन्दजी, (५) जीवोजी और (६) भगजी—ये छह संत थे। स्वामीजी सहित यह सप्तर्षि-मडल सिरियारी के भाग्य-आकाश में एक अनुपम ज्योति लिए हुए आया। स्थानीय श्रावको में अत्यन्त उल्लास और हर्ष की एक लहर-सी दौड गई।

जयाचार्य के कथनानुसार सिरियारी उस समय मारवाड का एक अच्छा शहर गिना जाता था। जैन श्रावकों के भी वहाँ काफी सख्या में घर थे। शहर के अचल से बिल्कुल सटी हुई पर्वत-श्रेणी परकोटे की तरह उसकी सुरक्षा करती है। उस समय की मारवाड़ रियासत के किनारे पर का यह शहर काफी समृद्ध और सुन्दर शहरों की संख्या में आने वाला था। वहाँ के भूमिपति (ठाकुर) दौलतसिंह कूपावत थे, जो कि राठौर सरदारों में काफी प्रभावशाली गिने जाते थे।

यद्यपि इस समय सिरियारी में ओसवालो के बहुत थोडे घर रह गये है। प्रायः बहुत से परिवार व्यापारार्थ दक्षिण-भारत में जा बसे है। कुछ परिवार ऐसे भी हैं, जो यदा कदा मारवाड में आते हैं और अपने पुराने घरों का निरीक्षण कर जाते है। परन्तु उस समय वहाँ ओसवालो के नौ-सौ-इक्यासी घर थे, उनमें से सात-सौ इक्यासी घर तो तेरापन्थी और शेष दो सौ घर अन्य सम्प्रदायो की मान्यता वाले थे।[1]

अन्तिम चातुर्मास

स० १८६० का यह चातुर्मास स्वामीजी का अन्तिम चातुर्मास था। उस समय स्वामीजी की अवस्था सतहत्तर वर्ष की हो चुकी थी, फिर भी उनके शरीर में कोई रोग नहीं था। पाँचो ही इंद्रियाँ पूर्ण बलवान् और कार्य-क्षम थीं। उनकी चाल भी बडी तेज थी। उपयोग तीव्र और निर्मल था, शारीरिक शक्ति का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि उस अन्तिम चातुर्मास में श्रावणी पूर्णिमा तक तो वे रोज स्वय गोचरी पधारा करते थे और शिष्यों को आवश्यक-सूत्र का अर्थ लिख-लिखकर समझाया करते थे।

१—उपर्युक्त जानकारी यहाँ के वर्तमान निवासियों द्वारा प्राप्त हुई है। इस समय सिरियारी में केवल सैंतीस घर तेरापंथी हैं। उनमें भी दस घर प्रायः ऐसे होते हैं जो व्यापारार्थ बाहर गये होते हैं। अन्य संप्रदाय के घर भी बहुत कम हैं।

दस्तों की बीमारी

श्रावण महीने के पश्चात् स्वामीजी के शरीर में साधारण दस्तो की शिकायत रहने लगी। औषध-सेवन से भी रोग में कोई लाभ नही हुआ। सामने पर्युषण-पर्व के दिन आ गये थे। बिमारी की अवस्था में भी स्वामीजी तीनों समय—प्रभात, मध्याह्न और रात्रि में—धार्मिक उपदेश तथा व्याख्यान दिया करते, स्वयं गोचरी जाते और शौच के लिए भी बाहर ही जाते थे। उस समय तक रोग कोई खतरनाक नही लगता था और न किसी ने उसको भयानक समझा ही था।

मृत्यु का पूर्व आभास

भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी की बात है—स्वामीजी को अचानक ही ऐसा आभास होने लगा कि अब उनका आयुष्य निकट आ गया है। उन्हें लगा कि जैसे उनका शरीर ढीला पड़ गया हो। जीवन के प्रति वे जितने सजग थे, मृत्यु के प्रति भी उतने ही सजग थे। वीरता का जीवन जीकर वीरता की मौत मरना उनके लिए उपयुक्त ही था। जीवन को उन्होंने जिस प्रकार से आदर्श बना दिया था, अब मृत्यु को भी आदर्श बनाने का समय आ गया था। समय चूकने वाले वे थे ही कहाँ ? जीवन से जो सार खींच पाये थे उससे भी अधिक सार मृत्यु से खींच लेने का उनका निश्चय था। उनका निश्चय और अटल सत्य पर्यायवाची बन गये हो—ऐसा प्रतीत होता है। तत्काल उन्होंने अपनी मृत्यु की तैयारी प्रारम्भ कर दी।

शिष्यों की प्रशंसा

जन्म और मृत्यु– ये दोनों जीवन-नदी के किनारे हैं। नदी को लांघने वाले को किनारो से क्या मोह हो सकता है ? स्वामीजी न जीवन के प्रति आसक्त थे और न मृत्यु से भीत। मृत्यु की आसन्नता का आभास पाते ही अपने पास सेवा निमित्त बैठे हुए मुनि खेतसीजी से बिना ही किसी भूमिका के उन्होने कहा—"तुम, भारमल और टोकरजी बड़े सुविनीत शिष्यो के रूप में मुझे मिले। तुम लोगों ने मेरी बडी सेवा-भक्ति की। तुम लोगों के कारण से मेरे मन में बडी समाधि रही और संयम-पालन में मुझे बहुत सहायता मिली।"

इस प्रकार अपने गुणवान् शिष्यों की प्रशसा में उन्होंने कुछ शब्द कहे ही थे कि भारमलजी स्वामी आदि अन्य साधुओं का ध्यान भी उधर आकृष्ट हुआ, वे सब स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए। श्रावक-श्राविकाएँ भी स्वामीजी के शब्दों को सुनने के लिए एकत्रित हो गये।

अन्तिम शिक्षा

स्वामीजी ने उस समय बड़े मार्मिक शब्दों में साधुओं को शिक्षा दी। वह उनकी अन्तिम शिक्षा थी। उसका सार इस प्रकार है :

"जिस तरह तुम लोग मुझे बहुमान देते रहे और मेरे प्रति विश्वास रखते रहे, उसी तरह भारमल के प्रति भी रखना। यह संघ के सारे सन्त-सतियों का नाथ है, अतः इसकी आज्ञा का आराधन करना। किसी मर्यादा या आज्ञा का भग मत करना।

"भारमल की आज्ञा का उल्लघन कर जो व्यक्ति गण से पृथक् हो जाए, उसे साधु मत समझना। जो इसकी आज्ञा का आराधन करे और सुविनीत हो, उसकी सेवा करना। यह जिन-मार्ग की रीति है।

"भारमल को गण का भार निभाने के योग्य समझकर ही मैंने आचार्य पदवी दी है। इसकी प्रकृति बडी भद्र है। इसमें शुद्ध साधु की चाल है और इसकी नीति भी चारित्र-परक है। इसमें किसी को कोई शंका का स्थान नही है।

"शुद्ध आचारवान् साधुओ की संगति करना और अनाचारियों से दूर रहना। अरिहंत और गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करने वाले स्वच्छन्द व्यक्तियो को वंदन-योग्य मत समझना। उसन्नो, पासत्थों, कुशीलियो, प्रमादियों और अपछन्दों की संगति का भगवान् ने ज्ञाता आदि अनेक सूत्रों में निपेध किया है। उपासकदशांग में आनन्द श्रावक के अभिग्रह का जो वर्णन है, उसके परमार्थ को समझकर इस वात का पालन करना। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाएँ—सवको इस रीति का सुचारु रूप से पालन करना चाहिए।

"सारे साधु-साध्वियों को परस्पर में विशेप प्रीतिभाव रखना चाहिए। एक दूसरे के प्रति राग-द्वेप मत करना और न कभी दलवन्दी करना। दलवन्दी करने वाला अविनयी एकल विहारी से भी बुरा होता है।

"यदि कोई दीक्षा लेना चाहे तो पहले उसके मन की विराग-भावना की परीक्षा करके दीक्षा देना। हर किसी को मूडकर संख्या वढाने के लालच में मत पड़ जाना।

"सूत्र की कोई वात समझ में न आये तो उसे लेकर खीचतान मत करना, मन में धैर्य रखकर उसे केवलियों पर छोड़ देना।

"किसी वोल (वात) की स्थापना गुरु की अनुमति के विना स्वच्छन्द मति से मत करना।

"एक-दो-तीन आदि कितने ही व्यक्ति गण से पृथक् क्यों न हो जाएं, परन्तु उनकी कोई परवाह न करते हुए शुद्धता से साधु-आचार का पालन करते जाना।

"सव एक गुरु की आज्ञा में रहना। इस मर्यादा को परम्परा के रूप में मानते हुए निभाना। जो लिखित-मर्यादाएँ पहले की हुई हैं, उन्हें पूर्ण रूप से पालन करना।

"कोई साधु दोप-सेवन कर झूठ वोले और प्रायश्चित न ले तो उसे गण से पृथक् कर देना।"[1]

स्वामीजी का यह उपदेश धार्मिक होने के साथ-साथ इतना आकस्मिक था कि सुनने वालों को वडा आश्चर्य हुआ। भारमलजी स्वामी आदि ने स्वामीजी से पूछा—"क्या आपके शरीर में कोई विशेप तकलीफ है ?"

१—भिक्खु-जश-रसायण ढाल ५५

स्वामीजी ने कहा —"नहीं, चालू तकलीफ के अतिरिक्त कोई नई तकलीफ नहीं है, परन्तु मुझे लगता है कि मेरा आयुष्य अब नजदीक है, इसलिए यह अन्तिम शिक्षा दी है। मुझे मृत्यु का तनिक भी भय नहीं है। मेरे हृदय में परम आनन्द है कि मैंने सत्यतापूर्वक जिनेश्वरदेव के मार्ग को बतलाया है, अनेक व्यक्तियों के हृदय में सम्यक्त्व का बीजारोपण किया है। अनेकों को बारह व्रत ग्रहण कराये हैं और अनेको को संयम-मार्ग में प्रव्रजित किया है। तत्त्वज्ञान-विषयक मैंने जो पद्य-रचनाएं की है, वे सब सूत्र-न्याय के अनुसार है। उनके पीछे कोई अभिनिवेश नही है। शुद्ध अन्त करण से मुझे जैसा ज्ञात हुआ, वैसा ही मैंने कहा है। मैं अपने को कृतकृत्य मानता हूँ। मेरा मन पूर्णरूप से शान्त है, किसी प्रकार की अशान्ति या कमी का अनुभव नही करता।"

अपने विषय में इतना कहने के पश्चात् स्वामीजी ने फिर साधुओ को शिक्षा देते हुए कहा —"तुम लोगों से मेरा यही कथन है कि स्थिर-चित्त होकर भगवान् के मार्ग का अनुसरण करना। दुर्बुद्धि और कदाग्रह को दूर छोडकर आत्मा की उज्ज्वलता हो, वैसा कार्य करते रहना। शुद्धाचार की आराधना में कभी भी जरा भी मत चूकना। समिति, गुप्ति और महाव्रतों का सावधानीपूर्वक पालन करना। शिष्य-शिष्याओं पर तथा वस्त्र आदि उपकरणो पर किसी प्रकार का ममत्व मत रखना। प्रमाद को सदा दूर करना। पुद्गल-आसक्तियों में मत फंसना। सयम में शुद्ध मन से अनुरक्त रहना।"[1]

स्वामीजी की यह अन्तिम हित-शिक्षा थी। इसमें उनके सपूर्ण जीवन के बहुमुखी अनुभवों का सार भरा हुआ है। स्वामीजी ने अपने जीवनरूपी समुद्र को मथकर जो अमृत प्राप्त किया था, यह अतिम शिक्षा उसी की एक घूंट थी, जो सघ की तरुणिमा को अमरता प्रदान करने में समर्थ हुई।

१—थे पिण थिर चित्त थापी जी, प्रभु पंथ पालजो।
कुमति कलेश नैं कापी जी, आतम उजवालजो ॥६॥
वले स्वामी सीख दै सारोजी, सहु संता भणी।
आराधजो आचारो जी, मत चूकौ अणी ॥९॥
सखरी पांच सुमति जी, गुप्त गुणी धरौ।
दय सत शील सुदत जी, ममता मत करौ ॥११॥
शिष शिषणी पर सोयो जी, उपग्रण ऊपरै।
मुर्छा न कीजौ कोयो जी, प्रमाद नैं परहरो ॥१२॥
पुदगल ममत प्रसंगो जी, तन मन सूं तजी।
संजम सखर सुचंगो जी, भल भावै भली ॥१३॥ (भिक्खु जश रसायण ढा० ५६)

: ८ :

महाप्रस्थान की तैयारी

आलोचना

स्वामीजी को अपनी मृत्यु का जब से पूर्व आभास हुआ, तभी से वे अपने महाप्रस्थान की तैयारी में लग गये। उनका चारित्रिक जीवन यद्यपि बहुत निर्मल था, फिर भी छद्मस्थता के कारण ज्ञात-अज्ञात भाव से किसी प्रकार का दोष लगा हो तो वे उसकी आलोचना कर लेना चाहते थे। इसी भावना से आत्मस्थ होकर उन्होंने अरिहन्त व सिद्धों की साक्षी से आत्म-आलोचना की।[1]

क्षमा-याचना

उसके पश्चात् उन्होंने छद्मस्थतावश अपनी ओर से यदि कोई अमैत्रीभाव द्योतक-व्यवहार हो गया हो तो उसके लिए समस्त प्राणि-वर्ग से शुद्ध अन्तःकरणपूर्वक क्षमा-याचना की। चंद्रभाणजी, तिलोकचंदजी आदि जो गण से पृथक् हो गये थे उनका तथा जिन व्यक्तियों के साथ अनेक बार शास्त्रार्थ करने का काम पड़ा था—उन सबका विशेष नामोल्लेख करते हुए स्वामीजी ने क्षमा-याचना की। अपने संघ के साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविकाओं को भी शिक्षा देते समय कुछ कठोर वचन कह दिये हों तो उसके लिए भी क्षमा-याचना की। इस प्रकार निर्मल चित्त से अपने संपूर्ण जीवन का सिंहावलोकन करते हुए उन्होंने अपने आपको सद्यः स्नात की तरह विशद बना लिया।

अब इस देह से क्या मोह ?

भाद्रपद शुक्ला पंचमी का दिन सांवत्सरिक पर्व का दिन था। समस्त श्रमण-श्रमणी वृंद के लिए इस दिन का उपवास अनिवार्य होता है। इस उपवास में चारों ही प्रकार के आहार का वर्जन होता है। इस निर्जल उपवास में स्वामीजी को प्यास का परीषह रहा, परन्तु उन्होंने उसे समचित्त से सहन किया।

षष्ठी के दिन अतिस्वल्प भोजन से पारणा किया तथा औषध भी ली, परन्तु तत्काल वमन हो गया। स्वामीजी ने उस दिन के लिए तीनों आहारों का परित्याग कर दिया। खेतसीजी स्वामी ने अनुनय भरे शब्दों में उपालंभ देते हुए कहा—"आपको इस प्रकार झट से आहार-त्याग नहीं करना चाहिए।" किन्तु स्वामीजी ने कहा—"अब इस देह से क्या मोह है ? अब तो इसे क्षीण करते हुए वैराग्य बढाना है।"

१—वेणीरामजी स्वामी विरचित भिक्खु चरित (ढा० ८) के अनुसार स्वामीजी ने अरिहन्त, सिद्ध तथा भारमलजी स्वामी और सतजुगी (खेतसीजी स्वामी) की साक्षी से यह आत्मालोचन किया था।

नवमी के दिन स्वामीजी ने आजीवन अनशन का विचार किया, परन्तु खेतसीजी स्वामी ने अत्यन्त आग्रह-पूर्वक उनके हाथ से कुछ आहार लेने की प्रार्थना की। स्वामीजी ने अपने विनीत शिष्य के आग्रह को सम्मान देते हुए उनके द्वारा लाये गये भोजन में से थोडा-सा चखकर उस दिन के लिए भी आहार का परित्याग कर दिया।

अन्तिम भोजन

दशमी के दिन स्वामीजी ने फिर अनशन का विचार प्रकट किया, परन्तु भारमलजी स्वामी ने अपने हाथ से उन्हें अन्तिम रूप से कुछ देने का आग्रह किया। विनय-शीलता के मूर्त्तरूप अपने शिष्य की इस अभिलाषा को स्वामीजी कैसे ठुकराते ? उन्होंने गिनती कराकर चालीस चावल और दस मोठ उनके हाथ से लिए और उनके उपरान्त उस दिन के लिए भी आहार-परित्याग कर दिया।

दो दिन का उपवास

एकादशी के दिन उन्होने पहले से ही यह स्पष्ट कर दिया कि मेरा विचार आहार लेने का नहीं है। दस्तो की बीमारी थी, अत औषधि रूप में आवश्यकता होने पर अमल और पानी का आगार रखकर उस दिन के लिए फिर आहार का परित्याग कर दिया।

द्वादशी के दिन जल के अतिरिक्त तीनो आहारों का परित्याग कर बेला किया। इस प्रकार शरीर की ओर से औदासीन्य धारण कर पौद्गलिक सुखों को ठुकराते हुए स्वामीजी अनशनपूर्वक देह-विसर्जन की तैयारी करने लगे।

पराक्रम क्षीण पड़ रहा है

मध्याह्नोत्तर काल में स्वामीजी कच्चीहाट से स्वय चलकर उसके सामने वाली पक्कीहाट में आये। शिष्यो ने बिछौना कर दिया, उस पर वे शान्तिपूर्वक विश्राम करने लगे। विश्राम करते कुछ ही समय हुआ होगा कि इतने में बाल साधु ऋषि रायचंदजी ने पास आकर कहा—"स्वामिन् ! कृपा कर दर्शन दीजिये। यह सुनकर स्वामीजी ने अपने नेत्र खोले और बाल साधु की ओर देखते हुए उनके मस्तक पर अपना हाथ रखा। ऋषि रायचन्दजी अवस्था में बालक ही थे, किन्तु बडे समझदार थे। स्वामीजी की शारीरिक हालत देखकर उन्होंने कहा—"स्वामिन् ! अब तो आपके शरीर का पराक्रम क्षीण पड रहा मालूम होता है।"

यह बात सुनते ही स्वामीजी उसी प्रकार उठ बैठे जैसे कोई सोया हुआ सिंह जागकर उठ बैठता है। वे अपने शरीर का सार खीच चुके थे, अब वह उनके लिए असार रह गया था। जब तक वह सयम-जीवन में सहायक होता रहा, तब तक वे उसका अनासक्त भाव से पालन करते रहे और जब वह सहायक होने में अशक्त मालूम देने लगा तो वे उसी अनासक्त भाव से उसे विसर्जित करने को तैयार हो गये। स्वामीजी की दृष्टि मे शरीर एक खेत था, जिस पर

तप-संयम की खेती बोई गई थी। अब वह पूर्ण रूप से पक चुकी थी। उसे काटकर धान्य एकत्रित करने का और शिलोञ्छ का कार्य ही अवशिष्ट था, जो कि संलेखना और संथारे के द्वारा किया जा रहा था।

आजीवन-अनशन

स्वामीजी ने तत्काल ऋषि भारमलजी और खेतसीजी को अपने पास बुलाया। याद करते ही दोनों संत स्वामीजी के पास उपस्थित हुए। उनके आते ही स्वामीजी ने अरिहन्त तथा सिद्ध भगवान् को 'नमोत्थुणं' के पाठ से वंदन किया और श्रावक-श्राविकाओं के सम्मुख ऊँचे स्वर से यावज्जीवन के लिए तीनों आहार का प्रत्याख्यान कर 'संथारा' कर दिया।

संतों ने कहा—"दस्तों की गड़बड़ थी, अतः औषध के रूप में अमल का तो आगार रख लिया होता।"

स्वामीजी ने उत्तर दिया—"अब आगार किस लिए रखना था? अब कौन-सी शरीर की रक्षा करनी है?"

स्वामीजी ने 'संथारा' भाद्रपद शुक्ला द्वादशी सोमवार को सायंकाल में किया था। उस समय लगभग दो घड़ी दिन था। संथारे की बात हवा की तरह चारों ओर फैल गई। आस-पास के गाँवों के लोग दर्शन के लिए उमड़ पड़े। भीड़ इतनी हो गई थी कि बाजार में लोग समा नहीं पा रहे थे।

अनशनकाल में अनेक प्रकार के त्याग-प्रत्याख्यान कर लोगों ने अपनी सक्रिय श्रद्धा-ञ्जलियाँ स्वामीजी को अर्पित कीं। इस संथारे का प्रभाव स्वामीजी के अनुयायियों पर तो हुआ ही था, किन्तु अनेक उन व्यक्तियों पर भी हुआ, जो जन्म-भर स्वामीजी के द्वेषी रहे थे। जनता आश्चर्य-चकित होकर उनके तपोमय जीवन के सामने श्रद्धावनत हो रही थी।

व्याख्यान दो

सूर्यास्त होने के पश्चात् स्वामीजी ने सायंकालीन प्रतिक्रमण किया और उसके पश्चात् ऋषि भारमलजी से बोले—"व्याख्यान दो।"

ऋषि भारमलजी ने कहा—"स्वामिन्! जब कि आपके 'संथारा' है तो यह रात्रि-कालीन व्याख्यान अपने आप में क्या विशेषता रख सकता है?"

स्वामीजी ने कहा—"किसी साधु-साध्वी के 'संथारा' करने पर तो उसके पास जाकर धर्मोपदेश किया जाता है, फिर मेरे संथारे के समय ऐसा क्यों न हो?"

स्वामीजी की इस आज्ञा को शिरोधार्य कर सुविनीत शिष्य भारमलजी ने धर्मोपदेश किया। स्वामीजी ने उसे बड़ी तल्लीनतापूर्वक सुना। इस प्रकार स्वामीजी जीवन के अवशिष्ट समय को पूर्णरूपेण स्वाध्याय और ध्यान में खपा देना चाहते थे।

दर्शनोत्सुक जनता

द्वादशी की रात्रि व्यतीत हुई और त्रयोदशी का सूर्य अनन्त सभावनाओ का प्रकाश लिए उदित हुआ। यह दिन स्वामीजी के भौतिक शरीर के लिए अन्तिम दिन था। ज्यों-ज्यों 'सथारे' के समाचार आगे-से-आगे पहुँचे त्यों-त्यो जनता उमडी हुई चली आई। स्वामीजी के अन्तिम-दर्शन के लिए सिरियारी में मेला-सा लग गया।

एक प्रहर दिन चढ जाने के पश्चात् स्वामीजी ने कुछ जल ग्रहण किया। श्रावक-श्राविकाएँ तथा साधु पास में बैठे हुए थे और स्वामीजी के मुखारविन्द को देखकर परम प्रसन्नता का अनुभव कर रहे थे। स्वामीजी ध्यानावस्थित होकर परिणामों की निर्मलता को क्रमिक विकस्वर करते जा रहे थे।

अदृष्ट का आभास

लगभग डेढ प्रहर दिन चढा होगा कि सबको आश्चर्यचकित कर देने वाली एक घटना घटित हुई। स्वामीजी ने साधुओ को कहा—"साधु और साध्वियाँ आ रही है, उनके सामने जाओ।"[1]

स्वामीजी के द्वारा अचानक कही हुई उस बात पर विशेष ध्यान नही दिया गया। जिन्होने थोडा बहुत ध्यान दिया, उनका निष्कर्ष यह रहा कि स्वामीजी सभवतः इस समय पूर्ण सचेत अवस्था में नहीं हैं। उनका ध्यान साधुओ में लगा हुआ है, इसीलिए वे ऐसा कह रहे है।

स्वामीजी के उस कथन को एक मूहूर्त समय भी नही हो पाया था कि दो साधु—मुनि वेणीरामजी और कुसालजी वहाँ पहुँचे।[2] उसके एक मुहूर्त पश्चात् ही तीन साध्वियाँ—वखतूजी, झूमाजी और डाहाँजी वहाँ पहुँची।

आये हुए साधु-साध्वियो ने स्वामीजी को वन्दन किया, तब उसे स्वीकार करते हुए स्वामीजी ने हाथ के सकेत से सब को सुख-पृच्छा की। साधुओ के मस्तक पर हाथ रखा। दो अगुलियाँ आँखो की ओर उठाकर वेणीरामजी स्वामी से उनकी आँखों की गडबड के बारे में साता पूछी। यद्यपि उनकी बोलने की शक्ति क्षीण हो गई थी फिर भी सावधानी पूर्ण रूप से बनी हुई थी।

साधु-साध्वियो के इस अप्रत्याशित आगमन ने सभी को आश्चर्याभिभूत बना दिया। जिन्होंने स्वामीजी के कथन का यह निष्कर्ष निकाला था कि वे असावधान-अवस्था में कुछ कह रहे है, उन्हें अपना निश्चय यह मानना पडा कि स्वामीजी को अवश्य ही अदृष्ट का आभास हुआ है।

१—वेणीरामजी स्वामी के कथनानुसार स्वामीजी ने उस अन्तिम अवसर पर चार बातें कहीं थीं। वे इस प्रकार हैं—(१) गांव में त्याग-तपस्या करवाओ (२) साधु आ रहे हैं, सामने जाओ (३) आर्याएं आ रही हैं (४) चौथी बात अत्यन्त धीमे स्वर से कही गई थी, अतः सुनी नहीं जा सकी। (वेणी० भि० च० १०-९, १०)

२—ये दोनों साधु पाली से आये थे। (वेणी० भि० च० ११-दो०१)

यद्यपि स्वामीजी ने जो कुछ कहा था, वह सब यथावत् मिल गया। फिर भी इस ओर किसी का ध्यान नहीं गया कि स्वामीजी को पूछकर यह निश्चित कर लिया जाये कि उन्होंने जो बातें कही थीं, वे किसी विशिष्ट ज्ञान के आधार पर कही थीं अथवा साधारण अनुमान के आधार पर। वेणीरामजी स्वामी जो कि उस समय स्वामीजी के पास थे, इस विषय में कहते है—"लगता है कि अपनी अन्तिम अवस्था में स्वामीजी को अवधि-ज्ञान उत्पन्न हुआ था। परन्तु स्वामीजी से पूछा नहीं गया, इसलिए निश्चित तो केवली ही जानते हैं।"[1]

महाप्रस्थान

स्वामीजी को लेटे हुए काफी देर हो गई थी, अतः उनकी बैठने की इच्छा होने पर साधुओं ने सहारा देकर उन्हें बिठाया। वे ध्यानासन में बैठे थे। साधु-समूह उनके पास में बैठा था। ऐसा लग रहा था मानों उनके शरीर में कोई रोग नहीं है, परन्तु उस ध्यान-मुद्रा में बैठे-बैठे ही अचानक स्वामीजी के आत्म-प्रदेश खिंचे और वे शान्तिपूर्वक देह-मुक्त हो गये।

जयाचार्य ने उस विषय का वर्णन करते हुए लिखा है—"लोग कहते है कि दरजियों ने बैकुंठी तैयार करके इधर सुई अपनी पाग में डाली और उधर स्वामीजी का स्वर्गवास हो गया।" उस समय लगभग डेढ़ पहर दिन अवशिष्ट था। संवत् १८६० भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी मंगलवार के दिन सिरियारी में स्वामीजी दिवंगत हुए। साधुओं ने स्वामीजी के शरीर को 'वोसराया' और चार लोगस्स का ध्यान किया। उस दिन के लिए आहार का भी सबने परित्याग किया।[2]

जयाचार्य के शब्दो में स्वामीजी एक मणिधारी पुरुष थे। उन जैसा समाधि-पूर्ण महाप्रस्थान भी विरल मनुष्यों का ही होता है। स्वामीजी का जीवन एक सफल मनुष्य का जीवन था। उन्होने जिस कार्य को अपने कर्मठ हाथों में लिया, उसे पूर्ण करके ही छोड़ा। जैन-शासन में वे एक प्रकाश बन कर आये और अपनी दीप्ति के द्वारा भ्रान्त जन को सन्मार्ग दिखा गये। कृतकृत्य स्वामीजी का जीवन लाखों व्यक्तियों के लिए प्रेरणा स्रोत बन गया।

१—छेहड़े स्वाम भिक्खु तणै, अवधि उपनो जणाय।
निश्चै तो जाणै केवली, ताण न करवी ताय॥ (वेणी० भि० च० ११-दो० ४)

२—साधां तन वोसिराय नै, चिउं लोगस चित्त धार।
कियो तदा शुद्ध काउसग, अरु तिण दिन तज आहार॥ (भि० ज० र० ६२-दो० २)

स्वामीजी के समय में सायंकालीन गोचरी का निषेध था, अतः दोनों समय का आहार मध्यान्ह की गोचरी से ही लाया जाता था। उपर्युक्त गाथा के कथनानुसार स्वामीजी के दिवंगत होने पर संतों ने उस दिन के लिए आहार का प्रत्याख्यान कर दिया था। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि सायकालीन भोजन के लिए लाये गये आहार का उस दिन परिष्ठापन किया गया था। यह भी सम्भव है कि उस दिन स्वामीजी के संथारे के उपलक्ष्य में साधुओं ने एकाशन किया हो, ऐसी स्थिति में सायंकाल के लिए आहार लाने और फिर उसके परिष्ठापन की बात संभव नहीं होती।

: ६ :

ज्ञातव्य-विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

(१) जन्म सवत्— १७८३ आषाढ शुक्ला त्रयोदशी

(२) द्रव्य-दीक्षा सम्वत्—१८०८ मार्ग-शीर्ष कृष्णा द्वादशी

(३) बोधि-प्राप्ति सवत् १८१५

(४) भाव-दीक्षा सवत्—१८१७ आषाढ पूर्णिमा

(५) स्वर्गवास संवत्— १८६० भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी

महत्त्वपूर्ण स्थान

(१) जन्म-स्थान— कटालिया

(२) द्रव्य-दीक्षा-स्थान— बगडी

(३) बोधि-प्राप्ति-स्थान— राजनगर

(४) भाव-दीक्षा-स्थान— केलवा

(५) स्वर्गवास-स्थान— सिरियारी

आयुष्य-विवरण

(१ गृहस्थ— २५ वर्ष

(२) स्थानकवासी साधु—८ वर्ष

(३) तेरापन्थ के आचार्य—४४ वर्ष

(४) सर्व आयु— ७७ वर्ष

शरीर का गठन

स्वामीजी का शरीर दीर्घ, बलवान् और श्यामवर्ण का था। चाल तेज थी। आँखें विशाल, तेजस्वी और कुछ रक्तिमा लिए हुए थी। मुख-मुद्रा सौम्य और सुन्दर थी। वाणी में मधुरता और आकर्षण था। शब्द प्रचंड और गम्भीर घोष-युक्त था।

विशिष्ट शारीरिक चिह्न

उनके शरीर पर अनेक ऐसे चिह्न थे, जो कि सामुद्रिक-शास्त्र के अनुसार शुभ कहे जाते हैं। जयाचार्य ने उन चिह्नों का उल्लेख इस प्रकार किया है·

श्री भिक्षु नां पग जीमणा में, अर्द्ध रेखा जाणिये।
जीमणा हाथे मच्छ रेखा, मच्छाकार वखाणिये॥
वलि जीमणा कर पास पऊन्चे, तीन रेख मणिवन्ध री।
द्वय हाथ नी दस अगुलीये, दसों चक्र अछे वरी॥

नाड-ग्रीवा तेह में त्रय, रेख लम्बी ही सही।
लिलाड में पिण तीन रेख जु, लम्बो ते बहु शुभ कही॥
द्वय कर्ण ऊपर केस जाके, पेट पर रेखा त्रयी।
वलि पेट ऊपर सुंडी पासे, स्वतिका आकार ही॥
फुन पेट ऊपर ध्वजा को, आकार लिखियो आम्न ही।
तस फल वरस द्वय सहस्र परिमित, नाम जग विख्यात ही॥
इत्यादि शुभ लक्षण घणां, श्री भिक्षु नैं तन ना लिख्या।
देखि[1] नैं अनुसार तेह नैं, इहां पिण तिमहिज आख्या॥[2]

जन्म-कुंडली

स्वामीजी की जन्म-कुंडली का विवरण जयाचार्य ने निम्नलिखित गाथाओं में दिया है :

मीन लग्न, लग्ने तम गुरु, तृतीय भृगु पंचम रवि बुध।
भौम छट्ठे शिखि सप्तम, दशमें चन्द्र एकादशम शनि शुद्ध॥
मूल प्रथम तूर्य पाद में, हरख्यो सहु परिवार।
भीखण नाम दियो भलो, कर उत्सव विस्तार॥[3]

इनके अनुसार जन्म-कुंडली की ग्रहस्थिति का अंकन यों होता है :
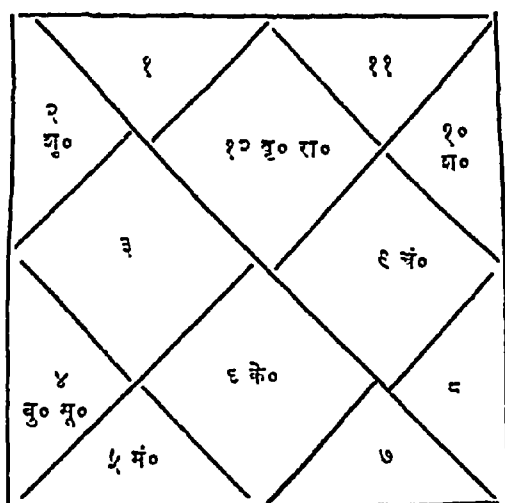
१—उपर्युक्त कथन से जाना जाता है कि जयाचार्य ने स्वामीजी के शरीर के वे शुभ लक्षण कहीं पर लिखे देखे थे और तदनुसार ही उन्हें यहाँ उद्धृत किया है।

२—शासन-विलास

३—शासन-विलास

विहार-क्षेत्र

स्वामीजी का विहार-क्षेत्र राजस्थान ही था। उस समय राजस्थान एक प्रान्त के रूप में न होकर पृथक्-पृथक् रियासतों के रूप में था और वहाँ विभिन्न राजाओं का राज्य था। उस समय के राज्यों के अनुसार मेवाड़, मारवाड, ढूंढाड और हाडोती—ये चार राज्य ही प्रमुखतया स्वामीजी के विहार-क्षेत्र रहे थे। एक बार किसी कार्य-विशेष के लिए वे थली में भी पधारे थे। थली (बीकानेर-रियासत) में वे चूरू तक ही पधारे थे और थोड़े ही दिन रहकर पुनः मारवाड में पधार गये थे।

चातुर्मास

स्वामीजी ने गृहस्थावास का परित्याग करने के पश्चात् बावन चातुर्मास किये। उनमें से आठ चातुर्मास तो आचार्य रुघनाथजी के शिष्य-रूप में किये और शेष चौवालीस चातुर्मास तेरापन्थ के आचार्य-रूप में। उन सबका विवरण इस प्रकार है :

स्थानकवासी साधु के रूप में

स्थान[1]	चातुर्मास-संख्या	संवत्
मेड़ता	१	१८०९
सोजत	१	१८१०
जेतारण	१	१८११
बलूंदा	१	१८१२
बागोर	१	१८१३
सादड़ी (शाह की)	१	१८१४
राजनगर	१	१८१५
नागोर	१	१८१६

तेरापंथ के आचार्य के रूप मे

केलवा	६	१८१७,२१,२५,३८,४६,५८
बरलू	१	१८१८
सिरियारी	७	१८१९,२२,२९,३९,४२,५१,६०

१—द्रव्य-दीक्षा-कालीन चातुर्मासों की इस तालिका में कुछ नाम पहले-पीछे लिखे भी मिलते हैं। जैसे कई पत्रों में संवत् १८११ का चातुर्मास बलूंदा और १२ का जेतारण लिखा मिलता है तथा कई पत्रों में संवत् १८१३ का चातुर्मास सादड़ी और १४ का बागोर लिखा मिलता है।

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
राजनगर	१	१८२०
पाली	७	१८२३,३३,४०,४४,५२,५५,५६
कंटालिया	२	१८२४,२८
खेरवा	५	१८२६,३२,४१,४६,५४
बगड़ी	३	१८२७,३०,३६
माधोपुर	२	१८३१,४८
पीपाड़	२	१८३४,४४
आमेट	१	१८३५
पादू	१	१८३७
नाथद्वारा	३	१८४३,५०,५६
पुर	२	१८४७, ५७
सोजत	१	१८५३

ग्रन्थ-रचना

स्वामीजी ने लगभग अड़तीस हजार श्लोक-प्रमाण साहित्य की रचना की थी। ये रचनाएं प्रायः रागिनी-पूर्ण कविताओं के रूप में हैं और कुछ गद्य रूप में भी हैं। स्वामीजी की रचनाओं में से कुछ तत्त्व-विश्लेषणात्मक, कुछ आचार-विवेचक, कुछ शिक्षात्मक, कुछ आख्यानात्मक तथा कुछ स्तवन आदि प्रकीर्ण रूप में हैं[1]। स्वामीजी के इस विभिन्न विषयक साहित्य को 'भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर' नाम से एक जगह संकलित कर दिया गया है।

शिष्य-संपदा

स्वामीजी के शासनकाल में उनके अतिरिक्त एक सौ चार व्यक्तियों ने दीक्षा ग्रहण की। जिनमें अड़तालीस साधु और छप्पन साध्वियाँ थीं। जब स्वामीजी दिवंगत हुए, उस समय इकीस साधु और सत्ताईस साध्वियाँ संघ में विद्यमान थीं[2]।

१—स्वामीजी विरचित साहित्य का विशेष परिचय प्राप्त करने के लिए देखें प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड का "तेरापन्थ का साहित्य" शीर्षक परिच्छेद।

२—'शासन प्रभाकर' में भारमलजी स्वामी का जीवन प्रारम्भ करते हुए कहा है :

तिण समये भिक्खु स्वामनां, संत इकवीस सुहाय।
विद्यमान वलि साधवी, अट्ठावीस रहाय॥

तृतीय परिच्छेद

आचार्य श्री भारमलजी

: १ :

गृहि-जीवन

आर्थिक-स्थिति

आचार्य श्री भारमलजी स्वामी तेरापन्थ-सघ के द्वितीय आचार्य थे। उनका जन्म वि० सवत् १८०४[1] में राजस्थान के उदयपुर डिवीजन (मेवाड) के 'मुंहा' ग्राम में हुआ था। यह ग्राम भीलवाडा के पास ही वसा हुआ है। उनके पिता का नाम 'किसनोजी' और माता का नाम 'धारणी' था। वे ओसवाल जाति में लोढा गोत्र के थे। किसनोजी की आर्थिक-स्थिति बहुत ही कमजोर थी, अत· आपका वाल्यकाल प्राय अभाव और गरीबी में ही बीता। गरीबी सदा अभिशाप ही नही होती, वह कही वरदान भी बन जाती है। भारमलजी स्वामी के जीवन में जो सरलता, निर्भीकता और निराभिमानता थी, वह सम्भवत उस गरीबी के जीवन की ही सद्गुणात्मक परिणति थी।

अनबींधे कान

गृहस्थ-जीवन की अपनी उस गरीबी को एक बार आचार्य-अवस्था मे उन्होने ऐसे सहजभाव से व्यक्त किया था, जैसे कि वह उनके लिए कभी किसी प्रकार से गोपनीय थी ही नही। वह घटना इस प्रकार है·

राजस्थान में प्राय: बालकों के कान बिंधाये जाते हैं अत· एक भाई ने जब भारमलजी स्वामी के कान अनबींधे देखे, तो पूछ लिया कि आपके कान क्यो नही बींधे गये ? इस पर उन्होंने कहा—"कान बिंधाने का उत्सव मनाया जाता है और उस समय अपने परिवार के व्यक्तियो को भोजन कराया जाता है। हमारे घर की स्थिति इतना व्यय करने की नही थी, इसलिए मेरे कान अनबींधे ही रह गये।"

१—जन्म संवत् कहीं १८०३ मिलता है। 'शासन प्रभाकर' में 'अठोरै तीनरा साल में' कहा है, किन्तु जयाचार्य विरचित 'भिक्खु गुण वर्णन' नामक संकलन की अठारहवीं ढाल में 'संवत् अठारै चोकै समै, भारीमाल उतपन्न' ऐसा लिखा है। सम्भव है यह अन्तर पंचांग और जैन परिपाटी के संवत् बदलने में भेद होने से सम्बन्धित हो। जन्म-मास तथा तिथि उपलब्ध नहीं हुए। परन्तु उपर्युक्त अनुमान ठीक हो तो यह चैत्र शुक्ला नवमी से आषाढ पूर्णिमा के बीच का समय हो सकता है।

: २ :

द्रव्य-दीक्षा में

दीक्षा-ग्रहण

बाल्यावस्था में ही भारमलजी स्वामी की रुचि धर्म की ओर झुक गई थी। लगभग दस वर्ष की अवस्था में वे अपने पिता किसनोजी के साथ बागोर में स्वामी भीखणजी के द्वारा दीक्षित हुए।[1]

बाल-साधु भारमलजी स्वामी प्रारम्भ से ही बड़े विवेकी और विनयी होने के साथ-साथ बुद्धिमान् भी थे। स्वामीजी की देख-रेख में वे प्रतिदिन आचार-व्यवहार की शिक्षा लेते हुए और शास्त्राध्ययन करते हुए एक सुयोग्य शिष्य के रूप में प्रगति करने लगे। लगभग चार वर्ष तक वे स्थानकवासी सम्प्रदाय में रहे और स्वामीजी के साथ द्रव्य-दीक्षा का पालन करते रहे।

स्वामीजी के प्रति अटूट श्रद्धा

स्वामीजी के प्रति उनके हृदय में बहुत दृढ विश्वास था। वे उन्हें अपनी जीवन-यात्रा के दिग्-दर्शक मानकर चलते थे। किसी भी प्रकार से स्वामीजी के वचन का उल्लघन करना उन्हें अपने जीवन में ध्येय से च्युत होना-सा प्रतीत होता था। उनका धर्मानुराग किसी भी प्रकार से कृत्रिम अथवा प्रदर्शन मात्र नही था, किन्तु आन्तरिक हृदय की भक्ति का परिणाम था, जो कि आजीवन क्रमशः बढ़ती हुई ही रही थी। स्वामीजी भी उनके विनयी स्वभाव से बहुत तुष्ट थे। वे उनके सहज गुणो में एक होनहार व्यक्तित्व की सूचना पाते थे।

१—हेमकृत भारीमाल चरित में कहा है—'दशमा वर्ष रै आसरै, भिक्खु गुरु मिल्या आण, (ढा० १-४) तथा जयाचार्य ने 'भिक्खु जश रसायण' में सं० १८१५ राजनगर चातुर्मास में स्वामीजी के साथ जाने वाले साधुओं का नामोल्लेख करते हुए भारमलजी स्वामी के सम्बन्ध मे कहा है—'दीक्षा दी निज हाथ' (ढा० २-५)। इन दोनो उद्धरणों से सिद्ध होता है कि भारमलजी स्वामी को द्रव्य-दीक्षा भी स्वामीजी ने ही दी थी। पर 'शासन प्रभाकर' (ढा० ४-३,४) के अनुसार सं० १८१३ में रुघनाथजी ने पिता और पुत्र दोनों को दीक्षित कर स्वामीजी का शिष्य बनाया था।

: ३ :

विकट समस्या और उसका समाधान

भावदीक्षा से पूर्व

दीक्षाग्रहण किये अभी चार वर्ष भी पूरे नहीं हो पाये थे कि बाल साधु भारमलजी स्वामी के सामने एक विकट समस्या उत्पन्न हो गई थी। उस समस्या से पार होने के लिए उन्हें अपने पिता किसनोजी और गुरु स्वामी भीखणजी में से किसी एक को चुन लेना आवश्यक हो गया था। उन्होंने उनमें से स्वामी भीखणजी को ही चुना, पर उस निर्णय की रक्षा के लिए उन्हें अपने प्राणों की भी बाजी लगा देनी पड़ी थी। तेरह-चौदह वर्ष के बालक का वह साहस अत्यन्त आश्चर्यकारी था।

भारमलजी स्वामी के सामने वह विकट-समस्या तब पैदा हुई, जब स्वामी भीखणजी स्थानकवासी साधु-संघ से अपना सम्बन्ध तोड़ चुके थे और एक सुमर्यादित तथा सुसंगठित नवीन संघ की कल्पना को आकार देने का निर्णय कर चुके थे।

बीलाड़ा मे

उस समय स्वामीजी विहार करते हुए 'बीलाड़ा'[1] में आये थे। भाव-दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व पारस्परिक चर्चाएँ चालू थीं। स्वामीजी के विचारों से प्रभावित साधु बड़े उत्साह से कार्य में जुटे हुए थे और अनेक महत्त्वपूर्ण निर्णय किये जा रहे थे।

१—भारीमाल चरित (१-६) में इसका नाम 'भीलोड़ा' तथा भिक्खु-दृ० (२०२) में 'भीलाड़ा' लिखा है। अतः इससे 'भीलवाड़ा' नाम का भी भ्रम उत्पन्न हो सकता है। पर यहाँ यह 'भीलवाड़ा' (मेवाड़) न होकर 'बीलाड़ा' (मारवाड़) ही हो सकता है, क्योंकि यह घटना स्थानकवासियों से पृथक् होने के पश्चात् और नई दीक्षा लेने से पूर्व की है। उस समय के अन्तर्गत स्वामीजी 'भीलवाड़ा' गये ही नहीं थे, यह सुनिश्चित है। पृथक् होने और भाव-संयम ग्रहण करने के मध्यवर्ती काल के स्वामीजी के विहारक्षेत्रों का यद्यपि पूरा तथा क्रमिक वर्णन नहीं मिलता, फिर भी विभिन्न स्थलों पर उनके विभिन्न क्षेत्रों में जाने का जो उल्लेख मिलता है, उसके संधान से उनके विहार की एक क्रमिक रूपरेखा बनाई जा सकती है। वे उल्लेख इस प्रकार हैं—भिक्खु जश-रसायण में बगड़ी से बरलू जाने का उल्लेख है, 'शासन-प्रभाकर' में जोधपुर जाने का उल्लेख है और भिक्खु दृ० में 'भीलाड़ा' का निर्देश है। इनके संधान से उनके उस विहार की रूपरेखा यों बनती है—बगड़ी से बरलू, वहाँ से जोधपुर; वहाँ से 'बीलाड़ा' और फिर वहाँ से कांठे के विभिन्न गाँवों में होते हुए चातुर्मास के समय 'केलवा' पधार गये। इस विहार-क्रम से यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त क्षेत्र 'बीलाड़ा' ही था।

स्वामीजी स्वभावत' ही अत्यत जागरूक व्यक्ति थे। उस संक्रमणकाल में तो वे और भी अधिक सजगता से कार्य कर रहे थे। हर बात और हर व्यक्ति के मूल तक पैठकर ही वे किसी विषय में कोई निर्णय किया करते थे, और फिर उस निर्णय के अनुसार कार्य करने में जुट जाते थे। भावी संघ के सभावित सदस्यो के आचार-विचार को सूक्ष्म दृष्टि से देख लेने के साथ-साथ प्रत्येक सदस्य की प्रकृति-विषयक अनुकूलता-प्रतिकूलता की भी परीक्षा कर लेना उनकी सावधान-दृष्टि के लिए आवश्यक था। जब उन्होंने अपने साथी सतो की प्रकृति का अध्ययन प्रारभ किया तो पाया कि भारमलजी स्वामी के पिता किसनोजी उपयुक्त व्यक्ति नहीं है।

किसनोजी के विषय मे विचार

किसनोजी प्रकृति के बडे कठोर तो थे ही, रस-लोलुप भी थे। सरस और नीरस आहार में सम-बुद्धि तो दूर रही, पर कभी-कभी व्यावहारिकता का भी लोप कर देते थे। इसीलिए वे अनेक बार अपने साथियो के असमाधि का कारण भी बन जाते थे[1]। समवतः अपनी इन प्रकृतिगत कमजोरियो के कारण ही वे द्रव्य-दीक्षा ग्रहण करने के कुछ समय पश्चात् ही स्वामीजी से अलग विहार करने लग गये थे। यही कारण था कि किसनोजी न तो राजनगर चातुर्मास में स्वामीजी के साथ थे और न ही स्थानकवासी साधु-सघ से पृथक् होते समय। उनको पृथक् होने के समाचार बाद में ही मिले थे, अतः वे कुछ समय पश्चात् ही स्वामीजी से सम्मिलित हो सके थे।

बीलाड़ा में स्वामीजी ने जब सारे साधुओं की प्रकृति का गहराई से अध्ययन किया और किसनोजी को अपने साथ रखने योग्य नहीं पाया तो उन्होंने यह बात भारमलजी स्वामी को बतलाई। उन्होने स्पष्ट कर दिया कि मैं किसनोजी को साथ लेने योग्य नहीं समझता। अत तुम कहाँ रहना चाहते हो, यह अपनी इच्छानुसार सोच लो।

भारमलजी स्वामी ने अविचलित भाव से कहा—"उनके विषय में आप जैसा उचित समझें वैसा करें, किन्तु मैं तो आपके ही साथ रहना चाहता हूँ।"

स्वामीजी ने तब किसनोजी को बुलाया और अपने विचार बतलाते हुए कहा—"हम सब शुद्ध-सयम पालने के दृष्टिकोण से एकत्रित हुए है, परन्तु इस समय जो स्थिति विरोधी-व्यक्तियों के द्वारा उत्पन्न कर दी गई है, उसे देखते हुए लगता है कि इस पवित्र कार्य में भी हमारे लिए पग-पग पर बाधाएँ उपस्थित की जाएँगी। हमें सहिष्णु बनकर उन सब बाधाओं को सहना होगा, तभी अपने कार्य में सफलता पा सकेंगे। ऐसी स्थिति में तुम स्वयं अपनी प्रकृति के विषय में सोच सकते हो। मैंने जहाँ तक तुम्हारी प्रकृति का अध्ययन किया है, वहाँ तक इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि तुम विरोधी स्थितियो के अवसर पर अपने को नियन्त्रित नहीं रख सकते। साधारण स्थिति में भी तुम्हारी प्रकृति दूसरों के लिए असमाधि का कारण बन जाती है। तुम इस पर भविष्य में विजय पा लोगे—ऐसा विश्वास नहीं हो पा रहा है, अत मैं तुम्हें अपने साथ ले सकने में असमर्थ हूँ।

1—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २०२

किसनोजी का क्रोध

स्वामीजी की उस दो टूक वात से किसनोजी तत्काल ही अपने स्वभावानुसार बड़े क्रुद्ध हुए और कहने लगे कि तुम स्वार्थी हो, तुम केवल अपना काम निकालना चाहते हो, परन्तु मैं इतना मूर्ख नहीं हूँ कि अपने पुत्र को तो तुम्हारे पास छोड दूँ और मैं अकेला इस बुढापे में निस्सहाय होकर भटकता फिरू । तुम तो मुझे न घर का रहने देना चाहते हो और न घाट का। परन्तु मैं ऐसा नही करने दूँगा । मुझे साथ में रखोगे तभी भारमल यहाँ रह सकेगा, अन्यथा मैं उसे अपने साथ ले जाऊँगा ।

सहर्ष ले जा सकते हो

स्वामीजी ने बड़े धैर्य-पूर्वक किसनोजी को समझाते हुए कहा —"तुम इतने गर्म क्यो हुए जा रहे हो ? मैं तुम्हारे पुत्र को भुला-फुसलाकर कभी नहीं रखना चाहता । मैं उसे सयम-मार्ग के योग्य समझता हूँ, इसलिए वह यहाँ मेरे पास रहकर साधना करे तो मुझे प्रसन्नता होगी । परन्तु मैं तुम्हें इस मार्ग के योग्य नहीं समझता, इसलिए तुम्हें अपने साथ रखकर अपने मार्ग में और अधिक कठिनाइयाँ उत्पन्न करना नही चाहता । तुम अपने पुत्र को मेरे पास छोडना नही चाहते, तो मैं उसे वल-पूर्वक तो रख ही नही सकता । वह तुम्हारे साथ जाना चाहे तो तुम सहर्ष उसे ले जा सकते हो, मैं उसमें वाधक नही वनूंगा ।"

दूसरे स्थान पर

स्वामीजी की उन ठढी वातो से किसनोजी का क्रोध और भी उग्र हो गया । वे उठे और अपने तथा वालक साधु भारमलजी के भण्डोपकरण समेट कर ले आये । यद्यपि भारमलजी स्वामी ने उनके इन कार्यो में कोई रस नही लिया फिर भी वे उनके पास आकर कहने लगे—"चल, हम अव इनके साथ नही रहेंगे ।"

भारमलजी स्वामी नही उठे तो किसनोजी ने डांटते हुए कहा—"उठता है कि नही ? तुझे मेरे साथ चलना होगा । किसी भी हालत में मैं तुझे यहाँ नहीं छोड़ूँगा ।"

भारमलजी स्वामी फिर भी नहीं उठे तब किसनोजी ने उनका हाथ पकडा और प्रायः घसीटते हुए-से उन्हें वाहर ले गये । वे किसी दूसरे स्थान में जाकर ठहर गये ।

एक सत्याग्रह

भारमलजी स्वामी उस अप्रत्याशित घटना से वड़े खिन्न हुए । वे किसी भी हालत में स्वामीजी से पृथक् रहना नही चाहते थे । उनके सामने उस समय वस्तुत· एक धर्म-संकट उपस्थित हो गया था । एक ओर साधना का पवित्र मार्ग था तो दूसरी ओर पिता । दोनो में से किसी एक को ही चुनने की स्थिति उनके सामने थी । उन्होंने उनमें से साधना-मार्ग को ही चुना । उस चुनाव में पिता वाधक वन रहे थे, अत एक साधक के रूप में उनके लिए यह आवश्यक था कि पिता आदि के किसी भी स्नेह-बधन को वे अपने मार्ग में वाधक न वनने दें । उन्होने वैसा ही किया ।

वे उस समय बालक ही थे, किन्तु परिस्थितियों की गम्भीरता को अच्छी तरह समझते थे। वे जानते थे कि इस समस्या को अभी नहीं सुलझाया गया तो फिर बाद में सुलझाना और भी कठिन हो जाएगा। पिता के साथ तो क्या अन्य किसीके साथ भी झगड़ना या विवाद करना उनकी प्रकृति के सर्वथा प्रतिकूल था। वे पिता के हृदय-परिवर्त्तन के लिए अहिंसा का ही प्रयोग करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने किसनोजी द्वारा लाये गये आहार-पानी का यावज्जीवन के लिए परित्याग कर दिया।

उस प्रतिज्ञा से किसनोजी चिंतित तो हुए ही, साथ-ही-साथ क्रुद्ध भी हुए, परन्तु उस समय बोलना उचित न समझ कर मौन रहे। उन्होंने सोचा कि भूख लगेगी तब अपने आप खा लेगा। अभी से बात को खींचकर पक्का क्यों किया जाए ?

वह प्रतिज्ञा भारमलजी स्वामी ने किसी भावावेश में आकर नहीं की, किन्तु समझ-बूझ-कर की थी। बाल्यावस्था में ही वे कितने दृढ़ और कितने साहसी थे—उपर्युक्त प्रतिज्ञा उसका एक ज्वलंत उदाहरण है। 'भारीमाल-चरित' में उस प्रतिज्ञा को 'अभिग्रह' कहा गया है। वर्त्तमान की भाषा में हम उसे 'सत्याग्रह' कह सकते हैं। उस समय की परिस्थिति में उनके सामने इस 'अभिग्रह' या 'सत्याग्रह' के अतिरिक्त और कोई अहिंसक मार्ग हो भी क्या सकता था।

आगम में साधु को छह कारणों से आहार-परित्याग करने का आदेश दिया है।[1] उनमें दूसरा कारण 'उवसग्ग' है, अर्थात् यदि संयम में किसी प्रकार का उपसर्ग उत्पन्न होता देखे तो आहार-परित्याग द्वारा उसका सामना करे। ओघ-निर्युक्तिकार द्रोणाचार्य कहते हैं—"यदि स्वजन-परिवार का कोई व्यक्ति उसे संयम-मार्ग से पृथक् करने के लिए उपसर्ग करता हो तो साधु निराहार रहकर उस स्थिति का सामना करे।"[2] भारमलजी स्वामी ने यही शास्त्रानुमोदित मार्ग अपना कर अपनी अहिंसा की साधना का परिचय दिया।

किसनोजी का प्रयास

किसनोजी ने जो अनुमान लगाया था, वह गलत निकला। भारमलजी स्वामी ने उस दिन बार-बार आग्रह किये जाने पर भी न तो आहार किया और न पानी ही पिया। इसी प्रकार दूसरा दिन भी निराहार व्यतीत हो गया। किसनोजी ने नरम और गरम दोनों ही प्रकार से

१—आयंके उवसग्गे, तितिक्खया बंभचेर गुत्तीए।
पाणदया तवहेउं सरीर वोच्छेयणट्ठाए॥ (उत्त० २६-३५)

२— स्वजनः यदि उन्निष्क्रमणार्थं उपसर्गं करोति ततो न भुङ्क्ते। (ओघ निर्युक्ति)

उन्हें समझाने का बहुत-बहुत प्रयास किया, परन्तु उन पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। जब तीसरे दिन[1] भी उन्होने किसनोजी की बात नही मानी, तब वे हताश हो गये।

अहिंसक उपक्रम का प्रभाव

भारमलजी स्वामी के उस मूक और अहिंसक उपक्रम का प्रभाव धीरे-धीरे किसनोजी पर छाने लगा। भूखे और फिर भी शान्त तथा स्वाध्याय-रत बाल साधु के सामने आहार करने में उन्हें स्वय लज्जा का अनुभव होने लगा। वे आत्म-ग्लानि से इतने भर गये कि क्रोधी प्रकृति होने के बावजूद भी उन्हें अपनी कमियाँ दिखाई देने लगी। वे जितना अधिक सोचने लगे, उतना ही अधिक उनके सामने साफ होने लगा कि अब इसे समझा कर या धमका कर अपने साथ नहीं रखा जा सकता।

फिर स्वामीजी के पास

आखिर बालक की सहज-दृढता और अहिंसा-वृत्ति के सामने किसनोजी को झुकना पड़ा। वे भारमलजी स्वामी को साथ लेकर स्वामीजी के पास आये और सारी घटना सुनाते हुए कहने लगे—"मेरे साथ जाने के बाद से ही इसने भोजन-पानी का परित्याग कर रखा है। आज तीसरा दिन हो रहा है तो भी यह अपने आग्रह को नहीं छोड़ता, तब मैं देखता हूँ कि इसका मन आपके साथ रहने का ही है। आप इसे रखिये।"

स्वामीजी भारमलजी स्वामी की उस दृढता से अत्यन्त प्रभावित हुए। अपने प्रति उनकी मानसिक भक्ति की प्रबलता देखकर तो वे गद्‌गद हो गये। उन्होंने उनको अपने पास रखना सहर्ष स्वीकार कर लिया। उसके पश्चात् आहार-पानी लाकर उन्हें 'पारण' करवाया गया। भारमलजी स्वामी की प्रसन्नता का तो कोई ठिकाना था ही नही, परन्तु स्वय स्वामीजी भी उन्हें पाकर बहुत प्रसन्न हुए।

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० (२०२) में कहा गया है—"तीजो दिन आयो जद घणी मनुहार करवा लागो। जद भारमलजी स्वामी कह्यो—थांरा हाथ रो आहार करवा रा जावजीव त्याग है।" इस कथन के अनुसार प्रथम दो दिन निराहार रहने के पश्चात् तीसरे दिन अभिग्रह किया गया था। परन्तु अन्यत्र प्रथम दिन ही अभिग्रह कर लेने की बात कही गई है। जो कि इस प्रकार है :

अभिग्रह कियो इण रीत सु, भारीमाल करी भारी।
दोय दिन आखा निकल्या, अडिग रह्या गुणधारी॥ (भारी० च० १-१०)
भारीमाल पिता नै भाखै, किसनोजी री काण नहीं राखै।
थारा हाथ तणो अन्न पाण, म्हारै जावजीव पचखाण॥
भारीमल अभिग्रह कियो भारी, दिन दोय निसर्‌या तिवारी।
रह्या सुरगिर जेम सधीरा, हलुकर्मी अमोलक हीरा॥ (भि० ज० र० ६—११,१२

किसनोजी की व्यवस्था

किसनोजी ने स्वामीजी से कहा—"आप भाव-दीक्षा ग्रहण करने जा रहे हैं, उससे पूर्व मेरी भी कुछ व्यवस्था करते जाइये ताकि मैं इस बुढ़ापे में किसी एक जगह जमकर रह सकूं।"

स्वामीजी ने उनकी वह बात स्वीकार कर ली। वे उस विषय को लेकर आचार्य जयमलजी से मिले और किसनोजी को उन्हें शिष्य रूप में सौंप दिया।

आचार्य जयमलजी—जैसे कि पहले कहा जा चुका है, स्वामीजी के विचारों के समर्थक थे। परिस्थितिवश स्वामीजी का साथ देने में यद्यपि उन्होंने अपनी विवशता व्यक्त की थी, फिर भी उनकी सहानुभूति तो स्वामीजी के साथ ही थी। सम्भवत यही कारण था कि उन्होंने स्वामीजी द्वारा अयोग्य समझ कर सौंपे गये शिष्य को भी अपने संघ में स्थान दे दिया। यद्यपि प्रत्यक्ष-सहयोग वे नहीं कर सके थे, पर उस प्रकार का परोक्ष-सहयोग तो उनका तथा उनके साधु-समुदाय का प्राय. चलता ही रहा।

तीन घरों में 'बधामणा'

उपर्युक्त घटना को लेकर आचार्य जयमलजी ने अपने स्वभावानुसार सहज-हास्य करते हुए स्वामीजी के लिए बड़े ही आत्मीय भाव से कहा था—"भीखणजी बड़े चतुर व्यक्ति हैं, उन्होंने एक ही काम से तीन घरों में 'बधामणा' कर दिया। हमने समझा कि एक शिष्य बढ़ गया, किसनोजी ने समझा कि स्थान जम गया और स्वयं भीखणजी ने समझा कि चलो, बला टल गई।"[1]

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २०२

: ४ :

सर्प का उपसर्ग

साधना के धनी

भारमलजी स्वामी बाल्यावस्था से ही बडे निर्भय थे। जितनी तीव्र उनकी अहिंसा-वृत्ति थी, उतनी ही तीव्र निर्भयता भी थी। वस्तुत· अहिंसक को अकुतोभय होना ही चाहिए। अतर आत्मा में जमी हिंसक-वृत्ति का एक पार्श्व आक्रमण है, तो दूसरा भय। स्वय अभय हुए बिना दूसरों को अभय नही दिया जा सकता। अभय को अहिंसा-साधना की कसौटी कहा जा सकता है। भारमलजी स्वामी की अहिंसा-साधना को इस कसौटी पर कसा जाए तो कहा जा सकता है कि वे बहुत ही उत्कृष्ट साधना के धनी थे।

पैरो मे सर्प

स्वामीजी जब स० १८१७ में अपना प्रथम चातुर्मास करने के लिए केलवा मे गये थे, तब उन्हें ठहरने के लिए 'अंधेरी ओरी' मिली थी। जनता उस स्थान को भूत आदि अदृश्य शक्तियो से अभिभूत मानती थी। भारमलजी स्वामी स्वामीजी के साथ ही वहाँ रहे थे। उस समय उनकी अवस्था केवल चौदह वर्ष की थी।

दिन के समय तो वहाँ किसी प्रकार का कोई विघ्न उपस्थित नही हुआ, किन्तु सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् वहाँ एक उपसर्ग उत्पन्न हुआ। बाल साधु भारमलजी स्वामी जब परिष्ठापन (लघु-शका-निवृत्ति) के लिए बाहर गये तो वापिस आते समय द्वार के सामने ही एक सर्प उनके पांवो में लिपट गया। चलना सभव नही था, हो-हल्ला मचाना उपयुक्त नहीं था, अत: वे वहीं-के-वहीं खडे रह गये, निश्चल, निर्भय और मौन। चौदह वर्ष के बालक की यह अभय-वृत्ति आश्चर्य-जनक थी। ऐसी परिस्थिति मे धैर्य को बनाये रखना किसी युवा या वृद्ध के लिए भी सहज नही होता। वस्तुत· अभय का सम्बन्ध अवस्था से नही, किन्तु मानसिक वृत्ति से ही अधिक होता है।

बाहर क्यों खड़े हो ?

स्वामीजी ने उन्हें बाहर 'अछाया' में खडा देखा तो कहा—"भारमल ! अन्दर आ जाओ, बाहर क्यों खडे हो ?"

भारमलजी स्वामी ने कहा—"भगवन् ! सर्प-जाति ने पैरो में आंटे दे रखे हैं, कैसे आऊँ ?"

परिस्थिति की कठोरता को भांपते हुए स्वामीजी तत्काल वहाँ आये और 'णमुक्कार-मन्त्र' तथा 'मंगल-पाठ' का उच्चारण कर कहने लगे—"देवानुप्रिय ! यदि तुम कोई देव-जाति के हो और तुम्हारा कोई यहाँ स्थान है तथा तुम यह चाहते हो कि हम यहाँ न रहे तो हमें स्पष्ट जतला दो। तुम्हारी आज्ञा के बिना हम यहाँ रहना नही चाहेंगे। पर इस तरह का उपसर्ग उपयुक्त नही है।"

स्वामीजी के उन शब्दो के साथ ही सर्प स्वय ही वहाँ से हट गया और भारमलजी स्वामी को लेकर स्वामीजी अन्दर आ गये।

अर्ध रात्रि के पश्चात्

स्वामीजी को लगा कि इस स्थान के विषय में लोगो में जो भय की भावना बनी है, वह बिल्कुल निष्कारण तो नहीं है। इसीलिए उस प्रथम रात्रि मे उन्हें विशेष जागरूक रहने की आवश्यकता प्रतीत हुई। अन्य सब साधुओं के सो जाने के पश्चात् भी वे धर्म-जागरण करने मे लगे रहे।

कहा जाता है कि लगभग अर्धरात्रि व्यतीत होने के पश्चात् कोई कहने लगा—"आगे के लिए आपको कोई उपसर्ग नही होगा। आनन्द से आप यहाँ रहिये। किन्तु इतना-सा ध्यान रखने की आवश्यकता होगी कि प्रात.काल सर्प के द्वारा खींची गई एक रेखा आपको मिलेगी उसके इस ओर कोई साधु परिष्ठापन न करें।"

स्वामीजी ने उसकी इस बात को स्वीकार कर लिया। उसके पश्चात् वह श्वेत वस्त्र-धारी व्यक्ति कुछ देर और ठहरा। फिर अन्तर्धान हो गया।

प्रात:काल के प्रतिक्रमण और प्रतिलेखन से निवृत्त होने के पश्चात् स्वामीजी ने सब साधुओ को रात की यह बात बतलाई और उस रेखा को देखकर उसके इस ओर परिष्ठापन आदि क्रियाओ की मना ही कर दी।

सभी प्रभावित

लोगो को जब रात्रिकालीन सर्प की घटना और भारमलजी स्वामी की निर्भीकता का पता चला तो वे सब बडे प्रभावित हुए। धीरे-धीर उनकी द्वेष-बुद्धि की उग्रता क्षीण होती गई और अनुकूलता पनपती गई। भारमलजी स्वामी की अभय-वृत्ति ने उन सबके मन में अहिंसा का वह बीज बोया, जो कि अकुरित होकर बडा फलदायी निकला। केलवा को तेरा-पथ का प्रथम क्षेत्र बनने का सौभाग्य प्राप्त करने में भी बाल-साधु भारमलजी स्वामी का वह निर्भीक साहस काफी सहायक बना था।

: ५ :

एक आदर्श शिष्य

प्रथम प्रयोग-क्षेत्र

भारमलजी स्वामी एक आदर्श शिष्य के रूप में स्वामीजी को प्राप्त हुए थे। स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट कार्य को वे अपनी ओर से परिपूर्ण करने का सदैव प्राणपण से प्रयास किया करते थे। स्वामीजी भी अपनी किसी विशेष आज्ञा का प्रयोग पहले-पहल भारमलजी स्वामी पर ही करके देखा करते थे।

साधारण को न तो कसौटी बनाया जा सकता है और न ही उसे कसौटी पर चढाने की आवश्यकता होती है। ये दोनो कार्य विशिष्ट के लिए ही होते है। साधारण पत्थर कसौटी नहीं बन सकता तो साधारण धातु को भी कसौटी पर चढाने की आवश्यकता नही होती। जिस तरह थोडी सी चोट या दबाव से काच चूर-चूर हो जाता है, उसी तरह अधीर पुरुष भी थोडे से दबाव या निर्देश से घबरा उठते है। ऐसे समय में तो हीरे की तरह घन की चोटो को भी सहजाने वाला धीर पुरुष चाहिए।

स्वामीजी को एक ऐसा ही हीरा भारमलजी स्वामी के रूप में प्राप्त हुआ था। वे अपने निर्देशों, अनुभवों तथा मर्यादाओं की उपयोगिता को कसकर देखने के लिए उन्हें अपना प्रथम प्रयोग-क्षेत्र मानते थे।

विशेष सावधान

वे स्वामीजी के प्रमुख शिष्य थे, फिर भी उन्हें कोई विशेष छूट या सुविधा प्रदान नही की गई थी। अपितु उस स्थिति में उन्हें औरों से अधिक सावधानी और उपयोगिता से बरतना पडता था। दूसरो की छोटी-मोटी असावधानी जहाँ साधारण रूप मे गिन ली जा सकती थी, वहाँ उनकी वही असावधानी स्वामीजी की दृष्टि में असाधारण होती थी।

वे ऐसी असावधानी करते भी नही थे कि उन्हें सावधान करने की कभी आवश्यकता पडे। फिर भी स्वामीजी अपने प्रमुख शिष्य को आचार-विशुद्धि में प्रमुख ही नही, अनन्य भी देखना चाह तेथे। अनेक बार सम्भावित गलतियो के लिए उनपर दड लगा दिया जाता था। वे उन सारे निर्देशों को अपने हित के लिए समझकर वहन करने में कभी पीछे नही हटते थे।

एक दंड

एक बार स्वामीजी ने उन पर यह प्रतिबन्ध लगाया था कि यदि कोई व्यक्ति तुम्हारी ईर्या-समिति की गलती निकाले तो तुम्हें दंड-स्वरूप एक 'तेला' (तीन दिन का उपवास) करना पडेगा।

भारमलजी स्वामी ने कहा—"भगवन्। द्वेषी-जन बहुत हैं, अत सम्भव है कि कोई द्वेष-वश झूठमूठ ही गलती बतलाने लगे।"

स्वामीजी बोले—"यदि तुम्हारी गलती हो तो तुम उसके प्रायश्चितस्वरूप तेला कर देना और यदि किसी ने द्वेष-वश झूठी ही गलती निकाली हो तो अपने पूर्व-कर्मों का उदय समझकर तेला करना, किन्तु तेला तो हर हालत में करना ही है।"

भारमलजी स्वामी ने आगे कुछ भी तर्क-वितर्क किये विना उस आज्ञा को शिरोधार्य किया, यह थी उनकी विनीतता और इस बात के लिए उन्हें जीवन-भर में एक भी तेला नहीं करना पड़ा, यह थी उनकी सावधानी।[१]

एक त्याग

स्वामीजी से वे इतने अभिन्न हो गये थे कि कई बार उनको विना कुछ पूछे ही स्वामीजी उन्हें सीधा त्याग करा देते थे और वे भी कोई ननुनच किये विना यों स्वीकार कर लेते थे मानों उस विषय पर उनसे पहले ही विचार-विमर्श कर लिया गया हो।

एक बार भारमलजी स्वामी लेखनी करवाने के लिए स्वामीजी के पास आये। वे बाल्यावस्था से ही लिखा करते थे, पर लेखनी प्रायः स्वामीजी के पास से करवाया करते थे। स्वामीजी सदा स्वावलम्बन के ही पोषक रहे थे, अतः उस छोटी-सी बात के लिए उनका यह परावलम्बन उन्हें अखरता था। सम्भवतः अनेक बार ऐसे अवसर भी आये होंगे कि स्वामीजी किसी कार्य में व्यस्त रहे हों, अतः लेखनी करने का उन्हें समय न मिला हो और केवल इसी एक कारण से भारमलजी स्वामी को अपना लेखन स्थगित रखना पड़ा हो।

स्वामीजी इस क्रम को कहकर भी बन्द कर सकते थे, पर उससे तो केवल शिष्य की आज्ञाकारिता ही स्पष्ट होती। उन्होंने जिस प्रकार से इस क्रम को रोका, वह वस्तुतः भारमलजी स्वामी के विनीत-भाव और श्रद्धा-भाव की परीक्षा भी थी।

स्वामीजी ने लेखनी हाथ में ली और विना कुछ भूमिका के ही भारमलजी स्वामी से कहा—"आज से तुझे दूसरे के पास से लेखनी करवाने के त्याग है।" उसी दिन से उनका वह परावलम्बन समाप्त हो गया। वे अपनी लेखनी स्वयं करने लग गये।[२]

स्वामीजी स्वावलम्बन के कितने पक्ष पाती थे, यह इस त्याग कराने की घटना से स्पष्ट हो जाता है। स्वामीजी ने स्वयं दूसरे की लेखनी करने का परित्याग नहीं किया, किन्तु भारमलजी स्वामी को दूसरे से लेखनी करवाने का त्याग दिलवाया ताकि वे किसी दूसरे का भी अवलम्बन नहीं ले सकें। यह थी एक आदर्श गुरु की दूर दृष्टि और एक आदर्श शिष्य की विनीतता।

लिपिकर्त्ता

भारमलजी स्वामी ने काफी प्रतियाँ लिखीं थीं। आज भी संघ में उनकी हस्तलिपि की अनेक पुस्तकें सुरक्षित हैं। आज उनका ऐतिहासिक महत्त्व है, पर उस समय तो वे अत्यन्त

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १८१

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २७७

आवश्यकतावश लिखी गई थीं। सघ में उस समय सूत्र-सिद्धान्तों तथा व्याख्यानो आदि की प्रतियाँ वहुत ही कम थीं। जो कुछ प्राप्य था, अपने ही वलवूते पर प्राप्य था। वाहर से किसी द्वारा प्राप्त होने की गुजाइश विशेष नही थी। लोग आहार-पानी देने से भी परहेज किया करते थे, अत' सूत्र आदि की प्रतियाँ तो देखने को भी मिलनी कठिन थी।

उनको सुलभ करने का उपाय केवल एक ही था कि उन्हें लिखा जाए। इसीलिए जहाँ कही से भी कोई प्रति कुछ दिनो के लिए भी मिलती थी तो उसकी प्रतिलिपि कर ली जाती थी।

भारमलजी स्वामी ने स्वामीजी द्वारा विरचित प्राय सभी ग्रन्थो की प्रतिलिपि की थी। आज उनकी वे प्रतियाँ स्वामीजी के ग्रन्थों की प्रामाणिक प्रतियों के रूप में वहुत ही महत्त्वपूर्ण हो गई है। उन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी उन्होंने काफी लिखा था। वे एक कुशल लिपिकर्त्ता थे।

एक व्याख्यान, अनेक बार

भारमलजी स्वामी ने हेमराजजी स्वामी को पूर्वावस्था के अपने संस्मरण सुनाते हुए एक वार वतलाया था कि पहले कुछ वर्षो तक तो ग्रन्थो और व्याख्यानो का इतना अभाव था कि हम लोग अजना तथा देवकी के व्याख्यान को चातुर्मास में दो-दो, तीन-तीन वार वांचते थे।[1] ग्रन्थो की ऐसी आवश्यकता ने ही सघ के सन्तों को लिखने की ओर प्रेरित किया।

नीद उड़ाने का उपाय

भारमलजी स्वामी ने स्वामीजी की वहुत-सी कृतियो को कठस्थ कर लिया था। उन्होने अनेक आगम भी कठस्थ किये थे। स्वाध्याय भी वहुत किया करते थे। वालक-अवस्था में जव उत्तराध्ययन कठस्थ किया था, तव उसे चितारते समय कभी-कभी नीद आने लगती थी।

एक वार स्वामीजी ने उन्हें खडे होकर चितारने की प्रेरणा दी। भारमलजी स्वामी ने उस वात को तो शिरोधार्य किया, पर एक आशंका कचोटने लगी कि कही खडे-खडे भी नीद आने लगी और गिर पडा तो क्या होगा ? उन्होने यह वात भी स्वामीजी से ही पूछी।

स्वामीजी ने कहा—"भीत को पूजकर कोने में खडा हो जाया कर ताकि सहारा आ जाने से अधिक थकान भी न आने पाये और गिरने की आशका भी न रहे।" उन्होने वैसा ही करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने अनेक वार सारे-के-सारे उत्तराध्ययन का स्वाध्याय यो खडे रहकर किया था।[2]

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २७४

२—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० १८२

चेचक ग्रस्त

बाल्यकाल से लेकर स्वामीजी की विद्यमानता तक भारमलजी स्वामी को प्राय. उनकी सेवा में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे स्वामीजी के ऐसे भक्तों में से थे, जिनकी सेवावृत्ति को उन्होंने स्वय सराहा था। फिर भी कुछ ऐसे अवसर आये जब कि वे कारणवशात् स्वामीजी से पृथक् रहे थे।

एक बार जब स्वामीजी मारवाड से थली की ओर जा रहे थे, तब बोरावड में चेचक की बीमारी के कारण भारमलजी स्वामी को वहीं रुकना पड़ा था। स्वामीजी आवश्यकतावश लाडणू होते हुए चूरू तक पधारे थे और थोड़े ही दिनों में उद्दिष्ट कार्य से निवृत्त होकर वापिस बोरावड़ आ गये थे। इस प्रकार चेचक ने उनकी अनवरत सेवा में कुछ दिनों के लिए जो बाधा उपस्थित कर दी थी, वह अधिक टिक नहीं पाई।

पृथक् चातुर्मास

भारमलजी स्वामी का एक चातुर्मास भी स्वामीजी से पृथक् हुआ था। सं० १८२४ के चातुर्मास में स्वामीजी कंटालिया में थे, जब कि भारमलजी स्वामी बगडी में। कहा जाता है कि वहाँ उन्हें बुखार के कारण से रुकना पडा था। स्वामीजी अपनी निर्णीत तिथि के अनुसार बगडी से कटालिया पधार गये थे। भारमलजी स्वामी को साधारण बुखार था, अत उन्हें कुछ साधुओ सहित बगडी में ही छोड गये थे और कह गये थे कि बुखार उतरते ही कटालिया आ जाना। वहाँ से कटालिया केवल सात मील की दूरी पर ही स्थित है, परन्तु दोनों के बीच में एक बरसाती नदी पडती है। स्वामीजी कटालिया पधारे तब तो वह सूखी थी, परन्तु भारमलजी स्वामी को बुखार उतरा तब तक वर्षा हो जाने के कारण उसमें पानी आ गया था। एक से दूसरी ओर जाने के सब मार्ग अवरुद्ध हो गये थे। अत· उसी विवशता में उन्हें वह चातुर्मास स्वामीजी से पृथक् करना पडा था।

धारा के दोनों ओर

कुछ दिन पश्चात् जब नदी का वेग कम पड गया, पानी थोडा-थोडा-सा बहता रह गया, तब गुरु-शिष्य दोनो का सम्पर्क संभव हो सका। बीच में पानी की धारा बहती रहती और उसके ऊपर से गुरु-शिष्य की धर्म-चर्चा की धारा बहने लगती। स्वामीजी एक तट से आवश्यक आदेश-निर्देश देते और दूसरे तट से भारमलजी स्वामी उन्हें यथावत् ग्रहण करते। इस प्रकार कुछ देर वहाँ ठहरने के पश्चात् अपने-अपने स्थान की ओर विदा हो जाते। उस चातुर्मास में उक्त प्रकार का मिलन बहुधा होता रहा। एक तरफ भक्ति का उद्रेक था तो दूसरी तरफ वात्सल्य का।[१]

१—भिक्खु-दृष्टान्त दृ० २७५

परम भक्त

भारमलजी स्वामी की जीवन-घटनाओ से पता लगता है कि वे आगम-कथित विनीत शिष्य के लक्षणो से परिपूर्ण थे । वे स्वामीजी के हर आदेश को 'मम लाभोत्ति पेहाए'—यह मेरे लाभ के लिए ही है, इसी प्रेक्षा से स्वीकार करते थे । गुरु के इगित और आकार के अनुकूल तो वे किया ही करते थे, पर मन की भावना को भी पूर्णरूपेण जानने का तथा तदनुकूल कार्य करने का उनका प्रयास रहता था । वे तोत्र-गवेपक नही थे कि गुरु कहें तो करू अन्यथा मुझे क्या करना है ?

ऐसे आदर्श शिष्य के प्रति गुरु भी प्रसाद-युक्त हो तथा उन्हें विपुल श्रुत और अर्थ से लाभान्वित करें तो यह कोई आश्चर्य की वात नही है । ऐसे परमभक्त शिष्य ही वस्तुत गुरु तथा गुरु-प्रदत्त ज्ञान का गौरव वढाते हैं ।

: ६ :

स्वामीजी के उत्तराधिकारी

उपयुक्त व्यक्ति

स्वामीजी ने जिन-शासन में आचार-विशुद्धि की जो नई लहर पैदा की थी, उसे चिर-जीवित रखना तभी संभव था जब कि उनके उत्तराधिकारी भी उतनी ही सावधानी से सघ की देख-रेख करते रहें। यह देख-रेख तभी सभव हो सकती थी, जब कि उत्तराधिकारी स्वयं अत्यन्त सावधान हो और किसी की भी स्खलना पर भेद-भाव रहित होकर उसे टोकने का साहस रखते हो। ये सब गुण भारमलजी स्वामी में प्रचुर मात्रा में थे। अत वे स्वामीजी के एक उपयुक्त उत्तराधिकारी थे। उन जैसे योग्य शिष्य के रहते हुए स्वामीजी इस ओर से सर्वथा निश्चिन्त थे।

योग्य नियुक्ति

स्वामीजी ने प्रारम्भिक पन्द्रह-सोलह वर्ष मुख्यत· अपने विचारो के प्रचार-प्रसार में ही लगाये थे। उसके पश्चात् उन्होने देखा कि अब जनता में धर्म के प्रति अभिरुचि जागृत हो चुकी है और धीरे-धीरे सघ की सर्वतोमुखी प्रगति अपने ही बल पर चालू हो चुकी है, तो उन्होंने अपना ध्यान संघ की आगामी व्यवस्था की ओर भी लगाना प्रारम्भ किया। उस दिशा में उन्होंने सर्वप्रथम जो कार्य किया, वह उत्तराधिकारी की नियुक्ति के रूप में जनता के सामने आया।

स्वामीजी ने भारमलजी स्वामी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। उन्होंने अपने उस कार्य से आगामी आचार्यो के लिए भी एक दिशा-निर्देश दे दिया कि इस सघ में भावी आचार्य कैसे नियुक्त किये जाने चाहिएँ। उस नियुक्ति से स्वामीजी ने वस्तुतः योग्य व्यक्ति को योग्य स्थान प्रदान करने की एक स्वस्थ परम्परा डाली थी।

आचार-संहिता का प्रारम्भ

संवत् १८३२ मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी के दिन उन्होने भारमलजी स्वामी को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया था। इसलिए उसी दिन तेरापथ के विधान-निर्माण का कार्य भी स्वत· ही प्रारम्भ हो गया था। इतने वर्षो तक सघ-व्यवस्था के लिए स्वामीजी जो कुछ मौखिक रूप से कह देते थे, वही नियम के रूप मे काम आया करता था। पर उस दिन से उन्होंने अपनी आज्ञाओ को लिखित रूप देना प्रारम्भ किया। उन्होंने अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करते हुए जो प्रथम-मर्यादा सघ को प्रदान की, उसमें भावी आचार्य की नियुक्ति के लिए आचार-संहिता और साथ ही आचार्य के प्रति साधु-साध्वियों के लिए कर्तव्य-निर्देश किया गया था।

आचार-सहिता का वह प्रारम्भ स्वत ही किसी ऐसे शुभ-अवसर पर हुआ लगता है कि फिर आगे-से-आगे अनेक मर्यादाएँ यथासमय बनती रही और इस प्रकार अनायास ही तेरापथ को एक परिपूर्ण संविधान प्राप्त हो गया ।

वीर-गौतम की जोड़ी

भारमलजी स्वामी अत्यन्त कोमल प्रकृति के होने के कारण सभी के लिए समानरूप से आदरणीय थे। युवाचार्य-पद प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी वे पूर्ववत् स्वामीजी की सेवा में लगे रहते। जनता भगवान् महावीर और गौतम स्वामी की प्रतिकृति स्वामीजी और भारमल-जी स्वामी के रूप में प्रत्यक्ष देखा करती थी। एक सफल उत्तराधिकारी के रूप में भारमलजी स्वामी ने सघ के अनेक कार्यो में स्वामीजी के गुरुत्तर भार में हाथ बटाया। लगभग अट्ठाईस वर्ष तक स्वामीजी की देख-रेख में उन्हें सघ के आन्तरिक तथा बाह्य, दोनो ही प्रकार के कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस अवधि मे उन्होने अपनी जागरूकता और सतत् कार्यशीलता से अपनी योग्यता का ही परिचय नही दिया, अपितु अपने प्रति सबकी श्रद्धा को भी आकृष्ट किया।

: ७ :

कुशल धर्माचार्य

अनुभवी शासक

भारमलजी स्वामी सं० १८६० भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी को आचार्य-पद पर आसीन हुए। स्वामीजी उसी तिथि को दिवगत हुए। अत: स्वभावत: वही तिथि उनके पदारोहण की भी हो गई। आचार्य-पद की प्राप्ति से पूर्व लगभग चौवालीस वर्ष तक वे स्वामीजी के साथ तेरापंथ-संघ की गति-विधियों के सचालन में सहायक बने रहे। उनमें से युवाचार्य पद के अट्ठाईस वर्ष तो उनके लिए और भी अधिक अनुभव-दायक रहे। अचानक किसी विशिष्ट पद पर आने वाले व्यक्ति के सामने जो असमजसता तथा अनुभव-न्यूनता रहती है, भारमलजी स्वामी के सामने वह बिलकुल नहीं थी। सघ को वे एक अनुभवी शासक के रूप में प्राप्त हुए थे।

धर्म-प्रसार की दृष्टि

उनकी दृष्टि धर्म के प्रसार-हेतु अत्यन्त जागरूक रहती थी। सपर्क में आने वाले व्यक्तियो को वे तत्त्वज्ञान की ओर विशेष रूप से प्रेरित किया करते थे। छोटे बालक तथा बालिकाओ को तत्त्वज्ञान सिखाने में वे बहुत रुचि लिया करते थे। बालिकाओं को तो वे इस कार्य में प्राथमिकता दिया करते थे।

एक बार किसी व्यक्ति ने भारमलजी स्वामी से पूछा कि आप बालिकाओं को तत्त्वज्ञान कराने पर अधिक जोर क्यो देते है? उन्होंने तब उत्तर देते हुए कहा था कि बालक अपने ही घर में रहता है, किन्तु बालिका बडी होने पर दूसरे घर में जाती है। बालक के तत्त्वज्ञान को फैलने का जितना क्षेत्र मिलता है, उससे कहीं अधिक बालिका के तत्त्वज्ञान को मिलता है। बालिकाओं में यदि ये संस्कार सुदृढ़ रहेंगे तो आगे चलकर वे ही श्राविकाएँ होकर ससुराल तथा पीहर में अनेक व्यक्तियों को समझा सकेंगी। उनके बेटे, बेटी, बहू, दोहिती आदि भी धर्म के अनुकूल बनेंगी। इस प्रकार एक बालिका को तत्त्वज्ञान सिखाने का अर्थ होता है, अनेक परिवारों में धर्म के सस्कारो का बीज-वपन कर देना[1]। उपर्युक्त उत्तर से उनकी तलस्पर्शिनी चिन्तन-पद्धति तथा स्वामीजी की विचार-धारा के प्रसार की उत्कट भावना का अनुमान लगाया जा सकता है।

१—साधां रा दृष्टान्त ३४

अनुशासन-प्रेमी

वे एक अनुशासन-प्रिय आचार्य थे। किसी की भी अनुशासन-हीनता को वे संघ के लिए घातक समझते थे। वे स्वयं अपने बाल्यकाल तथा युवाकाल में स्वामीजी के अनुशासन में रहे थे, अत उसकी उपयोगिता का उन्हें पूर्णरूप से ज्ञान था। साथ ही अन्य साधु-संघो में अनुशासन-हीनता के कारण से फैले हुए शैथिल्य का भी उन्हें पता था। वे स्वभाव के अत्यत मृदु होते हुए भी अनुशासन की अपनी नीति में बड़े दृढ थे। अनुशासन-भग को वे अक्षम्य अपराध मानते थे।

वंदन न किया जाए

एक बार भारमलजी स्वामी द्वारा किसी प्रयोजन-विशेष से कुछ दिन के लिए साधु-साध्वियों को लावा-सरदारगढ में रहने की मनाही कर दी गई थी। वहाँ के कुछ श्रावक तेरापथ के प्रति विपरीत होकर जनता में काफी द्वेष फैला रहे थे। आचार्यदेव ऐसे अवसर पर कुछ ढील देना चाहते थे ताकि उन्हें आत्म-निरीक्षण का अवकाश मिल सके।

उसी समय मुनि मोजीरामजी आदि तीन सत कहीं आगे से विहार करते हुए आ रहे थे। उन्हें उस आज्ञा का कोई पता नही था। वे कई दिन के लिए वहाँ रुक गये। वह रुकना उनके लिए बहुत भारी पडा। शारीरिक अस्वास्थ्य का जहाँ उन्हें सामना करना पडा, वहाँ श्रावकों के विचारों-सम्बन्धी अस्वास्थ्य का भी उन्हें शिकार बनना पडा। उन दोनों से भी बढकर एक तीसरी बात यह हुई कि भारमलजी स्वामी के पास जो बात पहुँची, उससे उन्हें यह विश्वास हुआ कि वे आज्ञा की अवहेलना करके वहाँ रहे है।

भारमलजी स्वामी को वह बात बहुत अखरी। अनुशासन के उस प्रत्यक्ष उल्लघन को उन्होंने उनकी सयम-भावना की अनिश्चितता माना। इसीलिए जब मुनि मोजीरामजी वहाँ से विहार कर राजनगर में आचार्यदेव के दर्शन करने को आये तो भारमलजी स्वामी ने पहले से ही सब सतों को बुलाकर यह आदेश दे दिया था कि जब तक उनके वहाँ ठहरने के कारण की जाँच नहीं कर ली जाती तब तक कोई भी संत न तो उठकर उनका सम्मान करे और न ही वदन करे।

मुनि मोजीरामजी आये परन्तु न कोई संत उठा, न किसी ने वदन किया और न किसी ने आगे बढकर कधों पर से भार उतारा। संत उन्हें चकित दृष्टि से देख रहे थे और वे सतों को। आखिर स्वय ही भार उतार कर जब वे गुरु-चरणों में झुके तो आचार्यदेव का हाथ भी सिर पर नही आया। वे चकराये और उठकर आचार्यदेव से अपनी किसी अज्ञात रूप में हुई गलती की क्षमा मांगते हुए उसका कारण पूछने लगे।

आचार्यदेव ने उपालभ के स्वर में उनसे पूछा कि निषिद्ध होने पर भी लावा-सरदारगढ में क्यों रहे ? इस पर उन्होंने पूर्ण विश्वास दिलाते हुए बतलाया कि उन्हें इस आदेश का कोई

पता नहीं था। इस प्रकार पूरी तसल्ली कर लेने के पश्चात् ही उन्होंने सबको परस्पर वदन आदि की आज्ञा दी और उनके सिर पर हाथ रखा। यह था उनके स्वभाव की मृदुता के साथ नीति की दृढता का समन्वय।

संघ की श्री-वृद्धि

अनुशासन-हीनता का अभिशाप किसी अच्छे-से-अच्छे सघ को भी शक्ति-विहीन और श्री-विहीन बना देता है, अत स्वामीजी ने इस ओर विशेष ध्यान रखने की प्रवृत्ति का प्रारभ किया था। आचार्य भारमलजी स्वामी ने उन्ही पद-चिह्नों पर चलकर उस पद्धति को विशेष बल प्रदान किया।

स्वामीजी के शासन-काल में अनेक व्यक्ति मत-भेद होने पर उनसे अलग होते रहे, किन्तु जब तक सघ में रहे तब तक वे अनुशासन पालने के लिए प्रतिज्ञा-बद्ध थे। अनुशासन में ढुल-मुल चलने वाले अनेक व्यक्तियो को स्वामीजी ने स्वय अलग कर दिया था। परन्तु ऐसे व्यक्ति प्रायः स्वामीजी के शासन-काल में ही उछल-कूद मचाकर ठंडे हो गये थे। भारमलजी स्वामी के शासन-काल में आंतरिक विरोध के लिए विशेप अवसर नहीं आये।

उनके शासन-काल में सघ की अच्छी प्रगति हुई। साधु-साध्वियो की वृद्धि के अतिरिक्त श्रावक-श्राविकाओ की भी बहुत वृद्धि हुई। उस वृद्धि का साधारण अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि जब सं० १८७५ में उनका चातुर्मास कांकरोली में था, तब वहाँ लगभग सत्रह सौ पौपध हुए थे। उस समय एक ही गाम में इतने पौपध होना सचमुच ही श्रावक-श्राविकाओ की वृद्धि का द्योतक है।

इस प्रकार हम देखते है कि भारमलजी स्वामी एक कुशल धर्माचार्य होने के साथ-साथ एक कुशल धर्म-प्रसारक तथा सुदृढ अनुशासक थे। उनकी इन विशेषताओं ने धर्म-संघ की श्री-वृद्धि तथा सुदृढता में बहुत बडा योग-दान दिया। वस्तुत ये गुण एक साथ किसी विरल व्यक्ति में ही पाये जाते है। ऐसे आचार्य को पाकर तेरापंथ धन्य हो गया।

: ८ :

महाराणा के दो पत्र

उदयपुर मे पदार्पण

भारमलजी स्वामी उदयपुर पधारे।[१] वहाँ के लोगो की काफी प्रार्थना थी। उपकार की भी अच्छी सभावना थी। वहाँ बाजार में दुकानों के ऊपर विराजना हुआ। रात को नीचे बाजार में व्याख्यान होता और दिन को ऊपर धर्म-चर्चाएँ चलती। लोग काफी सख्या में आने-जाने लगे। कुछ व्यक्ति समझने के उपरान्त सम्यक्त्वी भी बने।

बाँस और बाँसुरी

इसी बीच में कुछ विद्वेषी व्यक्तियों ने महाराणा भीमसिंहजी को इस विषय में बहकाना प्रारंभ किया। उसका एक सभाव्य कारण यह था कि जब वे अनेक प्रकार के उपाय कर लेने पर भी जनता को भारमलजी स्वामी के पास जाने से नही रोक सके, तब उन्होंने यही सोचा कि क्यों नहीं महाराणा के निकट रहने का लाभ उठाया जाए? यदि महाराणा के मन में तेरापथ के प्रति घृणा बिठा दी जाए तो संतों को यहाँ से निकलवाया जा सकता है। फिर 'न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी'। तेरापथी साधु ही उदयपुर में नहीं रहेंगे तो ये उनके पास आने वाले भक्त स्वयं ही शांत होकर बैठ जाएँगे।

एक षड्यंत्र

उस समय महाराणा के आस-पास तेरापथ के विरोधियों का काफी जोर था। राज्य में भी सर्वत्र उनका वर्चस्व था। अत. तेरापंथ के विरुद्ध किसी भी प्रकार का षड्यंत्र करना उनके लिए बहुत सहज था। उन्होंने योजना-बद्ध महाराणा के पास ऐसी बातें पहुँचानी प्रारंभ कीं, जिनसे उनका मन तेरापंथ के विषय में भ्रान्तिपूर्ण हो जाय।

उन्हें बताया जाने लगा कि ये लोग (तेरापंथी साधु) जहाँ जाते हैं, वहाँ दुष्काल पड जाता है, ये वर्षा को पसंद नहीं करते, अत· उसे रोक देते हैं। दया के घोर विरोधी है, दान देने का भी निषेध करते हैं आदि-आदि।

१—संवत् १८७३ में पाली चातुर्मास करने के पश्चात् भारमलजी स्वामी मेवाड़ पधारे थे। सं० १८७४ का चातुर्मास उन्होंने नाथद्वारा में किया था। उस चातुर्मास के पश्चात् उदयपुर में उनका उपर्युक्त पदार्पण हुआ था। उसका समय सं० १८७४ के मार्गशीर्ष से लेकर सं० १८७५ के ज्येष्ठ तक का कोई भी हो सकता है। एक प्राचीन पत्र (प्र० प० सं० पत्र २८) में सं० १८७६ का उल्लेख है, परन्तु वह गल्ती से लिखा गया प्रतीत होता है। क्योंकि सं० १८७५ आषाढ कृष्णा तृतीया को तो महाराणा ने उन्हें फिर से निमन्त्रित करने को पत्र भी लिख दिया था।

इस प्रकार की बातें तेरापंथ के प्रारंभकाल से ही उस पर मढ़ी जाती रही हैं। बार-बार के स्पष्टीकरणों के बावजूद भी विद्वेषी-जन उन्हें फैलाने में बड़े तत्पर रहे हैं। अब भी ऐसी बातें फैलाई जाती हैं, परन्तु अब तो ये घिसकर भुथरा चुकी हैं, अतः अधिक असर नहीं करतीं। पर उस समय तो नई ही थीं, अतः तत्काल असर करती थीं। महाराणा पर भी उन बातों ने असर किया। विश्वासी और सदा पास में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा कही गई बात यों भी शीघ्र ही असर करती है, फिर यह तो अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक प्रकार से दुहरा-दुहरा कर कही गई थीं। महाराणा ने जब उन बातों के आधार पर संतों के विषय में कुछ अप्रसन्नता के भाव व्यक्त किये तो उन लोगों की बाछें खिल गईं। उन्होंने और अधिक दृढ़ता से महाराणा के सामने रखा कि ऐसे व्यक्ति अपने शहर में रहने योग्य नहीं हैं। इन्हें जितना जल्दी शहर से निकाल दिया जाये, उतना ही अच्छा है।

उदयपुर से निष्कासन

महाराणा उन सबकी छद्मनीति के शिकार हो गये। लगता है कि उस समय के राजाओं में जहाँ राजनैतिक पटुता का अभाव हो रहा था वहाँ व्यावहारिक पटुता भी लुप्त हो गई थी। उन्होंने वस्तुस्थिति तक पहुँचने का अपनी ओर से कोई प्रयास किया ही नहीं। जैसा सुनाया गया वैसा ही करने को तैयार हो गये। संभवतः महाराणा भीमसिंहजी की प्रकृति में यह अपनी एक दुर्बलता रही थी। एक अन्य समस्या को हल करने के लिए राजकुमारी कृष्णा को विष दे डालने वाली बात भी उनकी इसी प्रकृति की परिचायक कही जा सकती है। विरोधियों ने उनकी उस दुर्बलता का पूरा लाभ उठाया। उन लोगों ने संतों के प्रति घृणा तो उनके मन में पहले ही पैदा कर दी थी, अब उनके नगर-वास को भी अशुभ बतलाया जाने लगा तो सहज ही वह बात महाराणा के दिमाग में बैठ गई। उन्होंने एक 'हरकारे' को बुलाया और संतों के स्थान का अता-पता देकर उन्हें शहर में रहने की मनाही करने के लिए भेज दिया।

शहर से आहार लेकर संत आये ही थे कि हरकारा भी 'तेरापंथी संत भारमलजी' का नाम पूछता हुआ वहाँ पहुँच गया। उसने राजाज्ञा सुनाते हुए कहा कि आपको शहर में रहने की आज्ञा नहीं है।

भारमलजी स्वामी ने उससे पूछा—"आहार-पानी लाया हुआ है, अतः भोजन करने के पश्चात् जाएँ या पहले ही ?"

उसने कहा—"महाराणा ने एकदम अभी-का-अभी जाने का तो नहीं कहा है अतः आप भोजन करने के पश्चात् भी जा सकते हैं।"

हरकारा चला गया। भारमलजी स्वामी भी आहार-पानी करने के पश्चात् वहाँ से विहार कर गये। विरोधी-जनों को उससे बड़ा आत्मगौरव का अनुभव हुआ। पर वे इतने से ही शांत नहीं हो गये। वे उन्हें मेवाड़ से निकलवा देने का भी सोचने लगे और योजना बना-कर तदनुसार चेष्टाओं में संलग्न हो गये।

साहसिक निर्णय

भारमलजी स्वामी वहाँ से विहार करते हुए क्रमश राजनगर पधार गये। उदयपुर से निकाले जाने तथा आगे के लिए मेवाड से भी निकलवा देने की योजना सम्बन्धी बातें मेवाड भर में फैल गई। तेरापथी श्रावक-वर्ग में चिन्ता की लहर दौड गई। वे उस समस्या पर विचार करने के लिए राजनगर में हजारो की सख्या मे एकत्रित हुए। सबने मिलकर यह निर्णय किया कि यदि भारमलजी स्वामी को मेवाड से चले जाने की आज्ञा आ जाए तो हम सबको भी उनके साथ ही मेवाड छोड देना चाहिए। श्रावको का वह निर्णय बहुत ही साहस-पूर्ण था। वस्तुत' वह उनके लिए एक कसौटी का समय था। उन्होने दृढता-पूर्वक उस परिस्थिति का सामना किया।

जो समाज उपस्थित हुए सकटो का सामना करने के लिए बलिदान देने की योजना नही रखता वह अपने आप को जीवित नही रख सकता। तेरापथ के सम्मुख उन दिनो ऐसे सकट मडराते ही रहा करते थे, परन्तु उनका सामना करने वालो का साहस और धैर्य भी अद्भुत ही था। सख्या में नगण्य होते हुए भी वे कभी निराश नहीं हुए और इसीलिए वे कभी परास्त भी नहीं हुए।

महाराणा पर विपत्ति

उदयपुर का श्रावक-वर्ग उपर्युक्त घटना से काफी खिन्न था। पर उस समय तक उनके पास कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो महाराणा तक पहुँचकर बातो का स्पष्टीकरण कर सके और उनके विचारों को नया मोड दे सके। सब किंकर्त्तव्यविमूढ हो रहे थे।

उसी समय उदयपुर पर प्रकृति का प्रकोप हो गया। शहर में मरी फैल गई। सैकड़ो नागरिक काल-कवलित हो गये। महाराणा के बडे कुवर भी उसी रोग के चपेट में आकर गुजर गये। महाराणा के मन पर उससे एक बहुत बडा आघात लगा। उस आघात से महाराणा सभल भी नही पाये थे कि कोटे में उनके दामाद भी दिवगत हो गये। एक के पश्चात् एक लगते जाने वाले उन मानसिक आघातो के कारण महाराणा अत्यन्त निराश और चिन्ताग्रस्त रहने लगे।

केसरजी भंडारी

विद्वेषियो ने उस स्थिति मे भी तेरापथ के विरुद्ध अपना प्रयास चालू रखा। उन्हे अपनी सफलता की पूरी-पूरी सभावना थी। पर उन सबकी आशाओ पर एक व्यक्ति ने अचानक ही तुषारपात कर दिया। वे थे केसरजी भडारी। वे महाराणा के पूर्ण विश्वसित व्यक्तियों में से थे। ड्योढी की सुरक्षा[1] पर नियुक्त होने के कारण उन्हें महाराणा का सान्निध्य सहज प्राप्त

१—एक प्राचीन पत्र मे लिखा मिला है कि केसरजी भंडारी मेवाड़ के एक प्रख्यात न्यायकर्त्ता थे, परन्तु श्रुतानुश्रुति से अधिक प्रसिद्ध यही है कि वे ड्योढी की सुरक्षा पर नियुक्त अधिकारी थे।

था। वे कुछ समय पूर्व तेरापथी बन गये थे। श्रद्धा-आचार सम्बन्धी स्वामीजी की बातें उन्होंने पूरी तरह से समझ ली थीं। इतना होने पर भी वे तब तक एक गुप्त श्रावक ही थे। वे प्रकट में आना चाहते भी नहीं थे। क्योंकि तेरापथी बनने वालों को उस समय कठोर सामाजिक-बहिष्कार का सामना करना पडता था। वे उस बखेड़े से बचना चाहते थे।

जब भारमलजी स्वामी को उदयपुर से निकलवाया गया था तब भंडारीजी को वह बात खटकी तो बहुत थी, फिर भी ज्यो-त्यो मन मारकर चुप रह गये थे। पर जब मेवाड से भी निकलवा देने की योजनाएँ उनके सामने आईं तो वे एकदम से अपने आप में सभल गये। उन्हें लगा कि अब गुप्त रहने में कोई लाभ नहीं है। प्रकट रूप में आने से चाहे कितनी भी कठिनाइयाँ क्यों न आयें, पर सघ की सेवा के लिए ऐसा करना ही होगा। उन्होंने निश्चय किया कि महाराणा से मिलकर उन्हें वस्तुस्थिति से अवगत किया जाये। विरोधियों ने जो गलत बातें कहकर उन्हें भ्रान्त कर दिया है, उसका निराकरण प्रत्यक्ष मिलकर ही किया जा सकता है।

यह क्या सूझा है ?

भडारीजी को महाराणा अपने घर के आदमी की ही तरह समझा करते थे। रनवास में भी उनका जाना-आना खुला था। मिलने का अवसर उन्हें अधिक खोजने की आवश्यकता नहीं पडी। वे एकान्त अवसर देखकर महाराणा से मिले और सारी स्थिति स्पष्ट करते हुए बोले—"जो साधु कीडी को भी नहीं सताते, उनको सताकर आप क्या लाभ उठायेंगे? शहर से तो आपने उनको निकलवा ही दिया, पर मैंने सुना है कि मेवाड से भी निकालने का विचार किया जा रहा है। आपको यह क्या सूझा है? आपकी आज्ञा न होगी तो वे देश छोड़कर भी चले जाएँगे, पर आप इस बात की गांठ बाँध लें कि जिस राज्य में सत-जनो को सताया जाता है प्रकृति उसे कभी क्षमा नही करती। सतो को शहर से निकलवा देने के पश्चात् जो अप्रिय घटनाएँ घटी है वे प्रकृति के रोष का ही परिणाम है। अब देश से निकाल कर उस विपत्ति को और बढावा देना, मेरी समझ में तो अच्छा नही होगा।

भ्रान्ति-निवारण

महाराणा ने जो भ्रांति-पूर्ण बातें सुन रखी थी उन्ही के आधार पर कहा—"केसर! तू शायद जानता नही। हमने जिन को निकलवाया है, वे अपने शहर में रहने योग्य थे ही नहीं। उनके यहाँ रहने से दुष्काल की संभावना थी। सुना है कि वे वर्षा को रोक देते है। दया और दान के भी वे विरोधी है। ऐसे सतो को यहाँ रहने देकर मैं सारी प्रजा को दुःखी कैसे होने देता?"

केसरजी ने महाराणा की भ्रान्ति का निराकरण करते हुए बतलाया कि विरोधी व्यक्ति द्वेष-बुद्धि से ही उनपर ये आरोप लगाते हैं, पर आप जैसे व्यक्तियो के लिए किसी के विरुद्ध कोई बात सुनकर यों विश्वास कर लेना उपयुक्त नही है। दुष्काल पड़ने तथा वर्षा को रोकने की बातें केवल भ्रांतियाँ है। आप इन बातो के सत्य या असत्य होने के विषय में खोज करते तो मेरा विश्वास है कि किसी दूसरे ही निष्कर्ष पर पहुँचते। दया और दान के विषय में भी तेरापथ की मान्यता को स्पष्ट करते हुए उन्होने बताया कि वे आध्यात्मिक और लौकिक पक्ष को पृथक्-पृथक् समझने की बात कहते है। दया और दान के विरोधी नहीं, किन्तु उन्हें विभिन्न भूमिकाओ से समझना आवश्यक बतलाते है। उनकी मान्यता का तात्पर्य यह नही है कि दया और दान ससार से उठ जाने चाहिएँ, किन्तु यह है कि कही-कही दया और दान की जड में मोह भी काम करता है अत उस स्थिति के दया और दान का स्वरूप आध्यात्मिक न रहकर लौकिक हो जाता है। दोनों की अपने-अपने स्थानो में उपयोगिता हो सकती है, पर एक दूसरे के स्थान पर वे निरुपयोगी हो जाते हैं। अत उन दोनो के विषय में सम्यग् ज्ञान होना आवश्यक है।

इन बातों के साथ ही उन्होंने तेरापथ के उद्भव तथा उसके प्रति होने वाले विरोध आदि की बातें भी महाराणा के सामने रखी और बतलाया कि इस विषय में अन्य व्यक्तियो ने आपको जो कुछ बतलाया है वह एक-पक्षीय है। आप राजा हैं अत. आपको दूसरे पक्ष की बातें भी जान लेनी आवश्यक है, ताकि किसी के साथ अन्यान्य न हो सके।

रुख मे परिवर्तन

महाराणा ने सारी बातें सुनी और समझी। सत्य जब तक सामने नही आता तभी तक भ्रांतियो का जाल फैला रह सकता है। महाराणा ने सत्य को पहचाना तब उनके रुख में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही था। पश्चात्ताप के स्वर में उन्होने कहा—केसर ! मुझे इन बातो की गहराई का पता नही था। अत ऐसा हो गया। निश्चय ही यह ठीक नही हुआ, पर अब यह बतलाओ कि इसे सुधारा कैसे जा सकता है ? क्या हम उन्हें वापिस बुलाएँ तो वे आ जाएँगे ?

भडारीजी ने कहा—वे तो सन्यासी है अत उनके आने या न आने का निश्चय-पूर्वक तो क्या कहा जा सकता है ? किन्तु मेरा विचार है कि आप निवेदन करें तो वे अवश्य उस पर ध्यान देंगे।

पत्र-प्रेषण

महाराणा ने तब अपने हाथ से एक पत्र लिखा और 'हरकारे' को बुलाकर भडारीजी के कथनानुसार राजनगर की ओर भेज दिया। उसे अच्छी तरह से समझा दिया कि पत्र हाथो-हाथ देकर ही वापिस आये। विलब न करने तथा गलत हाथो में न देने के लिए भी उसे विशेष सावधान कर दिया गया। हरकारा उस समय की सचार-व्यवस्था के अनुसार शीघ्र से शीघ्र राजनगर पहुँचा। फिर भी पहाडी मार्गो को तय करके जाने मे उसे कुछ समय तो लगा ही।

उधर राजनगर में काफी लोग एकत्रित हो चुके थे। भारमलजी स्वामी के साथ ही मेवाड़ को छोड़कर मारवाड़ में बस जाने की योजनाएँ उभर रही थीं। उसी अवसर पर हरकारा वहाँ पहुँचा तो हर एक ने पूर्व वातावरण के अनुसार यही अनुमान लगाया कि महाराणा ने भारमलजी स्वामी को मेवाड़ छोड़ देने का आदेश भेजा है।

हरकारा भंडारीजी द्वारा बताये गये व्यक्तियों का नाम पूछता हुआ उनमें से किसी एक को वह पत्र देने लगा तो उसने दूसरे का और फिर दूसरे ने तीसरे का नाम बताकर उसे चलता किया। सब कोई उत्तेजित और भरे हुए से मालूम हो रहे थे; पर खुलता कोई नहीं था। किसी ने उस पत्र को छुआ तक नहीं। बेचारा हरकारा परेशान था कि वह अब उस पत्र का क्या करे और किसे दे?

हरकारे ने मुख्य व्यक्तियों से कहा—मेरा काम आप लोगों तक यह पत्र पहुँचा देने का था, अत: यह लीजिये और मुझे छुट्टी दीजिये। इसमें क्या है, क्या नहीं है और उस पर आप को क्या करना है, यह सब तो आपके अपने सोचने के प्रश्न है। आप इस पर धीरे-धीरे सोच सकते है, पर मैं इस पत्र को लिए कब तक और किस-किस के पास फिरता रहूँगा?

हरकारे की यह बात अवश्य ही ध्यान देने योग्य थी। सभी ने उस पर सोचा तो आखिर इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि अच्छा-बुरा जो कुछ भी आदेश होगा उसे कम-से-कम पढ़ तो लेना ही चाहिए। यों टालते कब तक रहेंगे? अन्त में उन्होंने वह पत्र ले लिया और बड़ी असमंजसता की स्थिति में उसे खोला। पत्र को खोलने से पूर्व सभी के हृदय में एक प्रकार की अज्ञात आशंका थी और कुछ धुकर-पुकर-सी मची हुई थी, परन्तु खोलने के पश्चात् जब उसे पढ़ना प्रारम्भ किया तो पाया कि समाचार प्रतिकूल नहीं, अपितु सर्वथा अनुकूल था।

प्रथम पत्र

पत्र को पढ़कर उपस्थित सभी लोग हर्षातिरेक में नाच उठे। कहाँ तो मेवाड़ छोड़ देने के आदेश की संभावना की जा रही थी और कहाँ उदयपुर पधारने के लिए निमत्रण-युक्त विनय-पत्र प्राप्त हुआ था। सभी लोग वहाँ से भारमलजी स्वामी के पास आये और वह पत्र मालूम किया। इतनी देर में पत्र की बात वहाँ सर्वत्र फैल चुकी थी और लोग उत्सुकता-वश 'ठिकाणे' में एकत्रित हो गये थे। सभी के सम्मुख पढ़कर वह पत्र भारमलजी स्वामी को सुनाया गया। वह इस प्रकार था :

श्री एकलिंगजी

श्री बाणनाथजी श्री नाथजी

स्वस्ति श्री साध श्री भारमलजी तेरेपंथी साध थी राणा भीमसिंघ री

विनती मालूम हुवै। कृपा करै अठै पधारोगा। की दुष्ट ये दुष्टाणो

महाराणा का प्रथम पत्र

कीदो जी सामु न्ही देखेगा । मा सामु वा नगर में प्रजा है ज्यांरी दया
कर जेज नहीं करेगा । वती काही लपु । ओर स्माचार स्हा स्वलाल
का लष्या जाणेगा । सवत् १८७५वर्षे अषाढ वीद तीज शुक्रे ।

अर्थात्—

श्री एकलिंगजी, श्री वाणनाथजी, श्री नाथजी

स्वस्ति श्री तेरापथी साधु भारमलजी से राणा भीमसिंह की विनति मालूम हो—कृपा करके आप यहाँ पधारें। उन दुष्टो ने जो दुष्टता की उनकी ओर न देखें। मेरी तथा नगर की प्रजा की ओर देखकर दया करें और आने में विलव न करें। अधिक क्या लिखू। अन्य समाचार शाह शिवलाल[1] के द्वारा लिखे पत्र से जाने। सवत् १८७५ आषाढ कृष्णा ३ शुक्रवार।

महाराणा के उपर्युक्त पत्र को पढकर सारे संघ को बहुत बड़ा सन्तोष मिला। जो व्यक्ति भारमलजी स्वामी के साथ ही मेवाड को छोडने तक के लिए उद्यत हो रहे थे, उनकी परितृप्ति का तो कहना ही क्या था। यह कार्य कैसे हुआ और इसमें किसकी प्रेरणा थी—यह जानने के लिए लोगों में अत्यन्त उत्सुक्ता जागृत हुई, परन्तु साधारणतया उस समय किसी को कुछ विशेप मालूम नही हो सका।

कौन जाए ?

पत्र पढने और उससे उद्भूत हर्षानुभूति की अभिव्यक्ति के पश्चात् कुछ प्रमुख व्यक्ति उठे और महाराणा की प्रार्थना पर भारमलजी स्वामी की प्रतिक्रिया जाननी चाही। उन्होंने अपनी ओर से तथा जन-समुदाय की ओर से भी गुरुदेव को महाराणा की प्रार्थना पर ध्यान देने का अनुनय किया।

इस पर भारमलजी स्वामी ने कहा—"मैं बूढा हूँ और अभी कुछ दिन पहले ही वहाँ से आया हूँ, अत. इतना जल्दी फिर से पहाडों को रौंदता हुआ वहाँ कौन जाए ? फिर कभी अवसर होगा तब देखा जाएगा।"

भारमलजी स्वामी वस्तुत· एक फक्कड साधु थे। नाराज तो वे किसी रक को भी करना नहीं चाहते थे, परन्तु परवाह किसी महाराणा की भी नहीं करते थे। उन्होने उस समय

१—वीर विनोद (भाग २ प्रकरण १५) तथा उदयपुर राज्य का इतिहास (पृ० ७१८) के अनुसार सं० १८७८ चैत्र शुक्ला द्वितीया (४ अप्रेल १८२१) को शिवलाल गलूंड्या को उदयपुर राज्य का प्रधान मंत्री बनाया गया था। संभवतः वे ही उपर्युक्त पत्र में उल्लिखित शाह शिवलाल थे। प्रधान मंत्री बनने से पूर्व संभवतः वे महाराणा के निजी सचिव के रूप में कार्य करते रहे थे। महाराणा के पत्र से पता लगता है कि उन्होंने महाराणा के कथनानुसार उपर्युक्त घटना से संबंधित कोई पत्र विस्तार से लिखकर भेजा था। पर उसमें क्या समाचार थे, इसकी कोई जानकारी इस समय प्राप्त नहीं है।

उदयपुर न जाने का-जो निर्णय किया था, वह इसी बात का एक उदाहरण कहा जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि फिर से वहाँ तक जाने में उनके लिए अवस्था की भी एक बाधा थी। बहत्तर वर्ष लगभग की अवस्था में इतना अधिक विहार करना कुछ कठिन था। चातुर्मास के दिन भी काफी नजदीक आ रहे थे, अतः उन्होंने उस वर्ष का अपना चातुर्मास कांकरोली, जो कि राजनर के बिलकुल पास ही है, में किया।

द्वितीय पत्र

भारमलजी स्वामी ने स० १८७६ का चातुर्मास पुर में किया। उसकी समाप्ति पर वहाँ से विहार कर फिर कांकरोली की तरफ पधारे, तब वहाँ महाराणा का एक पत्र और आया, जो कि इस प्रकार है :

श्री एकलिंगजी

श्री बाणनाथजी श्री नाथजी

> स्वस्ती श्री तेरापन्थी साध श्री भारमल जी सु म्हांरी डण्डोत बंचे। अप्र आप अठे पदारसी जमा पात्र सु। आगे ही रुको दियो हो सो अवे वेगा पधारेगा। सवत् १८७६ वर्षे पोष बीद ११। वेगा आवेगा। श्रीजी रो राज है सो सारां को सीर है, जी थी सन्देह काहि वी न्ही लावोगा।

अर्थात्—

श्री एकलिंगजी, श्री बाणनाथजी, श्री नाथजी

स्वस्ति श्री तेरापन्थी साधु श्री भारमलजी से मेरी दडवत् मालूम हो। अपरञ्च आप निस्संकोच यहाँ पधारें। इससे पहले भी एक पत्र आपको दिया था, अतः अब शीघ्र ही पधारें। संवत् १८७६ पोष कृष्णा ११। शीघ्र आएँ। श्री जी का राज्य है, जिसमें सभी का साझा है। इसलिए किसी प्रकार का सन्देह न करें।

प्रार्थना स्वीकार

इस पत्र को पढने के बाद श्रावक जनों ने भारमलजी स्वामी से प्रार्थना की कि महाराणा की इस दूसरी बार की प्रार्थना पर आपको अवश्य ही ध्यान देना चाहिए। सन्तों का भी ऐसा ही ध्यान था, पर भारमलजी स्वामी ने कहा—"इस समय मेरे तो जाने के भाव हैं नहीं, यदि तुम लोग कहो तो मैं सन्तों को भेज सकता हूँ।"

सबने कहा—"आप न पधारें तो फिर सन्तों को तो भेजने की कृपा करें ही।"

आचार्यदेव ने तब उपयुक्त अवसर समझ कर जनोपकार की भावना से महाराणा की

महाराणा का द्वितीय पत्र

प्रार्थना को स्वीकार किया और हेमराजजी स्वामी, रायचन्दजी स्वामी आदि तेरह सतों को उदयपुर जाने के लिये आदेश दिया।[1]

महाराणा का संत-समागम

हेमराजजी स्वामी तेरह सन्तों से उदयपुर पहुँचे और बाजार की दुकानों पर ठहरे। भारमलजी स्वामी को निकाले जाने पर वहाँ के तेरापन्थी भाईयो को जितना दुःख हुआ था अब महाराणा द्वारा निमन्त्रित होकर उनके शिष्यो के पदार्पण पर उतना ही हर्ष हुआ। वहाँ की जनता बडे उल्लास से सत-समागम का लाभ लेने लगी।

१—'भारीमाल चरित' में एतद् विषयक उल्लेख यों किया गया है :

छिहंतरै पुर छाजता, भारीमाल ऋषिराय।
आई हिन्दू पति नी वीनती, करी घणी नरमाय॥
उदियापुरे पधारिये, दुनियाँ साहमो देख।
दुष्ट साहमों नहीं देखिये, किरपा करो विसेख॥
स्वामी मानी वीनती, चोमासो, उतर्यां सोय।
विचरत-विचरत आविया, शहर कांकड़ोली जोय॥
हेम ऋषि रायचंदजी, तेरै साध तिवार।
पूज्य हुकम सू आविया, उदियापुर शहर मझार॥ (ढा० ४, दोहा ४ से ७)

उपर्युक्त गाथाओं का सारांश यह है—"भारमलजी स्वामी छिहत्तर के वर्ष पुर में थे तब हिंदूपति की प्रार्थना आई। उसमें लिखा था कि आप दुष्टों की ओर न देखकर दुनियां की ओर देखें तथा कृपा करके उदयपुर पधारें। भारमलजी स्वामी ने उस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् विहार करते हुए कांकरोली आये। वहाँ से हेमराजजी स्वामी तथा रायचन्दजी स्वामी आदि तेरह सन्तों को उदयपुर भेजा। 'भारीमाल चरित' में इसके पूर्व उदयपुर से निकलवा देने आदि की घटनाओं का तथा पत्र एक आया या दो, इसका भी कोई वर्णन नहीं है।

दो प्राचीन पत्रों में जो विवरण लिखा हुआ मिला उसमें उदयपुर से निकलवाने तथा राजनगर में पत्र पहुंचने की बात लिखी हुई है, परन्तु दूसरा पत्र कहाँ पहुंचा, यह नहीं लिखा। ऊपर दूसरे पत्र की प्रतिलिपि भी राजनगर में पहुंचे पत्र के साथ ही दे दी गई है।

उपर्युक्त दोनों ही प्राचीन स्रोतों को देखने पर दोनों पत्रों के पहुंचने का स्थान-निर्धारण करने में कोई कठिनाई नहीं आती। इसमें यह बात भी सहायक होती है कि दोनों पत्रों की लेख-तिथियों (सं० १८७५ के आषाढ़ और सं० १८७६ के पौष) के अन्तर में दो चातुर्मास आ जाते हैं। 'भारीमाल चरित' के अनुसार भी सं० १८७५ का चातुर्मास कांकरोली और सं० १८७६ का पुर में हुआ था, अतः यह स्पष्ट लगता है कि सम्वत् १८७५ के आषाढ़ में लिखा हुआ पत्र कांकरोली चातुर्मास से पूर्व राजनगर विराजे थे तब पहुंचा था और सम्वत् १८७६ के पौष में लिखा हुआ पत्र पुर चातुर्मास के पश्चात् कांकरोली आने पर पहुंचा था।

स्वयं महाराणा भी उस मासिक प्रवासकाल में ग्यारह बार[1] संतो के पास आये और दर्शन तथा सत्संग का लाभ लिया। जैन साधुओं के आचार-व्यवहार से परिचित होकर वे बहुत ही प्रभावित हुए।

महाराणा को जुलूस बनाकर बाजार से जाने-आने की बहुत रुचि रहा करती थी, अतः बहुधा शोभा-यात्राएँ निकलती ही रहती थी। मार्ग में जब संतों का स्थान आता, तब महाराणा हाथी को रुकवाकर नमस्कार करते और फिर आगे बढा करते थे। एक बार भूल से हाथी आगे निकल गया, परन्तु ज्यों ही उन्हें स्मरण हुआ त्यों ही महावत ने हाथी को वापिस घुमाने के लिए आदेश दिया। वे वापिस आये और संतों को भक्ति-पूर्वक नमस्कार किया। उसके पश्चात् ही आगे बढे। उस घटना के पश्चात् जब संतो का स्थान आता, तब महावत संकेत कर दिया करता था। तेरापंथ के प्रति उनकी यह अभिरुचि उत्तरोत्तर बढती ही रही।

दूसरे पत्र का कांकरोली में पहुंचना 'जय सुजस' से भी ठीक ठहरता है। और वहाँ प्रथम पत्र के लिए कोई उल्लेख नहीं है। उदयपुर जाने वाले सन्तों के साथ जयाचार्य भी थे—इसी उल्लेख के प्रसंग में पत्र की बात कही गई है, जो कि दूसरे पत्र से ही सम्बन्धित है। वहाँ कहा गया है :

भंडारी श्रावक पको, केसरजी सुखकार।
तास संगत थी समझिया, राणा भीमसिंह सुखकार॥
कांकरोली भारीमाल ने, विनती अधिक विशाल।
परवानो निज हाथ स्यूं, लिख्यो छिहत्तरै वर्ष न्हाल॥ (जय सुजस, १०-९ १०)

इस सबके पश्चात् केवल यही एक प्रश्न सोचने का रह जाता है कि 'भारीमाल चरितं जो कि इस घटना के बहुत निकट-काल (सं० १८७९) में हेमराजजी स्वामी के द्वारा लिखा गया था, उसमें पुर में पत्र पहुंचने की बात कैसे लिखी गई है?

मेरा अनुमान है कि जैन साधु संवत्-परिवर्त्तन आषाढ पूर्णिमा के पश्चात् करते हैं, किन्तु गृहस्थ पंचांगानुसार चैत्र में ही कर देते हैं। पत्र का सम्वत् पंचांगानुसार ही लिखा जाना संभव लगता है, किन्तु यदि 'भारीमाल चरित' में उसे आषाढ पूर्णिमा के सम्वत्-परिवर्त्तन के ध्यान से ले लिया हो तो सं० १८७५ के आषाढ के पश्चात् सं० १८७६ का चातुर्मास ही आता है, जो कि पुर में ही हुआ था। और इसी ध्यान में प्रथम पत्र का सम्बन्ध पुर से जुड़ गया हो। लेकिन यह केवल एक अनुमान मात्र ही है। जो कि इस बात से भी संबद्ध है कि 'भारीमाल चरित' में पत्र में लिखित बातों का जो उल्लेख किया गया है, वह सब प्रथम पत्र का ही है। यदि इसी पत्र पर भारमलजी स्वामी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार करके सन्तों को वहाँ भेज दिया था तो फिर दूसरे पत्र के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता है। परन्तु पत्र दो आये थे, यह निर्विवाद है, क्योंकि दोनो मूल पत्र विद्यमान हैं।

१—प्र० प० सं० पत्र २८

और कोई होगी

महाराणा साधुओ के आचार-विचार को जानने की भी काफी उत्सुकता रखा करते थे। केसरजी भडारी से उस विषय में पूछताछ करते ही रहते थे। कुछ ही दिनों में वे न केवल तेरापथ की मान्यताओ को ही अच्छी तरह से समझने लग गये, अपितु जैन साधुओ के आचार को भी बहुत अच्छी प्रकार से जानने लग गये थे। कोई उस विषय मे कुछ गलत कहता तो वे उसका प्रतिरोध भी किया करते थे।

एक बार उनके सामने धर्म-चर्चा चल रही थी, तब किसी ने कहा—"महाराज ! आप कहते हैं कि जैन साध्वी अकेली नही रहती, पर मैंने तो आज ग्राम-बाहर अकेली साध्वी को जाते अपनी आँखो से देखा है।"

महाराणा ने कहा—"वह और कोई हो सकती है, पर तेरापथी तो हर्गिज नही हो सकती।" इस प्रकार पता लगता है कि वे जैन आचार-सम्बन्धी कल्प्याकल्प्य से बहुत अच्छी तरह परिचित थे। तेरापथ के प्रति तो उनकी निष्ठा अत्यन्त दृढ हो गई थी।

व्याख्यान मे पत्थर

जो व्यक्ति तेरापथियो को मेवाड से ही निकलवा देना चाहते थे, उनके लिए महाराणा का तेरापथ में इतनी रुचि रखना, उन्हें निमन्त्रित करना और फिर उस निमन्त्रण पर साधुओ का उदयपुर में फिर से आ जाना, ये सब कार्य अत्यन्त कष्टकर हो रहे थे। व्याख्यान-श्रवण के लिए काफी सख्या में जनता का आवागमन तो और भी अधिक दुस्सह था। अनेक प्रकार के प्रयास करके भी वे जनता को रोक नही पा रहे थे। आखिर द्वेष-पोषण का उन्हे जब और कोई मार्ग नही मिला तो रात्रि-कालीन व्याख्यान में बाधाएँ उपस्थित करने लगे।

व्याख्यान नीचे बाजार में हुआ करता था, अत जनता खुले मैदान में बैठा करती थी। द्वेषी-व्यक्तियो ने इधर-उधर से छिपकर पत्थर आदि फैंकने प्रारम्भ किये। एक बार तो एक पत्थर हेमराजजी स्वामी के पास बैठे बाल साधु जीतमलजी महाराज (जयाचार्य) के कान के पास से होकर गुजरा। गृहस्थो द्वारा अनेक उपाय करने पर भी वह उपद्रव शान्त नही हो सका।

उन्ही दिनो महाराणा ने भंडारी से पूछ लिया कि केसर ! शहर में सतों के किसी प्रकार का कोई कष्ट तो नही है ?

भडारीजी ने निवेदन किया—"नही, और तो किसी प्रकार का कष्ट नहीं है, पर एक बात अवश्य है कि सत रात को बाजार में व्याख्यान देते हैं, तब कुछ लोग इधर-उधर से पत्थर फैंकते हैं। हम लोग काफी सावधानी बरतते हैं फिर भी फैंकने वाले चुपके से फेंक ही जाते है। किसी के चोट न लग जाए—यह डर बना ही रहता है।"

महाराणा ने यह वात सुनी तो बहुत खिन्न हुए, वोले—"इसका वन्दोवस्त तो जल्दी-से-जल्दी करना होगा। मेरे निमत्रण पर सत यहाँ पधारे और लोग उनको कष्ट दें, यह तो स्वय मुझे कष्ट देने के समान है। उन्होंने उसी दिन से कुछ व्यक्तियो को गुप्त रूप से वहाँ नियुक्त कर दिया। रात को व्याख्यान में जव कुछ व्यक्ति धूल या पत्थर फेंक कर भागे, तो उन गुप्त व्यक्तियों ने उन्हें पकड़ने का प्रयास किया। अन्य तो सव भाग निकले, पर एक आदमी पकड़ा गया।

भगवान् का अपराधी

दूसरे दिन उस व्यक्ति को जव महाराणा के सम्मुख उपस्थित किया गया तो उन्होने उसे वहुत भिड़का और उसके अपराध की गुरुता वतलाते हुए उसे मृत्यु-दड का आदेश सुना दिया। यह आदेश ऐसा था कि सारे समाज में खलवली मच गई।

लड़के की माँ ने महाराणा से अपने इकलौते पुत्र को छोड़ देने की याचना की। पचो ने भी दरवार में जाकर इस विषय में काफी दवाव डाला। महाराणा ने उन सवको उत्तर देते हुए कहा—"जोधपुर के महाराज मानसिंहजी ने सत्ताईस आदमियो को मृत्यु-दड दिया है, पर मैंने तो आजतक किसी को ऐसा दड नहीं दिया। यह प्रथम ही अवसर है, किन्तु यह दड भी मैं मेरे लिए नही दे रहा हूँ। यह सतो का अपराधी है, इसलिए भगवान् का अपराधी है। इससे छोटा दड इसके लिए हो ही नहीं सकता।" पच निराश होकर वापिस आ गये। सारे शहर में इस वात की वड़ी चर्चा चली।

चिन्ता का निराकरण

हेमराजजी स्वामी आदि सतों ने यह वात सुनी तो केसरजी से कहा—"भंडारीजी! यह क्या हो रहा है? हम सतो को कोई कष्ट देता है, गाली देता है या पीट भी देता है तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसे सहन करें। हमारे लिए किसी मनुष्य को मृत्यु-दंड दिया जाये, यह तो विल्कुल ही उपयुक्त नहीं लगता।"

सतो की भावना समझकर भडारीजी ने महाराणा के सामने वात चलाते हुए कहा—"संत फरमा रहे थे कि हमारे लिए किसी भाई को मृत्यु-दड दिया जाना ठीक नहीं।"

महाराणा ने मुस्कराते हुए कहा—"सत जो फरमा रहे है, वह उनके गौरव के अनुकूल ही है। हम भी किसी को मृत्यु-दंड देना नहीं चाहते। यह तो हमने उन लोगों के मन में भय पैदा करने के लिए किया था, ताकि भविष्य में कोई व्यक्ति साधुओ को कष्ट न दे। तुम संतो से निवेदन कर देना कि उनकी इच्छा के तथा प्रतिष्ठा के विरुद्ध कोई काम नहीं किया जायेगा। इस ओर से वे सदा निश्चिन्त रहें। भडारीजी महाराणा की वात सुनकर आश्वस्त हुए और वहाँ से आकर संतो को महाराणा का आन्तरिक उद्देश्य वतलाया। सत काफी चिन्तित थे, पर भडारीजी के समाचारो से पूर्ण-रूपेण निश्चिन्त हो गये।

एकलिंगजी की आण

दड को कार्यान्वित किये जाने से पूर्व जनता महाराणा के विचारो को बदलने का प्रयास कर रही थी। उस व्यक्ति को क्षमा-दान दिये जाने के लिए उनपर दबाव डाला जा रहा था।

महाराणा ने आखिर उस व्यक्ति को बुलाया और कहा—"तुझे मृत्यु-दड ही दिया जाता, किन्तु सत इस बात से प्रसन्न नही हैं। अत इस बार तो तुझे छोडता हूँ, पर आगे कभी ऐसा काम करेगा तो एकलिंगजी की आण (शपथ) लेकर कहता हूँ कि फिर नही छोड़ूँगा।"

महाराणा की इस धमकी के पश्चात् द्वेषी व्यक्तियो का उपद्रव शांत हो गया।

सफल प्रवास

उदयपुर की जनता मे तेरापथ के प्रति जिज्ञासा-वृत्ति तो पहले ही जागृत हो चुकी थी, पर इस घटना-क्रम ने उसे और उद्दीप्त कर दिया। उस प्रवास-काल में लोगो का आवागमन बहुत अच्छा रहा। उपकार भी काफी हुआ। महाराणा-परिवार मे सतो के प्रति जो भक्ति-भाव उत्पन्न हुआ, उसका प्रभाव प्राय. अगली पीढियो तक बना रहा। बीच-बीच में नया सम्पर्क होते रहने से वह फिर ताजा भी बनता गया।

सतो का लगभग एक महीने का वह उदपुर-प्रवास तेरापंथ के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। यद्यपि महाराणा की दो बार की प्रार्थना के पश्चात् भी भारमलजी स्वामी का उदयपुर में पुन पदार्पण नही हो सका, परन्तु सतो के उस सफल प्रवास ने उसकी यत् किंचित् पूर्ति कर दी थी।

: ६ :

अन्तिम चरण

विहार-स्थगन

भारमलजी स्वामी की अवस्था काफी वृद्ध हो चुकी थी। विहार भी छोटे ही करने लगे थे। संवत् १८७७ का चातुर्मास नाथद्वारा करने के पश्चात् उनका विचार मारवाड़ में जाने का था। चातुर्मास उतरने पर कांकरोली तथा राजनगर में विराज कर वहाँ सन्त-सतियों को आगामी कार्य का दिशा-दर्शन दिया और उन्हें विहार करवाया। स्वयं भी विहार की तैयारी करने लगे, परन्तु तभी शरीर में कुछ गडवड हो गई। फलस्वरूप कुछ समय के लिए विहार को आगे सरका देना पडा। थोडा ठीक होने पर वहाँ से विहार कर केलवा पधार गये। होली चातुर्मासी वही पर की।

वृद्धावस्था में होने वाला हर रोग मिट जाने पर भी कुछ न कुछ अशक्ति छोड ही जाता है। शीघ्रता से उस कमी को पूराकर पाना प्राय. सभव नहीं होता। भारमलजी स्वामी ने थोडा ठीक होते ही विहार तो कर दिया, पर अशक्ति विद्यमान थी। विहार के परिश्रम ने उसमें कुछ और वृद्धि कर दी। फलत रोग ने शरीर को फिर घेर लिया। औषधोपचार किया गया, परन्तु कोई विशेष लाभ नहीं हो सका। ऐसी स्थिति में मारवाड की ओर विहार कर पाना सभव नही था, अतः उस विचार को स्थगित ही कर देना पडा।

तपस्या मे अभिरुचि

'कंखे गुणे जाव सरीर भेउ'[1]—अर्थात् साधु अंतिम सांस तक गुणवृद्धि की आकांक्षा करता रहे। आगम की इस शिक्षा के वे एक मूर्त उदाहरण थे। जब उन्होने शरीर की शक्ति को घटते हुए देखा और सोचा कि अब मेरे लिए जन-पद विहार के द्वारा लोगो में धर्म-प्रसार कर पाने की शारीरिक क्षमता पुनः प्राप्त कर लेना कठिन है, तो उन्होंने शरीर से तत्काल दूसरा काम लेने की तैयारी कर ली।

उन्होने सन्तों को बुलाकर कहा—"शरीर नश्वर होता है, अत· उसके विनाश में तो किसी को आश्चर्य हो ही नहीं सकता। परन्तु मैं चाहता हूँ कि उसके विनाश से पहले उससे कुछ सार और खींच लूँ। धर्म-प्रसार का कार्य मैंने किया है, पर अब शरीर उसके उपयुक्त नहीं रह गया है, अत. मेरी अभिरुचि तपस्या करने की हो रही है।" सन्तों ने औषधि-प्रयोग के लिए प्रार्थना की, पर उन्होंने अपने विचारानुसार तपस्या की औषधि को ही प्रमुखता देने का विचार दुहराया।

तपस्या प्रारम्भ करते हुए उन्होंने पहले-पहल वैशाख कृष्णा अष्टमी से चौविहार तेला

१—उत्त० ४-१३

प्रारम्भ किया। उसके पश्चात् तो तपस्या का एक सिलसिला ही चालू हो गया। उपवास, बेले, तेले और चोले तक की तपस्या अनेक बार दुहराई गई। पारण के दिन भी वे ऊनोदरता के लिए अति अल्प मात्रा में ही भोजन लिया करते थे। तपस्या के उस क्रम में कम-से-कम उपवास से लेकर अधिक-से-अधिक उन्होने दस दिन का उपवास किया, जो कि आषाढ पूर्णिमा के दिन पूर्ण हुआ। उसके पश्चात् श्रावण महीने में एकांतर उपवास चालू किये। बीच-बीच में बेला आदि की तपस्या भी होती रही।

इस प्रकार उन्होने बडी शूर-वीरता के साथ अपने शरीर को तपस्या के द्वारा काफी सुखा लिया। 'आत्मान्य· पुद्गलश्चान्य:' —'आत्मा और यह पुदगलमय शरीर एक नही है; किन्तु भिन्न-भिन्न है'—यह भावना उनकी तपस्या में व्याप्त थी। पूर्ण मानसिक समाधि के साथ वे अपने निर्णीत मार्ग पर चलते रहे।

दर्शनार्थियों का आगमन

केलवा में भारमलजी स्वामी का लगभग नो महीने तक लगातार विराजना हुआ। सं० १८७७ की फाल्गुण शुक्ला त्रयोदशी को वे पधारे थे और सं० १८७८ के मार्गशीर्ष तक विराजे। उस वर्ष का चातुर्मास अयाचित-वरदान के रूप में केलवे को मिला। स्थानीय जनता के लिए जहाँ वह परम प्रसन्नता की बात थी, वहाँ उनके शरीर का अस्वस्थपन चिंता का विषय भी बना हुआ था। तपस्या प्रारम्भ कर देने पर उनके स्वास्थ्य में थोड़ा सुधार अवश्य हुआ, पर वह अस्थायी ही था। बीच-बीच में गडबड बढ जाती थी। शारीरिक अस्वस्थता तथा तपस्या के समाचार जब जनता में दूर-दूर तक पहुँचे तो मेवाड़ तथा मारवाड से सहस्रो लोग दर्शन के लिए आने लगे।

उस समय मारवाड या मेवाड में आवागमन के साधन बहुत ही अपर्याप्त थे। रेल आदि का तो विकास ही बाद में हुआ था, पर यहाँ तो सडकों आदि की भी सुविधा नही थी। सारा आवागमन प्राचीन समय की बैलगाडियो और घोडो पर ही अवलम्बित था। मारवाड से मेवाड में आते समय केवल घोडों पर ही निर्भर रहना 'डता था। अरावली पर्वत-श्रेणी में से होकर बैलगाडी जा नही सकती थी। इन सब दुविधाओं के बावजूद भी गुरु-दर्शन के अभिलाषी धर्म-प्रेमी व्यक्ति वहाँ पहुँचे और भारमलजी स्वामी के दर्शन कर कृत-कृत्य हो गये। उन आगन्तुक भक्त-जनों के लिए भारमलजी स्वामी के वे अन्तिम दर्शन थे।

चातुर्मास समाप्त होने पर संत-सतियो का भी आगमन प्रारम्भ हो गया। बहुत शीघ्र ही वे वहाँ काफी संख्या में उपस्थित हो गये। वस्तुतः गुरु-दर्शन की अभिलाषा साधु-साध्वियों के पैरों में एक त्वरता भर देती है। उनकी उस समय की गति अन्य अवस्था की गति से स्वभावत. ही भिन्न हो जाती है। गुरु-दर्शन की उत्कट अभिलाषा लिए जब वे गुरु के चरणो में उपस्थित होते हैं तो उनका मार्ग-श्रम एक साथ ही समाप्त हो जाता है। उस समय की उनकी मान-

सिक तृप्ति उनके शरीर को भी तृप्त कर देती है। यह एक ऐसी आन्तरिक खुराक है जो पिपासित व्यक्ति को शीतल वायु के झोंके की तरह तृप्त कर जाती है, पर वह तृप्ति किधर से आई इसका कोई पता ही नहीं लगने पाता।

अन्तिम शिक्षा

चतुर्विध संघ की काफी बड़ी मात्रा में उपस्थिति थी। भारमलजी स्वामी ने इस अवसर का उपयोग संघ के लिए सम्बल-स्वरूप अन्तिम शिक्षा देने में किया। उनकी शिक्षा का संक्षेप में सार यह था—"सब साधु-साध्वियां आचार-विचार में सावधान रहना, भिक्षु-शासन में दृढ़ निष्ठा रखना, तथा स्वामीजी की सर्व मर्यादाओं का अखंडरूप से पालन करते रहना आदि।"

आत्महित और संघहित को दृष्टि में रखते हुए भारमलजी स्वामी ने अस्वस्थ अवस्था में भी उस दिन लगभग एक प्रहर तक लगातार विराज कर सबको आश्चर्यचकित कर दिया। संघ-व्यवस्था के अपने उत्तरदायित्व में उनकी पूर्ण-जागरूकता का यह एक ज्वलंत उदाहरण कहा जा सकता है।

आत्मालोचन

उसी अवसर पर उन्होंने आत्मालोचन किया। अपने समस्त जीवन का सिंहावलोकन करते हुए उन्होंने ज्ञात तथा अज्ञात रूप से किसी भी व्यक्ति के साथ हुए कटु-व्यवहार के लिए क्षमा-याचना की।

फिर राजनगर में

राजनगर बड़ा शहर था। अत: केलवे की अपेक्षा औषध आदि का योग वहाँ अधिक ठीक बैठ सकता था। इसलिये जनता ने वहाँ पधार कर उपचार कराने की प्रार्थना की। भारमलजी स्वामी ने उस बात को मान लिया और विहार करके राजनगर पधार गये। वहाँ औषधोपचार प्रारम्भ किया गया। धीरे-धीरे शरीर में साता होने लगी। अन्न की रुचि भी बढ़ी। शक्ति भी ठीक रहने लगी। सबको लगा कि अब रोग पर विजय पा ली गई है। किन्तु तभी एक दिन अचानक ही उनको कालाज्वर ने घेर लिया। फलस्वरूप बोलना बन्द हो गया और वे मूर्च्छित-प्राय: हो गये।

सागारिक अनशन

संतों ने जब देखा कि अब अधिक अवसर हाथ में नहीं है तो उन्होंने औषधि और पानी का आगार रखाकर यावज्जीवन के लिए उन्हें सागारिक अनशन कराने के विषय में सोचा। अंतरङ्ग की सावधानी हो और वे शिर हिला कर स्वीकृति दे सकें—इस आशा से संतों ने उन्हें पूछा। उन्होंने तत्काल स्वीकृति-सूचक शिर हिला दिया। यों सावधानी-युक्त अनशन करने के बाद दूसरे दिन प्रात: स्थिति में कुछ सुधार हुआ। उन्होंने बोलकर सूंठ और पानी लिया।

अन्न की रुचि के विषय में पूछने पर उन्होने पूर्ण सावधानी का परिचय देते हुए कहा—"याव-जीवन के लिए सागारिक-अनशन किया हुआ है।"

महाप्रयाण

मध्याह्नोत्तर-काल में भारमलजी स्वामी विराजे थे। चारों ही तीर्थ सेवा में बैठे हुए थे। उस समय मालव देश से कुछ साध्वियाँ पहुँची और उन्होंने दर्शन किये। मालव में किये गए धर्म-प्रसार की बातें सुनाकर वे वहाँ से लाया हुआ कपड़ा दिखाने लगी। तत्पश्चात् उन्होने कागज के पाठे भी खोलकर दिखाये। कागज काफी अच्छे थे। आगम-लेखन के कार्य में आने योग्य थे। भारमलजी स्वामी उन्हें देख ही रहे थे कि बीच में ही उन्हें फिर से मूर्च्छा आ गई।

रायचन्दजी स्वामी तथा खेतसीजी स्वामी ने अवसर देखकर चौविहार अनशन कराते हुए कहा—"यदि आप श्रद्धते हों तो आपको यावज्जीवन के लिए चारो आहारो का प्रत्याख्यान है।" परन्तु मूर्च्छा के कारण कोई पता नही लग सका कि उन्होंने उस बात को श्रद्धा या नहीं। प्राय तीन प्रहर तक मूर्च्छित रहने के पश्चात् लगभग आधी रात के समय उनका शरीरांत हो गया। उनके महा-प्रयाण का वह दिन सम्वत् १८७८ माघ कृष्णा अष्टमी का था।

महाराणा का आग्रह

भारमलजी स्वामी के दिवगत होने की बात रात-रात में ही दूर-दूर तक फैल गई। नाथद्वारा, कांकरोली, केलवा आदि आस-पास के अनेक गावों के सहस्रों आदमी राजनगर पहुँच गये। बाद में जब उदयपुर में वह खबर पहुँची तब महाराणा भीमसिंह जी ने 'चलावे' में होने वाला सारा व्यय राज्य-कोष से लगाने के लिये कहा। राणा का वह केवल कथन ही नहीं था किन्तु एक आग्रह भी था।

लोग महाराणा की इच्छा के विरुद्ध कुछ कहना नही चाहते थे पर साथ ही उस बात को स्वीकार करना भी नहीं चाहते थे। तेरापथी श्रावक स्वय ही सारा व्यय वहन करना चाहते थे।

आखिर इस समस्या को हल करने के लिए केसरजी भण्डारी ने ही महाराणा के पास जाने का साहस किया। उन्होंने महाराणा को बताया कि आप जिस प्रकार भारमलजी स्वामी के प्रति श्रद्धा रखते हैं उसी प्रकार जनता भी उनके प्रति श्रद्धा रखती है। वे सब के ही गुरु थे। इस अवसर पर यदि अकेले आप ही व्यय का भार वहन करेंगे तो जनता की भावना को तृप्ति कैसे मिलेगी ? इस विषय में आपको मेरी प्रार्थना माननी होगी और जनता को भी अवसर देना होगा।

आखिर महाराणा ने भण्डारीजी की बात को मान लिया और जनता को भी रुपया लगाने का अवसर दिया। उन्होंने कहा—"जितना भी व्यय हुआ है, उसमें कम-से-कम आधा तो मेरा ही होगा। शेष आधे में तुम लोग जैसे चाहो वैसे परस्पर विभक्त कर सकते हो।" इस प्रकार महाराणा और जनता के सम्मिलित व्यय से भारमलजी स्वामी के देह का संस्कार किया गया।

: १० :

ज्ञातव्य विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

(१) जन्म सवत्— १८०४

(२) द्रव्य-दीक्षा सवत्— १८१३

(३) भाव-दीक्षा सवत्— १८१७ आषाढ पूर्णिमा

(४) युवाचार्य पद सवत्—१८३२ मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी

(५) आचार्य पद सवत्— १८६० भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी

(६) स्वर्गवास सवत्— १८७८ माघ कृष्णा अष्टमी

महत्त्वपूर्ण स्थान

(१) जन्म स्थान— मूहा

(२) द्रव्य-दीक्षा स्थान—बागोर

(३) भाव-दीक्षा स्थान—केलवा

(४) आचार्य-पद स्थान—सिरियारी

(५) स्वर्गवास स्थान— राजनगर

आयुष्य-विवरण

(१) गृहस्थ —१० वर्ष

(२) द्रव्य-दीक्षा — ४ वर्ष

(३) साधारण साधु—१५ वर्ष

(४) युवाचार्य —२८ वर्ष

(५) आचार्य —१८ वर्ष

(६) सर्व आयु —७५ वर्ष

विहार-क्षेत्र

भारमलजी स्वामी के विहार-क्षेत्र भी स्वामीजी की तरह राजस्थान के तत्कालीन राज्य—मेवाड, मारवाड, ढूढाड और हाडोती ही थे।

चातुर्मास

भारमलजी स्वामी ने चार चातुर्मास द्रव्य-दीक्षा के समय और चौवालीस चातुर्मास तेरापथ के आचार्य बनने से पहले किये थे। उनमें से केवल एक–सवत् १८२४ का चातुर्मास स्वामीजी से अलग बगड़ी में किया था। शेष सब स्वामीजी के साथ ही किये थे। आचार्य-अवस्था में

अठारह चातुर्मास किये थे।

उनका विवरण इस प्रकार है

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
पिसागण	१	१८६१
पाली	३	१८६२,६८,७३
खेरवा	१	१८६३
केलवा	२	१८६४,७८
नाथद्वारा	३	१८६५,७४,७७
आमेट	१	१८६६
बालोतरा	१	१८६७
जयपुर	१	१८६९
माधोपुर	१	१८७०
बोरावड	१	१८७१
सिरियारी	१	१८७२
कांकरोली	१	१८७५
पुर	१	१८७६

शिष्य-संपदा

भारमलजी स्वामी के शासन-काल में बयासी दीक्षाएँ हुईं। उनमें अड़तीस साधु और चौवालीस साध्वियाँ थीं। भारमलजी स्वामी दिवगत हुए उस समय पैंतीस साधु और इकतालीस साध्वियाँ विद्यमान थी।

चतुर्थ परिच्छेद

आचार्य श्री रायचंदजी

: १ :

गृहि-जीवन

सम्पन्न घर

श्री रायचन्दजी स्वामी तेरापथ के तृतीय आचार्य थे। उनका साधारण साधु-अवस्था से एक उपनाम 'ब्रह्मचारी' तथा आचार्य होने के बाद से एक और उपनाम 'ऋषिराय' भी काफी प्रचलित है। वे राजस्थान के उदयपुर के डिवीजन (मेवाड) के ग्राम 'बडी रावलियां' में विक्रम सवत् १८४७ में उत्पन्न हुए थे। यह ग्राम गोगूदा (मोटागाम) के पास ही अवस्थित है। उनके पिता का नाम शाह चतरोजी तथा माता का नाम कुशलांजी था। वे ओसवाल जाति में 'बब' गोत्र के थे। शाह चतरोजी का घर ग्राम में अच्छा सम्पन्न माना जाता था। उनका परिवार आर्थिक दृष्टि से भी और व्यक्तियो की दृष्टि से भी भरापूरा था। रायचदजी स्वामी उनके तीसरे पुत्र थे। नानजी और मोतीजी उनके क्रमश प्रथम और द्वितीय पुत्र थे।

धर्म का प्रवेश

शाह चतरोजी का स्वामी भीखणजी के प्रति श्रद्धा-भाव अपनी ससुराल की प्रेरणा से हुआ था। उनके ससुर शाह भोपजी नाथद्वारा के रहने वाले थे। वे स्वामीजी के बडे भक्त श्रावक थे। उनके एक पुत्र खेतसीजी ने स्वामीजी के पास दीक्षा ग्रहण की थी। उनके घर में धार्मिक वातावरण बहुत अच्छा था। उसी घर के सस्कारो में पली हुई कुशलांजी जब गृहिणी के रूप में शाह चतरोजी के घर गई तो वहाँ भी उन सस्कारो का प्रसार हुआ। फल-स्वरूप सारा परिवार स्वामीजी का भक्त हो गया। यद्यपि वहाँ केवल एक व्यक्ति के माध्यम से धर्म का प्रवेश हुआ था, पर शीघ्र ही वह सब के मानस में रम गया।

विराग-भाव

रावलियाँ में सत-सतियो का आवागमन काफी रहा करता था। गोगूदा और नाथद्वारा के मार्ग पर अवस्थित होने से स्वय स्वामीजी का भी वहाँ अनेक बार पदार्पण हुआ। एक बार स्वामीजी की शिष्या वरजूजी वहाँ आई और कुछ दिन रही थी। उससे वहाँ काफी अच्छा उपकार हुआ। अनेक घर श्रद्धालु बने। उनकी ही संगति से बालक रायचदजी तथा उनकी माता कुशलांजी को विराग उत्पन्न हुआ।

जब उन लोगों ने परिवार वालों के सामने अपनी दीक्षा की भावना व्यक्त की तो प्राय: सभी ने उसका विरोध किया। रायचंदजी स्वामी के दोनों बड़े भाइयो के विवाह पहले ही चुके थे। अब उनके विवाह की ही वारी थी, अत· विवाह आदि के विविध प्रलोभनो के द्वारा उन्हें फुसलाने का प्रयास किया जाने लगा। परन्तु जिनके चारित्र-मोह का क्षयोपशम हो चुका

होता है, वे इन प्रपचो में फसाए नहीं जा सकते। अनेक प्रयासो के बाद अन्त में परिवार वालो ने जब देख लिया कि वे किसी भी प्रकार के प्रलोभन मे आने वाले नहीं है, तब उन्हें हार कर आज्ञा देनी ही पड़ी।

स्वामीजी का आगमन

दीक्षा की इच्छा हो जाने के बाद व्यक्ति को ससार में रहना बहुत अखरने लगता है। उसकी भावना शीघ्र-से-शीघ्र संयम-मार्ग पर लगकर आत्म-कल्याण के लक्ष्य को प्राप्त करने की ही हुआ करती है। माता और पुत्र जब दीक्षा को उद्यत हुए तब कुछ समय तो परिवार वालों ने आज्ञा न देकर लगा दिया। परिवार वालों मे आज्ञा प्राप्त कर ली गई तो दीक्षा देने वाले की प्रतीक्षा करनी पडी। कुछ ही प्रतीक्षा के बाद स्वामी भीखणजी का उधर पदार्पण हुआ। माता और पुत्र ऐसे ही अवसर की बाट देख रहे थे। उन्होंने स्वामीजी मे दीक्षा देने की प्रार्थना की।

स्वामीजी को उनकी भावना का पता तो पहले से ही था। सत-सतियों के द्वारा उनके तत्त्वज्ञान सीखने आदि के विषय में भी उनको जानकारी थी। अब उनकी उत्कट विराग-वृत्ति का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने का अवसर मिला। वे स्वामीजी की कसौटी पर खरे उतरे, अतः उन्होंने उन्हें दीक्षित करने की अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

: २ :

साधु-जीवन

सयम-ग्रहण

शाह् चतरोजी ने उस अवसर पर वहुत उत्साह् के साथ दीक्षा-उत्सव मनाया। विरागी को हथिनी पर विठा कर शोभा-यात्रा निकाली। दीक्षा-उत्सव देखने के लिए काफी लोग एकत्रित हुए। सवत् १८५७ चैत्र पूर्णिमा के दिन स्वामीजी ने उन दोनो को दीक्षा प्रदान की। कुशलांजी को स्वामीजी ने वरजूजी के पास रहकर सयमानुष्ठान की आवश्यक शिक्षा ग्रहण करने का आदेश दिया और वालक साधु रायचदजी को अपने पास रखा।

भविष्यवाणी

दीक्षा के समय रायचदजी स्वामी की अवस्था लगभग ग्यारह् वर्ष की थी। उनकी बुद्धि काफी तीव्र और उपयोग निर्मल था। एक वार वताई गई वात को भी वे वहुत अच्छी तरह् से हृदयगम कर लेते थे। वे आचार-व्यवहार में बडे सावधान और अत्यंत विनयी थे। मनुष्य के अद्वितीय पारखी स्वामीजी ने उनकी विशेषताओं को वडे ध्यान से परखा था। तभी तो एक वार उन्होंने कहा—"रायचन्द तो भारमल का भार सभालने योग्य व्यक्ति है।"[1]

'ब्रह्मचारी' कह रहा है

यद्यपि स्वामीजी की सेवा में रहने का रायचदजी स्वामी को वहुत ही कम अवसर प्राप्त हुआ था। उनकी दीक्षा के लगभग ढाई वर्ष वाद ही स्वामीजी दिवंगत हो गये, तथापि उस थोडे से काल में उन्होंने अपनी योग्यता के आधार पर स्वामीजी का वह विश्वास प्राप्त कर लिया जो कि अनेक वृद्धों को भी प्राप्त होना सहज नही था। स्वामीजी उनकी वात का बडा आदर करते थे। निम्नोक्त घटना इस वात को स्पष्ट कर देती है।

स्वामीजी बीमार थे और अनशन करने का सोच रहे थे, तव एक दिन वाल साधु रायचंदजी ने उनके शरीर की ओर देखकर कहा—"स्वामीजी अव तो शरीर का पराक्रम क्षीण पड रहा मालूम होता है।"[2] उनकी इसी एक वात को सुनकर स्वामीजी ने भारमलजी स्वामी को

१—बुद्धि पुन्य गुण देखनें, भिक्षु भाख्यो एम।
पटलायक दीसै प्रगट, निमल निभावण नेम॥ (ऋ० सु० ५ दो०१)

२—पूजनें कहै पराक्रम हीण पडिया, ऋषिराय तणी सुण वायो।
भिक्खु पहिलां तन तोल त्यारी था, सुण सिंह ज्यूं उठ्या मुनिरायो॥
(भि० जि० र० ५९-११)

बुलाकर कहा था कि अब मुझे संथारा करने में देर नहीं करनी है। और उसके बाद तत्काल ही स्वामीजी ने संथारा कर दिया।

मैं मोह क्यों करूं ?

बालक होते हुए भी वे एक गंभीर चिन्तक थे। साधना का महत्त्व उन्होंने समझा था। इसीलिए हर बात के साथ उनकी विचारकता टपकती थी। स्वामीजी के अन्तिम दिनों की बात है। वे स्वामीजी की सेवा में बैठे थे। स्वामीजी ने कहा—"ब्रह्मचारी ! तुम बुद्धिमान् बालक हो, अत. मेरे प्रति किसी प्रकार का मोह मत करना।"

उन्होंने उसी समय मानो स्वामीजी को आश्वस्त करते हुए कहा था—"नहीं प्रभो ! आप तो अपने मनुष्य-जीवन को सार्थक कर रहे है, फिर मैं मोह क्यों करने लगा ?"[1]

आगम-ज्ञान

संयम-ग्रहण करने के पश्चात् कुछ ही वर्षो में उन्होंने अच्छा आगम-ज्ञान अर्जित कर लिया था। थोकड़ों तथा स्वामीजी के ग्रन्थों के माध्यम से वे आगम-ज्ञान के महासमुद्र में प्रविष्ट हुए और क्रमश· पारगत विद्वान् बन गये। जिन आगमों को उन्होंने पूर्णरूप से कण्ठस्थ किया था, उनके नाम ये हैं —आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और बृहत्कल्प। समस्त आगमों का उन्होंने अनेक बार अर्थ-सहित स्वाध्याय किया था। धर्म-चर्चा करने में वे बहुत रुचि रखा करते थे। उस विषय की उनमें परिपूर्ण निपुणता भी थी।

सरस व्याख्यानदाता

व्याख्यान की कला में भी उन्होंने परिपूर्णता प्राप्त की थी। अनेक व्याख्यान तथा उसके उपयुक्त बहुत सारी सामग्री उन्होंने कण्ठस्थ की थी। वे बडा रसीला व्याख्यान दिया करते थे। कंठों में माधुर्य था। आवाज बडी तेज थी। कहा जाता है कि जब वे व्याख्यान प्रारंभ करते, तब आस-पास के गाँवों तक उनकी आवाज सुनाई दे जाती थी। भारमलजी स्वामी के सामने ही व्याख्यान देने का उन्हें बहुधा अवसर मिलता रहता था। चातुर्मास में प्रभात का व्याख्यान भारमलजी स्वामी देते थे, तब रात्रिकालीन व्याख्यान में रामचरित वांचने का कार्य-भार आपको ही मिला करता था।

१—रायचंद ब्रह्मचारी ने जाणो, सीख दे सोभती।
तू बालक छै बुद्धिमानो, मोह कीजे मती॥
ब्रह्मचारी कहै वाणो, गुरु वच सुदरू।
आप करो जनम को कल्याणो, हूं मोह किम करूं॥ (भि० ज० र० ५६-७,८)

निपुण सहयोगी

लगभग अठारह वर्ष तक उन्हें भारमलजी स्वामी की सेवा मे रहने का अवसर प्राप्त हुआ। उस समग्र समय में वे आचार्यदेव के निपुण सहयोगी बनकर रहे। बाह्य सहयोगो के साथ-साथ आचार्यदेव उनसे सघ-सम्बन्धी आंतरिक कार्यों में भी सहयोग लेते रहते थे। उससे जहाँ स्वय उनको सघ-व्यवस्था का अनुभव प्राप्त होता था, वहाँ भारमलजी स्वामी को भी पूर्ण साता प्राप्त हुआ करती थी। यह उनकी ऐसी सेवा थी, जिसे हर कोई साधु नही कर सकता था। इस प्रकार साधारण साधु के जीवन से ही उनके व्यक्तित्व ने कई असाधारणताएँ लिए हुए विकास प्राप्त किया था।

: ३ :

उत्तराधिकार-प्राप्ति

अनेक योग्य व्यक्ति

आचार्य भारमलजी स्वामी की अवस्था बहुत वृद्ध हो चुकी थी। शरीर निरन्तर अस्वस्थ रहने लग गया था। अधिक विहार कर सकने की सम्भावना नहीं रह गयी थी। ऐसी स्थिति में उन्होंने संघ-व्यवस्था के अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिए अपना उत्तराधिकारी घोषित करने का विचार किया।

सघ में उस समय अनेक प्रभावशाली तथा योग्य सत थे। अत यह समस्या भारमलजी स्वामी के सामने अवश्य उपस्थित हुई होगी कि उनमें से किसको नियुक्ति की जाये ? उन अनेको में एक हेमराजजी स्वामी थे। उनकी सेवाएँ सघ के लिए अतुलनीय थीं। उनका आगम-ज्ञान भी दूसरो से कही अधिक विस्तृत और गहरा था। स्वामीजी की सेवा में रहकर उन्होंने जो कुछ अनुभव अर्जित किया था, वह भी दूसरो के लिए प्राय. अलभ्य ही था। इसी गणना के दूसरे सत खेतसीजी स्वामी थे। वे इतने भद्र और विनीत प्रकृति के थे कि उनका दूसरा नाम 'सतजुगी' प्रचलित हो गया था। वे रायचन्दजी स्वामी के ससार-पक्षीय मामा थे। तीसरे रायचदजी स्वामी थे जो कि एक प्रतिभा-संपन्न युवक साधु थे।

परामर्श

भारमलजी स्वामी को उन्हीं कुछ सतो में से किसी एक को चुनकर सघ का उत्तराधिकारी नियुक्त करना था। किन्तु उनमें से किसको चुना जाए—यह निर्णय करना सरल नहीं था। उन सबमें अपनी-अपनी विशेषताएँ थी जो कि भारमलजी स्वामी के मन को भी किसी एक निश्चय पर पहुँचने से पूर्व ही दूसरी ओर आकर्षित करती रहती थीं। सम्भवत. इसीलिए उन्होंने नियमतः आवश्यक न होते हुए भी सघ के कुछ अनन्य भक्त साधुओं से उस विषय में परामर्श कर लेने की आवश्यकता महसूस की।

हेमराजजी स्वामी और खेतसीजी स्वामी को बुलाकर उन्होंने अपने विचार उनके सामने रखे, तथा उस विषय में उनकी राय जाननी चाही। साथ ही तद्-विषयक निर्णय पर भावी प्रतिक्रिया का भी विचार किया। दोनों ही सन्तों ने उस विषय में भारमलजी स्वामी के विचारों का पूर्णत सम्मान किया और कहा—"आप हम सन्तो की ओर से निश्चिंत रहकर घ के भावी-हित के लिए अपने निर्णयानुसार कार्य करें। हम सब तन-मन से आपके निर्णय

को वहन करने के लिए उद्यत है। युवक साधु रायचदजी इस भार के लिए सर्वथा योग्य हैं। आप उन्हें यह पद सौंपे।"[1]

सघ के स्तम्भस्वरूप माने जाने वाले दोनो ही सन्तो ने जब इस प्रकार से भारमलजी स्वामी के विचारो का अनुमोदन किया तो वे उन दोनो ही सन्तो की पद-निर्लिप्त भावना से बडे प्रभावित हुए।

दो नाम

उसके बाद उन्होने उत्तराधिकारी की नियुक्ति के लिए एक पत्र लिखा। उसमें दो व्यक्तियो का नामोल्लेख करते हुए लिखा है—"सर्व साध-साधवी खेतसीजी रायचदजी री आगन्या मांहें चालणो।" खेतसीजी स्वामी ससार-पक्ष से रायचदजी स्वामी के मामा थे। इस सम्बन्ध के आधार पर ही पत्र में उपर्युक्त प्रकार से दोनों नाम लिखे गये थे।

इस पर पास में बैठे बाल साधु जीतमलजी (जयाचार्य) ने निवेदन किया—"भगवन्! आप चाहे जिसका नाम लिखें, परन्तु नाम एक ही होना चाहिए। दो नाम किसी भी स्थिति में नहीं रहने चाहिएँ।"

इस सुझाव पर भारमलजी स्वामी ने ध्यान दिया और केवल रायचदजी स्वामी का ही नाम रखा।[2]

१—खेतसीजी हेमजी भणी, पूछीनै दियो पाट।
ब्रह्मचारी ऋषि रायचन्द नै, थिर कर राखज्यो थाट॥ (भा० च० ८-६)

तथाः—

सतजुगी हेम वयण वदीजे, रायचदजी नै पट दीजे।
म्हांरी तरफ सु चिता न कीजे॥ (ऋ० सु० ७-४)

२—युवाचार्य-पद के लिए दो नाम लिखने और फिर एक रखने की यह घटना यद्यपि सुप्रसिद्ध है, फिर भी इसका उल्लेख न तो 'भारीमालचरित' में है और न 'ऋषिराय सुजस', 'सतजुगी चरित' और 'जयसुजस' में ही। फिर भी इस प्रसिद्ध अनुश्रुति को सिद्ध करने के लिए यह प्रमाण पर्याप्त है कि युवाचार्य-पद समर्पित करने के लिए लिखे गये उस पत्र में दोनों नाम हैं और बाद में प्रथम नाम पर बिंदियाँ लगाई हुई हैं।

जिन चार व्यक्तियों से उपर्युक्त घटना का सम्बन्ध है, उन चारों के जीवन-चरित से केवल इतना ही विदित हो पाता है कि हेमराजजी स्वामी और खेतसीजी स्वामी को पूछ कर ही रायचंदजी को युवाचार्य-पद दिया गया था।

पद-समर्पण

उस पत्र को सबके सम्मुख पढ़कर सुनाया गया और विधिवत् रायचदजी स्वामी को युवा-चार्य-पद समर्पण किया गया। यह कार्य संवत् १८७८ वैशाख कृष्णा नवमी को केलवा में सपन्न हुआ।[1]

1—उपर्युक्त संवत् १८७८ का कथन पंचांग के अनुसार किया गया है, जब कि युवाचार्य-पद के मूल पत्र मे संवत् १८७७ वैशाख वदी नवमी गुरुवार का उल्लेख है। मूल-पत्र का उल्लेख जैन-परम्परा के क्रम से है।

युवाचार्य-पद प्रदान करने के समय और स्थान के विषय मे उपर्युक्त पत्र के अतिरिक्त प्रायः सर्वत्र कुछ इस प्रकार से उल्लेख हुआ है कि उस सम्बन्ध में नाना भ्रांतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। यहाँ उन सबका थोड़ा स्पष्टीकरण कर देना संगत होगा। पहले 'ऋषिराय सुजस' को लें। उसमें घटनाओं का वर्णन-मात्र ही किया गया है। स्थान और समय के विषय मे कोई नई जानकारी प्राप्त नहीं होती। समय के विषय में अधिक-से-अधिक इतना ही पता लग सकता है कि संवत् १८७७ में भारमलजी स्वामी के उदर-पीड़ा हुई थी, उसके बाद युवाचार्य पद दिया गया था। वे पद्य इस प्रकार हैं :

सतंतरे वर्ष पिछाणी, भारीमाल तणै तन जाणी।
उदर वेदन अधिक जणाणी ॥
देश देश तणा मुलकाया, श्रावक-श्राविका सखर सुहाया।
पूज्य रा दर्शन करवा आया ॥
साध साधव्यां बहु सुखदाणी, स्वामी रे तन खेद सुणाणी।
हेम आदि मिल्या संत आणी ॥
सतजुगी हेम वयण वदीजे, रायचंदजी ने पट दीजे।
म्हांरी तरफ सूं चिंता न कीजे ॥
भारीमाल मुणी मन हरख्या, निकलंक दोनूं ही ने निरख्या।
याने परम विनयवंत परख्या ॥
एहवा उभय बड़ा मुनि धीरा, गण-थंभण गहर गंभीरा।
हद विमल अमोलक हीरा ॥
रायचंदजी ने पट आप्यो, आचार्य पद थिरकर थाप्यो।
ज्यांरो जगजस चिहुँ दिसि व्यापो ॥ (ऋ० सु० ७-१ से ७)

'भारीमाल चरित' में घटना क्रम इस प्रकार से वर्णित हुआ है—भारमलजी स्वामी राजनगर से संवत् १८७७ फाल्गुन कृष्णा तेरस को केलवा पधारे (ढा० ५-९)। अस्वास्थ्य-वश संवत् १८७८ मिगसर तक वहीं रहे। मिगसर में वहाँ साधु-साध्वी-समुदाय एकत्रित

हुआ (ढा० ८ दो० ३)। भारमलजी स्वामी ने उस समय अमुक-अमुक शिक्षाएँ प्रदान कीं। बस उन्हीं शिक्षाओं के अन्तर्गत एक पद्य ऐसा आया है, जो कि युवाचार्य-पद प्रदान करने से सम्बन्धित है। उसके बाद भी शिक्षाओं का ही क्रम चलता रहा है। वह पद्य इस प्रकार है :

खेतसीजी हेमजी भणी, पूछा ने दियो पाट।
ब्रह्मचारी ऋषि रायचंद ने, थिर कर राखज्यो थाट ॥ (भा० च० ८-६)

इस से पूर्व युवाचार्य-पद प्रदान करने सम्बन्धी कोई कथन नहीं किया गया है, अतः पाठक को ऐसा आभासित होने लगता है कि वह कार्य उसी समय (सं० १८७८ मिगसर में) संपन्न किया गया था। परन्तु पूर्वापर संदर्भ पर थोड़ा गहराई से ध्यान दिया जाये तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वह कथन शिक्षा का ही एक अंग है। उस पद्य का 'थिरकर राखज्यो थाट'—यह अंश तो बिल्कुल ही साफ कर देता है कि उस समय भारमलजी स्वामी साधुओं को बतला रहे थे कि मैंने ऋषि रायचंद को यह पद प्रदान किया है, अब तुम लोगों का कर्त्तव्य है कि उसके अनुशासन में स्थिर रहते हुए संघ की शोभा बढ़ाओ।

भारमलजी स्वामी के द्वारा दी गई उपर्युक्त शिक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने युवाचार्य की नियुक्ति कम-से-कम उस समय से पूर्व तो कर ही दी थी। अन्यथा वे अपनी शिक्षा में उसका उल्लेख कैसे कर सकते थे? परन्तु मिगसर से पूर्व वह नियुक्ति कब की गई थी, इस विषय में वहाँ कोई कथन नहीं है।

अब 'जय सुजस' के कथन का भी अध्ययन कर लें। वहाँ कहा गया है कि सं० १८७७ बसंत पंचमी को गोगूंदा (मोटागाम) में एक दीक्षा देकर हेमराजजी स्वामी ने वहाँ से विहार किया और राजनगर में आकर भारमलजी स्वामी के दर्शन किये। वहाँ आचार्यदेव की दृष्टि देखकर रायचंदजी स्वामी को युवाचार्य-पद देने की प्रार्थना की। तब उन्हें युवाचार्य-पद पर नियुक्त किया गया और हेमराजजी स्वामी को नौ सन्तों के साथ आमेट चातुर्मास के लिए भेजा गया। 'जय सुजस' के वे पद्य इस प्रकार हैं :

बड़ागाम सूं विहार करीने, हेम जीत आदि गुणरासो।
राजनगर गणी भारीमाल रा, दरसन किया हुलासो ॥
भारीमाल तनु कारण जाणी, बहु सन्त मिल्या तिहां आणी।
गणपति नी मरजी ओलख, ऋषि हेम वदै इम वाणी ॥
प्रगट पाट ऋषि राय शशी ने, महर करी ने दीजे।
म्हांरी तरफ नों आप मन मांहें, किंचित फिकर न कीजे ॥
डावी जीमणी आंख दोनूं में, नहीं है फरक लिगारो।
तिम आप तणै ऋषिराय अनै हूँ, सरिखा बे हूं सुविचारो ॥
हेम वयण वर रयण समा सुण, गणपति हर्ष सुपाया।
परम विनीत रु नीतिवंत हद, जाण्या हेम सवाया ॥
तब पद युवराज दियो ऋषिराय ने, हेम भणी सुविमासो।
नव संतां सूं स्वाम मुलायो, सहर आमेट चोमासो ॥(ज० सु० ७-९ से १४)

इन पद्यों से साधारणतया यही अर्थ निकाला जा सकता है कि यह कार्य राजनगर में माघ के अन्तिम सप्ताह से लेकर फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी से पहले-पहले सम्पन्न हुआ था। माघ के अन्तिम सप्ताह में हेमराजजी स्वामी ने दर्शन किये थे, यह बात 'जय सुजस' से व्यक्त होती है, तो फाल्गुन शुक्ला त्रयोदशी को आचार्यदेव केलवा पधार गये थे, यह बात 'भारीमाल चरित' में कही गई है। परन्तु यहाँ भी पूर्वापर संदर्भ पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें जयाचार्य के जीवन से सम्बद्ध घटनाओं का ही मुख्यतः उल्लेख है, शेष घटनाएँ तो प्रसंगवश कही गई हैं। उनके स्थान और समय का विवरण प्रस्तुत करने का वहाँ कोई उद्देश्य नहीं रखा गया है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जयाचार्य उस समय बालक थे और हेमराजजी स्वामी के साथ थे। इसीलिए उनके विहार तथा चातुर्मासों का विवरण तो प्रस्तुत किया गया है, परन्तु भारमलजी स्वामी का उस वर्ष केलवा में चातुर्मास था उसका कोई कथन नहीं है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि युवाचार्य-पद-विषयक घटना का भी वहाँ प्रसंगवश उल्लेख तो हुआ है, पर स्थान और समय के विषय में कुछ नहीं कहा गया है।

'भारीमाल चरित' के कथनानुसार केलवा पदार्पण से पूर्व राजनगर में अड़तीस साधु एकत्रित हो गये थे (ढा० ५ ७)। वहाँ से कुछ को विहार करा कर वे केलवा पधारे उस समय उनके साथ बाईस साधु थे (ढा० ५-९)। संभव है पहले आये हुए साधुओं को वहाँ से विहार करा दिया हो और बाद में आये साधुओं को कुछ समय के लिए अपने साथ रखा हो। हेमराजजी स्वामी माघ के अन्तिम सप्ताह में आये थे, अतः वे केलवा में भी कुछ समय तक साथ रहे थे, ऐसा संभव है। इस पर से यह कल्पना की जा सकती है कि युवाचार्य-पद सम्बन्धी परामर्श चाहे राजनगर में हुआ हो पर नियुक्ति तो केलवा में ही हुई थी। इसका संवादक प्रमाण हंसराज सेवग की एक प्राचीन ढाल भी है। उसमें कहा गया है :

साध आरज्यां सुणो रे श्रावकां, सयल गच्छ दे साखी।
रायचंद गादी रो मालक, भारीमाल भाखी॥
कोलवचन तो किया केलवे, शुभ वेला साधी।
राजनगर में रायचंदजी, गुरु बैठा गादी॥

उपर्युक्त पद्य में प्रयुक्त 'कोलवचन' का तात्पर्य युवाचार्य-पद प्रदान करने से ही है। इस प्रकार रायचंदजी स्वामी को युवाचार्य-पद पर नियुक्त करने का स्थान केलवा और समय वैशाख कृष्णा नवमी हो तो उसमें उपर्युक्त विरुद्ध दिखाई देने वाले प्रमाण भी बाधक नहीं हैं।

यति हुलासचंदजी कृत 'शासन प्रभाकर' में उपर्युक्त सभी प्रमाणों से विपरीत एक भिन्न ही कथन किया गया है। वह इस प्रकार है :

सुविनीतां सिर सेहरा, संत सती प्रतिपाल।
जाणी युवपद आपियो, अठारै छियंतरै भारीमाल॥ (शा० प्र० ६-१६)

यह कथन अन्य किसी कथन से न तो मेल ही खाता है और न अपनी सत्यता के लिए कोई प्रमाण ही प्रयुक्त करता है।

: ४ :

प्रभावशाली आचार्य

अनुभवी

ऋषिराय सं० १८७८ माघ कृष्णा नवमी को राजनगर में आचार्य-पद पर विराजमान हुए। यद्यपि वे युवाचार्य-पद पर बहुत कम समय ही रह सके थे, फिर भी उन्हें सघ के कार्यों में पूर्णरूपेण दक्षता प्राप्त थी। करीब इक्कीस वर्ष तक साधारण साधु की अवस्था में स्वामीजी तथा भारमलजी स्वामी की सेवा में रहते हुए उन्होने जो अनुभव अर्जित किये थे, वे उन्हें एक दक्ष आचार्य बनाने के लिए पर्याप्त थे। उनकी दक्षता अपने प्रकार की एक ही थी। उसके साथ ओजस्विता और दृढता का सयोग, जो कि प्रायः विरल ही मिलता है, सोने में सुगन्ध का काम करने वाला था।

तपस्या-प्रेरक

उनके शासनकाल में सघ में तपस्या की बहुत वृद्धि हुई। अन्य तपस्याओ के अतिरिक्त 'आछ'[1] के आगार पर होने वाली आठ पाण्मासिक तपस्याएँ विशेष उल्लेखनीय है। सघ में उस समय तक के लिए इतनी लम्बी तपस्या का वह प्रथम अवसर ही था। तपस्या करने वाले को वे अच्छा सहयोग प्रदान किया करते थे। उनकी साधारण-सी प्रेरणा भी सत-सतियों के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाया करती थी।

तमाखू पर नियंत्रण

संघ को अधिक सुदृढ और कार्यशील बनाने के लिए उन्होंने अनेक नई मर्यादाओं का निर्माण किया था। वे प्राय हर कार्य में दूरगामी प्रभाव का विचार कर के कार्य किया करते थे। तमाखू सूघने सम्बन्धी उनकी मर्यादाएँ उसी दृष्टि की द्योतक हैं। उनके समय में कुछ साधु तमाखू सूघा करते थे। दूसरे सघों से आकर दीक्षित होने वाले साधु विशेषरूप से इस विषय में विवश पाये जाते थे। ऋषिराय इस बात को अच्छा नही समझते थे। उन्हें भय था कि कही एक से दूसरे के पास यह प्रकृति सक्रमण करती ही न चली जाए। उन्होने तमाखू सूघने पर इतना कडा बन्दोबस्त किया कि कोई नये सिरे से तो सूघना प्रारम्भ करे ही नहीं, किन्तु जो पहले से सूघता हो वह भी उसे छोडने में ही लाभ समझने लगे। वस्तुत उन्होंने माल से भी जकात को भारी बनाकर इस प्रवृत्ति को सघ से समूल ही उठा दिया।

१—छाछ को गरम करने के बाद उस पर जो नीले रंग का पानी निथर आता है, उसे 'आछ' कहते हैं। मेवाड़ में आमतौर से ऐसा करने की पद्धति है, जिससे कि छाछ गाढी बन जाती है और उसे अनेक प्रकार से काम में लिया जाता है।

साधु-साध्वीगण तमाखू सम्बन्धी मर्यादाओ के लम्बे-चौडे उल्लेखों को पढने से आज चाहे उकता जाते हो, तथा उनके पठन को अब चाहे अनावश्यक भी मान लेते हों, किन्तु उस समय के लिए अवश्य ही वे मर्यादाएँ सघ की एक बहुमूल्य आवश्यकता को पूर्ण करने वाली रही थी।

दीक्षा-वृद्ध और आलोयणा

ऋषिराय की दूरदर्शिता का एक और उदाहरण देखिए, प्रतिदिन प्रतिक्रमण के समय दैनिक कार्यो तथा समिति, गुप्तियो में छद्मस्थतावश हो जाने वाली भूलों की 'आलोयणा' की जाती है। प्रत्येक साधु गुरु हो वहाँ गुरु के पास, अन्यथा अग्रणी के पास यह 'आलोयणा' किया करता है। परन्तु पहले यह पद्धति के रूप में केवल इतनी ही थी कि छोटे साधु आचार्य के पास 'आलोयणा' करते थे और वडे साधु इच्छा हो तो आचार्य के पास कर लेते थे, अन्यथा स्वयं भी कर लेते थे।

एक बार सं० १८८४ में ऋषिराय मालव-यात्रा के बाद पुर पधारे। वहाँ हेमराजजी स्वामी पहले से ही विराजमान थे। वे ऋषिराय के सामने गये। बड़े आदर से उन्हें शहर में प्रवेश कराया तथा दर्शन-सेवा करके अत्यन्त प्रसन्न हुए।

हेमराजजी स्वामी ऋषिराय से दीक्षा में वृद्ध थे, अत· सायकालीन प्रतिक्रमण के समय गुरुदेव के पास न जाकर उन्होने स्वय ही 'आलोयणा' कर ली। वस्तुतः तब तक कभी यह प्रश्न उठा ही नहीं था कि वडे सतो को 'आलोयणा' गुरु के पास ही करनी चाहिए। हेमराजजी स्वामी ने जो स्वय 'आलोयणा' कर ली थी, उसमें उनका कोई अभिमान नहीं था, पर अचर्चित विषय[1] पर अपना सामयिक ध्यान मात्र ही था। वे उसे कोई बहुत बडी महत्त्वपूर्ण, बात नहीं समझते थे।

आज की कोई भी क्रिया आगे के लिए एक परिपाटी बन जाती है। ऋषिराय इस बात के रहस्य को पहचानते थे। इसीलिए वे उस पद्धति को महत्त्व की दृष्टि से देखते थे। उनकी दृष्टि से वह प्रश्न केवल हेमराजजी स्वामी के लिए ही नही था, किन्तु सघ के सब भावी आचार्यो तथा उनसे दीक्षा-वृद्ध सतो के पारस्परिक सम्बन्धो की सीमा पर प्रभाव डालने वाला था, अत· सबके लिए ही था। ऋषिराय चाहते थे कि प्रत्येक साधु, चाहे वह आचार्य से दीक्षा मे वड़ा हो या छोटा, 'आलोयणा' आचार्य के पास ही करे।

अपनी उस भावना को हेमराजजी स्वामी तक पहुँचाने के लिए उन्होने एक अच्छा माध्यम भी निश्चित कर लिया। जब जीतमलजी स्वामी (जयाचार्य) 'आलोयणा' करने के लिए

१—पुर में आया अधिक हगाम, तठा तांई चोलणा न हुई ताम।
तिणस्यूं पडिक्कमण मांहे मुनि हेम, निज मते आलोयणा ले तेम॥ (ज० सु०, ११-१७)

आये तो ऋषिराय ने उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा—"जीतमल ! हेमराजजी स्वामी यहाँ आलोयणा करने न आयें तब तक तुझे चारो आहार का प्रत्याख्यान है।"

जीतमलजी स्वामी बड़े विनीत होने के साथ ही ऋषिराय द्वारा दीक्षित उनके प्रथम शिष्य भी थे। हेमराजजी स्वामी के साथ भी उनका प्रगाढ सम्बन्ध था। वे अनेक वर्षों तक उनके साथ रहे थे। शास्त्रीय ज्ञान भी उन्होंने हेमराजजी स्वामी के पास रहकर ही अर्जित किया था। अत ऋषिराय ने उस कार्य के लिए वह माध्यम सर्वथा उपयुक्त ही चुना था। उन्होंने तत्काल ऋषिराय के आदेश को शिरोधार्य किया और वदन करके हेमराजजी स्वामी के पास जाकर उन्हें पूछा—"आप आलोयणा करने के लिए नही पधारे ?"

हेमराजजी स्वामी ने कहा—"यहीं पर अपने आप ही कर ली थी।"

जीतमलजी स्वामी—"नही यह तो गुरुदेव के पास ही करनी चाहिए।" हेमराजजी स्वामी—"मैंने तो यों ही यहाँ पर कर ली थी। तेरी ऐसी इच्छा है तो अब वहाँ कर लूगा।"

वे तत्काल उठकर ऋषिराय के पास जाकर 'आलोयणा' कर आये। उसके बाद सहज ही यह परिपाटी चल पडी कि दीक्षा-वृद्ध साधुओ को भी आचार्य के पास ही 'आलोयणा' करनी चाहिए।

इस प्रकार ऋषिराय ने अपने शासनकाल में अनेक ऐसी परिपाटियाँ डाली थी जो कि सघ के लिए अत्यन्त हितावह थी। उनकी वह दूरदर्शिता व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा के लिए न होकर सघ की सुव्यवस्था के अनुरूप थी।

कोई राजपूत भी है ?

ऋषिराय एक बडे ही निर्भीक व्यक्ति थे। वे अपनी बात को इतने प्रभावशाली ढग से कहा करते थे कि वह स्वय ही वातावरण पर छा जाया करती थी। उसमें उनके कठो का माधुर्य और गभीर स्वर भी कुछ सहायक बनते थे।

एक बार ऋषिराय मेवाड विहार कर रहे थे। कुछ संत उनसे आगे दूर चल रहे थे। उन दिनो वहाँ डाकुओ का काफी भय रहा करता था। ग्रामो के अधिपति 'ठाकुर' स्वय' डाका डाला करते थे। आगे चलने वाले सतो को मार्ग में कुछ घुडसवार मिले। उन्होने सतो से अपना सामान रख देने के लिए कहा। सतो ने उनको बतलाया कि हमारे पास कोई धन नही है। हम अपने सयम के लिए अत्यन्त आवश्यक वस्त्र, पात्र और शास्त्रो आदि के अतिरिक्त कोई सामग्री नही रखते।

इतने में एक घुडसवार ने एक साधु के कधे पर पडे कंबल को उठाने का प्रयत्न किया। उस साधु ने भी तत्काल अपने कबल को उतार कर नीचे जमीन पर बिछा लिया और उसके ऊपर बैठ गया। आखिर मे घुडसवार नीचे उतरा और उस कम्बल को उनके नीचे से खीचकर निकालने लगा।

ऋषिराय पीछे से आ ही रहे थे कि उन्होने दूर से यह सारा दृश्य देखा। घुड़सवारों का ठहरना, कंबल की ओर हाथ डालना, सतो का उसे बिछाकर बैठ जाना और फिर सवार का नीचे उतर कर उसे खींचने का प्रयास करना, यह सब देख लेने पर उनसे छिपा नहीं रहा कि ये डाकू है। परन्तु उन्हें डाकुओं का भय कहाँ था ? उन्होने तत्काल ऊँचे स्वर से 'हाकल' करते हुए वहीं से कहा—"सारे गोलें ही गोलें एकत्रित हुए हो या कोई राजपूत भी है तुम्हारे में ?"

ऋषिराय की यह तेज आवाज काफी दूर तक फैल गई। डाकू-टोली का सरदार 'ठाकुर' अपने घोडे पर कुछ पीछे था। घोडे को दौडा कर वह वहाँ पर पहुँचा तब तक ऋषिरायजी साधुओं के पास पहुँच चुके थे। कंबल खीचने वाला व्यक्ति कुछ ठिठक गया।

ठाकुर ने आते ही पूछा—"क्यो महाराज ! आप लोगों को राजपूत की क्या आवश्यकता पड गयी ?"

ऋषिराय ने कहा—"नहीं, हमें कोई आवश्यकता तो नहीं पडी, पर तुम्हारे साथियों ने जब सतो को भी लूटना चाहा और उनके द्वारा कंबल बिछा लेने पर भी उसे खींचकर निकालना चाहा, तब मुझे लगा कि इस टोली मे कोई राजपूत नही है। मेरा अनुमान था कि कम-से-कम राजपूत तो अभी तक इतना पतित नही हुआ होगा। इसीलिए मैंने मेरे अनुमान की सत्यता को जानने के लिए यह पूछा था।"

ठाकुर तो इस बात से लज्जावनत हो ही गया था, पर कंबल लेने का प्रयास करने वाला वह सवार और उसके साथी भी लज्जा का अनुभव करने लगे। ठाकुर ने अपने दो साथियो को ऋषिराय के साथ करते हुए कहा—"महाराज। पीछे से और भी साथी आ रहे है, अत फिर कोई आप लोगों को तकलीफ न दे, इसीलिए ये दोनो आप को ग्राम तक पहुँचा आयेंगे।"

नखेद तिथि

ऋषिराय प्रायः मुहूर्त्त आदि की बाधाओ को अधिक महत्त्व नही दिया करते थे। वे जिस दिन आचार्य-पद पर आसीन हुए थे, उस दिन माघ कृष्णा नवमी का दिन था। वह ज्योतिष के आधार से 'निषिद्धतिथि' थी, अत शुभकार्य के लिए वर्जित थी। मेवाड में 'निषेध' का उच्चारण 'नखेद' होता है, अत किसी ने प्रार्थना की कि यह दिन तो 'नखेद' है।

ऋषिराय ने तत्काल उस एक शब्द को दो शब्दो में विभक्त करके श्लिष्ट अर्थ करते हुए कहा—"न+खेद=नही है खेद जिसमे। तब तो बहुत अच्छा दिन है, क्योंकि उसमें हमें किसी प्रकार का खेद नही होगा।"

अपने प्रति सत्य

ऋषिराय अपनी साधना मे बडे सावधान व्यक्ति थे। कई बार उनकी सहज सावधानी ने लोगो के मन पर बड़ा तीव्र प्रभाव डाला था। एक बार वे मारवाड के मांढा गांव मे

पधारे। सायकाल का समय था। ऋषिराय आहार से निवृत्त हो चुके थे। मुनिजन आहार कर रहे थे। आकाश में बादल घिर रहे थे, इसलिए शीघ्र ही अधेरा होने लगा। मकान में वृक्ष होने के कारण उस अधेरे में कुछ वृद्धि हो गई। सशय होने लगा कि कहीं सूर्यास्त तो नही हो गया है ?

ऋषिराय स्वय मकान की छत पर गये। वृक्ष की ओर आ जाने से सूर्य दिखाई नही दिया, तब वे उसकी भीत पर चढकर देखने लगे। पडोस के गृहस्थ ने जब उन्हें भीत पर चढे देखा तो सशय और आश्चर्य-मिश्रित भावों से पूछा—"महाराज ! आप इस छोटी भीत पर चढकर क्या देख रहे है ?"

ऋषिराय ने कहा—"सत आहार कर रहे थे और अधेरा घिरने लगा, तब मुझे संदेह हुआ कि कही सूर्यास्त होने वाला तो नही है ? यही देखने के लिए मैं भीत पर चढा था।"

पडोसी—"यदि सूर्यास्त हो गया होता तो ?"

ऋषिराय—"तो आहार-पानी का परित्याग कर परिष्ठापन कर दिया जाता।"

ऋषिराय की उस सहज सावधानी ने उस व्यक्ति पर ऐसा प्रभाव डाला कि वह मुग्ध हो गया। उसने उसी दिन समझा कि आत्मसाक्षी से स्वीकृत सत्यता का धर्माराधन में कितना बडा महत्त्व होता है। जो अपने प्रति सत्य होता है, वही अन्यत्र भी सत्य होता है। वह सारा परिवार तभी से श्रद्धालु बन गया।

सत्य की विजय

बोरावड के ठाकुर केसरीसिंहजी ऋषिराय के बडे भक्त थे। एक बार उनके और कुचामन-ठाकुर के परस्पर अनबन हो गई। कुचामन वालों ने बोरावड़ पर आक्रमण कर दिया। केसरीसिंहजी ने आक्रमण का सामना करने का निश्चय किया और अपने साहसी सैनिको के साथ रण-क्षेत्र की ओर आगे बढे।

उन दिनों ऋषिराय वही ठहरे हुए थे। मार्ग मे वह स्थान आया तो ठाकुर साहब ने अन्दर जाकर दर्शन किये। ऋषिराय ने रणसज्जा की उस आकस्मिक तैयारी का कारण पूछा तो ठाकुर साहब ने सक्षेप में सारी बात बतलाते हुए कहा—"यदि जीवित रहे तो फिर दर्शन करेंगे।"

ऋषिराय ने बातचीत के सिलसिले में कहा—"वास्तव में तो जो सर्वज्ञ ने देखा है वही होता है, परन्तु कहा जाता है कि सत्य सदा ही विजयी होता है।"

ठाकुर साहब ने ब्रह्मचारी ऋषिराय के वचन को गांठ में बाधते हुए कहा—"अब मुझे अपनी विजय में कोई सन्देह नही है।"

सेना-सहित वे वहाँ से आगे बढे। युद्ध प्रारम्भ हुआ। थोडी देर के युद्ध में ही प्रतिपक्षी सेना का सेनापति ठाकुर केसरीसिंहजी की गोली मे मारा गया। अवशेष सेना भाग खडी

हुई। ठाकुर विजय का डका बजाते हुए वापिस आये और ससैन्य ऋषिराय के दर्शन कर कहने लगे—"मेरी विजय का रहस्य यही है कि मेरा पक्ष सत्य-युक्त था और 'सत्य सदा ही विजयी होता है' यह आपका वचन था।"

इक दिन ऐसो आवियो

ऋषिराय का शरीर प्राय नीरोग था। आखिरी वर्षो में उनके थोडी-बहुत सांस की गडबड कभी-कभी अवश्य हो जाया करती थी, उसके अतिरिक्त और कोई रोग उनके शरीर में नही था। औषधि लेने का काम तो रोगियो के ही पडा करता है, नीरोग प्राय स्वत ही उससे बच जाते है। ऋषिराय नीरोग तो थे ही, साथ ही उन्हें औषधियों से एक प्रकार की मानसिक घृणा-सी थी। कोई साधारण सी गडबड़ में औषधि लेना तो उन्हें और अधिक रोगी बनने का प्रयास करने जैसा मालूम होता। वे प्राय अधिक औषधि लेने वालो को टोक भी दिया करते थे।

एक बार संवत् १९०३ के जयपुर-चातुर्मास में किसी घोडे से टकरा जाने के कारण उनके हाथ की हड्डी उतर गई थी। उससे वहाँ चातुर्मास के बाद भी प्राय पूरे चैत्र मास तक रहना पडा था। उस अवसर पर औषधि लेने तथा तेल आदि की मालिस कराने की भी आवश्यकता पडी थी। परन्तु वह सब बहुत ही बिना मन से उन्हें करना पडा था। तेल आदि चिकने पदार्थ से तो उन्हें औषधि की अपेक्षा अधिक घृणा थी, पर हड्डी उतरने पर तो वह नितान्त आवश्यक हो गया।

चातुर्मास के पश्चात् संत-सतियो ने ऋषिराय के दर्शन जयपुर में ही किये। युवाचार्य श्री जीतमलजी स्वामी भी वहाँ पहुँचे। ऋषिराय को बिना मन तेल लगवाते देखकर एक बार उस बात का मीठा आनन्द लेते हुए उन्होने एक 'दोहा' निवेदित करते हुए कहा था :

कोई तेल लगाई आवतो, करता तिणस्यू तर्क।
इक दिन ऐसो आवियो, गुरु हुआ तेल में गर्क॥

युवाचार्य के उस सामयिक कथन पर स्वय ऋषिराय तो हसे ही, पर सारा वातावरण भी स्मयमान हो गया।

: ५ :

जनोपकारक यात्राएँ

मालव-यात्रा

ऋषिराय को देशाटन में वडी अभिरुचि थी। उन्होने अपने शासन-काल में नये क्षेत्रों एव नये देशो की अनेक यात्राएँ की थी। उन यात्राओं से तेरापथ के प्रसार में बहुत बडा सहयोग मिला। उन्होंने अपनी प्रथम यात्रा स० १८८३ के उदयपुर चातुर्मास के बाद की थी। उस यात्रा में वे चौवन ठाणो को साथ लेकर मालवा में पधारे थे, जहाँ काफी लोग समझे और धर्मानुरागी वने। अनेक स्थानों पर चर्चाएँ भी हुई, जिन मे खाचरोद, रतलाम, उज्जैन तथा वडनगर आदि की चर्चाएँ विशेष उल्लेखनीय थी। ऋषिराय ने उस वर्ष का चातुर्मास पेटलावद में किया। साथ में नौ सत थे। मालव में उस वर्ष अन्य अनेक स्थानों पर भी चातुर्मास करवाये गये।

थली मे पदार्पण

उनकी दूसरी यात्रा स० १८८६ के पाली चातुर्मास के वाद थली पधारने की थी। थली में यद्यपि उससे पहले एक वार स्वामीजी पधारे थे। किन्तु उनका वहाँ जाना कार्य-विशेष के लिए ही हुआ था। मार्गस्थ क्षेत्रों के अतिरिक्त वे वहाँ विचरे नहीं। इसलिए यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि धर्म-प्रसार के निमित्त थली में सर्वप्रथम ऋषिराय ने ही विहार किया था।

अन्य प्रचारक

उससे पूर्व वहाँ यति-सम्प्रदाय का प्रावल्य था। कुछ समय से उधर कुछ टालोकर[1] भी विचरने लगे थे। स्वामीजी के समय में चद्रभाणजी, तिलोकचदजी आदि ने थली के क्षेत्र को ही अपना विहार-स्थल बनाया था। वहाँ के लोग काफी सख्या में उनके अनुयायी बन गये थे।

थली-निवासी

उस समय थली की जनता काफी सरल प्रकृति की थी। मोटा खाना और मोटा पहनना ही प्राय वहाँ प्रचलित था। रेतीले टीलों की अधिकता के कारण तथा पानी की कमी के कारण वहाँ स्थान अधिक था, किन्तु जनता कम थी। आज भी अन्य उपजाऊ प्रान्तों की अपेक्षा वहाँ की जन-सख्या प्रति मील के हिसाब से काफी कम है। वर्ष में केवल एक बार वर्षाकाल में ही वहाँ कृषि की जा सकती है, अत उस समय के लोग प्राय: उसी के आधार पर अपना सारा वर्ष

१—तेरापंथ साधु-संघ से टलकर पृथक् हुए तथा पृथक् किये गये व्यक्तियों को स्वामीजी ने 'टालोकर' संज्ञा दी थी।

गुजारते थे। वस्तुत: उस समय थली में जीविका के प्रमुख साधन दो ही थे—एक पशु-पालन और दूसरा कृषि। वहाँ के जैन लोग भी प्राय: इन्हीं साधनों के आधार पर जीवन-यापन किया करते थे। गाँवों का निवास, दूध-दही की बहुलता तथा कृषि आदि में आवश्यक शरीर-श्रम, इन तीन बातों ने उस समय के थली-निवासियों को स्वस्थता और सहिष्णुता प्रदान की थी।

धर्म-प्रसार

ऋषिराय के आगमन पर वहाँ की जनता को अच्छा धर्म-लाभ मिला। जहाँ भी पधारे वहाँ लोगों में धर्म के प्रति अच्छी जिज्ञासा पाई। वस्तुत: उस समय तक उस ओर किसी भी समाज के संत जनों का आवागमन बहुत कम हुआ था, अत: लोगों में धर्म-भावना की तृप्ति नहीं हो पाती थी। ऋषिराय ने जब वहाँ के क्षेत्रों में विहरण प्रारम्भ किया तो वहाँ की जैन-जनता के लिए वह एक वरदानस्वरूप सिद्ध हुआ।

अनेक चातुर्मास

शेषकाल में अनेक क्षेत्रों में विहार करने के बाद सं० १८८७ का चातुर्मास ऋषिराय ने बीदासर में किया। उस वर्ष वहाँ के और भी अनेक क्षेत्रों में चातुर्मास करवाये गये। अतृप्त मरुभूमि जिनवाणी की अमृत-वर्षा से तृप्त हो गई। लोग धर्म-भावना से आप्लावित हो गये। जहाँ-जहाँ चातुर्मास करवाये गये, वहाँ-वहाँ सब जगह ही प्राय: अच्छा उपकार हुआ। बीदासर-चातुर्मास के अतिरिक्त चूरू में जीतमलजी स्वामी, रीणी (तारानगर) में सरूपचंदजी स्वामी, रतनगढ़ में ईसरजी स्वामी आदि के चातुर्मास करवाये गये। कुछ अन्य क्षेत्रों में साध्वियों के चातुर्मास भी करवाये गये। उस एक ही वर्ष में वहाँ जो धर्मोद्योत हुआ उसका वर्णन करते हुए जयाचार्य ने लिखा है :

> वर्ष सित्यासिये सुखकार, हुयो धर्म उद्योत अपार।
> थया थली देश में थाट, च्यार तीर्थ तणा गह घाट॥[१]

अनेक देश ; एक यात्रा

ऋषिराय की तीसरी यात्रा सं० १८८९ के उदयपुर-चातुर्मास के बाद हुई। वह पिछली दोनों ही यात्राओं से बहुत लंबी थी। उसमें गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ—इन तीनों देशों में पधारना हुआ। उससे पूर्व वहाँ संत-सतियों का गमन भी नहीं हुआ था। तेरापंथी श्रावकों के द्वारा वहाँ अवश्य कुछ कार्य हुआ था।

गुजरात में

ऋषिराय दस साधुओं को लेकर गुजरात पधारे। गुजरात का वह केवल स्पर्शन मात्र ही था। विशेष ठहरना कहीं भी नहीं हुआ। मार्ग में पड़ने वाले गाँवों तथा शहरों में एक-एक

१—ऋ० सु० ९-१०

रात रहते हुए वे आगे बढते गये। वे ईडर की ओर से गुजरात में प्रविष्ट हुए और अहमदाबाद होते हुए 'साणद' पधार गये। वहाँ से जीतमलजी स्वामी (जयाचार्य) आदि सात संत पीछे से तेज विहार करते हुए उस यात्रा में उनके साथ आ मिले। 'साणद' में पुरुषोत्तमदासजी पारख के द्वारा समझाई हुई एक वहिन 'झब्बू बाई' तेरापथी थी। वहाँ चार रात ठहरना हुआ।

सौराष्ट्र मे

वहाँ से सौराष्ट्र के लिए विहार करते हुए वे लींबडी पधारे। वहाँ भी पुरुषोत्तमदासजी पारख के समझाये हुए तेरह भाई तेरापथी थे। वहाँ दस रात ठहरकर 'वढवाण' पधारे। वहाँ उन दिनो दरियापुरी शकर ऋषि आये हुए थे। उन्होने ऋषिराय को कुछ दिन ठहरने के लिए काफी आग्रहपूर्वक कहा, किंतु एक रात विराजकर ही उन्होंने वहाँ से ध्रांगध्रा की ओर विहार कर दिया।

उन्हें कच्छ में जाने की शीघ्रता थी। अत कही भी अधिक ठहरने का हिसाब नही था। अन्यत्र अधिक दिन लगा देने से कच्छ के 'रण' में पानी भर जाने की सम्भावना थी। ऋषिराय की इच्छा थी कि 'रण' में पानी आने से पहले-पहले वहाँ विचर कर वापिस मारवाड की ओर पहुँच जाएँ। इसीलिए उस यात्रा में केवल देशाटन ही अधिक रहा। मालव या थली की तरह यदि वहाँ भी चातुर्मास करने के ध्यान से पदार्पण होता तो सम्भव है तेरापन्थ के प्रसार का वह एक अच्छा अवसर होता। परन्तु उस समय ऐसा नही किया जा सका। संभव है सामयिक परिस्थितियाँ बाधक रही हो।

कच्छ मे

कच्छ में प्रवेश करने के बाद उनका 'बेला' में पदार्पण हुआ। वहाँ टीकम डोसी की श्रद्धा के व्यक्ति बहुत थे। टीकम डोसी तेरापन्थी श्रावक ही था। वह स्वामीजी के पास मारवाड में जाकर समझा था। पर अन्त में योग-विषयक कुछ बोलो में उसके मतभेद हो गया था। उसने कच्छ मे बहुत व्यक्तियो को तेरापन्थी बनाया था, पर बाद में उनको अपने मत का ही बना लिया था। जब ऋषिराय वहाँ पधारे, तब उन भाइयो को टीकम डोसी के मतभेदों का उत्तर देकर समझा लिया। आचार्यदेव वहाँ दस रात ठहरे।

वहाँ से अजार तथा मंदरा होकर मांडवी पधारे। वहाँ पुरुषोत्तमदासजी पारख के समझाये हुए काफी श्रावक थे। गुरुदेव के दर्शन पाकर वे बडे आह्लादित हुए। उन्होंने अपने यहाँ चातुर्मास करने के लिए ऋषिराय से काफी आग्रह किया, पर उनकी आशा सफल नही की जा सकी। केवल छह रात विराजकर समुद्र और नारियलो के वन देखते हुए ऋषिराय ने मारवाड की ओर विहार कर दिया।

क्रमश लक्ष्य की ओर बढ़ते हुए जब वे 'आडेसर' पहुँचे तो वहाँ 'बेला' के भाइयों ने आकर दर्शन किये और चातुर्मास की बहुत प्रार्थना की। उनका अत्यन्त आग्रह देखकर ऋषि-राय ने वहाँ कर्मचंदजी स्वामी आदि तीन संतों को चातुर्मास के लिए भेजा। उससे पूर्व वे ईसरजी स्वामी आदि तीन संतों को गुजरात के 'वीरमगाम' में चातुर्मास करने के लिए छोड आये थे। दोनों ही स्थानो पर मतों ने अच्छा उपकार किया। स्वय ऋषिराय ने अपना चातुर्मास पाली में आकर किया।

इस प्रकार यात्रा-प्रेमी ऋषिराय ने अपनी लबी यात्राओ द्वारा मघ की महिमा ही नहीं वढाई, किन्तु उसे अनेक नये क्षेत्र भी प्रदान किये। ऋषिराय की वे लबी यात्राएँ आज भी धर्म-प्रसार के लिए उत्सुक मुनि-जनों का आह्वान कर रही है।

: ६ :

अचानक शरीरान्त

मालव की प्रार्थना

स० १९०८ में ऋषिराय ने अपना चातुर्मास उदयपुर मे किया। वहाँ मालव के लोग काफी सख्या में दर्शन करने के लिए आये। उन्होने दूसरी मालव-यात्रा के लिए आचार्यदेव से निवेदन किया। ऋषिराय स्वय ही यात्रा के प्रेमी थे, फिर वे आग्रह करने वाले श्रावक भी उसी के लिए प्रेरित कर रहे थे। बात उनके मनोनुकूल थी, अत उसकी स्वीकृति में अधिक विलब नही हुआ।

मालव की जनता प्रसन्न होकर अपने स्थान पर गई। उसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अनुकूलता की शर्त्त के साथ गुरुदेव की मालव-यात्रा-संबंधी स्वीकृति प्राप्त हो चुकी थी। परन्तु उस समय मालव की जनता को अपने हर्षातिरेक में यह स्मरण नहीं रह पाया कि 'द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव' की यह शब्द-संघटना कोरी परंपरागत ही नही है, अपितु यह एक बहुत महत्त्व-पूर्ण तथ्य भी है। इस तथ्य की अनुकूलता के अभाव में उद्घोपित यात्रा भी नही हो पाती।

प्रथम मालव-यात्रा के समय ऋषिराय की अवस्था लगभग छत्तीस वर्ष की थी, पर उस स्वीकृत दूसरी यात्रा के अवसर पर तो वे अंक परस्पर अपना स्थान-परिवर्तन कर चुके थे। अवस्था के साथ-साथ मनुष्य के शरीर में कितना बडा परिवर्तन हो जाता है। प्रथम-यात्रा में जो शरीर युवा होने के साथ ही सामर्थ्य का प्रतीक था, वही दूसरी यात्रा के अव-सर तक वृद्ध होकर असामर्थ्य की ओर सकेत करने वाला हो गया था।

अन्तिम विहार

यद्यपि ऋषिराय की अवस्था उस समय वृद्ध हो चुकी थी, फिर भी उनका शरीर नीरोग था। शक्ति भी अच्छी थी। विहार करने में किसी प्रकार की विशेप थकावट महसूस नही होती थी। सबसे बढ़कर बात तो यह थी कि उस समय भी यात्रा करने का उनका उत्साह पूर्ववत् ही था। उन्होने चातुर्मास पूर्ण होने के बाद कुछ महीनो तक आस-पास के क्षेत्रो का स्पर्शन कर फिर मालव जाने का निश्चय किया। योजनानुसार वे ग्रामो में दर्शन देते हुए सत्ताईस रात गोगूँदा में, बाईस रात बडी-रावलियाँ में, पाँच रात छोटी-रावलियाँ में और दस रात नादेसमा में रहे। इस प्रकार आस-पास के क्षेत्रो में विहार करते हुए वे माघ वदी द्वादशी को पुनः छोटी-रावलियाँ मे पधार गये।

श्वास-प्रकोप

माघ बदी चौदस के दिन जब वे शौच के निमित्त ग्राम-बाहिर पधार रहे थे तब उन्हें श्वास मे कुछ भारीपन अनुभूत हुआ। यह रोग कुछ वर्ष पूर्व ही उनके हुआ था। तबसे यदा-

कदा श्वास का भारीपन हो जाया करता था, पर वह ऐसा कभी नहीं हुआ कि उस पर कुछ विशेष ध्यान देना आवश्यक हो जाये। साधारण विश्राम आदि से या कुछ देर लेट जाने मात्र से ही वह प्राय ठीक हो जाया करता था। यही कारण था कि उसकी कभी कोई विशेष परवाह नही की गई।

इस वार भी उनका श्वास कोई भयकर रूप से नहीं फूला था। अत. साधारण रूप से ही सारी दैनिक क्रियाएँ उन्होंने सपन्न की। सायकाल में भी ग्राम-बाहिर पधारे। अल्प मात्रा मे उष्ण आहार भी लिया। किसी प्रकार का कोई विशेष खेद प्रतीत नहीं हो रहा था। यहाँ तक कि सायकालीन प्रतिक्रमण भी उन्होने सानद सपन्न कर लिया। परन्तु उसके तत्काल बाद ही श्वास का वेग बढने लगा।

शरीरान्त

उन्होंने सतो से बिछौना कर देने के लिए कहा। बिछौना तैयार हो जाने पर वे किसी का सहारा लिए बिना अपने आप ही प्रमार्जनी से यतना करते हुए उस पर लेट गये। लेट जाने के बाद श्वास का प्रकोप प्राय बद हो जाया करता था, परन्तु उस वार उसका फल आशा के बिलकुल विपरीत निकला। उनका सारा शरीर प्रस्वेद से गीला हो गया और श्वास का वेग भी अधिक तेज हो गया। सोने पर जब श्वास की अनुकूलता के बदले और अधिक प्रतिकूलता देखी तो वे पुन: विराज गये। सतो से उन्होने कहा—"आज से पहले कभी सोने पर श्वास नही फूला था।" बस ये उनके अन्तिम शब्द ही सिद्ध हुए। उसके बाद उन्होंने तुरत आँखें फेर दी।

कुछ सत उनकी पीठ को हाथ का सहारा दिये हुए बैठे थे और कुछ आस-पास में उनकी परिचर्या-निमित्त सावधानी से उनकी ओर देख रहे थे। पर मृत्यु ने उन पर इतनी तेजी से और इतना अचानक आक्रमण किया कि किसी को उसके आगमन का कोई पूर्व अनुमान भी नही हो पाया। वे सतो के हाथो का सहारा लिए हुए जैसे बैठे थे वैसे ही दिवगत हो गये। वह दिन स० १९०८ माघ कृष्णा चतुर्दशी का था। उस समय लगभग एक मुहूर्त रात्रि व्यतीत हो चुकी थी।

ऋषिराय के उस अचानक शरीर-पात से स्वभावत ही सारे सघ को बडा खेद हुआ। जिसने वह बात सुनी उसी ने उस पर विश्वास नहीं करना चाहा, पर मनुष्य की चाह के अनुसार ही तो सब कुछ नही होता। आखिर चाहे या अनचाहे तथ्य को स्वीकारना ही पडता है।

उनके दिवगत होने की वह बात रातो-रात दूर-दूर तक पहुँच गई। नादेसमा, बडी-रावलियाँ, गोगूंदा आदि पार्श्वस्थ ग्रामो के लोग रात-रात में ही वहाँ पहुँच गये। प्रात काल तक वहाँ हजारो व्यक्ति हो गये। सभी ने मिलकर सांसारिक रीति के अनुसार उनके शरीर का दाह-सस्कार सपन्न किया।

: ७ :

ज्ञातव्य विवरण

जीवन के महत्त्वपूर्ण वर्ष

(१)	जन्म सवत्—	१८४७
(२)	दीक्षा सवत्—	१८५७ चैत्र पूर्णिमा
(३)	युवाचार्य-पद सवत्—	१८७८ वैसाख कृष्णा नवमी
(४)	आचार्य-पद सवत्—	१८७८ माघ कृष्णा नवमी
(५)	स्वर्गवास सवत्—	१९०८ माघ कृष्णा चतुर्दशी

महत्त्वपूर्ण स्थान

(१)	जन्म स्थान—	बडी-रावलियाँ
(२)	दीक्षा स्थान—	बडी-रावलियाँ
(३)	युवाचार्य-पद स्थान—	केलवा
(४)	आचार्य-पद स्थान—	राजनगर
(५)	स्वर्गवास स्थान—	छोटी-रावलियाँ

आयुष्य विवरण

(१)	गृहस्थ—	१० वर्ष
(२)	साधारण साधु पद—	२१ वर्ष
(३)	युवराज पद—	९ महीने
(४)	आचार्य पद—	३० वर्ष
	सर्व आयु—	६२ वर्ष

विहार-क्षेत्र

ऋषिराय के विहार-क्षेत्र मे राजस्थान के तत्कालीन राज्य—मेवाड, मारवाड, ढूढाड तो थे ही, उनके अतिरिक्त थली, मालव, गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ को भी उन्होने विहार-क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया था।

चातुर्मास

ऋषिराय ने तीन चातुर्मास स्वामी भीखणजी के साथ और अठारह चातुर्मास भारमलजी

स्वामी के साथ किये थे। आचार्य-अवस्था में उन्होंने तीस चातुर्मास किये थे। उनका विवरण इस प्रकार है—

स्थान	चातुर्मास संख्या	संवत्
पाली	८	१८७६,८२,८६,९०,९३,९६,१९०२,५
जयपुर	६	१८८०,९२,९७,१९००,३,७
पीपाड़	१	१८८१
उदयपुर	४	१८८३,८९,९५,१९०८
पेटलावद	१	१८८४
नाथद्वारा	५	१८८५,८८,९४,१९०१,४
बीदासर	२	१८८७,९९
गोगूंदा	१	१८९१
लाडणू	२	१८९८,१९०६

शिष्य संपदा

ऋषिराय के शासन-काल में दोसौ पैंतालीस दीक्षाएँ हुईं। उनमें सतहत्तर साधु और एक सौ अड़सठ साध्वियाँ थीं। वे दिवंगत हुए उस समय सड़सठ साधु और एक सौ तेंतालीस साध्वियाँ[1] विद्यमान थी।

१—'शासन प्रभाकर' के अनुसार दिवंगत होने के समय एक सौ चौवालीस साध्वियाँ विद्यमान थीं।

पंचम परिच्छेद

श्री जयाचार्य

: १ :

गृहि-जीवन

द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भ में

श्री जयाचार्य तेरापथ के चतुर्थ आचार्य थे। उनका पूरा नाम जीतमलजी स्वामी था। वे बडे ही प्रभावशाली एव नव-निर्माण की चेतना वाले आचार्य थे। तेरापथ में स्वामी भीखणजी का जो महत्त्वपूर्ण स्थान है, वही जयाचार्य का भी है। उनका शासन-काल तेरापंथ की प्रथम शताब्दी की सम्पन्नता और द्वितीय शताब्दी के प्रारभ का काल था। प्रथम शताब्दी का काल तेरापथ के लिए 'सघर्ष-काल' कहा जा सकता है। यद्यपि प्रथम तीन आचार्यो ने अपने शासन-काल में नव-निर्माण भी किया था, परन्तु सघर्ष की उसमें प्रधानता रही थी। द्वितीय शताब्दी के प्रथम आचार्य—श्री जयाचार्य के शासन-काल में भी सघर्ष चालू रहा था। पर उसका स्वर धीमा पड गया था। विरोधी व्यक्तियो को एक शताब्दी के कठोर सघर्ष के बाद तेरापथ की अजेयता का विवश होकर विश्वास करना पडा था। उस स्थिति में संघर्ष स्वत ही गौण हो गया था। फलस्वरूप जयाचार्य को सघ के नव-निर्माण की ओर ध्यान देने का पर्याप्त अवसर मिला। उन्होने तेरापथ को एक नया मोड प्रदान किया। वह तेरापथ के लिए 'निर्माण-काल' का प्रारम्भ सिद्ध हुआ।

स्वामी भीखणजी ने जिस तरह अपने जीवन का सपूर्ण समय तेरापथ की जडों को जमा देने में लगा दिया था, उसी तरह जयाचार्य ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति उसे शक्तिशाली बनाने में लगा दी थी। स्वामीजी के बाद तेरापथ के विचारो तथा व्यवहारों को इतने प्रभावशाली ढग से जनता के सामने रखने वाले जयाचार्य ही हुए थे। उनकी उद्दाम शक्ति और अश्रान्त परिश्रम ने तेरापथ को जनता की दृष्टि में वह सम्माननीय स्थान प्रदान किया था, जिसका कि वह पूर्ण रूप से अधिकारी था। जयाचार्य के उस अथक परिश्रम और उसके द्वारा प्राप्त साफल्य से आज भी मन आश्चर्याभिभूत हुए विना नही रहता। उन्होंने जिस कार्य में भी हाथ डाला, उसी में सफलता उनके चरण चूमती मिली। इसीलिए तो वे कभी-कभी कहा करते थे—"अच्छा हुआ कि मैं स्वामीजी के वाद उत्पन्न हुआ। यदि ऐसा न होता तो मेरी यह कार्य-शक्ति तो कही न कही अवश्य खर्च होती, पर मुझे यह सत्य कहाँ मिलता ?" स्वामीजी के प्रति उनकी श्रद्धा बहुत ही गहरी थी। वे कहा करते थे—"मेरे जैसे सौ जीतमल भी स्वामीजी के चरणों के नख की वरावरी नहीं कर सकते।"

जयाचार्य वस्तुत. एक सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य थे। उनकी प्रतिभा से तेरापथ ने जो पाया, वह उसके लिए बहुत ही मूल्यवान् और शक्तिशाली सवल सिद्ध हुआ। उनकी

प्रतिभा एक ऐसी निधान थी, जिसमे किसी वस्तु का अभाव नही था। वह कभी श्रान्त नहीं हुई, आजीवन उसने ऐसी वस्तुएँ प्रदान की, जिनसे तेरापथ ससार में गौरवान्वित हुआ और आगे भी होता रहेगा।

जन्म

जयाचार्य राजस्थान के जोधपुर डिवीजन (मारवाड) के ग्राम 'रोयट' में उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म स० १८६० आश्विन शुक्ला चतुर्दशी को हुआ था। स्वामी भीखणजी को दिवगत हुए उस समय करीव एक महीना हुआ था। जयाचार्य की उस जन्म-तिथि से ऐसा लगता है, मानो प्रकृति ने एक शक्ति के शांत होते ही दूसरी शक्ति को जन्म देने का अपना सिद्धान्त दुहराया हो। उनके पिता का नाम आईदानजी और माता का नाम कल्लूजी था। वे ओस-वाल जाति में 'गोलछा' गोत्र के थे। स्वामी भीखणजी एक वार रोयट पधारे थे, तभी से वह परिवार स्वामीजी के प्रति श्रद्धालु वन गया था। स० १८४४ में तो जयाचार्य की वुआ 'अजवूजी' ने स्वामीजी के पास दीक्षा भी ग्रहण कर ली थी। स्वामीजी ने योग्यता देखकर कालान्तर में उनका सिंघाडा कर दिया था।

रोगाक्रान्त

एक वार अजवूजी विहार करती हुई रोयट आई थीं। उन दिनों वालक जीतमलजी इतने रुग्ण थे कि परिवारवालों ने उनके जीवित रह जाने की आशा भी छोड़ दी थी। सती अजवूजी रोगी वालक को दर्शन देने आई, तो कल्लूजी ने आँखों में आँसू भरकर वालक की स्थिति उन्हें वतलाई। अजवूजी की चतुर आँखो ने होनहार वालक की रुग्ण आकृति पर ध्यान देकर न जाने क्या पढा कि उन्होने भावी आशका से कातर हुई अपनी ससार-पक्षीय भाभी कल्लूजी से कहा—"देखो, यदि यह इस बीमारी मे वच जाए और यदि इसके दीक्षा के भाव हो जाएं तो तुम रुकावट मत डालना।"

कल्लूजी ने साध्वीजी के मुख मे जव यह वात सुनी तो आँखो में आँसू होते हुए भी उन्हें हंसी आ गई। वे कहने लगी—"हमें तो इसके वचने की आशा भी धूमिल नजर आ रही है, तव आप इसके दीक्षा लेने की वात किस आधार पर कह रही है ?"

साध्वीजी ने कहा—"तुम तो अपनी ओर से इसकी आशा छोड ही चुकी हो। तो फिर मेरी वात को स्वीकार करने में तुम्हें कोई अडचन होनी ही नही चाहिए। मेरी वात तो तभी काम आ सकती है, जव कि यह नीरोग हो जाए और उसके वाद इसकी दीक्षा की भावना भी हो।"

कल्लूजी को यद्यपि इस विषय मे कोई आशा नहीं रह गई थी फिर भी उन्होंने उस वात को स्वीकार कर लिया। संयोग की वात ही कहिए कि उस दिन से वालक का रोग धीरे-धीरे शांत होने लग गया और शीघ्र ही वे उस रोग से मुक्त होकर विलकुल स्वस्थ हो गये।

अध्यात्म के अंकुर

बाल्यकाल में ही उनमें अध्यात्म का अंकुर प्रस्फुटित होने लगा था। उनके सस्कारो मे मानो कोई ऐसी स्थिति पूर्व से ही निहित थी, जो कि उन्हें कुछ अज्ञात प्रेरणा दे रही थी। जब वे सात-आठ वर्ष के हुए थे, तभी से सत-सतियो को सयम देने के लिए कहने लगे थे। सत जब उन्हें बतलाते कि अभी तुम्हारी अवस्था छोटी है, अत तुम्हें सयम देने का कल्प नही है, तब भी वे थोड़े-थोड़े दिनो के बाद पूछते ही रहते कि अब मेरा कल्प आया कि नही ?

कभी-कभी वे किसी वस्त्र की झोली बनाकर उसमें कटोरी रख लेते और अपने चाचा के घर जाकर गोचरी करने का अभिनय करते हुए कहते कि मैंने दीक्षा ले ली है। शुद्ध आहार हो तो मुझे देना। अशुद्ध देने से पाप के भागी बनोगे। यो अनेक प्रकार से उनके मानसिक भावो की अभिव्यक्तियाँ चलती ही रहती थी। परिवार वाले इसे बाल-लीला समझ कर यो ही हस कर रह जाते, पर बालक के अन्तस्तल मे पक रहे भावो को कोई समझ नही पा रहा था।

सगाई

कुछ समय पश्चात् परिवार वालो ने उनकी सगाई कर दी। उनके दो बडे भाई भी थे। एक का नाम 'सरूप' और दूसरे का 'भीम' था। उनकी सगाईयाँ तो और भी पहले हो चुकी थीं। उस समय की सामाजिक पद्धति में सगाइयाँ विवाह से कई वर्ष पहले ही हो जाया करती थीं। विवाह भी प्राय. छोटी अवस्था में ही कर दिये जाते थे।

किसनगढ़ मे

जयाचार्य के पिता आईदानजी का देहावसान बहुत पहले ही हो गया था। जयाचार्य जब केवल तीन वर्ष के ही थे,तब मीरखां नामक किसी मुसलमान सरदार ने ग्राम को लूट लिया था। लूट का भयानक आघात ही आईदानजी की मृत्यु का कारण बना। उस लूट ने अनेक परिवारों के आर्थिक-जीवन को अस्त-व्यस्त कर दिया था। आईदानजी का परिवार उसी गणना में सम्मिलित था। पति-वियोग और अर्थाभाव—इन दोनो चोटो को एक साथ सह लेने का साहस बहुत ही कम स्त्रियो में पाया जाता है, पर कल्लूजी ने बडे धैर्य-पूर्वक उस स्थिति का सामना किया। तीनो बेटो को साथ लेकर वे किसनगढ चली गई और वही रहने लगी। वहाँ बडे लडके सरूपचदजी ने कुछ व्यापार आदि का कार्य प्रारभ कर दिया।

सौभाग्यवश उन्ही दिनो भारमलजी स्वामी का पदार्पण भी वहाँ हो गया। वे जयपुर की ओर जा रहे थे। कुछ दिनो के लिए किसनगढ मे विराजना हुआ, अत उन सबको अनायास ही सेवा करने का एक अच्छा अवसर मिल गया।

तत्त्व-शिक्षा

भारमलजी स्वामी ने स० १८६६ का चातुर्मास जयपुर मे किया था। वहाँ सेवा करने के निमित्त कल्लूजी अपने तीनो पुत्रो-सहित गई और लाला हरचदलालजी जौहरी के मकान

में उभरीं। जयाचार्य के लिए वह प्राथमिक तत्त्व-ज्ञान का अवसर था। उस समय उन्होंने पच्चीस बोल, तेरह द्वार, चर्चा आदि थोकड़े कंठस्थ किये। बुद्धि प्रखर थी। समझने की शक्ति भी असाधारण थी। जो बात एक बार बता दी जाती थी, उसे दुबारा बताने की आवश्यकता नहीं रह जाती थी। वे हर बात को बड़े ध्यान से सुनते और उसे बड़ी सहजता से हृदयंगम कर लेते। उस समय उनकी अवस्था केवल नौ वर्ष की ही थी। अन्य बालक उस अवस्था में जहाँ खेल-कूद की ओर ही अधिक ध्यान देते हैं, वहाँ जयाचार्य ने अपना सारा ध्यान तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति पर केन्द्रित कर दिया था।

जौहरीजी का आकर्षण

लाला हरखचंदलालजी जौहरी का ध्यान बालक की असाधारण प्रतिभा और लगन की तरफ गया तो उन्होंने उस बात को विशेष गौर से परखा। उन्हें उनकी हर बात में अपनी एक विशेषता मिली तो वे उनके व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित तथा आकृष्ट हुए। उन्होंने उनके बड़े भाई सरूपचन्दजी और माता कल्लूजी को एकांत में लेकर कहा—"तुम्हारे छोटे पुत्र की लगन और अध्यवसाय को देखते हुए लगता है कि ये यदि संयमी बनेंगे तो अवश्य ही बड़े तेजस्वी साधु होंगे। इनके संयम में तो मैं बाधक नहीं बनना चाहता, पर एक बात कह देना चाहता हूं कि यदि ये संसार में रहें तो मेरी छोटी भतीजी के साथ इनका रिश्ता पक्का कर लें। मैं यह भी चाहूंगा कि इन्हें भाई बहादुरसिंह[1] की गोद बिठा दिया जाए। पचास हजार रुपये अभी इनके नाम कर दिये जायेंगे और बाद में तो उनकी सारी सम्पत्ति के एकमात्र ये ही अधिकारी हो जायेंगे।"

कल्लूजी का निर्णय

कल्लूजी अपने पुत्र को गोद देना नहीं चाहती थीं, सगाई भी कैसे की जा सकती थी, जबकि वह पहले ही एक जगह निश्चित हो चुकी थी। रुपयों का प्रलोभन उनके लिए कोई महत्त्व नहीं रखता था। अर्जी अजबूजी को दिया हुआ वचन भी उन्हें याद था, अतः संयम की इच्छा होने पर वे उसमें बाधक बनना नहीं चाहती थीं। इसलिए उन्होंने लालाजी की बात को बालक के भावी जीवन-क्रम के ऊपर ही छोड़ दिया। अन्य लोगों को उनके जीवन-क्रम के विषय में सन्दिग्धता हो सकती थी, पर स्वयं जयाचार्य के लिए तो उनका जीवन-क्रम बिलकुल निश्चित हो चुका था। उन्हें न कांचन का प्रलोभन उस निश्चय से हटा सकता था और न कामिनी का। इन दोनों से बढ़कर कोई तीसरा प्रलोभन अभी तक संसार में है नहीं।

अजबूजी की प्रेरणा

जयपुर में कारणवश चातुर्मास के पश्चात् भी फाल्गुन तक भारमलजी स्वामी का विराजना हुआ। उन सबने भी सेवा करने का अपना विचार और बढ़ा लिया। चातुर्मास के बाद

१—बहादुरसिंहजी पटोलिया भी एक जौहरी थे और वे लाला हरखचंदलालजी के मित्र थे।

सत-सतियो का भी गुरु-दर्शनार्थ जयपुर आगमन हुआ। कल्लूजी की समार-पक्षीय ननद साध्वी अजबूजी भी आई । उन्होने जब तीनो भाइयो का धर्म-विषयक अनुराग और तत्त्वज्ञान के प्रति परिश्रम देखा तो वे बहुत प्रसन्न हुई । सेवा कराते समय उन्होंने अपनी ओर से भी उन्हें सयम की प्रेरणा दी। वह सारा परिवार मूलत सयम के प्रति बडा अनुरागी था। समय-समय पर मिलने वाली प्रेरणाएँ उन्हे उस ओर अधिकाधिक अनुरक्त बनाने वाली होती गई ।

: २ :

मुनि-जीवन के बारह वर्ष

दीक्षा-ग्रहण

सारा परिवार विरक्ति की भावनाओं से ओत-प्रोत था। सर्वप्रथम सबसे बड़े भाई सरूपचंदजी ने माता कल्लूजी की आज्ञा लेकर दीक्षा-ग्रहण करने का निश्चय किया। भारमलजी स्वामी ने उनको पौष शुक्ला नवमी के दिन दीक्षा प्रदान की। उसके बाद सबसे छोटे भाई जीतमलजी को दीक्षित करने की तिथि निर्णीत कर दी गई। उन्हें दीक्षा देने के लिए भारमलजी स्वामी ने स्वयं न जाकर ऋषिराय को भेजा। ऋषिराय तब तक साधारण साधु की अवस्था में ही थे, पर भारमलजी स्वामी ने मानो उन दोनों के लिए उपयुक्त पद पहले ही निर्धारित कर लिये थे और उसी आधार पर दीक्षा देने के लिए ऋषिराय को भेजते हुए उन्होंने कहा था—"मेरे पीछे तो भार सभालने के लिए तू है ही, तुझे भार-सभालने वाला चाहियेगा, अत. तू ही जा।" भारमलजी स्वामी के आदेशानुसार ऋषिराय ने तब निर्णीत तिथि के अनुसार सं० १८६९ माघ कृष्णा सप्तमी के दिन जयाचार्य को दीक्षित किया। वे उनके स्वहस्त-दीक्षित प्रथम शिष्य थे।

दोनों भाईयों को दीक्षित करने के पश्चात् आचार्य श्री ने उन्हें हेमराजजी स्वामी को सौंप दिया और वहाँ से माधोपुर की ओर विहार करा दिया। पीछे से मझले भाई भीमराजजी के मन में भी विराग-भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने अपनी माता से वह बात कही तो उन्होंने भी अपनी तैयारी बतलाई। भारमलजी स्वामी ने उन्हें फाल्गुन कृष्णा एकादशी को दीक्षा दी। करीब डेढ महीने में ही एक घर के चारो व्यक्तियो की पृथक्-पृथक् करके तीन बार में दीक्षाएँ संपन्न हो गई।

बड़ी दीक्षा

भारमलजी स्वामी जब जयपुर से विहार करते हुए माधोपुर पधारे, तब तक उधर से हेमराजजी स्वामी बूंदी और कोटे की तरफ विचर कर माधोपुर पहुँच गये। वहाँ तीनो भाई साधुता की अवस्था में प्रथम बार मिले। सरूपचदजी स्वामी को तो 'छेदोपस्थापनीय-चारित्र' (बडी दीक्षा) पहले ही दे दिया गया था। किन्तु जीतमलजी स्वामी को नहीं दिया गया था। भीमराजजी स्वामी को दीक्षा-क्रम मे उनसे बडा रखने के लिए ही ऐसा किया गया था। भीमराजजी स्वामी को चार महीने बाद माधोपुर मे और जीतमलजी स्वामी को छह महीने बाद इन्द्रगढ मे बडी दीक्षा[1] दी गई थी।

१—सामायक चारित्र के बाद छेदोपस्थापनीय (बड़ी दीक्षा) या तो सात दिन के बाद या चार महीने के बाद या फिर छह महीने के बाद ही दिया जा सकता है। भीमराजजी स्वामी को यदि सात दिन बाद ही बड़ी दीक्षा दी जाती तो उन्हें बड़ा रखकर जीतमलजी स्वामी को चार महीने बाद बड़ी दीक्षा दी जा सकती थी। पर उन्हें जब चार महीने बाद बड़ी दीक्षा दी गई, तब जीतमलजी स्वामी को छह महीने बाद देना आवश्यक हो गया। संभव है भीमराजजी स्वामी को पहले प्रतिक्रमण सीखने का अवसर न मिला हो और दीक्षा के बाद सात दिनों में वे उसे न सीख सके हों अतः चार महीने बाद उन्हें बड़ी दीक्षा दी गई हो।

हेमराजजी स्वामी के साथ

दीक्षा ग्रहण करने के अवसर पर जयाचार्य की अवस्था लगभग नौ वर्ष की थी। साधु-जीवन के अनुकूल संस्कार अर्जित करने का वह सुवर्ण अवसर था। जैसा सग वैसा रंग प्रायः हर एक पर आता ही है। इसीलिए उस अवस्था में सरक्षक या मार्ग-दर्शक का बडा महत्त्व होता है। साधु-जीवन में भी उसका महत्त्व कम नही है। प्रारम्भिक संस्कार बडे गहरे होते हैं और आजीवन अपना प्रभाव रखते हैं।

भारमलजी स्वामी ने बालक साधु जीतमलजी को सस्कारार्जन के लिए हेमराजजी स्वामी को सौंपा। मुनिचर्या का आद्योपान्त शिक्षण और अनुशीलन का प्रकार उन्होने वही से प्राप्त किया। लगभग बारह वर्ष तक वे उनके साथ रहे। उस लबी अवधि में उन्होने न केवल सस्कारों का अर्जन ही किया, अपितु उन्हें फलीभूत कर जीवन की अनेक महत्ताओं का नवोद्गम भी किया। हेमराजजी स्वामी जैसे मार्ग-दर्शक विरल मिलते है, तो जयाचार्य जैसे मार्ग-गवेषक भी विरल ही मिलते हैं।

ज्ञान के उत्तराधिकारी

हेमराजजी स्वामी का आगम-ज्ञान अगाध था। जयाचार्य को बाल्यावस्था से ही उसका अवगाहन करने का अच्छा अवसर उपलब्ध हुआ। उन्होने उस अवसर का वड़ी तत्परता से लाभ उठाया। वे अपने अनवरत परिश्रम के द्वारा आगम-सिंधु के मथन में जुट गये। फलस्वरूप उन्होंने हेमराजजी स्वामी के गभीर आगम-ज्ञान का न केवल उत्तराधिकार ही प्राप्त किया, अपितु अपने बुद्धि-बल से उसे शतगुण करने का सामर्थ्य भी प्राप्त किया।

योगों की स्थिरता

हेमराजजी स्वामी के साथ रहकर उन्होंने जहाँ आगम-ज्ञान, विनय आदि सद्गुणों में वृद्धि की थी, वहाँ योगों की स्थिरता में भी विशेषता पाई थी। उनके साधु-काल के बाल्य-जीवन की अनेक घटनाओ में से एक घटना, जो कि सर्वाधिक प्रसिद्ध है, उनके योगो की स्थिरता-विषयक जानकारी देने के लिए पर्याप्त कही जा सकती है। वह इस प्रकार है·

हेमराजजी स्वामी एक बार पाली पधारे। वे बाजार में दुकानों पर ठहरे। जयाचार्य भी उनके साथ ही थे। उन्ही दिनो वहाँ कोई नट-मडली आई हुई थी। बाजार में बाँस रोपकर उसने अपना खेल प्रारभ किया। शहर की प्राय. आबालवृद्ध जनता उसे देखने के लिए आ जुटी। इधर जयाचार्य अपनी लेखनी, स्याही, पत्र आदि सामग्री लेकर ऊपर के चोवारे में लिखना करने के लिए बैठे, उधर नीचे उनके बिलकुल सामने नाटक प्रारंभ हुआ। इधर उनका लेखन-कार्य चलता रहा, उधर नाटक चलता रहा। उनकी दृष्टि अपनी लेखनी, मसी-पात्र और पत्र पर ही घूमती रही, नाटक की ओर उन्होंने आँख उठाकर भी नहीं देखा।

नाटक देखने के लिए आये हुए व्यक्तियों में से एक वृद्ध सज्जन तेरापंथियों से द्वेष रखा करते थे। उन्होंने बालक साधु को सामने बैठे देखा तो सोचा कि यदि एक बार भी यह साधु नाटक की ओर देख ले तो इनकी निंदा करने का थोड़ा-बहुत मसाला मिल ही जाए। उन्होंने अन्त तक ध्यान रखा, पर वे नितांत असफल ही रहे। आखिर नाटक समाप्त हुआ और सब लोग उठकर अपने-अपने घर जाने लगे। वृद्ध सज्जन अपने साथियों से कहने लगा कि हम लोग तेरापथ की जड़ खोद देना चाहते है पर आज मुझे ज्ञात हुआ है कि यह जड़ बहुत गहरी है। कम-से-कम सौ वर्ष तक तो इस पंथ का हम कुछ नहीं बिगाड सकेंगे, यह मैं आज के अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ।

उक्त सज्जन के मुँह से तेरापथ के विषय में कुछ अच्छे शब्दों का निकलना तो भूत के मुँह से रामनाम निकलने जैसा अभूतपूर्व ही था, अत: लोगों ने पूछा—"आज ऐसी क्या बात हो गई है ?"

उक्त सज्जन ने नाटक और बालक साधु की सारी घटना बताते हुए कहा—"मैंने पूरी तरह से ध्यान रखा था कि देखें यह नाटक की ओर देखता है या नहीं ? मुझे पूरा विश्वास था कि जब हम जैसे बूढे भी नाटक देखने के लिए इतनी देर से यहाँ धूप में बैठे हुए हैं, तो यह बालक तो देखे बिना रह ही नहीं सकेगा। पर मैंने पाया कि उसने एक बार भी आँख उठाकर उधर नही देखा। जिस संस्था का एक बालक भी इतना सावधान और दृढ होता है, उसकी जड़ कोई नहीं खोद सकता। इसीलिए मैं कहता हूँ कि तेरापंथ की जड़ को कम-से-कम आगामी सौ वर्षों तक तो कोई हिला नहीं सकेगा। उसके आगे की भगवान जाने।

उक्त घटना जहाँ जयाचार्य की मानसिक स्थिरता पर प्रकाश डालती है, वहाँ इस बात की ओर भी सकेत करती है कि सौ मन उपदेशों से एक छटांक आचरण का मूल्य सदा से ही अधिक रहा है। तेरापथ के प्रचार और प्रसार में भी उनकी दार्शनिक व्याख्या तथा मौलिक साहित्य-रचनाओं से कहीं अधिक सहायक उसका सुमर्यादित आचरण रहा है। आज ऐसे अनेक धर्म-मत मृत्यु की गोद मे पड़े पाये जा सकते हैं, जिनके सिद्धान्त अत्यन्त ऊँचे और तर्क-सगत थे, पर उनके आचरण-हीन अनुयायियो की कमजोरियों ने उन्हें ऐसी दशा में ला पटका, जहाँ से उन्हें फिर कभी उठने का अवसर ही नही मिल सका।

तेरापंथ की आचार-प्रधानता की छाप प्रारंभ से ही चली आ रही है। उसने विरोध रखने वाले व्यक्ति भी इस बात का लोहा मानते रहे हैं। तेरापंथ ने वस्तुत. आचार को अपना मूल धन माना है। पहले मूल आचार की सुरक्षा है, बाकी सब बातें पीछे हैं। बालक-साधु जीतमलजी स्वामी की उस आचार-संपन्नता और स्थिरयोगता ने तेरापंथ के आचार-प्राधान्य की उस छाप को और अधिक स्पष्ट कर दिया था।

विचार-शीलता

जयाचार्य बाल्यावस्था से ही एक विचारशील और बुद्धिमान् व्यक्ति रहे थे। संघ की प्रत्येक घटना पर उनकी पैनी दृष्टि बचपन से ही बड़ी सावधान रहा करती थी। वे घटना का मूल्य तत्कालीन लाभालाभ से नहीं आंककर अन्तिम फल के आधार पर आंका करते थे। उनका वह स्वभाव उनकी किशोरावस्था में भी परिपक्व था। भारमलजी स्वामी ने अपना उत्तराधिकारी चुनते समय पत्र में जब दो नाम लिखे थे, तब जयाचार्य ने ही यह प्रार्थना की थी कि आप चाहे किसी का भी नाम क्यों न दें, पर वह एक ही होना चाहिए। यद्यपि वे उस समय बालक थे, फिर भी उनकी बात का भारमलजी स्वामी ने आदर किया और पत्र में एक नाम ही रखा। यह घटना उनकी विचारशीलता का अत्युत्तम नमूना प्रस्तुत करने वाली है।

कृतज्ञता-वृत्ति

जयाचार्य में अपने उपकारी के प्रति कृतज्ञ रहने की वृत्ति बड़ी उदग्र थी। यही कारण था कि वे आजीवन हेमराजजी स्वामी के प्रति बड़े विनीत और शिष्य-भाव-युक्त रहे थे। वे अपनी सारी योग्यता को हेमराजजी स्वामी की देन ही माना करते थे। उन्होंने अपनी कृतियों में हेमराजजी स्वामी के प्रति जो भक्ति-भाव अभिव्यक्त किया है, वह वस्तुतः उन जैसे कृतज्ञ व्यक्तियों की लेखनी के द्वारा ही उद्भूत हो सकता है। वे कहते हैं :

मो सू उपकार कियो घणो, कह्यो कठा लग जाय।
निश दिन तुम गुण सभरु, वस रह्या मो मन मांय॥
सुपने में सूरत स्वाम नी, पेखत पामें प्रेम।
याद कियां हियो हुलसे, कहणी आवै केम॥
हूं तो बिन्दु समान थो, तुम कियो सिन्धु समान।
तुम गुण कवहु न विसरू, निश दिन धरू तुम ध्यान॥
साचा पारस थे सही, कर देवो आप सरीस।
विरह तुम्हारो दोहिलो, जाण रह्या जगदीश॥
जीत तणी जय थे करी, विद्यादिक विस्तार।
........................., ...॥[1]

आधा अक्षर

हेमराजजी स्वामी के प्रति जयाचार्य की भक्ति केवल वाणी-विलास ही नहीं थी, वह उनके अन्तरंग से उद्भूत थी। उनके हर कार्य में उसकी अभिव्यक्ति होती रहती थी। अनेक बार ऐसे अवसर आते रहते थे जब कि वे स्थिर-चित्त होकर लिखते होते और अचानक ही

१—हेम नवरसो ७-१९ से २३

पता चलता कि हेमराजजी स्वामी स्थंडिल-भूमि की ओर जाने की तैयारी कर रहे हैं। वे तब किसी भी प्रकार का विलम्ब किये बिना तत्काल अपने लेखन को छोड़कर खड़े हो जाया करते थे। अनेक बार तो अक्षर भी अधूरा ही रह जाया करता था। वे उनके साथ जाने के लिए इतनी फुर्ती से तैयार होते कि देखने वाले चकित रह जाते। इस फुर्ती के पीछे उनकी मानसिक भक्ति ही छिपी होती थी। वे हेमराजजी स्वामी की प्रतीक्षा कर लेना अपना कर्तव्य समझते थे, पर ऐसा अवसर कभी आने देना नहीं चाहते थे कि जिसमें हेमराजजी स्वामी को उनकी प्रतीक्षा करनी पड़े।

दर्शनों की उत्सुकता

हेमराजजी स्वामी के प्रति जयाचार्य की भक्ति स्थायी और निःस्वार्थ थी। वे बारह वर्ष तक उनके साथ रहे। उनके पास ज्ञानार्जन किया। विविध प्रकार का व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त किया। यदि उनके प्रति उनकी भक्ति स्थायी बने तो इसमें आश्चर्य ही क्या हो सकता है? वे अग्रणी हो जाने के बाद भी हेमराजजी स्वामी के प्रति उतने ही भक्ति-संभृत थे, जितने की छात्रावस्था में। उनके दर्शनों के लिए उनकी उत्सुकता उतनी ही तीव्र देखी जाती है जितनी कि आचार्य-दर्शन के लिए होती है। वे काफी घुमाव लेकर भी हेमराजजी स्वामी के दर्शन करने को जाते रहते थे। उनके दर्शनों से उन्हें एक अनिर्वचनीय आत्मतृप्ति मिला करती थी।

एक बार हेमराजजी स्वामी काणाणा में थे। जयाचार्य ने उनके दर्शन करने के निमित्त जोधपुर से विहार किया। उन दिनों वे एकान्तर तप कर रहे थे, फिर भी अक्षय-तृतीया तक दर्शन कर लेने का उन्होंने निश्चय किया। एक दिन उपवास का होता तो दूसरा पारण का। दोनों ही दिन समानरूप से लंबे विहार करते हुए वे चले, तब कहीं यथासमय वे वहाँ पहुँच सके। उस दिन उनके उपवास था। फिर भी आठ कोस की मंजिल तय करके उन्होंने दर्शन किये।

दर्शन कर आऊँ

एक बार दिल्ली-चातुर्मास करके जयाचार्य ने गोगुंदे में ऋषिराय के दर्शन किये। ऋषिराय का उस वर्ष लम्बी यात्रा करने का विचार था। वे ऐसे अवसर पर जयाचार्य को भी अपने साथ ही रखना चाहते थे। यात्रा की बात चलाते हुए उन्होंने जयाचार्य से कहा—"अब गुजरात चलना है।" जयाचार्य के लिए उसमें किसी भी प्रकार की बाधा तो हो ही क्या सकती थी बल्कि वह तो उनके लिए अतिरिक्त प्रसन्नता की ही बात थी। उन्होंने अपनी तैयारी व्यक्त करते हुए प्रार्थना की—"हेमराजजी स्वामी के दर्शन हुए लगभग दो वर्ष हो गये हैं, अतः यदि आप आज्ञा प्रदान करें तो मैं उनके दर्शन कर आऊँ और शीघ्रता से चलकर गुजरात के मार्ग में आपकी सेवा में उपस्थित हो जाऊँ।"

ऋषिराय के लिए वह कोई बाधा की बात नही थी। उन्होंने उनको दर्शन कर आने की आज्ञा प्रदान की और स्वय गुजरात की ओर विहार कर गये। जीतमलजी स्वामी ने वहाँ से सिरयारी की ओर विहार किया। हेमराजजी स्वामी उन दिनो वही विराजमान थे। वे दस दिन तक उनकी सेवा में ठहरे। उसके बाद लम्बे विहार करते हुए अहमदाबाद से भी कुछ आगे जाकर वे ऋषिराय के साथ हुए। अपने विद्या-गुरु के प्रति उनकी वह अनन्य भक्ति वस्तुत उनकी महत्ता के अनुरूप ही थी।

विगय-परिहार

वे हेमराजजी स्वामी के प्रति जो भक्ति-भाव रखते थे, उससे भी कही अधिक आचार्य के प्रति रखते थे। उनके दर्शन की लालसा भी उनमें कितनी उग्र रहा करती थी, यह निम्नोक्त घटना से स्पष्ट हो जाता है—

जब वे हेमराजजी स्वामी के साथ ही विहार किया करते थे तब की बात है। हेमराजजी स्वामी का स० १८७५ का चातुर्मास पाली था। वहाँ जीतमलजी स्वामी ने यह प्रतिज्ञा की कि जब तक आचार्यदेव (भारमलजी स्वामी) के दर्शन नही होगे, तब तक मैं पाँच 'विगय' का सेवन नही करूँगा। चातुर्मास के बाद दर्शन करने के लिए वहाँ से विहार किया और मेवाड में आए। सयोग की बात थी कि देवगढ में एक गाय ने हेमराजजी स्वामी के चोट लगा दी, अत: उनके घुटने की ढकनी उतर गई। उस अनाकांक्षित बाधा से उन्हें वहाँ करीब नौ महीने तक रुकना पडा। उसके बाद जब आचार्यदेव के दर्शन हुए, तब तक उन्हें विगय-परिहार करते हुए करीब तेरह महीने हो गये थे। इतने लम्बे समय तक विगय-परिहार के मूल मे उनकी उत्कट गुरु-भक्ति ही काम कर रही थी।

: ३ :

अग्रणी-जीवन और सफल यात्राएँ

प्रचंड योग्यता

जयाचार्य ने द्वादश-वर्षीय अपने विद्यार्थी-जीवन में जो योग्यताएँ अर्जित की थीं, उनका उपयोग उनके अग्रणी-जीवन से प्रारम्भ हुआ। वे धर्म-प्रसार में प्रबल रुचि रखा करते थे तो साथ ही एकान्त मनन और चिन्तन में भी किसी से पीछे नहीं थे। चर्चा-वार्ता में भाग लेने की रुचि ने उन्हें प्रतिवादी-भयंकर बना दिया, तो साहित्यिक रुचि ने उन्हें एक उच्च साहित्यकार भी बना दिया था। उनके जीवन के विविध पहलुओं को देखने पर ऐसा लगता है कि वे स्याद्वाद की तरह अनेक विरोधी स्वभावों के समन्वय-स्थल थे। उन्हें अपनी योग्यता का स्वतन्त्र प्रयोग करने के अनेक अवसर प्राप्त हुए। अग्रणी बनने से पूर्व तो वे हर कार्य में अपने आपको हेमराजजी स्वामी की ओट में रखना ही पसंद करते थे। परन्तु योग्यता कभी किसी ओट में छिपकर नहीं रह सकती। छिपाने पर तो वह और तीव्रता से प्रकट होती है। जयाचार्य जैसे व्यक्तियों की प्रचंड योग्यता छिपकर कैसे रह सकती थी?

अग्रणी

सं० १८८१ का जयपुर-चातुर्मास पूर्ण करके हेमराजजी स्वामी ने पाली में ऋषिराय के दर्शन किये। वहीं पौष शुक्ला तृतीया के दिन जयाचार्य को 'अग्रणी' बनाया गया। तीन अन्य साधु साथ देकर उन्हें उसी दिन वहाँ से विहार करा दिया गया।

मेवाड़-यात्रा

उनकी प्रथम यात्रा के लिए ऋषिराय ने मेवाड़-प्रदेश को चुना। उनके पदार्पण से उस वर्ष मेवाड़ की जनता में अच्छा उत्साह रहा। उनकी वाणी में एक ऐसा आकर्षण था कि वे जिस ग्राम में जाते, वहाँ की जनता अपने आप उनके पास आ जुटती। छोटे से बड़े व्यक्ति तक को वे अपने ढंग से बतलाते, धर्म-चर्चा करते और थोड़ी ही देर में पाते मानो कि वह व्यक्ति उनके लिए सर्वथा अपना ही हो गया है।

उदयपुर के अपने प्रथम चातुर्मास में उन्होंने जनता पर तो प्रभाव जमाया ही, पर महाराणा भीमसिंहजी तथा युवराज जवानसिंहजी पर भी उनकी बातों का अच्छा असर रहा था। सफलता ने उनका सदैव साथ दिया। वे जहाँ जाते या जिस कार्य में हाथ डालते, वहाँ सफलता उनका पहले से ही स्वागत करने को तैयार खड़ी मिला करती थी। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' के अनुसार उनका वह प्रथम विहार ही उनकी भावी महान् सफलताओं का अनुमान लगाने के लिए साधन बन गया।

ग्रन्थ-संग्रह

तेरापथ को अपने प्रारम्भ-काल से प्राय. ग्रन्थों के, अभाव का सामना करना पडता रहा था। उसे ध्यान में रखते हुए जयाचार्य ने अपने उस प्रथम प्रवास में अनेक स्थानो से ग्रन्थ सगृहीत किये। नाथद्वारा में यति नन्दरामजी उनसे बातचीत करके इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने भडार में से अपनी आवश्यकता के एक ज्ञातासूत्र को छोडकर बाकी जो चाहिये वही लेने का अनुरोध किया। जयाचार्य ने भडार देखा और वहाँ से भगवती, अनुयोगद्वार, उत्तराध्ययन आदि सूत्र तथा उनकी सस्कृत टीकाएँ ली। इसी प्रकार उदयपुर में भी केसरजी भडारी के वहाँ से सूत्रकृतांग-दीपिका तथा सटीक कर्मग्रन्थ लिये। कांकरोली में भी एक भाई के यहाँ पुराना पुस्तक-भडार था। उसने भी जयाचार्य से प्रार्थना की कि आप को जो प्रति चाहिए वह यहाँ से लेलो। जयाचार्य ने इस भडार में से भी सूत्र तथा उनकी-टीकाओं आदि के अतिरिक्त अन्य अनेक सस्कृत और प्राकृत के ग्रन्थ लिए। इस प्रकार अपनी प्रथम यात्रा में उन्होंने अपने लिए सहज ही काफी ज्ञान-सामग्री जुटा ली। यद्यपि उस सामग्री ने उनकी ज्ञान-लिप्सा को तृप्त करने की अपेक्षा अतृप्त ही अधिक किया होगा, पर वही अतृप्ति तेरापथ के वर्तमान तथा भावी अनुयायियो के लिए गौरवशाली साहित्य-सपदा के उत्पादन का एक अजस्र स्रोत प्रवाहित कर गई।

मालव और गुजरात मे

मेवाड की जनता पर उनके व्यक्तित्व और ज्ञान का जो प्रभाव पडा था, ऋषिराय ने उसे अवश्य ही लक्ष्य किया था। इसलिए उन्होने स० १८८४ की अपनी मालव-यात्रा तथा सं० १८९० की गुजरात-यात्रा में उनको साथ रखा था। उन दोनो ही यात्राओ में जयाचार्य ने ऋषिराय के परिश्रम को बहुत हल्का कर दिया। चर्चा के बडे-से-बडे अवसर पर ऋषिराय उन्हें बिना किसी सकोच के लगा दिया करते थे। वे जानते थे कि इसने पराजित होना कभी सीखा ही नहीं है। वस्तुत वे ऋषिराय के इस विश्वास के सर्वथा उपयुक्त थे।

ढूंढाड़ मे

मालव-यात्रा के अनन्तर ही जयाचार्य को स्वतत्ररूप से ढूढाड की ओर जाने का अवसर मिला था। वहाँ भी उन्होने सब पर अपने विशिष्ट व्यक्तित्व की छाप लगा दी थी। जयपुर तथा किसनगढ में सैकडो मनुष्यो ने धर्म के रहस्य को पहचाना और उसे अगीकार किया। जयपुर के सुप्रसिद्ध जौहरी मालीरामजी लूणिया, जो कि बाद में आगरा मे व्यापार करने लगे थे, उसी वर्ष मे समझे थे।

थली मे

थली में धर्म-प्रचार करने वालो में भी जयाचार्य का नाम प्रमुख कहा जा सकता है। ऋषिराय ने स० १८८७ में थली में अनेक जगह चातुर्मास करवाये थे। उस समय जयाचार्य को चूरू में भेजा गया था। वहाँ उन्होने बडी सफलता से जनता को धर्म के अनुकूल बनाया।

उससे पहले वहाँ के व्यक्ति चन्द्रभाणजी, तिलोकचन्दजी आदि टालोकरों की श्रद्धा के थे। चूरू में जयाचार्य के परिश्रम से अनेक भाई-बहिनों ने काफी दिनों तक धर्म-चर्चा करने के बाद गुरु-धारणा की। तेरापंथ की प्रसिद्ध साध्वियों में से एक गिनी जाने वाली महासती सरदारांजी ने भी इसी वर्ष चूरू में गुरु-धारणा की।

गुरु-धारणा की शर्त्त

अपने अग्रणीकाल में एक बार वे जब लाडणूं आये थे, तब वहाँ के अनेक भाईयों ने उनसे धर्म-चर्चा करके लाभ उठाया। शहर के अनेक प्रमुख व्यक्ति उनसे अच्छे प्रभावित हुए। तत्त्व आदि को अच्छी तरह से समझ लेने के बाद वहाँ के लोगों ने उनके सामने एक शर्त्त रखते हुए कहा— "यदि इस वर्ष का चातुर्मास आप यहाँ करें तो हम सब आपके अनुयायी हो जाएँ। आप चातुर्मास स्वीकार कर लें और फिर चाहे इसी समय हमें गुरु-धारणा करा दें।"

जयाचार्य ने पहले तो उनको समझाने का प्रयत्न किया कि जहाँ गुरु की आज्ञा होगी वहीं चातुर्मास किया जा सकेगा, अतः अपनी ओर से मैं इसे कैसे स्वीकार कर सकता हूँ। परन्तु जब उन्होंने जनता का अत्यन्त आग्रह देखा और उपकार का कारण भी देखा तो अपनी ओर से एक अपवाद रखते हुए उन्होंने चातुर्मास की स्वीकृति दे दी। उनका वह अपवाद यह था कि आचार्य कहीं अन्यत्र की आज्ञा दें तो बात अलग है, अन्यथा यहाँ चातुर्मास करने का विचार है।

अवसरज्ञ जयाचार्य ने लोगों के उत्साह और अपनी सीमा को अत्यन्त चतुरतापूर्वक सुरक्षित रखकर उनको गुरु-धारणा करवा दी। उसके बाद ऋषिराय से आज्ञा मगवाकर उन्होंने वह चातुर्मास लाडणूं में किया। तभी से लाडणूं का क्षेत्र साधु-सतियों के आवागमन का केंद्र बन गया। जयाचार्य को चातुर्मास की प्रेरणा करने तथा गुरु-धारणा लेने वालों में वहाँ के लालचंदजी सरावगी आदि श्रावक प्रमुख थे। पहले प्रायः वे सब ही टालोकर चंद्रभाणजी की श्रद्धा में थे।

बीकायत में

थली का पूर्वभाग बीदावत और पश्चिमभाग बीकायत कहलाता है। जयाचार्य बीदावत में तो काफी विचरे ही थे, पर बीकायत में भी उन्होने धर्म-प्रचार किया था। उन्होंने बीकानेर में दो चातुर्मास किये और वहाँ की जनता को धर्म-लाभ दिया। अनेक व्यक्तियों ने उन अवसरों से लाभ उठाया। तेरापथ के उस प्रसार से असहिष्णुता रखने वाले एक स्थानकवासी साधु फतेचंदजी को वह सहन नहीं हुआ। उन्होंने भ्रांतियाँ फैलाकर लोगो को फिरसे अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया। इस पर जयाचार्य ने उन भ्रांतियों का निराकरण करते हुए ऐसे तार्किक और युक्ति-संगत ढंग से उत्तर दिये कि उनका असर श्रावक-समुदाय पर हुआ ही, स्वय फतेचंदजी के एक शिष्य पर भी ऐसा असर हुआ कि वह तेरापंथ की मान्यता को शास्त्रानुमोदित समझने लगा और वहाँ से पृथक् होकर जयाचार्य के पास दीक्षित हो गया।

दिल्ली-यात्रा

जयाचार्य की यात्राओं में दिल्ली-यात्रा का एक विशिष्ट स्थान है। जयाचार्य से पूर्व किसी भी तेरापथी साधु का उधर जाना नही हुआ था। जयाचार्य को उधर जाने की प्रेरणा स० १८८८ के बीकानेर-चातुर्मास में प्राप्त हुई थी। वहाँ हरियाणे के दो भाई—मोमनचंद और गुलहजारी जयाचार्य के दर्शन करने के लिए आये थे। उन्होने उनसे दिल्ली पधारने के लिए प्रार्थना की थी। सभव है उन दोनो का दिल्ली से कोई व्यापारिक सम्बन्ध रहा करता था अथवा वे दिल्ली में ही व्यापार करते थे।

दिल्ली जाने की बात जयाचार्य के ध्यान में बैठ गई थी, अत चातुर्मास की समाप्ति पर उन्होंने तपस्वी संत कोदरजी को मेवाड भेजकर ऋषिराय से आज्ञा मगवाई। कोदरजी स्वामी चलने में बहुत तेज थे, अत. जयाचार्य जब तक बीकानेर से विहार करते हुए और कुछ विराजते हुए चूरू से कुछ ही आगे बिसाऊ पहुँचे, तब तक वे भी आज्ञा लेकर वापिस वहाँ पहुँच गये थे। वहाँ से राजगढ, ऊमरा, हांसी, जमालपुर, भिवानी, दादरी, झज्झर, फरुखनगर और गढी आदि ग्रामो में ठहरते हुए दिल्ली के एकदम निकटवर्ती पहाडी[1] ग्राम में पधार गये। वह ग्राम दिल्ली से एक कोस पर ही था।

जयाचार्य ने जब हेमराजजी स्वामी के साथ स० १८८१ का चातुर्मास जयपुर किया था, तब दिल्ली के कृष्णचदजी माहेश्वरी और चतुर्भुजजी ओसवाल वहाँ आये थे। दोनों ने जयाचार्य से तत्त्वबोध पाकर सम्यक्त्व ग्रहण किया था। मूलतः वे स्थानकवासी थे। जब वे दिल्ली वापिस आ गये थे, तब उन दोनो का मूर्त्ति-पूजक श्रावक किसनचदजी ओसवाल के पास आना-जाना काफी रहा। उनकी सगति से वे दोनो ही मूर्ति-पूजक बन गये थे। यद्यपि कृष्णचदजी मूर्त्ति-पूजक बन गये थे, पर जयाचार्य के शास्त्र-ज्ञान और समझाने के प्रकार से वे मुग्ध थे। उनके मन में जयाचार्य के प्रति एक अज्ञात आकर्षण था। जब उन्होंने जयाचार्य के पहाडी ग्राम में पधारने की बात सुनी तो वहाँ जाने का निश्चय किया, पर सकोचवश नहीं जा सके। चौथे दिन आखिर वे अपने आपको नहीं रोक सके। वे अन्य नौ व्यक्तियो को साथ लेकर पहाडी ग्राम में आये और जयाचार्य से दिल्ली पधारने की प्रार्थना करने लगे। स्थान के विषय में भी व्यवस्था कर देने का विश्वास दिलाया।

जयाचार्य तब वहाँ से विहार कर दिल्ली पधारे। कृष्णचदजी ने बाजार में दुकानो के ऊपर एक जगह बतलाई, परन्तु पास वाले ही मकान में वेश्याएं रहती थीं, अत· जयाचार्य ने कहा—"यह स्थान तो हम साधुओं के उपयुक्त नही है।" कृष्णचदजी ने तब अन्य स्थान भी बतलाए, उनमें से रोशनपुरा में गगारामजी काश्मीरी का स्थान उपयुक्त लगा, अत. आज्ञा लेकर वहाँ विराजे। शेषकाल में सतरह रात वहाँ रहे और फिर आस-पास के क्षेत्रों में विचरकर

१—'पहाड़ी ग्राम' अब दिल्ली का ही एक अंग 'पहाड़ी धीरज' के नाम से हो गया है।

सं० १८८६ का चातुर्मास उसी स्थान में किया। वहाँ भाई-बहिनों का आवागमन काफी रहा। स्थानक-वासी और मूर्त्ति-पूजक भाई चर्चा करने के लिए आते और उनके आगम-युक्ति-पूर्ण उत्तरो के सामने पराजित होकर जाते।

माहेश्वरी कृष्णचंदजी प्राय नित्य ही आया करते थे। व्याख्यान सुना करते थे, किन्तु सामायक आदि नही करते थे, वदन भी नही करते थे। वे जयाचार्य से कहा करते थे कि जयपुर में आपके दर्शन किये थे, तभी से आपकी मूर्त्ति हृदय में वसी हुई है। आपके प्रति मेरे मन में वहुत स्नेह-भावना है। आप जैसा आगमिक उत्तर देने वाला तथा सैद्धांतिक ज्ञान रखने वाला मुझे और कोई नही मिला। मैं यहाँ ज्ञान-चर्चा के लिए ही आया करता हूँ, पर मेरी और आपकी मान्यताओ में वहुत अन्तर हो गया है।

जयाचार्य ने कहा—"मान्यताओ की सच्चाई का हल आगमों की कसौटी पर कसकर ही निकाला जा सकता है, अतः जिन वातो में अन्तर है, उन्हें न्यायपूर्वक आगमों के प्रकाश में देखने की आवश्यकता है। ऐसा करने पर सम्भव है हम दोनों एक ही निष्कर्ष पर पहुँच जाए।"

कृष्णचदजी ने इस वात को स्वीकार किया और वे आगम-चर्चा में अपना काफी समय देने लगे। ओसवाल किसनचदजी को वह सम्पर्क भाया नहीं, अतः वे प्राय उनके साथ ही आया करते और वीच-वीच में तथा वाद में भी उनके पास ऐसी वातें छेडते रहते, जिससे जयाचार्य की वातो का प्रभाव उनके मन पर रहने न पाए। परन्तु जयाचार्य के प्रभाव का प्रवाह इतना कमजोर नहीं हुआ करता था कि उसे रोका जा सके। ओसवाल किसनचदजी का प्रयास सफल नहीं हो सका और माहेश्वरी कृष्णचदजी फिर से तत्त्वज्ञान को समझकर श्रद्धालु वने। सामायक भी करने लगे। फिर तो उन्हें धर्म की ऐसी लगन लगी कि ससार से विरक्त होकर सयमी-जीवन विताने की वात सोचने लगे।

अच्छा धनी घर था। दुकान पर मुनीम गुमास्ते काम किया करते थे। एक विवाहित पुत्र था। सब प्रकार की सांसारिक सुविधाओं के होते हुए भी उन्होंने अपने मन को त्याग की ओर लगा दिया। यद्यपि उनके पुत्र ने आज्ञा वड़ी कठिनाई से दी, पर जिसका मन ससार से विरक्त हो गया हो, उसे रोककर रख लेना भी तो सम्भव नहीं होता।

चातुर्मास-समाप्ति पर था। अत जयाचार्य मार्गशीर्ष वदी प्रतिपदा को दिल्ली से विहार कर पहाड़ी ग्राम में आ गये। उसी दिन वहाँ पर कृष्णचदजी को संयम प्रदान किया। इस प्रकार दिल्ली का प्रथम प्रवास पूर्णरूपेण सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

पाँच साधु आये थे और एक दीक्षा हो जाने से छह साधुओं ने वहाँ से जयपुर होते हुए मेवाड़ में ऋषिराय के दर्शन करने के लिए विहार कर दिया। गोगूंदे में आचार्यदेव के दर्शन हुए। वहाँ जयाचार्य ने दिल्ली-यात्रा के अपने सस्मरण सुनाये, जिससे ऋषिराय के मन में वडी प्रसन्नता हुई।

इस प्रकार जयाचार्य का अग्रणी-जीवन विभिन्न प्रदेशों में धर्म-प्रसार के लिए किए जाने वाले सफल अभियानों का वृत्तान्त कहा जा सकता है। अपनी प्रत्येक यात्रा में उन्होंने बड़ी सूझ-बूझ के साथ काम किया था। तेरापंथ के सिद्धान्तों के प्रतिपादन की कुशलता और उन्हें दूसरों के हृदय में जमा देने की योग्यता—इन दोनों ही विशेषताओं ने उनकी यात्राओं को पूर्णतः सफल बना दिया था। अग्रणी अवस्था के उनके वे बारह वर्ष उनकी योग्यताओं को प्रकाश में लाने के लिए जहाँ प्रर्याप्त साधन बने थे, वहाँ धर्म-जिज्ञासु जनता के लिए भी अत्यन्त तृप्ति के कारण बने थे।

: ४ :

युवाचार्य पद पर

एक प्रश्न

जयाचार्य के जीवन के हर पहलू के साथ प्राय कुछ-न कुछ नवीनता जुड़ी दिखाई देती है। शायद उनके साथ प्रकृति ने कोई गुप्त रहस्य जोड़ रखा था। अन्य बातों के साथ उनका युवाचार्य-पद भी इसका अपवाद नहीं रहा। ऋषिराय ने न जाने कौन-सी आंतरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर उनको युवाचार्य-पद तब दिया, जब वे वहाँ से बहुत दूर थे। कुछ अर्से तक उसे प्रकट भी नहीं किया गया। वह सब इस प्रकार से क्यों किया गया था, यह अपने आप में आज भी एक प्रश्न ही मालूम पड़ता है।

अप्रकट नियुक्ति

जयाचार्य ने सं० १८९३ का चातुर्मास बीकानेर में करने के पश्चात् शेषकाल का अधिकांश समय थली में ही बिताया। उसके बाद संवत् १८९४ का चातुर्मास पाली में करने के लिए वे आषाढ में वहाँ पहुँचे। उन्हीं दिनों ऋषिराय मेवाड में विहार करते हुए चातुर्मास करने के लिए आषाढ के महीने में नाथद्वारा पधारे। वहाँ उन्होंने एक पत्र लिखकर अपने उत्तराधिकारी के रूप में जयाचार्य को नियुक्त किया। वह पत्र सरूपचदजी स्वामी को देते हुए उन्होंने कहा कि अभी से इस बात को प्रकट मत करना। चातुर्मास के बाद जब जीतमल से मिलेंगे, तभी यह बात प्रकट करने का विचार है।

पत्र-प्रेषण

युवाचार्य-पद दे दिया गया था, फिर भी उसका जयाचार्य को कोई पता नहीं था। पाली का चातुर्मास पूरा करने के बाद उन्होंने गुरु-दर्शनार्थ वहाँ से मेवाड की ओर विहार कर दिया। जब वे 'फलोदी' होते हुए 'खींचन' पहुँचे, तब ऋषिराय के द्वारा भेजे गये दो साधु भी वहाँ पहुँच गये। सतों ने वदन, सुख-पृच्छा आदि के पश्चात् कुछ मौखिक समाचार कहे और फिर स्वयं ऋषिराय द्वारा लिखे गये दो पत्र उनको समर्पित किये। उनमें से एक पत्र बड़ा था और खुला हुआ ही था। उसमें सुखसाता के समाचार थे तथा जयाचार्य को शीघ्रतापूर्वक पहुँचने के लिए कहा गया था। दूसरा पत्र छोटा था, पर उसे जयाचार्य के सिवाय अन्य सन्तों को पढ़ने की मनाही थी। वह युवाचार्य-पद की नियुक्ति का पत्र था। जयाचार्य ने उस पत्र को लेकर पढ़ा तो उनकी आकृति पर एक साथ ही कुछ गम्भीरता-सी छा गई। वे उसे हाथ में लिए हुए कुछ देर तक निःस्पद से होकर यो निहारते रहे, मानो उसे दुबारा पढ़ रहे हों।

पत्र के पीछे की ओर कुछ भी नही लिखा था, फिर भी उन्होने उसे उलटकर यो देखा मानो जो लिखा हुआ था, वह पर्याप्त न हो और वे कुछ अधिक विस्तार से जानना चाह रहे हो। ऋषिराय के अक्षरों को पहचानते हुए भी वे उन्हें इतने ध्यान से देखते रहे मानो वे प्रत्येक अक्षर के अन्त.गमों को हृदयगम कर रहे हों। चिंतन और मनन की मुद्रा में वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो उस पत्र की अलिखित भूमिका का अवगाहन कर रहे हो तथा दूरस्थ आचार्यदेव के मानसिक सकल्पों के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए उन्हें आत्मसात् करने का प्रयास कर रहे हों। वे भावी की आकृति पर से कुछ पढ रहे थे और पास में खड़े सत उनकी आकृति पर कुछ पढ लेने का प्रयत्न कर रहे थे।

तेज विहार

सहसा उन्होंने पत्र को वन्द किया और सतों से आगामी विहार की बातचीत करने लगे। एक मजिल सबके साथ रहकर उन्होंने धीमे चलने वाले सतों को पीछे से आने को कहा और स्वय दो सतों को साथ लेकर आगे बढे। उन्होंने आचार्यदेव के दर्शन होने से पूर्व किसी ग्राम में दो रात न ठहरने का निश्चय किया और यदि ठहरना ही पड़े तो वहाँ चारों आहार का प्रत्याख्यान कर दिया। वहाँ से तेज विहार करते हुए उन्होंने मेवाड में प्रवेश किया और केलवा तथा राजनगर होते हुए नाथद्वारा पधारे।

नाम की घोषणा

ऋषिराय चातुर्मास के पश्चात् उदयपुर की ओर पधार गये थे। वहाँ से वापस विहार करते हुए वे जयाचार्य के नाथद्वारा पहुचने के अगले ही दिन वहाँ पहुँच गये। उसी दिन उन्होने जनता में अपने उत्तराधिकारी का नाम उद्घोषित कर दिया। यद्यपि वे करीब पाँच महीने पूर्व ही इसकी व्यवस्था कर चुके थे, परन्तु उसका पता प्राय. किसी को नही था। जयाचार्य की योग्यता और विशेषताओं से प्राय सभी परिचित थे। अतः एक सुयोग्य भावी शासन-पति को पाकर सभी आनन्दातिरेक में मग्न हो गये।

व्यवस्था मे सहयोग

जयाचार्य युवाचार्य-पद की स्थिति में चौदह वर्ष से कुछ अधिक रहे। उस अर्से में वे शासन की अन्य सेवाओ में तो सलग्न रहे ही थे, पर साथ ही उसकी व्यवस्था सम्बन्धी कार्यों में भी ऋषिराय का भार हल्का करते रहे थे। आचार्य के लिए "गण तत्ति विप्पमुक्को"— "गण की चिन्ताओं से मुक्त" का जो विशेषण आता है, वह सम्भवत. जयाचार्य जैसे शिष्यों द्वारा ही सार्थक किया जाता है।

गली निकालिये

जयाचार्य अनुशासन की दृढता में विश्वास रखने वाले व्यक्ति थे, अत. आचार्य के हर अनुशासन का पालन करना वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। अनुशासन को भग करने अथवा

फिर उसी प्रकार अट-सट बोलने लगे और अपनी शकाओं की लम्बी-लम्बी सख्यायें बतलाने लगे। उनके साथ के रामजी स्वामी ने तब नाथद्वारा में जाकर ऋषिराय के दर्शन किये और वहाँ की सारी परिस्थिति निवेदित की।

ऋषिराय ने वहाँ जाकर ही सारी परिस्थिति को सुलझाने का निश्चय किया। युवाचार्य आदि आठ सन्तों सहित विहार करते हुये वे पूर की ओर पधारे। तपस्वी गुलावजी ने जब यह समाचार सुना तो उन्होंने अपनी शकाओ की संख्या को घटाकर कम कर दिया और कहने लगे कि यदि मेरी चार शकाएँ मेट दी जायें तो फिर सारी बातें ठीक हो जाए। भोपजी सिंघी ने मार्ग के 'कारोई' ग्राम में ऋषिराय के दर्शन किये, तब उन्होंने बतलाया कि गुलावजी कहते हैं—"यदि मेरी चार शकाओ का उत्तर हेमराजजी स्वामी के पास से मंगा दिया जाये तो मैं उनके उत्तरों को सर्वथा स्वीकार कर लूँगा।"

युवाचार्य जीतमलजी स्वामी ने उस बात का उत्तर देते हुए भोपजी से कहा—"जब आचार्यदेव स्वय ही वहाँ पधार रहे हैं, तब हेमराजजी स्वामी से उत्तर मंगाने की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ?"

दूसरे दिन जब कि ऋषिराय पुर में पहुँच रहे थे, भोपजी ने आकर फिर बतलाया कि गुलावजी कहते है—"यदि एक साधु आकर मुझे यह कह दे कि हम स्वामीजी की सब मर्यादाओं को ठीक पालते हैं तो मैं सामने आकर पैर पकड़ लूँगा।"

युवाचार्य ने उसका उत्तर देते हुये कहा—"स्वामीजी की मर्यादायें तो हमें सदा से ही मान्य रही है। अब साधु को भेजकर नये सिरे से इसके विषय में कहलाने की कौन-सी आवश्यकता आ पड़ी ?"

पुर से सामने आने वाले भाइयों ने भी ऋषिराय से प्रार्थना की कि एक साधु को भेज देना चाहिये। तपस्वीजी को यदि इतने में ही तसल्ली हो जाती है, तो ऐसा करने में कोई अडचन नही होनी चाहिए। किन्तु उनकी वह प्रार्थना उपयुक्त न होने से स्वीकार नहीं की गई। युवाचार्य ने ऋषिराय की दृष्टि को देखते हुये कहा कि जो सत अमुक सीमा तक सामने आ जाएँगे वे ही गण के समझे जायेंगे, जो सामने नहीं आयेंगे, वे गण-विरोधी होने के कारण उससे बाहर समझे जायेंगे। यह समाचार सुनने के बाद एक मुनि जीवराजजी साधु तो सामने आ गये, किन्तु अवशिष्ट तीन साधु नहीं आये।

पुर में पधारकर ऋषिराय बाजार में विराजे। वे जिन दुकानों पर ठहरे थे, उनके पास वाली दूकान में ही गुलावजी ठहरे हुये थे। वहाँ युवाचार्य ने परिषद् के सामने गुलावजी की बातो का खुलासा किया। करीब दो वर्ष पूर्व भी उनके ऐसी शकाएँ पड़ी थीं। उस समय उनके इकतालिस शंकायें थी। उनका निराकरण भी जयाचार्य ने ही किया था। उस समय उनकी शकाएँ निवृत्त होने पर उन्होंने एक लिखित प्रतिज्ञा की थी। उसके अनुसार उन्हें

किसी भी साधु-साध्वी की निन्दा करने का परित्याग था। जयाचार्य ने लिखित प्रतिज्ञा वाला वह पत्र भी जनता को दिखलाया।

तपस्वी गुलाबजी यह सब अन्दर बैठे सुन रहे थे। वे बाहर आये और कहने लगे—"स्वामीजी की सब बातें मुझे स्वीकार है, किन्तु जो लोग पहले तो नियमों का पालन कठोरता मे करते थे, पर अब ढीले पड गये, उनकी बात कैसे मानी जाए?"

युवाचार्य ने कहा—"दो वर्ष पहले तुमने जो लिखित पत्र लिख कर दिया था, उसमें तुमने सघ को बिलकुल विशुद्ध स्वीकार किया है। उस समय तक यदि हम ठीक थे तो उसके बाद कौन-सी ढिलाई आ गई? तुमने साधु-साध्वियो की निन्दा करने का त्याग किया था। कम-से-कम अपने उस नियम का तो ध्यान रखते।"

गुलाबजी ने कहा—"मेरा त्याग भग हुआ है, उसका मुझे दंड ही तो आएगा, शिर थोड़े ही कटेगा? पर बात तो जैसी होगी वही कही जाएगी।" इस प्रकार की बातें करते हुए वे युवाचार्य के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वापस अन्दर चले गये।

दूसरे दिन सायकाल में युवाचार्य को अकेला देखकर वे कहने लगे—"मैं तो गले तक भरा हुआ हूँ, पर किससे कहूँ? कोई मेरी बात सुनने वाला भी नही है।"

युवाचार्य ने उसके मानसिक उभाड को शांत करने के लिए उपयुक्त समय समझ कर सायकालीन प्रतिक्रमण के बाद ऋषिराय से वहाँ जाने की आज्ञा ली। वे 'नेवों[1]' के नीचे से वहाँ पधारे और तपस्वी गुलाबजी से बोले—"तुम कहते थे कि मेरी बात सुननेवाला कोई नहीं है, लो मैं तुम्हारी बातें सुनने के लिये आया हूँ।"

गुलाबजी ने तब लगभग दो घटे तक अनाप-शनाप बातें कह कर अपने मन की भड़ास निकाली। युवाचार्य केवल एक श्रोता के रूप में ध्यानपूर्वक ऊँची-नीची सब बातें शान्ति से सुनते रहे। जब वे सब कुछ कह चुके तब उन्होंने मिठास से एक-एक बात का उत्तर देना प्रारम्भ किया। उनके मुख्य चारों प्रश्नों का भी उन्होंने धैर्यपूर्वक उत्तर दिया। गुलाबजी को यह स्वप्न में भी विश्वास नहीं था कि उनकी बातों को कोई इतनी शांति से सुन लेगा और उत्तर भी देगा। वे तो अपने प्रश्नों को ऐसा मान बैठे थे कि मानो उनका कोई उत्तर हो ही नही सकता। परन्तु अब उन उत्तरों के सामने उन्हें लगने लगा कि वे प्रश्न वस्तुत: कोई गहराई लिए हुए नही थे।

युवाचार्य ने दूसरे दिन गुलाबजी के साथी सत तपस्वी उदयचन्दजी को भी सारी बातें समझाई। उनके भी वे तत्काल ध्यान में बैठ गई। अब वे स्वय ही गुलाबजी की बातों का उत्तर देने लगे। गुलाबजी जब अपने साथी को भी निरुत्तर नहीं कर सके तब उन्हें अपनी बातों की साधारणता का अच्छी तरह से भान हो गया। वे युवाचार्य से बोले—"अब मेरे

१—खपरैल की छत वाले मकानों में जो भाग छज्जेनुमा बाहर निकला हुआ होता है, उसे 'नेव' कहा जाता है।

मन में कोई शंका नहीं है, अत: संघ की निन्दा आदि करने में जो दोष लगा है उसका दण्ड देकर मुझे आराधक बना दें।"

युवाचार्य ने कहा—"प्रायश्चित्त के विषय में कम या अधिक देने का तुम्हें भ्रम हो सकता है। अत: अच्छा हो कि जिस पर तुम्हारा अधिक-से-अधिक विश्वास हो उस व्यक्ति को तुम स्वयं ही इसके लिये चुन लो। ऋषिराय से मैं इसकी स्वीकृति दिलाने का प्रयास करूंगा।"

तपस्वी गुलाबजी ने कहा—"आप पर मेरा पूर्ण विश्वास है, अत: आप जो भी दंड देंगे वह मुझे स्वीकार होगा।"

युवाचार्य ने तब उनको सरलमना होकर ऋषिराय के पास से प्रायश्चित्त मांगने की सलाह दी। इस पर तीनों ही संत युवाचार्य के साथ ऋषिराय के पास आ गये और विधिपूर्वक वंदन करके जनता के सामने ही प्रायश्चित्त की याचना करने लगे। लोगों को इस पर बड़ा ही आश्चर्य हुआ। संभवतः यह किसी को विश्वास ही नहीं था कि अब उन्हें समझाया जा सकेगा। परन्तु युवाचार्य के प्रयास ने वह काम कर दिखाया। यदि इस गड़बड़ में प्रारम्भ से ही दृढ़ता से काम नहीं लिया जाता और तपस्वी गुलाबजी की शर्तें मान ली जाती तो संभव है बात का अंत संघ के लिए इतना अनुकूल नहीं निकल पाता, जितना कि इस क्रम से निकला। युवाचार्य ने अपनी प्रशासनिक सूझ-बूझ से उस सारे बखेड़े को सरलता से सुलझा लिया।

नागौर-पट्टी

जयाचार्य संघ की व्यवस्था में प्राय: पहले से ही रुचि रखते थे। युवाचार्य हो जाने के बाद तो उस विषय में अधिक सजग रहने की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही थी। एक बार ऋषिराय ने कुछ संतों को अनेक बक्शीशें कीं, तथा उन्हें पृथक्-पृथक् विहार क्षेत्र देने का वचन दिया। जयाचार्य संघ की एक सूत्रता बनाये रखने में इस क्रम को बाधक समझते थे। अत: उन्होंने ऋषिराय से इस विषय में प्रार्थना करते हुए कहा—"पृथक्-पृथक् विहार क्षेत्र दे देने से कालांतर में अन्य सम्प्रदायों की तरह यहाँ भी वैसी स्थिति पैदा होने की संभावना हो सकती है, जिससे एक सिंघाड़े के क्षेत्र में दूसरे सिंघाड़े का चला जाना असह्य लगने लगे।" युवाचार्य की वह बात अवश्य ही ऋषिराय के ध्यान में बैठ गई थी, तभी उन्होंने संक्षिप्त-सा उत्तर देते हुए कहा—"मैंने क्षेत्रों के नाम नहीं खोले हैं, अत: चोटी तो तेरे ही हाथ में रहेगी।"

जयाचार्य ने आचार्य होने के बाद ऋषिराय के इसी वाक्य के आधार पर उस समस्या को हल किया था। एक बार छोगजी नामक साधु जयाचार्य के पास आये और ऋषिराय द्वारा प्रदत्त वचन का स्मरण करते हुए स्वतंत्र विहार क्षेत्र प्रदान करने की मांग करने लगे। जयाचार्य ने तब उन्हें कहा—"तुम नागौर पट्टी में विहार किया करो।"

नागौर-पट्टी में श्रद्धा के विशेष घर नहीं थे, अत: उनका मन उस क्षेत्र को लेकर संतुष्ट नहीं हो सका। उन्होंने कहा—"वह नहीं, कोई दूसरा क्षेत्र दीजिये।"

जयाचार्य ने कहा—"दूसरे क्षेत्र का तो विचार नहीं है।"

वे उस क्षेत्र के लिए इन्कार करके उस समय तो चले गये, पर कुछ देर बाद ही वापिस आये और कहने लगे—"अच्छा तो मैं नागोर-पट्टी में ही विहार कर लूँगा।"

जयाचार्य ने कहा—"नही, अब नही, वह तो उसी समय की बात थी। उस समय तुमने स्वीकार नही किया, अब मुझे स्वीकार नहीं है।"

जयाचार्य के उस दृढ रुख का अन्य साधुओ पर ऐसा प्रभाव पडा कि फिर किसी ने पृथक् पट्टी की माँग करने का साहस ही नही किया। संघ की आंतरिक व्यवस्था में उन्होने अपनी प्रतिभा का जो उपयोग किया, वह उनकी योग्यता का परिचायक तो था ही, साथ ही सघ की उन्नति और सगठन की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण था।

: ५ :

महान् आचार्य और उनकी महान् योजनाएँ

१ : महान् आचार्य

पदासीन

जयाचार्य तेरापथ के महान् आचार्य थे। वे स० १९०८ माघ पूर्णिमा के दिन बीदासर में पदासीन हुए थे। यद्यपि ऋषिराय माघ कृष्णा चतुर्दशी को ही दिवंगत हो गये थे, पर युवाचार्य उस समय उनके पास मेवाड़ में न हो कर थली में विहार कर रहे थे। उस समय समाचार या संचार-साधनो की व्यवस्था इस समय जैसी तो थी नहीं कि आज पत्र डाला और कल पहुँच गया, या आज चले और कल किसी दूर देश पहुच गये। प्राय सभी कुछ अपेक्षा कृत धीमी गति से ही हुआ करता था। इसीलिए जयाचार्य के पास वे समाचार पत्र के द्वारा माघ शुक्ला अष्टमी को पहुँच पाये थे। उसके बाद शुभ दिन देखकर माघ पूर्णिमा को पदासीन होने का उत्सव मनाया गया। उस उत्सव के उपलक्ष्य में अनेक व्यक्तियों ने त्याग-विराग की वृद्धि की। रामजी स्वामी ने तो उस अवसर पर यावज्जीवन के लिए बेले-बेले की तपस्या ग्रहण की। जयाचार्य भी उस दिन श्रावकों के घर गोचरी के लिए गये और अशन-वसन ग्रहण कर लाये। आचार्यदेव के उस अचानक और अयाचित प्रथम पदार्पण से जनता को उतना ही हर्ष हुआ जितना कि वर्षाकाल की प्रथम वर्षा के अवसर पर किसानों को होता है।

जयाचार्य के इस प्रथम पट्टोत्सव पर सम्मिलित होने का अवसर अधिकांश साधु-साध्वियों को नहीं मिल सका। इसका कारण यह था कि उस समय तक थली में बहुत कम सिंघाड़े आया करते थे। साधु-साध्वियों का विहार-क्षेत्र मुख्यत मेवाड़ या मारवाड ही था। उस वर्ष ऋषिराय स्वय मेवाड में थे, अत: दर्शनार्थी साधु वहाँ एकत्रित हो चुके थे। जब आवे माघ में ऋषिराय अचानक दिवगत हो गये, तब उसके बाद सतो का जयाचार्य की सेवा में शीघ्र ही पहुँच सकना संभव नहीं हुआ। इसलिए वह उत्सव थोडे से साधुओं द्वारा ही मनाया गया।

मीठा उपालंभ, मीठा उत्तर

उस छोटे समारोह का एक दूसरा कारण यह था कि स्वयं जयाचार्य उस कार्य से शीघ्र ही निवृत्त होना चाहते थे। अधिक संतों के एकत्रित होने पर उनके द्वारा उस अवसर पर कुछ माँगें प्रस्तुत की जाने की उन्हें सम्भावना थी। ऋषिराय द्वारा की गई बख्शीशों को कार्यरूप दिलाने तथा उसके अतिरिक्त कुछ नई माँगें रखने की कतिपय सतो की पूर्व-चिंतित

योजना थी। वे उसे जयाचार्य के पदासीन होने के उपलक्ष्य में स्वीकृत कराना चाहते थे।

जयाचार्य को उनकी उस योजना का पहले से ही पता था। सयोगवश उन्हें पदासीन होने का अवसर ऐसा प्राप्त हो गया कि अधिक सत वहाँ एकत्रित नहीं हो सके। उन्होंने उस आकस्मिक सयोग का पूरा लाभ उठाया। वे नही चाहते थे कि प्रथम अवसर पर ही किसी की माँग को अस्वीकृत कर उन्हें निराश किया जाये। वे यह भी नही चाहते थे कि पूरा चिंतन किये बिना किसी भी माँग को स्वीकार करके सदा के लिए कोई सिर-दर्द पैदा कर लिया जाए। वे अपने कार्य में पूरे सावधान थे, अत. ऐसा अवसर उन्होंने उपस्थित ही नही होने दिया।

कालान्तर में जब साधु एकत्रित हुए, तब कुछ साधुओ ने मिलकर जयाचार्य को एक मीठा उपालभ देते हुए कहा—"आपने ऐसे महनीय अवसर पर हमें सम्मिलित होने का अवसर प्रदान नहीं किया।"

महान् नीतिज्ञ जयाचार्य ने उस मीठे उपालभ को अपने मीठे उत्तर से टाल देने के लिए एक प्रश्न पूछते हुए कहा—"उस समय सम्मिलित होकर आखिर तुम लोग क्या करते ?"

साधुओं ने कहा—"हम भी उत्सव मनाते और आपको 'नईपछेवडी' धारण करवाते।"

जयाचार्य ने स्मयमान मुद्रा से कहा—"बस, तो इतनी ही बात थी ? ऐसा तो तुम अब भी कर सकते हो।" और उनके उस छोटे से वाक्य ने उन सबको निरुत्तर कर दिया।

भावना की पूर्ति

बीदासर से विहार कर जयाचार्य जब लाडणूँ पधारे, तब पहले पहल चालीस साधु और चौवालीस साध्वियो ने वहाँ दर्शन का लाभ प्राप्त किया। पट्टासीन होने के उत्सव में सम्मिलित न हो पाने का उन सभी को रज था। वे सब चाहते थे कि वह उत्सव एक बार फिर मनाया जाए और उन सब को उस आनन्द में सम्मिलित होने का अवसर दिया जाए। जयाचार्य उन सबकी भावना पूर्ण करने की बात सोच ही रहे थे कि वहाँ बीदासर से दर्शनार्थ आये हुए प्रसिद्ध श्रावक शोभाचदजी बैंगाणी ने उन्हें एक बार फिर बीदासर पधारने और उत्सव मनाने की प्रार्थना की।[1]

जयाचार्य ने मुनि-समुदाय की भावना और शोभाचन्दजी की प्रार्थना की एक साथ पूर्ति का अवसर देखकर उसे स्वीकार कर लिया और फिर बीदासर पधारे। वहाँ नवागन्तुक साधु-साध्वियो ने बड़े उत्साह से पट्टोत्सव मनाया। जयाचार्य ने सम्भवत: अपनी एक ढाल में इसी पट्टोत्सव का उल्लेख करते हुए लिखा है :

> सवत् उगणीसै आठै समें, जेठ कृष्ण चोथ जाण।
> पट मंगल पद पामियो, बीदासर सुविहाण ॥[2]

१—शोभाचंद जी तिह समे, विनती करी विशेष।
इक मेलो बीदासरे, कीजे वली गणेश॥ (ज० सु० ३६-दो० ५)

२—भिक्षुगुण वर्णन (ढाल २०-१३)

नवीनता और प्राचीनता

जयाचार्य का शासन-काल संघ की चतुर्मुखी प्रगति का काल था। पर साथ ही वह आन्तरिक संघर्ष का कारण भी बन गया। वस्तुत. संघर्ष के बिना कोई प्रगति सम्भव भी नही होती। प्रगति में सदैव नवीनता की प्रमुखता रहती आई है और जब-जब नवीनता ने अपने उपयुक्त स्थान की माँग की है तब-तब प्राचीनता ने दुर्योधन की तरह टका-सा उत्तर देते हुए प्राय यही कहा है—"सूच्यग्रमपि नो दास्ये, बिना युद्धेन केशव!" अर्थात्—सूई की नोक जितना भी स्थान युद्ध के बिना नहीं दिया जाएगा। तब संघर्ष के अतिरिक्त नवीनता के सामने कोई मार्ग ही नही बच जाता है। जयाचार्य ने आचार्य पद का भार सभालते ही संघ की आंतरिक सुचारुता के लिए आवश्यक परिवर्तन किये। परिणामस्वरूप अदर-ही-अदर कुछ संघर्ष की स्थितियाँ बनने लगी थीं।

जयाचार्य उन विरोधी स्थितियो से अनभिज्ञ नही थे, अत वे प्रारभ से ही उनसे बचने का प्रयास करते रहे। सांप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे यही नीति उनके प्रत्येक कार्य में बनी रही थी। वे अपने प्रगतिशीलता के कार्यो को भी चालू रखना चाहते थे और साथ ही विरोधी व्यक्तियो को खुलकर आलोचना करने का अवसर भी नहीं देना चाहते थे। उनकी इसी नीति के कारण प्रारंभ के अनेक वर्षो तक विरोध ऊपर नहीं आ सका। जब वह ऊपर आया तब भी अधिक टिक नहीं पाया और शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो गया।

जो समाज नई खुराक को पचाकर नई शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकता, वह समय की लम्बी दौड में निभ नहीं सकता। तेरापथ की अपनी यह विशेषता रही है कि वह मूल गुणों की प्राचीनता रखते हुए भी उत्तरगुणो में यथासभव नवीनता को स्थान देता रहा है। प्राचीनता और नवीनता में समन्वय बिठा लेने की अपनी विशिष्ट क्षमता के आधार पर ही उसने प्रगति मार्ग तय किया। जो इस समन्वय को ठुकरा कर केवल प्राचीनता या नवीनता को अपना कर चलना चाहता है, वह केवल विनाश की ओर ही जा सकता है। जयाचार्य एक महान् आचार्य थे। वे इस तथ्य को अच्छी तरह से जानते थे। इसीलिए उन्होंने आवश्यक और उपादेय नवीनता को ग्रहण करने में कभी विलंब नही किया तथा मूलभूत और लाभदायक प्राचीनता की कभी अवहेलना नही की।

२ : महान् योजनाएँ

योजनाओ की भूमिका

जयाचार्य तेरापथ के आचार्य-पद पर नवीनता और प्राचीनता के समन्वय को साथ लिए हुए ही आये थे। जिस वर्ष वे पदासीन हुए उसी वर्ष उन्होने अनेक मौलिक परिवर्तन किये थे। ऐसा अनुमान होता है कि संघ के लंबे हित के लिए अनेक बातों में जिस परिवर्तन की आवश्यकता थी, वह उनके मन में पहले से ही घुमड रही थी। साधारण साधु या अग्रणी-अवस्था

में वे स्वय जिन परिस्थितियों तथा विचारो में से गुजरे थे एव औरो को गुजरते देखा था, उनमें से अनेक वातों पर चिंतन करते हुए उनके मन में जो प्रश्न उठे थे उनका समाधान उन्होंने केवल अपने लिए ही नही किन्तु सारे सघ के लिए सोचा था। परिणामत: वे परिवर्तन की आवश्यकता महसूस करने लगे।

युवाचार्य वनने पर उन्होने उन विषयो पर फिर से गहरा मनन किया और लगातार मनन के फलस्वरूप जिन निर्णयो पर वे पहुँचे, उनको लागू करने के उपाय भी सोचे। ऋषिराय के अचानक देवलोक हो जाने पर जब सहसा ही उन पर सारे सघ का भार आ गया, तव उन्होने उन निर्णयो को सारे संघ पर लागू कर उनकी सभावित सफलता से सघ को लाभान्वित करने का विचार किया।

जयाचार्य एक दूरदर्शी आचार्य थे। उन्होने अपनी दिव्य-दृष्टि से भविष्य के पर्दे के पीछे छिपे जिस रहस्य को देखा था तथा अपने सघ को उन परिस्थितियों के समक्ष अपराजेय बनाने के लिए जिस योजना को क्रियान्वित करना प्रारभ किया, उसे समझने के लिए सव के पास अपेक्षित तीव्र दृष्टि का वल उपलब्ध नही था। इसीलिए कुछ व्यक्ति अपनी ही आँखों की कमजोरी के कारण उसे देख और समझ नही सके थे। परन्तु प्रलवतर समय की कसौटी पर उनकी योजनाएँ खरी उतरी। आज तेरापन्थ उन योजनाओ के वीज से फलित महान् वृक्ष की छाया का उपभोग और उसके मधुर फलो का आस्वादन कर रहा है। उस समय के कुछ व्यक्तियो ने जिन वातों की वहुत जोर-शोर से आलोचना की थी वे वातें तो आज सघ के प्राण वनी हुई है और उन आलोचनाओं का नामो-निशान कभी का मिट चुका है।

कार्य-प्रारंभ

आचार्य-पद प्राप्त करने के कुछ महीने वाद ही जयाचार्य जव जयपुर चातुर्मास के लिए जा रहे थे, तव मार्ग में कुछ समय तक बोरावड में विराजे। वहाँ दर्शनार्थ आये हुए साधु-साध्वियों के कुछ सिंघाडे एकत्रित हुए। अच्छा अवसर देखकर वही से उन्होने नई मर्यादाओ का निर्माण करना तथा नई योजनाओं को कार्य रूप देना प्रारम्भ कर दिया था। वे जितने महान् आचार्य थे, उनकी योजनाएँ भी सघ-हित की दृष्टि से उतनी ही महान् थी। तेरापथ का यह महान् सगठन, उसके प्रत्येक सदस्य का पारस्परिक सौहार्द, अनुशासन-प्रियता और विचारों का एकत्व आदि इतने लम्वे अर्से के वाद भी उसी प्रकार मे उज्जीवित हैं, इसका अधिकांश श्रेय जयाचार्य की उन योजनाओ को ही दिया जा सकता है।

(१) पुस्तकों का संघीकरण

प्रारंभिक अभाव

स्वामीजी के समय में पुस्तकों का बडा अभाव था। न तो आगम-प्रतियों की ही बहुलता थी और न व्याख्यान आदि की प्रतियो की। कई साधु तो एक चातुर्मास में एक

व्याख्यान को ही अनेक बार सुनाया करते थे। स्वामीजी को अपने प्रारम्भिक वर्षों में आहार और स्थान आदि का भी अभाव भोगना पड़ा था, तो वैसी स्थिति में पुस्तकों की सुलभता की तो कल्पना करना ही व्यर्थ है।

संग्रह और तारतम्य

धीरे-धीरे स्थिति में परिवर्तन आया। गृहस्थों के पास से तथा यतियों के उपाश्रय में संगृहीत भंडारों द्वारा पुस्तकें प्राप्त होने लगीं। साधु भी स्वयं लिखकर उस आवश्यकता की पूर्ति करने लगे। हर सिंघाड़े के साधु-साध्वियाँ जहाँ जाते वहाँ सुलभ होने पर भंडारों आदि में से शास्त्रों की गवेषणा करते। जो सिंघाड़े दूर-दूर तक विहार किया करते थे, उनको स्वभावत ही पुस्तक-प्राप्ति के अधिक अवसर प्राप्त हो जाते थे। परन्तु जो दूर जाने की स्थिति में नहीं होते, उन्हें क्षेत्र की इयत्ता के अनुरूप ही भंडारों आदि का सुयोग प्राप्त हो पाता था। इन्हीं सब कारणों के आधार पर पुस्तकों के संग्रह में काफी तरतमता उत्पन्न हो गयी थी। किसी-किसी सिंघाड़े में तो पुस्तकों की प्रचुरता हो गई थी, तो किसी-किसी में वही पुरातनकालीन अभाव चल रहा था। पुस्तकें होते हुए भी सुव्यवस्था के अभाव में उनका लाभ संघ के सब सदस्य नहीं उठा पा रहे थे।

जयाचार्य ने अपने अग्रणी-काल में काफी भंडारों का निरीक्षण किया था। वहाँ से उन्होंने पुस्तकें भी बहुत प्राप्त की थीं। अपनी पुस्तकों में से काफी प्रतियाँ उन्होंने दूसरे सिंघाड़ों को प्रदान की, फिर भी अनेक सिंघाड़े ऐसे थे जिनके पास आवश्यक पुस्तकों का अभाव था। जयाचार्य उस स्थिति को सुधारने के विषय में पहले से ही सोचते रहे प्रतीत होते है, अत जब संघ का भार उन्होंने संभाला तो सर्वप्रथम इसी समस्या को हाथ में लिया। उनका लक्ष्य था कि प्राप्त पुस्तकों का लाभ सब को समान रूप से मिले।

पुस्तकें किसकी ?

व्यक्तिगत शिष्य बनाने की परम्परा को तो स्वामीजी ने ही समाप्त कर दिया था, पर व्यक्तिगत पुस्तकों की परम्परा चालू थी। जयाचार्य ने अपने मन में उसे मिटाने का संकल्प किया और वहाँ उपस्थित साधु-साध्वियों की एक सभा बुलाई। सबके उपस्थित होने पर उन्होंने अग्रणी साधु-साध्वियों से एक प्रश्न किया—"तुम लोगों के साथ रहने वाले साधु-साध्वियाँ किसकी निश्राय में हैं ?"

तत्काल सबने एक स्वर से उत्तर देते हुए कहा—"आचार्य देव की निश्राय में।"

तब उन्होंने दूसरा प्रश्न पूछा—"पुस्तकें किस की निश्राय मे हैं ?"

उत्तर मिला—"वे तो जो जिसके पास हैं उन्ही की निश्राय में है।"

जयाचार्य ने कहा—"मैं चाहता हूँ कि अब से पुस्तकें भी व्यक्तिगत न होकर सारे संघ की कर दी जाएँ, ताकि सभी समान रूप से उनका लाभ उठा सकें। अब से जो अपनी

व्यक्तिगत पुस्तक रखेगा, वह उसका भार स्वय ही उठायेगा, अपनी निश्राय की पुस्तकों का भार वह अपने साथ के व्यक्तियों को नहीं दे सकेगा।"

जयाचार्य की उस अप्रत्याशित आज्ञा से सभी अग्रणी चकित हो गये। उनमें से कुछ ने नम्रतापूर्वक उस समस्या का हल जयाचार्य से ही पूछा—"वे अकेले तो इतना भार उठा नहीं सकते, अत. अब उन्हें क्या करना चाहिए ? आप जैसी आज्ञा देंगे वैसा ही करने को उद्यत हैं।"

जयाचार्य ने तब उनको बतलाया—"अपनी-अपनी पुस्तकें सघ को समर्पित कर दी जाएँ। उसके पश्चात् आवश्यकता और उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए उनका सब सिंघाडो में समान-वितरण कर दिया जाएगा।"

पुस्तकें भेंट

जयाचार्य के इस कथन पर कुछ सिंघाडों ने तो अपनी पुस्तकें लाकर उसी समय समर्पित कर दी थीं, पर कुछ सिघाडों ने कुछ समय के पश्चात् समर्पित की थी। साध्वियों की पुस्तकें पहले सरदार सती को भेंट की गई थीं। फिर सरदार सती ने उन सबको जयाचार्य के चरणों में भेंट कर दिया। जयाचार्य ने किसी को बाध्य नही किया था, अत· अपनी निश्राय की पुस्तकों का भार स्वयं उठा सकने की क्षमता पर विश्वास करने वालों ने जो विलब किया था, वह कोई अपराध नहीं था। हृदय-परिवर्तन के कार्य में प्राय यह विलंब सर्वत्र ही देखा जाता है। कहीं-कही तो इस प्रक्रिया में इतना विलम्व भी हो जाता है कि सुधार के इस प्रकार में अनेक व्यक्तियों का विश्वास ही उठ जाता है। पर एक अहिंसक सुधारक के लिए इसके अतिरिक्त कोई दूसरा ऐसा प्रशस्त मार्ग हो नही सकता, जिससे कि उसके अहिंसाव्रत की सीमा को भी कोई आँच न आये और काम भी हो जाए। जयाचार्य ने हृदय-परिवर्तन के आधार पर ही पुस्तकों को ग्रहण किया था।

समान वितरण

जो पुस्तकें उस समय जयाचार्य को समर्पित हुईं, उनमें से समर्पकों की न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति करने के पश्चात् जो प्रतियाँ अवशिष्ट रही वे साध्वियो के सिंघाडों में यथावश्यक वितरित कर दी गईं। उनके वितरण से पूर्व अग्रणी साध्वियो से एक मर्यादा पत्र पर हस्ताक्षर करवाये गये कि जो पुस्तकें और साध्वियां उनको सौंपी जाती हैं वे 'पाडिहारिय' हैं। मूलत: वे आचार्य की निश्राय में हैं। चातुर्मास की समाप्ति पर जब आचार्य की सेवा में आगमन हो, तब उन्हें पुन आचार्य को सौंप देना होगा। उनपर किसी प्रकार का स्थायी अधिकार नहीं रखा जा सकेगा।[1]

1—तिहां सिंघाडा बंध सतियों कनै, अक्षर लिखाया ताय।
सूंप्या पाडियारा पुस्तक सत्यां, छै गणपति नेश्राय॥
ते चतुर्मास उतर्यां छतां, सतियां दरसण करै जिवार।
सप देणां पुस्तक सत्यां, तिणरी ममत न करणी लिगार॥ (ज० सु० ३६-११,१२)

इस प्रकार सघीकरण का सूत्रपात हुआ। वह आगे-से-आगे वढता ही गया। कुछ अर्से तक पुस्तको के समर्पण और वितरण की प्रक्रिया चलती रही। जव सव साधुओं ने उस योजना में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया अथवा यों कहना चाहिए कि जव सवने अपनी-अपनी पुस्तकें समर्पित कर दी, तब जयाचार्य ने सव सिंघाडों में उनका समान वितरण कर दिया। उसके साथ ही एक नया नियम वनाकर सव प्रतियों पर वर्तमान आचार्य की निश्राय का मुद्रांकन करने का आदेश दे दिया। प्रतियों पर मुद्रांकन प्रारंभ करने का समय समवत स० १९१४ था।[१] उसके वाद से आगामी सभी प्रतियों पर वह मुद्रांकन करने का नियम प्रचलित कर दिया गया।

एक कार्य अनेक लाभ

पुस्तकों का संघीकरण यों तो केवल एक सामान्य कार्य ही दिखाई देता है, पर वस्तुत. वह अपने आप में अनेक लाभ संयुक्त किये हुए एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। उस एक कार्य की संपन्नता के साथ ही संघ को अनेक लाभ प्राप्त हुए। सवसे प्रथम और महत्त्वपूर्ण लाभ तो उसका यह था कि उससे सघ में एकता को वहुत वडा वल प्राप्त हुआ। उसके अतिरिक्त तरतमता की स्थिति मिटकर समता का उदय हुआ। वस्तु के उपयोग की संभावनाएँ और क्षमताएँ सीमित दायरे से निकल कर विशाल वनी। साथ ही सामूहिक हित के लिए सोचने तथा उसके लिए अपने स्वत्व का परित्याग करने की वृत्ति का भी उदय हुआ। अवान्तर रूप से भी उससे अनेक लाभ प्राप्त हुए। उनमें से प्रमुख ये कहे जा सकते है—अध्ययन सामग्री सवके लिए सुलभ हो गई, व्यक्तिगत भार की कमी हुई, भार का समानीकरण और गाथा प्रणाली जैसी उपयोगी योजनाएँ अस्तित्व में आ सकीं।

सघीकरण अथवा समाजीकरण का वह प्रथम चरणन्यास था। धर्म-सघो में तो सम्भवतः वह अपने प्रकार का प्रथम प्रयोग था ही पर अन्यत्र भी उस समय तक समाजीकरण का सिद्धात कहीं कार्य रूप नही ले पाया था। प्रारंभ में वह कार्य अपरिचित होने के कारण कुछ लोगों

१—उपर्युक्त अनुमान सरूपचंदजी स्वामी की प्रतियों पर लिखी गई मुद्रांकन तिथि के आधार पर है। वहाँ लिखा गया है—"सरूपचंदजी स्वामी रै निश्राय में हुंता ते सर्व पाना जयाचार्य री भेंट कीधा। भिक्खू, भारीमाल, ऋषिराय, जीतमल आदि गणपति में वर्तमान आचार्य री नेश्राय में छै। सं० १९१४ प्रथम जेठ विद ८ लिख्या छै।" यह संवत् मुद्रांकन का ही होना चाहिए, पुस्तकें भेंट करने का नहीं, क्योंकि जयाचार्य द्वारा पुस्तकों के संघीकरण की घोषणा कर देने के छह-सात वर्ष पश्चात् सरूपचंदजी स्वामी अपनी पुस्तकें भेंट करें, यह कदापि संभव नहीं है। उन्होंने अपनी पुस्तकों का समर्पण तो संभवतः उसी समय कर दिया, जवकि संघीकरण का प्रारम्भ हुआ था, किन्तु उस समय मुद्रांकन का नियम नहीं वना था। अतः प्रतियों पर कुछ लिखा नहीं गया था। जव वह नियम वना तव मुद्रांकन की पूर्व भूमिका के रूप में—"सरूपचंदजी स्वामी रै निश्राय में हुंता ते सर्व पाना जयाचार्य री भेंट कीधा'—यह वाक्य लिखा गया प्रतीत होता है।

को अवश्य ही कठिन और अव्यवहार्य प्रतीत हुआ होगा, परन्तु आज उसकी सफलता हम सबके सामने मूर्त्त रूप से विद्यमान है।

(२) गाथा-प्रणाली

एक आशंका

पुस्तकों के संघीकरण द्वारा जहाँ सघ की स्वाध्याय-संबंधी अनेक आवश्यकताओं को पूरा किया गया था, वहाँ उससे एक नई समस्या उत्पन्न होने की आशंका भी थी। पहले अनेक साधु अपनी आवश्यकता के ग्रन्थ भडारों आदि से कुछ काल के लिए प्राप्त कर स्वयं लिख लिया करते थे। पर पुस्तकों पर से अधिकार हट जाने के पश्चात् उनके उत्साह में कमी हो जाने की आशंका थी। सब साधु जानते थे कि स्वय द्वारा लिखे जाने पर भी वह ग्रन्थ उनका न होकर सघ का ही होगा। आचार्य आवश्यकता होने पर उसे किसी दूसरे को भी दे सकेंगे। इस भावना के द्वारा लिपिकों की सख्या कहीं कम न हो जाए, अतः उस संभावित समस्या का समाधान शीघ्र ही खोजना आवश्यक था।

लिपि-सुधार

जयाचार्य जब लिपिकों के स्थायी आकर्षण का आधार खोज रहे थे, तब अचानक उनका ध्यान लिपि सुधार की तरफ भी गया। उन्होंने अनेक प्राचीन प्रतियों के बड़े ही सुन्दर अक्षर देखे थे, पर साधुजनों में वैसे सुन्दर अक्षर लिखने वालों का अभाव-सा ही था। साधारण अक्षर और अशुद्धिबहुल लिखने वाले व्यक्ति केवल संघ में पुस्तकों का भार ही बढा सकते थे। जयाचार्य चाहते थे कि मुनिजनों में सुन्दर अक्षर लिखने वाले हों। साधारण लिपि-कर्त्ताओं पर कुछ ऐसा दबाव रहे कि वे अपने अक्षरों को सुधारने के लिए स्वतः प्रेरित हों।

लिपि-सुधार के उस कार्य-क्रम में पहले-पहल उन्होंने अपने ही अक्षर सुधारने का निश्चय किया। एक भगवती की प्राचीन प्रति बडे सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई थी। वे उसे ही 'मानक' मानकर अपने अक्षर उसके अनुरूप करने के प्रयास में लग गये। उस प्रति के अक्षरों को देख-देख कर उन्होंने कुछ ही दिनों में अपने अक्षरों में इतना सुधार कर लिया कि उनकी उस समय से पूर्व लिखित प्रतियों तथा उसके बाद लिखी गई प्रतियों में लिपिकर्त्ता के एकत्व की कल्पना करना भी कठिन हो गया। इस तरह अपने अक्षरों को सुधार लेने के पश्चात् उन्होंने अन्य साधुओं को भी लिपि-सुधार के लिए प्रोत्साहित करना प्रारम्भ किया।

साधुओं का धन

लिखने का परिश्रम आखिर किस प्रेरणा के आधार पर स्थित किया जाए? उसका हल भी उन्होंने एक नये रूप में ही खोज निकाला। उन्होंने सोचा कि जिस प्रकार ज्ञान या तपस्या साधुओं का धन गिना जाता है, उसी प्रकार इस लिपिकरण के श्रम को भी क्यो न

उनका धन गिन लिया जाए ? इसका सम्बन्ध ज्ञान और तपस्या दोनों से ही है। ज्ञान का जहाँ यह एक उत्कृष्ट साधन है, वहाँ मनो-योग की एकाग्रता का भी उत्तम साधन होने के कारण तथा सत् क्रिया होने के कारण तपस्या के अन्तर्गत आ जाता है। इस प्रकार इसे साधु का धन मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। उनका यह कार्य गाथा-प्रणाली के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वस्तुतः इसे अकिंचन साधुओं की एक अभूत-पूर्व 'अर्थ-प्रणाली' कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

'गाथा' शब्द शास्त्रीय है और एक पद्य विशेष का द्योतक है। परन्तु जयाचार्य ने उसे बत्तीस अक्षर-प्रमाण का गद्य लेखन के तथा किसी भी एक पद्य लेखन के अर्थ में प्रयुक्त किया है। उन्होंने 'गाथा-प्रणाली' को प्रचलित करते हुए यह स्थापना की कि जो साधु जितनी गाथाएँ लिखेगा, वे उसकी जमा कर ली जायंगी, परन्तु लिपि-कर्त्ताओं के अक्षर पहले से आचार्य द्वारा स्वीकृत किये जाने चाहिए, तथा लेख्य ग्रन्थ भी स्वीकृत होना चाहिए।

अग्रगामियों पर कर

इतना कर देने पर भी उनके सामने यह समस्या थी कि कोई क्यों उन गाथाओं को एकत्रित करने का प्रयास करेगा ? अनुपयोगी वस्तु को संगृहीत करने की किसी की इच्छा होगी भी तो क्यों ? आखिर उन्होंने उसके उपयोग के लिए एक उपाय तो यह किया कि सब अग्रणी साधुओं पर उनके अग्रणीकाल में प्रतिदिन के हिसाब से पच्चीस गाथाओं का 'कर' लगा दिया। दूसरा यह किया कि गाथाओं और कार्यों का सम्बन्ध जोड़ दिया। कोई भी साधु किसी रोगी साधु की एक दिन सेवा करके पच्चीस गाथाएँ प्राप्त कर सकता है। अर्थात् रोगी की एक दिन की सेवा और पच्चीस गाथाओं का लेखन—ये दोनों कार्य उस व्यवस्था के समकक्ष गिन लिये गये। धीरे-धीरे अन्य कार्यों की भी गाथाओं के साथ समकक्षता बैठती गई। पर एक सेवा-कार्य को छोड़कर शेष कार्यों में भावों का उतार-चढ़ाव होता रहा है।

यद्यपि सेवा और गाथाओं की यों समकक्षता कर दी गई थी, पर इससे यह भय उत्पन्न होने की गुंजाइश नहीं छोड़ी गयी थी कि किसी समय सभी साधुओं के पास गाथाएँ जमा होंगी तो रोगी साधु की सेवा कौन करेगा ? सेवा-कार्य का महत्व गाथाओं से सदैव ऊपर समझा जाता रहा है। उसके लिए तो यह अलग ही नियम है कि रोगी साधु के लिए आवश्यकता होने पर आचार्य उसकी सेवा के लिए किसी भी साधु को भेज सकते हैं। उस कार्य के लिए इनकार करने का किसी भी साधु को अधिकार नहीं है। कितनी भी गाथाएँ जमा क्यों न हो फिर भी अवश्यकता होने पर उसके लिए सेवा-कार्य तो अनिवार्य ही है। इतना अवश्य है कि जिसने सेवा की हो उसके नाम से प्रतिदिन पच्चीस गाथाओं के हिसाब से गाथाएँ जमा कर ली जाती है।

गाथाओं का लेखा

गाथाओं की इस पूँजी का लेखा प्रारम्भ में तो यथावकाश हो जाया करता होगा, पर

बाद में 'मर्यादा-महोत्सव' के अवसर पर ही किया जाने लगा। उस समय साधुवर्ग यथावकाश ही आचार्य के पास आया करते थे, पर 'मर्यादा-महोत्सव' प्रारम्भ कर के जयाचार्य ने उनके लिए सम्मिलित होने का एक निश्चित सम्य निर्धारित कर दिया था। इसलिए गाथाओं के आय-व्यय का लेखा करने में उसी समय अधिक सुविधा हो सकती थी। तब से अब तक उस कार्य के लिए कुछ साधुओ को नियुक्त कर दिया जाता रहा है और दीक्षा-वृद्ध के क्रम से या 'साझ' के क्रम से वे उस कार्य को सम्पन्न करते रहे हैं।

लेखा कराने से पहले और लेखा कराने के बाद अपना 'लेखा-पत्र' आचार्य को दिखाना पड़ता है। कोई भी व्यक्ति अपनी लिखित प्रति की गाथाएँ तभी प्राप्त कर सकता है जब कि वह आचार्य को दिखाकर उसके लिए स्वीकृति प्राप्त करले। उस स्वीकृति के पश्चात् वह उस पर सघ की मुहर लगाता है और फिर लेखाकर्त्ताओ के पास जाकर उसे जमा कराता है।

व्यक्तिगत लेखन

कोई भी साधु अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए कोई प्रति लिखना चाहे तो वह स्वतन्त्रता पूर्वक लिख सकता है। परन्तु उससे वह गाथाएँ प्राप्त नहीं कर सकता, न ही उस पर संघीय मुहर लगा सकता है और न उसे संघीय भार में ही रख सकता है। उसके दिवगत हो जाने के पश्चात् उसकी व्यक्तिगत प्रतियों को आचार्य आवश्यक समझें तो संघीय बना सकते हैं, अन्यथा व्यक्तिगत उपयोग के लिऐ मांगने वाले को भी दे सकते हैं। किसी के न लेने पर वे स्वय संघीय बन जाती हैं। खराब अक्षर लिख लाने पर या अनावश्यक प्रति लिख लाने पर जो प्रति अस्वीकृत कर दी जाती है, वह भी उसके अपने व्यक्तिगत उपयोग के लिए ही रह जाती है। वह उसे किसी दूसरे साधु को प्रदान भी कर सकता है।

वस्तु-विनिमय का माध्यम

धीरे-धीरे वह प्रणाली विकास करती रही और उसमे अनेक पूरक बातें जुडती चली गई। जब वह मुनि-जनों के परस्पर वस्तु-विनिमय का माध्यम बनी, तब उसे धन का व्यावहार्य रूप भी प्राप्त हो गया। इस माध्यम से व्यक्तिगत प्रतियों का आदान-प्रदान किया जा सकता है। जो व्यक्ति स्वय नही लिख सकते, परन्तु किसी ग्रन्थ को व्यक्तिगत रूप से अपनी निश्राय में रखना चाहते हैं तो वे यथावश्यक गाथाएं देकर किसी से भी यथेष्ट प्रतियाँ प्राप्त कर सकते हैं।

कार्य और गाथाएँ

कालान्तर में व्यक्तिगत तथा समुच्चय के कार्यों का भी मूल्य गाथाओं में निश्चित होने लगा। एक व्यक्ति दूसरे का कार्य निर्जरार्थिता से तो करता ही था, पर वह गाथाओ के माध्यम से भी किया जाने लगा। प्रत्येक कार्य का भाव लेने वालों तथा देने वालों की संख्या के आधार पर घटता बढ़ता रहा है। कुछ कार्य ऐसे भी हैं जिनके भाव राज्य की ओर से नियंत्रित रहते हैं। वैसे कार्यों में सिलाई, रंगाई आदि कार्य प्रमुख हैं।

उत्तराधिकार

अपने जीवन-काल में जमा की गई गाथाओं का प्रत्येक व्यक्ति यथेष्ट उपयोग कर सकता है। वह जहाँ उन्हें अपने कार्य में व्यय कर सकता है, वहाँ दूसरे किसी को प्रदान भी कर सकता है। परन्तु उस में उसे आचार्य की आज्ञा लेनी आवश्यक होती है। गाथाओं की यह पूजी स्वयं के जीवन-काल तक के लिए ही होती है, उसके पश्चात् उसका उत्तराधिकार किसी दूसरे को नहीं मिलता। व्यक्ति की मृत्यु के साथ ही उसका लेखा समाप्त समझा जाता है।

साध्वियों पर कर

जयाचार्य के समय में बहुत कम साध्वियाँ लिपि कर सकने वाली थीं। इसलिए उनसे 'कर' के रूप में गाथाओं का लेना संभव नहीं था। अतः साध्वियों के प्रत्येक सिंघाड़े पर एक रजोहरण, एक प्रमार्जनी और प्रति साध्वी एक-एक डोरी बना लाने का भार दिया गया। साधुओं से कर के रूप में ली जाने वाली प्रतियाँ आवश्यकतानुसार साध्वियों को दे दी जातीं और साध्वियों से 'कर' के रूप में लिए हुए रजोहरण आदि साधुओं को दे दिये जाते। यह सब विनिमय स्वतन्त्ररूप से कोई नहीं कर सकता। साधु-साध्वियों द्वारा अपनी-अपनी वस्तुएँ आचार्य को सौंप दी जाती हैं और फिर आचार्य उन्हें यथावश्यक वितरित कर देते हैं।

साम्यभाव का आनन्द

इस प्रकार जयाचार्य द्वारा प्रवर्तित 'गाथा-प्रणाली' की यह योजना तेरापंथ-संघ के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुई है। दूरदर्शी जयाचार्य ने इस एक योजना के आधार पर संघ के सारे लिपि-प्रकार को ही नहीं सुधार दिया, अपितु व्यक्तिगत पुस्तक-संपत्ति का समानीकरण करके संसार के साधु-संघों के सम्मुख एक आदर्श पद्धति उपस्थित कर गये। और संसार जब समाजवादी विचारों की प्रसव-पीड़ा में ही था, तब उन्होंने अपने संघ में इसकी स्थापना करके अपनी विचार-शक्ति की अग्रगामिता भी सिद्ध कर गये। तेरापंथ ने इस योजना के द्वारा अच्छे लिपिकार, अच्छे ग्रंथ, अच्छा वितरण और वस्तु का अच्छा उपयोग प्राप्त किया है। सबसे अधिक उसने इस योजना द्वारा 'साम्यभाव' का आनन्द प्राप्त किया है।

(३) आहार-संविभाग

प्रारंभिक रूप

आहार-संविभाग के विषय में स्वामीजी के समय में भी पद्धति तो यही चालू थी कि थोड़ा या अधिक जितना भी आहार आया हो, उसे सब बराबर-बराबर बांट कर खा लें। पर उस समय प्रारम्भिक अवस्था में साध्वियाँ कम थीं और साधु अधिक। विद्वेष के कारण पूरा आहार मिल सकने की संभावनाएं कम रहती थीं, अतः साधु तथा साध्वियों द्वारा गोचरी करके जो आहार लाया जाता, वह स्वामीजी के सामने रख दिया जाता था। साध्वियाँ कम थीं, अतः उन्हें कम आहार की आवश्यकता पड़ती थी। गोचरी में जो अधिक आता था, वह साधु

अपने स्थान पर रख लेते थे और अवशिष्ट आहार साध्वियाँ अपने स्थान पर लाकर सविभाग करके अथवा मिलकर खा लेती थीं।

परिवर्त्तन की आवश्यकता

प्रारम्भिक वर्षों में वह व्यवस्था एक आवश्यकता थी, परन्तु बाद में उसने परिपाटी का रूप ले लिया। हर सामयिक व्यवस्था इसी प्रकार से एक न एक दिन परम्परा बनती रही है। परन्तु सावधान व्यक्ति हर परम्परा को तब तक के लिए ही पोषण देते हैं, जब तक कि वह आवश्यकता की पूर्ति में सहायक होती है। जब उसमें से वह सामर्थ्य समाप्त हो जाती है और वह निपट परम्परा ही रह जाती है, तब उसे बदल देना भी उनका कार्य रहा है। आहार-सविभाग सम्बन्धी व्यवस्था का वह रूप ऋषिराय तक ही चालू रह सका। उस समय तक साध्वियों की सख्या साधुओं से कहीं अधिक हो चुकी थी। अतः पूर्व व्यवस्था में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता अनुभूत की जाने लगी। साध्वियाँ जब अवशिष्ट आहार ग्रहण किया करती थीं, तब उससे सविभाग की स्थिति ठीक मेल नहीं खाती थी। जयाचार्य जो कि साम्यभाव के प्राण-प्रतिष्ठापक थे; अपनी सूक्ष्म-ग्राहिणी दृष्टि से उस 'असाम्य' को ओझल नहीं कर सकते थे। पुस्तकों आदि के साम्य की तरह वे उसमें भी साम्य लाना चाहते थे। अपने शासन-काल के प्रथम वर्ष में ही उन्होंने उस विषय पर चिंतन किया और सविभाग स्थापित करने के लिए उपाय सोचा। जयपुर के अपने प्रथम चातुर्मास की समाप्ति पर जब वे किशनगढ में आये, तब वहाँ एकत्रित हुए साधु-साध्वियों में उसे आजमाने का विचार किया।

कवलानुसारी विभाग

आगम में पुरुष के लिए बत्तीस कवल और स्त्री के लिए अट्ठाईस कवल आहार परिपूर्ण बतलाया गया है। उसी आधार पर मर्यादा बनाकर जयाचार्य ने साधु-साध्वियों को बतलाया कि अब से जो आहार आये, उसे प्रति साधु के लिए बत्तीस कवल और प्रति साध्वी के लिए अट्ठाईस कवल को इकाई मानकर विभक्त कर लिया जाए। तब से जो आहार आता, उसे उपर्युक्त अनुपात से साधु विभक्त कर देते और साध्वियाँ अपने विभाग का आहार लेकर बड़ी साध्वी के स्थान पर दीक्षा वृद्ध के क्रम से परस्पर विभक्त कर लिया करती।[1]

१—तिहां समण सत्यां रै स्वामजी, बांधी एक मरजाद।
सतियां नै आहार देवातणी, कोई पुष्ट प्रयोजन लाध॥
कह्यो सूत्र में पुरुष नैं, बत्तीस कवल नों आहार।
स्त्री नों कवल अठवीसनों, ए समय-वचन अनुसार॥
तिण प्रमाण श्रमण्या भणी, आहार देणो ठैरायो स्वाम।
इम आहार लेई सतियां करै, पांती बड़ी रै ठाम॥ (ज० सु० ३९-९ से ११)

उस शीतकाल में यह क्रम चलता रहा, पर कवल के अनुपात से आहार को प्रतिदिन विभक्त करना सहज कार्य नहीं था। दर्शन के लिए आने तथा फिर विहार करने से साधु-साध्वियों की सख्या में परिवर्तन आता रहता था। याचना से गृहीत आहार के प्रमाण में भी प्रतिदिन अतर आना प्राय: निश्चित और स्वाभाविक ही था। इससे हमेशा नये सिरे से हिसाब लगाकर ठीक अनुपात निकालना पडता था।[1] आहार-सविभाग की नई योजना का वह प्रथम प्रयोग ही था, अत: उसमें अनेक कमियो का होना कोई वड़ी वात नहीं थी।

समान विभाग

अगले चातुर्मास (संवत १९१० नाथद्वारा) में उस पद्धति में फिर परिवर्त्तन किया गया। तव वत्तीस और अट्ठाईस कवलों के अनुपात को हटाकर सव के लिए समान विभाग का नियम वना दिया गया।[2] यद्यपि उसमें धीरे-धीरे कुछ पूरक-सुधार भी पीछे से होते रहते थे, परन्तु उपर्युक्त मौलिक परिवर्तन काफी वडा और स्थायी रूप लेकर आया था, वह लगभग सौ वर्षो तक साधारण परिवर्तनों के साथ अपने मूलरूप में वहुत ही सफलतापूर्वक चलता रहा।[3]

साझ-व्यवस्था

जयाचार्य ने पूर्वोक्त आहार-व्यवस्था को सुविधाजनक वनाने के दृष्टिकोण से साधुओं के पृथक्-पृथक् मंडल स्थापित कर दिये। उन मडलों का प्रचलित नाम 'साझ' दिया गया। प्रत्येक 'साझ' में एक व्यक्ति को मुखिया स्थापित किया गया और उसकी आहार-विषयक

१—कवलानुसारी अनुपात में यदि साधु की एक पांती में चार फुलके गिने जाते तो साध्वी की एक पांती में साढे तीन। इसी आधार पर जितने साधु-साध्वियाँ होते, उनका हिसाव निकाल लिया जाता।

२—दीपमाल का रैं दिन गणपति, त्यां समण सत्यां रैं सारी।
पांती आहार नीं सहुनीं वरोवर, ए रीत ठहराई भारी ॥
करणी ते मुनिवर नें ठिकाणे, पांती सखर श्रीकारी।
अट्ठाईस वत्तीस कवल न राख्या, असर देख उदारी ॥

३—लगभग सौ वर्षों के पश्चात् आचार्य श्री तुलसी ने उस व्यवस्था में परिवर्तन किया है। परिवर्तन के प्रथम दौर के अनुसार साधु साध्वियों को आहार एकत्रित करके विभक्त करने की आवश्यकता नहीं रही। साधुओं द्वारा लाया गया आहार साधुओं के स्थान पर और साध्वियों द्वारा लाया गया आहार साध्वियो के स्थान पर विभक्त कर दिया जाने लगा। परिवर्तन के द्वितीय दौर के अनुसार अव समस्त साधुओ के तथा समस्त साध्वियों के आहार को भी एकत्रित करने की आवश्यकता नहीं रही। केवल अपने 'साझ' अथवा सिघाड़े का आहार सम्मिलित आता है, उसे विभक्त करके अथवा अविभक्त रूप से यथारुचि कर लिया जाता है।

व्यवस्था का सारा उत्तरदायित्व उस पर स्थापित किया गया। इसके अतिरिक्त साझ के सब सन्तों की देख-रेख का भार भी उसी व्यक्ति को सौंपा गया।

घड़ा-व्यवस्था

साझ की उस व्यवस्था के बाद यह पता लगाना सहज हो गया कि आज के लिए साधुओं को कितना आहार चाहिए। गोचरी में आहार अधिक न आने पाये, इसके लिये प्रत्येक साझपति से उनके साझ की आवश्यकता की एक स्थूल 'कूत' प्राप्त करने का विचार हुआ। उसके लिये भोजन सम्बन्धी द्रव्यों के कुछ नाम निश्चित कर दिये गये। शेष द्रव्यों को भी उन्हीं निश्चित नामों के अन्तर्गभित कर दिया गया। एक पत्र पर भोजन-द्रव्यों की निश्चित सूची लिखकर प्रत्येक साझपति के नाम से उसमें कोष्ठक कर दिये गये। उस पत्र का नाम दिया गया 'घडा'।

एक व्यक्ति दीक्षा-क्रमानुसार अपनी-अपनी वारी पर साझपतियों के पास प्रतिदिन 'घडा' लिखाने के लिये जाता और साझपति अपने नाम के कोष्ठक में भोजन-द्रव्यो के सामने अपने मंडल के सब व्यक्तियों के लिए अनुमानित आवश्यक सामग्री को अंको में लिख दिया करता इसे 'पांती' (हिस्सा) कहा जाने लगा। एक व्यक्ति के लिए किसी भी भोजन-द्रव्य की एक से अधिक पांती नही लिखी जा सकती, कम लिखी जा सकती थी।

घडा लिखाने वाला व्यक्ति पांती के सब अकों का योग लगा देता और उस पत्र को दूसरे निर्धारित व्यक्ति को सौप देता। इसी प्रकार का एक पत्र साध्वियों के यहाँ से भी उस व्यक्ति के पास आ जाया करता और वह एक तीसरे पत्र पर उन दोनो पत्रों पर दी गई जोड को सन्तो और सतियों के नाम से किये गये कोष्ठकों में उतार लेता और 'चौक'[1] के आधार पर उन सब को जोड कर आचार्यदेव के सम्मुख उपस्थित कर देता। यह सारा कार्य नियमतः गोचरी के समय से पहले-पहले हो जाया करता। गोचरी के लिए जाने वाले साधु आचार्य के पास आते और आचार्य उन्हें उस तीसरे पत्र ("चौका का घडा') के आधार पर आहार लाने की अनुमानित मात्रा बतला देते।

बाँटने की व्यवस्था

गोचरी से आये हुए आहार का लिखित पांती के आधार पर विभाग कर सब में बाँट देने के लिए भी बारी-बारी के चार साधु नियुक्त रहते। वे साधु लाये हुए आहार को गिनते भी, ताकि अधिक ले आने वाले को आगे के लिए सावधान कर दिया जा सके। गोचरी के लिए गये हुए सब सन्त-सतियो के आ जाने पर दीक्षा-वृद्ध 'साझ' के क्रम से पांती रखानी शुरू कर दी जाती। 'बाँटना' करने वालों के पास चौको का घड़ा रहता और अपने-अपने साझो की पांती देखने के लिए साधुओं के पास साधुओं का घडा और साध्वियों के पास साध्वियों का

1—चार के एक समूह को 'चौक' कहा जाता है। उसमें चार पांतियों को एक अंक में लिखा जाता था।

घडा रहा करता । पांती रखाने का वह कार्य बहुत थोड़ी देर में सम्पन्न हो जाता। साधु-साध्वियां अपने-अपने साझ की पातियों को अपने निर्धारित स्थानो पर ले जाकर आहार करते। बांटने की बारी वाले सन्त समुच्चय के उस स्थान को, जहाँ कि सबके लिए आहार का सविभाग किया जाता, साफ करने के बाद सबसे पीछे आहार किया करते।

टहूका

आहार करते समय प्रत्येक साझ में 'टहूका' सुनाया जाता। आहार के संविभाग में निष्ठा पैदा करने के लिए वह जयाचार्य द्वारा लिखा गया था। कुछ समय तक वह क्रम चलता रहा मालूम देता है। बाद में जब पांती के भोजन में सबकी वृत्ति निष्ठाशील हो गई; तब उसे सुनाना बन्द कर दिया गया।

सर्व-प्रियता

चातुर्मास-समाप्ति के बाद जयाचार्य जब उदयपुर पधारे थे, तब वहाँ इकतालीस सन्त और एक-सौ तीन सतियाँ एकत्रित हो गई थीं। यों एक-सौ-चौवालीस व्यक्तियों के आहार का संविभाग उसी क्रम के आधार पर किया जाता और थोड़े ही समय में सम्पन्न कर दिया जाता था। लगता है कि यह क्रम थोड़े ही समय में सब में प्रिय हो गया था। प्रारम्भ में चौक की पांती केवल सन्त ही अपनी बारी से किया करते, पर बाद में सतियों की भी बारी कर दी गई थी। सतियों की बारी कब से चालू हुई, इसका उल्लेख देखने में नहीं आया, पर यह क्रम संघ में काफी पूर्व से ही चल पड़ा था।

'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो'—शास्त्रकारो के इस कथन को जयाचार्य की इस योजना ने इतना स्वाभाविक बना दिया था कि असंविभाग का कहीं स्थान ही नहीं रहने पाया था। आहार-संविभाग की यह योजना आद्योपान्त उनकी मौलिक सूझ से ही उत्पन्न हुई थी। इस योजना ने संघ का बहुत बड़ा हित-साधन किया और सबको समान भाव से रहने के लिए एक सम्मानपूर्ण वातावरण तैयार किया।

(४) श्रम-का सम विभाजन

कार्य और कर्त्ता

व्यक्ति अपने कार्य को बड़ी सावधानी से करता है पर जब उसे समूह, संघ या समाज का काम करना पड़ता है, तब वह उतनी उत्तरदायित्वपूर्ण भावना से उस पर अमल नहीं करता जितनी कि उससे अपेक्षा की जाती है। उस समय तो और भी अधिक आपाधापी या अव्यवस्थापूर्ण स्थिति हो जाती है, जब कि उस कार्य के लिए उस पर कोई दबाव या नियंत्रण नहीं होता। ऐसी स्थिति में कुछ व्यक्तियों पर कार्य का भार बहुत अधिक लद जाता है तथा कुछ व्यक्ति उससे साफ-साफ बच जाते है। यह स्थिति धीरे-धीरे समाज में अनियमितता ला देती है।

जयाचार्य ने अनुभव किया था कि साधु-सघ में कुछ ऐसे कार्य है जो व्यक्ति के न होकर सघ के हैं। उन्हें यदि नियमित रूप नही दिया गया तो कभी तो एक काम के लिए अनेक व्यक्ति उपस्थित हो सकते है और कभी एक भी नही। जो कार्य करता है उसके मन में भी यह भावना उत्पन्न हो सकती है कि वार-वार मुझे ही क्यो करना पडता है और जो आलसी होते है वे यह सोच सकते हैं कि जव तक दूसरे कर रहे है तव तक हमें हाथ लगाने की भी क्या आवश्यकता है। ऐसी स्थिति जव लम्वे काल तक चलती है तव हर कोई उन सामूहिक कार्यों से विरक्त हो जाता है। हर कोई यह सोचने लग जाता है कि मेरे पर ही कौन-सा भार है ? मैं नही करूँगा तो स्वय कोई दूसरा कर लेगा।

थोड़े व्यक्ति, थोड़ा काम

स्वामी भीखणजी के समय में कार्य-विपयक यह क्रम चालू था कि सामूहिक कार्यों पर जव जिसका ध्यान जाता, वह उन्हें तभी सम्पन्न कर देता। कुछ कार्य ऐसे भी थे, जिनको दीक्षा में सवसे छोटा साधु कर लिया करता। उस समय के लिए वह क्रम चल सकने वाला था। थोड़े ही साधु थे, अत जव वे एकत्रित होते तव भी कार्य-भार बहुत अधिक नही होता था। पर जयाचार्य के समय तक साधुओ की सख्या काफी वढ गई थी। जव वे सव सम्मिलित होते तव कार्य-भार का वढना स्वाभाविक ही था। उन दिनों कार्य की मात्रा तथा कार्य की सख्या, दोनों ही वढ जाया करती थी।

श्रम मे साम्य

आहार-सविभाग की परिपाटी चालू होने के पश्चात् अनेक नये काम भी रूप ग्रहण करने लगे थे। उन सभी कार्यों को सुचारु रूप प्रदान करना और उनको चालू रह सकने जैसी भूमिका प्रदान करना आवश्यक था। जयाचार्य की प्रतिभा उस विपय में चिंतन किये विना कैसे रह सकती थी ? उन्होने अपने स्वभावानुसार उस विपय में भी सोचा और दीर्घकालीन हल निकाला। उन्होंने सभी सामूहिक कार्यों को वारी-वारी से करने का नियम वनाया। उस व्यवस्था से साधु-सघ में श्रम का भी साम्य स्थापित हुआ।

आहार-सविभाग सवधी सारे कार्यो को जव वारी-वारी से करने का नियम वना तभी से हर कार्य के लिए वही परिपाटी चालू की जाने की भावना का वीजारोपण हुआ प्रतीत होता है। यद्यपि श्रम के सम-विभाजन विपयक समय का कही उल्लेख नहीं है फिर भी श्रुतानुश्रुति से यह सर्व-विदित है कि जयाचार्य के समय में ही इसका व्यवस्थित विभाजन हुआ था।

तीन प्रकार

सामूहिक कार्य तीन प्रकार के समझे जा सकते है कुछ 'समुच्चय' के, कुछ 'साझ' के तथा कुछ उनसे अतिरिक्त। समुच्चय के कार्यों में से हर कार्य हर व्यक्ति को अपनी-अपनी वारी पर

करना होता है। यह बारी अन्य सब कार्यों में तो दीक्षा-क्रम से चलती, पर केवल आहार-संविभाग के लिए साझ-क्रम से चलती थी। उसमें उस क्रम से थोड़ी सुविधा रहती थी। समुच्चय के कार्यों की वह बारी जितने अधिक संत होते उतनी ही देर से आती।

तीनों ही कार्यों की बारी मुख्यत: आचार्य के साथ रहने से ही सम्बन्धित थी। वहाँ अधिक संतों के एकत्रित होने पर इस क्रम से अव्यवस्था नहीं हो पाती और बराबर सुव्यवस्था बनी रहती। जो साधु-साध्वियाँ पृथक्-पृथक् सिंघाड़ों में विहार करते, उनके लिए वहाँ की स्थिति के अनुरूप ही कार्य-विभाजन होता। इन कार्यों में से अनेक तो वहाँ होते ही नहीं, जो होते उनमें भी विभाजन अनिवार्य न होकर यथारुचि होता। जैसा सबके अनुकूल बैठता वैसे ही कर लेने की वहाँ छूट रहती।

(५) समुच्चय के कार्य

आहार-विभाजन

आहार-विभाजन के कार्य को साधारणतया 'आहार का बाँटना' कहा जाता। प्रतिदिन एक साझ के चार व्यक्तियों पर इसका भार रहता। गोचरी से आहार आने के बाद उनका कार्य प्रारम्भ होता। आये हुए आहार को गिनना, पांती लगाना तथा बारी से सब साझों की पांती रखाना और उन सबके पश्चात् वहाँ के स्थान को धो-पोंछ कर साफ कर देने तक का कार्य उन्हीं का होता। सौ ठाणे एकत्रित हों तब तक तो चार व्यक्ति ही वह कार्य करते, फिर प्रत्येक नये शतक के प्रारंभ पर एक व्यक्ति बढ़ा दिया जाता।

घड़ा लिखाना

प्रतिदिन बारी से एक व्यक्ति एक पत्र पर निर्धारित कोष्ठकों में हर साझपति के पास जाकर उसके साझ के समस्त संतों के लिए आवश्यक आहार-सामग्री को अंकों में लिखाता। उस कार्य को 'घड़ा लिखाना' कहा जाता। 'आहार-विभाजन' के समय से पहले-पीछे आने-वाली आहार-सामग्री को बाँटने का भार तथा विहार आदि कुछ विशेष परिस्थितियों में आहार-विभाजन का भार भी उसी पर रहता।

पानी का काम

पानी मापने के लिए एक पात्र-विशेष 'कलसिया' होता था। उसी के आधार पर सब पात्र मापे हुए होते थे। पानी लाने वाले संतों को ऋतु अनुसार एक निर्देश दे दिया जाता कि गोचरी में आ सके तो प्रत्येक साधु को इतने कलसिया पानी लाना है। उसी निर्देशानुसार संत पानी लाकर पूर्व निर्धारित स्थान पर रख देते। पानी के काम की जिसकी बारी होती, वह उस आये हुए सारे पानी को छान कर जितने संत होते उतनी पांती लगाकर प्रत्येक साझ के किसी एक व्यक्ति को बुलाकर साझ के क्रम से पांतियाँ सम्भला देता। उसके बाद चतुर्थ प्रहर प्रारम्भ होते ही वह सब साझों में जाकर पूछ आता कि किस साझ में कितना पानी और

चाहिए ? साथ ही यह भी पूछ आता कि गोचरी के समय पात्र के अभाव में या कार्यवश अपने भाग का पानी कौन-कौन नही लाये या कम लाये ? जितना पानी मंगाया जाता उसमें जितना कम लाया गया होता, उतना तो उन्हें लाने के लिए कह ही दिया जाता और अधिक मगाने पर शेप पानी विभागानुसार प्रत्येक गोचरी में से मगा लिया जाता। जब वह पानी आ जाता तब जिस साझ में जितने कलसिये मगाये होते, उसी आधार पर वह विभक्त कर दिया जाता।[1]

बाजोटो का काम

आचार्यदेव के व्याख्यान देने, विराजने और शयन करने आदि के लिए जहाँ-जहाँ बाजोट या पट्ट आदि के बिछाने की आवश्यकता होती है , उसका भार बारी के क्रम से एक व्यक्ति पर होता है। आचार्यदेव जहाँ पधारें, वहाँ उनका आसन ले जाकर बिछाना, आवश्यकतावश उनके भंडोवगरणों को यथास्थान लाना-ले जाना तथा पट्ट आदि का पडिलेहन करना भी उसी कार्य के अगभूत होते है।

चोकी

संतों का कोई भी वस्त्र-पात्र आदि उवगरण रात्रि में बाहर 'अच्छाया' में न रहने पाये तथा बिना प्रतिलेखन न रहने पाये, इसी सावधानी के लिए प्रतिदिन एक सत प्रात प्रतिलेखन का समय आते ही तथा सायं सूर्यास्त होते ही उन सभी स्थानों को, जहाँ संतो का निवास होता है तथा धोने आदि के लिए जाना-आना होता है, घूम-फिर कर देख लेता है। कोई वस्त्र-खड या अन्य कोई विस्मृत वस्तु बाहर रह गई हो या बिना अवेर के योही इधर-उधर पडी हो तो उन सब को वह उठा लाता है। वह उनका प्रतिलेखन तो कर ही लेता है ; पर साथ ही जिन पर नाम लिखा हो, उन्हें उन तक पहुँचा देने तथा अन्य वस्तुओ को सबके पास जाकर दिखा आने का भार भी वही उठाता है। विस्मृति के कारण जो छोटे-मोटे वस्त्र-खड बच जाते हैं, उन्हें आचार्यदेव को बताकर परठ देना भी उसी के कार्य में होता है। इस कार्य को 'चोकी' कहा जाता है।

परिष्ठापन कार्य

रात्रि-काल में परिष्ठापन कार्य भी बारी से ही होता है। इसकी अपनी विशेप प्रकार की व्यवस्थाएँ है जो कि शीतकाल आदि में सभी के लिए सुविधा का कारण बनती है।

1—आहार-विभाजन, घड़ा लिखाना और पानी का काम—इन तीनों की व्यवस्था अब उपर्युक्त प्रकार से नहीं रही है। आचार्य श्री तुलसी ने इनमें वर्त्तमान की आवश्यकताओं के अनुसार जो परिवर्त्तन किये हैं, उनसे इनमें प्राय आमूल-चूल परिवर्त्तन हो गया है।

(६) साझ के कार्य

प्रतिदिन की आवश्यकता

साझ के प्रायः सभी कार्य आहार पानी से ही सबन्धित होते हैं। समुच्चय से जब आहार तथा पानी की पांतियाँ अपने-अपने साझ में ले आई जाती है, तब साझ के सारे सत आहार करने के लिए बैठते है। वे प्राय एक 'मंडलिया' बिछाकर उस पर आहार रखते है और पात्र में 'व्यजन' (साग) लेकर आहार करते है। आहार करने के बाद पात्र धोकर पहले 'लूहणे' से पोछ लिये जाते है और फिर दुबारा धोकर एक दूसरे कपड़े से, जिसे 'जोडी पल्ला' कहते हैं, साफ पोंछकर रख दिये जाते है। भोजन करते समय जो अंश टुकड़े तथा बूंद के रूप में गिर पड़ता है, उसको इकठ्ठा करके एकांत मे 'परठ' दिया जाता है और भोजन के स्थान को धोकर साफ कर दिया जाता है। पानी को भी अवेर कर रख दिया जाता है।

साझ के ये कार्य प्रतिदिन की आवश्यकता के कार्य होते है, अत साझ में जितने सत होते है उनमें सुविधानुसार वितरित कर दिये जाते हैं। कम सत होते हैं तब अनुपात देखकर प्रत्येक सत को इनमें से कई काम सभला दिये जाते है और अधिक होते हैं तब हर एक काम के लिए अनुपातानुसार कई सन्त नियुक्त कर दिये जाते है। साझ के कार्य प्रमुख रूप से ये होते है—

भोजन-स्थान की सफाई

जहाँ भोजन किया जाता है, वहाँ के स्थान को धोकर साफ कर देना अनिवार्य है। भोजन के गिरे हुए अथवा छूटे हुए अशो को इकट्ठा करके एकांत में परठना भी इसी कार्य के अन्तर्गत होता है।

झोली की सफाई

साझ में जितने सत आहार की गोचरी करते हों उन सब की झोलियो को प्रतिदिन धोया जाता है। इसी प्रकार मडलिया, लूहणा तथा जोडी पल्ला भी प्रतिदिन धोया जाता है। उनको धोने में जो सत नियुक्त होते है, उन्हें उन वस्त्रों को धोने के पश्चात् किसी दूसरे सत को दिखाकर पास करा लेना पडता है कि वे कही से भी चिकने नही हैं। इतना होने पर ही वे दूसरे दिन काम मे लिए जा सकते हैं।

पात्रों की सफाई

आहार के पात्र को प्रथम बार तो जो उसमें आहार करता है, वही धोकर साफ कर देता है, उसके बाद एक निर्धारित स्थान पर वे सब एकत्रित कर दिये जाते हैं। वहाँ उनको फिर से धोकर बिलकुल साफ किया जाता है। इस कार्य को 'जोड़ी करना' कहते है।

पात्र-प्रतिलेखन

आहार-पानी के सभी पात्रो को साफ करने के उपरान्त भी सूर्यास्त से पहले एक बार फिर देख लिया जाता है कि कही कोई पात्र चिकना या आर्द्र तो नहीं है? उसी प्रकार सूर्योदय

होने पर उनका फिर प्रतिलेखन कर लिया जाता है। यदि कोई पात्र भूल से बासी रह जाता है तो उसे साफ कर लेने से पहले कार्य में नहीं लिया जाता।

पानी उठाना

साझ के पानी को अवेर कर रखना, साझ की आवश्यकतानुसार पानी मगाना, यदि पानी कम आया हो तो साझ के सब सतो को धोने आदि के लिए माप कर पानी घालना तथा पीने के लिए अधिक से अधिक बचा रखना और सायकाल में सूर्यास्त से पहले 'रस्तान'[1] आदि को धोकर सारे पानी को चुका देना आदि कार्य इसके अन्तर्गत होते हैं।

(७) कुछ अन्य कार्य

स्वतन्त्र व्यवस्था

कुछ कार्य ऐसे भी है जो उपर्युक्त दोनों विभागो के अन्तर्गत नही आते, अतः उन्हें उनसे अतिरिक्त ही समझना चाहिए। ऐसे कार्यो के लिए भी स्वतंत्ररूप से व्यवस्था कर दी गई। गोचरी, 'पुस्तक-प्रतिलेखन' तथा 'स्थान-प्रमार्जन' आदि कार्य उसी कोटि के कार्यो में गिने जा सकते हैं।

गोचरी की व्यवस्था

आवश्यक आहार तथा पानी लाने के लिए हर एक व्यक्ति को गोचरी जाना आवश्यक होता है। हर साझ के व्यक्तियों की सख्या के आधार पर गोचरी के संघात बना दिये जाते है। प्राय तीन सतो का एक सघात होता है ; उसमें एक व्यक्ति आहार लाने के लिए और शेष दो पानी लाने के लिए नियुक्त होते हैं। आहार की गोचरी करने वाले व्यक्ति गाम के घरो तथा गलियो के आधार पर विभक्त हो जाते है। वे घरो की पृथक्-पृथक् एक स्थूल सीमा निर्धारित कर लेते है ताकि कोई घर गोचरी जाने से छूटने भी न पाये तथा किसी घर में अनेक बार भी न जाया जा सके। प्रत्येक गोचरी वाले के साथ दो सत पानी लाने वाले भी जाते है। वे उन्ही घरो में से पानी की गवेषणा करते हैं। यदि वहाँ पानी न मिले तो अन्य गोचरी वाले सतो से पूछकर उनकी सीमा वाले घरो से ला सकते है।

पुस्तक प्रतिलेखन

पुस्तको का सघीकरण कर देने के पश्चात् जब वे सारे सघ की हो गई तब उनका प्रतिलेखन करने के लिए भी नये सिरे से प्रबन्ध करना पडा। हर किसी के द्वारा पुस्तक-प्रतिलेखन सभव नही होता। इसके लिए सुदक्ष व्यक्तियो को ही चुना जाता है अन्यथा प्रतियो के पन्ने टूट जाने आदि की संभावना रहती है। प्रत्येक पुस्तक-प्रतिलेखक को साधारणतया दो पुस्तकें दी जाती हैं।

स्थान-प्रमार्जन

मुनिजन जहाँ आहार करते तथा बैठते-सोते है, उन सब स्थानो की सफाई का कार्य भी उन्हीं का अपना कार्य गिना जाता है। यह कार्य उन संतों को सौपा जाता है जो पुस्तक-

१—पानी के पात्रों को ढंकने के लिए जो वस्त्र होता है, उसे 'रस्तान' कहा जाता है।

प्रतिलेखन के कार्य में नहीं होते। वस्तुत: पुस्तक-प्रतिलेखन और स्थान-प्रमार्जन दोनों को मिला कर एक काम बनता है। क्योंकि दोनों एक दूसरे की एवज में होते है।

इन दोनों कार्यों का एकत्व करके जयाचार्य ने एक प्रकार से यह सक्रिय शिक्षा प्रदान की है कि कोई भी कार्य छोटा नही होता। पुस्तक-प्रतिलेखन और स्थान-प्रमार्जन ये दोनों ही कार्य आवश्यक है, अत. इनमें भेद न मानते हुए किसी भी एक को कर लिया जा सकता है। जयाचार्य की इस प्रक्रिया ने साधुओं के मन में वैसी ही एकत्व की मनोवृत्ति पैदा करने में सफलता भी पाई है ; क्योंकि अनेक दक्ष साधु 'पुस्तक-प्रतिलेखन' के कार्य को छोड़कर 'स्थान-प्रमार्जन' का कार्य भी लेते हैं। साधारण व्यवहार से बड़े तथा छोटे लगने वाले ये कार्य तेरापन्थ की श्रम-प्रणाली में तुल्य माने गये है। इस प्रकार श्रम का सम-विभाजन करने के साथ-साथ श्रम के प्रति समान रूपेण सम्मानभाव पैदा करने का प्रयास भी जयाचार्य ने किया और वह काफी अंशो में सफल रहा।

(८) गण-विशुद्धि-करण हाजरी

मर्यादाओं का वर्गीकरण

स्वामी भीखणजी ने अपने जीवनकाल में जो मर्यादाएँ बनाई थीं, उनको जयाचार्य ने विभिन्न वर्गो में संकलित कर दिया था। स्वामीजी की मर्यादाओं के उस वर्गीकरण का उन्होंने 'गण-विशुद्धि-करण हाजरी' नाम दिया। वह नाम बाद में अपने संक्षिप्त रूप में 'हाजरी' ही रह गया। वे हाजरियाँ अनेक है। उनमें स्वामीजी की लिखित मर्यादाओं के अंश यथा-प्रकरण उद्धृत किये गये हैं। प्रत्येक हाजरी शिक्षा और मर्यादा का एक सुन्दर सम्मिश्रण कही जा सकती है। कुछ हाजरियाँ ऐसी भी है जो गृहस्थो को भी सुनाई जाती हैं। संघ में साधु-साध्वियों को किस प्रकार से रहना चाहिए, गण और गणी के साथ उनका कैसा सम्बन्ध होना चाहिए, शासन-हितैषियो को टालोकरों का संसर्ग क्यो वर्जित करना चाहिए आदि संघीय-जीवन की अनेक आवश्यक सूचनाओ तथा शिक्षाओं से गृहस्थो को भी परिचित रखना आवश्यक होता है। हाजरियो द्वारा यह कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न किया जा सकता है।

प्रारंभ और रूपांतर

'हाजरी' का प्रारम्भ अपने छोटे रूप मे ही हुआ था। सं० १६१० में नाथद्वारा चातुर्मास के पश्चात् जयाचार्य रावलियाँ विराजे थे। वहाँ पोष कृष्णा नवमी के दिन यह स्थापना की कि प्रातःकालीन व्याख्यान में सदा खड़े होकर सब संत स्वामीजी के 'लिखित' को सुना करें।[१] हाजरी का यह रूप लगभग एक महीने तक चलता रहा। उसके पश्चात्

१—तिहां पोह विद नवमी दिन प्रभाते, भिक्खू स्वाम लिखत अति भारी।
मुनि ऊभा थईनें नित्य सुणवारी, करी स्थापन अति गुणकारी॥
तसु 'गण विशुद्ध करण हाजरी', दियो गुण निष्पन्न नाम भारी॥
गण अति निर्मल करण गणाधिप, बांधी मरजाद उदारी॥ (ज० सु० ३९-७८)

उसमें प्रथम रूपान्तर हुआ। सब सत खड़े होते तब व्याख्यान सुनने के लिए आये हुए भाई-वहिनो को आचार्य श्री के दर्शन नहीं हो पाते, उन लोगो ने उस बाधा की शिकायत की, तब बैठकर हाजरी सुनने का क्रम प्रारभ किया गया।

जब से बैठ कर हाजरी सुनने का क्रम चालू हुआ सभवत तभी से स्वामीजी के 'लिखित' को व्याख्या करके सुनाये जाने की पद्धति भी चालू हुई और वाद में उसने व्याख्यान का रूप ले लिया। वह क्रम भी थोडे ही दिन चल सका, क्योंकि प्रतिदिन एक ही वात की व्याख्या करते रहना न तो वक्ता को ही अभीष्ट हो सकता था और न् श्रोता को ही। तब उसमें फिर रूपान्तर की आवश्यकता प्रतीत हुई। समय-समय की उन्ही आवश्यकताओ ने हाजरी को कभी साप्ताहिक और कभी पाक्षिक रूप प्रदान किया। जब अनेक दिनो के व्यवधानो से हाजरी होने लगी, तब स्वत: ही उसे एक पर्व का रूप प्राप्त हो गया। नियत दिन पर सब साधु व्याख्यान में एकत्रित होकर सघ की नियमावलि को सुनते और अपनी प्रतिज्ञाओ को दुहराते। उस दिन के व्याख्यान में तेरापन्थ के अनुयायी श्रावक-वर्ग तो विशेष उत्साह से भाग लेता ही था, पर अन्य मतावलम्बी भी तेरापन्थ की नियमावलि या सघ-सगठन की पद्धति को जानने के लिए विशिष्ट उत्सुकता-पूर्वक उपस्थित हुआ करते थे।[1]

कार्यक्रम

हाजरी के दिन नियमावलि पढकर सुनाई जाती है और यथावसर उसकी व्याख्या भी की जाती है। प्रकरणानुसार जहाँ जिस बात के त्याग का उल्लेख आता है, वहाँ साधु-वर्ग को सम्मिलित घोष से त्याग करवाये जाते है। उससे सारे संघ को एकनिष्ठ होकर आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर होने का संबल प्राप्त होता है। उसके पश्चात् साधु-जन दीक्षा-क्रम से खडे होकर एक साथ 'लेखपत्र' का उच्चारण करते हैं और अपनी प्रतिज्ञाओं को दुहराते हैं। हाजरी का यह क्रम सभवत उसके खडे होकर सुनने के प्रारभिक रूप से लेकर शिक्षा-प्रदान तक के सुधरे रूपों का सम्मिलित रूप है।

उपयोगी पद्धति

'हाजरी' के द्वारा जन साधारण को तेरापन्थ के सगठन सबंधी नियमों से अवगत कराने से साधु-वर्ग को विशेष सावधानी की प्रेरणा मिली और साथ ही सगठन में भी और अधिक दृढता आई। पृथक् विहार करने वाले साधु-साध्वियों को भी यह निर्देश दिया गया कि वे स्थानीय परिषद् में अपने सब सहयोगियो की उपस्थिति में हर चतुर्दशी को 'हाजरी' किया करें। इससे जिन क्षेत्रों में आचार्यो के पदार्पण का अवसर नही होता, वहाँ के भाई भी अपने सघ के नियमो से परिचित रहने लगे। अनेक वार ऐसे अवसर भी आये हैं कि जब किसी साधु या साध्वी ने मर्यादाओं का समुचित आदर नही किया, वहाँ के श्रावक-वर्ग ने तत्काल उनको

१—त्यां हाजरी में अन्यमति स्वमति, सैंकड़ा मिनख समुदाय।
गणि वच सुणी हिये धारता, प्रफुल्ल थई मन मांय॥ (ज० सु० ४४-११)

सावधान किया कि आप यह कार्य अपने सघ की मर्यादा के प्रतिकूल कर रहे हैं। उससे सहज रूप से ही गलती करने वाले व्यक्तियो को सभल जाने का अवसर मिलता रहा और गलती आगे बढने से रुक जाने लगी। गलतियों के बढने की वहाँ अधिक सभावना रहती है, जहाँ उसे कोई टोकने वाला न हो। टोकने पर तथा टोके जाने की सभावना पर हर व्यक्ति स्वय ही सावधान होकर रहता है। तेरापन्थ की यह पद्धति हर तरह से उसके लिए उपयोगी सिद्ध हुई है।

(६) साध्वियों के सिंघाड़ों की व्यवस्था

व्यवस्था से पूर्व

साधुओ के सिंघाड़ो की व्यवस्था तो जयाचार्य के समय से पूर्व भी ठीक थी और व्यवस्थित चल रही थी। परन्तु साध्वियो के सिंघाड़े व्यवस्थित नही थे। किसी सिंघाड़े में दश, किसी में बारह, तो किसी में तीन या चार ही आर्याएँ रहा करती थी। जिसने जिसके पास दीक्षा ग्रहण की या दीक्षा देकर जो जिसको सौंपी गई, उस पर उसीका प्रमुख रूप से अधिकार रहा करता था। सारे सिंघाडे किसी एक आर्या को मुख्यता दें और उसका आदेश-निर्देश प्राप्त करें, ऐसी कोई पूर्ण व्यवस्था नही थी।

धीरे-धीरे नियंत्रण

जयाचार्य ने ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता अनुभूत की। उससे पूर्व उन्हें किसी ऐसी आर्या की आवश्यकता थी जो सब आर्याओं को निभा सके और अपने स्नेह के आधार पर सबके विश्वास को जीत सके। सरदार सती जयाचार्य की उस कसौटी के सर्वथा अनुकूल थीं। उन्होंने उनके व्यक्तित्व में और भी अनेक विशेषताएँ देखी। फलस्वरूप उन्हें ही साध्वी-प्रमुखा बनाने का निश्चय किया। स० १९१० में उन्हें व्यवस्थित रूप से साध्वियों का कार्यभार सौंप दिया गया। उसके बाद साध्वियो से सम्बन्धित जो भी कार्य होता, वह सरदार सती के माध्यम से ही करवाया जाता। धीरे-धीरे उनका प्रभाव और कार्य-क्षमता बढ़ती ही चली गई।

स० १९१५ में[1] उन्होने साध्वियो के सिंघाडों को व्यवस्थित करने के विचार को कार्य रूप में परिणत करने का निश्चय किया। उस निर्णय के साथ ही उन्होने साध्वियों के सिंघाडों को सरदार सती की निश्राय में आने के लिए प्रेरित करना प्रारम्भ किया। सर्व प्रथम वैशाख कृष्णा नवमी के दिन छोटी नवलांजी का सिंघाडा सरदारांजी की निश्राय में आया। उसके बाद धीरे-धीरे अन्य सिंघाड़े भी उनकी निश्राय में आते गये। जयाचार्य ने सबको पहले से सावधान कर दिया था कि जो भी सिंघाड़ा उनकी निश्राय में आएगा उसे काम, बोझ, गोचरी, आहार आदि की सब व्यवस्थाओं को उनके कथनानुसार मान्य करके चलना होगा। इतना होने पर भी सिंघाड़े उनकी निश्राय में आते रहे। जो सिंघाडे अस्वस्थता या वृद्धता आदि के

१—यहाँ यह सवत् पंचांग के अनुसार दिया हुआ है। 'महासती सरदार सुजस' आदि में जो सं० १९१४ का उल्लेख है, वह जैन पद्धति के अनुसार है।

कारण से नही आ सकते थे, उन्होंने अपनी साध्वियाँ भेज कर तथा विहार कर आते हुए साधु-साध्वियों के साथ कहलवा कर उनकी निश्राय में रहना स्वीकार कर लिया था।

नये सिंघाड़े

महासती सरदाराजी की निश्राय में आ जाने के पश्चात् भी सिंघाडों में तत्काल परिवर्तन नही किया गया था। कुछ काल तक वे पूर्ववत् ही विचरते रहे थे। स० १९२६ में सिंघाडों के उस पूर्व-क्रम में आमूलचूल परिवर्तन करने का कार्य हाथ में लिया गया। फाल्गुन शुक्ला एकादशी को जयाचार्य ने सरदारांजी से फरमाया कि अब साध्वियो के सारे सिंघाड़े व्यवस्थित कर देने चाहिएँ। इतने वर्षों में तुम सबकी प्रकृति से परिचित हो गई हो, अत· इस कार्य को तुम ही अपने हाथ से प्रारम्भ करो। पुण्यवान् व्यक्ति के हाथ से प्रारम्भ किया हुआ कार्य सदैव सफल रहता है।

जयाचार्य ने उन्हें सिंघाडे करने की सारी व्यवस्था बतला दी कि जो पहले अग्रणी रूप से विचरते हैं वे तो हैं ही उनके पास जो अधिक साध्विया हैं, उन्हें लेकर योग्यता, प्रकृति तथा विनयशीलता आदि को ध्यान में रखते हुए नये सिंघाडे बनाये जाएँ। यह भी ध्यान रखा जाए कि प्राय. प्रत्येक सिंघाडे में चार या पाँच से अधिक साध्वियाँ न हो। सरदार सती ने जयाचार्य की उस भावना के अनुसार ही रात्रि के समय सारी व्यवस्था की और दूसरे दिन प्रात·काल में ही नामों की सूची उनके सम्मुख प्रस्तुत कर दी।

दश से तैंतीस

उस समय भिक्षु-शासन में एक सौ चौहत्तर साध्वियाँ थी। उनमें दश सिंघाड़े तो पहले थे वही रखे गये और शेप साध्वियो में से तेईस सिंघाडे नये बनाये गये। कुछ आर्याओ को अपने साथ रखा गया। इस प्रकार उस व्यवस्था से जहाँ सिंघाडे सुव्यवस्थित हुए, वहाँ अधिक क्षेत्रों में चातुर्मास हो सकने के कारण प्रचार-कार्य में भी सहायता मिली। यद्यपि वह कार्य बहुत टेढा था, परन्तु आत्मबली जयाचार्य के सामने कोई भी कार्य टेढा रह नही सकता था। एक दिन में ही दश सिंघाडों से तैंतीस सिंघाडे बन गये।

(१०) तीन महोत्सव

विशिष्ट पर्व

जयाचार्य ने अपनी नवीन योजनाओ के अन्तर्गत तेरापन्थ सघ को तीन महोत्सव भी प्रदान किये। जैन शासन में प्राय सर्वत्र मनाये जाने वाले पर्युपण, सवत्सरी, वीरजयती आदि उत्सव तो परम्परा से उसे प्राप्त थे ही, पर ये तीनो महोत्सव तेरापन्थ के अपने इतिहास से सम्बन्ध रखने वाले विशिष्ट पर्व बन गए। उनके नाम क्रमश. ये हैं—पट्ट-महोत्सव, चरम महोत्सव और मर्यादा-महोत्सव। ये तीनो पृथक्-पृथक् समय में पृथक्-पृथक् प्रेरणाओं से चालू हुए थे।

जयाचार्य मनुष्य के इस स्वभाव से काफी गहराई से परिचित थे कि उसे अपने उत्साह को नवीन रूप देने के लिए, अपने महापुरुषो में निष्ठा उद्दीप्त रखने के लिए और अपने सगठन को गौरवशाली बनाये रखने के लिए पर्व या उत्सव चाहिए। जिस समाज या सघ में अपने उत्सव नही होते, वे हतोत्साह होते चले जाते हैं और एक दिन अपने पूर्वजों की सारी ख्याति को भूलकर अपने अस्तित्व की प्रेरणाओं को भी भूल जाते हैं। ऐसी स्थिति में वे हीन भावना से ग्रस्त होकर दूसरे किसी भी प्रेरणा-स्रोत की ओर आकृष्ट हो जाते है। उनका मूल लक्ष्य उनकी आँखों से इतना ओझल हो जाता है कि वे खोजने पर भी इस निश्चय पर नहीं पहुँच पाते कि आखिर वे इस पद्धति को क्यों अपनाये हुए हैं ? जयाचार्य ने तेरापन्थ को इन महोत्सवो के रूप में वे पर्व दिये है, जिनसे सारे सघ को नवीन प्रेरणाएँ और नवीन उत्साह मिलता रहे तथा सघ का हर व्यक्ति अपने लक्ष्य को सदैव सामने रखकर आगे बढ़ने के सकल्प से चलता रहे।

(१) पट्ट-महोत्सव

संतों का आग्रह

तीनो महोत्सवो मे सबसे पहले पट्टोत्सव का प्रारम्भ हुआ। जयाचार्य मालव-यात्रा करते हुए स० १९११ के शीतकाल में इन्दौर पधारे थे। वहाँ काफी सख्या में साधु-साध्वियाँ एकत्रित हुए। जयाचार्य के आचार्य बनने की तिथि माघ पूर्णिमा भी निकट ही थी, तब कुछ व्यक्तियो के मन में यह प्रेरणा जागृत हुई कि उस दिन आचार्यदेव के गुणोत्कीर्तन की गीतिकाएँ गाई जाएँ। सतो ने उस विचार को कार्य रूप देने का अवसर प्रदान करने के लिए जयाचार्य से निवेदन किया और स्वीकृति चाही। सम्भवतः उस समय जयाचार्य ने उस बात पर काफी सकोच ही अनुभव किया होगा कि उनके सामने उन्ही के गुणों का उत्कीर्तन हो, पर सतो के भक्ति-विह्वल आग्रह ने उनको मना लिया। उन्होंने प्रयोग के रूप में उसकी स्वीकृति दे दी।

गुणोत्कीर्तन का उत्साह

पूर्णिमा के पूर्व ही सत-सतियो में और गृहस्थो में उस दिन के लिए बहुत ही उत्साह देखा गया। अनेक व्यक्तियो ने आचार्यदेव को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए नई गीतिकाओं का निर्माण किया। पूर्णिमा के दिन उन गीतिकाओ को जब जयाचार्य के समक्ष गाकर प्रस्तुत किया गया तो सभा में उत्साह की एक नई लहर-सी दौड गई।

अनायोजित स्थापना

मनुष्य की मानसिक वृत्तियों के सूक्ष्म पारखी जयाचार्य ने जब श्रोतागण और गायकगण के उत्साह को देखा तो उन्हें महसूस हुआ कि ऐसे पर्व अत्यन्त आवश्यक होते हैं। उनकी सूक्ष्म दृष्टि में यह बात भी छिपी नही रही कि ऐसे विशिष्ट अवसर साहित्यिक बुद्धि को जागरित करने में भी बडे उपयोगी सिद्ध होंगे। वह पर्व तब से प्रतिवर्ष मनाया जाने लगा

किसी पूर्व आयोजना और उद्‌घोषणा के बिना ही केवल सतो की भक्ति-भावना के आधार पर इसकी स्थापना हुई थी।[1] तब से प्रतिवर्ष माघ पूर्णिमा की बाट देखी जाने लगी। जयाचार्य उसमें एक परीक्षक के रूप में केवल श्रोता बनकर बैठते और वक्ताओं के उत्साह आदि के साथ उनकी प्रतिभा के विकास का भी निरीक्षण करते रहते।

पूर्णिमा और पट्टोत्सव

पट्ट-महोत्सव प्रारम्भ होने के पश्चात् जयाचार्य के जीवनकाल तक तो यह माघ पूर्णिमा के दिन मनाया जाता रहा ही था, पर ऐसा लगता है कि उसके पश्चात् भी अनेक वर्षों तक वह उसी दिन मनाया जाता रहा था। मघवागणी द्वारा उनके अपने अन्तिम वर्ष स० १९४४ तक तो वह मनाया गया था, यह स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।[2] सभवत तब तक पट्ट-महोत्सव की तिथि माघ पूर्णिमा ही चालू रही थी। उसके साथ यह भावना नही जुड पाई थी कि उसे वर्त्तमान आचार्य के पट्टासीन होने के दिन ही मनाया जाना चाहिए। यदि यह भावना जुडी होती तो वह उत्सव मघवागणी के दिन पट्टासीन होने की तिथि भाद्रपद शुक्ला द्वितीया को मनाया जाता।

सम्मिलित पट्टोत्सव

जयाचार्य के समय में सभी पूर्वाचार्यो का एक सम्मिलित पट्टोत्सव मनाने का क्रम भी प्रारम्भ हुआ था। उसके लिए माघ शुक्ला सप्तमी का दिन निश्चित किया गया था। वही दिन स्वामीजी द्वारा निर्मित अन्तिम मर्यादा का दिन था। अत मर्यादामहोत्सव के लिए भी निश्चित किया गया था। कई वर्षों तक तो वे दोनो सम्मिलित चलते रहे। परन्तु बाद में मर्यादा-महोत्सव प्रचलित रहा और पट्ट-महोत्सव विस्मृति में चला गया। इसका विशेष विवरण आगे मर्यादा-महोत्सव में दिया जायेगा।

वर्त्तमान से सबद्ध

पट्ट-महोत्सव का सम्बन्ध प्रारम्भ में वर्त्तमान आचार्य से ही था, परन्तु मघवागणी के समय वह भूतकाल से सबद्ध हो गया था। सम्भव है माणकगणी ने उसे फिर से वर्त्तमान आचार्य के पदासीन होने के दिन से जोडा था। वह तिथि-परिवर्तन कब किया गया था, इसके विषय में कहीं कोई उल्लेख देखने में नही आया।

1—त्यां माह सुदि पूनम बहु मुनि श्रमणी, ढालां जोड़ गुणांरी गाई।
ते बरस थी पाट मोच्छव रीत ठहरी, प्रकट बरसो बरसी सुखदाई॥ (ज० सु० ४२.१२)

२—सातम मोच्छव घणी बार विराज्या, अर्थ फरमावता गणिराय।
ऊपर वखाण में पधारता फुन, पूनम पट्टोच्छव ढाल बणाय॥
पूनम पूठे शक्ति कम थई, सूर वीरता अधिक सवाय।
सीख सुमति गणी आपता बहु, धार्यां शिव सुख पाय॥ (म० सु० २४.१२-१३)

(२) चरम-महोत्सव

संभावित उद्गम

चरम-महोत्सव स्वामी भीखणजी के स्मृति-दिवस के रूप में प्रारम्भ किया गया था। इसका संभावित उद्गम-काल स० १९१४ भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी है। जयाचार्य का वह चातुर्मास बीदासर में था, अत: इस महोत्सव का प्रारम्भ वहीं से हुआ था। इस स्मृति-दिवस के लिए स्वामीजी के जीवन की चरम तिथि को ही चुना गया था, अत इस महोत्सव का नाम 'चरम-महोत्सव' रखा गया।

यद्यपि उपर्युक्त महोत्सव के उद्गम-स्थल तथा समय का उल्लेख जयाचार्य के जीवन-चरित्र में नहीं मिलता है फिर भी जहाँ उनकी रचनाओं का उल्लेख किया गया है, वहाँ बतलाया गया है कि उन्होंने चरम-महोत्सव के उपलक्ष में चौवीस ढालों की रचना की थी।[1] इसी कथन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रति महोत्सव एक ढाल जोड़ी गई हो तो यह महोत्सव ऊपर कहे गये सवत् और स्थान में ही प्रारंभ हुआ था।

शाश्वत प्रेरणा-स्रोत

जयाचार्य ने इस महोत्सव का प्रारम्भ करके वस्तुत. स्वामीजी के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा का द्योतन किया था। वे चाहते थे कि स्वामीजी के जीवन से प्रत्येक साधु प्रति वर्ष नया संबल ग्रहण करे और अपने प्रथम पुरुष को कृतज्ञता भरी श्रद्धांजलि अर्पित करे। वे जानते थे कि स्वामीजी का यह स्मृति-दिवस सारे सघ को कष्ट-सहिष्णुता और सत्यपरायणता का पाठ पढ़ाता रहेगा। समाज की अभिवृद्धि और उन्नति के लिए वे दोनों ही तत्त्व अत्यन्त अपेक्षणीय होते है। स्वामीजी का सारा जीवन इन दो आधारभूत स्तम्भों पर ही टिका हुआ था। सुख-शीलता और सत्य-पराङ्मुखता आ जाने के बाद किसी भी संघ की अभिवृद्धि ह्रास में परिणत होने लगती है। जयाचार्य अपने सघ को उससे सदा के लिए बचाना चाहते थे, अत. स्वामीजी की जीवन-स्मृति को उन्होंने शाश्वत प्रेरणा-स्रोत के रूप में स्थापित किया। तेरापन्थ को 'चरम-महोत्सव' के द्वारा जो प्रेरणाएँ प्राप्त होती रही है, उनका समस्त श्रेय श्री मज्जयाचार्य को ही है।

१—भाद्रपद तेरस नां मोच्छव तणी, जोड़ी ढाल सखर चोवीस॥ (ज० सु० ६६.२८)
जयाचार्य सम्वत् १९३८ के भाद्रपद कृष्णा द्वादशी को दिवंगत हो गये थे, अत. वे अपने जीवनकाल में १९३७ तक ही चरम महोत्सव मना सके थे। प्रथम महोत्सव १९१४ में होने पर १९३७ तक प्रतिवर्ष एक के हिसाब से चौवीस ढालें पूरी हो जाती हैं। जयाचार्य की इन ढालों को अभी संगृहीत किया गया है, परन्तु अभी तक चरम महोत्सव की सबसे पुरानी ढाल १९१७ की ही प्राप्त हो सकी है। इसके बाद की तो सब ढालें प्राप्त हैं, परन्तु प्रथम तीन ढालों (सं० १९१४,१५ और १६) की प्राप्ति नहीं हो सकी हैं।

(३) मर्यादा-महोत्सव

प्रगति का साक्षी और स्रष्टा

'मर्यादा-महोत्सव' तेरापथ का सबसे वडा महोत्सव है। यह पर्व उसकी सघीय एकता को उज्जीवित रखने का मूल कहा जा सकता है। अपने प्रारम्भ काल के साधारणरूप से वढता हुआ यह पर्व आज यहाँ की प्रायः समस्त साविधानिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक प्रवृत्तियो का केन्द्र बन गया है। तेरापन्थ की हर प्रगति का यह पर्व एक महान् साक्षी ही नही, किन्तु स्रष्टा भी है।

मर्यादाओ का पर्व

यद्यपि मर्यादा-महोत्सव का नाम आज के युग में कुछ विचित्र-सा लग सकता है, क्योंकि चारो ओर के वातावरण में मर्यादाओ के विघटन की आवाज ही अधिक सुनाई दे रही है, मर्यादा-निर्माण की कहीं से कोई क्षीण आवाज उठती भी है तो वह वही दवकर रह जाती है, ऐसी स्थिति में भी यदि कही मर्यादा को ही लक्ष्य वनाकर कोई पर्व मनाया जाता है तो वह अपने आप में एक महत्वपूर्ण वात ही कही जानी चाहिए। किसी भी धर्म-सघ, समाज या राष्ट्र में अपने सविधान के उपलक्ष्य में कोई पर्व मनाया जाता हो—ऐसा सुनने या देखने में नहीं आया। तेरापथ ही एक ऐसा सगठन है जो अपनी 'मर्यादाओ' को इतने महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण से देखता है और उसके लिए एक 'पर्व' मनाता है।

नामकरण का आधार

स्वामी भीखणजी ने तेरापथ के लिए लिखित रूप में सर्व-प्रथम मर्यादा स० १८३२ मार्गशीर्ष वदि सप्तमी को वनाई थी। वह दिन वस्तुत उसके सविधान का प्रथम दिन था। उसके वाद धीरे-धीरे आवश्यकतानुसार एक-एक करके मर्यादाएँ वनती रही। स्वामीजी की अतिम मर्यादा स० १८५९ माघ शुक्ला सप्तमी की है। अतः उसी दिन को इस सविधान की पूर्ति का दिन समझना चाहिए।

स्वामीजी ने धर्म-संघ की एकता और पवित्रता वनाये रखने के लिए कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय में जो विधि-निषेध की सीमा स्थापित की थी, उसे उन्होने 'मर्यादा' नाम से अभिहित किया था। जयाचार्य ने उसी अर्थ-गौरवपूर्ण शब्द के आधार पर इस पर्व का 'मर्यादा-महोत्सव' नामकरण किया। इसके लिए उन्होंने माघ शुक्ला सप्तमी का ही दिन चुना; क्योकि सविधान की पूर्ति का दिन वही था। माघ महीने में मनाये जाने के कारण इसका दूसरा नाम 'माघ-महोत्सव' भी प्रचलित है।

वालोतरा में

इस उत्सव का प्रारम्भ स० १९२१ माघ शुक्ला सप्तमी को वालोतरा में हुआ था। जयाचार्य के अन्तःकरण में सम्भवत प्रति वर्ष मर्यादा-महोत्सव मनाने की कल्पना परिपाक पा

रही थी कि वहाँ उसके व्यक्त होने के लिए एक उपयुक्त वातावरण भी बन गया। जयाचार्य बालोतरा पधारे थे। कुछ दिन वहाँ विराजकर माघ-पूर्णिमा का पट्ट-महोत्सव पचपदरे करने का विचार था। सम्भवतः उन्होंने वह घोषित भी कर दिया था।

बालोतरा-निवासियों की इच्छा अपने वहाँ पट्टमहोत्सव कराने की थी। वह उग्र हुई तो आग्रह बनकर सामने आई। जयाचार्य के सामने यह एक समस्या हो गई कि उनको किस प्रकार से समझाया जाये ? आखिर बालोतरा-वासियों की भक्ति ने जयाचार्य के मन पर विजय पाई। उन्होंने माघ पूर्णिमा के पट्ट-महोत्सव को तो पचपदरे में करने का ही निश्चय रखा, पर बालोतरा में तेरापंथ की मर्यादाओं तथा सब पूर्वाचार्यों के पट्ट-महोत्सवों के प्रतीक स्वरूप सम्मिलित रूप से एक महोत्सव मनाने की घोषणा कर दी। वह मर्यादा-महोत्सव के विधिवत् प्रारम्भ की घोषणा कही जा सकती है।

पहले भी

उससे पूर्व भी माघ महीने में साधु-साध्वियाँ एकत्रित हुआ करती थीं। जयाचार्य उन्हें शिक्षाएँ भी दिया करते थे। गुणोत्कीर्तन रूप में विविध गीतिकाएँ भी गाई जाती थीं। यहाँ तक कि उस उत्सव को 'मर्यादा-महोत्सव' ही कहा जाता था, फिर भी वह सब विधि-वत् स्थापित न होकर केवल सुविधानुसार चलता था। उसके लिए सप्तमी तिथि का भी कोई निश्चित निर्णय नहीं था। वैसा मर्यादा-महोत्सव कितने वर्ष पहले से मनाया जा रहा था, इस विषय में निश्चित कुछ भी कह सकना कठिन है, पर इतना तो सुनिश्चित है कि बालोतरा से पहले सं० १९२० में वह लाडणूं में मनाया गया था। मुनि जीवराजजी द्वारा उस अवसर पर गाई गई गीतिका का यह अन्तिम पद्य उसका साक्षी है :

> संवत उगणीसै वर्ष, बीसा के माह महिने।
> मर्यादा मोच्छव श्रीपूज, लाडणूं थट लहिने ॥
> थट लहिने जी आनन्द गहिने
> कहै जीव ऋषि कर जोड़ हजूर हाजर रहिने ॥

प्रथम महोत्सव

बालोतरा से पहले जो मर्यादा-महोत्सव मनाये गये थे, वे प्रायोगिक ही थे। विधिवत् तथा निर्णीत घोषणा के अनुसार एक परम्परा डालने की दृष्टि से तो बालोतरा का मर्यादा-महोत्सव ही मनाया गया था, अतः प्रथम महोत्सव वही गिना जाता है। इस महत्त्वपूर्ण पर्व की स्थापना में जयाचार्य की दूरदर्शिनी दृष्टि को तो मूल श्रेय प्राप्त है ही, पर साथ ही बालोतरा-निवासी श्रावकों का आग्रह भी उसमें कारणभूत बना था, अतः कुछ उनका भी श्रेयोभाग मान लेना अनुचित नहीं होगा। उस प्रथम मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर आस-पास के गामों के लोग भी बहुत आये थे। सहस्रों की संख्या में उपस्थित जनता में बड़े उल्लासपूर्ण वाता-

वरण में उसकी सपन्नता हुई थी।[1] उस प्रथम मर्यादा-महोत्सव से लेकर वर्त्तमान के मर्यादा-महोत्सव तक का मनन करने से पता चलता है कि उसमें प्रतिवर्ष हर प्रकार से विकास होता रहा है। प्रारम्भ में यद्यपि यह माघ पूर्णिमा के पट्ट-महोत्सव के बदले मे आयोजित किया गया था[2] परन्तु बाद में अन्य सब महोत्सवों से इसका महत्व बढकर हो गया।

पट्टोत्सव का प्रतीक

जयाचार्य द्वारा प्रारम्भ में मर्यादा-महोत्सव की तिथि को पूर्वाचार्यों के पट्ट-महोत्सव का प्रतीक भी माना गया था। पर वह भावना दो वर्ष बाद ही गौण या स्थगित हो गई मालूम होती है।[3] सम्भवत एक तिथि दो विभिन्न उत्सवों को सम्मिलित रूप में मनाने के लिए पर्याप्त नही हो पाई। यह बात प्रायः अप्रसिद्ध ही है कि प्रारम्भ मे मर्यादा-महोत्सव और पूर्वाचार्यों के पट्ट-महोत्सवों को सम्मिलित रूप से मनाने के लिए एक ही दिन निश्चित किया गया था। 'जयसुजस' में भी इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नही किया गया है, परन्तु जयाचार्य द्वारा विरचित महोत्सवों की प्राप्त ढालों से यह सारी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। प्रथम महोत्सव के अवसर पर जोडी गई ढाल में उन्होंने कहा है :

स्वाम चरम मर्यादा गणिपट, मोच्छव मगल माल।
उगणीसै इकवीसै जोडी, जय जश हरस विशाल॥[4]

प्रथम वर्ष की ढाल में उन्होने केवल यह सकेतमात्र ही किया है कि स्वामीजी की चरम मर्यादा और आचार्यों के पट्ट-महोत्सव के रूप में यह मगल दिन मनाया गया, पर इससे अगले वर्ष की ढाल में जहाँ वे यह खुलासा करते है कि 'मर्यादा-महोत्सव' और 'गणिपट्ट-महोत्सव' के लिए माघ महीने और सप्तमी तिथि को ही क्यो चुना गया, वहाँ यह एकदम ही स्पष्ट हो जाता है कि दोनों महोत्सव सम्मिलित रूप में ही चालू किये गये थे। वे कहते हैं·

इम गुण सठै माह सुद सप्तमी, बांधी ए मर्याद।
अष्टादश साठै भाद्रवे, अनशन भाव समाध॥
सवत् अठारै अठतरै, माह वदि आठम ताय।

१—सित सप्तम दिन महोत्सवे, बालोतरे जनवृन्द
गाम पर गाम तणां थया, सहंस गमै सौंहद॥ (ज० सु० ५०.६)

२—इकवीसै बालोतरे, माहसित सातम जाण।
मर्यादा-महोत्सव करी, ते थई पूनम मोच्छवस्थान॥ (ज० सु० ५०.७)

३—जयाचार्यकृत महोत्सवों की ढालों में केवल स० १९२१ और २२ की ढालों में ही इन दोनों का सम्मिलित उल्लेख है आगे की ढालों में केवल 'मर्यादा-महोत्सव' का ही उल्लेख किया गया है, अत. अनुमानतः सम्मिलित-महोत्सव का सिलसिला दो वर्ष बाद बन्द हो गया था।

४—ज० कृ० म० ढा० ८.१३

भारीमाल अनशन भलो, ए द्वितीय पाट मुखदाय ॥
उगणीसै आठै समै, माह वदि चौदस सार।
ऋषिराय परलोक पधारिया, ए तृतीय पाट गुणधार ॥
तास पसाये सपदा जयजश करण सुपाय।
ते सघला गणपति तणा, पट मोच्छव सुखदाय ॥
पाटानुपाट परवरा, रहिवो इक गुरु आण।
गुण सठै माह सुद सप्तमी, वले विविध मर्याद पिछाण ॥
तिण कारण मगलीक ए, उत्तम दिवस उदार।
मर्यादा नै गणि-पट तणो, मोच्छव मगलाचार ॥[1]

उपर्युक्त पद्यो का मनन करने पर जाना जा सकता है कि माघ-महीने से सभी पूर्वाचार्यो का कोई न कोई सम्बन्ध रहा था। स्वामीजी ने उसमें अन्तिम मर्यादा का निर्माण किया था। भारमलजी स्वामी उसी महीने में दिवगत हुए थे। ऋषिराय का पट्टारोहण और देहावसान दोनो उसी महीने में हुए थे। स्वय जयाचार्य भी उसी महीने में आचार्य बने थे। इस प्रकार सभी पूर्वाचार्यों से सबद्ध होने के कारण उसे उन सबके पट्टोत्सवो का प्रतीक बनाया जाना उपयुक्त ही था। सप्तमी तिथि का चुनाव, मर्यादाओं की परिपूर्णता के उपलक्ष्य में किया गया था। जयाचार्य कहते है कि यह दिन तेरापथ के लिए उत्तम और मंगलमय है। इसीलिए इसे 'मर्यादा-महोत्सव' और 'पट्ट-महोत्सव' के लिए चुना गया है।

सारणा-वारणा

मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर प्रायः समस्त साधु-साध्वीगण एकत्रित हो जाता है। वार्धक्य, रोग या अन्य किसी अपवादस्वरूप कुछ ही सिंघाडे अवशिष्ट रहते है। महोत्सव के लिए प्रतिवर्ष कोई एक स्थान आचार्य द्वारा घोषित कर दिया जाता है। सभी सिंघाडे चातुर्मास की समाप्ति पर उसी दिशा में विहार कर देते हैं। प्रायः मार्गशीर्ष का महीना उनके आने का और फागण का महीना जाने का रहता है। पौष और माघ के दो महीने आचार्यदेव की सेवा में रहकर वे विविध अनुभव अर्जित करते हैं। इस अवसर पर आचार्यदेव स्वय यथाक्रम से हर सिंघाडे को अपने पास बुलाते हैं और सघ की समुचित *सारणा-वारणा* के लिए शेषकाल तथा चातुर्मास में किये गये कार्यों का विवरण पूछते हैं। पठन, पाठन और लेखन आदि की प्रगति से भी अवगत होते है। पारस्परिक-व्यवहार, मर्यादा-पालन और आचार-विचार सबधी पृच्छा विशेष रूप से की जाती है। सघ को निर्दोष रखने के लिए यह सब पूछताछ अत्यन्त आवश्यक होती है। जिन व्यक्तियो में खामियाँ पाई जाती है, उन्हें यथानुरूप प्रायश्चित्त देकर विशुद्ध किया जाता है और अपने क्षेत्र में विशेष उपकार करने वालों को सम्मान देकर उत्साह बढाया जाता है।

१—ज० कु० म० ढ़ा० १०.२९ से ३४

विचार-मंथन

उन्हीं दिनों में अनेक वार आचार्यदेव की शिक्षाओ का कार्यक्रम रहता है। सब साधु-साध्वियों की उपस्थिति में वे आचार-विचार की पवित्रता, मर्यादाओ के पालन में दृढता, तथा अन्य किसी सामयिक विषय पर प्रकाश डालते है और आवश्यक प्रेरणाएँ देते हैं। उसके अतिरिक्त कभी-कभी साहित्यिक या शास्त्रीय विषयों पर विद्वान् सतो के भाषण, कविगोष्ठी, विचार-गोष्ठी, समस्यापूर्ति, निवध-प्रतियोगिता आदि के कार्यक्रम भी रखे जाते हैं, जो कि वड़े अभिरुचि पैदा करने वाले होते है। नई तथा पुरानी मर्यादाओ के विषय में भी उस समय पारस्परिक विचार-मथन चलता रहता है।

विश्वसनीयता की शपथ

महोत्सव की तिथि के आस-पास ही किसी एक दिन 'वडी हाजरी' होती है। उसमें तेरापथ की नियमावलि को आचार्यदेव व्याख्या करके सुनाते है। उसके वाद सब साधु-साध्वियाँ दीक्षा-क्रम से पक्तिवद्ध खड़े होते हैं और फिर समवेतस्वर से सघ के प्रति विश्वसनीयता की शपथ (लेखपत्र) को दुहराते हैं। उस कार्यक्रम में जनता को जहाँ नियमावलि सुनने का आकर्पण होता है वहाँ साधु-सतियों की लम्बी पक्ति तथा शपथ-ग्रहण का दृश्य देखने का भी अपना एक आकर्षण होता है।

सप्तमी के दिन

मर्यादा-महोत्सव का मुख्य दिन सप्तमी का होता है। उस दिन मध्याह्न में चारों तीर्थ वडे उल्लासमय वातावरण में एकत्रित होते हैं। आचार्यदेव उच्च-पट्ट पर विराजमान होते है और 'णमुक्कारमत्र' का मेघ-मद्र स्वर में उच्चारण करते हुए कार्यक्रम का प्रारम्भ करते हैं। उसके वाद संघ, आचार्य तथा मर्यादाओं के विषय में प्रकाश डालने वाली और भक्ति की अभिव्यक्ति करने वाली कविताओं-तथा गीतिकाओं का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। कुछ भाषण भी होते हैं। आचार्यदेव भी अपने भाषण में तेरापथ की शासन-प्रणाली का जनता को दिग्-दर्शन कराते है। उसी अवसर पर स्वामी भीखणजी के हाथ से लिखा हुआ वह अन्तिम मर्यादा-पत्र, जिसके आधार पर मर्यादा-महोत्सव मनाया जाना चालू हुआ, निकाल कर जनता को दिखाया जाता है तथा उस पर लिखी हुई मर्यादाओ को पढकर सुनाया जाता हैं।

चातुर्मासों की घोषणा

उसके अनन्तर आचार्यदेव उपस्थित सिंघाडों के लिए विहार-क्षेत्र तथा चातुर्मास की घोपणा करते हैं। वे जिस अग्रणी साधु तथा साध्वी का नामोच्चारण करते है, वह व्यक्ति अपने स्थान पर खडा होकर कर-बद्ध उनके आदेश की प्रतीक्षा करता है। किसी एक ग्राम या शहर का नामोल्लेख करते हुए आचार्य तब उसे वहाँ चातुर्मास करने का आदेश देते हैं और वह व्यक्ति उस आज्ञा को शिरोधार्य करता हुआ उन्हें वन्दन करता है।

उस अवसर पर हजारों की संख्या में दूर-दूर से आये हुए लोग भी उपस्थित होते हैं, अतः जब वे अपने ग्राम के चातुर्मास की आज्ञा सुनते है, तब बड़े उल्लसित-भाव से जयनाद करते हैं। ग्राम के नाम का उच्चारण किये जाते ही वहाँ की जनता तथा निर्दिष्ट अग्रणी के मानस पर उभरने वाले तृप्ति के भाव वस्तुतः तेरापथ की शासन-प्रणाली की उच्चता के द्योतक होते हैं। आचार्यदेव के द्वारा उद्घोषणा करने से पहले प्राय· किसी को यह पता तक नहीं होता कि इस वर्ष उन्हें किधर विहार करना होगा। श्रावको के लिए यह नियम है कि वे किसी साधु या साध्वी-विशेष का नाम लेकर अपने वहाँ चातुर्मास कराने की प्रार्थना न करें। इसी प्रकार साधु-साध्वियों के लिए भी यह नियम है कि वे किसी क्षेत्र-विशेष का नाम लेकर अपने चातुर्मास की प्रार्थना न करें। इसलिए जिसको जहाँ जाने का आदेश दिया जाता है, वह वहाँ के लिए अपने आपको सदैव प्रस्तुत ही रखता है।

चातुर्मास की घोषणा का कार्यक्रम प्राय· बसत-पचमी के दिन सर्वप्रथम लाडणू में स्थित वृद्ध साध्वियों की सेवा के लिए एक सिंघाडे की नियुक्ति करने के साथ प्रारम्भ होता है। पर उसके बाद मुख्यतः महोत्सव के अवसर से ही फिर से चातुर्मासों की घोषणाओं का सिलसिला प्रारम्भ होता है, जो कि अनेक दिनो तक प्रातः या मध्याह्न में महोत्सव के पूरक कार्यक्रमों के साथ-साथ चलता रहता है।

महोत्सव के पश्चात्

महोत्सव के पश्चात् शीघ्र ही सिंघाड़ो का विहार होना प्रारम्भ हो जाता है। विहार से पूर्व प्रत्येक अग्रणी को एक 'परची' दी जाती है, उसमें विहार-क्षेत्र के ग्राम लिखे होते हैं। उस परची में निर्धारित ग्राम-मंडल को 'चोखला' कहा जाता है। प्रत्येक सिंघाड़ा शेष काल में अपने-अपने चोखले के ग्रामों में विहार करता रहता है और फिर चातुर्मास के लिए निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाता है।

: ६ :

श्रुत के अनन्य उपासक

चिंतन-सातत्य

जयाचार्य का प्राय: समग्र जीवन श्रुत की उपासना मे ही बीता था। बाल्यावस्था से उनकी जो श्रुतोपासना चालू हुई थी, वह अन्त तक क्रमश. वेगवती होती हुई ही चलती रही थी। जैनागमों का उन्होने पूर्णरूप से मंथन किया था, फिर भी उनको उतने से संतृप्ति नही थी। आगे से आगे आगम-विषयक नवीन चितन चलता ही रहता था। उनके चिंतन-सातत्य ने जैन-शासन को अनेक नवीन विचार-रत्न दिये है।

नया रत्न मिला है

उनके चिंतन-सातत्य के विषय में उदाहरणस्वरूप यह एक बात ही काफी होगी—जैनागमो में उत्तराध्ययन सूत्र अपनी विशेषताओ के कारण अपेक्षाकृत अधिक पढा जाता है। अनेक साधु उसे कटस्थ भी करते है। जयाचार्य ने भी उसे कठस्थ किया था। सैकडो बार उसका स्वाध्याय भी वे कर चुके थे। व्याख्यान में विश्लेषण करके भी उन्होने उसे अनेक बार पढा था। उसकी राजस्थानी भाषा में उन्होंने जोड़ (पद्य-बद्ध टीका) भी की थी। तात्पर्य यह कि उत्तराध्ययन के प्रत्येक वर्णन से उनका अत्यन्त निकट का सम्बन्ध हो चुका था। यह कहना भी अत्युक्ति नही होगा कि वे उत्तराध्ययन के ज्ञान को सफलतापूर्वक आत्मसात् कर चुके थे। इतने पर भी जब वे रात्रि में उसका स्वाध्याय करते तब अनेक बार युवाचार्य मघवागणी को कहा करते—"मघजी! आज तो उत्तराध्ययन में एक नया रत्न मिला है।" एक सूत्र को इतना अवगाहन कर लेने पर भी उसमें से नये-नये विचार-रत्नो को प्राप्त करने की बात जहाँ उस सूत्र के अनन्त गांभीर्य को प्रकट करती है, वहाँ वह विचारक के चिंतन-विषयक नये-नये उन्मेषों को भी स्पष्ट करती है।

सस्कृत व्याकरण

आगम-ज्ञान की उपासना तो उनका प्रारम्भ से ही प्रिय विषय रहा था। पर उसके अतिरिक्त विषयो में भी वे अवसर मिलते ही निष्णातता प्राप्त करने में जुट जाते थे। शीघ्रता और सूक्ष्मता से ग्रहण करने वाली उनकी बुद्धि ने उनको इस कार्य में सदैव सफलता प्रदान की थी। सस्कृत-भाषा का अध्ययन उन्होने इसी कारण से बहुत थोड़े ही समय में कर लिया था। स० १८८१ में उनका चातुर्मास मुनि हेमराजजी के साथ जयपुर में था। वहाँ एक श्रावक का लड़का व्याकरण पढ़ा करता था। कहा जाता है कि वह 'हटवा' जाति का वैश्य था। यद्यपि वह धार्मिक प्रवृत्ति वाला बालक था, फिर भी संस्कृत

व्याकरण पढने की उत्कंठा ने उसे एक कपट करने को वाध्य कर दिया था। उस समय के ब्राह्मण पंडित ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य किसी को सस्कृत पढ़ाने को तैयार नहीं थे। अत वैश्य होते हुए भी अपने आपको ब्राह्मण वतलाकर वह वहाँ पढा करता था। वह रात्रि के समय प्रतिदिन साधुओ के पास भी आया करता था। जयाचार्य के प्रति उसके मनमें सहज ही एक विशेष आकर्पण हो गया था। वह प्राय· उनके पास वैठा करता था।

जयाचार्य उस समय लगभग इक्कीस वर्ष की अवस्था के एक युवक साधु थे। आगम-ज्ञान की गहराइयो मे गोता लगाते हुए उन्होने अनेक वार उनकी सस्कृत टीकाओ को पढ़कर और अधिक सामर्थ्य अर्जन करने की वात सोची थी। पर उन्हें अवैतनिक रूप से पढाने वाला कोई पण्डित उपलब्ध ही नहीं हुआ। वेतन देकर या दिलवाकर पढने की परिपाटी तो जैन साधुओं के लिए कल्पनीय ही नही है। उस वर्ष जव उन्हें पता चला कि यह छात्र सस्कृत पढता है तो उन्होने उसे अपना पढा हुआ पाठ प्रतिदिन सुना देने के लिए कहा। लडके ने उनकी उस वात को स्वीकार कर लिया तथा श्रावक होने के नाते वह सेवा प्राप्त कर उसने अपने आप को सौभाग्यशाली भी समझा। इसके पश्चात् वह प्रतिदिन सेवा में आता और दिन में जो कुछ पढा करता, वह रात्रि के समय में जयाचार्य को सुना दिया करता। वे दूसरे दिन उन सुने हुए व्याकरण-सूत्रो को तो वृत्ति-सहित कंठस्थ कर लिया करते थे। और उनकी साधनिका को राजस्थानी भाषा में पद्य-वद्ध करके लिख लिया करते थे। यह था उनका संस्कृत-व्याकरण पढने का इतिहास।

व्याकरण चाहे किसी भी भाषा का हो, वह प्राय. कठिन और नीरस ही होता है, उसमें भी फिर सस्कृत व्याकरण का तो कहना ही क्या, वह तो करेला और नीम चढा होता है। उसमें अन्य व्याकरणो के समान शब्द के आगे कर्त्ता तथा कर्म आदि कारको में अमुक-अमुक विभक्तियाँ लगाई जाती है, इतना कह देने मात्र से काम नही चलता। वहाँ तो हर विभक्ति से शब्द में जो अन्तर आता है, उसका पूरा-पूरा लेखा-जोखा रखना पडता है। एक-एक मात्रा के परिवर्तन को सूत्रो की साक्षियो से सिद्ध करना होता है।

इस कठिनाई के वावजूद यदि पढाने वाला व्यक्ति विद्वान् हो तो वह अनेक प्रकार से कठिन स्थलों को भी सरल वनकर समझा सकता है। परन्तु उन्हे जो अध्यापक प्राप्त हुआ था, वह तो स्वय ही एक छात्र था। जितना पढता, उसमे से जितना याद रख सकता और उसमे से भी जितना व्यक्त कर सकता, उतना ही वह वतला सकता था। वहुत वार तो जयाचार्य की शकाओ को सुलझा सकने के वजाय स्वय ही उलझ जाया करता था। परन्तु जयाचार्य थे कि उससे भी उन्होंने इतना प्राप्त कर लिया था, जितना कि उसके पास देने को था ही नही। उनकी वुद्धि पानी में पडे तैल विन्दु की तरह प्रसरणशील थी। थोडा-सा सकेत पाते ही वह विषय को स्वय पकड लिया करती थी। और उस पर छा जाया करती थी। तैल-

विन्दु तो पानी पर केवल छाँकर ही रह जाता है, पर उनकी बुद्धि उस विपय की गहराई तक भी आसानी से पहुच जाती थी ।

साढ़े तीन लाख पद्य

जयाचार्य ने श्रुत-साधना मे लगकर जो आत्मानन्द प्राप्त किया था, वह उन्होने अपने तक ही सीमित न रख कर खुले हाथो से दूसरों को वितरित भी किया था । अपने जीवनकाल में उन्होने लगभग साढे तीन लाख पद्य-प्रमाण साहित्य की जो रचना की थी, वह सब अपने द्वारा अनुभूत उसी आत्मानन्द को दूसरो तक पहुँचाने का एक सफल उपक्रम था ।

बालसाहित्यकार

उनकी साहित्यिक प्रतिभा बाल्यावस्था में ही प्रस्फुटित हो चुकी थी । जिस अवस्था में बालक अपने भान को भी पूर्ण रूपेण नही सम्भाल पाता है, उस अवस्था में जयाचार्य ग्रन्थ-रचना करने लगे थे । ग्यारह वर्ष की अवस्था में 'सत गुण माला' नामक ग्रन्थ की रचना करके अपनी असाधारणता का उन्होंने प्रारम्भ से ही सव को परिचय करा दिया था ।

एक प्रेरक व्यंग

यद्यपि जयाचार्य का जीवन प्रारम्भ से ही ज्ञान की साधना में लगा हुआ था। फिर भी इस तरफ उनकी वृत्ति के प्रवाह को वेग देने में एक साधारण-सी घटना भी कारण वनी थी । एक बार जयाचार्य ने एक पत्री का रङ्ग रौगन स्वय हाथ से किया था । जव वे उसे ऋपिराय को दिखा रहे थे, तव प्रमुखा साध्वी श्री दीपांजी ने व्यग करते हुए कहा—"यह कार्य तो हम जैसी अपढ साध्वियाँ भी कर लेंगी आप तो कोई सूत्र-सिद्धान्त की वातो का अन्वेपण करते तो वह सघ के लिए अधिक उपयोगी होता ।"

साध्वी दीपाजी के उस छोटे से वाक्य ने उन पर ऐसा प्रभाव डाला कि उनकी कर्तृत्व-शक्ति को एक निर्णीत दिशा मिल गई । उसके बाद उन्होंने अनेक शास्त्रो का अवगाहन करने के साथ-साथ उनकी 'जोड' (पद्य-टीका) करके समग्र जैन-शासन को उपकृत किया था । सर्व प्रथम उन्होने 'पन्नवणा की जोड' की थी । वह साध्वीजी के उसी व्यग की सात्त्विक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उद्भूत हुई थी ।

पद्य टीकाकार

अनेक व्यक्तियो को जो ज्ञान जीवन भर की साधना के पश्चात् भी कठिन लगा करता है, उन्होंने उसे अपने प्रारंभिक वर्षो मे न केवल प्राप्त ही कर लिया था, अपितु उसके व्याख्याकार भी बन गये थे । 'पन्नवणा' जैसे कठिन आगम की जोड उन्होने तव की थी जव कि वे केवल अठारह वर्ष की अवस्था में थे । उसके अनन्तर तो एक के पश्चात् एक आगम उनकी मथन-प्रक्रिया में से गुजरे और उन्होंने उन सव का नवनीत तत्त्व-जिज्ञासुओं के सामने रखा ।

उन्होंने अनेक आगमों की पद्य-टीकाएँ लिखी । उन सव में 'भगवती की जोड' सवसे वडी

है। अस्सी सहस्र पद्य-प्रमाण उनका वह ग्रंथ सरस गीतिकाओ में निवद्ध होने के साथ ही अद्वितीय भी है। आगमो की पद्य-टीका लिखने वाले सभवत. वे प्रथम आचार्य ही थे। आगम-टीकाओ मे उन्होने अनेक सैद्धांतिक प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करते हुए चिन्तन के नये क्षितिज खोले थे।[१]

एकान्त साधना

यों तो जयाचार्य का प्राय. समस्त जीवन ही श्रुतसाधना मे व्यतीत हुआ था, परन्तु उनके जीवन के पिछले वर्ष तो अत्यत उत्कटता के साथ स्वाध्याय तथा साहित्य-रचना में लगे थे। सघ की देखरेख का भार कुछ तो उन्होने सं० १९२० में ही मघवागणी को युवाचार्य-पद देकर सभला दिया था, पर शेप के वर्षो मे तो वे वहुलतया उससे मुक्त हो गये थे। उन वर्षो में वे प्राय: हर समय एकांत में अपनी साधना में निरत रहने लगे थे।

स्वाध्याय-निरत

उनकी साधना जहाँ आगम-अनुशीलन और साहित्य-रचना मे समृद्ध हुई थी; वहाँ उसमें स्वाध्याय का भी कोई कम सहयोग नहीं था। जैनागमों में स्वाध्याय के ये पांच भेद किये गये हैं—वाचना,पृच्छना, परिवर्त्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा। ये पांचो जयाचार्य के जीवन के अभिन्न अग वन चुके थे। उनके प्रतिदिन के जीवन-व्यवहार में इनका उपयोग अपरिहार्य था। यहाँ हमने केवल 'परिवर्त्तना' के अर्थ में ही 'स्वाध्याय' शब्द का प्रयोग किया है। मुखस्थ ज्ञान की अविस्मृति के लिए उसे वार-वार दुहराने को परिवर्त्तना कहा जाता है। प्रचलित भाषा में उसे 'चितारना' कहते हैं।

जयाचार्य अपने वाल्यकाल से ही स्वाध्याय मे रुचि रखने लगे थे। प्राप्त ज्ञान की सुरक्षा के लिए उससे वढकर और कोई उत्तम उपाय नहीं हो सकता। प्रत्येक शैक्ष के लिए यह प्रवृत्ति वहुत ही लाभदायक होती है। यद्यपि सीखा हुआ ज्ञान धीरे-धीरे उनके इतना आत्मसात् हो गया था कि उसे दुहराने की आवश्यकता ही नही रही थी फिर भी साधन-मार्ग में स्वाध्याय का अपना एक अलग महत्त्व भी होता है, अत वे उसे दुहराते रहते थे। उस दुहराने में अनेक वार उन्हें नये विचार और नये अर्थ भी प्राप्त हो जाया करते थे। 'जपतो नास्ति पातकम्' इतना ही नही किन्तु स्वाध्याय तो निर्जरा का हेतु वनकर पातक-विनाशी भी वनता है, अत जयाचार्य की यह क्रिया आजीवन चल रही थी।

रूई के फाहे

वे जव स्वाध्याय में बैठते थे तव अपनी एकाग्रता को किसी वाह्य वातावरण से भग न होने देने के लिए प्राय: ध्यानस्थ हो जाया करते थे और कभी-कभी कानो मे रुई के फाहे भी लगा लिया करते थे। स्वाध्याय का यह सतत् चालू प्रवाह जहाँ उनकी ज्ञानोपासना का एक अधारभूत अग था, वहाँ मन शुद्धि और फलत आत्म-शुद्धि का भी एक महत्वपूर्ण साधन था।

१—साहित्य विषयक विशेष विवरण द्वितीय भाग में देखिये।

स्वाध्याय के कुछ आँकड़े

उन्होंने अपने जीवन में कितना स्वाध्याय किया था - यह कहना तो कठिन है, पर कुछ अंतिम वर्षों के स्वाध्याय के आँकड़े 'जयसुजस' में मघवागणी ने सकलित किये है। वह सख्या वस्तुत: उनकी स्वाध्याय-शीलता की ओर ध्यान आकृष्ट किये विना नही रह सकती। स० १९३० से ३८ तक के आंकड़े इस प्रकार है

संवत्	गाथा-सख्या
१९३० (आसोज सुदी एकादशी से आषाढी पूर्णिमा तक)	४६२९००
१९३१	५७६७५८
१९३२	८११६००
१९३३	१९९४०००
१९३४	१३२०४००
१९३५	१३६१६५०
१९३६	१४३७९५०
१९३७	११२१०००
१९३८ (सावन सुदी एकम तक अर्थात् सोलह दिनो में)	८११९२

उपर्युक्त स्वाध्याय का क्रम वीदासर से चालू हुआ था और प्राय: शेष तक उसी प्रकार से चलता रहा था। शेषकाल में वैशाख के महीने में वे वीदासर पधारे थे, पर वहाँ शरीर में गड-बड़ हो जाने से अधिक समय तक उन्हें रुकना पडा था। यहाँ तक कि स० १९३० का चातुर्मास भी वही हुआ था। इस विमारी में उन्हें अन्न की अरुचि और अशक्ति का सामना करना पडा था। जब इस वीमारी का दौर कुछ हलका पडा, तभी से उन्होंने अपने स्वाध्याय का यह विशिष्ट क्रम चालू कर दिया था, जो कि उपर्युक्त तालिका में आसोज सुदी एकादशी से उल्लिखित किया गया है। तालिका में प्रत्येक वर्ष जैन काल-गणना की पद्धति के अनुसार ही आषाढी पूर्णिमा को समाप्त किया गया है। इस प्रकार यहाँ सात वर्ष नौ महीने और इक्कीस दिन करीब की स्वाध्याय के आँकड़े दिये गये है, जो कि सम्मिलित करने पर छियासी लाख सडसठ हजार चार सौ पचास होते हैं। वस्तुत: जयाचार्य का स्वाध्याय-निरत जीवन के निम्नोक्त पद्य को अपने में चरितार्थ कर दिखाने वाला था :

सज्झायसज्झाणरयस्स ताइणो, अपावभावस्स तवे रयस्स।
विसुज्झई जं सि मल पुरेकडं, समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥[1]

—अर्थात् स्वाध्याय और सद्ध्यान में रत रहने वाले साधु का पुराकृत कर्म-मल उसी प्रकार से नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार से कि अग्नि से चाँदी का मैल।

१—दशवैकालिक ८.६२

: ७ :

विविध जीवन-प्रसंग

जयाचार्य का जीवन वडा ही घटना-प्रधान रहा है। अनेक घटनाओ का उल्लेख पीछे विविध प्रसगों पर किया जा चुका है। फिर भी वहुत-सी घटनाएँ किसी विशेष विषय से सम्बन्धित न होने से अवशिष्ट रह गई है। वे फुटकल रुप में भी अपना महत्त्व रखती हैं। और उनके जीवन-चरित्र पर विशेष प्रकाश डालती है। यहाँ उनके जीवन-प्रसग की कुछ ऐसी ही घटनाओ का उल्लेख किया जायेगा।

गुरु-भक्ति

ऋषिराय मालव-यात्रा कर रहे थे। यह वात स० १८८३-८४ की है। उस यात्रा के अन्तर्गत वे 'झावुआ' की ओर पवारे। उस प्रदेश मे वहुत गहन जगल थे। कहावतों में अव तक भी 'झाडीवको झावुओ' प्रसिद्ध है। एक दिन वहाँ के वीहड जगल में से विहार करते समय ऋषिराय आगे-आगे चल रहे थे और उनके चरणों का अनुसरण करते हुए थोडे से पीछे ही जयाचार्य चल रहे थे। अचानक सामने की झाडियों में कुछ हलचल हुई और उधर सवका ध्यान जाए, इतने में तो एक भीमकाय भालू मार्ग पर आ खडा हुआ।

'आप ठहरिये, आगे मुझे आने दीजिए' जयाचार्य ने पीछे से कहा और उत्तर की प्रतीक्षा किये विना तत्काल लपक कर आगे आ गये। भालू ने मार्ग में खडे होकर एक क्षण के लिए उधर देखा और सम्भवत एक महान् पदयात्री के मार्ग में वाधक वनना अनुपयुक्त समझ कर दूसरी ओर की झाडियों में घुसकर अदृश्य हो गया। उपसर्ग का भय टलजाने पर ऋषिराय अपने शिष्य-वर्ग के साथ गन्तव्य की ओर आगे वढ़े।

क्या वाकी रहा है ?

जयाचार्य का आगम-ज्ञान वाल्यकाल से ही अत्यन्त प्रौढ था। आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कंध और पन्नवणा (दशम पद तक) को उन्होंने कठस्थ कर रखा था। अन्य आगमों के भी सैकडों स्फुट पाठ उनकों स्वत कंठस्थ हो गये थे। फिर भी उनकी इच्छा हुई कि भगवती सूत्र को कठस्थ किया जाये। अपनी भावना को उन्होंने ऋषिराय के सम्मुख रखा तो सहज ही उनके मुख से ये शब्द निकले कि भगवती का अधिकांश पाठ तो तुझे यों ही कठस्थ है, फिर सीखना क्या वाकी रहा है।

आचार्यदेव के उन शब्दों को जयाचार्य के श्रद्धालु मन ने माना कि वे इसे अनावश्यक समझते है। उसके वाद उन्होंने उस विचार को सदा के लिए हटा ही दिया।

कंठस्थ करना बंद

एक बार उन्होंने चद्र-प्रज्ञप्ति सूत्र को कठस्थ करना प्रारम्भ किया था। एक सुपरिचित स्थानकवासी साधु को जब यह पता लगा तो उन्होंने जयाचार्य के पास आकर कोई बात कही। उनके उस सुझाव-विशेष पर जयाचार्य ने उसे कठस्थ करना बन्द कर दिया।

सामुद्रिक का सन्देह

अग्रणी अवस्था में जयाचार्य दिल्ली पधारे थे। वहाँ एक दिन उनके पद-चिन्हों को देखता हुआ एक सामुद्रिक शास्त्रज्ञ ब्राह्मण उनके पास पहुँचा। उसने जमीन पर मेड़े हुए उनके पद-चिह्नो में जो रेखाएँ देखी थीं, वे सामुद्रिक शास्त्र के हिसाब से राज-चिन्ह की थीं। उसको समवत: यह सदेह हो गया था कि यह कोई राज-चिन्ह वाला व्यक्ति भी जब नंगे पैरों घूम रहा है, तब सामुद्रिक शास्त्र की सच्चाई में कैसे विश्वास किया जा सकता है ? पर उसे उस समय यह कौन बताता कि ये चिन्ह धर्म-सघ की सचालकता के सूचक भी हो सकते है।

बारह वर्ष तक भावना

कोटा में एक बहिन घर में स्वभावत निष्पन्न हुए अचित्त पानी को प्रतिदिन इसलिए अवेर कर रखा करती थी कि शायद कभी कोई साधु इधर से आजाएँ तो उसका व्रत निपज जाएँ। पास-पड़ौस के व्यक्ति तो उसके इस कार्य की मजाक किया करते ही थे, पर उसके परिवार के व्यक्ति भी उसके इस कार्य को एक सनक ही समझा करते थे। सबके ताने सहती हुई भी वह पानी को बड़ी सावधानी से रखा करती थी। जब सूर्य अस्त हो जाता था, तभी वह उसे किसी काम में बरत कर या योंही उठा दिया करती थी। उसकी यह भावना और साधना बारह वर्ष तक लगातार चलती रही, पर कभी ऐसा सुयोग नहीं मिला कि उसका व्रत निपज सके।

हेमराजजी स्वामी ने सं १८७० का चातुर्मास इन्द्रगढ में किया था। उससे पूर्व वे विहार करते हुए कोटा भी गये थे। जयाचार्य उस समय उनके साथ थे। उनकी दीक्षा का वह प्रथम वर्ष ही था। कोटा में वे सब सायंकाल में पहुँचे। बाल साधु जयाचार्य को बड़े जोर की प्यास लगी हुई थी। गवेपणा करने पर भी पानी नही मिला। अचानक उस बहिन ने साधुओं को देखा तो दौड़कर पास आई और वदन आदि के पश्चात् साधुओ को अपने घर ले गई। साधुओं को वहाँ अचित्त पानी प्राप्त हुआ। बाल साधु जयाचार्य उसे पीकर तृप्त हुए तो बहिन इतने वर्षों की भावना की पूर्ति होने पर तृप्त हुई। उसने बतलाया कि बारह वर्प के बाद जैसे आम फलने लगता है, उसी प्रकार मेरी भावना भी बारह वर्ष से आज फलीभूत हुई है।

विरागी या ढ़ोगी ?

तपस्वी सत गुलाबजी के एक बार कुछ शकाएँ हो गई थी, अत: वे गण से बाहर हो गये थे। ऋषिराय जब 'पुर' पधारे तब जयाचार्य भी उनके साथ ही थे। वे उस समय युवाचार्य थे फिर भी आचार्यदेव की आज्ञा लेकर उन्हें समझाने के लिये उनके स्थान पर गये। तपस्वी

गुलावजी ने वातचीत के सिलसिले में अनेक सतो के विपय में शिकायत करते हुए उन्हें वतलाया कि ये सारे ढोंगी हैं। ऊपर से त्याग और तपस्या की बातें करते है, पर अन्तरंग में विराग का लेश भी नही है। परतु मुझे अभी तक तुम्हारा कोई पता नहीं लग सका कि तुम विरागी हो या ढोंगी ?

जयाचार्य ने पहले उनकी सारी बातें शांतिपूर्वक सुन लीं और वाद में उनकी प्रत्येक बात का उत्तर देते हुए उन्हें समझा लिया। अंतत उन्हें ऋषिराय के चरणो में लाकर उपस्थित कर दिया। गुलावजी के लिये सभवतः वे जीवन भर अज्ञेय ही रहें होंगे।

यायावर

जयाचार्य के युवाकाल का काफी भाग यायावरता में व्यतीत हुआ था। वे प्राय· लवी-लवी यात्राएँ एक ही वर्प में कर लिया करते थे। एक वार तो वे आठ महीनों में लगभग सात सौ कोश (चौदह सौ मिल चले थे। उनकी यह लंवी पद-यात्रा स० १८८६ मार्गशीर्प वदी एकम के दिन दिल्ली से प्रारम्भ हुई थी। और ढूढाड, मारवाड, मेवाड, गुजरात सौराष्ट्र, तथा, कच्छ तक का दौरा करने के पश्चात् पुन· मारवाड के वालोतरा शहर मे आकर आपाढ के महीने में पूर्ण हुई थी। आठ महीने का कथन तो यात्रा के प्रारम्भ में और अत के समय को आधार मानकर किया गया है, अन्यथा वे वीच-वीच में अनेक शहरो या ग्रामों में लगातार कई-कई दिनतक ठहरे भी थे। उस यात्रा में वे जयपुर में अठारह और सिरियारी मे दश दिन ठहरे थे। इसी प्रकार और भी अनेक ग्रामो में पाँच-पाँच, चार-चार दिन ठहरते हुए ही आगे वढे थे।

'धक्कै जाओ'

'जसोल ' उस समय तेरापन्थ का वडा और इकरंगा क्षेत्र था। अग्रणी जयाचार्य गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ आदि का भ्रमण करते हुए अपनी सात सौ कोश की पदयात्रा की पूर्ति के अवसर पर वहाँ आये। निरंतर चलते रहने के कारण उनका वर्ण कुछ काला हो गया था। दुवले भी हो गये थे। जव वे वाजार में आकर खडे हुए तो किसी ने विशेप भावोद्रेक से, जैसा कि ऐसे अवसरो पर प्राय हुआ करता है, स्वागत नही किया। वदन आदि तो दूर, पर स्थान के लिये पूछने पर भी अनेकों ने तो 'धक्कै जाओ' अर्थात् आगे जाइये कहकर अपना कर्तव्य पूरा कर दिया।

जयाचार्य तथा उनके साथी सत लोगो के उस व्यवहार से वहुत चकित हुए। आखिर पारस्परिक पूछताछ के पश्चात् ही एक दूसरे को उस रहस्य का पता लगा। जव सवको यह पता लगा कि ये तो स्वय 'जीतमलजी स्वामी' है, तव सवने पास आकर वडी नम्रता के साथ क्षमा-याचना की और न पहचान सकने के लिए लज्जा का अनुभव किया। जयाचार्य ने भी सवको सा मयिक शिक्षा देकर उनके लज्जावनत मुखों को फिर से विकसित कर दिया।

व्यवहार से साधु

स० १९११ के रतलाम चातुर्मास में वभूतसिंहजी पटवा आदि कुछ मूर्ति-पूजक भाई चर्चा करने के लिये आये। वे अपने साथ एक ब्राह्मण को भी कुछ सिखा पढाकर लाये। उसने चर्चा करते हुए जयाचार्य को कही न कही अटका देने की भावना से पास में बैठे हुए एक साधु की ओर इशारा करके पूछा—"आप इन्हें क्या समझते हैं ?"

जयाचार्य उनकी भावना को तत्काल भांप गये, अत सीधा उत्तर नही देते हुए उसीसे प्रश्न किया कि किसी व्यक्ति से कोई पूछे कि उसके पिता का क्या नाम है ? तब उसे अपने पिता का नाम किस आधार पर बताना चाहिये ?

इस पर वह ब्राह्मण तो कुछ नहीं बोला, क्योकि उसे इस उत्तर के साथ ही अपने प्रश्न के समाप्त हो जाने की झलक दिखाई देने लगी, परतु नही बोलना भी साथ के व्यक्तियो को कुछ अपने पक्ष को हीन करने वाला लगा, अत पटवारीजी ने कहा—"मूलत. तो उसकी मां ही जानती है, पर व्यवहार से जिसका बेटा होता है, उसीका नाम बतलाया जाना चाहिए।"

जयाचार्य बोले—"बस इसी तरह मूलत. तो यह जैसा केवली स्वीकार करे वैसा है, पर व्यवहार से हम इसे साधु समझते हैं।"

तपस्या की अभिरुचि

जयाचार्य की अभिरुचि आगम-ज्ञान तथा साहित्य-रचना की ओर तो प्रारम्भ से थी ही, पर कभी-कभी वह तपस्या की ओर भी हुआ करती थी। साधारण उपवास आदि के अतिरिक्त भी उन्होंने कई बार तपस्या प्रारंभ की थी। स० १८८४ मे जव वे ऋषिराय के साथ मालवयात्रा में थे, तव पेटलावद-चातुर्मास में उन्होने आछ के आगार पर पन्द्रह दिन का तप किया था।

इसी प्रकार स० १८९१ में चैत्र सुदी एकम से उन्होंने एकान्तर तप प्रारभ किया था, जो कि सभवत काफी अर्से तक चलता रहा। परतु वह कव तक चला, इसका कोई निश्चित उल्लेख देखने में नही आया।

भक्ति की शक्ति

जयाचार्य ने भक्ति-परक अनेक स्तुतियो की रचना की थी। तीर्थङ्करो की स्तुति में उनकी लघु चौबीसी तथा बड़ी चौबीसी काफी प्रसिद्ध होने के साथ-साथ अनेक व्यक्तियो द्वारा कठस्थ भी की जाती रही है। उनके अतिरिक्त उन्होंने तेरापथ-सघ के आचार्यो तथा विशिष्ट साधुओं की स्तवनाएं भी की है। वे ऐसी भक्तिपरक स्तवनाओ में बहुत भारी शक्ति का अनुभव किया करते थे। उन्होंने अनेक वार ऐसे अवसरों पर गीतिकाएं बनाई थी, जब कि उनके सामने कोई विशेष समस्या उपस्थित हुई और उन्हें उस समय उसे पार करने के लिए विशेष आत्म-शक्ति की आवश्यकता अनुभूत हुई थी। स० १९१३ में उन्होने 'विघ्नहरण' की

ढाल वनाई थी। वह सिरियारी में वसत पचमी के दिन वनाई गई थी और आगामी चतुर्दशी के दिन कटालिया में 'विघ्नहरण' के रूप में उसकी स्थापना की गई थी। यह वात उस ढाल की अन्तिम गाथाओं से स्पष्ट होती है। श्रुतानुश्रुति से यह कहा जाता है कि उसकी रचना किसी स्थानीय सैनिक उपद्रव के अवसर पर की गई थी।

इसी प्रकार 'मुणिद मोरा' ढाल की रचना स० १९१४ के कार्तिक[1] शुक्ला दशमी को बीदासर में की गई थी। उसके लिए भी यह वात प्रसिद्ध है कि रात्रि के समय एक वार किसी अज्ञात देव-प्रकोप से जयाचार्य के अतिरिक्त सभी साधु मूर्च्छित हो गये थे और उस मकान में चारों ओर अग्नि प्रज्वलित होने का दृश्य दिखाई देने लगा था। जयाचार्य ने उस विकट समय में अपने को एकाग्र करके उस ढाल की रचना की थी। फलस्वरूप वह उपसर्ग शीघ्र ही शान्त हो गया था।

इसी प्रकार 'भिक्षु म्हारे प्रगढ्याजी' यह ढाल भी इसी कोटि की ढालों में से एक है। इसकी रचना स० १९२९ के वैशाख शुक्ला षष्ठी को वीदासर में की गई थी। इसके लिए प्रसिद्ध है कि प्रस्रवण वंद हो जाने की वेदना के अवसर पर उन्होंने इसे वनाया था। फलस्वरूप वह उपसर्ग भी शांत हो गया था।

पंच-व्यवस्था

संयम की साधना करने वाले व्यक्ति के मार्ग में स्खलनाओं के भी अनेक प्रसग आने संभव होते हैं। पर जव इन स्खलनाओ के परिमार्जन की भावना जागृत होती है, तव आत्म-विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त की याचना की जाती है। उस अवसर पर उन्हें आगमिक आधार पर प्रायश्चित्त देने की आवश्यकता होती है। उसमें किसी प्रकार की असावधानी या पक्षपात न होने पाये, अतः जयाचार्य ने पाँच सन्तो की एक परिषद् गठित करदी थी। वे पाँचों मिलकर स्खलना की महत्ता या लघुता के आधार पर चिन्तन करते और फिर उसके उपयुक्त प्रायश्चित्त की व्यवस्था करते थे।

यह पंच-व्यवस्था जयाचार्य ने अपने शासन-काल के प्रारंभिक वर्षों में ही करदी थी। स० १९११ में एक न्याय के अवसर पर मघवागणी को 'श्रीपच' वनाने की घटना का उल्लेख प्राप्त है। उससे यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि पच-व्यवस्था कम-से-कम उससे तो पहले ही स्थापित की जा चुकी थी। इसके अतिरिक्त उसके विषय में यह कहना कठिन है कि वह व्यवस्था कव से चली तथा कव तक चली और आखिर क्यों वद हो गई? यदि यह व्यवस्था सफलतापूर्वक चालू रहती तो संभव है आजतक विकसित होकर शासन-व्यवस्था से न्याय-व्यवस्था के स्वतत्र होने का एक प्रारंभिक उदाहरण वन जाती।

१—कई प्रतियों में इस ढाल की अन्तिम गाथा में सं० १९१५ फागण सुदी दशमी की तिथि मिलती है।

सभव है उस व्यवस्था के असफल होकर वन्द हो जाने में मघवागणी को 'श्रीपंच' वना देना ही कारण वना हो , मघवागणी उस समय केवल चौदह-पन्द्रह वर्ष के ही थे। पहले जो पच थे, वे उनसे दीक्षा-वृद्ध तो थे ही, साथ ही वयोवृद्ध तथा ज्ञान-वृद्ध भी थे। वे एक वाल-मुनि का इस प्रकार अपने ऊपर 'श्रीपच' वनना पसद नहीं कर सके हो तो कोई आश्चर्य नही। यह भी सभव हो सकता है कि जयाचार्य ने वाद में दड-व्यवस्था को अपने ही हाथ में रखना हितकर समझा हो। पूर्व स्थापित व्यवस्था को सीधे ही भग न करके प्रकारान्तर से भग कर दिया हो। मघवागणी को 'श्रीपच' वनाना शायद उस प्रकारान्तर का ही प्रथम चरण-न्यास रहा हो।

मर्यादा-निर्माण के नये प्रयोग

तेरापथ-सघ में यों तो आवश्यकतानुसार मर्यादा का निर्माण आचार्य ही करते हैं, परन्तु जयाचार्य ने कई वार उसके लिए नये प्रयोग भी किये थे। अकेले साधु को अकेली स्त्री से और अकेली साध्वी को अकेले पुरुष से वात नहीं करनी चाहिए। यह शास्त्रीय मर्यादा है, परतु तीसरा व्यक्ति अधिक से अधिक कितनी दूरी पर हो तो वात की जा सकती है, इस विषय में कोई स्पष्टीकरण नही था। स० १६११ में रतलाम में जयाचार्य ने इस विषय पर एक जैसी परपरा स्थापित करने के लिए पाँच सतो को वुलाकर पूछा कि तुम लोगो के विचार से तीसरा व्यक्ति अधिक से अधिक कितनी दूरी पर होना चाहिए ?

पांचों सतों ने स्वतत्ररूप से अपने-अपने चिन्तन के आधार पर वह प्रमाण वतलाया। उनमें से दो सतो ने सात हाथ, दो ने नौ हाथ और एक ने पाँच हाथ की सीमा अधिक से अधिक वतलाई। जयाचार्य ने इन सवको मिलाकर पाँच भागों में विभक्त कर दिया। इस प्रकार मध्यम प्रमाण निकालने पर सात हाथ से कुछ अधिक रहा, तव अधिक से अधिक सात हाथ की दूरी में तीसरे व्यक्ति के होने की मर्यादा वनाई। साथ में यह स्पष्टीकरण भी जोड दिया कि तीसरा व्यक्ति अध, वधिर, मूक तथा नौ वर्ष से कम अवस्था का हो तो उसे कल्प में नही गिनना चाहिए। इस प्रकार और भी अनेक मर्यादाओ के विषय में उन्होंने ऐसे तथा इससे मिलते-जुलते विभिन्न प्रयोग किये थे।

पालीवासियों को दण्ड

जयाचार्य मालव की यात्रा करने के पश्चात् मेवाड में पधार गये थे। वहाँ पाली के श्रावक दर्शन करने के लिए आये और उन्होने वहाँ साधुओ के चातुर्मास की प्रार्थना की। चातुर्मास के लिए साधुओ और साध्वियो मे किया गया यह भेद जयाचार्य को उचित नही लगा। उन्होंने प्रकारान्तर से इस वात को कुछ समझाया भी, पर वे उनके सकेत को स्पष्ट नहीं समझ पाये, अत वार-वार उसी वात पर जोर देते रहे। जयाचार्य ने इस भेद-वृत्ति को मिटाने के लिए उन्हें सतो का तो क्या, सतियो का भी चातुर्मास नही दिया। श्रावक-वर्ग

वहाँ कुछ दिन सेवा में रहकर वापिस पाली में आ गया और आशा लगाये रहा कि किसी न किसी का चातुर्मास तो करायेंगे ही। पाली जैसे प्रमुख क्षेत्र के खाली रहने की तो आशंका ही नहीं की जा सकती थी।

जयाचार्य ने सब सिंघाड़ों के लिए चातुर्मास-क्षेत्र निश्चित कर दिये थे। उनमें पाली का नाम नहीं था। आषाढ़ पूर्णिमा नजदीक आ रही थी, अत. श्रावकों को बड़ी चिंता हुई कि यह कार्य कैसे और क्यों हुआ? अब इतना समय भी अवशिष्ट नहीं था कि जयाचार्य के दर्शन करके चातुर्मास प्राप्त किया जा सके। उन्होंने मिलकर एक युक्ति सोची और पाली से लगभग दस मील पर स्थित 'खेरवा' ग्राम के श्रावकों के पास एक पत्र लिखकर 'सेवग' के हाथों आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को वहाँ भेजा। उसमें समाचार थे कि जयाचार्य ने खेरवा चातुर्मास करने वाली सतियों को पाली चातुर्मास करने की आज्ञा दी है, अत उन्हें पाली आकर पाक्षिक प्रतिक्रमण करने की प्रार्थना करें।

इस समाचार से किसी को कोई आशंका नहीं हुई, क्योंकि उस समय पाली इतना प्रमुख क्षेत्र था कि उसका खाली रहना ही आश्चर्यजनक हो सकता था। साध्वियाँ आषाढ़ पूर्णिमा के दिन वहाँ पहुँच गईं। सायंकाल में पाक्षिक प्रतिक्रमण संपन्न हो जाने के पश्चात् वहाँ के श्रावक-वर्ग ने 'खमत खामणा' करते हुए साध्वियों के सामने सारी घटना निवेदित कर दी। उन्होंने बतलाया कि जयाचार्य की यहाँ चातुर्मास करने सम्बन्धी कोई आज्ञा नहीं थी, किन्तु क्षेत्र खाली देखकर हम से रहा नहीं गया, अत हमने वह गलत पत्र खेरवा के श्रावकों को भेज दिया था। इस गलती के लिए हम सब आपके सामने क्षमाप्रार्थी हैं।

साध्वियों को यह बात बहुत अखरी। आचार्य की आज्ञा के नाम पर उनके साथ धोखा किया गया था और वह भी अपने ही श्रावकों के द्वारा। उन्होंने दूसरे ही दिन से व्याख्यान देना तथा श्रावकों के घरों में गोचरी जाना बंद कर दिया। वे दूसरे घरों से आहार पानी ले आतीं और दिन भर अपना स्वाध्याय-ध्यान करने में लगी रहतीं। श्रावक-वर्ग अपने किये पर पछताया भी, पर अब क्या हो सकता था? सब ने मिलकर साध्वियों से गोचरी आदि के लिए बहुत निवेदन किया, पर उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। आखिर में श्राविकाओं ने कहा कि जो कुछ किया गया है उसमें हम बहनों का कौनसा दोष है कि आप उनके साथ हमें भी दंड दे रही हैं? आपकी इच्छा न हो तो भाइयों का व्रत मत निपजाइये, उनके हाथ से कुछ मत लीजिये, पर हमें इस लाभ से वंचित किया जाना तो किसी भी प्रकार से न्याय-संगत नहीं हो सकता। उनके अतीव निवेदन पर अतत. गोचरी प्रारंभ कर दी गई। कुछ दिन बाद व्याख्यान भी प्रारंभ कर दिया गया।

इधर का कार्य जब ठीक ढाँचे पर बैठ गया, तब वहाँ के कुछ प्रमुख भाई उदयपुर में जयाचार्य के दर्शन करने के लिए गये और प्रातःकालीन व्याख्यान में खड़े होकर सारी घटना-

वली यथाक्रम से सुना देने के पश्चात् उन्होंने प्रार्थना करते हुए कहा—"प्रभो ! हम आपकी आज्ञा के चोर हैं, अत: आपकी जो इच्छा हो वह दण्ड हमें दें।"

जयाचार्य उनके उस कार्य से बडे खिन्न हुए। उन्होंने पाली के श्रावकों से इस प्रकार आज्ञातिक्रमण की आशा नहीं की थी। उन्होने भरी सभा में ही उन्हें काफी उपालभ दिया, पर वे तो उस सबके लिये तैयार होकर ही आये थे। अत· वडी नम्रता के साथ यही एक वात दुहराते रहे कि हम दोषी हैं, अत· आप जितना भी उपालभ या दड दें, उस सबके अधिकारी हैं।

जयाचार्य कई दिनो तक उन्हें परखते रहे, पर उनकी नम्रता घटने के स्थान पर बढती ही गई। आखिर गुरुदेव को उनकी उस वृत्ति पर पिघलना ही पडा। वे पिघले और ऐसे पिघले कि उपालभ लेने के लिए आये हुए पाली-वासियो का सीना क्षण भर में गज भर का हो गया। उन्होंने प्रात: कालीन व्याख्यान में उनकी नम्रता की प्रशसा की और पूर्व याचित साधुओ के चातुर्मास की इच्छा पूर्ति करने के स्थान पर आगामी वर्ष का (स० १९१३ का) अपना चातुर्मास ही वहाँ फरमा दिया। आज्ञा उल्लघन पर पाली-वासियो को मिलने वाला वह दड वस्तुत विचित्र ही था।

'धीगों' के महाराज

जयाचार्य लाडणू में विराजमान थे। वहाँ के सरावगी उस समय तेरापन्थी ही थे। उनमें से एक वृद्धा श्राविका ने जयाचार्य से प्रार्थना की कि इस समय मेरे घर पर भोज के पश्चात् वची हुई मिठाई का काफी योग है, अत मुझे पात्र-दान का कुछ विशेष लाभ प्रदान करने की कृपा करें। जयाचार्य ने वृद्धा की उत्कट भावना देखकर एक प्रकार से उसे आश्वासन देते हुए फरमाया कि ठीक है, अवसर आने पर व्रत निपजाने का विचार है।

दूसरे दिन प्रात· काल जयाचार्य जव स्थडिल के लिये वाहर पधारे, तव वहाँ उन्हें वहुत अच्छे शकुन हुए। वे वडे शकुनज्ञ थे, अत· अच्छा अवसर देखकर उन्होने वहाँ से ही सुजानगढ के लिये विहार कर दिया। एक दो सतो को साथ रखकर वाकी के सतो को भडोवगरण ले आने के लिये ग्राम में वापिस भेज दिया। वृद्धा श्राविका को दिया गया आश्वासन उस समय उनकी स्मृति से सर्वथा ओझल हो गया था। साधुओ को भंडोवगरण एकत्रित करके झोलके में घालते देखकर और पोथियों के नागले कसते देखकर जव श्रावको ने उनसे पूछा तव पता लगा कि जयाचार्य तो वहाँ से विहार ही कर गये हैं।

वह वात सवसे अधिक उस वृद्धा को अखरी। उसकी आँखें डव डवा आईं। अपने आराध्य के द्वारा उसकी यों की गई उपेक्षा उसके लिए असह्य हो गई। वह अपने आप को रोकना चाहते हुए भी रोक न सकी और संतों के सामने उपालभ भरे लहजे में जयाचार्य के लिए वोली "सव कोई उन्हें 'गरीव निवाज' कहते हैं, पर मुझे लगता है कि वे गरीवो के नही 'धीगों' के महाराज हैं। बड़े आदमी जो प्रार्थना करते है, वह तत्काल पूर्ण हो जाती है, पर मेरे जैसे गरीब

की प्रार्थना उनके नजर में नही आती।" वृद्धा काफी कुछ कह गई। याचना की पूर्ति के आश्वासन पर भी निराशा मिलने पर उसकी भक्ति का वेग उपालम्भ के रूप में फूट निकला।

सत जब विहार करके सुजानगढ पहुँचे तो उन्होने जयाचार्य के पास वृद्धा के उपालम्भ का जिक्र करते हुए कहा—"उसके मन में काफी दुख हुआ है।" वृद्धा की प्रार्थना का स्मरण होते ही स्वय जयाचार्य के मन पर भी अपनी विस्मृति के प्रति ग्लानि के भाव उभर आये। वे तत्काल रजोहरण उठाकर खड़े हो गये और सतो से बोले—"वृद्धा की बात ध्यान से उतर गई थी, पर अब पुन: जाकर उसका व्रत निपजाना आवश्यक है।"

युवाचार्य मघवागणी पास में ही खडे थे। उन्होंने जयाचार्य को विराजने की प्रार्थना करते हुए कहा—"आप यही विराजे। वृद्धा का व्रत निपजाने के लिये लाडणू जाने की मुझे आज्ञा दें।"

जयाचार्य ने तब मघवागणी को भेजकर वृद्धा की भावना की पूर्ति की। उनकी उस दयालुता ने वृद्धा के हृदय को भक्ति-रस से आप्लावित कर दिया। जयाचार्य के लिये प्रयुक्त किये गये अपने शब्दों का तो उसे पश्चात्ताप हुआ ही होगा, पर साथ ही युवाचार्य मघवागणी को वहाँ आने का कष्ट उठाना पडा, इस पर भी वह लज्जित थी। इतने पर भी मन में तो वह परम सतुष्ट ही हुई थी।

आठ आने की अवल

तपस्वी सत उदयरामजी ने लाडणूं में अनशन किया था। उस समय जयाचार्य बीदासर में विराजमान थे। तपस्वी अपने अंतिम समय में गुरुदेव के दर्शनों की अभिलाषा रखते थे। जयाचार्य ने उनकी उस अभिलाषा की पूर्ति के लिये लाडणूं पधारने की तिथि घोषित कर दी। बीदासर के भाइयों ने वे शुभ समाचार लाडणू के श्रावकों तक पहुँचा दिये। आचार्यदेव जिस दिन पधारने वाले थे उस दिन लोग सामने गये। किन्तु बीदासर से लाडणू आने के मार्ग कई है। अत. यह किसी को भी पता नही था कि जयाचार्य कौन से मार्ग से आयेंगे। जिसके अनुमान में जो मार्ग ठीक जचा, वह उसी मार्ग से सामने चला गया। कई सुजानगढ की ओर, कई चाडवास की ओर तथा कई गोपालपुर की ओर सामने गये।

जयाचार्य गोपालपुर के मार्ग से पधारे थे, अत· उस मार्ग से सामने जाने वाले व्यक्ति ही दर्शन तथा सेवा का लाभ उठा सके। शेप दो मार्गों से जाने वाले व्यक्ति तो बहुत देर तक प्रतीक्षा करने के बाद निराश होकर ही लौटे। उनमें से अनेक व्यक्ति सामने जाने की दूरी तथा प्रतीक्षा करने का समय बतला-बतला कर अपनी राम-कहानी सुनाने लगे। सब की बातें प्राय: एक जैसी ही थी, फिर भी सुनाने वालो की उत्सुकता एक दूसरे से बढ चढकर ही दिखाई दे रही थी।

जयाचार्य ने सबकी बाते सुन लेने के पश्चात् फरमाया —"क्या तुम लोगों में आठ आने की भी अक्ल नही थी ? यहाँ से बीदासर तक कासीद या ऊट भेजने में आठ आने से अधिक व्यय

तो नहीं होता होगा, फिर भी यदि कोई उचित साधनों का उपयोग न करके इधर-उधर भटकता रहे तो उसका कोई क्या करे ?"

जयाचार्य की उस सामयिक झिड़की पर अवश्य ही वहाँ के मुखियो ने लज्जा का अनुभव किया होगा, क्योकि वे मुखिया कहलाकर भी समाज के व्यक्तियो के लिये यह एक साधारण-सी सुविधा भी नही कर पाये थे। वस्तुत: उस आठ आने की अक्ल की व्यवस्था के अभाव में ही उस समय सैकड़ो व्यक्तियों के समय और श्रम के व्यय से कोई सुफल-निष्पत्ति नही हो पाई थी।

चित्तौड़ का चातुर्मास

चित्तौड़ में उस समय श्रद्धा के दो ही घर थे। बाकी के लोग काफी द्वेष किया करते थे। एक बार जयाचार्य ने सतियो से पूछा कि चित्तौड में चातुर्मास करने के लिये कौन-कौन तैयार हैं ? सब में एक प्रकार का सन्नाटा-सा छा गया। चित्तौड की स्थिति किसी से अज्ञात नहीं थी। साध्वियों के किसी छोटे से छोटे सिंघाडे के लिए भी चार महीने तक लगातार वहाँ निवास कर पाना सहज नहीं था। कोई वहाँ की तैयारी करे तो किस आधार पर करे ?

जयाचार्य ने कुछ क्षण ठहर कर अपने प्रश्न को दुहराया और जिज्ञासा-भरी दृष्टि से इधर उधर देखा तो साध्वी दीपांजी ने खडे होकर प्रार्थना की कि प्रभो ! मुझे आज्ञा दीजिये, मैं वहाँ चातुर्मास करने के लिये तैयार हूं।

उपस्थित साध्वियाँ तो उनके उस साहस पर चकित थीं ही, पर स्वय जयाचार्य ने भी उन्हें इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करने लिए सावधान कर देना आवश्यक समझा। उन्होंने फरमाया—"वहाँ श्रद्धा के केवल दो ही घर हैं और तुम्हारे सिंघाडे में तुम बारह साध्वियाँ हो। ऐसी स्थिति में अन्य सब विषयो को छोडकर केवल आहार-पानी की व्यवस्था के विषय में ही यदि सोचें तो वहाँ की स्थिति अनुकूल नही जान पडती, फिर तुम इतनी साध्वियो के साथ वहाँ चातुर्मास कैसे कर सकोगी ?"

दीपांजी ने नम्रता से झुककर कहा—"आपने प्रथम वार फरमाया था तभी मैंने अपने साथ की साध्वियों से परामर्श कर लिया था। मेरे साथ की चार साध्वियाँ चातुर्मासिक तप और चार साध्वियाँ द्वैमासिक तप करने को तैयार हैं। अवशिष्ट चार साध्वियों में से दो एक दिन और दो दूसरे दिन—यों टेढे रूप से एकांतर तप कर लेंगी, अत: भाद्रपद तक तो केवल दो साध्वियों के लिये ही प्रतिदिन आहार की आवश्यकता होगी, जिसकी कि आपकी कृपा से कोई कमी रहने की संभावना नहीं है, क्योंकि दोनों ही घर काफी बडे परिवार वाले तथा सम्पन्न हैं। दो महीने के बाद जब दो साध्वियों के द्वैमासिक तप का पारण हो जाएगा, तब तक वर्षा समाप्त होने से बाहर के मार्ग भी खुल जाएगे, अत. आस-पास के दूसरे ग्रामों की गोचरी भी कर सकेंगी।

जयाचार्य ने दीपांजी के उस साहस का मानसिक संतोष के साथ स्वागत किया और सम्भवतः यह अनुभव भी किया कि ऐसे साहसी व्यक्ति ही तेरापथ को आगे बढाने में अपने सर्वस्व की आहुति प्रदान कर सकते है। उनका वह चातुर्मास उन्होंने वहाँ कराया नहीं, वे तो केवल उस समय उन सबके साहस को तोलना ही चाहते थे।

उत्तराधिकारी कौन ?

किसी भी महान् व्यक्ति के महत्त्वपूर्ण कार्यो को देखते समय प्राय. हर किसी के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हो ही जाया करती है कि इनके बाद इस कार्य-भार को सभालने वाला कौन होगा ? अनेक व्यक्ति एतद्-विषयक स्वतत्र कल्पनाएँ भी करने लगते है तथा अनेक स्वय उस महापुरुष से पूछ लेने का भी साहस कर लेते है। जयाचार्य द्वारा सघ की जो सुव्यवस्था स्थापित की गई थी, उसके विषय में भी जनता को यह जिज्ञासा होने लगी थी कि इनके बाद इस व्यवस्था को कौन चलायेगा ?

कुछ व्यक्ति इस विषय में स्वयं जयाचार्य को पूछ भी लिया करते थे। जयाचार्य तब उन्हें प्राय: सक्षेप में उत्तर देते हुए कहा करते थे—'छोग हरख मघराज' इस कथन से उनका तात्पर्य हुआ करता था कि इन तीनो व्यक्तियो में से किसी एक को मैं अपना भार सौंपना चाहूँगा। यह उत्तर उनका प्रारंभिक समय का ही था। बाद में तो उन तीनों में से उन्होंने एक मघवागणी को ही इसके लिये चुन लिया था।

थाप-उत्थाप

जयाचार्य ने पूरी छान बीन तथा विचार-विमर्श के बाद यह निर्णय घोषित किया था कि राख से वर्णादि फिर जाने के पश्चात् पानी अचित्त हो जाता है। एक दिन एक साधु ने आकर बात ही बात में जयाचार्य से निवेदन किया कि राख से पानी अचित होने में तो शका है।

जयाचार्य ने पूछा –"तुम्हें ही यह शंका है या और किसी को भी ?"

साधु ने कहा—"मुझे ही क्या है, यह शका तो आप के थाप-उत्थाप वालों के भी है ?"

जयाचार्य ने तत्काल ही अपने पास में बैठे हुए मघवागणी को सबोधित करते हुए कहा—"क्यों मघजी ! राख से पानी के अचित्त होने में तुम्हें कोई शका है ?"

मघवागणी ने तत्काल हाथ जोड़ कर खडे होते हुए कहा—"नहीं महाराज ! मेरे मन में तो इस प्रकार की कोई शका नही है।"

उस साधु ने तब अपनी बात को अधिक स्पष्ट करने के निमित्त कहा—"मेरा आशय मघराजजी महाराज के लिए नही, किन्तु छोगजी महाराज के लिए था। उनको यह शका है।"

जयाचार्य ने कहा—"छोगजी की हमारे कोई थाप-उत्थाप नहीं है। मघजी को शंका हो तो मैं इसे आज ही छोड़ने का विचार कर सकता हूँ।"

पवन की लहर

उदयपुर के महाराणा-परिवार से भारमलजी स्वामी के समय से तेरापथ का सपर्क हुआ था। पहले-पहल महाराणा भीमसिंहजी से (उनका राज्यकाल वि० स० १८३४ से १८८५ तक का था) यह क्रम चालू हुआ था, जो कि प्राय बराबर ही चलता रहा। तेरापथी साधुओ से महाराणा भीमसिह का प्रथम सपर्क स० १८७६ में हेमराजजी स्वामी से हुआ था। द्वितीय सम्पर्क स० १८८२ में जयाचार्य से हुआ था। वे उसी वर्ष अग्रणी रूप में अपना प्रथम चातुर्मास करने के लिए उदयपुर गये थे। महाराणा भीमसिंह सत्सग के निमित्त तथा विशेष जिज्ञासाओ के समाधान के निमित्त वहाँ अनेक वार आया करते थे।

महाराणा जुलूस के रूप में सवारी लेकर शहर में घूमने के बडे शौकीन थे, अत: आये दिन उनकी शोभा-यात्रा निकला करती थी। वे जब अपने लवाज-सहित बाजार में से गुजरते, तब सतों का स्थान भी मार्ग में ही आ जाता था। जब-जब वे उस मार्ग से गुजरते थे, तब-तब संतो को नमस्कार करके प्राय कहा करते थे—"भला पधार्‌या, भला पधार्‌या।" एक वार वे शायद किसी राजकीय चिंता से घिरे हुए थे, अत. शांति के लिए काफी देर तक जयाचार्य के पास बैठकर धर्म-चर्चा करते रहे। सतों की आध्यात्मिक सपत्ति की सराहना करते हुए उन्होंने उस दिन अपनी भौतिक-संपत्ति को 'पवन की लहर' बतलाते हुए उसके प्रति अपनी उदासीन-भावना व्यक्त की थी। जयाचार्य ने भी उन्हें समयानुकूल आध्यात्मिक उपदेश के द्वारा तृप्ति प्रदान की थी।

दर्शन के लिए

महाराणा भीमसिंह का धर्मानुराग इतना हो गया था कि वे किसी आस-पास के मार्ग से गुजरते तो भी सतों के दर्शन करने को उधर आ जाया करते थे। एक वार कार्यवश उनका बहुत दिनों से सवारी लेकर बाजार में आना हुआ था। मार्ग सूर्यपोल का निश्चित हुआ था, जो कि सतों के स्थान से थोडा दूर पडता था। जुलूस जब सूर्यपोल के पास आ गया, तब उसे वही ठहरा कर स्वय घोडे पर चढकर थोडे से आदमियो के साथ सतों के स्थान पर आये और जयाचार्य के दर्शन कर वापिस गये। जुलूस उसके बाद ही गतव्य की ओर आगे बढ सका। युवराज जवानसिंहजी पहले तो इस सपर्क तथा वातचीत में कम ही रुचि रखा करते थे, पर दूसरी तीसरी बार के संपर्क में वे भी रुचिपूर्वक भाग लेने लगे थे।

जब आयें तभी आज्ञा है

आचार्य-अवस्था में जयाचार्य ने स० १९१२ का चातुर्मास उदयपुर में किया था। उस अवसर में महाराणा सरूपसिंहजी वहाँ के शासक थे। जयाचार्य के प्रति उनकी श्रद्धा काफी गहरी थी। श्रावक मोखजी खीविसरा के ससर्ग से उनका धर्मानुराग और भी गहरा हो गया था। अनेक वार वे मोखजी के माध्यम से जयाचार्य को प्रश्न भी पूछते रहा करते थे।

उस चातुर्मास की समाप्ति पर ग्राम-बाहर एक रात्रि रहने के लिए दरबार का हाथी लड़ाने का दीवानखाना ठीक समझा गया, अतः मोखजी ने उसकी आज्ञा लेने के लिए जब महाराणा के सम्मुख यह बात चलाई तो उन्होंने कहा—"महीने रहें तो भी मेरी आज्ञा है, जब कभी आयें तभी आज्ञा है।" इस पर जयाचार्य वहाँ एक रात्रि विराजे।

मेरा प्रणाम कहना

चातुर्मास समाप्त करके जयाचार्य ने जब उदयपुर से विहार किया तब उसी दिन महाराणा ने मोखजी को बुलाकर कहा—"तुम वहाँ जाओ और मेरी ओर से संतों को दण्डवत् प्रणाम निवेदित करो। साथ ही यह प्रार्थना भी करना कि आप लोगों की कृपा से ही हम सबका भला है, अतः हम लोगों पर कृपाभाव बनाये रखें। उदयपुर में शीघ्र ही वापिस पधारने के लिए भी मेरी ओर से कह देना।

मोखजी ने महाराणा की कही हुई सारी बातें जयाचार्य से निवेदित कीं। जयाचार्य ने सारी बातें सुनीं और महाराणा के धर्मानुराग पर प्रसन्नता प्रकट की।

उदयपुर ने कौन सी चोरी की है ?

जयाचार्य उदयपुर-चातुर्मास के बाद विहार करके पहूना, पुर, मोखणूंदा आदि क्षेत्रों में विचरे और कुछ ही समय पश्चात् नाथद्वारा होते हुए गोगूंदा पधार गये। उस समय श्रावक मोखजी उदयपुर से दर्शन करने के निमित्त गोगूंदा आये। महाराणा सरूपसिंहजी ने उनके द्वारा जयाचार्य को उदयपुर आने के लिए फिर प्रार्थना करवाई।

मोखजी ने जयाचार्य के सामने महाराणा के शब्द रखते हुए कहा—"महाराणा ने कहा है कि आप जब गोगूंदा तक पधार गये है तो फिर उदयपुर ने कौन-सी चोरी की है ?"

जयाचार्य ने उन सब बातों को बड़े ध्यान से सुना और मुस्कराकर रह गये। इतना जल्दी फिर उदयपुर जाना, उनके मन को संभवतः जचा नहीं। वे वहाँ से विहार करते हुए मारवाड़ की ओर पधार गये।

गुरुदर्शन को आये है

जयाचार्य ने अपने दो अंतिम चातुर्मास (सं १९३७-३८) जयपुर में किये थे। वहाँ उनके पास जयपुर-नरेश रामसिंहजी बहुत बार आया करते थे। वे बहुधा रात को वेष बदलकर शहर में घूमा करते थे, तब एकांत के समय उधर भी आ जाया करते थे। एक बार लाला भैरूलालजी के नौकर को थोडा संदेह हुआ। उसने लालाजी से वह बात कही। दूसरी बार जब वे आये तो लालाजी द्वार पर भेंट लेकर खड़े हो गये और वापिस आने की प्रतीक्षा करने लगे। महाराजा रामसिंहजी दर्शन तथा बातचीत कर जब लौटने लगे, तब लालाजी ने भेंट सम्मुख उपस्थित की।

महाराजा रामसिंहजी ने कहा—"यहाँ भेंट कैसी ? यहाँ तो हम गुरु-दर्शन को आये है। दिन में कई बातो का विचार करना पडता है ; इसलिये रात में आ जाते है।" यह कहकर उन्होने भेंट लेना अस्वीकार कर दिया और आगे बढ गये।

सात पारण

स० १६१२ के चातुर्मास के पश्चात् जयाचार्य थोडे से समय के लिए मेवाड में विचरे थे और फिर मारवाड में पधार गये थे। शीतकाल के उस थोड़े से समय में उन्होने चार ग्रामो में सात साधु-साध्वियों को अपने हाथ से पारण कराया था। उन सबके आछ के आगार पर तपस्या चालू थी। कुछ को छह महीने और कुछ को उससे भी ऊपर दिन हो गये थे। उन सातों तपस्वी व्यक्तियो की तपस्या और पारण-स्थान का विवरण इस प्रकार है :

नाम	तपस्या	पारण-स्थान
१. साध्वी श्री रभाजी	६ महीना	पहूना
२ साध्वी श्री हस्तूजी	६ महीना १३ दिन	पुर
३. साध्वी श्री ज्ञानांजी	६ महीना	पुर
४. साध्वी श्री जेतांजी	६ महीना	पुर
५. मुनि श्री मोटजी	६ महीना	मोखणूदा
६ मुनि श्री खूमजी	६ महीना १३ दिन	मोखणूदा
७. मुनि श्री अनूपजी	७ महीना ८ दिन	नाथद्वारा

कपड़ा और गुरु-धारणा

सवत् १९२८ मे जयाचार्य का चातुर्मास जयपुर में था। वहाँ के सेठ अनंतरामजी दीवान अच्छे प्रसिद्ध तथा धनाढ्य व्यक्तियों में से थे। उनके सबसे बडे पौत्र की जलाशय में डूब जाने के कारण अचानक मृत्यु हो गई। सेठ उससे बडे दुखी तथा चिन्तित रहने लगे। ऐसे अवसर पर मनुष्य का झुकाव धर्म की ओर सहज ही हो जाया करता है। उन्होने जयाचार्य की प्रशसा की बातें तो पहले भी बहुत सुन रखी थी, पर उनसे संपर्क स्थापित करके सत्संङ्गति का लाभ उठाने की भावना उनके मनमें उसी अवसर पर उत्पन्न हुई। उन्होंने दर्शन देने की प्रार्थना करने के लिए जयाचार्य के पास अपना व्यक्ति भेजा और कहलवाया कि हमारे शोक-सतप्त परिवार के लिए आपका उपदेश एक बहुत बडा सहारा होगा, अत. एक बार अवश्य दर्शन देकर कृतार्थ करें।

जयाचार्य वहाँ पधारे और उन्हें सत्सग का लाभ प्रदान किया। सारा ही परिवार जयाचार्य की बातों से बडा प्रभावित हुआ। उसके पश्चात् भी जयाचार्य ने उनको अनेक बार दर्शन तथा सेवा का लाभ प्रदान किया। उनके उपदेश तथा तत्त्व-चर्चा से प्रभावित होकर वह परिवार शीघ्र ही सुलभ-बोधि बन गया। सेठ ने जयाचार्य को अपनी हवेली में

कुछ दिन ठहरने के लिये प्रार्थना की, पर चातुर्मास की समाप्ति होने से वहाँ रहने का कल्प नहीं था, अतः वह स्वीकृत नहीं हो सकी।

जब उन्हें साधुओं के निवास-संबंधी तथा आहार, पानी, वस्त्र, उपधि आदि सम्बन्धी कल्प-अकल्प का ज्ञान कराया गया, तब उन्होंने जयाचार्य से प्रार्थना की कि चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् एक महीने तो आप घाट पर हमारे बाग में विराजें और एक महीने कहीं अन्यत्र विराजकर फिर हमारे यहाँ हवेली में विराजने की कृपा करें। जयाचार्य ने उनकी उस प्रार्थना पर ध्यान दिया और एक महीने घाट पर तथा एक महीने लूणियांजी के बाग में रह कर माघ के महीने में फिर शहर में पधारे। उस समय सेठ अनंतराम की नई हवेली में विराजना हुआ। साध्वियाँ उनकी पुरानी हवेली में रहीं।

कुछ दिन विराजने के पश्चात् जब जयाचार्य ने विहार करने का विचार व्यक्त किया तब सेठ ने कहा "एक महीने से पहले तो जाने नहीं दूंगा।" जयाचार्य का इतना ठहरने का विचार नहीं था क्योंकि चातुर्मास के पश्चात् साधु-साध्वियों की संख्या भी काफी बढ़ गई थी तथा वहाँ से स्थंडिल-भूमि और गोचरी के घर भी काफी दूर पड़ते थे। काफी आग्रह करने पर भी जब जयाचार्य ने उनकी बात नहीं मानी, तब उन्होंने अपनी पगड़ी उतार कर पैरों में रख दी और स्वयं पैरों में गिर पड़कर रोने लग गये। जयाचार्य ने उनके इस अत्यन्त आग्रह को देखकर यह गाथा फरमाई :

> श्रावक घणांइज देखिया, पिण एहवो हठ नैं मोड़।
> किहाँ ही देख्यो नहीं, देख्यो इणहिज ठोड़॥[1]

आखिर सेठ के आग्रह और आंसुओं ने जयाचार्य को वहीं रुकने के लिए बाध्य कर दिया। मर्यादा-महोत्सव तो वहाँ मनाया ही गया, सारा माघ का महीना भी वहीं बिताना पड़ा। उसके पश्चात् जब फाल्गुन कृष्णा एकम को विहार होने वाला था तब सेठ अपने लड़कों तथा बहुओं आदि को लेकर जयाचार्य के पास आया और सबको गुरु-धारणा करवाई।

उस अवसर पर किसी साधु ने कहा कि तुमने स्वयं तो अभी तक गुरु-धारणा की ही नहीं है ?

सेठ ने कहा—"मेरे तो गुरु के भी गुरु ये ही हैं, अब मैं और क्या गुरु-धारणा लूं ?"

संतों ने कहा—"यह तो ठीक, पर मोहर चाहे कितनी भी अच्छी क्यों न हो, छाप लगने से पहले रुपया नहीं बन सकती।"

इस पर सेठ ने कहा—"अच्छी बात है, आप मुहर छाप लगा दीजिये, पर मेरी एक शर्त है कि पहले आप मेरे पास जो बहुत सारा कपड़ा पड़ा है, उसमें से प्रत्येक साधु-साध्वी के लिए तीन-तीन पछेवड़ी ले लीजिए।"

१—आषाढ़भूत रो बखाण

जयाचार्य ने सेठ को समझाया कि इतने कपड़े की तो आवश्यकता नहीं है, पर तुम्हारी भावना की पूर्ति के लिए थोडा लिया जा सकता है। आखिर अत्यत आग्रह और आवश्यकता का सामञ्जस्य बिठाते हुए आचार्यदेव ने उनके यहाँ से कुछ कपडा लिया। सेठ ने भी तब खडे होकर बडी भाव-विभोरता के साथ गुरु-धारणा की।

आगरा मे भी श्रावक है

जयाचार्य अपने सपर्क में आनेवाले व्यक्तियो के नाम बहुधा लम्बे समय के पश्चात् भी याद रख लिया करते थे। उनके इस सामर्थ्य ने अनेक बार सम्बन्धित व्यक्तियो को प्रभावित किया था। सं० १८८५ में अपनी अग्रणी अवस्था में जयाचार्य ने जयपुर चातुर्मास किया था। उस समय वहाँ बहुत जनोपकार हुआ था। वहाँ के बावन व्यक्तियो ने गुरु-धारणा की थी। उनमें मालीरामजी लूणिया भी एक थे। वे जयपुर भर में बडे प्रतिष्ठित और प्रभावशाली व्यक्ति थे। जयपुर-नरेश सवाई रामसिंह द्वितीय की भी उनपर बहुत कृपा थी। परन्तु कुछ समय पश्चात् किन्हीं कारणों से जयपुर-नरेश के साथ उनका मनमुटाव हो गया, अत वे आगरा में जा बसे।

बहुत वर्षों के पश्चात् जबकि जयाचार्य जयपुर में विराज रहे थे, तब उदयपुर के सुप्रसिद्ध श्रावक मोखजी खीमेसरा वहाँ आये थे। वे उदयपुर-महाराणा के बडे विश्वसनीय व्यक्ति थे। राजमाता तीर्थ-यात्रा करना चाहती थी, अत: महाराणा ने मोखजी के सरक्षण में ही उनको तीर्थ-यात्रा पर भेजा था। राजमाता का वह तीर्थयात्री-दल जब जयपुर पहुँचा तो मोखजी को जयाचार्य के दर्शनों का लाभ अनायास ही प्राप्त हो गया। सेवा करते समय बातचीत के सिलसिले में मोखजी ने बतलाया कि हम लोग यहाँ से आगरे जायेंगे। जयाचार्य ने तब उनको बतलाया कि आगरे में मालीरामजी लूणिया रहते हैं, वे अपने श्रद्धालु श्रावक हैं।

मोखजी ने यह बात सुनी तो सही, परन्तु उन्हें न तो आगरे में ठहरना ही था और न वहाँ कोई काम ही था कि जान-पहचान के आदमी की आवश्यकता पड़े। अत उन्होंने ग्रहण-बुद्धि से नही किन्तु सहज रूप से सुना और स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया।

वहाँ से वे लोग विविध तीर्थों में घूमे। जब वापिस लौटने लगे तब मार्ग में ही राजमाता रुग्ण हो गईं। वे काफी वृद्धा थी, अत रोग का साधारण आक्रमण भी उनके लिए भारी पडा। वे दिवगत हो गईं। यथोचित रूप से दाह-सस्कार कर देने के पश्चात् उन लोगों ने उदयपुर की ओर प्रयाण कर दिया।

आगरा तथा उसके आसपास के शहरो में उन दिनों डाकुओं का बडा आतक था। डूँगजी और जुहारजी के नाम उस क्षेत्र के लिए भय के पर्यायवाची बने हुए थे। अंग्रेज-सरकार बड़ी सतर्कता से उनकी खोज कर रही थी। उन्हीं दिनों मोखजी का दल उस मार्ग से गुजरा। उनके साथ शस्त्र-सज्ज अनेक व्यक्ति थे, अतः डाकुओं के संदेह में वे सब पकड़ लिये गये। उन्होंने

अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए जो कुछ कहा उसे मनगढ़ंत समझा गया। उस अचिंतित विपत्ति से मोखजी बड़ी दुविधा में फँस गए। पराया राज्य, अनजाना क्षेत्र और अपरिचित व्यक्ति; सभी कुछ तो प्रतिकूल था। अनुकूलता का कोई आधार तक नहीं था। बहुत कहने-सुनने पर अधिकारी व्यक्ति केवल इतने के लिए तैयार हुए कि यदि यहाँ कोई तुम्हें जानता हो तो हम जमानत पर छोड़ सकते हैं।

मोखजी को उस समय जयाचार्य की कही हुई बात याद आई। उन्होंने पुलिस-अफसर से कहा कि यहाँ मालीरामजी लूणिया मेरे सहधर्मी हैं। यदि आप मुझे उनके पास ले चलें तो मैं अपनी सत्यता का प्रमाण दिला सकता हूँ।

मालीरामजी आगरा में जाकर भी बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति बन गये थे। पुलिस-अफसर ने जब उनका नाम सुना तो वह उन्हें उनके पास भेजने को सहमत हो गया। दूसरे दिन प्रातः वे वहाँ भेजे गये। सेठजी उस समय पूजा में बैठे हुए थे, अतः उन्हें कुछ देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। पूजा समाप्त होने पर जब उनको मिलने के लिए अन्दर बुलाया गया, तब वहाँ के रंग-ढंग देखकर मोखजी को निराशा ही हुई। उन्होंने सोचा कि जयाचार्य तो इन्हें तेरापंथी बतला रहे थे, पर ये तो मूर्तिपूजक हैं। फिर भी जब अन्दर आ चुके तब बात कर लेना ही उचित समझा।

पारस्परिक अभिवादन के पश्चात् सेठजी ने उनका परिचय तथा वहाँ आने का कारण पूछा। मोखजी ने अपना परिचय देते हुए तीर्थ-यात्रा से अपने पकड़े जाने तक की सारी रामकथा कह सुनाई। उन्होंने यह भी बतलाया कि जब हम जयपुर गये थे, तब वहाँ जयाचार्य ने आपके विषय में परिचय दिया था।

मालीरामजी ने जयाचार्य का नाम सुना तो, कौन जयाचार्य? किसके शिष्य हैं? कब दीक्षित हुए थे? उनके परिवार के और कौन-कौन दीक्षित हैं? इत्यादि अनेक प्रश्न पूछ डाले। मोखजी ने उन सब प्रश्नों के उत्तर तो दिये, पर उन्हें लगा कि वे किसी दूसरे ही मालीरामजी से मिल रहे हैं।

मालीरामजी अपने सब प्रश्नों के ठीक उत्तर पाकर पूर्णतः आश्वस्त हो गये कि वे किसी अविश्वसनीय व्यक्ति से नहीं मिल रहे हैं। वे बोले—"बहुत वर्षों के पश्चात् आज ही तुम एक साधर्मिक भाई मिले हो। तुमने मुझे जयाचार्य का स्मरण दिलाकर कृतार्थ कर दिया। उन्होंने तो मुझे याद रखा; पर मैं ऐसा अविनीत शिष्य निकला कि यहाँ दूर आकर उनके उपदेशों को भुलाकर अपने ही गोरख-धन्धे में फँस गया।" उन्होंने मोखजी का बहुत आदर-सत्कार किया और अपने यहाँ भोजन करवाया। उसके पश्चात् वे अधिकारियों से मिले और उन्हें अपने ही व्यक्ति बतलाकर वहाँ से मुक्त करवाया।

आगे मत जाओ

वृद्धावस्था में शारीरिक गडबडी के कारण जयाचार्य स० १९३२ और १९३३ में लगातार लाडणू में ही रहे थे। जब स० १९३४ का चातुर्मास नजदीक आने लगा, तब उन्होंने वहाँ से विहार करने का विचार किया। श्रावकों को उस इच्छा का पता लगा तो उन्होने वह चातुर्मास वहीं करने के लिए आग्रह किया। दूलीचन्दजी दूगड ने भी, जो कि विकट परिस्थितियों में सघ की विशेष सेवा करके जयाचार्य के हृदय में अपना विशिष्ट स्थान बना चुके थे, प्रार्थना की कि अब तिहत्तर-चौहत्तर वर्ष की अवस्था में विहार कर अन्यत्र पधारने से तो यह अधिक अच्छा रहेगा कि आप यही विराजें। अधिक विराजने की इच्छा न हो तो कम से कम इस चातुर्मास का लाभ तो हमें ही प्रदान करें। उसके बाद अन्यत्र पधारने की इच्छा हो तो समाधिपूर्वक पधारना।

इस पर भी जयाचार्य ने विहार करने का अपना विचार पक्का रखा। उन्होंने सुजानगढ की ओर विहार करने की तिथि घोषित कर दी। इतना ही नहीं, नियत तिथि के दिन उन्होंने वहाँ से विहार भी कर दिया। वे ग्राम-बाहर तक ही जा पाये थे कि मार्ग से थोडी दूर हटकर एक वृक्ष पर चढे हुए लडके ने जोर-जोर से आवाज देकर चिल्लाना प्रारभ किया—"अरे! साधुओ!! आगे मत जाओ! आगे मत जाओ!!"

शकुनज्ञ जयाचार्य कुछ देर के लिए वही रुके और फिर आगे बढने लगे। लडके ने भी फिर से उसी बुलदी के साथ अपनी बात को दोहराना प्रारभ कर दिया। आखिर वे फिर रुक गये और श्रावक दूलीचन्दजी दूगड से, जो कि उनके पास-पास ही चल रहे थे कहा - "शकुन तो अच्छे नही हो रहे है।"

दूलीचन्दजी ने भी कुछ चिन्ता-सी व्यक्त करते हुए कहा—"बात तो ऐसी ही है। अब आगे पधारने में तो आपके भी और हमलोगो के भी मन में एक प्रकार का वहम रहेगा। मेरी दृष्टि से तो वापस पधार जाना ही अधिक उचित रहेगा। आपने विहार करने के लिए ही तो कहा था, वह हो गया। अब शकुन अच्छे न हो सकें तो इसका आप क्या करें? यह तो निरुपाय बात ही है।"

जयाचार्य ने भी तब वापस जाना ही उचित समझा और वे तत्काल वहीं से पुन लाडणू पधार गये। श्रावक-वर्ग बडा प्रसन्न हुआ कि जयाचार्य का तृतीय चातुर्मास भी यही पर होगा। इस प्रसन्नता को व्यक्त करते हुए लोग दर्शन करके जब चले गये, तब एकांत देखकर दूलीचन्दजी ने विनयपूर्वक नमस्कार करके जयाचार्य को निवेदन किया—"प्रभो! अविनय के लिए क्षमा करें, अपशकुन करने वाले उस लडके को मैंने ही सिखा-पढाकर वहाँ भेजा था। आपको रोकने का और कोई उपाय न देखकर ही मैंने ऐसा करने का विचार किया था।"

जयाचार्य ने सारी बात सुनकर आश्चर्य-भरी दृष्टि से उनकी ओर देखा और मुस्करा दिये ।

पञ्चाङ्ग निर्माण

जयाचार्य जहाँ जैन तत्त्व-ज्ञान के धुरीण विद्वान् थे, वहाँ अन्य विषयों में भी उनकी असाधारण गति थी । उनके प्रिय विषयो में से एक गणित ज्योतिष भी था । जैन पर्वों के विषय में अन्य जैन संप्रदायों में विभिन्न मत-भेदो को देखकर उनके मन में एक बार यह विचार उठा कि क्यों नही जैन पद्धति से एक पचांग की रचना की जाए ? सारा जैन-समाज उसे मान्य करे तो कहना ही क्या, पर वैसा न होने पर भी तेरापन्थ की आवश्यकता तो उससे पूरी हो ही जाती है । इन्ही विचारो के आधार पर उन्होंने सौ वर्षों का एक पचांग बनाना प्रारम्भ किया था ।

उन्ही दिनों में एक स्थानकवासी साधु , जो कि जयाचार्य के शास्त्रीय ज्ञान और विद्वत्ता से बहुत प्रभावित होने के कारण उनको बडी सम्मान की दृष्टि से देखा करते थे, उनसे मिले। एक शताब्दी के लिए पंचांग-निर्माण विषयक बातचीत चलने पर उन्होंने जयाचार्य को इस विषय पर फिर से ध्यान देने के लिये जोर दिया । शायद उन्होंने नये पंचांग को लेकर जैनों में परस्पर और मत-भेद बढ जाने की संभावना भी व्यक्त की । सारांश यह कि उसके बाद जयाचार्य ने उस कार्य को स्थगित कर दिया, क्योंकि वे जैनों के पर्व संबंधी परस्पर अनैक्य में वृद्धि करना नही चाहते थे ।

कुत्तों की लड़ाई

जयाचार्य अपने कार्य में लगे हुए थे । सामने की गली में दो कुत्तो ने परस्पर की लडाई में इतना हल्ला मचाया कि हर किसी का ध्यान उचट कर उधर जाने लगा । जयाचार्य ने उस स्थिति को शिक्षा का माध्यम बनाया और तत्काल एक दोहा बनाकर शिष्य-वर्ग को सावधान करते हुए बोले :

नही ज्ञान अरु ध्यान, काम काज पिण को नहीं ।
ते कूकर सम जाण, फिरै चरै कलहो करै ॥

आत्मबोध

जयाचार्य एक आत्मगवेषी व्यक्ति थे । आत्म-साधना उनका मूल लक्ष्य था । यद्यपि आचार्य होने के नाते शिष्य-वर्ग को बोध देना भी उनका कर्त्तव्य था, पर वे केवल परोपदेश में विश्वास करने वाले व्यक्ति नहीं थे । आत्मबोध के विषय में उनकी पूर्ण जागरूकता रहा करती थी । एक प्राचीन पत्र में जयाचार्य के कुछ ऐसे सोरठे प्राप्त हुए हैं, जो कि उन्होंने आत्मबोध के लिए बनाए थे, वे इस प्रकार है :

जीता जनम सुधार, तप जप कर तन ताइये।
खिण मे हुवै तन छार, दिन थोडा मे देखजे ॥
जीता निज दुख जोय, कुण कुण कष्ट ज भोगव्या।
अब दिल में अवलोय, ज्यू सुख लहिये सासता ॥
स्नेहराग संताप, जीता निश्चय जाण नै।
सम 'भावे चित थाप, आतम सुख बहुला अख्या ॥
स्तुती जस परसस, हियडै सुण नवि हरखिये।
अवगुण द्वेष न अस, सुण तूं जय निज सीखडी ॥
क्रोध अगन उपसत, खिम्या चित्त धारै खरी।
धीर गभीर घरत, कठिन वचन नवि काढिये ॥
जय सागर सम जाण, महिमागर मुनिवर सही।
अखिल परपर आण, अल्प दिवस में अचल सुख ॥
वैरी मान विखेर, जय नरमाई गुण जपै।
हिवडै पर-गुण हेर, निज अवगुण सुण निंद मा ॥
जय निज आदि सु जोय, विविध पणै तूं दुख वह्यो।
अल्प कठिन अवलोय, कोपै तू किण कारणै ॥
जय खिम्या वर रोप, वचन सुमति वगतर प्रवर।
अधिक गुणागर ओप, आतम गढ आराधिये ॥
भू सम जय गंभीर, निष्प्रकप मदर निधि।
हेरै निज गुण हीर, ध्यान सुधारस ध्यान नै ॥
धर धन्नो चित धीर, अल्पकाल आराधियो।
तू पिण वर तप तीर, सखरी सुण जय सीखडी ॥
उलझ्यो काल अनाद, अतर जय गुण अब लख्यो।
प्रवर प्रशांत प्रसाध, धुर खिम्या धर खांत सूं ॥
चतुराई चित चित, सुध निज कारज साधिये।
मतकर वीजोमित, आत्ममित जय अचल कर ॥
जय अतिम जगदीस, कुण कुण तप अघ क्षय किया।
धर्म खिम्या धारीस, अवर तन न सके अदर ॥

: ८ :

सफल जीवन की अन्तिम झाँकी

तन का वार्धक्य

जयाचार्य का जीवन एक सफल आचार्य का जीवन था। उन्होने जिस कार्य की ओर ध्यान दिया, उसी कार्य को सर्वाङ्ग रूप से उन्नति के शिखर पर चढा दिया। यद्यपि उनके शरीर की ऊचाई कम थी, पर मन की ऊचाई इतनी अधिक थी कि वैसे व्यक्ति ससार में विरल ही मिल पाते है। वे दुबले-पतले थे, पर उनकी आत्मा की विशालता अपरिमेय थी। एक महान् संत होने के कारण जहाँ उनका मन स्वस्थ और समाधि-युक्त था, वहाँ उनका तन भी प्राय: रोग-मुक्त था। वृद्धावस्था के कारण अतिम वर्षो में अवश्य कभी-कभी कुछ गडबड हो जाया करती थी, फिर भी उनके तन का वार्धक्य उनके मन पर कभी नहीं आ सका था।

मोतिया और आपरेशन

वृद्धावस्था के प्रारभिक वर्षो मे जयाचार्य के नेत्रो में कुछ गडबड हुई थी, परन्तु वह साधारण उपचार आदि से शीघ्र ही उपशांत हो गई थी। वह उपचार स० १९१३ में सेरवा मे किया गया था।[1] उसके पश्चात् बहुत वर्षो तक उनकी आँखें ठीक चलती रहीं। फिर भी अवस्था के साथ-साथ वे कमजोर होती गई और उनमें मोतिया उतर आया। उसके पक जाने पर स० १९२९ में बड़े कालूजी स्वामी द्वारा उसका आपरेशन किया गया, जो कि पूर्णरूप से सफल रहा।[2]

सीमित विहार

आपरेशन के पश्चात् जयाचार्य का विहार-क्षेत्र प्राय. सीमित हो गया था। उसमें भी जब वे स० १९३० के[3] वैशाख में बीदासर पधारे थे तब बुखार आ जाने से उनका शरीर और भी अधिक निर्बल हो गया था और उन्हें अपना विहार भी स्थगित कर देना पडा। अन्न की अरुचि और अशक्ति के कारण उनका वह चातुर्मास तथा मर्यादा-महोत्सव वहीं हुआ, जबकि वे स० १९२९ का चातुर्मास और मर्यादा-महोत्सव वहाँ कर चुके थे। सं० १९३१ में सुजानगढ चातुर्मास करके सं० ३२,३३ और ३४ के चातुर्मास उन्होंने लाडणू में ही किये। उसके पश्चात् स० ३५ और ३६ के चातुर्मास फिर बीदासर मे किये। यद्यपि इन चातुर्मासो के पश्चात् मर्यादा-महोत्सव के लिए वे अनेक वार अन्यत्र भी पधारे, पर अधिक दूर का विहार

१—म० सु० ६. दो० ४

२—संतों की ख्यात

३—जैन पद्धति के अनुसार सं० १९२९

नही कर पाये। इस प्रकार स० १६२६ से १६३६ तक के आठ चातुर्मासो में से चार बीदासर, तीन लाडणू और एक सुजानगढ में हुआ था। मर्यादा-महोत्सवो में से केवल दो (स० १६३४ और ३६) लाडणू में और अवशिष्ट छह बीदासर में हुए थे। उन आठ वर्षो में उनका विहार लाडणू और बीदासर को ही केन्द्र मानकर होता रहा, जो कि एक दूसरे से लगभग बीस मील की दूरी पर अवस्थित है।

जयपुर की ओर

स० १६३६ का मर्यादा-महोत्सव लाडणू में करने के पश्चात् जयाचार्य सुजानगढ पधारे। वहाँ लाला भैरूलालजी ने दर्शन किये और उनसे जयपुर पधारने की प्रार्थना की। उस समय तक शारीरिक स्थिति भी अपेक्षाकृत कुछ सुधर चुकी थी, अत जयाचार्य ने उनकी प्रार्थना पर जयपुर जाने का निश्चय कर लिया। छोटे-छोटे विहार करते हुए उन्होंने चैत्र शुक्ला अष्टमी को जयपुर में प्रवेश किया। स्थानीय श्रावको के उत्साह तथा सेवा-परायणता ने जयाचार्य के उस पदार्पण को सफल बना दिया। जयपुर के पार्श्ववर्ती स्थानो मे विहार करते हुए जयाचार्य ने स० १६३७ का चातुर्मास तथा मर्यादा-महोत्सव वही पर किया।

थली के समाचार

उस अवसर पर थली से अनेक प्रेरणाप्रद समाचार आये। विशेषकर सरदारशहर की ओर से। वहाँ छोगजी, चतुर्भुजजी आदि टालोकरो का प्रभाव छिन्न-भिन्न होने लगा था। उस समय तक तेरापन्थ के लिए सरदारशहर केवल बहनो का ही क्षेत्र कहलाता था। स्वामीजी के समय से ही वहाँ टालोकरो का प्राबल्य रहा था। पहले चन्द्रभाणजी, तिलोकचदजी का विहार वहाँ होता रहा था, अत उनके कारण से वहाँ के भाई तेरापन्थ से द्वेष रखा करते थे। जब उनकी परपरा समाप्त होने को आई, तब जयाचार्य के समय में छोगजी, चतुर्भुजजी आदि ने वहाँ अपना अधिकार जमा लिया। वहाँ के श्रावको ने भी उन लोगों को खूब प्रश्रय दिया। यद्यपि छोगजी आदि चन्द्रभाणजी, तिलोकचदजी के शिष्य नही थे, फिर भी तेरापन्थ के विरोधी तो थे ही।

जोगी को जटा

जयाचार्य सरदारशहर के भाइयों की तुलना जोगी की जटा से किया करते थे। वे कहा करते थे कि जोगी की जटा बहुत उलझी हुई होती है, अत उसे कघी से नही सुलझाया जा सकता। उसको सुलझाने के लिये तो उस्तरे की आवश्यकता होती है। सरदारशहर के भाई भी उस जटा की तरह अपने ही आप तेरापन्थ से द्वेष-भावना के कारण उलझे हुए है। तत्त्व-चर्चा की कघी से उन्हें नही सुलझाया जा सकता, उन पर तो जब कभी किसी विशेष घटना का 'उस्तरा' फिरेगा तभी सुलझेंगे।

जयाचार्य की वह भविष्यवाणी वस्तुत ठीक निकली। टालोकरों का गुट पारस्परिक मत-भेदों के कारण टूटने लगा था। लोग स्वत ही तेरापन्थ की ओर आकृष्ट होने लगे थे।

जयाचार्य की सूझ-बूझ के आधार पर कालूजी स्वामी ने उस समय वहाँ के वातावरण को ऐसा प्रभावित किया कि थोड़े ही समय मे वहाँ के अधिकांश प्रमुख व्यक्ति तेरापन्थी बन गये।

विहार का विचार और स्थगन

जयाचार्य के पास ये समाचार पहुँचे तब वे बड़े प्रभावित हुए। वे उस प्रगति को स्वय देखना चाहते थे। वे जयपुर में मर्यादा-महोत्सव सपन्न करने के पश्चात् कुछ दिन तक पार्श्व-वर्ती स्थानों में विचरे और 'अक्षय तृतीया' के दिन थली की ओर विहार कर देने का विचार करने लगे। उनकी इस इच्छा का जब श्रावक-वर्ग को पता लगा तो उसने काफी आग्रहपूर्वक वहीं विराजने की प्रार्थना की। उसके अतिरिक्त प्रभुदासजी व्यास तथा रावलजी आदि शहर के प्रमुख व्यक्तियो ने भी उस प्रार्थना को सबल बनाया। वे लोग जयाचार्य के प्रति बड़ी श्रद्धा रखा करते थे और बहुधा आया-जाया करते थे। जयाचार्य ने उन सबकी भावना को ध्यान में रखते हुए आखिर अपने विहार के विचार को स्थगित कर देना ही उचित समझा।

विहार-स्थगन का वह निर्णय वस्तुत. ठीक ही हुआ, क्योंकि ग्रीष्म ऋतु का समय राजस्थान में लम्बे विहार के लिए प्राय· प्रतिकूल ही साबित होता है। जयाचार्य ने जब विहार का विचार किया था, तब ग्रीष्म ऋतु द्वार पर ही खडी थी। धीरे-धीरे उसकी भयकरता बढने वाली ही थी। छोटे-छोटे विहार होते तब ग्रीष्म का बहुत-सा भाग चलने में ही बीतने की संभावना थी।

गले में गाँठ

विहार-स्थगन के पश्चात् जयाचार्य वही के क्षेत्रो में विचरते रहे। ग्रीष्मकाल में उनके गले में एक गाँठ उठी। क्रमश. वह बढने लगी और उनके शरीर में वेदना रहने लगी। यदि वे उस समय विहार कर गये होते तो बडी असुविधा का सामना करना पडता। वह गाँठ ज्यों-ज्यों बढ़ती गई, त्यो-त्यों उनके शरीर में वेदना भी बढती गई। आषाढ में जब वह पक.कर फूटी, तब सबको आशा बधी कि अब फिर से उनका स्वास्थ्य सुधर जायगा, परतु ऐसा नहीं हो सका। धीरे-धीरे उनका स्वास्थ्य और अधिक गिर गया। 'अस्वाध्यायी' के कारण उनके स्वाध्याय क्रम में भी काफी बाधा आने लगी।

अंतिम चातुर्मास

स० १९३८ का चातुर्मास जयपुर मे ही हुआ। वह उनका अंतिम चातुर्मास था। उस समय उनकी सेवा मे युवाचार्य आदि सत्तरह अन्य साधु और गुलाब सती आदि पैंतीस साध्वियाँ थीं। जयाचार्य की अस्वस्थता के कारण उस चातुर्मास में व्याख्यान प्राय. युवाचार्य मघवागणी ही दिया करते थे। संघ के आवश्यक कार्यो की देख-रेख भी युवाचार्य ही किया करते थे। जयाचार्य के लिये उस समय शारीरिक कार्यों के अतिरिक्त प्राय: विश्राम और स्वाध्याय— ये दो ही कार्य रहा करते थे।

रोग-वृद्धि

श्रावण मास के प्रारंभिक दिनो से ही उनके शरीर पर अन्य रोगो का भी आक्रमण होने लगा। उन्हें दस्त लगने लगे और अन्न के प्रति अरुचि बढने लगी। दस्तो की बीमारी किसी युवक की भी शक्ति तोड देती है। जयाचार्य तो फिर वृद्ध थे। क्रमश. उनकी शारीरिक शक्ति क्षीण होती गई। श्रावण के शुक्ल पक्ष में उनके गले की गाँठ का मुह चौडा करने की आवश्यकता प्रतीत हुई ताकि विकार बाहर निकल सके। जब शल्य-क्रिया द्वारा वैसा किया गया तो काफी मवाद बाहर निकला। एक बार के लिए उन्हें कुछ शांति अवश्य मिली, पर तभी से उन्हें बुखार ने आ घेरा।

लालाजी का देहात

लाला भैरुलालजी जयाचार्य के बडे भक्त श्रावक थे। उनकी प्रार्थना पर ही उन्होंने जयपुर पदार्पण का निर्णय किया था। चातुर्मास उन्हीं के मकान में था। लालाजी रात-दिन सेवारत रहा करते थे। जयाचार्य की रुग्णावस्था के विषय में वे बडी चिंता किया करते थे। एक दिन अचानक ही वे स्वय रुग्ण हो गये। रोग ने इतना तीव्र आक्रमण किया कि उनके बचने की आशा क्षीण होने लगी। जयाचार्य अपनी रुग्णावस्था में भी उन्हें दर्शन देने के लिए एक बार मध्याह्न में और दूसरी बार सायकाल में पधारे। जयाचार्य के मगलमय शब्दों ने लालाजी के परिणामों को उच्चत्तर बनाने में भारी सबल प्रदान किया। लालाजी उसी रात को दिवगत हो गये।

उनका परिवार काफी बडा था। 'घर भी शहर के प्रमुख घरो में से एक था। उनकी मृत्यु पर लोगों का आवागमन काफी बडी मात्रा में होने वाला था। इसीलिए अवसरज्ञ जयाचार्य ने सूर्योदय होते ही स्थान बदल लिया। लालाजी के मकान के लगभग सामने ही सरदारमलजी लूणिया का मकान था, वे वहाँ पधार गये। वह भाद्रपद मास का प्रथम दिन था। उसके पश्चात् जयाचार्य का विराजना वहीं हुआ।

स्वाध्याय-श्रवण

जयाचार्य का शरीर धीरे-धीरे अशक्त होता जा रहा था। अन्न प्राय· छूटता जा रहा था। कभी-कभी थोडा-सा ले लिया करते थे और त्याग कर दिया करते थे। कभी औषधि और जल के अतिरिक्त त्याग कर दिया करते थे। उन दिनों स्वाध्याय तथा ध्यान ही उनका एक मात्र सबल बन गया था। जब भी अवसर होता वे शिष्यो के द्वारा ढालें सुना करते थे। जो कुछ उन्हें सुनाया जाता था, उसे वे पूरी सावधानी से सुना करते थे। उनके स्वाध्याय-प्रेमी मन को इससे कुछ तृप्ति का अनुभव हुआ करता था।

गाथाएँ छोड़ दी है क्या ?

उस रुग्ण-अवस्था में भी उनकी मन·स्थिति अत्यत स्थिर और सचेत थी। कही कोई सुनाते समय गलत बोलता तो उसी समय उसे टोक दिया करते थे। एक बार युवाचार्य

मघवागणी स्वय पास मे बैठे हुए उन्हें आराधना की ढालें सुना रहे थे। बीच में उन्होंने कहीं दो-तीन गाथाएँ छोड दी थीं। जयाचार्य ने तत्काल उस गलती को पकडते हुए कहा—"यहाँ कुछ गाथाएँ छोड दी गई हैं क्या ?"

आत्मालोचन

अपनी शारीरिक क्षीणता को देखते हुए जयाचार्य ने अपनी आत्मा को विशेष रूप से निःशल्य बना लेने की ओर ध्यान देना प्रारभ किया। वे आत्मालोचन करने लगे। आराधना आदि की ढालें सुनते समय उन्होने ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि के अतिचारों पर स्वय बोलकर 'मिच्छामि दुक्कड' लिया। जीवन भर में किसी भी व्यक्ति के प्रति भूल से भी आये हुए कलुष-भावो को हटाने के लिए उन्होंने सरल हृदय से क्षमा-याचना की।

शिक्षा-दान

उन्ही दिनो में उन्होने साधु-साध्वियो के लिए भी अनेक शिक्षाएँ प्रदान की। वे अधिक समय तक बोलने का परिश्रम नहीं कर सकते थे, फिर भी जो कुछ कहना चाहते थे उसे थोडा-थोडा करके कहा करते थे। शिष्य-वर्ग के लिए उस समय का उनका वह थोडा-सा कथन भी बहुत मूल्यवान् था। सघ की एकता, आचार्य और शिष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध, मर्यादा-पालन में जागरूकता आदि विषयो पर उन्होने अपनी शिक्षाओ में विशेष रूप से बल प्रदान किया।

सागार अनशन

क्षीणता की वृद्धि होते-होते जयाचार्य को बीच-बीच मे मूर्च्छा भी रहने लगी। शिष्य-वर्ग विशेष सावधानी से उनकी सेवा में उपस्थित रहने लगा। भाद्र कृष्णा दशमी के दिन सध्या के समय उनके शरीर की स्थिति अधिक खराब हो गई। उस समय युवाचार्य मघवागणी ने पूछा कि इच्छा हो तो आपको सागार अनशन करा दिया जाए ? जयाचार्य की बोलने की शक्ति नही थी, परन्तु इस बात के लिए उन्होने हुँकार देकर स्वीकृति प्रदान की। युवाचार्य ने अपनी बात को दुहरा कर फिर पूछा ताकि उनके सुनने तथा स्वीकृति देने में पूरी सावधानी होने का पता लग जाए। उन्होंने दुबारा उसी प्रकार से हुँकार देकर स्वीकृति प्रदान की। तब उन्हें औषधि और जल के आगार से अनशन करा दिया गया।

जन-आगमन

अनशन की बात ज्योही शहर में फैली त्योंही दर्शनार्थियो का तांता लग गया। बाहर के यात्रियो का आवागमन तो श्रावण से ही प्रारभ था। थली, मारवाड और मेवाड के सैकडों व्यक्तियो ने दर्शन-लाभ प्राप्त किया था। इस अवसर पर दर्शनार्थियों का वह प्रवाह और तेज हो गया। लोग आते और अपनी दर्शन-पिपासा को शांत करके चले जाते। वहाँ के वाता-वरण को शात रखने के लिए एक साथ अधिक व्यक्तियो को एकत्रित नही होने दिया जाता था। जनता एक प्रकार से उनके अन्तिम दर्शनो के लिए उमड रही थी।

पूर्ण अनशन

राजगढ निवासी श्रावक भीमराजजी पारख उन दिनों सेवा के निमित्त वहाँ आये हुए थे। वे नाडी के अच्छे जानकार थे। बारस के दिन मध्याह्न में जब उन्होंने जयाचार्य की नाडी देखी तो युवाचार्य मघवागणी से प्रार्थना की कि अब यदि आप यावज्जीवन का सथारा करा दें तो यह उचित अवसर ही जान पडता है। नाडी का बल बहुत ही क्षीण हो गया है, अत· अधिक विलम्ब नही करना चाहिए। युवाचार्य तथा प्रमुख साधुओ और गृहस्थों ने भी शरीर की हालत देखते हुए सथारे की बात को समयानुकूल ही माना। जयाचार्य की भावना जानने के लिए उनके कान के पास जोर से बोल कर पूछा गया कि आपकी इच्छा हो तो यावज्जीवन के लिए तिविहार अनशन करा दिया जाए। उस समय उनमें बोलने की शक्ति तो थी ही नहीं, पर कही गई बात पर साधारणतया पूरा ध्यान दे सकने की स्थिति भी नहीं थी, इसलिए दो-तीन बार जोर से दुहराने पर ही वे उस बात को पकड पाये। तत्काल उन्होंने स्वीकृति-सूचक सिर हिलाते हुए अनशन की भावना व्यक्त की। यो अच्छी तरह से श्रद्ध लेने पर उन्हें ग्यारह बजकर पचीस मिनट पर तिविहार सथारा करा दिया गया। सायंकाल के समय जब कि लगभग डेढ मुहूर्त दिन अवशिष्ट था, उनके शरीर की स्थिति और भी अधिक खराब हो गई, अत· उन्हें चारो आहारो का प्रत्याख्यान करा दिया गया।

देह-परित्याग

पूर्ण अनशन करा देने के थोडे समय पश्चात् ही उन्हें दो-तीन हिचकियाँ आई। उन्होंने सहसा अपनी बद आँखें खोली और उसी अवस्था में देह-परित्याग कर दिया। इस प्रकार स० १९३८ के भाद्रपद कृष्णा द्वादशी के सायकाल में तेरापन्थ के एक तेजस्वी और युग-प्रवर्त्तक आचार्य का देहावसान हो गया। विश्व भारतीय सत-परपरा के उस तेजोमय नक्षत्र के प्रकाश-पुंज से वचित हो गया।

दाह-संस्कार

अन्तर्मुहूर्त्त के पश्चात् जब उनका शरीर साधु-वर्ग के द्वारा 'वोसराया' गया तब दिन प्राय· समाप्ति की ओर ही जा रहा था। अत दूसरे दिन प्रात काल ही दाह-संस्कार की क्रिया सपन्न किये जाने का निश्चय हुआ। उस रात को बडे जोर से वर्षा हुई। प्रातःकाल के समय भी आकाश में काले बादल छाए हुए थे। बंदा-बादी चालू थी। परन्तु जब शरीर का प्रक्षालन आदि प्रारभ किया गया तब से वर्षा बद हो गई और आकाश भी कुछ साफ हो गया।

जयपुर-राज्य में उस समय राज-परिवार के अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति के शव को बैठे निकालने की मनाही थी। अत. श्रावक-वर्ग ने राज्य से विशेष आज्ञा प्राप्त की और उन्हें बैकुंठी में बिठाकर जुलूस निकाला गया। राज्य की ओर से शव-यात्रा के समय हाथी, घोड़े,

सिपाही और नगाडे निसाण आदि का लवाजमा प्रदान किया गया था। दाह-सस्कार में सम्मिलित होने के लिए स्वमत के तथा अन्य हजारों ही व्यक्ति एकत्रित हुए। मुख्य बाजारों में से होते हुए वैकुण्ठी को सरदारमलजी लूणिया के बाग में लाया गया और वहाँ दाह-सस्कार की क्रिया सपन्न की गई। बाद में स्मृतिस्वरूप वहाँ एक चबूतरा बना दिया गया।

यद्यपि वह बाग अब सरकार द्वारा ले लिया गया है और दूसरे रूप में परिवर्तित कर दिया गया है, फिर भी जयाचार्य का वह चबूतरा विद्यमान है। उसके ऊपर अब सफेद मारबल की छतरी बना दी गई है। वह जयपुर-नग्रहालय (म्यूजियम) के दक्षिण पार्श्व की ओर सड़क के किनारे पर अवस्थित है और जयाचार्य की स्मृति का प्रतीक आज भी बनी हुई है।

: ६ :

ज्ञातव्य-विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

(१) जन्म सवत्— १८६० आश्विन शुक्ला चतुर्दशी

(२) दीक्षा-सवत्— १८६६ माघ कृष्णा सप्तमी

(३) अग्रणी सवत्— १८८१ पौष शुक्ला तृतीया

(४) युवाचार्य-पद सवत्— १८९४ आषाढ़[1]

(५) आचार्य-पद सवत्— १९०८ माघ पूर्णिमा

(६) स्वर्गवास सवत्— १९३८ भाद्रपद कृष्णा द्वादशी

महत्त्वपूर्ण स्थान

(१) जन्म-स्थान— रोयट

(२) दीक्षा-स्थान— जयपुर

(३) अग्रणी-स्थान— पाली

(४) युवाचार्य-पद स्थान—नाथद्वारा

(५) आचार्य-पद स्थान— बीदासर

(६) स्वर्गवास-स्थान— जयपुर

आयुष्य-विवरण

(१) गृहस्थ— ९ वर्ष

(२) साधारण साधु— १२ वर्ष

(३) अग्रणी— १२ वर्ष

(४) युवाचार्य— १५ वर्ष

(५) आचार्य— ३० वर्ष

(६) सर्व आयु— ७८ वर्ष

जन्म-कुंडली

जयाचार्य की जन्म-कुडली का विवरण 'जय सुजस' में मघवागणी ने इस प्रकार दिया है

तनु भुवन केतु तृतीय भुवने शुक्र सूर्य गुरू शनी ।
चतुर्ग्रही ए जोग चारु अथ तूर्य भुवने सुण गुनी ॥
बुद्ध मगल ग्रह विहु फुन सप्तमे राहू सही ।
जय धर्म-भुवने चन्द्रमा फुन अवर भुवने ग्रह नही ॥[2]

१—जैन काल-गणना पद्धति के अनुसार सं० १८९३ का आषाढ़ ।
२—ज० सु० ९-५

इसके अनुसार उनकी जन्म-कुंडली की ग्रह-स्थिति का अंकन इस प्रकार होता है :
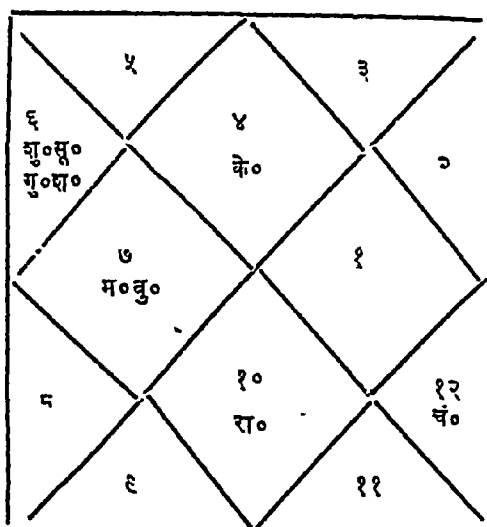
विहार-क्षेत्र

जयाचार्य के विहार-क्षेत्र में राजस्थान के तत्कालीन राज्यथली, मारवाड़, मेवाड़, ढूंढाड़ और हाड़ोती आदि तो थे ही, उनके अतिरिक्त मालव, गुजरात, सौराष्ट्र, कच्छ, हरियाणा और दिल्ली को भी उन्होंने अपना विहार-क्षेत्र बनाया था।

चातुर्मास

जयाचार्य ने प्रथम बारह चातुर्मास साधारण साधु की अवस्था में हेमराजजी स्वामी के साथ किये। उसके पश्चात् तेरह चातुर्मास अग्रणी अवस्था में किये। उनमें से एक चातुर्मास सं० १८८४ का पेटलावद में ऋषिराय की सेवा में और शेष बारह स्वतंत्र किये थे। तत्पश्चात् चौदह चातुर्मास युवराज-अवस्था में किये। उनमें से सं० १८९९ का ऋषिराय के साथ बीदासर में और सं० १९०३ का हेमराजजी स्वामी के साथ नाथद्वारा में किया। शेष बारह चातुर्मास स्वतंत्र किये थे। आचार्य-अवस्था में उन्होने तीस चातुर्मास किये थे। इस प्रकार उन्होंने सब उनहत्तर चातुर्मास तेईस ग्रामों में संपन्न किये थे। उनका पृथक्-पृथक् विवरण निम्न प्रकार है :

हेमराजजी स्वामी के साथ

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
इन्द्रगढ़ (हाडोती में)	१	१८७०
पाली	३	१८७१,७५,८०
कटालिया	१	१८७२

स्थान	चातुर्मास संख्या	संवत्
सिरियारी	१	१८७३
गोगूंदा	१	१८७४
देवगढ़	१	१८७६
उदयपुर	१	१८७७
आमेट	१	१८७८
पींपाड़	१	१८७९
जयपुर	१	१८८१

अग्रणी-अवस्था मे

उदयपुर	१	१८८२
नाथद्वारा	१	१८८३
पेटलावद	१	१८८४ (ऋषिराय के साथ)
जयपुर	१	१८८५
जोधपुर	१	१८८६
चूरू	१	१८८७
बीकानेर	२	१८८८, ९३
दिल्ली	१	१८८९
बालोतरा	१	१८९०
फलोदी	१	१८९१
लाडणू	१	१८९२
पाली	१	१८९४

युवाचार्य-अवस्था मे

लाडणू	२	१८९५, १९००
चूरू	१	१८९६
उदयपुर	२	१८९७, १९०५
जयपुर	३	१८९८, १९०१, ४
बीदासर	२	१८९९ (ऋषिराय के साथ), १९०८
किसनगढ	१	१९०२
नाथद्वारा	१	१९०३ (हेमराजजी स्वामी के साथ)
बीकानेर	२	१९०६, ७

आचार्य-अवस्था में

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
जयपुर	४	१९०९, २८, ३७, ३८
नाथद्वारा	१	१९१०
रतलाम	१	१९११
उदयपुर	१	१९१२
पाली	२	१९१३, २२
बीदासर	८	१९१४, १७, २३, २६, २९, ३०, ३५, ३६
लाडणूं	६	१९१५, १८, २७, ३२, ३३, ३४
सुजानगढ	४	१९१६, १९, २४, ३१
चूरू	१	१९२०
जोधपुर	२	१९२१, २५

मर्यादा-महोत्सव-तालिका

मर्यादा-महोत्सव की स्थापना जयाचार्य ने स० १९२१ में की थी, तब से वह प्रति वर्ष मनाया जा रहा है। जयाचार्य ने अपने समय में विभिन्न स्थानों पर १७ मर्यादा-महोत्सव मनाये थे। उन सबकी तालिका इस प्रकार है :

स्थान	महोत्सव-संख्या	सम्वत्
बालोतरा	१	१९२१
कंटालिया	१	१९२२
बीदासर	९	१९२३, २६, २७, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३५
सुजानगढ	१	१९२४
लाडणूं	३	१९२५, ३४, ३६
जयपुर	२	१९२८, ३७

शिष्य-संपदा

जयाचार्य के शासनकाल में तीन सौ तीस दीक्षाएँ हुई। उनमें साधुओं की एक सौ चार और साध्वियों की दो सौ छब्बीस दीक्षाएँ हुई। जयाचार्य ने स्वयं अपने हाथ से एक सौ चौसठ दीक्षाएँ प्रदान कीं। उनमें छप्पन साधु तथा एक सौ आठ साध्वियाँ थीं। जयाचार्य के दिवगत होने के समय इकहत्तर साधु और दो सौ पाँच साध्वियाँ संघ में विद्यमान थीं।

षष्ठ परिच्छेद

आचार्य श्री मघवागणी

: १ :

गृहि-जीवन

बीदायत और बीदासर

श्री मघवागणी तेरापन्थ के पचम आचार्य थे। वे राजस्थान के अन्तर्गत बीकानेर डिवीजन में बीदासर-निवासी थे। बीदासर एक अच्छा कस्वा है। उसे राठौर वशी राजकुमार 'बीदोजी' ने बसाया था। उसके आस-पास के बहुत से ग्राम बीदा राजपूतो के स्वामित्व में ही थे, अत उस क्षेत्र को 'बीदायत' कहा जाने लगा। बीदासर में ओसवाल जाति के जैन बधुओं की काफी अच्छी सख्या रही है। वहाँ के ओसवालो में अनेक व्यक्ति बडे दवग स्वभाव के तथा साहसी हुए हैं। धार्मिक भावना में भी वहाँ के निवासी काफी आगे रहे हैं। उनकी स्वभाव-गत यह विशेषता आज भी वहाँ के निवासियो में स्पष्ट देखी जा सकती है। थली में तेरापन्थ की नींव लगी थी, तभी से बीदासर अपना प्रथम स्थान रखता आया है। ऋषिराय ने थली में अपने प्रथम चातुर्मास के लिए उसे ही चुना था। मघवागणी के जन्म-स्थान का गौरव भी उसे ही प्राप्त हुआ था।

जन्म

मघवागणी का जन्म सं० १८९७ चैत्र शुक्ला एकादशी को हुआ था। उनका मूल नाम 'मघराज' रखा गया था। उनके पिता का नाम पूरणमलजी बेगवाणी तथा माता का नाम बन्नाजी था। मघवागणी के एक छोटी वहिन भी थी, उनका नाम गुलाबकंवर था। दोनों भाई-बहिन छोटी अवस्था में थे, तभी उनके पिता का देहावसान हो गया था। माता बन्नाजी ने उस आघात को बडे साहस के साथ सहा और अपने मन को विशेष रूप से धार्मिकता की ओर लगा दिया। वे अत्यन्त विरागमय जीवन विताने लगीं। समय-समय पर यथाशक्ति तपस्या करने में भी उनकी रुचि रहा करती थी।

धार्मिक संस्कार

माता की धार्मिक रुचि का प्रभाव बालकों पर स्वत ही आ जाना निश्चित होता है, फिर उन्हें एक विशेष अवसर भी प्राप्त हो गया था। एक बार सरदारसती का पदार्पण बीदासर में हुआ। वे उन्हीं की जगह में ठहरी थीं। रात-दिन धार्मिक वातावरण में रहते हुए दोनो बालकों ने कुछ तत्त्व-ज्ञान कठस्थ करना प्रारभ किया। परिणामस्वरूप उनका मन धर्म के प्रति विशेष निष्ठाशील बन गया।

उन दिनो युवाचार्य-पद के रूप में जयाचार्य थली में विहार किया करते थे। उन्होंने स० १९०८ का अपना चातुर्मास बीदासर में किया था। सरूपचदजी स्वामी आदि बारह सत उनके साथ थे। युवाचार्य के चातुर्मास से लोगो को और भी अधिक धार्मिक-सबल मिला। फलस्वरूप त्याग-तपस्या की वहाँ अच्छी प्रगति हुई। उसी चातुर्मास में बन्नाजी तथा उनके दोनों बालकों के मन में सयम की भावना जागरित हुई थी।

: २ :

दीक्षा की तैयारी

वहिन का कल्प

दीक्षा ग्रहण करने के लिए तीनों व्यक्तियों की मानसिक भूमिका तैयार हो चुकी थी, फिर भी उसे कार्य रूप देने के मार्ग में अनेक बाधाएँ थीं। 'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' यह किसी बहुत ही अनुभवी व्यक्ति का उद्गार है। प्रायः हर शुभ-कार्य में अनेक विघ्न उपस्थित हो ही जाया करते हैं। मघवागणी की दीक्षा में भी अनेक विघ्न उपस्थित हुए थे, पर वे एक धीर व्यक्ति के समान प्रत्येक विघ्न को पराजित करने में सफल हुए।

उनकी दीक्षा में सबसे पहली बाधा तो यह थी कि उनकी बहिन गुलाबसती की अवस्था बहुत छोटी थी। उनकी दीक्षा का कल्प नहीं आ जाता, तब तक माता बन्नाजी भी दीक्षित नहीं हो सकती थीं। छोटी लड़की को किसी दूसरे के आश्रय पर छोड़कर दीक्षित होने में जहाँ उनका दायित्व बाधक बनता था, वहाँ इस प्रकार दीक्षित करने को जयाचार्य के उद्यत होने की भी सम्भावना नहीं थी।

इतनी स्पष्ट बाधा होते हुए भी मघवागणी मानो 'यदहः विरजेत् तदह प्रव्रजेत्' अर्थात् जिस दिन संसार से विरक्ति हो जाए, उसी दिन उसे छोड़ दो—इस कथन को मूर्तरूप देने के लिए कृत-संकल्प हो गये थे। बहिन के कल्प आने तक की प्रतीक्षा भी उनके लिए सह्य नहीं रही थी। उस बाधा को पार करने के लिए उन्होंने एक मार्ग निकाला। उन्होंने बन्नाजी को इस बात के लिए सहमत कर लिया कि यदि जयाचार्य दीक्षा देते हों तो वह उन्हें पहले दीक्षित होने के लिए भी आज्ञा प्रदान कर देंगी। इतना ही नहीं, उन्होंने बन्नाजी द्वारा युवाचार्य से प्रार्थना भी करवाई कि इसे आप पहले दीक्षा प्रदान कर दीजिये और गुलाबकंवर को कल्प आने के पश्चात् हम दोनों पर कृपा कीजिये।

बालकों की भविष्यवाणी

मघवा की संयम के प्रति तत्परता और साथ ही बन्नाजी की प्रेरणा जहाँ जयाचार्य के मन को संयम देने के लिए अनुकूल बन रही थीं, वहाँ एक और घटना ने भी उनको अप्रत्यक्ष सहयोग दे दिया। वह घटना इस प्रकार है—मघवागणी के बाल-साथियों को जब यह पता लगा कि वे दीक्षा ले रहे हैं, तब उन्होंने खेल ही खेल में अज्ञात भाव से उस स्थिति को भी अपने खेल का एक विषय बना लिया। वे परस्पर खेलते तब एक बालक मघवा को संबोधित करते हुए कहता—"मत्थेण वंदामि मघजी स्वामी।"

मघवा तो इस पर स्वयं नहीं बोलते, पर कोई दूसरा लड़का उनका पार्ट अदा करता हुआ कहता—"जी।"

तब सारे लड़के एक साथ कहते—"थारै पातरै में घी, बैठ्यो ठंडो पाणी पी।"

जयाचार्य ने भी बालको के इस खेल को आते-जाते समय कई बार देखा। सहज हृदय से निकलने वाली उनकी बात को जयाचार्य ने बडा शुभ माना। वे ज्योतिष तथा शकुन आदि के प्रति बडी आस्था रखते थे। वे स्वय इस विषय के अच्छे ज्ञाता भी थे। बालको की उस वाणी को उन्होंने मघवा के विषय में एक शुभ भविष्यवाणी के रूप में ग्रहण किया। बहुत वर्षों बाद जब मघवा को युवाचार्य पद दिया गया, तब जयाचार्य ने उस बात का उल्लेख करते हुए कहा भी था "बाल्यावस्था में तुम्हारे साथी तुम्हें जो बात कहा करते थे, वह वचन बहुत शुभ और श्रेष्ठ था। बालको की वह वाणी आज पूर्णत. फलित हो गई है।"

ऐसा लगता है कि बालकों की वह भविष्यवाणी मघवा के सयम देने में अवश्य ही जयाचार्य की इच्छा को प्रेरित करने वाली हुई होगी।

दीक्षा-तिथि की घोषणा

मघवागणी की प्रबल इच्छा, बन्नाजी की प्रार्थना और बालको की शुभ-भाषा—इन सभी बातो का समन्वित प्रभाव यह हुआ कि जयाचार्य ने मघवागणी को औरों से पूर्व दीक्षा प्रदान करने की स्वीकृति दे दी। साथ ही चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् मार्गशीर्ष वदी पचमी का शुभ दिन दीक्षा के लिए घोषित कर दिया।

दीक्षा के लिए प्रस्थान

दीक्षा-प्राप्ति में जिस बाधा से विलम्ब होने का भय था, उसको मघवा ने आसानी से पार कर लिया। अब और कोई बाधा सामने नहीं थी। पचमी तक के दिन अवश्य बाधक थे, पर वे भी एक-एक करके समाप्त हुए जा रहे थे। चातुर्मास लगभग समाप्ति पर ही था। दीक्षा की तैयारियाँ प्रारम्भ हो गई थीं। शोभा-यात्राएँ निकलने लगी और बनोरे जीमे जाने लगे। जो-जो 'नेगचार' उस समय प्रचलित थे, दीक्षा से पूर्व वे सब विधिवत किये गये। चतुर्थी की रात्रि समाप्ति हुई और पचमी का सूर्य अनेक सम्भावनाएँ लेकर पूर्व में आ खडा हुआ।

दीक्षार्थी मघवा ने दीक्षा लेने के लिए जाने से पूर्व अपने काका के साथ बैठकर भोजन किया। उसके पश्चात् तिलक करवाकर तथा सारे परिजनो से विदा लेकर दीक्षा लेने के लिए अन्तिम रूप से वे घर को छोडकर चल दिये। बाहर आने पर उनके काका ने सहारा देकर उन्हे घोडी पर चढा दिया। बाजे-गाजे के साथ घोडी आगे बढ़ी। सैकडो व्यक्ति जुलूस के रूप में घोडी के पीछे-पीछे पैदल चले। उनके पीछे औरतें स्तवन आदि गाती हुई चली। जुलूस धीरे-धीरे दीक्षा के निमित्त नियत किये गये स्थान की ओर बढा।

अकल्पित बाधा

उसी समय मार्ग मे किसी व्यक्ति ने मघवागणी के काका को कुछ कहकर बहका दिया। संभव है उस व्यक्ति ने उन्हें सुनाकर कुछ ऐसी बातें कही थी कि जिससे उनके मन पर सीधी

चोट हुई और वे तिलमिला उठे। वे बातें ये हो सकती हैं—"इसका पिता जीवित होता तो क्या इसे यों घर से निकाल देता ?" "अच्छा ही है, यह घर में रहता तो धन की आधी पाँती का अधिकारी होता, अब ये अकेले ही उसके अधिकारी रह जायेंगे। इनका अपना बेटा दीक्षा लेता, तब इनके हर्ष का पता लगता।"

इन अनर्गल आक्षेपों ने उन्हें इतना क्षुब्ध कर दिया कि वे अपने पर नियन्त्रण रखने में असमर्थ हो गये। एकाएक उन्होंने अपने मन में कुछ निर्णय किया और जुलूस ज्यों ही गढ़ के पास पहुँचा, त्यों ही उसे कार्यरूप में भी परिणत कर दिया। वे सबको चीरते हुए घोड़ी के पास आए और किसी को कुछ सोचने-समझने का अवसर देने से पूर्व ही मघवा को खींचकर घोड़ी पर से उतार लिया। वे उन्हें गोदी में उठाये हुए ही झट गढ़ में घुस गये।

दीक्षा नहीं दिलानी है

दीक्षार्थी मघवा को घोड़ी से उतारने के उद्देश्य का पता तब चला, जब कि उनके काका उन्हें लिए हुए गढ़ में प्रविष्ट हो चुके थे। वे अचानक उपस्थित हुए उस विघ्न से चकित रह गये। साहस करके काका से जब वैसा करने का कारण पूछा तो तमतमाए हुए चेहरे से एक ही उत्तर मिला—"मुझे दीक्षा नहीं दिलानी है।"

बाहर खड़ी हुई जनता भी उनके उस अप्रत्याशित व्यवहार से चकित थी। उन्होंने अन्दर से लोगों को स्पष्ट कहला दिया कि आप सब अपने घर जाइये। कुछ प्रमुख व्यक्ति उनसे बातचीत करने के लिए गढ़ में गये, और ऐसा करने का कारण पूछा, पर उन्होंने अन्य कुछ भी न बतलाते हुए सिर्फ उसी बात को दुहरा दिया कि मैं दीक्षा दिलाना नहीं चाहता। इससे अधिक न उन्होंने कुछ बताया और न बातचीत ही की।

भावी के गर्भ में क्या छिपा होता है—यह पता कौन लगा सकता है। अनेक बार मनुष्य के साथ ऐसा होता है कि वह जहाँ विघ्न की आशंका करता है, वहाँ कोई विघ्न नहीं होता। पर जहाँ वह निर्विघ्नता देखता है, वहीं अनेक विघ्न आ खड़े होते हैं। प्रस्तुत दीक्षा के अवसर पर किसी प्रकार की बाधा की कोई संभावना नहीं थी। दीक्षा के लिए निर्धारित समय से आध घण्टा पूर्व ही कोई बाधा आ धमकेगी, संभवतः यह कल्पना भी किसी ने नहीं की थी, पर हुआ ऐसा ही था।

दीक्षा नहीं हो सकी

जयाचार्य को जब पता चला कि मघवा को उनका काका गढ़ में ले गया है और वह दीक्षा नहीं दिलाना चाहता, तो उन्हें भी आश्चर्य हुआ। जयाचार्य द्वारा दीक्षार्थी के काका की आज्ञा पहले ही प्राप्त की जा चुकी थी, तब फिर ऐसा व्यवहार करने का कोई कारण नहीं रह गया था। परन्तु वह सब तो उस समय अस्पष्ट ही रहा। जिनसे स्पष्टीकरण प्राप्त किया जा सकता था, वे गढ़ में ही ठहरे हुए थे। जयाचार्य के सामने इतना अवश्य स्पष्ट हो गया था कि

आज तो यह दीक्षा नहीं हो सकेगी। वस्तुत उस दिन वह दीक्षा नही हो सकी और जयाचार्य अपने स्थान पर वापस पधार गये।

आगे के लिए भी क्या पता चल सकता था कि ऊँट कौन-सी करवट बैठेगा? चातुर्मास के पश्चात् दीक्षा के निमित्त ही वे वहाँ ठहरे हुए थे, अन्यथा उन्हे वहाँ रहने का कल्प ही नही था। दीक्षा-विषयक अनिश्चय हो जाने से अब वहाँ रहने का कल्प भी समाप्त हो गया था, अत वे उसी दिन विहार करके पार्श्ववर्ती ग्राम 'दडीबा' में पधार गये। दूसरे दिन उन्होने वहाँ से लाडणूं की ओर विहार कर दिया।

गढ़ से घर पर

बाल मघवा को गढ में रोककर रखा गया। उन्हें वहाँ ठाकर के पास भी ले जाया गया। ठाकर ने उनसे अनेक प्रश्न किये। तुम दीक्षा क्यो लेना चाहते हो? यहाँ तुम्हे क्या दुःख है? साधुओं के बहकाव में आ गये लगते हो, इत्यादि प्रश्नों का उन्होने यथोचित उत्तर दिया और निर्भीकतापूर्वक अपनी भावना बतलाई। इस प्रकार और भी अनेक बातो में उलझाकर काका ने उनको यथावशयक गढ में रोके रखा, बाद में जब उन्हें यह निश्चय हो गया कि अब दीक्षा का कोई भय नहीं रह गया है, तब वहाँ से अपने साथ-साथ उन्हें घर ले आये।

फिर तैयारी

दीक्षा का वह अवसर टल जाने से मघवा के मन में काफी क्षोभ हुआ। यद्यपि अचानक आई हुई उस बाधा ने सहसा ही उन्हें निकटस्थ सफलता से दूर ढकेल दिया था, फिर भी वे उससे पराजित नही हुए। तत्काल उन्होंने अपने आगे का कर्त्तव्य निर्धारित किया और अपने काका को फिर से सहमत कर लेने के प्रयास में लग गये। आखिर वे उन्हें पूर्ण सहमत तो नही कर पाये, पर इतना अवश्य हुआ कि आगे के लिए उन्होंने किसी प्रकार की बाधा देने का विचार त्याग दिया। बन्नाजी तथा मघवा ने उस स्थिति का तत्काल लाभ उठाने का विचार किया और वे उन्हें जताकर युवाचार्य की सेवा मे लाडणूं आ गये।

दीक्षा-ग्रहण

वहाँ मघवा ने फिर अपनी दीक्षा की प्रार्थना की और काके की किसी प्रकार से भी बाधक न बनने की भावना बतलाई। जयाचार्य ने तब पूर्व मुहूर्त से एक सप्ताह बाद ही अर्थात् स० १९०८ मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी का दिन दीक्षा के लिए घोषित कर दिया। लाडणूं के बाहर एक 'पीरजी' का स्थान है। वही पर हजारो व्यक्तियो की उपस्थिति में यथासमय मघवागणी की दीक्षा सपन्न हुई। उनकी माता बन्नाजी ने बड़े हर्ष से उन्हें आज्ञा प्रदान की और स्वय गुलाबकवर के कल्प आने तक के लिए अपने सासारिक कर्त्तव्य का निर्वाह करती रही। इस प्रकार मघवागणी ने अपनी दीक्षा के मार्ग में आने वाली अनेक बाधाओ को पार करके अन्त में सफलता प्राप्त की थी।

वन्नाजी तथा गुलाबसती की दीक्षा उनसे लगभग पौने तीन महीने पीछे हुई। मघवागणी की दीक्षा के समय शासनकाल ऋषिराय का था और जय युवाचार्य थे, पर उस बीच के समय में ऋषिराय दिवंगत हो गये थे और जयाचार्य का शासन-काल प्रारंभ हो गया था। बीदासर में पाट-महोत्सव मनाने के पश्चात् जयाचार्य ने फाल्गुन कृष्णा षष्ठी को उन्हें दीक्षित किया था।

तीन छींकें

मघवागणी की दीक्षा के समय ऋषिराय मेवाड़ में विहार करते हुए रावलिया में विराज रहे थे। युवाचार्य द्वारा प्रदत्त उस दीक्षा के समाचार वहाँ पहुँचे, तब अचानक ही ऋषिराय को तीन छींकें आईं। साधारणतया वे शकुनों या मुहूर्त्तों आदि पर बहुत अधिक विश्वास नहीं किया करते थे, पर उस दिन न जाने उनको उन छींकों में क्यों कोई गुप्त सूचना प्रतीत हुई? उन्होंने प्रथम छींक पर तो कुछ नहीं कहा, पर तत्काल ही जब दूसरी छींक आई तो वे बोले—"लगता है, यह साधु दीपने वाला होगा।" यह कहते ही उन्हें जब तीसरी छींक और आई तो उन्होंने फिर फरमाया—"यह तो जीतमल का भार संभाल ले तो आश्चर्य नहीं।"

ऋषिराय के वे वचन नवदीक्षित बाल साधु के विषय में एक सुनिश्चित भविष्यवाणी के रूप में सिद्ध हुए। मघवागणी की दीक्षा के लगभग दो महीने पश्चात् ही ऋषिराय देवलोक हो गये थे। अतः उन्हें तो उनके दर्शन करने का अवसर प्राप्त नहीं हो सका था, पर ऋषिराय ने अवश्य उतनी दूर से भी उनके भावी जीवन की सारी झाँकी अपनी दिव्यदृष्टि से प्राप्त कर ली थी और साथ ही उसका निष्कर्ष सबके सामने प्रस्तुत भी कर दिया था।

: ३ :

विकासशील व्यक्तित्व

निर्मल चारित्री

मघवागणी का व्यक्तित्व एक विकासशील साधु' का व्यक्तित्व था। छोटी अवस्था में दीक्षित होने पर भी उनमें बाल-सुलभ चपलता के स्थान पर गभीरता ही अधिक पाई जाती थी। गौर वर्ण, भव्य आकृति, आँखों को निर्निमेष अपने पर थमा लेने वाला लावण्य और उन सबसे ऊपर शांत मुद्रा—यह था उनका बाह्य व्यक्तित्व, जो कि देखने वाले को मुग्ध किये बिना नहीं रहता था। अष्टमाचार्य कालूगणी, जो कि मघवागणी के पास ही दीक्षित हुए थे, अपने सस्मरणों में अनेक बार सुनाया करते थे कि उन्होंने मघवागणी जैसी सुन्दर आकृति वाला व्यक्ति अपने जीवनकाल के इतने वर्षों में कभी नहीं देखा है।

उनका बाह्य-व्यक्तित्व जहाँ इतना उत्कृष्ट था, वहाँ आन्तरिक' व्यक्तित्व भी बडा उज्ज्वल था। उनके चारित्रिक पर्यव बहुत ही निर्मल थे। वे एक उत्कृष्ट वृत्ति वाले साधु थे। उनका हृदय एक बालक की तरह पवित्र और सरल था। ससार के बहुत से सम्बन्धो तथा व्यवहारों से वे पूर्णत' अपरिचित ही थे। पाप-भीरु तो वे इतने थे कि कभी मार्ग न होने पर पानी या हरियाली पर पैर रखना पडता तो काप उठते थे। उस समय उनके शरीर में प्रस्वेद आ जाया करता था। पानी का उपयोग भी वे बडी सावधानी से करते थे। शरीर की विभूषावृत्ति से बचने का ध्यान उन्हें सदा बना रहता था। कहा जाता है कि वे हाथ धोते समय पहुँचे से ऊपर पानी नही लगने देते थे।

अजातशत्रु

उनकी प्रकृति अत्यंत शान्त तथा भद्र थी। किसी को तेज होकर कुछ कहना उनकी प्रकृति से बाहर की बात थी। हर स्थिति में अत्यंत शीतलता ही उनकी विशेषता थी। यह विशेषता आचार्य बनने के बाद भी उनमें वैसी ही रही। शासक होने के नाते उन्हें किसी को आवश्यकता-वश उपालभ देना भी पडता, तो वे उसे यथासभव कोमलता से ही दिया करते थे। कभी-कभी तो उपालभ देते समय वे यहाँ तक कह दिया करते थे किसी को ओलंभा देता हूँ तो स्वय मुझे कष्ट होता है। यदि तुम गलती न करते तो मुझे ओलभा क्यों देना पडता ?" वे अपनी इस शांत वृत्ति के कारण ही सर्व-प्रिय बन गये थे। जयाचार्य की कुछ नवीन बातों से सहमत न होने के कारण उनसे विरोध की भावना रखने वाले साधु भी प्रायः मघवागणी के प्रति विरोध भावना नहीं रखते थे। वस्तुत' वे अजातशत्रु थे। इस बात के विषय में स्वय जयाचार्य भी उनके सौभाग्य को सराहा करते थे। वे अनेक बार फरमाया करते थे—"मघजी बड़े पुण्यवान्

हैं । जितने भी रगड़े-झगड़े होने थे, वे प्राय' मेरे ही समय में होकर निवृत्त हो लिए, मघजी के लिए अब कोई झंझट शेष नहीं रहा है ।"

मोतीझरा और गुरु-सान्निध्य

उनकी स्वभावगत विशेषताओं को जयाचार्य प्रारभ से ही जानते थे । अत वे उनके प्रति प्रारंभ से ही आकृष्ट थे । उनके मन की कोमलता को कही किसी प्रकार की ठेस न लगने पाये—इसका भी वे सतत ध्यान रखा करते थे । बाल साधु मघवागणी भी जयाचार्य के प्रति इतनी आसन्नता का अनुभव किया करते थे कि उनसे दूर रहने की कल्पना भी उन्हें असह्य लगा करती थी । स० १९११ की मालव-यात्रा में जयाचार्य जब रतलाम चातुर्मास के पश्चात् इदौर पधारे थे, तब मघवागणी को 'मोतीझरा' निकल आया था । जयाचार्य ने जब पूरा एक महीना विराज जाने के पश्चात् भी उनको ठीक होते नही देखा, तब कुछ सन्तों को उनकी सेवा में रखकर स्वय उज्जैन की ओर विहार कर दिया । वे अपनी प्रथम मजिल में इदौर से दो कोस की दूरी पर एक गाँव में ठहरे । मघवागणी के लिए आचार्यदेव से अलग रहने का वह प्रथम अवसर ही था । उन्हें अपने आप में कुछ ऐसा लगने लगा कि मानो वे शून्यवत् होते चले जा रहे हैं । आखिर उन्होंने सन्तो को भेजकर जयाचार्य से प्रार्थना करवाई कि उन्हें भी साथ ले लिया जाए ।

उनकी उस प्रार्थना पर एक बार तो जयाचार्य का भी मन हो गया था कि सतों के द्वारा उन्हें उठा कर साथ ले लिया जाये । किन्तु स्थानीय वैद्यों तथा भाइयो ने जोर देकर कहा कि मोतीझरे को जब तक सत्ताईस दिन पूर्ण नही हो जाते, तब तक उन्हें उठाकर ले जाना उचित नहीं होगा । वह बात जयाचार्य को भी जच गई । वे उज्जैन जाने के अपने आगामी कार्य-क्रम को स्थगित करके पुन इंदौर पधार गये और तब तक वहाँ विराजे, जब तक कि मोतीझरा ठीक नहीं हो गया ।

यद्यपि बुखार उतर जाने के पश्चात् वे शीघ्र ही स्वस्थ होने लगे थे, किन्तु रोग-जन्य निर्बलता को दूर होने में कुछ समय लग जाने की संभावना तो थी ही । जयाचार्य ने जब देखा कि इतना समय हाथ में नहीं है, तब उन्होने वहाँ से विहार कर दिया । इदौर से उज्जैन तक मघवागणी को साधु उठाकर लाये । वहाँ कुछ दिन औषध-सेवन से शरीर में पुन शक्ति का सचार हुआ और वे बिल्कुल स्वस्थ हो गये ।

चेचक में

एक बार सं० १९१३ के पाली चातुर्मास के पश्चात् जब जयाचार्य कालू पधारे, तब मघवागणी को चेचक की बीमारी हो गई । वहाँ सत्ताईस दिन तक जयाचार्य को रहना पडा । क्योंकि न तो जयाचार्य ही उन्हें पीछे छोडना चाहते थे और न वे स्वय पीछे रहना चाहते थे । यद्यपि गाँव छोटा था और चातुर्मास की समाप्ति पर आने वाले साधु-साध्वियों की सख्या

बढ़ती जा रही थी, फिर भी वे वहीं विराजे। आहार-पानी के लिए उन दिनों आस-पास के बारह गाँवों में गोचरी की जाती थी। इससे पता लग सकता है कि जयाचार्य उन्हें कितना महत्त्व दिया करते थे।

संस्कृत के प्रथम विद्वान्

जयाचार्य ने तेरापन्थ श्रमण-संघ के लिए संस्कृत-भाषा का जो बीज-वपन किया था, उसे पनपाने में पहले-पहल मघवागणी का ही योग रहा। वे प्रारंभ से ही पढ़ने-लिखने में रुचि रखने वाले बालक थे। उन्हें तेरापन्थ में संस्कृत का प्रथम विद्वान् कहा जा सकता है। उन्होंने संस्कृत की कुछ स्फुट रचनाएँ भी की थी।

उस समय की स्थिति के अनुसार उन्होंने संस्कृत-ग्रंथों का अच्छा अध्ययन और मनन किया था। सारस्वत का पूर्वार्ध और चन्द्रिका का उत्तरार्ध उन्होंने कंठस्थ कर लिया था। चान्द्र और जैनेन्द्र व्याकरण का भी उन्होंने सांगोपांग अध्ययन किया था। संस्कृत के प्रमुख काव्यों और ग्रंथों में से उन्होंने माघ, किरातार्जुनीय, भट्टी, दुर्घट काव्य, अनेक चम्पू तथा नाटक, विदग्ध-मुखमंडन, न्याय-दीपिका, परीक्षामुख-मंडन, समाधि-तंत्र, योगशास्त्र आदि ग्रंथों का अध्ययन किया था। भरत-बाहुबली-महाकाव्य तथा ज्ञान-सूर्योदय-नाटक आदि को तो वे अनेक बार व्याख्यान के रूप में जनता को भी सुनाया करते थे।

कंठस्थ ग्रंथ

मघवागणी जैन आगमों के धुरंधर विद्वान् थे। अपनी विद्यार्थी-अवस्था में उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, प्रथम आचारांग और बृहत्कल्प आदि आगम समग्ररूप से कंठस्थ कर लिये थे। अवशिष्ट आगम-ग्रंथों का उन्होंने अनेक बार पारायण किया था। जैनागमों की संस्कृत-टीकाओं का भी उन्होंने गंभीरतापूर्वक मनन किया था। इनके अतिरिक्त राम चरित्र, नेमीनाथ चरित्र, जंबूकुमार, शालीभद्र, प्रदेशी, अमरकुंवर, सुरसुंदरी आदि अनेक व्याख्यान-ग्रन्थ भी उनके कंठस्थ थे।

स्थिर बुद्धि

उनकी बुद्धि अत्यंत स्थिर थी। एक बार कंठस्थ किये हुए ग्रन्थ को वे प्रायः भूला नहीं करते थे। अनेक वर्षों के बाद भी वे उसे ऐसे दुहरा दिया करते थे, मानो वे उसे सदैव दुहराते रहे हों। एक बार सं० १९४८ के अपने जयपुर-चातुर्मास में उन्होंने पंडित दुर्गादत्तजी को संस्कृत-व्याकरण सम्बन्धी बातचीत के सिलसिले में सारस्वत का कुछ पाठ सुनाया। पंडितजी ने आश्चर्याभिभूत होकर उनसे पूछा कि क्या वे अब तक व्याकरण को दुहराते रहते हैं ? मघवागणी ने तब उनको और भी चकित करते हुए फरमाया कि आज से पूर्व सं० १९२२ के पाली-चातुर्मास में एक बार जयाचार्य को मैंने सारस्वत का सारा पूर्वार्ध सुनाया था। उसके पश्चात् उसे दुहराने का काम नहीं पड़ा।

सत्रजी ही हैं

जयाचार्य के पास जब कोई संस्कृत विद्वान् आता, तब वे उसे प्रायः यही फरमाया करते थे कि हमारे यहाँ तो संस्कृत के पंडित एक सत्रजी ही हैं। उनका यह कथन जहाँ मघवागणी के उत्साह को बढ़ाने वाला होता था, वहाँ उनकी इच्छा का सूचक भी होता था कि संघ में ऐसे अनेक विद्वान् होने चाहिए।

'जैतारण' का अर्थ

जयाचार्य ने मघवागणी के लिए पंडित शब्द का व्यवहार अवश्य ही उनके उत्साह को बढ़ाने अथवा अपनी कृपा व्यक्त करने के लिए किया होगा, परन्तु मघवागणी ने उस उपाधि को सन्तों द्वारा पहले ही प्राप्त कर लिया था। एक बार जयाचार्य विहार करते हुए 'जैतारण' पधार रहे थे। कुछ सन्त विहार में उनसे आगे चलते हुए पहले ही जैतारण गाँव के बाहर पहुँच गये थे। उस समय किसी साधु ने वहाँ उपस्थित साधुओं को निम्नोक्त पहेली का अर्थ पूछा :

आगे जैतारण लारे जैतारण, बिच में चाला आपां।
इण पाली रो अर्थ बतावै, तिणनै पंडित थापां॥

सर्व प्रथम मघवागणी ने ही उसका अर्थ बतलाया कि हम जहाँ पर हैं, वहाँ से आगे तो जैतारण नामक गाँव है और हमारे से पीछे जनता को तारने वाले जयाचार्य हैं। हम उन दोनों के बीच में हैं। बस उसी दिन से साधुजन उन्हें पंडित के नाम से सबोधित करने लगे। उन्होंने भी आगे चलकर वस्तुतः उस नाम को पूर्णरूप से सार्थक कर दिया।

सुंदर और सूक्ष्म लेखन

वे केवल पंडित ही नहीं थे, किन्तु एक अच्छे लिपिकर्त्ता भी थे। उनके हाथ से लिखे गये अनेक ग्रन्थ यह स्पष्ट बतला रहे हैं कि उन्होंने अक्षर-विन्यास में पूर्ण सफलता प्राप्त की थी। सुन्दर और सूक्ष्म लेखन में उस समय उनका सबसे पृथक् महत्त्व था। उन्होंने संघ की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हजारों गाथाओं का लेखन किया।

धूल किसने गिराई?

मघवागणी जहाँ अपनी विद्वत्ता और कला में अनन्य थे, वहाँ आत्मगुणों की साधना में भी अनन्य थे। उत्तेजित होना तो मानो वे जानते ही नहीं थे। उन्हें कोई जानबूझकर उत्तेजित करने का प्रयास करता तो भी वे अपने स्वभाव से बाहर नहीं जाते थे। एक बार स्वयं जयाचार्य ने भी उनकी इस क्षमावृत्ति को परखा था। वे जब स्वाध्याय में बैठे थे तब जयाचार्य ने किसी साधु से कहा—"सत्रजी भीत की ओर मुँह किये बैठे हैं, तुम उनकी पीठ पर थोड़ी-सी धूल डाल आओ।"

वह साधु इस बात को सुनकर दुविधा में पड़ गया। एक तरफ गुरु का आदेश था, तो

दूसरी तरफ शिष्टता-विरुद्ध कार्य। जयाचार्य ने उसकी दुविधा को ताडते हुए फिर कहा—"मैं किसी उद्देश्य-विशेष से ही ऐसा करने को कह रहा हूँ, तुम्हे घबराने की कोई आवश्यकता नही। जाओ तुम अपना काम कर आओ, पीछे की बात मैं स्वयं सभाल लूँगा।"

आखिर वह साधु गया और मुट्ठीभर धूल उनकी पीठ पर डाल कर झट-से लौट आया। जयाचार्य दूर बैठे हुए उनकी प्रतिक्रिया देख रहे थे। मघवा उठे और कपडे से शरीर को झडका कर फिर बैठ गये।

जयाचार्य ने पूछा—"क्या हुआ मघजी ?"

उन्होने हाथ जोडकर उठते हुए कहा—"नही महाराज ! कुछ नही, पीठ पर थोडी-सी धूल गिर गई थी, वह पोंछी है।"

जयाचार्य ने फिर पूछा—"धूल किसने गिरा दी थी ?"

वे बोले—"एक साधु इधर से अभी गया था, उसी से गिर गई मालूम देती है।"

जयाचार्य ने कहा—"अरे ! तुम भी विचित्र हो, आखिर पता तो करते किसने गिराई ?"

इस पर मघवा ने कहा—"पता क्या करना था महाराज ! जानबूझ कर तो कोई गिराता नही, भूल से किसी के द्वारा गिर गई तो गिर गई। यो फिर आँधियो मे भी तो कितनी ही धूल गिरती रहती है, वह झड़का लेते है वैसे ही यह भी झडका ली।"

अयाचित सेवा

उनके स्वभाव में सेवावृत्ति ओतप्रोत थी। दीक्षा-वृद्ध संतो की सेवा करने मे तो आश्चर्य ही क्या था, वे छोटे साधुओं की सेवा भी उसी उत्साह के साथ किया करते थे। जयाचार्य ने जब सघ में आहार और काम का सम-विभाग-प्रवर्त्तन किया था, तब उनकी वह सेवावृत्ति अनेक व्यक्तियो के लिए बहुत सहायक बनी थी।

जयाचार्य जो भी नियम बनाते थे, उसका प्रथम प्रयोग प्राय: वे मघवागणी से ही प्रारभ करते थे। उस समय की वे नई बातें जिनके गले नही उतरती थीं, मघवागणी की सेवा उसे सहजता से गले उतारने में समर्थ हो जाती थी। जो अपने आपको उस व्यवस्था के अनुरूप ढालने मे कुछ कष्ट का अनुभव करते थे, उनके लिए भी वे परम सहायक हुआ करते थे। वे उनके काम मे हाथ बटाया करते थे।

कार्य-सम-विभाग के अतर्गत जब रात्रिकालीन 'परिष्ठापन' का कार्य भी दीक्षाक्रम मे सबके लिए लागू किया गया था, तब अनेक सतो की बारी उन्होने अपने ऊपर ले ली थी। वृद्ध या रोगी साधुओ को वे अपनी अयाचित सेवा दिया करते थे। कई बार तो ऐसे साधु भी उनके पास सहायता माँगने आया करते थे, जो कार्य करने का सामर्थ्य तो रखते थे, पर नये क्रम के कारण घबराते थे कि सभव है अच्छी तरह से नही कर पायें। मघवागणी सहर्ष उन्हे अपनी सेवा अर्पित करते और कार्य-विषयक उनके भय को दूर करने मे सहायक होते थे।

आहार के सम-विभाग होने पर भी उन्होंने साधुओं की काफी सेवाएँ की थीं। अपनी पाँती के आहार में से जो ठीक होता, वह औरो को देने का प्रयास करते और दूसरों की पाँती मे जो टुकड़े होते, वे आप ले लेते। उनकी वह वृत्ति दूसरों के लिए भी प्रेरक बनती। जो दूसरों का साधारण आहार नहीं ले सकता, उसे भी अपना साधारण आहार देकर दूसरों का अच्छा आहार लेना तो स्पष्ट ही अनुचित लगने लगता। यद्यपि मघवागणी की वे प्रवृत्तियाँ किसी नीति से प्रेरित न होकर स्वाभाविक ही थी, फिर भी उन्होंने सघ की तत्कालीन नीतियों को सफल बनाने में बड़ा महत्त्वपूर्ण योग दिया।

श्रीपंच

जयाचार्य ने शासन-व्यवस्था से दण्ड-व्यवस्था को पृथक् करने का एक प्रयोग किया था। उसमें पाँच सन्तो को पच नियुक्त किया गया था। किसी भी दडनीय व्यक्ति को कितना दड मिलना चाहिए, इसका निर्णय वे लोग सम्मिलित होकर किया करते थे। एक बार बाल-मुनि कालूजी (रेलमगरा वाले) से कोई गलती हो गई। मामला पंचों के सामने गया। वे दड की व्यवस्था करने के लिए एकत्रित हुए। जब निर्णय सुनाया जाने वाला ही था, तब मुनि कालूजी ने जयाचार्य से प्रार्थना की कि मुझे निष्पक्ष न्याय मिल सकेगा—ऐसा विश्वास नहीं है। जयाचार्य ने उनसे अविश्वास का कारण पूछा, तो उन्होंने कुछ ऐसे कारण रखे कि आचार्यदेव को उनकी बात पर विचार करना आवश्यक हो गया।

जयाचार्य चाहते थे कि दंड-दाता के समान ही दड-आदाता को भी यह विश्वास रहना चाहिए कि उसे उसकी स्खलना का उचित दड मिल रहा है। ऐसा हुए बिना न तो स्खलना ही दूर हो सकेगी और न मनस्तोष ही प्राप्त हो सकेगा। उन्होंने मुनि कालूजी से पूछा—"तुझे किस पर विश्वास है? क्या तू मघजी के निर्णय को मान लेगा?" उन्होने तत्काल उनके विषय में पूर्ण विश्वास प्रकट किया और उनके द्वारा निर्णीत दड को स्वीकार करने का वचन दिया। जयाचार्य ने तब मघवागणी को बुलाया और पूर्व-स्थापित पंचो पर उन्हें 'श्रीपच' बना दिया। यह घटना सं० १९११ की है, जब कि जयाचार्य मालव-यात्रा करते हुए खाचरोद पधारे थे। मघवागणी की अवस्था उस समय केवल चौदह-पन्द्रह वर्ष की ही थी।

हाजरी सुनाना

जयाचार्य ने मघवागणी को आगे बढने का सदैव अवसर प्रदान किया था। उनकी प्रगति सबल स्रोत की तरह अनवरुद्ध रूप से चालू ही रही थी। बाधाओं के अवसर उनके सामने बहुत ही कम उपस्थित हुए थे। वस्तुत. एक के पश्चात् एक मिलने वाली सफलता ही उनकी जीवन-सगिनी रही थी। 'श्रीपच' स्थापित होने की सफलता के अगले वर्ष ही स० १९१२ मे जयाचार्य की आँखो में कुछ गडवड हो गई थी। वे उस समय 'खेरवा' में विराजमान थे। वहाँ संतों को हाजरी सुनाने का अवसर आया, तो उन्होंने अपना वह कार्य मघवागणी को ही

सौंपा। क्रमश· विकसित होते हुए उनके व्यक्तित्व की वह भी एक अच्छी सफलता की कडी थी।

विभाग कार्य से मुक्त

स० १९१९ के शीतकाल में जयाचार्य राजलदेसर में विराजमान थे। वहाँ मघवागणी की विशिष्ट सेवाओ से सघ में जो हित हुआ था, उसे ध्यान में रखते हुए पुरस्कारस्वरूप उन्हे पाँती के सब काम तथा समुच्चय के भार से मुक्त कर दिया गया।

: ४ :

युवाचार्य

आवश्यकता

सं० १९२० में जयाचार्य का चातुर्मास चूरू में था। वहाँ जयाचार्य को संघ की अनेक वैधानिक चिन्ताओं से मुक्त होने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। वे उस समय शास्त्रों की जोड़ (पद्यटीका) करने में लगे हुए थे। उन दिनों भगवती की जोड़ चालू थी। निर्विघ्न एकांत के बिना कार्य की गति तीव्र नहीं हो पा रही थी। उसे तीव्रता तभी प्रदान की जा सकती थी, जब कि संघ की सार-संभार के कार्य किसी दूसरे व्यक्ति को नियमित रूप से सम्भला कर स्वयं [illegible] बैठें।

यद्यपि कुछ कार्यों में मघवागणी उन्हें स्वयं ही सहायता प्रदान करते रहते थे, फिर भी जो कार्य आचार्य या युवाचार्य के लिए ही उपयुक्त हों, वे तो जब तक युवाचार्य का निर्णय न कर दिया जाए, तब तक स्वयं उन्हें ही करने पड़ते थे। इसीलिए उन्होंने वैधानिक रूप से मघवा को युवाचार्य-पद देने का निर्णय किया।

नियुक्ति

आश्विन कृष्णा त्रयोदशी का दिन युवाचार्य की नियुक्ति के लिए घोषित किया गया। यद्यपि भावी आचार्य के विषय में प्रायः सभी जानते थे, फिर भी विधिवत् पद-समर्पण के अवसर पर सभी के मन में एक नया उत्साह था। नियत समय पर जनता के समक्ष जयाचार्य ने मघवागणी को जब युवाचार्य नियुक्त किया, तब चारों ही तीर्थ हर्षाप्लावित हो उठे।

मूक सेवा

मघवागणी की अवस्था उस समय लगभग चौबीस वर्ष की थी। युवाचार्य बनने के पश्चात् मघवागणी ने संघ-संबन्धी प्रायः बहुत-सा कार्य संभाल लिया। जयाचार्य गण की चिंताओं से विमुक्त होकर आगम-मन्थन के कार्य में अपना प्रायः समस्त समय देने लगे। ऐसे सुयोग्य शिष्य की आन्तरिक और बाह्य परिचर्या के आधार पर ही जयाचार्य इतना कार्य कर पाये थे। आगम की राजस्थानी भाषा में पद्यबद्ध टीकाओं (जोड़) के निर्माण से जयाचार्य ने जिन-शासन की जो सेवा की थी, उसमें एक विशिष्ट भाग मघवागणी की मूक सेवा का भी सम्मिलित था, ऐसा निःसंकोच कहा जा सकता है।

प्रशंसा-पराङ्मुख

उन्होंने अपनी सेवा को कभी बाहर प्रकट नहीं होने दिया। वे एक इतने निस्पृह व्यक्ति थे कि उन्हें किसी के द्वारा की गई प्रशंसा भी मार्ग से डिगा नहीं सकती थी। जब कोई उनके

सामने उनकी प्रशंसा करने लगता, तो वे उसकी ओर उपेक्षा-भाव रखते हुए किसी दूसरे प्रसंग को छेड़ दिया करते थे। स्व-प्रशंसा में उनकी जितनी उपेक्षावृत्ति रहा करती थी, उतनी ही पर-निंदा में भी। कोई दूसरा उनके सामने किसी की निंदा करता तो उसे भी वे कोई महत्व नहीं दिया करते थे। वे स्व-प्रशंसा और पर-निंदा से सदैव पराङ्मुख रहने वाले व्यक्ति थे। उनका युवाचार्य-काल लगभग अठारह वर्ष तक रहा था।

: ५ :

महान् आचार्य

पाचन-काल

मघवागणी सं० १९३८ भाद्रपद कृष्णा द्वितीया को जयपुर में तेरापंथ के पंचम-आचार्य के रूप में पदासीन हुए। जयाचार्य जैसे तेजस्वी और नव निर्माण-कर्त्ता आचार्य के पश्चात् यह आवश्यक भी था कि अब एक प्रशान्त और सरलता-प्रकृति के आचार्य हों। किसी भी नवीनता को हजम करने के लिए भोजन की ही तरह कुछ समय अपेक्षित रहता है। जयाचार्य के द्वारा किये गये अनेक नवीन परिवर्तन तेरापन्थ के लिए उपयुक्त तो उनके समय में ही हो चुके थे, परन्तु उन्हें आत्मसात् करने के लिए उसमें पूर्ण होने वाली जीर्णता की आवश्यकता थी, जो कि केवल समय-सापेक्ष ही होती है। मघवागणी का शासनकाल वस्तुतः एक वैसा ही संक्रमण का समय था, जैसा कि एक भोजनकाल से दूसरे भोजनकाल के बीच का होता है।

भोजन करने के समय शरीर की बाह्य और आन्तरिक दोनों ही प्रकार की क्रियाएं चालू हो जाती हैं, किन्तु भोजन कर लेने के पश्चात् चबाने आदि की बाह्य क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं, फिर भी पाचन आदि की आंतरिक क्रियाएं बड़े वेग से चला करती हैं। अन्दर ही अन्दर चलने वाली क्रियाओं को हम बाहर से नहीं देख पाते, किन्तु शरीर को शक्ति प्रदान करने के लिए उनका महत्त्व बहुत बड़ा होता है। मघवागणी के शासनकाल में हमें जयाचार्य के शासनकाल जैसी युग-परिवर्तन-कारिणी बाह्य हलचलें तो दिखाई नहीं देतीं, किन्तु उन हलचलों के पश्चात् उनसे रस-ग्रहण करके संघ को सशक्त करने की आंतरिक क्रियाएं बड़ी उत्तमता से चालू थीं।

प्रेम-बल

नवीनता को लेकर जयाचार्य के समय में जो प्रश्न खड़े किये गये थे, अधिकांश तो वे उसी समय समाहित हो चुके थे, किन्तु मघवागणी के समय में तो उनका कोई अस्तित्व ही नहीं रह पाया था। उनकी शांत प्रकृति और सौम्य मुद्रा ने सबके हृदय पर विजय पा ली थी। प्रायः देखा जाता है कि जो प्रश्न तर्क-बल से समाहित नहीं हो पाते, वे अन्ततः प्रेम-बल से समाहित हो जाते हैं। मघवागणी का प्रेमरस सारे साधु-समाज को मन्त्र-मुग्ध किये रहता था।

जगाने से अच्छा

आचार्य-पद पर होते हुए भी वे अपने लिए कम से कम सेवा लेना पसंद किया करते थे। अनेक बार गर्मी की रात्रियों में जब वे पट्ट पर सोये होते और हवा न लगने के कारण से जाग

पडते तो स्वय उठकर दूसरा स्थान देख लेते और यदि कहीं थोडी हवा महसूस होती तो वहाँ स्वय ही अपना विस्तर ले जाकर नीचे ही बिछा लेते और वहाँ सो जाते। उठने के समय जब साधुओं को पता लगता तो वे नम्रता-युक्त उपालंभ भी देते कि आपने हम लोगो को जगाया क्यों नहीं ? मघवागणी उनके मधुर उपालभ को सुनकर प्राय यही कहा करते कि तुम्हें नीद से जगाता, उससे अच्छा यही था कि मैं स्वय वहाँ जाकर सो गया।

उठ जाओ

अनेक बार ऐसे अवसर भी आ जाते थे कि जब वे जमीन पर बिछौना बिछा कर सोये हुए होते और उन्हें नींद आई हुई होती, तभी कोई साधु नही पहचानने के कारण उन्हें उठा दिया करता। एक बार पन्नालालजी नामक साधु ने इसी प्रकार उन्हें उठाया और कार्य-विशेष के लिए सूचित किया। उनके इन्कार को भी गौण करते हुए उस साधु ने फिर कहा—नही भाई ! आलस न करो और उठ जाओ ! अन्यथा अभी थोडी देर के बाद ही कही तुम्हे उठने की आवश्यकता होगी।

मघवागणी ने तब उठकर उन्हें बतलाते हुए कहा—"पनजी ! यह तो मैं हूँ !"

पन्नालालजी स्वामी ने जब उन्हे पहचाना तो बडे खिन्न हुए और बार-बार माफी माँगने लगे। परन्तु जब किसी तरफ से कोई क्रोध ही नही था, तब माफी देने न देने का कोई प्रश्न ही कहाँ था ?

मेरे काम आ जायेगा ?

वे केवल साधुओं को ही इतने प्रेम और हिफाजत से नही रखा करते थे, किन्तु सघ की हर वस्तु को बडी सुरक्षा से रखा करते थे। एक बार एक साधु एक पत्र को परठने की आज्ञा लेने के लिए आया। मघवागणी ने उसे हाथ में लेकर देखा और उससे पूछा कि इसे क्यो परठ रहे हो ?

उसने कहा—"यह अच्छा लिखा हुआ नहीं है और पुराना हो जाने के कारण किनारो पर से टूट भी गया है। मैंने इसकी दूसरी प्रतिलिपि कर ली है, अत अब यह मेरे लिए कोई काम का नहीं रह गया है।"

मघवागणी ने उस पत्र को अपने पास रख लिया और अपने पूठे में रखते हुए कहने लगे—"यह तुम्हारे काम का न रहा हो तो न सही, परन्तु मेरे काम आ जायेगा।"

उनके स्वय के अक्षर बहुत सुन्दर थे तथा वे दूसरे साधुओं के पास से भी उस पत्र की सुन्दर प्रतिलिपि करा सकते थे, फिर भी उन्होंने वैसा कुछ नही करके उसी पत्र को अपने पास रखकर हर उपयोगी वस्तु को सभाल कर रखने तथा साधारण से साधारण वस्तु का भी अधिक से अधिक उपयोग कर लेने की प्रवृत्ति को बल दिया था।

अखण्ड विश्वास

मघवागणी को सारे सघ का अखंड विश्वास प्राप्त था। यहाँ तक कि सघ-विरोधी व्यक्ति भी उनका पूर्ण विश्वास किया करते थे। सघ से पृथक् हुए छोगजी के सम्मुख एक वार जब मघवागणी के विषय में कोई वात चली तो उन्होंने भी यह कहा था कि मघराजजी के विषय मे हमें कोई शिकायत नही है। वे तो इतने चारित्र-निष्ठ है कि यदि उन्हें अकेली स्त्री के निकट एकांत में रख दिया जाये तो भी हमें कोई शका नही होगी।

अपने व्यवहार की चिंता

स० १९४३ में मघवागणी का चातुर्मास उदयपुर में था। सवत्सरी पर्व के पश्चात् एक दिन वे 'खमत खामणा' करने के लिए स्थानक में पधार गये। वहाँ उनके साथ उपयुक्त व्यवहार नही किया गया, फिर भी अपनी ओर से क्षमापना करके वे वापस चले आये। सघ के अन्य साधुओं पर वहाँ के व्यवहार की प्रतिक्रिया अच्छी नही हुई। उन्होने मघवागणी से प्रार्थना की कि आपको ऐसे स्थान पर नही पधारना चाहिए, जहाँ कि अवज्ञा की सभावना हो। आपकी अवज्ञा सारे सघ की अवज्ञा है।

मघवागणी ने संतो से कहा -"वहाँ के अनुचित व्यवहार की पहले सभावना होती तो सभवत: जाना न भी होता, परन्तु जाने पर भी उन्हें उसका पश्चात्ताप नही है। उनका व्यवहार कैसा रहा — यह हम क्यों सोचें, यह तो उनके सोचने का कार्य है। हमें तो मुख्यत अपने व्यवहार को ही सोचना चाहिए। वह यदि अनुचित नही है तो चिंता की कोई वात नहीं है।"

मघवागणी की वात ठीक निकली। स्थानक मे उस समय जो व्यक्ति उपस्थित थे, उनमें से भी अनेक को वह व्यवहार अखरा था। इसलिए पीछे मे स्वय उन्हीं के श्रावको ने उनके व्यवहार को बुरा वतलाया।

संस्कृते वाच्यम्

मघवागणी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे, फिर भी वातचीत के प्रसग में वे राजस्थानी को ही अधिक महत्त्व दिया करते थे। वह उनका कोई आग्रह नही था, किन्तु जन-साधारण की भाषा को प्रयुक्त करने विषयक जैनाचार्यो की प्राचीन परपरा से अनुभावित सर्वथा उपयुक्त विचार था। जब केवल सस्कृत विद्वान् के साथ वात करने का अवसर आता, तव वे वहुधा सस्कृत में ही वोला करते थे, परन्तु जब जन-साधारण को समझाना आवश्यक होता, तब प्राय स्थानीय भाषा का ही प्रयोग किया करते थे। एक वार आचार्य-अवस्था में वे कुचामन पधारे। वहाँ कुछ लोग एक स्थानीय पडित को लेकर आये और मघवागणी से कुछ प्रश्न पूछने चाहे। पंडित को वे वडे सम्मान से लाये थे। उसके वैठने के लिये एक कवल को तह करके विछाया गया और उस पर एक भाई ने अपना एक नया दुशाला उतार कर विछा दिया। पडितजी भी बडे गर्व के साथ सामने आकर वैठे और सस्कृत में वोलते हुए भाइयो की ओर से प्रश्न पूछने की आज्ञा मांगने लगे।

मघवागणी ने जब प्रश्न पूछने की स्वीकृति प्रदान की, तब उन्होने संस्कृत में बोलते हुए ही प्रश्न पूछने प्रारंभ किये। मघवागणी जब उनके उत्तर राजस्थानी में देने लगे, तब उन्होने कहा—"संस्कृते वाच्यम्"

मघवागणी ने पंडितजी की उस बात को अस्वीकार कर दिया और कहा—"जब आप आये हुए इन भाइयो की ओर से प्रश्न कर रहे हैं, तब मुझे उत्तर देने मे उसी भाषा का प्रयोग करना चाहिये, जिससे कि इन सबको समाधान प्राप्त हो सके। आपको अपने प्रश्न भी यहाँ की भाषा में ही पूछने चाहिये।"

पंडितजी ने उनकी बात नही मानी और स्वयं तो संस्कृत में बोलते ही रहे, पर मघवागणी को भी संस्कृत में बोलने के लिये ही कहते रहे।

इस पर मघवागणी ने उनसे कहा कि मैं संस्कृत समझता हूं और आप राजस्थानी। हम अपनी-अपनी इच्छानुसार भाषा का प्रयोग करें तो इसमें आपको कोई अड़चन नही होनी चाहिये। आखिर प्रश्न संस्कृत में और उत्तर राजस्थानी में होने लगे।

संस्कृत बोलने में जब पंडितजी अशुद्धियाँ करने लगे, तब मघवागणी ने संकेत के द्वारा उन्हें सावधान करते हुए कहा—"पंडितजी!"

पंडितजी तत्काल संभले और सावधानी से बोलने लगे। फिर भी अशुद्धियाँ आने लगीं, तब मघवागणी ने फिर चेताया। वे थोड़े लज्जित तो अवश्य हुए, परन्तु उसके पश्चात् राजस्थानी में ही बोलने लगे। आगे के सारे प्रश्नोत्तर जनभाषा मे होने के कारण जनता को भी उसमें अधिक रस आया।

प्रश्नोत्तरो के प्रारंभ में नमस्कार आदि किये बिना ही अकड़कर बैठने वाले पंडितजी उनकी समाप्ति पर मघवागणी के चरणो में झुक गये। बड़ी नम्रता से उन्होने निवेदन किया कि आप बड़े उदार है, आपने मेरी लाज रख ली। यदि आप चाहते तो मेरी अशुद्धियो के आधार पर जनता में मेरा अपमान करा सकते थे, किन्तु आपने वैसा नहीं करके अति संक्षेप मे संकेत करके केवल मुझे ही सावधान किया।

मघवागणी ने फरमाया—"अपमान करने का हमारा कोई उद्देश्य हो ही कैसे सकता है। जनभाषा का प्रयोग करने के लिए भी हमारा आग्रह इसीलिए था कि उससे उपस्थित जन-समुदाय को भी लाभ प्राप्त हो।"

राजस्थानी रचनाएँ

मघवागणी ने अपने जीवनकाल मे जो रचनाएँ की थी, उनमें संस्कृत की तो कुछ स्फुट कविताएँ ही हैं, उनके अतिरिक्त जयसुजस, गुलाबसुजस तथा वन्नाजी, दलीचन्दजी स्वामी और मायाचन्दजी स्वामी के चौढालिये, चरम-महोत्सव, मर्यादा-महोत्सव और पाट-महोत्सव की ढालें, संत-सतियों की तपस्या की ढालें तथा प्रश्नोत्तर आदि उनकी प्रायः सभी रचनाएँ राजस्थानी में ही हैं।

: ६ :

विहार और जनोपकार

थली की सफल यात्रा

मघवागणी का आचार्य-अवस्था में प्रथम विहार जयपुर से थली की ओर हुआ था। वहाँ उनका वह प्रथम पदार्पण ही था। वहाँ के अन्य गाँवो की अपेक्षा उस समय सरदारशहर उनके लिए आकर्षण का केन्द्र वना हुआ था। अन्य क्षेत्रों में थोड़े-थोडे रहकर वे पहले सरदारशहर ही पधारे, वहाँ पर छोगजी, चतुर्भुजजी आदि टालोकरों का जो विरोधी संगठन वना हुआ था, वह बिखर चुका था। यद्यपि इसके समाचार जयपुर-चातुर्मास से पूर्व ही जयाचार्य को मिल चुके थे। किन्तु वे उस समय उधर नहीं पधार सके थे। उनका वह अवशिष्ट कार्य मघवागणी ने पूर्ण कर दिया।

जो सरदारशहर तेरापन्थ के लिए केवल वहिनों का क्षेत्र कहलाता था, वहाँ के भाई भी उस समय धड़ाधड तेरापन्थी वनने लगे थे। केवल वहीं नहीं, किन्तु उधर के प्रायः सारे इलाके में ही टालोकरों का जो प्रभाव था, वह समाप्त हो चुका था। रीणी (तारानगर) और राजगढ आदि क्षेत्रो में भी अनेक परिवारों ने मघवागणी के पास अपनी विभिन्न जिज्ञासाओं को शांत करने के पश्चात् गुरु-धारणा ली। इस प्रकार उनकी वह प्रथम यात्रा परिपूर्ण रूप से सफल रही थी।

गुलाबसती का देहान्त

थली में लगातार तीन चातुर्मास करने के पश्चात् उन्होंने मारवाड तथा मेवाड़ की ओर पधारने का निश्चय किया। उस यात्रा में सं० १९४२ का चातुर्मास जोधपुर में किया। वहाँ पर गुलाबसती के शरीर में वहुत असाता रही और चातुर्मास के पश्चात् पौष महीने में वे दिवगत हो गईं। भाई और वहिन की वह एक वहुत ही उत्तम जोडी थी। मघवागणी उसके पश्चात् वहाँ से विहार करते हुए पाली पधारे और वहाँ उन्होंने साध्वियों का भार महासती नवलांजी को दिया।

देवगढ़ में

वहाँ से विहार करते हुए उन्होने मेवाड में प्रवेश किया और देवगढ पधारे। मघवागणी के पदार्पण से कुछ दिन पूर्व ही वहाँ के रावजी के कुँवर गुजर गये थे। उनके शोक में रावजी ने सारे शहर में कुछ दिन के लिए गाना-वजाना और जीमनवार आदि कार्यों को वन्द रखने की आज्ञा प्रचारित कर रखी थी। उनको जव पता लगा कि यहाँ मघवागणी पधारने वाले हैं, तव उन्होंने अपनी ओर से चलाकर श्रावक-जनों को यह कहलवाया कि पूज्यजी के यहाँ आने

के अवसर पर किसी भी प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं है। तुम लोग विना किसी रोक-टोक के अपनी सदा की पद्धति के अनुसार स्वागत आदि कर सकते हो। मेरे घर में तो जो विपत्ति आनी थी, वह आ चुकी। उसके लिए संतों के आगमन पर होने वाले जन-उत्साह को क्यों रोकूँ? रावजी ने केवल यह कहलवाया ही नही, किन्तु अपने अधिकारियों और कर्मचारियों आदि को भी सामने भेजा। स्वय को दर्शन देने के लिए प्रार्थना भी करवाई।

मघवागणी जब दर्शन देने के लिए गढ में पधारे तो रावजी ने मदिर तक सामने आकर उनका स्वागत किया और अपने परिजन, प्रधान तथा कर्मचारियो सहित उपदेश-श्रवण का लाभ लिया। रावजी वडे भक्त-प्रकृति के व्यक्ति थे। गुरुदेव के उपदेश से उनके शोक-संतप्त हृदय को वहुत ही सान्त्वना मिली। उनकी भक्ति और भावना के आधार पर उस थोड़े से प्रवास में भी वे कई वार दर्शन देने के लिए गढ में पधारे।

कविराज की बाड़ी मे

वहाँ से मेवाड के विभिन्न गाँवो में विहार करते हुए वे स० १९४३ का चातुर्मास करने के लिए उदयपुर पधारे। वहाँ जनता में काफी अच्छी धर्म-जागरणा हुई और राजवर्गीय लोगो का भी अच्छा समागम रहा। चातुर्मास के पश्चात् वाहर कविराज सांवलदानजी की वाडी में कुछ दिन विराजना हुआ। कविराजजी मघवागणी के वड़े भक्त थे। उन्हें कविराजजी की यह उपाधि राज्य की ओर से मिली हुई थी। राज्य में उनका वडा सम्मान था।

महाराणा का आगमन

कविराजजी को स्वय महाराणा भी वडे आदर की दृष्टि से देखा करते थे। उन्होने महाराणा फतहसिंहजी के सामने अपने यहाँ विराजमान मघवागणी की वात चलाई और उन्हें दर्शन करने की भी प्रेरणा दी। तेरापन्थ के आचार्यो तथा साधुओं से महाराणा-परिवार का परिचय काफी पुराना चला आ रहा था, उसी आधार पर महाराणा ने कविराजजी की वात को तत्काल स्वीकार कर लिया और अपने आने की तिथि तथा समय भी गुरुदेव की सुविधा आदि पूछ कर निश्चित कर दिया।

अपने निश्चित किये हुए दिन के सायकाल में महाराणा दर्शन करने के लिए आये। किन्तु वे अपने निश्चित समय पर नहीं आ सके थे। आने में उनको देर हो जाने का कारण यह था कि उससे पहले वे कही वाहर गये हुए थे, वहाँ से जब वे अपने स्थान पर आये तो दर्शन के लिए जाने की वात उनकी स्मृति से ओझल हो गई। उन्होने अपनी वाहर जाने की पोशाक खोलकर दूसरी पोशाक धारण कर ली। तभी अचानक उन्हे याद आया कि कविराजजी की बाडी में संतो के दर्शन करने की वात तो वे भूल ही गये है। तत्काल उन्होंने एक हरकारे को आगे भेजा और अपने आने की सूचना दी। स्वय भी शीघ्रता से तैयार होकर चल पड़े।

इतनी शीघ्रता करने पर भी उन्हें काफी देर हो चुकी थी। जब वे वहाँ पहुँचे तो नत-मस्तक होकर मघवागणी को वंदन करते हुए उन्होंने देरी से पहुँच पाने के लिए क्षमा-याचना की।

मघवागणी ने लगभग बाईस मिनिट तक उन्हें उपदेश सुनाया। महाराणा दत्तावधान सुनते रहे। आचार्यदेव ने जब देखा कि सूर्यास्त हो चुका है तथा सन्तों के वंदन और प्रतिक्रमण के समय में देर होती जा रही है, तब उन्होंने उपदेश को उपसंहार की ओर मोड दिया। महाराणा का ध्यान सुनने में इतना एकाग्र था कि वे मघवागणी की उस भावना को सहसा पकड़ नहीं पाये। उनका ध्यान तब टूटा, जब कि उपदेश की बहती हुई अजस्रधारा सहसा ही रुक गई। महाराणा ने गुरुदेव के मुखारविंद की ओर देखा तो उन्होंने फरमाया कि अब तो समय समाप्त हो चुका है। इस समय हमारे लिए और अधिक समय दे पाना असभव है, क्योंकि साधुओं के संध्याकालीन प्रतिक्रमण का समय आ चुका है।

महाराणा तत्काल उठ खडे हुए और वंदन करके वहाँ से अपने स्थान की ओर चल पडे। उपस्थित जनता तथा स्वयं कविराजजी भी मघवागणी के उस व्यवहार से बड़े चिंतित हुए। उन्हें यह चिंता थी कि इस प्रकार के उत्तर से कही महाराणा अप्रसन्न न हो गये हों।

कुछ विरोधी लोगो ने उस स्थिति से लाभ उठाना चाहा। उन्होने महाराणा से निवेदन किया कि जहाँ आपके सम्मान का उचित ध्यान नही रखा जाता, वहाँ आपका पदार्पण हमें अखरता है। आपको ऐसे स्थान पर जाना ही नही चाहिए।

महाराणा ने कहा—"नहीं, हम उचित स्थान पर ही गये थे। हमारे असम्मान की वहाँ कोई बात नहीं थी, वह तो अपने नियम की बात थी। गीता में जिसे 'गतस्पृह' कहा गया है, वे वैसे ही फक्कड़ संत है। यह तो प्रसन्नता की बात है कि वे अपने नियम के इतने पक्के हैं कि हमें भी इन्कार कर सकते हैं।"

कविराज साँवलदानजी ने महाराणा के मुख से जब ये प्रशसात्मक शब्द सुने, तब मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने समाज के अन्य सभी व्यक्तियों को वह बात बतलाई, तब जाकर सबकी चिंता का निराकरण हुआ।

षाण्मासिक पारण

उदयपुर से विहार करते हुए आचार्यदेव मेवाड़ के विभिन्न गावो में पधारे। गगापुर आदि कई स्थानो में श्रावक-वर्ग में कुछ बातों को लेकर पारस्परिक विद्वेष और धडाबदी चल रही थी, उसे मिटाकर पारस्परिक सौहार्द पैदा किया। उस यात्रा में उन्होंने रेलमगरा में साध्वी सुन्दरजी को सवा छह महीने की तपस्या का तथा दौलतगढ में साध्वी रंभाजी को साढ़े छह महीने की तपस्या का पारण करवाया। वे दोनों ही तपस्याएँ आछ के आगार पर की गई थीं।

अन्य आर्याओं की प्रार्थना

मेवाड-स्पर्शना के पश्चात् वे नयाशहर होते हुए अजमेर पधारे। वहाँ कुछ दिन विराजना भी हुआ। एक दिन कई अन्य सम्प्रदाय की आर्याओं ने आकर प्रार्थना की कि उन्हें अपने गण में दीक्षित कर लिया जाए। वे कई बार और कई दिन तक इस बात का प्रयास करती रही, किन्तु मघवागणी का ध्यान ऐसा करने का नही था। उन्होने उस प्रसग को टालना ही उचित समझा। उन्होंने फरमाया कि हमारे गण की मर्यादाएँ बहुत कडी हैं, बहुत वर्षो तक अपने मनोनुकूल चलते रहने के पश्चात् एकाएक किसी दूसरे के अनुशासन में चल पाना सहज नही है। वे अपने गण में स्वच्छदता और उच्छृङ्खलता का वातावरण पनपने देना नही चाहते थे, अतः किसी भी बाहरी व्यक्ति को पूर्ण परीक्षा किये बिना अपने गण में सम्मिलित करना पसद नहीं करते थे। यही कारण था कि उन्होंने उन आर्याओं के कथन को बिल्कुल ही उपेक्षा की दृष्टि से देखा और टाल दिया।

फिर थली मे

अजमेर से विहार करते हुए मघवागणी फिर थली की ओर पधारे। जब वे लाडणू के मार्ग में थे, तब उनके दस्तो की गडबड हो गई। लाडणू में बीस रात तक ठहर कर उन्होने उसके अनेक उपचार किये, किन्तु कोई विशेष लाभ नही हुआ। वहाँ से जब वे सुजानगढ पधारे तो वहाँ एक भाई के भी वही गडबड थी। वह सरकारी अस्पताल से औषधि लिया करता था। उसके वह गडबड शांत हो गई, अत. उसने मघवागणी को अपने पास की अवशिष्ट वही औषधि लेने की प्रार्थना की। उन्होने जब उसका प्रयोग करके देखा तो उन्हें बीमारी में काफी लाभ प्रतीत हुआ। कुछ ही दिनों में वे स्वस्थ हो गये।

सुजानगढ की जनता ने वहीं चातुर्मास करने के लिए बहुत आग्रह किया, किन्तु उनका विचार बीदासर जाने का था, अत· वहाँ से विहार कर आषाढ पूर्णिमा के दिन वे वहाँ पहुँचे और स० १९४४ का चातुर्मास वही किया। चार चातुर्मास लगातार थली में हुए और वहाँ की जनता को अच्छा लाभ मिला। उसके पश्चात् स० १९४८ का एक चातुर्मास उन्होंने जयपुर किया और उसके पश्चात् फिर थली में पधार गये।

: ७ :

शरीरान्त

प्रतिश्याय का विस्तार

स० १९४९ के रतनगढ-चातुर्मास के प्रारभ में उन्हें साधारण प्रतिश्याय हुआ, किन्तु धीरे-धीरे बिगड़ कर वह कुछ असाधारण वन गया। उनके शरीर में ज्वर रहने लगा और कुछ दिनों पश्चात् उन्हें कै भी होने लगी। शरीर काफी शिथिल हो गया। चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् विहार हो पायेगा या नहीं, यह शंकास्पद ही था। किन्तु वे शरीर से जितने कोमल थे, विपत्ति के समय उतने ही दृढ थे। उन्होने वहाँ से चूरू की ओर विहार किया और वहाँ से सरदारशहर पधार कर मर्यादा-महोत्सव किया। वहाँ पधारने के पश्चात् वे कुछ ही दिन ठीक रह पाये थे कि रोग ने और अधिक उग्ररूप धारण कर लिया। उन्हें बीमारी के उस आक्रमण से यह विश्वास होने लगा कि अब पुनः स्वास्थ्य-लाभ कर पाना असभव है। उन्होने तब सघ की आगामी व्यवस्था करते हुए चैत्र कृष्णा द्वितीया के दिन माणकगणी को युवाचार्य-पद दिया।

खाँसी का प्रकोप

चैत्र कृष्णा पंचमी की रात्रि उनके लिए काल-रात्रि थी। उस दिन उन्हें खाँसी का इतना प्रकोप हुआ कि वे उलझ-उलझ जाते थे। रात्रि के समय तो उसका और भी जोर हो गया था। संतों को बड़ी चिंता हो रही थी कि आज की यह रात्रि कैसे निकल पायेगी। मघवागणी ने सबको चिंतित देखकर फरमाया कि घबराने की कोई बात नहीं है। अब मुझे लगता है कि यह कष्ट थोडे ही समय का है। सचमुच ही उस बात के थोडी देर पश्चात् लगभग रात्रि के ग्यारह बजे उनकी वह खाँसी एकदम बद हो गई। सेवा में बैठे हुए संतों को बडा आश्चर्य हुआ। वे समझ ही नही पा रहे थे कि इस प्रकार अचानक ही खाँसी के बद हो जाने का आखिर रहस्य क्या है?

मध्य रात्रि मे शिक्षा

अर्धरात्रि की उस वेला में मघवागणी ने फरमाया कि माणकचन्दजी को जगा लाओ, मुझे कुछ बातें कहनी है। उस समय बाहर एकदम सन्नाटा था। कुछ संत पीछे जागने के लिए सोये हुए थे और कुछ पीछे सोने के लिए आचार्यदेव की सेवा में बैठे हुए थे। श्रावकों में भी सेठ संपतराम दूगड, श्रीचन्दजी गधैया आदि वहीं उपस्थित थे। आचार्यदेव की आज्ञा पर जब माणकगणी को जगाया गया, तब अन्य संतों को भी जगा दिया गया कि मघवागणी कुछ फरमाना चाहते हैं।

थोडी ही देर में सब सत वहाँ आकर उपस्थित हो गये और वंदन कर उनकी अन्तिम शिक्षा सुनने के लिए सामने बैठ गये । मघवागणी ने युवाचार्य को सबोधित कर उन्हें अतिम रूप से सघ का भार सौंपते हुए फरमाया कि सब सत-सतियो की बागडोर अब तुम्हारे हाथ में है, अत सबकी लज्जा रखना भी तुम्हारा अपना कर्त्तव्य हो जाता है । विभिन्न प्रकृति के व्यक्तियो को आवश्यकतानुसार नरम तथा गरम बनकर जब तक उनकी सयम पालने की भावना हो, तब तक निभा लेना ही चाहिए । पृथक् विहार करने वाले साधुओ की पृच्छा स्वय आचार्य को ही करनी चाहिए, उनके विहरण आदि का समस्त विवरण भी स्वय उन्हें ही देखते रहना चाहिए । न्याय करते समय किसी का भय या पक्ष नही करना चाहिए । इसी प्रकार साधुओ को शिक्षा देते हुए फरमाया कि आचार्य की आज्ञा को प्रमुख समझकर चलने से ही सारे सघ की उन्नति सभव है । शिक्षा देने के पश्चात् जब वे रुके तो काफी थके हुए थे। सतो ने सहारा देकर उन्हें विश्राम करने के लिए लिटा दिया।

एक उबासी

कुछ देर पश्चात् उन्होने फिर बैठने की इच्छा व्यक्त की । साधुओ ने सहारा देकर उन्हें बिठा दिया, किन्तु तभी उन्हें एक उबासी आई और आँखो की पुतलियाँ फिर गई । बड़े कालूजी स्वामी ने जब यह देखा तो उन्हे चौविहार सथारा पचखा दिया । साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि यदि आपने सथारे को अच्छी तरह से श्रद्ध लिया हो तो उसकी सूचना के लिए हुंकारा देने की कृपा करें । उस समय हुंकारा भरने की शक्ति तो उनमें नही रह गई थी, पर स्वीकृति-सूचक शिर हिलाते हुए उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि संथारे को श्रद्ध लिया गया है । उसी समय वे सतों के हाथो के सहारे बैठे हुए देवलोक पधार गये । वह स० १९४९ चैत्र कृष्णा पचमी की रात्रि थी । शरीर का दाह-सस्कार दूसरे दिन किया गया । उसमें हजारों व्यक्ति सम्मिलित हुए ।

: ८ :

ज्ञातव्य-विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

(१) जन्म-संवत्—	१८९७ चैत्र शुक्ला एकादशी
(२) दीक्षा-संवत्—	१९०८ मार्गशीर्ष कृष्णा द्वादशी
(३) युवाचार्य-पद संवत्—	१९२० आश्विन कृष्णा त्रयोदशी
(४) आचार्य-पद संवत्—	१९३८ भाद्रपद शुक्ला द्वितीया
(५) स्वर्गवास-संवत्—	१९४९ चैत्र कृष्णा पंचमी

महत्त्वपूर्ण स्थान

(१) जन्म-स्थान—	बीदासर
(२) दीक्षा-स्थान—	लाडणूं
(३) युवाचार्यपद-स्थान—	चूरू
(४) आचार्यपद-स्थान—	जयपुर
(५) स्वर्गवास-स्थान—	सरदारशहर

आयुष्य-विवरण

(१) गृहस्थ—	११॥ वर्ष
(२) साधारण साधु—	१२ वर्ष
(३) युवाचार्य—	१८ वर्ष
(४) आचार्य—	११॥ वर्ष
(५) सर्व आयु—	५३ वर्ष

जन्म-कुण्डली

मघवागणी की जन्म-कुंडली का विवरण 'मघवा सुजस' में इस प्रकार दिया गया है :

तनु भवन सूर्य अने मंगल, पुत्त भवन केतु रु चंद ही।
सप्तम गुरु अष्टम शनीचर, इग्यार में राहू कही ॥
द्वादशम शुक्र अनें बुधज, अवर भवने ग्रह नहीं।
गणिराज मघवा ग्रह उत्तम, पुन्ये शुभ ही आवही ॥[1]

१—म० सु० १-११

इसके अनुसार उनकी जन्म-कुंडली की ग्रहस्थिति का अंकन इस प्रकार होता है :
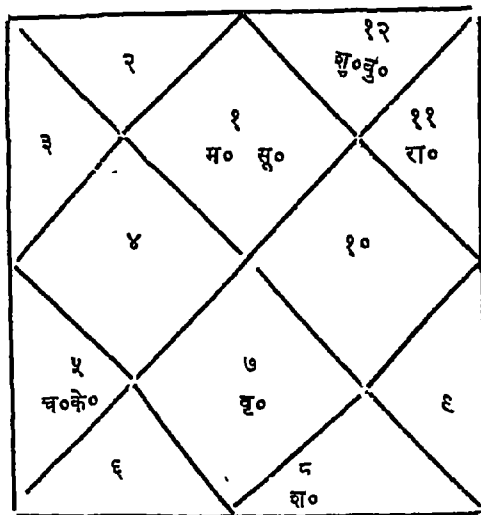
विहार-क्षेत्र

मघवागणी के विहार-क्षेत्र में राजस्थान के तत्कालीन राज्य—थली, मारवाड़, मेवाड़ और ढूंढाड आदि तथा मालव रहे थे।

चातुर्मास

मघवागणी ने साधारण साधु-अवस्था तथा युवाचार्य-अवस्था के तीस चातुर्मास जयाचार्य की सेवा में ही किये थे। आचार्य-अवस्था में उन्होंने आठ शहरों में ग्यारह चातुर्मास किये। उनका विवरण निम्नोक्त प्रकार से है :

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
बीदासर	३	१९३९, ४४, ४७
चूरू	१	१९४०
सरदारशहर	२	१९४१,४५
जोधपुर	१	१९४२
उदयपुर	१	१९४३
लाडणू	१	१९४६
जयपुर	१	१९४८
रतनगढ	१	१९४९

मर्यादा-महोत्सव

मघवागणी ने अपने शासनकाल में विभिन्न स्थानों पर १२ मर्यादा-महोत्सव मनाये। उनका विवरण इस प्रकार है :

स्थान	महोत्सव-संख्या	संवत्
जयपुर	२	१९३८, ४७
चूरू	१	१९३९
लाडणू	३	१९४०, ४१, ४६
जोजावर	१	१९४२
दौलतगढ	१	१९४३
बीकानेर	१	१९४४
रतनगढ़	१	१९४५
सुजानगढ	१	१९४८
सरदारशहर	१	१९४९

शिष्य-संपदा

मघवागणी के शासनकाल में एक सौ उन्नीस दीक्षाएँ हुई। उनमें छत्तीस साधुओं की और तिरासी साध्वियों की थीं। उन्होंने स्वयं बाईस साधु और पैंतालीस साध्वियों को दीक्षा प्रदान की। शेष सब अन्य साधु-साध्वियों द्वारा दीक्षित हुए थे। उनके दिवगत होने के समय संघ में इकहत्तर साधु और एक सौ निगानवे साध्वियाँ विद्यमान थीं।

सप्तम परिच्छेद

आचार्य श्री माणकगणी

: १ :

गृहि-जीवन

जन्म

श्री माणकगणी तेरापन्थ के छठे आचार्य थे। वे जयपुर के श्रीमाल जाति में खारड गोत्र के थे। उनके पिता का नाम हुकमचन्दजी तथा माता का नाम छोटांजी था। उनका जन्म वि० स० १९१२ भाद्रपद कृष्णा चतुर्थी को हुआ था। उनके कस्तूरचन्दजी नाम के एक बडे भाई थे। एक बहिन भी थी, जो कि दोनों भाइयों से बडी थी। वह स्थानीय बोहरा-परिवार में ब्याही गई थी। माणकगणी के जन्म के कुछ दिन पश्चात् ही उनकी माता का देहावसान हो गया था, अत· वे 'धाय' के दूध पर ही पले थे।

पहलवान पिता

माणकगणी के पिता हुकमचन्दजी बडे बलिष्ठ शरीर वाले व्यक्ति थे। वे कुश्ती में विशेप रुचि रखा करते थे, अत· प्रतिदिन अखाडे में जाते और पहलवानी किया करते थे। कभी-कभी वाहर से आने वाले पहलवानों के साथ दगल में भी भाग ले लिया करते थे। परन्तु ऐसा वे अपने वड़े भाई लिछमणदासजी से छिपकर ही किया करते थे। वे अपने वड़े भाई का वहुत ही विनय रखा करते थे।

एक वार 'फतहटीबा' के मैदान में कोई दगल था। हुकमचंदजी भी उसमें सम्मिलित हुए थे। किसी के द्वारा लिछमणदासजी को उस वात का पता लग गया। वे तत्काल वग्घी में वैठकर 'फतह टीवा' गये। वहाँ कई पहलवान आये हुए थे। दर्शकों की भी काफी भीड थी। कुश्तियाँ प्रारम्भ हो चुकी थीं। स्वयं हुकमचन्दजी भी अखाडे में उतर चुके थे। दूसरे पहलवान के साथ वे गुत्थम-गुत्था हो रहे थे। कुश्ती के दावँ-पेंच चालू थे। उसी समय लिछमणदासजी वहाँ पहुँचे और उन्हें पुकार कर वोले—"हुकमजी! अखाड़े से वाहर आ जाओ। कुश्ती लडने का काम हमारा नहीं है।"

वडे भाई के शब्द ज्यों ही उनके कानों में पडे, त्यों ही उन्होंने अपने प्रतिद्वन्द्वी को छोड दिया। भाई के प्रति उनकी विनीतता आश्चर्यजनक थी। उन्होने जय-पराजय को तो कोई महत्त्व दिया ही नहीं, परन्तु पीछें से किये जाने वाले मजाक तथा तानो की बौछार की भी कोई परवाह नहीं की। उन्होंने अपने कपडे पहने और सिर झुकाये हुए भाई के पास आ खड़े हुए। लिछमणदासजी ने मीठा-सा उपालम्भ दिया और अपने साथ ही उन्हें शहर में ले आये।

पिता का देहान्त

लाला हुकमचन्दजी जहाँ पहलवानी में निपुण थे, वहाँ जवाहरात के व्यापार में भी अच्छी निपुणता रखते थे। वे व्यापार के निमित्त बम्बई जाया-आया करते थे। एक बार सं० १९१४ में वे बम्बई से वापस जयपुर आ रहे थे। वह गदर का समय था। स्थान-स्थान पर लूट-खसोट और मार-धाड मची हुई थी। वे जयपुर के समीपस्थ नगर सांगानेर तक सकुशल पहुँच गये थे, परन्तु वहाँ वे भील डाकुओं द्वारा घेर लिए गये और मार डाले गये। माणकगणी उस समय लगभग दो वर्ष के थे।

बाबा की देख-रेख में

माणकगणी तथा उनके अन्य भाई-बहिनों का पालन-पोषण उनके बाबा लिछमणदासजी की देख-रेख में हुआ। वे उन सबको अपने ही पुत्र-पुत्रियों के समान प्यार किया करते थे। माणकगणी सबसे छोटे थे, अतः उन्हें उनका विशेष प्यार प्राप्त था। उन्होंने न केवल उन सबका पालन-पोषण ही किया था, अपितु उन सबकी धार्मिक रुचि को भी परिपक्वता प्रदान की थी।

लिछमणदासजी स्वय एक बहुत अच्छे तत्त्वज्ञ श्रावक थे। वे धर्म-प्रचार में भी अच्छी रुचि रखने वाले व्यक्ति थे। जवाहरात का व्यापार होने के कारण देश के विभिन्न भागों में उनका जाना-आना होता रहता था। बम्बई तथा सूरत आदि की तरफ वे विशेष रूप से जाया करते थे। जब-जब अवसर मिलता, तब-तब वे अपने परिचित व्यक्तियों में धार्मिक-चर्चा चलाया करते थे। गुजरात में उन्होंने 'बखारवाला' और 'वकीलवाला' परिवार के अनेक व्यक्तियों को समझाया था। 'बखारवालों' में चुन्नीभाई और 'वकीलवालों' में आनन्दभाई जो कि मगनभाई के दादा थे, उन्हीं के समझाये हुए थे। गुजरात में तेरापन्थ के स्थायित्व का आदि बीज बोने में श्रावक लिछमणदासजी का प्रमुख हाथ था।

धार्मिक रुचि

धर्म-प्रिय बाबा की छत्र-छाया में रहते हुए बालक माणकचन्दजी के हृदय में भी धर्म की अच्छी रुचि पैदा हो गई थी। सं० १९२८ में जब जयाचार्य ने जयपुर में चातुर्मास किया था, तब 'माणकगणी' की अवस्था लगभग सोलह वर्ष की थी। धर्म के प्रति उनकी भावना प्रारम्भ से ही अच्छी थी। साधुओं के संयोग से वह और भी तीव्र हो गई। उस चातुर्मास में उन्होंने तत्त्व-ज्ञान सीखना प्रारम्भ किया।

संसार से विरक्ति

पूर्व जन्म के संस्कार तथा मोह-कर्म के क्षयोपशम के कारण क्रमशः उनकी वृत्ति संसार से विरक्त होती चली गई। कुछ दिन तक उन्होंने अपनी उस भावना को मन में ही परिपक्व होने दिया। एक दिन अवसर देखकर उन्होंने जयाचार्य के चरणों में अपनी भावना रखी। जयाचार्य ने उनकी भावना को सुनकर अनेक प्रकार के प्रश्न किये और उनके अन्तस्तल की

परीक्षा ली। जब उन्हें यह मालूम हुआ कि इस भावना के पीछे कोरी भावुकता ही नही है, किन्तु सच्ची विराग-वृत्ति है, तो उन्होने कहा कि तुम अपने आपको अधिक से अधिक अध्ययन में लगाओ और अपनी वृत्तियों को कसते रहो। सयम के लिए तुम्हारे बाबा लिछमणदासजी की आज्ञा आवश्यक है। उनका तुम्हारे प्रति अत्यधिक अनुराग है, इसलिए उनके पास यह बात चलाओ तो पहले अवसर अवश्य देख लेना।

आज्ञा की प्रेरणा

चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् जयाचार्य कुछ दिन गाँव बाहर सरदारमलजी लूणिया के बाग में तथा कुछ दिन घाट पर लाला भैरूलालजी जौहरी की हवेली में विराजे। माघ महीने के अन्तिम सप्ताह में उन्होने वहाँ से लाडणू की ओर विहार किया। लिछमणदासजी परिवार सहित सेवा के लिए साथ में आये। एक दिन 'कुचामण' मे जब कि जयाचार्य की सेवा में केवल लालाजी का ही परिवार बैठा हुआ था, तब विरागी माणक ने जयाचार्य से प्रार्थना की कि इस समय लालाजी से मेरी दीक्षा के विषय में आप ही कुछ बात करने की कृपा करें तो अच्छा रहे।

जयाचार्य ने तब अवसर देखकर लालाजी से कहा—"यदि तुम्हारा माणक दीक्षा ले तो दीपता साधु हो।"

लालाजी ने कहा—"यह तो हम लोगो के लिए परम सौभाग्य की बात है कि आप स्वय हमारे परिवार के एक बालक के लिए ऐसे उत्तम शब्द फरमाते हैं, परन्तु यह सब तो तभी सम्भव हो सकता है, जब किसी के मन में विराग-भावना हो। दीक्षा की कठिन साधना विराग के बिना नही हो सकती।"

जयाचार्य ने फरमाया—"यदि माणक के मन में विराग हो तो तुम्हें आज्ञा देने में तो कोई अड़चन नही होगी ?"

लालाजी ने कहा—"यह शहर में रहने वाला है, इसे सयम के कष्टो का कोई पता नही है। इसके कोमल शरीर के साथ सयम के कष्टों का कोई मेल नही बैठ सकता। गर्मी और सर्दी के परीषहों को सह लेना इसके बश की बात नही है। विहारो में भार उठाकर चलना तो और भी कठिन कार्य है।"

ओघा तो उठा लेगा ?

जयाचार्य ने उनको समझाते हुए कहा—"जिसके मन में विराग होता है, वह इन सब कष्टों को सहज ही सह लेता है। कोमलता के विषय में भी तुम्हें कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नही लगती। शरीर को तो जहाँ जैसे रखा जाये, वैसे ही रह लेता है। भार उठाने की चिंता भी हम कर लेंगे। कम से कम यह अपने ओघे का भार तो उठा ही लेगा ? तुमने सघ की बहुत बड़ी सेवाएँ की है, तो इसे भी एक सेवा ही समझना चाहिए। तुम्हारे

घर का कोई व्यक्ति यदि संघ में अपना जीवन अर्पण करना चाहता है, तो तुम्हें उसमें बाधक न बनकर सहर्ष आज्ञा देनी चाहिए। संघ के प्रति मेरे उत्तरदायित्व का भार तो मघजी सम्भाल लेंगे। परन्तु मघजी को भी तो कोई भार सम्भालने वाला चाहिएगा।"

आज्ञा प्राप्ति

जयाचार्य के शब्दों ने लालाजी को काफी प्रभावित किया। उन्होंने उसी समय दीक्षा-विषयक स्वीकृति देते हुए जयाचार्य से कहा—"यदि आपने इसकी भावना की अच्छी तरह से परीक्षा कर ली है, तो मुझे आज्ञा देने में कोई आपत्ति नहीं है। आपके ये अमृतोपम शब्द हम सबके लिए और विशेषकर माणक के लिए सौभाग्य के सूचक हैं।"

: २ :

साधु-जीवन

दीक्षा ग्रहण

आज्ञा प्राप्ति के पश्चात् विरागी माणक ने श्रमण-प्रतिक्रमण सीखना प्रारंभ कर दिया। मार्ग के गाँवों में उन्होंने मुख्यत सेवा और सीखना—ये दो ही कार्य किये थे। जयाचार्य क्रमशः विहार करते हुए लाडणू पधार गये। लालाजी वहाँ तक सेवा में ही रहे। उसके पश्चात् वे दीक्षा की तैयारी करने के लिए जयपुर चले गये। वहाँ से उपयुक्त सामग्री लेकर शीघ्र ही वापस लाडणू आ गये।

दीक्षार्थी माणकगणी धनवान् घर के बालक थे, अत. दीक्षा से पूर्व किये जाने वाले सारे नेगचार उनके उपयुक्त ही किये गये। दीक्षा-तिथि से पूर्व कई बनौरे निकाले गये। जनता में दीक्षा की काफी धूम-धाम नजर आने लगी। पूर्व निश्चित तिथि के अनुसार स० १९२८ फाल्गुन शुक्ला एकादशी के दिन लाडणू के दक्षिणी दरवाजे के बाहर जयाचार्य ने उनको दीक्षा प्रदान की। उस समय लाडणू तथा उसके आसपास की जनता बडी सख्या में एकत्रित हुई थी। लाडणू के ठाकर बहादुरसिंहजी भी उस अवसर पर वहाँ उपस्थित थे। नवदीक्षित साधु को साथ लेकर जयाचार्य ने लाडणू में प्रवेश किया। उससे पूर्व वे गाँव-बाहर ही ठहरे हुए थे।

अग्रणी

दीक्षा ग्रहण करते ही माणकगणी ने अपनी पूरी शक्ति सैद्धान्तिक ज्ञान अर्जित करने में लगा दी। उनकी बुद्धि तीक्ष्ण थी। हर बात को वे बड़ी शीघ्रता से ग्रहण कर सकते थे। उन्होंने अपने प्रथम तीन चातुर्मास जयाचार्य की सेवा में किये और उस थोडे से समय में हर विषय की अच्छी निपुणता प्राप्त की। सुसस्कृत-प्रकृति, नम्र-स्वभाव और सहिष्णुता आदि उनमें अनेक ऐसे गुण थे, जिन्होंने जयाचार्य का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। लगभग तीन वर्ष के पश्चात् ही सं० १९३१ में वे अग्रणी बना दिये गये।

अध्ययन

अग्रणी-अवस्था में उन्होंने अपने सैद्धान्तिक ज्ञान को और प्रखर बनाया तथा संस्कृत का अभ्यास भी किया। उस समय साधुओं में संस्कृतज्ञ बहुत कम थे, अतः अध्ययन के लिए किसी पंडित की अपेक्षा रहा करती थी। स० १९४३ में उनका चातुर्मास जयपुर में हुआ, तब वहाँ उन्हें एक पडित का योग मिला। उसके पास उन्होंने शब्द-बोध तथा सिद्धान्त-चन्द्रिका का अध्ययन किया। इस प्रकार उन्होंने जयाचार्य और मघवागणी द्वारा प्रस्तुत की गई ज्ञान-परंपरा

को संभालकर आगे वढाया । उनका वह कार्य सघ में सस्कृत-विकास की एक कडी कहा जा सकता है । पर उस वर्ष के पश्चात् फिर किसी पडित का योग न मिलने से उनके अभ्यास में प्रवलता नहीं आ सकी ।

कविराजजी का प्रश्न

माणकगणी की दीक्षा के पश्चात् लगभग साढे नौ वर्ष तक जयाचार्य का शासनकाल रहा । उसके पश्चात् वे मघवागणी के शासन मे भी उसी विनीतता और अनुकूलता के साथ रहते रहे । मघवागणी की दृष्टि प्रारभ से ही उनपर अनुकूल थी । स० १९४३ में वात और भी स्पष्ट हो गई । मघवागणी का वह चातुर्मास उदयपुर में था । वहाँ कविराज साँवलदासजी वहुधा सेवा में आया करते थे । सघ के प्रति उनकी भावना एक निपुण श्रावक जैसी ही थी । मघवागणी भी अनेक वार उनके मकान में विराजा करते थे, जो कि 'कविराजजी की वाडी' नाम से प्रसिद्ध था ।

चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् मघवागणी उनकी वाडी में ही ठहरे हुए थे, तव एक दिन कविराजजी ने वात ही वात में पूछ लिया कि आपके पीछे आपका भार सभालने वाला कौन है ?

मघवागणी ने उस प्रश्न को उस समय यह कहते हुए टाल दिया कि अवसर आने दो। अव की वार जव इधर आना होगा, तव इस विषय पर वात करने का विचार है ।

सर्वाधिक उपयुक्त

उसके पश्चात् मघवागणी मोटेगाँव पधार गये । वहाँ पचीस रात रहकर सीधे कानोड की ओर पधारने का विचार किया । परन्तु विहार करते हुए जव वे वेदला पहुँचे, तव उदयपुर-वासियो ने आकर उदयपुर पधारने के लिए आग्रह-युक्त प्रार्थना की । उसमें कविराजजी भी सम्मिलित थे । उन्होने अपनी ओर से भी विशेष आग्रह किया । इस पर उन्हें कानोड की तरफ का विहार स्थगित कर के उदयपुर पधारने का निश्चय करना पडा । वे वहाँ पधारे और कविराजजी की वाडी मे विराजे ।

इस वार कविराज जी ने अवसर देखकर मघवागणी से फिर पूछा कि आपने अपने पीछे की व्यवस्था के लिए वापस आने पर विचार करने को कहा था, अत कृपा करके अव इस विषय पर कुछ स्पष्ट फरमाइये ।

मघवागणी ने तव फरमाया कि आज तक के मेरे अवलोकन में इस कार्य के लिए माणकचन्दजी सवसे अधिक उपयुक्त लगते हैं । कविराजजी गुरुदेव की इस कृपा और विश्वास पर वडे प्रसन्न हुए । उन्होंने उस समाचार को प्रसारित करने के लिए श्रावक-वर्ग को सुझाव दिया ।

कृपादृष्टि

माणकगणी के प्रति मघवागणी की वह कृपादृष्टि बहुत पहले से ही थी। सभवत दीक्षा से पूर्व जयाचार्य ने उनके प्रति जो विचार व्यक्त किये थे, वे मघवागणी के विश्वास को प्रेरित करते रहते थे। उनकी कृपा समय-समय पर अनेक कार्यों द्वारा व्यक्त होती रहती थी। एक बार स० १९४५ के शेष काल में मघवागणी ने एक साध्वी को दीक्षा देने के लिए उनको बीदासर से राजलदेसर भेजा था। इसी प्रकार सं० १९४८ में जब कि उनका चातुर्मास मघवागणी के साथ ही जयपुर में था, गतदिवस-वार्ता सुनने की आज्ञा फरमाई थी।

रोग-शमन

माणकगणी यद्यपि अग्रणी के रूप में विहार किया करते थे, फिर भी गुरुदेव के दर्शनो की उत्सुकता उनके मन में बनी ही रहती थी। गुरु के प्रति अनन्य-भक्ति उनकी उस भावना को और भी तीव्र बनाती रहती थी। स० १९४६ के जोधपुर-चातुर्मास में माणकगणी के पैर में 'कीडी नगरा' हो गया था। रोग के कारण विहार करने की कोई परिस्थिति नही थी, फिर भी उनका मन गुरु-दर्शन के लिए इतना लालायित हो उठा था कि वे अपने आपको रोक न सके। उनका विश्वास था कि दर्शन होने पर ही उनका यह रोग शांत हो सकेगा। उन्होंने रुग्ण-अवस्था में ही वहाँ से विहार किया और थली मे आकर गुरुदेव के दर्शन किये। उसके पश्चात् बीदासर में केवलचन्दजी यति के औषधोपचार से वह भयकर रोग शीघ्र ही शांत हो गया। उसके पश्चात् वे प्राय' मघवागणी के साथ ही रहने लगे।

युवाचार्य

स० १९४९ में मघवागणी सरदारशहर पधारे। वहाँ उनके शरीर की स्थिति बहुत ही कमजोर हो गई। यहाँ तक कि शासन-प्रबध कर देने के विषय में भी सोचा जाने लगा। बड़े कालूजी स्वामी, मोतीजी स्वामी आदि सतो ने अवसर देखकर अपने वे विचार मघवागणी के सामने रखे। स्वयं मघवागणी भी अपनी शारीरिक स्थिति से अवगत थे, अत' स० १९४९ फाल्गुन शुक्ला चतुर्थी के दिन उन्होने युवाचार्य की नियुक्ति का पत्र लिखा और सती-प्रमुखा नवलांजी को सौंप दिया। उस समय यह पत्र प्रकट तो नही किया गया, पर पत्र लिखने के पश्चात् ही साधुओं को शिक्षा देते समय उन्होंने माणकगणी को आलोयणा तथा हाजरी का कार्य सभला दिया था, अत उसंग पत्र में लिखित नाम की कल्पना सहज ही कर ली जा सकती थी।

विधिवत् युवाचार्य-पद देने के लिए वे शुभ मुहूर्त्त की प्रतीक्षा में थे। ज्योतिषियो ने चैत्र कृष्णा द्वितीया का दिन अच्छा बतलाया था। उससे पहले वे अन्य वैधानिक कार्यों की पूर्त्ति कर चुके थे। चैत्र कृष्णा द्वितीया के दिन कालूरामजी जम्मड की हवेली के अन्दर वाले चौक में चारो तीर्थ की उपस्थिति में बडे उत्साह और उल्लासमय वातावरण में माणकगणी को युवाचार्य-पद प्रदान किया गया। वे युवाचार्य-अवस्था में केवल चार दिन ही रह पाये, क्योंकि पंचमी की रात्रि को मघवागणी का स्वर्गवास हो गया।

: ३ :

आचार्य-अवस्था

एक लौंग

माणकगणी सं० १९४९ चैत्र कृष्णा अष्टमी को सरदारशहर में आचार्य-पद पर विधिवत् आसीन हुए। उनका वर्ण गौर, कद लम्बा, कंठ मधुर तथा तेज था। शारीरिक प्रकृति से वे इतने कोमल थे कि सर्दी या प्रतिश्याय हो जाने पर औषधि के रूप में केवल एक लौंग लिया करते थे और उसका उनपर समुचित प्रभाव हुआ करता था। यदि कभी इससे अधिक ले लेते तो उन्हें शरीर में ऊष्मा का आभास होने लगता था।

भूमिका-निर्माण

उनके शरीर की ऊँचाई साधारण से कुछ अधिक थी, उसी प्रकार उनके भाव भी बड़े ऊँचे रहा करते थे। साधु-साध्वियों की व्यक्तिगत या सामूहिक माँगों पर वे बहुत ही सहानुभूति-पूर्ण विचार किया करते थे। वे बड़े दयालु स्वभाव के थे, अतः साधु-साध्वियों की सुविधा का उन्हें बहुत ध्यान रहता था। इसी दृष्टि से संघ में अनेक परिवर्तनों के लिए उनकी योजना थी, परन्तु उनका आचार्यकाल बहुत ही कम रह सका, अत: वे अपनी योजनाओं को कार्य रूप नहीं दे सके। कुछ कार्य ऐसे भी थे, जो कि सामयिक स्थितियों की अनुकूलता के अभाव में नहीं किये जा सके। फिर भी इतना सुनिश्चित है कि उन्होंने अनेक विषयों के लिए चिन्तन की भूमिका तैयार कर दी थी।

उदारमना

वे बड़े उदारमना आचार्य थे, अत: हर एक को कुछ न कुछ देने का प्रयास करते थे। जब कभी गोचरी में कोई विशेष वस्तु आती और वह काफी प्रमाण में होती तो, वे अपने हाथ से सबको दिया करते थे। इससे उनको बड़ी प्रसन्नता हुआ करती थी।

देशाटन की रुचि

देशाटन में उनकी बड़ी तीव्र रुचि रहा करती थी। चाल बड़ी तेज थी। चलने में उनके साथ निभ पाना बड़ा कठिन होता था। पाँच-सात कोस तक के विहार को तो वे साधारण विहार समझा करते थे। आचार्यपद पर विराजने के पश्चात् तत्काल ही उन्होंने थली के प्राय सभी क्षेत्रों मे पदार्पण किया और अपना प्रथम चातुर्मास सरदारशहर में किया। उसके पश्चात् उन्होंने नये क्षेत्रों में विहार करने की तैयारी की।

हरियाणा मे

सर्व प्रथम हरियाणा की ओर विहार करने का निश्चय किया गया। नोहर, सरसा, भादरा और हिसार में थोड़े-थोड़े दिन विराजते हुए उन्होंने हाँसी में मर्यादा-महोत्सव किया। उस वर्ष
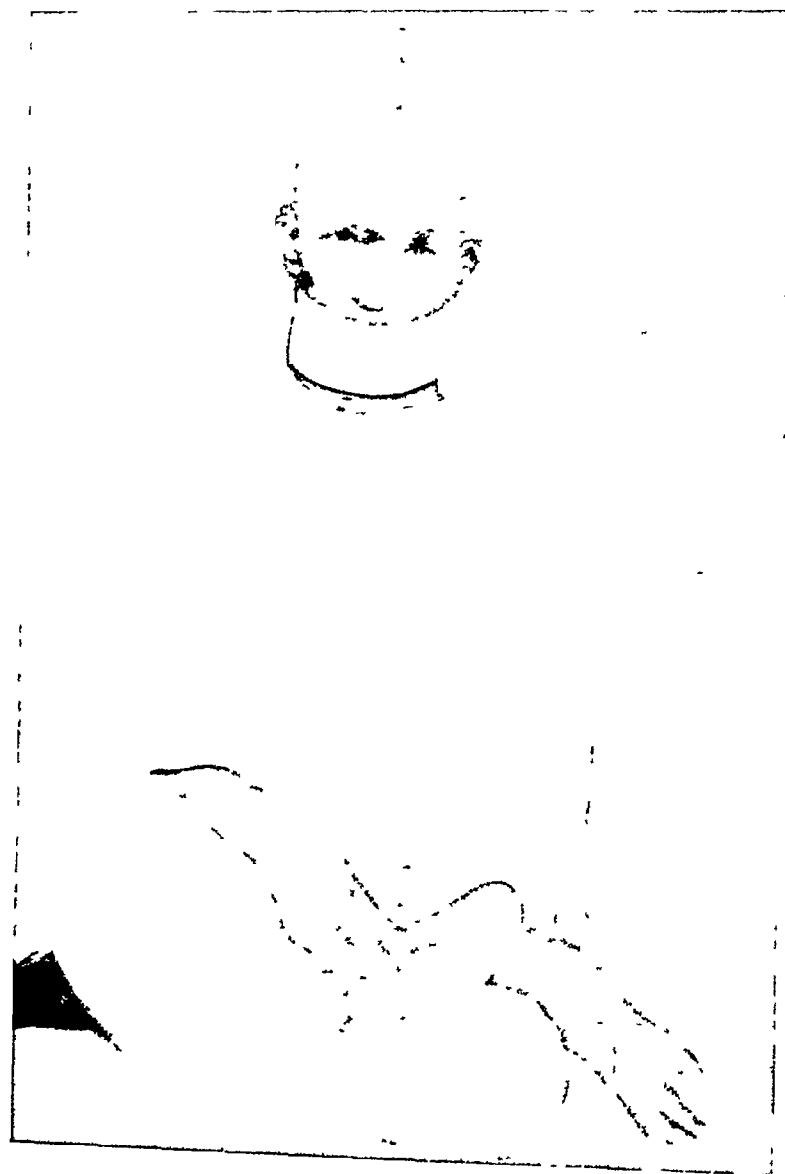
षष्ठ आचार्य श्रीमद् माणक गणी

राजस्थान में अकाल की स्थिति थी, अतः दूर स्थित साधु-साध्वियो को नही बुलाया गया था, इसलिए केवल उनतीस सन्त और अठाईस सतियाँ ही उस अवसर पर एकत्रित हो सकी।

हरियाणा में तेरापन्थ के आचार्यों का वह प्रथम पदार्पण था। स्थानीय जनता में बड़ा उत्साह और हर्ष था। गाँवो तथा शहरों में जहाँ भी पदार्पण होता, जनता उन्हें घेरे रहती। महोत्सव के पश्चात् उन्होने भिवानी में सत्ताईस रात का प्रवास किया और उसके पश्चात् मोठ, लुहारी, सिसाय, कोथ, कापड़ा आदि हरियाणा के छोटे-छोटे गाँवों में विहार कर फिर थली में पधार गये और सं० १९५१ का चातुर्मास चूरू में किया।

जयपुर

सं० १९५२ में उन्होंने अपना चातुर्मास जयपुर में किया। वहाँ दूर-दूर के लोगो का आवागमन बहुत रहा। यद्यपि उस समय आज की तरह रेल आदि की सुविधाओं का अभाव था, फिर भी वहाँ लगभग बीस हजार यात्री आये थे। आचार्य-दर्शन के साथ-साथ उन लोगों को जयपुर शहर के अवलोकन का भी अवसर मिला। जयपुर-वासियो को इतने व्यक्तियों का बाहर से आना बड़ा आश्चर्यजनक लगा और साथ-ही-साथ सुखद भी। उन यात्रियों के कारण स्थानीय व्यापारियों को उस वर्ष अच्छा लाभ मिला था।

अन्तिम चातुर्मास

सं० १९५३ में उन्होंने अपना चातुर्मास बीदासर में किया। उसमें उन्होने 'मघवा सुजस' की रचना की। उसके पश्चात् अपना अंतिम चातुर्मास उन्होंने सुजानगढ में किया। जब वे सुजानगढ़ में पधारे, तब बिल्कुल नीरोग थे। उस समय कोई यह अनुमान भी नही लगा सकता था कि यह उनका अंतिम चातुर्मास होगा।

चिन्ता-जनक स्थिति

भाद्रमास तक का आधा चातुर्मास बड़े आनन्द से सम्पन्न हुआ। परन्तु आश्विन मास में उनको ज्वर हुआ और साथ में पेचिश की बीमारी भी हो गई। अनेक प्रकार के औषधोपचार किये गये, परन्तु कोई विशेष लाभ नहीं हो सका। उस समय दर्शन के निमित्त आये हुए बीदासर के यति केवलचन्दजी ने उनकी नाड़ी देखकर बतलाया कि नाडी की गति बहुत ही मन्द है और साथ में हृदय भी कमजोर हो गया है, अतः यह स्थिति अच्छी न होकर चिन्ता-जनक ही है।

व्यवस्था के लिए प्रार्थना

माणकगणी के नैरन्तरिक स्वास्थ्य-ह्रास से तथा यतिजी के उस निर्णय से सारे संघ को बडी चिन्ता हुई। कुछ सन्तो ने गुरुदेव का ध्यान सघ की भावी व्यवस्था की ओर आकृष्ट करने का विचार किया। परन्तु यह कार्य कोई सहज नहीं था। माणकगणी की अवस्था उस

समय लगभग बयालीस वर्ष की ही थी, ऐसी स्थिति में भावी प्रबन्ध के विषय में चिन्तित होना तथा उस बात को गुरुदेव के सामने रखना असामयिक लगता था, परन्तु वास्तविकता का सामना करने के लिए व्यवहार के महत्त्व को खंडित करना ही पड़ता है। आखिर कुछ सन्तों ने एतद्विषयक निवेदन करने का साहस किया।

उन दिनों मगनलालजी स्वामी संघ के कार्यों में प्रमुख रूप से भाग लेने लगे थे, अतः वे संकोच और साहस के अन्तर्द्वन्द्व का सामना करते हुए दो-तीन सन्तों को साथ लेकर गुरुदेव के पास आये। नम्रतापूर्वक वंदन करने के पश्चात् वे प्रार्थना करते हुए बोले—"प्रभो! आप शतायु हों और हम सब आपकी चरणों की सेवा का लाभ चिरकाल तक पाते रहें, यही हमारी अन्तःकामना है। फिर भी जब आपके शरीर की स्थिति को देखते हैं, तो बड़ी चिन्ता होती है, यद्यपि आपकी अवस्था कोई बड़ी नहीं है, पर यतिजी के कथनानुसार रोग चिन्ताजनक है। औषधोपचार करते हुए कितने दिन हो गये, फिर भी न जाने क्यों कोई उपचार अनुकूल नहीं पड़ रहा है। आप स्वयं सर्वज्ञ तुल्य हैं, संघ का हित सदैव आपके ध्यान में रहता है, फिर भी हम लोग इस ओर आपका ध्यान आकृष्ट करने की धृष्टता करने आये हैं। यदि आप उचित समझें तो अपना भार किसी युवाचार्य पर स्थापित करने की कृपा करें। शीघ्र ही रोग मुक्त होकर जब आप युवाचार्य सहित संघ की सार-सभाल करेंगे, तब हम सब आचार्य और युवाचार्य की सम्मिलित छत्र-छाया में अपने आपको कृतार्थ कर सकेंगे।"

क्या जल्दी है ?

माणकगणी ने मगनलालजी स्वामी द्वारा कही गई सारी बातें बड़े ध्यान से सुनी तथा उनके प्रत्येक इङ्गित को बड़ी गहराई के साथ समझा। उसके पश्चात् कुछ क्षण सोचकर उन्होंने बड़े आत्म-विश्वास के साथ फरमाया—"इस कार्य के लिए अभी से इतनी क्या जल्दी है? तुम जो कहना चाहते हो, मैं उसे अच्छी तरह से समझता हूँ। संघ-हित के लिए तुमने जो इङ्गित किया है, वह वस्तुतः प्रशंसनीय है, परन्तु मुझे लगता है कि अभी यह कार्य कर देना उपयुक्त समय से पहले होगा। मेरे शरीर की अवस्था देखकर तुम लोगों का चिन्तित होना स्वाभाविक है, परन्तु यह कमजोरी और कृशता तो पेचिश के कारण से है, जब दस्त लगने बन्द हो जायेंगे, तब ये भी शीघ्र ही दूर हो जायेंगी।

एक सुझाव

मगनलालजी स्वामी आदि सन्तों ने जब देखा कि उनकी बात को अधिक गहराई से नहीं लिया जा रहा है, तब उन्होंने और अधिक स्पष्ट होकर एक सुझाव प्रस्तुत करते हुए कहा—"वैद्य कहते हैं कि आपकी आकृति की छवि बदलती जा रही है, अतः बात कुछ विचार की ही है। वैद्यों की इस भावना के आधार पर ही हम लोग आपके पास अनुनय करने के लिए आये हैं। यदि आप इस समय युवाचार्य का नाम प्रकट करना न चाहें तो प्रच्छन्न रूप से

लिखकर अपने पूठे में रख दें । ऐसा करने से चारों ही तीर्थ को आप एक चिंता से मुक्त कर देंगे और साथ ही नीरोग होने के पश्चात् उस पत्र के नाम को स्थायित्व प्रदान करने या न करने में भी आप स्वतन्त्र होंगे ।

ज्योतिष पर विश्वास

माणकगणी ने यह सब कुछ सुना, परन्तु कोई उत्तर नही दिया । रोग को उन्होंने उतना गम्भीर नही समझा, जितना कि वैद्य बता रहे थे । सन्तों की बात पर ध्यान न देने का दूसरा यह कारण भी था कि वे ज्योतिषी द्वारा लिखित अपनी जन्म-कुण्डली की बातों पर विशेष विश्वास करते थे । कुण्डली में लिखित अनेक बातें पहले मिल चुकी थी, इसलिए उस पर उनका विश्वास और भी दृढ हो गया था । कुण्डली के अनुसार उनका आयुष्य बासठ वर्ष का था, अतः वे यह विश्वास करते रहे कि इस समय उनके वेदनीय कर्म का प्राबल्य अवश्य है, पर शरीर को किसी प्रकार का खतरा नहीं है । इसीलिए वैद्यो की बातो पर उन्हें विश्वास नहीं हो पा रहा था । सघ के भावी प्रबन्ध की चिंता न होने का भी यही कारण था । उन्हें शीघ्र ही अपने नीरोग हो जाने की शत-प्रतिशत आशा थी ।

दिवंगत

आश्विन का सारा महीना इसी प्रकार रुग्णावस्था में गुजर गया । शरीर धीरे-धीरे अशक्त होता गया । कार्त्तिक कृष्णा तृतीया को उन्हें एक ऐसा जोर का दस्त हुआ कि वे उसी समय मूर्च्छित हो गये और उसके पश्चात् वे दिन भर मूर्च्छित ही रहे । रात के लगभग ग्यारह बजे उन्हें एक हिचकी आई और उसके साथ ही वे दिवंगत हो गये । पार्श्व-स्थित सन्तों ने उन्हें सागारी अनशन भी कराया, परन्तु सचेत न होने के कारण यह निश्चय नही किया जा सका कि उन्होंने उसको श्रद्ध लिया था या नही । उनके शरीर-त्याग से सारे सघ में एक ऐसा औदासीन्य छा गया कि जिसमें निराशा का भी सम्मिश्रण था । दूसरे दिन दाह-संस्कार की क्रिया सम्पन्न की गई ।

: ४ :

आचार्य के अभाव में

एक मूक प्रश्न

एक आचार्य का नेतृत्व ही सारे संघ की एकता का आधार होता है। उसके अभाव में संघ की व्यवस्था डांवाडोल हो जाती है। माणकगणी के दिवंगत होने के समाचार गृहस्थों द्वारा सब जगह पहुँचे। चातुर्मास का अन्तिम महीना प्राय: सारा ही अवशिष्ट था। तभी है साधु-साध्वियो के हर सिंघाडे के सम्मुख यह एक मूक प्रश्न खडा हो गया था कि अब क्या होगा? जो साधु-साध्वियाँ आचार्यदेव के साथ थीं, वे भी चिंतित थीं कि अब सघ का कार्य किस प्रकार चलेगा?

विचार-विमर्श

आचार्य के अभाव में किसी प्रकार की विशृंखलता पैदा न होने पाये, इसलिए तत्रस्थ साधुओं ने मिलकर एक अस्थायी व्यवस्था बनाने का विचार किया। पारस्परिक विचार-विमर्श से जो बातें सामने आईं, उनका सारांश यह था कि अपने सघ में आज तक ऐसा अवसर कभी नही आया था, पर भावीवशात् इस बार आ गया है। स्वामीजी की मर्यादा के अनुसार प्रत्येक वर्त्तमान आचार्य ही भावी आचार्य का निर्वाचन कर देते हैं, परन्तु इस बार ऐसा नहीं हो सका। इस समय हमें आचार्य के चुनाव के बारे में कुछ नही सोचना है। यह प्रश्न तो चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् जब सारा सघ एकत्रित होगा तभी हल किया जायेगा। हमें तो इस समय यह सोचना है कि सघ एकत्रित हो, उससे पहले हमें किस प्रकार से रहना चाहिए, आज्ञा और धारणा किससे लेनी चाहिए तथा संघ की सारी व्यवस्था किस प्रकार से चालू रखनी चाहिए?

अस्थायी व्यवस्था

उस समय वहाँ जो सन्त थे, उन सब में सघ के कार्यों से विशेष अभिज्ञ तथा अभिरुचि रखने वाले मगनलालजी स्वामी और कालूरामजी स्वामी (कालूगणी) को स्थानीय कार्यों का सारा भार समर्पित किया गया। उन्होंने सघ का सारा कार्य पूर्ववत् चालू रखा। पुस्तकों आदि की सुरक्षा तथा समुच्चय के सभी आवश्यक कामों की व्यवस्था भी चालू रखी। आज्ञा और धारणा के लिए 'तपस्वी भीमजी स्वामी' को, जो कि वहाँ सबमें दीक्षा-वृद्ध साधु थे, नियुक्त किया गया और यह निर्णय किया गया कि चातुर्मास के पश्चात् ज्यो-ज्यों साधु एकत्रित होंगे, उनमें से जो भी दीक्षा-वृद्ध होगा, उसी को इस कार्य के लिए नियुक्त समझा जायेगा। इस प्रकार अवशिष्ट चातुर्मास में सघ की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रही। हर

एक सन्त अपने कार्य में उसी प्रकार से लगा रहा, जिस प्रकार से कि आचार्य की विद्यमानता में लगा रहता था।

चातुर्मास की समाप्ति पर तत्रस्थ सारा श्रमण-संघ वहाँ से विहार कर लाडणूं में आ गया। अन्य गाँवों से भी सन्त-सतियों के सिंघाडे विहार करते हुए वहाँ आकर एकत्रित हो गये। पारस्परिक विचार-विमर्श के पश्चात् सब सन्तों की एक सभा बुलाई गई और उसके निर्णयानुसार पौष कृष्णा तृतीया को डालचन्दजी स्वामी को आचार्य घोषित कर दिया गया। दो[1] महीने तक संघ आचार्य के बिना रहा, परन्तु नीति-निपुण और आचार-कुशल साधु-संघ ने निर्विवाद रूप से आचार्य का चुनाव करके उस कमी को पूरा कर लिया।

१—'माणक महिमा' में तीन महीने तक गादी खाली रहने का कथन किया गया है। उसका तात्पर्य डालगणी के पट्टारोहण दिवस तक की गणना से है। वे माघ कृष्णा द्वितीया को विधिवत् पदासीन हुए थे।

ज्ञातव्य-विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

(१) जन्म-संवत्—	१९१२ भाद्रपद कृष्णा चतुर्थी
(२) दीक्षा-संवत्—	१९२८ फाल्गुन शुक्ला एकादशी
(३) अग्रणी-संवत्—	१९३१
(४) युवाचार्य-पद संवत्—	१९४९ चैत्र कृष्णा द्वितीया
(५) आचार्य-पद संवत्—	१९४९ चैत्र कृष्णा अष्टमी
(६) स्वर्गवास-संवत्—	१९५४ कार्तिक कृष्णा तृतीया

महत्त्वपूर्ण स्थान

(१) जन्म-स्थान—	जयपुर
(२) दीक्षा-स्थान—	लाडणूं
(३) युवाचार्य-पद स्थान	सरदारशहर
(४) आचार्य-पद स्थान	सरदारशहर
(५) स्वर्गवास-स्थान	सुजानगढ़

आयुष्य-विवरण

(१) गृहस्थ	१६॥ वर्ष
(२) साधारण साधु	३ वर्ष
(३) अग्रणी	१८ वर्ष
(४) युवाचार्य	४ दिन
(५) आचार्य	४॥ वर्ष
(६) सर्व आयु	४२ वर्ष

जन्म-कुण्डली
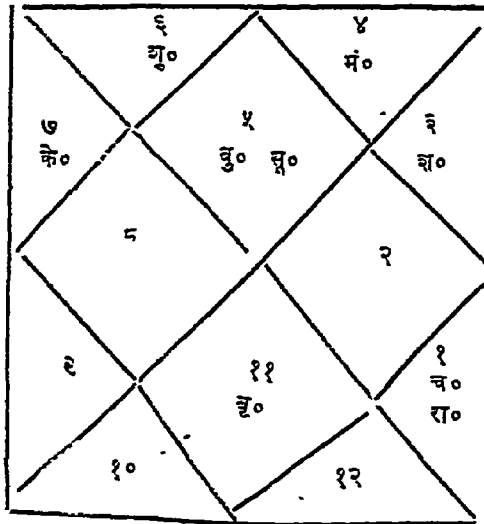
विहार-क्षेत्र

माणकगणी के विहार-क्षेत्र प्रमुख रूप से राजस्थान के तत्कालीन राज्य मेवाड़, मारवाड़, ढूंढाड़ तथा थली ही थे। उनके अतिरिक्त हरियाणा को भी उन्होंने अपना विहार-क्षेत्र बनाया था।

चातुर्मास

माणकगणी ने स० १९२९ से ३१ तक के तीन चातुर्मास जयाचार्य के साथ, स० १९३२ से ४६ तक के पन्द्रह चातुर्मास अग्रणी-अवस्था में स्वय, फिर सं० १९४७ से ४९ तक के तीन चातुर्मास मघवागणी के साथ और स० १९५० से ५४ तक के पाँच चातुर्मास आचार्य-अवस्था में किये।

अग्रणी-अवस्था में

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
पचपदरा	२	१९३२, ४
बीकानेर	१	१९३३
जयपुर	२	१९३४, ४३
फलोदी	१	१९३५
बरलू	१	१९३६
तारानगर (रीणी)	१	१९३७
पुर	१	१९३८
देशनोक	१	१९३९
बालोतरा	१	१९४०
पीपाड़	१	१९४२
चूरू	१	१९४४
उदयपुर	१	१९४५
जोधपुर,	१	१९४६

आचार्य-अवस्था में

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
सरदारशहर	१	१९५०
चूरू	१	१९५१
जयपुर	१	१९५२
बीदासर	१	१९५३
सुजानगढ़	१	१९५४

मर्यादा-महोत्सव

माणकगणी ने अपने शासनकाल में विभिन्न स्थानों पर ४ मर्यादा-महोत्सव मनाये। उनका विवरण इस प्रकार है :

स्थान	महोत्सव-संख्या	संवत्
हाँसी	१	१९५०
बीदासर	२	१९५१, ५३
लाडणूं	१	१९५२

शिष्य-संपदा

माणकगणी के शासनकाल में चालीस दीक्षाएं हुईं। उनमें सोलह साधु तथा चौबीस साध्वियाँ थीं। छह साधु और सत्तरह साध्वियों को उन्होंने स्वयं दीक्षित किया था तथा शेष अन्य साधु-साध्वियों द्वारा दीक्षित हुए थे। उपर्युक्त सख्या में उन दो दीक्षाओं को भी गिन लिया गया है, जो कि माणकगणी और डालगणी के अंतरकाल में हुई थीं। उनमें एक साधु तथा एक साध्वी थी। माणकगणी दिवगत हुए, उस समय इकहत्तर साधु और एक सौ तिरानवे साध्वियाँ संघ में विद्यमान थीं।

अष्टम परिच्छेद

आचार्य श्री डालगणी

: १ :

गृहि-जीवन

जन्म

श्री डालगणी तेरापन्थ के सप्तम आचार्य थे। उनका पूरा नाम डालचन्दजी स्वामी था। वे मालवदेश की प्राचीन राजधानी उज्जयिनी के निवासी थे। उनके पिता का नाम कनीरामजी तथा माता का नाम जड़ावांजी था। वे ओसवाल जाति के अन्तर्गत पीपाड़ा गोत्र के थे। उनका जन्म सं० १९०९ में आषाढ़ शुक्ला चतुर्थी को हुआ था। उनके पिताजी का देहान्त उनकी बाल्यावस्था में ही हो गया था।

माता की दीक्षा

पति की मृत्यु के पश्चात् उनकी माताजी संसार से विरक्त रहने लगी थीं। धीरे-धीरे उनके मन में संयम ग्रहण करने की भावना जाग्रत हुई और उन्होंने इसके लिए परिवारवालों से आज्ञा माँगी। अपने पुत्र डालचन्दजी की देख-भाल का भार भी उन्होंने अपने निकट परिजनों पर छोड़ा और सं० १९२० में आषाढ शुक्ला त्रयोदशी को पेटलावद में साध्वी श्री गोमांजी के पास दीक्षित हो गईं।

विराग-भावना

उस समय बालक डालचन्दजी की अवस्था लगभग ग्यारह वर्ष की थी। वे बड़े बुद्धिशाली और चतुर बालक थे। माताजी की दीक्षा का असर उनके मन पर बड़ा तीव्र हुआ। उनके संस्कार धर्म की ओर विशेष रूप से जागरूक होने लगे। लगभग तीन वर्ष पश्चात् ही उनका मन भी संयम ग्रहण करने को उत्सुक हुआ। परिजनों के सामने उन्होंने अपने विचार रखे और उनसे आज्ञा प्राप्त की। उन दिनों इन्दौर में बड़े हीरालालजी स्वामी का चातुर्मास था। वहीं जाकर उन्होंने साधु-प्रतिक्रमण आदि आवश्यक तत्त्वज्ञान सीखा।

: २ :

साधु-जीवन

दीक्षा-ग्रहण

वह जयाचार्य का युग था। तेरापन्थ में उस समय व्यक्तिगत शिष्य बनाने पर प्रतिबन्ध अवश्य था, परन्तु दीक्षा देने पर कोई प्रतिबन्ध नही था। वर्तमान आचार्य का शिष्य बनाकर किसी भाई या बहिन को दीक्षा प्रदान की जा सकती थी। इसी आधार पर डालगणी के परिवारवालों ने हीरालालजी स्वामी से प्रार्थना की कि आप इन्हें यहीं दीक्षा प्रदान कर दें।

हीरालालजी स्वामी ने विरागी की प्रकृति आदि विषयक कुछ जानकारी तो सेवा में रहते समय कर ली थी और कुछ परिजनों आदि से पूछताछ करके प्राप्त करली। उनकी तीव्र विराग-भावना को भी उन्होंने परखा। सब प्रकार से सन्तुष्ट होने पर उन्होंने सं० १६२३ भाद्रपद कृष्णा द्वादशी के दिन उन्हें दीक्षा प्रदान की।

मालव से विहार

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वे हीरालालजी स्वामी के पास रहकर विनम्रभाव से आसेवन और ग्रहण शिक्षा प्राप्त करते रहे। उस समय चातुर्मास की पूर्ति में लगभग ढाई महीने अवशिष्ट थे। गुरु-दर्शन की लालसा निरंतर उनके मन को आलोडित करती रहती थी। फिर भी प्रतीक्षा करना अनिवार्य था। गुरुदेव उस समय थली में थे। चातुर्मास-समाप्ति पर मालव से थली की ओर विहार किया गया। कोटा तथा बूंदी होते हुए हीरालालजी स्वामी इन्द्रगढ पधारे।

वीरभाणजी के प्रशिष्य

इन्द्रगढ में वीरभाणजी की मान्यता के अनेक घर थे। वीरभाणजी स्वामीजी के प्रथम तेरह साथियों में से एक थे। वे संघ से पृथक् होने पर उन्ही क्षेत्रो में विचरते रहे थे। उनके श्रावको ने हीरालालजी स्वामी की बडी भक्ति की और अपने वहाँ ले गये। कुछ पुस्तकें तथा पात्र आदि उनके सामने रखते हुए उन्होंने बतलाया कि ये सब मुनि सेजरामजी के हैं। वे स्वामीजी के शिष्य वीरभाणजी की परम्परा में दीक्षित हुए थे। श्रावकों ने यह भी बतलाया कि वीरभाणजी ने पचीस व्यक्तियो को दीक्षा दी थी। उनमें से बहुत सारे तो साधुता छोडकर गृहस्थ बन गये थे, पर अवशिष्ट शिष्यों की परम्परा में एक सेजरामजी ही बचे थे। उनके गुरु जब मृत्यु-शय्या पर थे, तब मुनि सेजरामजी ने उनसे पूछा था कि आप अस्वस्थ हैं, अतः आपके पीछे मैं अकेला ही रहूँगा, तब मेरा काम किस प्रकार चलेगा ? गुरु ने उनको उत्तर

देते हुए कहा था कि तेरापन्थी शुद्ध साधु है, उनमें और अपने में कोई अन्तर नही है । तुम उनमें सम्मिलित हो जाना । मुनि सेजरामजी ने तर्क करते हुए फिर पूछा था कि अपन तो इन्द्रियो को सावद्य मानते हैं, अत इन्द्रियवादी हैं । किन्तु तेरापन्थी उन्हें क्षयोपशम-भाव मानते है, अत· एक कैसे हो सकते है ? तव गुरु ने कहा था कि यह कोई अन्तर नही है । मैंने भी अपने गुरु से यही वात पूछी थी, तव उन्होने कहा था कि पृथक् होनेवाले को कुछ न कुछ भिन्नता वतलानी ही पडती है, अन्यथा उसका पृथक् होना लोगों के मन पर कोई प्रभाव नही डाल सकता । इसलिए तुम इस भेद की चिन्ता मत करना ।

इसके कुछ दिन पश्चात् ही उनके गुरु का स्वर्गवास हो गया । मुनि सेजरामजी भी तभी से अस्वस्थ रहने लगे और कुछ दिन की वीमारी भोगकर दिवगत हो गये । उन्होने अपने अन्त समय में हम श्रावकों को अपने गुरु के द्वारा कही गई उपर्युक्त वात को वतलाते हुए कहा था कि मेरी मृत्यु के पश्चात् ये मेरे पुस्तक-पन्ने आदि सव तेरापन्थी साधुओ को दे देना । श्रावकों के मुख से यह सारी वात सुनकर मुनिश्री हीरालालजी ने उनके पुस्तक-पन्नो को देखा, परन्तु काम के योग्य न समझकर उन्हें ग्रहण नही किया ।

गुरु-दर्शन

वहाँ से विहार करते हुए वे थली में जयाचार्य के पास पहुँचे और दर्शन करके नवदीक्षित डालचन्दजी स्वामी को गुरु-चरणो में भेंट किया । डालगणी ने प्रथम वार गुरु-दर्शन पाकर अपने को कृत-कृत्य माना । कुछ देर के लिए अपने आपको भूल-से गये । जयाचार्य ने नव-दीक्षित मुनि के सिर पर हाथ रखा और कुछ साधारण प्रश्नो द्वारा उनकी शिक्षा आदि के विषय में जानकारी प्राप्त की । उसके पश्चात् उन्हे स० १९२४ का आगामी चातुर्मास करने के लिए हीरालालजी स्वामी के साथ ही जयपुर भेज दिया ।

ज्ञानार्जन

डालगणी ने अपने आपको ज्ञानार्जन में लगा दिया । अपने प्रारम्भिक वर्षों में उन्हें कई स्थानो पर रहने का अवसर मिला, परन्तु जहाँ भी वे रहे, वहाँ अपने ज्ञानार्जन का क्रम चालू रखा । स० १९२५ से २८ तक जयाचार्य ने उनको अपने साथ रखा । वे वर्ष उनके सैद्धान्तिक ज्ञान-प्राप्ति के लिए वहुत ही उपयोगी सिद्ध हुए ।

उन्होने आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी और वृहत्कल्प—ये पाँच सूत्र कठस्थ किये थे । उनकी स्वाध्याय-वृत्ति वहुत तीव्र थी, अत जो ज्ञान कण्ठस्थ कर लेते, वह प्राय: अस्खलित रूप से उन्हें याद रहता था । उपर्युक्त आगमो के अतिरिक्त अनेक व्याख्यान भी उन्होंने कण्ठस्थ किये थे । यह प्रवृत्ति उनकी आजीवन एक समान रही । अपने अग्रणी-काल में भी वे प्राय कण्ठस्थ व्याख्यानों का ही अधिक प्रयोग किया करते थे । जो व्याख्यान या

जो कथा वे एक वार कह दिया करते थे, उसे दूसरी वार कहने का अवसर बहुत ही लम्बे काल से आया करता था। अनेक साधु उनकी व्याख्यान-शैली को ग्रहण करने का प्रयास किया करते थे।

चार वर्ष तक लगातार जयाचार्य की सेवा में रहने के पश्चात् उन्होंने सं० १९२९ में दलीचन्दजी स्वामी के साथ ब्यावर और सं० १९३० में कालूजी स्वामी के साथ उदयपुर चातुर्मास किया।

: ३ :

निर्भय अग्रणी

सिद्धान्तवादी व्यक्ति

डालगणी को स० १९३० के शीतकाल में अग्रणी बनाया गया। उनका अग्रणी-जीवन बडा ही प्रभावशाली रहा। वे अपने ही बलबूते पर आगे बढे थे। परिस्थितियों ने जहाँ उन्हें पीछे ढकेलने का प्रयास किया था, वहाँ भी उन्होंने अपनी प्रगति का द्वार खोज निकाला। वे एक बहुत बड़े साहसी और निर्भीक व्यक्ति थे। अपनी बात और धुन के भी वे एक ही थे। चापलूसी का जीवन न उन्हें कभी पसन्द था और न वे दूसरे की चापलूसी के इच्छुक ही थे। वे एक सिद्धान्तवादी व्यक्ति थे। आज इधर और कल उधर झुक जाने वाली प्रवृत्ति उनमें नाम को भी नहीं थी। वे अपनी बात कहने में न कभी झिझकते थे और न भावी आशकाओं से घबराते थे। जो उनके दिल में नही जचता था, वह प्राय· दूसरों के द्वारा जचाया भी नही जा सकता था। साधारण व्यक्तियों की भाषा में वे एक अक्खड व्यक्ति थे, परन्तु मर्मज्ञ व्यक्तियों की दृष्टि में वे अपनी बात के एक धनी व्यक्ति थे।

उतार-चढाव

अपने अग्रणी-काल के प्रथम दशक में उन्होने केवल तीन चातुर्मास ही स्वतन्त्र रूप से किये थे। अवशिष्ट सात चातुर्मासों में से चार जयाचार्य के साथ तथा तीन विभिन्न साधुओं के साथ किये थे, परन्तु उसके पश्चात् के चौदह चातुर्मासो में से केवल एक चातुर्मास उन्होने मघवागणी के साथ किया था और शेष तेरह चातुर्मास स्वतन्त्र रूप से किये थे।

अपने अग्रणी-जीवन में उन्होंने अनेक प्रकार के उतार-चढाव देखे थे। अनुकूलताओ और प्रतिकूलताओं का सामना करने के अनेक अवसर उनके सम्मुख आये थे। सभी परिस्थितियो में स्थित-प्रज्ञ रहकर उन्होने धीरे-धीरे अपने व्यक्तित्व को इतना निखार लिया था कि सबका ध्यान उनकी ओर अपने आप खिचने लगा था।

उदयपुर मे

स० १९४३ में मघवागणी ने अपना चातुर्मास उदयपुर में किया था। वहाँ डालगणी को भी उन्होने अपने साथ रखा था। उस समय उदयपुर मे तेरापन्थ का विरोध बडे जोरो से चला करता था, अत डालगणी जैसे निर्भीक तथा चर्चा-परायण व्यक्ति का साथ में होना आवश्यक भी था। मघवागणी जब वहाँ पधारे, तब एक दिन सब साधु-साध्वियों को बुलाकर उन्हें सावधान करते हुए फरमाया कि यहाँ पर विद्वेषी-लोग बहुत है। मार्ग में जाते-आते समय यदि कोई भी व्यक्ति चलने-बोलने आदि के सम्बन्ध में कोई गलती निकाले, तो ठीक

कहकर उस बात को वही समाप्त कर देना चाहिए। मार्ग मे खडे रहकर वाद-विवाद करने की आवश्यकता नही है।

आक्षेप और निराकरण

मघवागणी की उस शिक्षा का कुछ आभास किसी प्रकार से विरोधी लोगो को हो गया। तब वे जान-बूझकर संतों की खामियाँ बतलाने लगे। उन्हें पता था कि कोई भी हमारे कथन का प्रतिवाद नही करेगा। एक दिन डालगणी और हंसराजजी स्वामी पानी लाने के लिए साथ-साथ पधार रहे थे। जब वे बाजार में से गुजरे, तब डालचन्दजी पोरवाल ने, जो कि तेरापन्थ से बडा द्वेष रखा करते थे, आस-पास में खडे अपने ही साथी लोगो का ध्यान आकृष्ट करते हुए जोर-जोर से कहना प्रारम्भ किया—"देखिये ! ये तेरापन्थी-साधु मार्ग में पानी गिराते हुए जा रहे हैं। इस तरह पानी गिराते हुए चलना साधु के कल्प से बाहर है।"

डालगणी ने ठहरकर उनसे पूछा—"श्रावकजी ! क्या कह रहे है ?"

इस पर वे और भी तेज होते हुए बोले—"कह रहे हैं, वह झूठ थोड़े ही कह रहे है। तुम तेरापन्थी लोग किसी की सुनते थोड़े ही हो। कितनी देर से पानी गिराते चले जा रहे हो। कुछ कल्प-अकल्प का पता भी है ?" वे इस प्रकार के प्रवाह से बोले कि कुछ ही क्षणों में वहाँ उस एक पक्षीय विवाद को सुनने के लिए भीड़ एकत्रित हो गई।

डालगणी ने जब यह देखा कि लोग काफी इकट्ठे हो गये है और यह भाई अपनी झूठी बात को भी बड़े जोर-जोर से दुहराये जा रहा है, तब उन्होने सोचा यदि हम इस बात का कोई स्पष्टीकरण किये बिना ही चले जायेंगे, तो लोग इसकी बात को सत्य मानकर हमें गलती पर ठहरायेंगे।

वे उस बात का प्रतिवाद करने के लिए एक दूकान की चौकी पर चढ गये और उपस्थित जन-समुदाय से कहने लगे—"देखिये ! यह भाई जो कुछ कह रहा है, उसे तो आप सुन ही चुके हैं, अब मैं भी इस विषय में आपको कुछ बतला दूँ तो ठीक रहेगा।" उन्होंने झोली से अपना पात्र निकाला और उसे ओधा करते हुए सब को दिखलाया। सूखे गलने को भी उन्होंने ऊँचा करके दिखलाया।

उन्होंने कहा—"हमने अभी तक पानी लिया ही नही है, तब पानी गिराते हुए चलने की बात पैदा ही कैसे हो सकती है ? हम तो पानी लेने के लिए जा रहे थे, परन्तु इस भाई ने सभवत. यह समझ लिया कि हम पानी लेकर आ रहे हैं। यदि हम पानी लेकर भी आते, तो भी पानी न गिरने पर गलत आक्षेप करना उचित नहीं होता, परन्तु यह भाई तो पानी न होने पर भी उसके गिराने का आक्षेप लगा रहा है।"

उपस्थित जनसमुदाय को जब यह पता लगा कि एक निरर्थक बात के लिए ही इतना शोर मचा हुआ था, तो वे सब उस भाई की ओर घृणा-दृष्टि से देखते हुए अपने-अपने काम में

लग गये। डालगणी भी उस सारी घटना को समेट कर गोचरी के लिए पधारे और पानी लेकर वापस स्थान पर आ गये।

उचित ही किया है

डालगणी ने स्थान पर आते ही वह सारी घटना मघवागणी के सम्मुख रखी और प्रार्थना की कि यद्यपि आपका आदेश यह था कि कोई गलती भी बताए तो ठीक कहकर उस बात को वही समाप्त कर देना, परन्तु मैंने वहाँ पर काफी उत्तर-प्रत्युत्तर कर लिये हैं। उसके लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ।

मघवागणी ने फरमाया—"मेरे कहने का तात्पर्य चलने-बोलने आदि की साधारण गलतियों के लिए था, जिनको कि बाद मे सिद्ध या असिद्ध नहीं किया जा सकता। ऐसी प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली गलत बात को स्वीकार करने का तो प्रयोजन ही क्या हो सकता है ? तुमने यह स्पष्टीकरण करके उचित ही कार्य किया है।"

चर्चा की घुड़कियाँ

उस चातुर्मास में एक अन्य संप्रदाय के साधु चोथमलजी भी वहीं थे। वे तेरापन्थ के विरुद्ध प्रचार किया करते थे। वे चर्चा करने के लिए बार-बार आह्वान भी किया करते थे। कभी-कभी तो वे यहाँ तक भी कह देते कि यदि तेरापन्थी सच्चे हैं तो चर्चा क्यों नहीं करते ?

मघवागणी ने उनके आह्वान को स्वीकार कर लिया। चर्चा की तैयारी होने लगी। कविवर साँवलदानजी तेरापन्थ की ओर से व्यवस्था कर रहे थे। उन्होंने मुनि चोथमलजी को कहलवाया कि चर्चा में किसी प्रकार का कदाग्रह न होने पाये और सत्यासत्य का ठीक निर्णय हो सके, इसलिए राज्य के कुछ पडितो की मध्यस्थता में यह चर्चा होगी। मध्यस्थता की बात जब उनके सामने आई, तब उन्होंने उस प्रकार की चर्चा करने से साफ इनकार कर दिया। वहाँ की जनता ने तब यह स्पष्ट रूप से जान लिया कि इतने दिन तक चर्चा के लिए जो आह्वान किये जा रहे थे, वे सब केवल घुड़कियाँ ही थीं।

मार्ग मे चर्चा नहीं

उदयपुर-चातुर्मास के पश्चात् जब मघवागणी रेलमगरा में पधारे, तब मुनि चोथमलजी भी वहीं आ गये थे। उदयपुर में हुई चर्चा-संबंधी बात की झेंप मिटाने के लिये वे वहाँ फिर चर्चा की बात करने लगे। मघवागणी जानते थे कि वह उनकी चर्चा की भावना न होकर केवल जनता में कदाग्रह कराने की ही भावना है। यह बात तब और भी स्पष्ट हो गई, जब कि एक दिन स्थंडिल भूमि की ओर जाते समय बाजार में आचार्यदेव की पछेवड़ी का पल्ला पकड़कर उन्होंने उसी समय चर्चा करने के लिये कहा।

"चर्चा तो स्थान पर ही हो सकती है, उसके लिए यह वाजार का मार्ग उचित स्थान नहीं है"—ऐसा कहते हुए मघवागणी आगे पधार गये, किन्तु डालगणी को उनका वह व्यवहार बहुत अखरा। उन्होंने उदयपुर की वात याद दिलाते हुए कहा—"उस समय आपने चर्चा की मनाही क्यों की थी, जब कि मघवागणी तैयार थे। अब इस प्रकार मार्ग में खींचतान करना साधु-जनोचित कार्य नहीं है। यदि आप लोगों के मन में विशुद्ध चर्चा की ही भावना है तो स्थान निश्चित करके जितने दिन चाहें, चर्चा कर सकते हैं।" डालगणी की उस वात का उनके पास कोई उत्तर नहीं था, अतः वे चुप हो गये। डालगणी तब आगे पधार गये।

स्वामी-जाति का भगवानदास नामक एक भाई वहाँ मघवागणी के दर्शनार्थ आया हुआ था। वह तेरापन्थ में कट्टर श्रद्धा रखता था। उसे अच्छा तत्त्वज्ञान भी था। डालगणी आदि साधुओं के चले जाने पर उसने प्रसंग में मुनि चोथमलजी से कोई चर्चा पूछ ली। उन्हें उसका कोई उत्तर नहीं आया, तब क्रुद्ध होकर उलटे-सीधे बोलने लगे। उनकी गरम वातों से उनके एक श्रावक को इतना जोश आया कि उसने चर्चा पूछने की गुस्ताखी के दण्डस्वरूप भगवानदास के मुँह पर थप्पड दे मारा। उस अपमान से भगवानदास को भी वड़ा गुस्सा आया। उसने कहीं पास से ही एक लाठी उठा ली और थप्पड मारने वाले की ओर लपका। लोगों ने उसे बीच में ही पकड़ लिया, अन्यथा वह झगड़ा बहुत वड़ा रूप ले लेता। बीच-बचाव हो जाने से वहाँ मारपीट तो नहीं हुई, परन्तु जितना हुआ वह भी कोई कम लज्जास्पद नहीं था। झगड़े की वह वात दूर-दूर तक फैल गई। उदयपुर में महाराणा के पास भी वे समाचार पहुँचे। महाराणा उदयपुर में उठाई गई चर्चा की वात से परिचित थे, अतः भलीभाँति जानते थे कि कुछ लोग शास्त्रार्थ के नाम पर झगडा खड़ा कर देना चाहते हैं। महाराणा ने उस स्थिति को रोकने के लिये एक आज्ञा प्रदान की कि जहाँ तेरापन्थ के आचार्य हों, वहाँ मुनि चोथमलजी न जाएँ।

हाकिम को झिड़की

सं० १६४४ का चातुर्मास डालगणी ने गंगापुर में किया। अन्य सम्प्रदाय के मुनि प्रतापजी का चातुर्मास भी वहीं था। वे तेरापन्थ के विरुद्ध काफी प्रचार किया करते थे। बीच-बीच में चर्चा के लिए भी आह्वान किया करते थे। चातुर्मास में चर्चा के लिये अनेक वार वातें चलीं, परन्तु उसके लिए कोई उभयसम्मत निश्चय नहीं हो सका। चातुर्मास के पश्चात् डालगणी जब देवरिया पधारे, तब वहाँ चर्चा का निश्चय हुआ।

नियत स्थान और नियत समय पर धर्म-चर्चा प्रारम्भ हुई। उदयपुर निवासी पन्नालालजी हिरण भी चर्चा सुनने के लिये आये। वे उस समय साड़ा गाँव के नायव हाकिम थे। चर्चा के अन्तर्गत वे मुनि प्रतापजी के पक्ष को सबल बनाने के लिए बीच-बीच में बोलने लगे। पक्ष-विशेष पर अपनी सहमति प्रकट करते हुए वे जनता को प्रभावित करने के लिए अपने प्रभाव का उपयोग कर रहे थे।

डालगणी को उनका वह व्यवहार बहुत ही अनुपयुक्त लगा। एक-दो बार उन्होंने उनको सांकेतिक रूप से चेताया भी, परन्तु उन्होने उस चेतावनी पर विशेष ध्यान नही दिया और उसी प्रकार अपना कार्य करते रहे। डालगणी ने जब देखा कि ये इस प्रकार से मानने वाले नही हैं, तो उन्होंने सारी परिषद् के सामने उन्हें झिडकते हुए कहा—"आपकी यह हाकिमी गृहस्थों पर ही चल सकती है, साधुओ पर नही। यहाँ जो चर्चा हो रही है, वह आपको नही, किन्तु जैन आगमों को प्रमाण मानकर हो रही है। सत्य का निर्णय आपके अनुमोदन से नहीं, किन्तु-आगम के अनुमोदन से होगा।" डालगणी की उस झिडकी के पश्चात् बेचारे हाकिम को तो फिर बोलने का साहस ही नही हुआ।

चर्चा दया के विषय में थी। दया मात्र- अध्यात्मतत्त्व है अथवा उसमें क्वचित् मोह का मिश्रण भी हो सकता है। इस बात के खण्डन-मडन में आगम के उद्धरण प्रस्तुत किये गये थे। मुनि प्रतापजी को पग-पग पर निरुत्तर होना पड रहा था। फलस्वरूप डालगणी का पक्ष आगम सम्मत ठहरा। उस चर्चा के पश्चात् वहाँ पर डालगणी का ऐसा प्रभाव जमा कि अनेक अन्य मतावलबी व्यक्ति उनके भक्त बन गये।

इस पर डालगणी के अग्रणी-काल की उपर्युक्त घटनाओं से यह जाना जा सकता है कि वे पूर्णरूप से निर्भीक व्यक्ति थे। इन घटनाओं के अतिरिक्त भी उनके साहस की अनेक ऐसी घटनाएँ हैं, जो कि उनके अग्रणी काल के जीवन पर अच्छा प्रकाश डालती हैं। कच्छ की यात्राएँ उनके साहस और प्रभाव को व्यक्त करने वाली घटनाओं की ही एक शृङ्खला कही जा सकती हैं। उन यात्राओ का विवरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है।

: ४ :

कच्छ के श्री पूज्य

तीन यात्राएँ

अग्रणी-काल में डालगणी के विहार-क्षेत्रो में कच्छ का स्थान प्रथम कहा जा सकता है। अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा उनका वहाँ जाना अधिक हुआ। कच्छ की जनता भी उनसे बहुत अधिक प्रभावित हुई थी। वहाँ के श्रावको ने डालगणी को कच्छ भेजने के लिये अनेक बार दूर-दूर तक जाकर आचार्यदेव के समक्ष याचनाएँ की थीं। कच्छ में डालगणी का पदार्पण तीन बार हुआ। प्रत्येक बार में वहाँ की जनता उनके प्रति अधिकाधिक भक्ति-परायणा होती गई। उनकी वे तीनों यात्राएँ बहुत ही सफल रही। वे उस समय कच्छ के श्री पूज्य कहलाने लगे थे।

प्रथम यात्रा

वेला मे

सर्वप्रथम सं० १९४१ में मघवागणी ने उनको कच्छ में भेजा था। चातुर्मास से पहले वे वहाँ के विभिन्न क्षेत्रो में विचरे और फिर 'वेला' में चातुर्मास किया। प्रत्येक ग्राम में उनके व्यक्तित्व की अच्छी छाप पड़ी। वहाँ के क्षेत्रो में उनके नाम का एक सहज आकर्षण स्थापित हो गया। हर क्षेत्र के भाई उन्हें अपने यहाँ ले जाने में सौभाग्य का अनुभव करने लगे।

वीरचन्दभाई

चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् वे विभिन्न क्षेत्रों में विचरते हुए भुज पधारे। 'नान्ही पक्ष' के आचार्य हसराजजी के उत्तराधिकारी मुनि वीजपालजी भी उस समय वहीं थे। उनके सुप्रतिष्ठित श्रावक वीरचन्दभाई एक प्रभावशाली और शास्त्रज्ञ व्यक्ति थे। तेरापन्थी साधुओं के वहाँ आने की बात जब उन्होंने सुनी, तो वे स्वयं दर्शन करने के लिये गये तथा आगमों की विभिन्न बातो पर उन्होंने धर्म-चर्चा की। डालगणी ने उनको तेरापन्थ की मान्यता के विषय में समझाया। शास्त्रज्ञ वीरचन्दभाई बड़े प्रभावित हुये और उन्हें तेरापन्थ के मंतव्यों पर विश्वास हो गया।

जब उनकी जिज्ञासाएँ शान्त हो गईं, तब डालगणी ने उनसे पूछा—"बोलो अब क्या करना है? एक तरफ आगमानुमोदित मान्यता है और दूसरी तरफ एक लंबे समय तक स्वयं द्वारा पोषित मान्यता। तुम किसे महत्त्व देना चाहोगे?"

वीरचन्दभाई ने उत्तर दिया—"आगमानुमोदित मान्यता ही स्वीकार्य होगी, दूसरी मान्यताएँ चाहे कितने ही लबे समय से पालित और पोषित क्यों न होती रही हों। किन्तु मैं एक बार अपने साधुओं से इन मान्यताओ के विषय में फिर से मीमांसा करना चाहूँगा।

मैं चाहता हूँ कि किसी भी बात की पूरी छान-बीन किये बिना उसे छोड़ना या ग्रहण करना उपयुक्त नहीं होता।"

इस पर डालगणी ने उनको कहा—"यह तो बिल्कुल ठीक बात है। मेरे पास से तुमने जो कुछ सुना और समझा है, उसे अच्छी प्रकार से परखने के लिए यदि तुम दूसरे पक्ष को भी कुछ पूछना चाहो, तो उसमें हमें कोई आपत्ति नही होगी।"

वीरचदभाई मुनि बीजपालजी के पास गये और उनके पास उन सारी बातों को तर्क-वितर्क के साथ फिर से सोचा और समझा। उससे उन्हें जो जिज्ञासाएँ उत्पन्न हुई, उनको लेकर वे फिर डालगणी के पास आये और कहने लगे—"मुनिवर! अमुक-अमुक बातें तो हमारे मुनि जिस प्रकार से कहते हैं, वे ही ठीक लगती हैं।"

डालगणी ने तब उन्हें कहा—"यदि तुम्हारी इच्छा हो तो इन विषयों पर मुनि बीजपालजी के साथ ही चर्चा कर ली जाये, ताकि तुम्हें बार-बार इधर-उधर आना-जाना न पड़े और सत्यासत्य के निर्णय में अधिक सुविधा प्राप्त हो सके।" वीरचन्दभाई ने उस बात को स्वीकार किया और मुनि बीजपालजी को चर्चा के लिए तैयार कर लिया।

निश्चित समय पर वीरचन्दभाई के कथनानुसार डालगणी उनके स्थान पर पधारे और उन्होंने धर्म-चर्चा की। वीरचन्दभाई के जिज्ञासित हर प्रश्न पर उत्तर-प्रत्युत्तर चले परन्तु कुछ देर पश्चात् मुनि बीजपालजी को निरुत्तर हो जाना पड़ा। एक प्रश्न पर तो उन्हें ऐसी परिस्थिति में अटक जाना पड़ा कि यदि वे अपनी मान्यता का समर्थन करते तो आगमिक कथन का प्रत्यक्ष खण्डन होता था और यदि आगमिक कथन को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते तो अपना मन्तव्य खण्डित होता था। उन्होंने उस विकट स्थिति का सामना मौन के द्वारा करने की बात सोची और वे चुप रह गये।

वीरचन्दभाई ने जब देखा कि वे दोनों पक्षों में से किसी का भी स्पष्ट रूप से स्वीकार या परिहार नहीं कर रहे है, तब उन्होंने दबाव देते हुए कहा—"उत्तर दो महाराज! मौन कैसे हो गये?"

मुनि बीजपालजी आगम-सिद्ध स्पष्ट सत्य को झुठला कर अपनी मान्यता को पुष्ट करने का दुःसाहस नहीं करना चाहते थे, अतः उन्होंने वीरचन्दभाई से कहा—"मुझे अपना शिर ओखली में नहीं देना है।"

वीरचन्दभाई उत्तर देने में उनके सकोच के कारण को समझ रहे थे। उन्हें तब यह दृढ निश्चय हो गया कि डालगणी जो कह रहे हैं, आगमिक दृष्टि से वही सिद्ध होता है। उन्होंने तत्काल डालगणी को वन्दन किया और मुनि बीजपालजी तथा चर्चा में उपस्थित जन-समूह के सामने खड़े होकर डालगणी के पास गुरु-धारणा की। उस चर्चा का वहाँ की जनता पर बहुत अनुकूल प्रभाव पड़ा। उसके पश्चात् वे वहाँ कई दिन तक ठहरे। व्याख्यान तथा बात-चीत के लिए लोगों का भारी सख्या में आवागमन होता रहा।

माण्डवी में

भुज से विहार कर वे मांडवी बन्दर पधारे। वहाँ के अनेक भाई चातुर्मास में भी दर्शन करने के लिए 'वेला' गये थे। उन्होंने उस समय डालगणी को मांडवी पधारने की प्रार्थना की थी। हाथीभाई और नत्थूभाई महता वहाँ के प्रमुख भाइयों में से थे। वे वेला में सबके साथ तो गये ही थे, किन्तु बाद में जब वेला से विहार हुआ तो वहाँ से फतहगढ तक मार्ग में भी सेवा में रहे। डालगणी जब मांडवी पधारे, तब उन सबको बड़ी प्रसन्नता हुई।

वहाँ व्याख्यान में जनता बहुत एकत्रित हुआ करती थी। धर्म-चर्चा करके तत्त्व समझने वाले व्यक्ति भी बहुत आया करते थे। हाथीभाई, नत्थूभाई तथा धरमसीभाई आदि अनेक व्यक्तियों ने तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर गुरु-धारणा की। अनेक व्यक्ति सुलभ-बोधि बने। डालगणी की इच्छा वहाँ कुछ दिन और ठहरने की थी, परन्तु शहर की गन्दगी से तंग आकर उन्हें शीघ्र ही विहार करना पड़ा।

जनता का आग्रह

वहाँ से विहार करते हुए वे सरकारपुर आये और 'रण' को पारकर झालावाड़ पधारने का विचार करने लगे, परन्तु मार्ग के सलारी गाँव में वेला, फतहगढ, देसलपुर आदि अनेक गाँवों के व्यक्तियों ने सम्मिलित होकर दर्शन किये और उन्हें रोक लिया। उन लोगो का आग्रह था कि आगामी चातुर्मास कच्छ में ही किया जाए। डालगणी ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और उस वर्ष के लिए फिर कच्छ में ही रहने का निर्णय किया।

शेषकाल में वहाँ के अनेक शहरों में पधारे और धर्म-प्रचार करते हुए सं० १९४२ का चातुर्मास उन्होंने फतहगढ में किया। वहाँ भी जनता में धर्म-भावना का अच्छा प्रसार हुआ। चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् दो महीने तक वे उसी चोखले में विचरे और फिर थाव होते हुए मारवाड़ में पधार कर उन्होंने मघवागणी के दर्शन किये।

द्वितीय यात्रा

कच्छ भेजें

कच्छ की दूसरी यात्रा उन्होंने सं० १९५० में की। कच्छ के शिवजी तथा लीलाधरजी नामक दो भाइयो ने सरदारशहर में मघवागणी के दर्शन किये और प्रार्थना की कि डालचन्दजी स्वामी को आप कच्छ में भेजने की कृपा करें, तो हमारे लिए वह एक अच्छा अवसर होगा। हम दोनो वहाँ दीक्षा ग्रहण करने का विचार भी रखते है। मघवागणी ने उनकी उस प्रार्थना को स्वीकार किया और डालगणी को कच्छ में विहरण करने का आदेश दिया।

धर्मशाला में चोरी

डालगणी ने आचार्यदेव के आदेशानुसार वहाँ से विहार किया और पाली, शिवगंज होते हुए सिरोही पधारे। वहाँ उन्हें ठहरने के लिए धर्मशाला में स्थान मिला। धर्मशाला सबके

लिए खुली होती है, अत वहाँ और भी बहुत से मुसाफिर ठहरे हुए थे। रात के समय वहाँ एक यात्री के चोरी हो गई। थाने में रिपोर्ट लिखाई गई, तो सूर्योदय होने से पूर्व ही सिपाहियों को लेकर थानेदार वहाँ आ गया और उसने धर्मशाला का दरवाजा बन्द कर दिया। उसने सबको तलाशी देने के लिए कहा। तलाशी देने से पूर्व किसीको बाहर जाने की आज्ञा नही थी।

डालगणी उसी धर्मशाला में ठहरे हुए थे। उन्हें विहार कर आगे जाना आवश्यक था। सूर्योदय हो जाने पर वे थानेदार के पास गये और कहने लगे—"हम जैन साधु है, सदैव पैदल चलने का हमारा व्रत है। हमें अगले गाँव पहुँचना है, अत अच्छा हो यदि आप पहले हमारी, तलाशी ले लें।"

थानेदार ने कहा—"आपको धूप चढाने की कोई आवश्यकता नही है। आप मजे से जाइये। आप साधु हैं, अत आपकी तलाशी की मैं कोई आवश्यकता नहीं समझता।"

इतना कहने पर भी डालगणी ने वहाँ से विहार नहीं किया और थानेदार से कहा—"यह उचित नही होगा, हम विहार कर जायें और पीछे से यदि किसी के पास चोरी का माल न मिले तो जनता को यह सन्देह करने का सहज ही अवसर मिल सकता है कि यहाँ रात को जैन साधु ठहरे थे और प्रात तलाशी दिये बिना ही चले गये, अतः चोरी उन्होंने ही की होगी। इसलिए तलाशी दिये बिना हम जाना नही चाहते।"

थानेदार ने कहा—"अच्छा, तो आप अपनी तलाशी दे दीजिये।"

इस पर साधु अपनी पुस्तकें तथा पात्र आदि सब खोल-खोलकर दिखलाने लगे। साधु जब अपनी तलाशी दे रहे थे, तब थानेदार का ध्यान धर्मशाला के कोने में बैठे एक पगु व्यक्ति की ओर लगा हुआ था। वह पगु भी आँगन में पडे कूडे के ढेर को रह-रहकर बड़े गौर से देख रहा था। चतुर थानेदार ने उसकी उस चचलता को देखकर तत्काल भाँप लिया कि अवश्य ही इसी व्यक्ति ने चोरी की है और माल को इस कूडे के ढेर में छिपाया है।

सतों की तलाशी को बीच में छोडते हुए उसने तत्काल उस पगु को जा घेरा और ललकार कर कहा—"चोरी तूँने ही की है, अत सच बतला कि माल को कहाँ छिपाया है ?"

पगु ने पहले तो इनकार किया, परन्तु जब दो-चार चाटे पडे और थानेदार ने मारने के लिए हाथ में डडा लिया, तब भयाक्रात होकर कहने लगा—"मुझे मारियेगा नही, मैं आपको माल बतला देता हूँ।"

उसने कूडे के ढेर में जहाँ माल छिपाया था, वह स्थान थानेदार को बतला दिया। माल लेकर थानेदार डालगणी के पास आया और कहने लगा कि आपके विहार मे इतना विलब हो गया है इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। यद्यपि मैंने तो आपको विहार कर जाने के लिए कहा था, पर आप गये नहीं। चोरी का माल कहाँ से और किस तरह मे निकाला जाता है, इसे हम लोग अच्छी तरह से जानते हैं। आप जैसे साधुओ के पास वह नही मिला करता।

तपा नो घेर छै

वहाँ से आबू होते हुए डालगणी अहमदाबाद पधारे। वहाँ लगभग तीन घंटे तक स्थान-प्राप्ति के लिए शहर में इधर-उधर घूमते रहे, परन्तु स्थान नहीं मिला। आखिर वे एक धर्मशाला में ठहरे। वहाँ तपागच्छीय सुप्रसिद्ध श्रावक हेमजीभाई हट्टूभाई के यहाँ स्वयं डालगणी गोचरी के लिए पधारे। उस समय अहमदाबाद में जैन श्रावकों में परस्पर मनो-मालिन्य चला करता था, अतः यह एक प्रथा-सी हो गई थी कि स्थानकवासी-साधु मूर्तिपूजक श्रावकों के घर और मूर्तिपूजक-साधु स्थानकवासियों के घर गोचरी नहीं जाया करते थे। इसीलिए जब हेमजीभाई ने डालगणी को अपने घर गोचरी आते देखा तो बोले—"स्वामी! अयाँ तो तपा नो घेर छै।"

डालगणी ने तत्काल उत्तर दिया—"अमें तो तेरापन्थी साधु छीए। अमारे तपा के खरतर नो कई अटकाव नथी। शुद्ध भात-पाणी नो ज्याँ जोग मले, त्यों थी अमनें लेवो कल्पै।"

यह सुनकर हेमजीभाई बहुत प्रसन्न हुए और आहार-पानी लेने के लिए प्रार्थना की। डालगणी ने भी उन्हें वह लाभ प्रदान किया।

मुनि लाधोजी

वहाँ से विहार करते हुए वे वढवाण कैंप पधारे। वहाँ छह कोटि के साधु लाधोजी ने उनका बड़ा स्वागत किया। डालगणी ने उनको तेरापन्थ की मर्यादाओं, लेखपत्र और हाजरी आदि से अवगत किया। मुनि लाधोजी ने प्रत्येक बात को बड़ी रुचि से सुना। तेरापन्थ की नियमानुवर्तिता पर उन्होंने अत्यंत प्रसन्नता व्यक्त की।

डालगणी ने उनसे एक प्रश्न करते हुए कहा—"हमने सुना है कि इस वर्ष आपके संप्रदाय में भी सबने एकत्रित होकर कुछ मर्यादाएँ बनाई है, जरा हमें भी तो बताइये कि वे कौन-कौन-सी है।"

लाधोजी ने उपेक्षा दिखलाते हुए कहा—"क्या तो मर्यादाएँ हैं और कौन उनको पालता है? जो बनाई हैं, वे कागज में ही लिखी पड़ी है। हमारे टोले के साधु लींबड़ी में एकत्रित हुए थे और उन्होंने सत्तरह मर्यादाएँ बनाई थीं। उनमें सबसे प्रथम यह थी कि जिस साधु को आँखों से दिखना बन्द हो जाए, उसे लींबड़ी के स्थानक में थानापति हो जाना चाहिए। आप जानते हैं कि लींबड़ी के स्थानक में खंभे बहुत अधिक हैं। अचक्षु अथवा क्षीण-दृष्टि वाला व्यक्ति वहाँ रहे तो घूमते-फिरते किसी भी समय सिर फूट जाने का भय बना ही रहता है। उस समय ये मर्यादाएँ क्या काम लग सकती हैं? आपको मैं यह और बता दूं कि मेरी आँखें भी खराब है, अतः मैं तो सत्तरह साधुओं के साथ पहले से ही अलग हो गया हूं। मैंने उनसे कह दिया है कि उनकी ये मर्यादाएँ मुझे स्वीकार नहीं है।"

सफल चातुर्मास

डालगणी वहाँ से मोरवी बंदर होते हुए कच्छ पधारे। वहाँ के क्षेत्रों में विचरते हुए उन्होंने वेला में जेष्ठ कृष्णा पचमी को शिवजी तथा लीलाधरजी को दीक्षा प्रदान की। उसके पश्चात् आस-पास के क्षेत्रो में विहार कर उन्होंने स० १९५० का चातुर्मास भी वेला में ही किया। वहाँ तेरापन्थ के विरोधी व्यक्ति काफी थे, परन्तु डालगणी का ओजस्वी व्यक्तित्व आतंक की तरह उन सब पर ऐसा छाया कि वे विरोध करने का साहस ही नहीं कर सके। लोग व्याख्यान में खूब आते और तृप्त होकर जाते। धर्म-ध्यान, तपस्या तथा प्रसार की दृष्टि से वह चातुर्मास पूर्णत. सफल रहा।

नवाचार्य दिदृक्षा

इस बार कच्छ में डालगणी का एक ही चातुर्मास हो पाया। चातुर्मास से पूर्व चैत्र मास में मघवागणी दिवगत हो गये थे और सघ का भार माणकगणी ने सभाल लिया था। नव्य आचार्य के दर्शनो की सहज आकाँक्षा औरो की ही तरह डालगणी के मन में भी थी। चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् वे सीधा थली की ओर विहार करना चाहते थे, परन्तु 'रण' में पानी भरा होने के कारण उस समय कच्छ से वाहर जाना सभव नहीं था। उन्हें कुछ समय के लिए कच्छ में ही ठहरना पडा। रण सूखने पर उन्होंने वहाँ से विहार किया और चूरू में माणकगणी के दर्शन किये।

तृतीय यात्रा

फिर कच्छ की ओर

तीसरी बार उनका कच्छ में पदार्पण दो वर्ष पश्चात् ही फिर हुआ। सं० १९५२ में जब उनका चातुर्मास पचपदरा में था, तव माणकगणी का चातुर्मास जयपुर में था। कच्छ के भाइयों ने वहाँ दर्शन किये और डालगणी को कच्छ भेजने की प्रार्थना की। माणकगणी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् चाहें तो दर्शन करके तथा चाहें तो सीधे ही कच्छ जाने की आज्ञा प्रदान कर दी।

उन भाइयों ने पचपदरा में दर्शन करके जब माणकगणी की यह आज्ञा बतलाई, तब उन्होंने चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् सीधे ही कच्छ जाने का निश्चय किया। उनके साथ के नव-दीक्षित साधु छजमलजी के उन दिनों में अस्वस्थता चल रही थी। उन्हें साथ ले जाना सभव नहीं था, अत उनको पाली-चातुर्मास वाले पूनमचंदजी स्वामी के पास छोड़कर स्वयं तीन साधुओं से विहार कर गये।

जालोर मे

उस यात्रा में जब वे जालोर पधारे, तो वहाँ के मूर्तिपूजक-आम्नाय के भाइयों ने उनका बहुत सम्मान किया। वहाँ व्याख्यान में हजार-हजार आदमी की उपस्थिति हो जाया करती

थी। चतुर्दशी के दिन जब सदा के निर्णीत स्थान में जनता समा नहीं पाई, तब वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों ने उन्हें मन्दिर में व्याख्यान देने के लिए निवेदन किया। डालगणी ने वहाँ पधार कर व्याख्यान दिया तो जनता अत्यन्त प्रसन्न हुई। उन्होंने जब 'एहवा वीर प्रभु ने मोरी वंदना' यह ढाल गाई, तब तो लोग झूम-झूम उठे। वहाँ तेरापन्थी श्रावकों का एक भी घर नहीं था, फिर भी वे एक महीने तक ठहरे।

धर्मलाभ

जालोर से वाव पधारे। वहाँ एक महीना ठहरने के पश्चात् थराद और राधनपुर पधारे। वहाँ पर गोचरी के लिए जब वे एक घर में गये, तो एक मूर्तिपूजक श्रावक ने कहा—"यदि आप वन्दना का उत्तर 'धर्मलाभ' कहकर दें, तभी हम आपको आहार-पानी देंगे अन्यथा नहीं।"

डालगणी ने फरमाया—"धर्म का लाभ बतलाने में तो हमें कोई अड़चन नहीं है, परन्तु तुम जिस प्रकार से वदन के उत्तर में 'धर्मलाभ' कहलाने की अपनी परम्परा को हमारे पर थोपना चाह रहे हो, वैसा नहीं किया जा सकता। धर्मलाभ कहने की शर्त पर तो कोई भिखारी ही आहार लेगा। एक जैन साधु रोटी के लिए कभी ऐसा नहीं करेगा।" यह उत्तर सुनकर वह भाई कुछ नहीं बोला। अतः डालगणी भी आहार लिये बिना ही वहाँ से अन्यत्र पधार गये।

फतहगढ़ में

राधनपुर से विहार करते हुए वे वेला पधारे। वहाँ ज्येष्ठ मास में सुवाना के भाई वीरचन्दजी को दीक्षा प्रदान की। वहाँ से वे सं० १९५३ का चातुर्मास करने के लिए फतहगढ पधारे। चातुर्मास के समाप्ति के अनन्तर अनेक क्षेत्रों में विहार कर, वे पुनः फतहगढ आये और वहाँ के भाई साकलचन्दजी को उन्होंने मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन दीक्षा प्रदान की। उस वर्ष साध्वी अणचांजी का सिंघाडा भी कच्छ में ही था। उन्होंने वाव चातुर्मास किया था। दीक्षा के अवसर पर वे भी विहार करती हुई फतहगढ आ गई थीं। डालगणी ने दीक्षा के पश्चात् वहाँ से विहार कर दिया और साध्वियाँ वहीं ठहर गई।

कड़ा आचार, कड़ी प्ररूपणा

डालगणी रण पार करके मोरवी बन्दर पधारे। वहाँ वे सेठ वर्धमान की दूकान पर ठहरे। वहाँ व्याख्यान के लिए उपयुक्त जगह नहीं थी, अतः पास की एक जिनशाला में व्याख्यान देने के लिए पधारे। जनता उनका ओजस्वी व्याख्यान सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। ग्राम में हर जगह उनके व्याख्यान की प्रशंसा का एक प्रवाह-सा चल पडा। उस समय वहाँ अन्य समाज के विभिन्न तीन सिंघाडों की तेरह साध्वियाँ भी थी। डालगणी के व्याख्यान की प्रशंसा सुनकर वे उनके पास आई और प्रार्थना करने लगी—"आपका व्याख्यान सुनने की हमारी भी बहुत उत्कण्ठा है। हम वृद्ध हैं, अतः जिनशाला की ऊँची पेड़ियों पर चढ़ना हमारे लिए कठिन है।

यदि आप अनुग्रह करके स्थानक में व्याख्यान देने के लिए पधारें, तो हमारी इच्छा पूर्ण हो सकती है।"

डालगणी ने उनके आग्रह को स्वीकार किया और उसके पश्चात् स्थानक में व्याख्यान देने के लिए पधारने लगे। तेरह ही साध्वियाँ प्राय प्रतिदिन व्याख्यान में आया करतीं। जनता भी पाँच-सात सौ की संख्या में एकत्रित होने लगी। वहाँ उन्होने उत्तराध्ययन के अन्तर्गत अनाथी मुनि का आख्यान प्रारम्भ किया था। बीच-बीच में प्रसंगोपात्त साधु के आचार-विचार का भी वे विशद विवेचन किया करते थे। वहाँ वे पन्द्रह दिन ठहरे, जिसमें चौदह दिन का व्याख्यान स्थानक में ही होता रहा।

जब उन्होंने वहाँ से विहार किया, तब भारी सख्या में जनता उन्हें पहुँचाने के लिए आई। सारी साध्वियाँ भी गाँव बाहर तक पहुँचाने आई। लोगों के सामने डालगणी के व्याख्यान की चर्चा करते हुए साध्वियो ने कहा—"साधुजी बहुत कडा आचार पालते हैं, इसीलिए हर बात को बेधडक कहते हैं और बहुत ही कडी प्ररूपणा करते हैं।"

असली साधु

वहाँ से विहार करते हुए वे टकारा पधारे। वहाँ भी 'कडवी बाई' नामक आर्या ने उनकी बहुत भक्ति की और अनेक सैद्धान्तिक बोल पूछे। वहाँ से वे राजकोट पधारे। लूंकागच्छ के यति श्री केवलचन्दजी के उपाश्रय में विराजे। यतिजी उनके पदार्पण से बहुत प्रसन्न हुए। वे कहने लगे—"हम तो एक प्रकार से गृहस्थ जैसे ही हो गये है, किन्तु आप लोग बहुत उत्कृष्ट आचार पाल रहे हैं, अत· हम भी गर्व से यह कह सकते हैं कि लूकागच्छ में अभी तक असली साधु विद्यमान है।"

दिगम्बर-मन्दिर में क्यों ?

वहाँ से अनेक क्षेत्रो में रहते हुए वे गिरनार पर्वत पर पधारे और एक दिगम्बर-मन्दिर में विराजे। उसी रात में कुछ श्वेताम्बर भाई इकट्ठे होकर उनके पास आये और कहने लगे—"आप श्वेताम्बर होकर दिगम्बर-मन्दिर में क्यों ठहरे हैं ? ऐसा करने से हम श्वेताम्बरो की अच्छी नही लगती। आपको यह स्थान बदल लेना चाहिए।"

डालगणी ने कहा—"हमारे लिए श्वेताम्बर और दिगम्बर में कोई भेद-भाव नहीं है। हमें तो जहाँ उपयुक्त स्थान मिल जाता है, वही ठहर जाते हैं। आप लोग स्थान बदलने के लिए कह रहे है, किन्तु उसकी हमें कोई आवश्यकता नही लगती। विशेष हेतु के बिना हम रात्रि के समय में अन्यत्र जा भी नहीं सकते।" इस उत्तर द्वारा उन्होंने तीर्थस्थानों पर चलने वाले दिगम्बर-श्वेताम्बर झगडो पर करारा प्रहार किया था।

मकान में बन्द

गिरनार से विहार करते हुए वे सिहोर पधारे। वहाँ के जैन भाई बहुत द्वेषी थे, अतः शहर में ठहरने को कहीं स्थान नहीं मिला। आखिर धर्मशाला में ठहरना पड़ा। गोचरी के लिए वे स्वयं शहर में गये। एक बड़ी हवेली के सामने पहुँचे, तब एक भाई ने कहा—"महाराज ! यह मकान ओसवालों का है। आप इसमें गोचरी के लिए पधारिये।"

उसकी बात पर विश्वास करके वे ज्योंही मकान में गये, त्योंही उसने उसे बाहर से बंद कर दिया और स्वयं चलता बना। उन्होंने जब देखा कि दरवाजा बंद कर दिया गया है, तब तत्काल मुड़कर वापस आ गये और बाहर आवाज देने लगे। पास ही के एक राजपूत भाई ने आकर दरवाजा खोला, तभी वे बाहर आ सके।

वे अनेक घरों में गोचरी पधारे, परन्तु विद्वेष के कारण आहार-पानी का विशेष योग नहीं मिल सका। आखिर उन्होंने वहाँ से विहार किया और उस दिन लगभग बारह कोस चलकर पालीताणा पहुँचे। वहाँ भी शहर में कोई स्थान नहीं मिल सका। अन्ततः थके-माँदे वे मुर्शिदाबाद-वासी धनपत सिंहजी दूगड़ की धर्मशाला में आकर ठहरे। वहाँ आहार-पानी का योग भी मिला तथा रात्रि के समय दूगड़जी से साधुओं के आचार-व्यवहार संबंधी अनेक बातें भी हुईं।

सिद्धक्षेत्र में अनन्त बार

पालीताणा से वे शत्रुंजय पर्वत पर पधारे। मार्ग में उन्हें संवेगी साधु श्री शान्तिविजयजी मिले। शत्रुंजय पर्वत जैन मूर्ति-पूजकों का एक प्रमुख तीर्थ-क्षेत्र है। उस पर अमूर्तिपूजक साधुओं को देखकर संभवतः श्री शांतिविजयजी को सुखद आश्चर्य हुआ होगा। इसीलिए उन्होंने स्मित व्यंग करते हुए डालगणी से कहा—"अब तो सिद्धक्षेत्र में आ गये हो, तीर्थ-यात्रा अच्छी तरह से कर लेना, यह ऐसा प्रभावक क्षेत्र है कि यहाँ एक बार आने मात्र से ही जीव सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।"

डालगणी ने भी तत्काल उसी प्रकार स्मयमान मुद्रा में उनसे पूछा—"आपका जीव यहाँ कितनी बार उत्पन्न हुआ ?"

वह एक शास्त्रीय प्रश्न था। उसका शास्त्रीय आधार पर ही उत्तर देते हुए शांतिविजयजी ने कहा—"अनन्त बार।"

डालगणी ने तब फिर हँसते हुए कहा—"आप इसे सिद्ध-क्षेत्र मानते हैं और आपका जीव यहाँ अनन्त बार उत्पन्न होने पर भी सिद्ध नहीं बन सका ? हम तो इसे केवल एक पर्वत मानकर ऊपर आये हैं, अतः हमारी चिंता छोड़िये और अपनी चिंता करिये कि अभी तक आप स्वयं यहीं कैसे घूम रहे हैं ?"

व्याख्यान का आग्रह

वहाँ से वे फिर पालीताणा होते हुए लींबडी पधारे। वहाँ उत्तमचन्दजी, देवीचन्दजी आदि दस स्थानकवासी साधु थे। उनमें से एक जीवणजी नामक साधु डालगणी के पास आये और पूछने लगे—"आप स्थानक में पधार सकते है या नही ?"

डालगणी ने उत्तर दिया—"हमारे कोई आपत्ति नही है।"

जीवणजी ने अनुनय करते हुए फिर कहा—"उत्तमचन्दजी महाराज ने आपको स्थानक में मिलने के लिए सादर कहलवाया है।"

डालगणी ने उनकी उस बात को स्वीकार किया और स्थानक में पधारे। वहाँ लगभग चार-पाँच सौ श्रावक पहले से ही एकत्रित थे।

मुनि उत्तमचन्दजी ने कहा—"हमने आपके व्याख्यान की बहुत प्रशंसा सुनी है, अत· बहुत दिनों से इच्छा थी कि कभी अवसर मिले तो सुनने का लाभ लें। आज आपका यहाँ आगमन हुआ सुना, तो हमे बडी प्रसन्नता हुई। वहाँ इतने भाई लाभ नही ले सकते थे, इसलिए आपको यहाँ आने का कष्ट दिया गया है।" उन्होंने व्याख्यान सुनाने और विशेषकर तेरापन्थ की मर्यादाएँ सुनाने के लिए आग्रह किया।

डालगणी ने उनकी दोनों ही माँगो को स्वीकार किया और व्याख्यान सुनाया। उसीके अन्तर्गत प्रसगवशात् तेरापन्थ की मर्यादाओं का भी विवेचन किया। उपस्थित मुनिजन तथा श्रावक-समुदाय पर उसका बहुत ही अनुकूल प्रभाव पडा।

दूसरे स्थानक मे भी

लींबडी में ही एक दूसरे स्थानक में नान्हीं-पक्ष के साधु श्री दीपचन्दजी रहा करते थे। वे भी डालगणी के पास आये और कहने लगे—"जब आप उस स्थानक में पधारे हैं, तो हमारे स्थानक में भी पधारना चाहिए।" इस पर डालगणी वहाँ भी पधारे और तेरापन्थ की रीति, नीति तथा मर्यादाओं से उन्हे अवगत किया।

करामाती अमरसी ऋषि

लींबडी से विहार कर ध्रांगध्रा पधारने का उन्होने निश्चय किया। स्थानीय व्यक्तियों ने प्रार्थना की कि ध्रांगध्रा में दरियापुरी सप्रदाय के अमरसी ऋषि रहते हैं। वे मन्त्र-विद्या के पारगामी विद्वान् है। उनकी इच्छा के बिना जो भी साधु वहाँ जाते है, उन्हें कोई-न-कोई कष्ट अवश्य उठाना पडता है। अभी कुछ दिन पहले कई साध्वियाँ उनकी इच्छा के बिना वहाँ चली गई थी। उससे उनके शरीर से रक्त गिरने लगा। अन्तत· जब वे वहाँ से विहार कर गईं, तभी ठीक हुई। ध्रांगध्रा में अमरसी ऋषि की धाक पडती है, अतः आपका वहाँ पधारना ठीक नही रहेगा।

श्रावकों की उस प्रार्थना का प्रभाव डालगणी पर उलटा ही हुआ। उन्होंने सोचा कि अमरसी ऋषि ऐसे करामाती है और ध्रांगध्रा शहर भी बडा है, अत. पास आकर भी यदि विना देखे योंही चले जायेंगे, तो उनकी करामात का क्या पता चलेगा ? श्रावकों के मन में भय था, परन्तु वे स्वयं विलकुल निर्भीक थे, अतः किसी प्रकार की परवाह न करते हुए वे ध्रांगध्रा पधार गये।

वहाँ जाकर उन्होंने व्याख्यान दिया तथा शहर में गोचरी भी की। आहार-पानी से निवृत्त होने के पश्चात् उन्होंने अपने साथ के साधु नाथूजी को अमरसी ऋषि के पास भेजा। उन्होंने नाथूजी का अच्छा स्वागत किया और परिचयादि पूछा। नाथूजी ने जब डालगणी के वहाँ पधारने की सूचना दी, तब उन्होंने बड़े प्रसन्न होकर कहा—"आप दूसरे स्थान में क्यों ठहरे ? अपने यहाँ काफी स्थान है, उन्हें यही ले आइये। मैंने उनका काफी नाम सुना है, अत: यहाँ आने से मिलना भी हो सकेगा और वातचीत भी।"

नाथूजी ने ये सारी वातें वापस आकर डालगणी को निवेदित कीं और सब प्रकार से अनुकूलता का वातावरण वतलाया। डालगणी वहाँ पधारे। उन्होंने देखा कि वहाँ तो राजशाही ठाठ लग रहे हैं। वहुत सारे नौकर-चाकर इधर-उधर काम करते घूम रहे थे। द्वार पर संतरी खड़ा पहरा दे रहा था। स्थानक के अन्दर भी लोट, पात्र, कपड़े आदि के ढेर लगे हुए थे।

अमरसी ऋषि ने जब उनको पधारते हुए देखा तो उठकर सामने आये और स्वागत करते हुए वोले—"मारवाड़ी साधुओ पधारो! पधारो !! आप लोग दूसरे स्थान पर क्यों ठहर गये ? मकान तो यहाँ भी वहुत थे।"

डालगणी ने कहा—"यहाँ तो राजशाही ठाठ लगे हुए है, अतः स्थान की क्या कमी है ? भाइयो ने हमें स्थान वहीं वतलाया था, अत. वहाँ ठहर गये, अन्यथा यहाँ तो विना पूछे ही आ जाते, तो भी स्थान मिल जाता।"

अमरसी ऋषि उन्हें वड़े सम्मान के साथ अन्दर ले गये। और वहुत भाव-भक्ति की। डालगणी ने भी उनको स्वामीजी के लेखपत्र तथा मर्यादाएँ आदि सुनाई। वात-चीत करने के पश्चात् अमरसी ऋषि ने खूटी पर से रेशमी खोली से ढका हुआ एक रजोहरण उतारा और डालगणी को दिखलाते हुए उसे ग्रहण करने को कहा।

डालगणी ने कहा—"हमें तो रात्रि के समय भूमि पर पूज कर चलना पड़ता है, अत यह कुछ ही दिनो में खराव हो जायेगा। आपके यहाँ तो खोली से ढका हुआ खूटी पर पड़ा रहता है, अतः वर्षों तक भी नहीं विगड़ता।"

अमरसी ऋषि ने कहा—"हाँ, यह तो ठीक है। मैं तो दिन में एक वार जब दरवार को मंगल-पाठ सुनाने जाता हूँ, तभी इसे हाथ में लेता हूँ और वापस आकर खोली से ढककर पूर्ववत् ऊपर रख देता हूँ।"

उन्होंने अपने लोट-पात्र आदि भी दिखाये। उनमें से एक लोट बहुत सुन्दर थी। उस पर नाना प्रकार के चित्र किये हुए थे, उसे डालगणी के हाथ में देते हुए उन्होंने कहा—"यह तो आपको अवश्य लेनी पड़ेगी।"

डालगणी ने कहा—"हम तीन पात्र से अधिक नही रख सकते। अत. जब इसे तीन मे ही रखेंगे, तो काम में भी लेना आवश्यक हो जायेगा। ऐसी स्थिति में कुछ ही दिनो में ये सारे चित्र खराब हो सकते है।"

इस पर अमरसी ऋषि ने कपडा दिखलाते हुए कहा—"मैं वर्ष में एक बार कपडा जाचता हूँ। जितने कपडे की मुझे आवश्यकता होती है, उसके लिए पहले से ही दरबार को कहलवा देता हूँ। वे बढिया से बढिया कपडा अपने आप ही मगा देते हैं। आप इसमें से कुछ कपडा अवश्य ग्रहण करें।"

डालगणी ने कपड़े की भी मर्यादा बतलाते हुए कहा—"इस समय तो कपडे की भी हमें आवश्यकता नहीं है।"

उसके अनन्तर उन्होंने अपना शास्त्र-भडार दिखलाया। उसमें से एक बहुत सुन्दर इकतीस पत्रो की प्रति डालगणी के हाथ में देते हुए उन्होने कहा—"यह मेरे गुरु के हाथ की लिखी हुई है, इसमें आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी आदि सूत्र लिखे हुए हैं। इसे तो आपको मेरी ओर से भेंट मानकर लेना ही होगा।"

डालगणी ने कहा—"यह आपके गुरु के हाथ की लिखी हुई है, अत· उनकी स्मृति के रूप में आपके यहाँ तो भंडार में सुरक्षित पडी है, परन्तु हम घूमने वाले व्यक्तियों के पास पठन-पाठन के उपयोग में आती हुई यह खराब भी हो सकती है। एक दूसरी बात यह भी है कि हमारे संघ में हर एक पुस्तक व्यक्ति की न होकर संघ की होती है, अतः जब मैं इस प्रति को आचार्यदेव के सामने रखूँगा, तब वे इसे मुझे ही दें या और किसी को—इसका कोई पता नहीं है।"

अमरसी ऋषि ने कहा—"सवार के पास घोडा कभी खराब नही होता, अतः हर किसी को देने के लिए नहीं; किन्तु आपको व्यक्तिगत रूप से देता हूँ।"

डालगणी ने तब उसको ग्रहण नही किया। इससे अमरसी ऋषि को बडा आश्चर्य हुआ। वे कहने लगे—"आपको तो किसी भी बात की इच्छा नही है। ऐसे निर्लोभ साधु तो मेरे देखने में कभी नही आये।"

इन सब बातों से निवृत्त होने के पश्चात् डालगणी ने बातचीत के प्रसग में उनसे कहा—"हमने सुना है कि आप मत्र-विद्या के बहुत बडे ज्ञाता है और करामाती है।"

अमरसी ऋषि ने एक गहरा निःश्वास छोडते हुए कहा—"मेरी करामात में तो धूल पड़ गई।"

डालगणी ने साश्चर्य पूछा—"यह कैसे ?"

अमरसी ऋषि ने तब सारा वृत्तांत सुनाते हुए कहा—"शहर में एक कुलटा का एक मुसलमान के साथ अनुचित सबंध था। वह उसके घर प्रतिदिन आया करता था। एक दिन सूर्योदय होते ही मेरा शिष्य पानी लेने के लिए उसके घर गया, तब वह वहाँ मरी हुई पड़ी थी। शिष्य उसे देखते ही वापस घूमा और घबराकर दौड़ता हुआ यहाँ आया। उसे यों दौड़ते देखकर लोगों को कुछ सन्देह हुआ और वे देखने के लिए उस बहिन के घर गये। जब उन्होंने उसे वहाँ मृत पाया, तो शोर मचा दिया कि अमरसी ऋषि के शिष्य ने उसको मार दिया है।

"बात की बात में पुलिस आगई और मेरे उस शिष्य को गिरफ्तार कर लिया। उसकी मृत्यु का और कोई सबूत न मिलने पर उसे ही दोषी ठहराया गया। न्यायालय ने उसे खून के अपराध में फांसी की सजा दी। अनेक दबाव डालकर मैंने दरबार से प्रयत्न करवाया, तब कहीं फांसी की सजा काले पानी में परिवर्तित हो पाई। आप मेरी करामात की बात करते हैं। करामात ही होती तो मेरे शिष्य को लांछित करके यों काला पानी नहीं दिया जाता।"

इस प्रकार खुले मन से दोनों व्यक्तियों में बहुत देर तक बातें हुई। डालगणी जब वापस स्थान पर पधारे और लोगों को वहाँ हुई बातें सुनाईं, तो वे बड़े आश्चर्यान्वित हुए। वे कहने लगे कि यहाँ तो इनके भय से कोई भी साधु नहीं आता है। यह आपका पुण्य-प्रताप ही मानिये कि स्वयं अमरसी ऋषि भी आपसे प्रभावित हो गये।

कच्छ में अंतिम चातुर्मास

ध्रांगध्रा से विहार करते हुए वे, फिर कच्छ में पधार गये। बेला में उन्होंने मोखाड़ा के भाई कस्तूरचन्दजी को वैशाख शुक्ला त्रयोदशी के दिन दीक्षा प्रदान की। उसके पश्चात् आस-पास के गाँवों में विहरण कर छह ठाणों से उन्होंने सं० १९५४ का चातुर्मास बेला में किया।

उसी चातुर्मास में सुजानगढ़ से समाचार आये कि कार्तिक कृष्णा तृतीया को माणकगणी दिवंगत हो गये हैं। वे अपने पीछे संघ की कोई व्यवस्था नहीं कर गये हैं। उन समाचारों ने संघ के सभी साधु-साध्वियों को चिंतित किया। डालगणी भी उससे बहुत चिंतित हुए। संघ की सुव्यवस्था के विषय में उन सबका चिंतित होना स्वाभाविक ही था। चातुर्मास की समाप्ति पर हर सिंघाड़े का ध्यान शीघ्रातिशीघ्र पहुँचकर यह जानने की ओर था कि भावी आचार्य का चुनाव किस प्रकार से किया जाएगा। डालगणी भी उसके अपवाद नहीं थे। उन्होंने चातुर्मास समाप्त होते ही वहाँ से थली की ओर विहार कर दिया। वह उनकी अंतिम कच्छ-यात्रा थी।

: ५ :

आचार्य का चुनाव

संघ की चिंता

तेरापन्थ की शासन-व्यवस्था में भावी आचार्य का निर्वाचन करने का एक मात्र अधिकार वर्तमान आचार्य को ही दिया गया है। परन्तु किसी विशेष परिस्थिति के कारण वर्तमान आचार्य वह कार्य करने से पूर्व ही दिवगत हो जाएँ, तो भावी आचार्य का निर्वाचन करने विषयक कोई भी नियम उसके विधान में नहीं है। माणकगणी के स्वर्गवास होने पर सारे संघ को इसी बात की विशेष चिन्ता थी कि एतद् विषयक किसी प्रकार की सांविधानिक व्यवस्था के अभाव में भावी आचार्य का निर्णय किस प्रकार से किया जा सकेगा। सघ के सामने उस समय वह एक बहुत बडी और विकट समस्या थी। उसे सुलझाने के लिए चातुर्मास-समाप्ति के अनंतर हर सिंघाडा लाडणूं की ओर नदी के प्रवाह की तरह बढने लगा। चातुर्मास में सबके पास यह सूचना पहुँच चुकी थी कि सघ लाडणू मे एकत्रित होकर इस विषय पर विचार करेगा।

विरोधियों का मनोराज्य

जब सारा सघ उस समस्या को हल करने के लिए आतुर हो रहा था, तब दूसरी ओर तेरापन्थ की उन्नति से ईर्ष्या करने वाले व्यक्ति बडी प्रसन्नता का अनुभव करने लगे थे। वे अपनी कल्पनाओं के मनोराज्य में रहते हुए विविध स्वप्न देखने लगे थे। उनमें से अनेक व्यक्तियों का यह विचार था कि जिस तेरापन्थ की जड एडी-चोटी का पसीना एक करके भी हम नही खोद सके थे, वह अब अपने आप ही खुद जायेगी। आचार्य-पदवी के लिए जब अनेक व्यक्ति उम्मीदवार बनेंगे और एक दूसरे को नीचा गिराने का प्रयास करेंगे, तब उनकी पारस्परिक फूट का दृश्य अवश्य ही देखने योग्य होगा।

वे लोग ऐसे मनसूबे भी बाँधने लगे थे कि एक आचार्य, एक आचार और एक विचार सबधी तेरापन्थियो का वैशिष्ट्य अब चूर-चूर हो जायेगा। अवश्य ही सघ अब एक आचार्य का चुनाव नहीं कर सकेगा। हर एक समाज में जो दल-बदियाँ चलती हैं, वे ही अब तेरापन्थ में भी प्रारभ हो जाएँगी। फिर प्रत्येक दल अपने पक्ष के किसी व्यक्ति को आचार्य बनाना चाहेगा। ऐसी स्थिति में दो-चार आचार्यों का बन जाना तो स्वाभाविक ही है। जब अनेक आचार्य हो जायेंगे, तब एक आचार और एक विचार की बात भी स्वय ही आकाश-कुसुमवत् बन जायेगी। क्रमश: विकसित होने वाली इस घर की फूट से तेरापन्थ अब स्वय ही छिन्न-भिन्न हो जायेगा।

ऐसे लोगों में से कुछ ने तरह-तरह की झूठी बातें फैलाने में भी काफी सक्रिय रूप से भाग लिया। सम्भवत: उनका एक मात्र उद्देश्य तेरापन्थ में भी वैसा ही कलह देखने का था,

जैसा कि अन्य सम्प्रदायों में चलता रहा है। वे व्यक्ति उस प्रकृति के थे, जिनको कि अपनी गाय के चोरी चले जाने का उतना दुःख नहीं होता, जितना कि पड़ोसी की गाय के बच रहने का होता है। शायद ऐसे ही व्यक्तियों की मनोभावना को अभिव्यक्त करते हुए किसी कवि ने यह पद्य कहा होगा—

'मेरी तो गई सो गई, सोच कछु है न दई, जेठजी की गाय हाय! गोठ में रही है क्यों ?'

उन व्यक्तियों को सम्भवतः तेरापन्थ के आन्तरिक व्यवस्था-सम्बन्धी नियमों तथा प्रारम्भ से ही संघ के प्रति उत्पन्न की जाने वाली निष्ठा का पता नहीं था। इसीलिए वे अपनी ही मानसिक स्थितियों के आधार पर उन्हें तोलने की गलती कर रहे थे। यही कारण था कि उन व्यक्तियों को उस समय बड़ी निराशा हुई थी, जबकि बिना किसी वाद-विवाद के सर्व-सम्मति से भावी आचार्य का चुनाव सम्पन्न हो जाने की घोषणा की गई थी। अनेक प्रकार की विपरीत और फूट फैलाने वाली बातें प्रसारित करने वाले व्यक्तियों को तो सम्भवतः कई दिनों तक जनता में बाहर आकर मुँह दिखलाना भी भारी पड़ गया होगा। परन्तु अदूरदर्शी लोग भावी परिस्थिति की चिन्ता नहीं किया करते। वे तो अपने ही मनोराज्य में विहार करते हैं। तथ्यों से उनका कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं रहा करता।

कालूजी स्वामी की प्रतीक्षा

तेरापन्थ अपनी समस्याओं को प्रायः अपने ही ढंग से सुलझाता आया है। इस बार भी सारे संघ ने सुरसा के समान मुँह बाये सामने खड़ी समस्या का हल निकालने के लिए बड़ी सूझ-बूझ से काम लिया। पूर्व योजनानुसार समीप तथा दूर चातुर्मास वाले सिंघाड़े यथासम्भव शीघ्रता से लाडणूं में एकत्रित होने गये। आज्ञा और धारणा के लिए दीक्षावृद्ध साधु की नियुक्ति की जाती रही। अन्य समस्त कार्य भी उपयुक्त पद्धति से चलाये जाते रहे। साधु-साध्वियों के काफी सिंघाड़े एकत्रित हो चुके थे, फिर भी यह विचार किया गया कि उदयपुर-चातुर्मास से आने वाले कालूजी स्वामी की प्रतीक्षा की जाये। वे काफी वृद्ध होने के साथ-साथ अनुभवी और विचारक भी थे। जयाचार्य से लेकर माणकगणी तक प्रत्येक आचार्य की सेवा का उन्हें अच्छा अवसर मिला था। वे संघ के बहुत बड़े हितैषी होने के साथ-साथ सब पर अच्छा प्रभाव रखने वाले भी थे। उनके आगमन की देरी ही आचार्य के चुनाव की देरी थी।

चुनाव-सभा की घोषणा

कालूजी स्वामी विहार करते हुए पौष कृष्णा तृतीया को लाडणूं पहुँचे। उनके पहुँचते ही सारे संघ में उत्सुकता की एक लहर दौड़ गई। उन्होंने आते ही उसी दिन मध्याह्न में कुछ प्रमुख साधुओं से विचार-विमर्श किया और आगामी कार्य के लिए एक रूप रेखा भी निश्चित की। उसीके आधार पर सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् सब साधुओं की एक सभा बुलाई

जाने तथा उसमें भावी आचार्य का चुनाव किये जाने की घोषणा की गई। उसी समय से लोगो के मन में उस घोषणा का फलितार्थ जानने की उमग हिलोरें मारने लगीं।

पूर्व घोषणा के अनुसार प्रतिक्रमण करने के पश्चात् सारा साधुवर्ग एक स्थान पर एकत्रित हुआ। श्रावकों को वहाँ रहने की मनाही कर दी गई, अत वे सब हवेली से बाहर द्वार पर खडे प्रतीक्षा करने लगे कि देखें अन्दर क्या निर्णय होता है ?

एक प्रश्न, एक सुझाव

कालूजी स्वामी ने खडे होकर सब सन्तों से कहा—"बोलो भाई साधुओ! हम सबको एक शासनपति चाहिए, अत वह भार किसको सौंपा जाए ? आप सभी मिलकर मेरे इस प्रश्न का उत्तर दें।" उनके उस प्रश्न ने वहाँ के वातावरण में काफी हलचल पैदा कर दी। अनेक कल्पनाएँ और विकल्प सामने आये। उन पर विचार-विमर्श हुआ। आखिर एक सुझाव आया कि हम सब में कालूजी स्वामी अपेक्षाकृत अधिक पुराने और अनुभवी हैं। सघ की अनेक बातें उन्होंने देखी-सुनी हैं। अच्छा हो कि हम सब उन्ही पर यह भार छोड दें कि वे ही आचार्य-पद के योग्य किसी व्यक्ति का नाम प्रकाशित कर दें। हमें विश्वास है कि वे संघ के लिए सर्वथा योग्य व्यक्ति को ही चुनेंगे, क्योकि संघ के हित को और शासन करने की योग्यता रखने वाले व्यक्ति को वे हम सब से अधिक अच्छी तरह से जानते हैं। वे जिस व्यक्ति का चुनाव करें, वह हम सबके लिए सहर्ष मान्य होना चाहिए।

कालूजी स्वामी पर भार

उपर्युक्त सुझाव ने उपस्थित सभी व्यक्तियो की भावना को प्रभावित किया, अत सभी ओर से उसका समर्थन हुआ। सबके मुख पर यही बात गूँज उठी कि यह सुझाव उचित है और अपने संघ की शोभा के अनुकूल है। आचार्य के चुनाव का भार कालूजी स्वामी को सौंप देना चाहिए।

कालूजी स्वामी के लिए वह कार्य अवश्य ही कठिन था कि सब की ओर से वे इतना बडा भार अपने पर ले लें, परन्तु जब चारों ओर से दबाव पडा, तब उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया।

उन्होंने तब अपनी ओर से एक बार फिर सब से पूछा—"क्या आप सब मुझे यह अधिकार देते हैं कि मैं भावी आचार्य का नाम घोषित कर दूँ ? क्या आप सब उसे मान्य कर लेंगे ?"

सब साधुओं ने सहर्ष अपनी स्वीकृति प्रदान करते हुए कहा—"हम सबको वह व्यक्ति मान्य होगा।"

नाम की घोषणा

कालूजी स्वामी ने तब सघ, स्वामीजी और अन्य आचार्यों का गुणगान करते हुए कहा—"हमारा शासन भगवान् महावीर का शासन है। उसका संचालन करने के लिए आज हमें एक

आचार्य की आवश्यकता है। मैंने आज आते ही अपने सघ के प्रमुख और विद्वान् साधुओं के साथ विचार-विमर्श किया है। हम सव इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि हमें अपने शासन-पति का चुनाव सर्वसम्मति से करना चाहिए। एकमत होकर हम जिस व्यक्ति का चुनाव करेंगे, वह केवल उसी व्यक्ति के लिए नही, किन्तु सारे सघ के लिए महत्त्वपूर्ण वात होगी। साधुओं से वातचीत कर लेने के पश्चात् आचार्य-पद के लिए जिस व्यक्ति का नाम सोचा गया है, उसकी उद्घोषणा करने के लिए आप सवने मुझे जो यह भार दिया है, मैं उसके लिए अपना सौभाग्य समझता हूँ। आप सवकी अनुमति का उपयोग करते हुए मैं अपने सघ के लिए सप्तम आचार्य के पद पर 'श्री डालचन्दजी स्वामी' का नाम घोषित करता हूँ।"

गुरु-वंदन

उस घोषणा के साथ ही वह तुमुल हर्षध्वनि हुई कि कुछ देर के लिए व्यक्त ध्वनियाँ भी अव्यक्त हो गई। कालूजी स्वामी ने अपनी वात का सूत्र जोडते हुए फिर कहा—"इस समय 'डालगणी' यद्यपि यहाँ उपस्थित नहीं है, फिर भी अव वे हमारे आचार्य हो चुके है। वे कच्छ से विहार करते हुए इसी तरफ आ रहे है। इस समय सुना जाता है कि वे जोधपुर के आस-पास कहीं हैं। वे यहाँ पहुँचें, उससे पहले हम सव को अपनी स्थानीय व्यवस्था के अनुसार पूर्ववत् ही काम करते रहना चाहिए। अव से दोनों समय का वदन आचार्यदेव की दिशा की ओर मुँह करके हुआ करेगा। प्रथम वार का वदन हमें अभी करना चाहिए और इस सभा को विसर्जित करके वाहर प्रतीक्षा करते हुए भाइयों को भी यहाँ के निष्कर्षो से अवगत कर देना चाहिए।" कालूजी स्वामी के उस कथन के अनन्तर सव साधुओं ने 'डालगणी' को वन्दन किया।

समाचार-प्रसार

उस समय वहाँ इक्यावन साधु उपस्थित थे। पौष कृष्णा तृतीया की वह रात्रि तेरापन्थ के इतिहास में एक नई कडी जोड़ देने वाली सिद्ध हुई। हर्ष-विभोर मुनिजन सभास्थल से वाहर आये और भाइयों के लिए लगाई हुई अदर आने की रोक को उन्होंने हटा लिया। वाहर खड़ी हुई सारी जनता अदर प्रविष्ट हुई और उसे आचार्य-पद के चुनाव से अवगत किया गया। जयध्वनि के साथ सारा वातावरण प्रसन्नता से आप्लावित हो गया। उसी रात्रि में लोगों ने दूर-दूर के क्षेत्रो में तार द्वारा वे समाचार पहुँचा दिये।

दुराशाओं का अत

कुछ व्यक्तियो को उस चुनाव पर वडा आश्चर्य हुआ। वे यह समझ ही नहीं पा रहे थे कि यह कैसे संभव हो सकता है कि सारे साधु एकत्रित होकर कुछ देर के लिए बैठें और तत्काल ही एकमत होकर आचार्य का चुनाव कर लें। परन्तु चुनाव संपन्न हो चुका था, उससे इनकार

कैसे किया जा सकता था। फलस्वरूप उनकी दुराशाएं उन्ही में विलीन होकर रह गई। तेरापन्थ ने अपनी एकता का सिक्का उस चुनाव के द्वारा पहले से भी कही अधिक पक्का जमा दिया।

प्रथम दर्शन

डालगणी उस समय कच्छ से विहार करते हुए आ रहे थे। इस घटनावलि तक वे जोधपुर भी नहीं पहुँच पाये थे। चुनाव-सम्बन्धी समाचारों का तार जब जोधपुर पहुँचा, तब लिछमणदासजी भडारी आदि पंद्रह-बीस भाई वहाँ से डालगणी के सामने गये। उन्होंने जोधपुर से तीन कोस पर चापासणी नामक गाँव में उनके दर्शन किये। वे सब वहाँ पहुँचे, उस समय सत आहार कर रहे थे। भडारीजी ने जाते ही आचार्य-पद के अनुरूप गुणगान करते हुए बडे जोर की ध्वनि से वन्दन किया। आचार्यदेव के प्रथम-दर्शन का हर्ष उन सबमें उमड रहा था।

प्रथम समाचार

डालगणी ने तत्काल उनको टोकते हुए कहा—"भडारीजी ! ऐसे कैसे बोल रहे हो ? तुम जैसे राजकर्मचारी और समझदार व्यक्ति यह कैसे भूल सकते हैं कि अभीतक हमारे सघ में भावी आचार्य का चुनाव नही हुआ है। आचार्यपद के अनुरूप शब्द साधारण साधु के लिए प्रयुक्त नही किये जाने चाहिए।"

भडारीजी अपने साथ लाडणू से आया हुआ तार लेकर आये थे, अत उसे दिखलाते हुए वे बोले—"आचार्यपद का चुनाव तो आज से दो दिन पूर्व ही हो चुका है और वह चुनाव आपका ही हुआ है। इसलिए आप जैसे आचार्य के लिए यदि हम इन शब्दों का प्रयोग करते है, तो यह अपने सघ की प्रणाली के सर्वथा अनुरूप ही है। आप हमें उपालभ देने के स्थान पर प्रथम समाचार देने का पुरस्कार प्रदान कीजिए।"

पूछने की आवश्यकता

डालगणी ने सारी बातें सुनने के पश्चात् फरमाया—"सतों ने इस चुनाव में बहुत शीघ्रता की। हम सब वहाँ पहुँचने वाले ही तो थे। जब मुझे ही आचार्य चुनना था, तो कम-से-कम पहले मुझसे पूछ लेना तो आवश्यक था।"

भंडारीजी ने कहा—"सघ को आचार्य की आवश्यकता थी, अत उसने आपको योग्य समझ कर चुन लिया, इसमें आपको पहले पूछ लेने की आवश्यकता ही कहाँ थी ? यदि आपको इस विषय में पूछा भी जाता, तो आप यो कब कहने वाले थे कि हाँ मुझे चुन लो। वहाँ सब सतों ने मिलकर जो चुनाव किया है, वह सर्वथा उचित किया है। हम सब उसकी बधाई लेकर सर्व-प्रथम आपके पास आये है, अत हमको आपके प्रथम चातुर्मास का पुरस्कार मिलना चाहिए।"

जोधपुर में

डालगणी ने चातुर्मास की वात को आगे के चिंतन पर रखते हुए फरमाया—"अभी के लिए तो यही पुरस्कार समझिये कि हम आज ही विहार करके जोधपुर पहुँचने का विचार कर रहे है।"

सबने तत्काल उस कृपा-दृष्टि को सहर्ष शिरोधार्य किया। कुछ भाई वहाँ सेवा में ठहरे और कुछ ने शीघ्रता से वापस जाकर जोधपुर की जनता को डालगणी के आगमन से सूचित किया। जब सायंकाल के समय डालगणी जोधपुर पहुँचे, तो वहाँ की जनता में बड़ा उत्साह छाया हुआ था। यद्यपि उन्हें लाडणूं पहुंचने की शीघ्रता थी, परन्तु जनता के अत्यन्त आग्रह के कारण वहाँ उन्हें सात रात तक ठहरना पडा। उसके पश्चात् भी वे उन्हें समझा-बुझाकर ही वहाँ से विहार कर सके।

लाडणूं में पदार्पण

डालगणी ने जोधपुर से नागोर होते हुए लाडणू की ओर विहार किया। उधर से सामने आनेवाले संतों में से कुछ तो नागोर से भी आगे तक पहुँच गये। नागोर में दो रात ठहरना हुआ। वहाँ सब मिलाकर अठाईस सत एकत्रित हो गये थे। साधु-संघ को साथ लेकर क्रमशः विहार करते हुए वे पौष शुक्ला त्रयोदशी के दिन लाडणू पहुँचे। उस दिन कालूजी स्वामी आदि वहाँ उपस्थित सारे संत और हजारो श्रावक उनके सम्मुख गये। लाडणू के ठाकर आनन्दसिंहजी भी नगाड़े निशान लेकर बडे आडम्बर के साथ सामने गये। उनका नगर-प्रवेश बहुत ही शानदार हुआ।

पदारोहण

डालगणी का विधिवत् पट्ट-महोत्सव मनाने के लिए माघ कृष्णा द्वितीया का दिन निश्चित किया गया। उस दिन उनके शासन-सूत्र सँभालने के उपलक्ष में अपनी-अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए अनेक व्यक्तियो ने उनकी भक्ति-संभृत स्तवना की। पदारोहण का वह उत्सव वहाँ के पंचायती नोहरे में मनाया गया था, जो कि काफी बडा और नगर के प्राय मध्य भाग में अवस्थित है। डालगणी ने शासन-सूत्र को अपने हाथ में लिया, उस समय बहत्तर सत और एक सौ चौरानवे सतियाँ भिक्षु-शासन में थी।
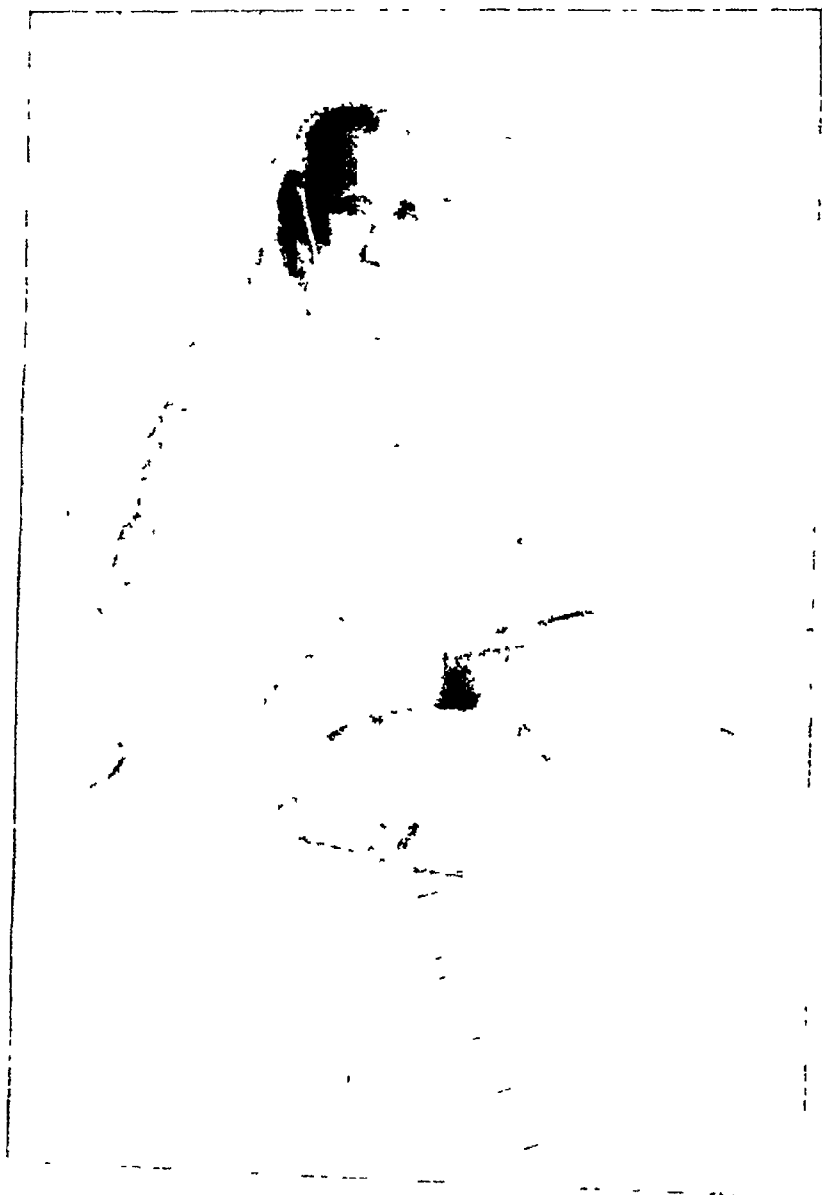
सप्तम आचार्य श्रीमद् डालगणी

: ६ :

तेजस्वी धर्माचार्य

औरो से भिन्न

डालगणी एक महान् तेजस्वी आचार्य थे। अग्रणी-जीवन में ही उन्होंने अपने व्यक्तित्व की छाप सघ के सभी अगों पर डाल दी थी। उन जैसे प्रखर व्याख्याता और मनस्वी आचार्य को पाकर तेरापन्थ धन्य हो गया था। उन्होंने तेरापन्थ का शासन स० १९५४ माघ कृष्णा द्वितीया के दिन सम्भाला था। अन्य आचार्यों की अपेक्षा डालगणी के व्यक्तित्व को कुछ भिन्न माना जा सकता है, क्योकि उनसे पहले प्रत्येक आचार्य अपने पूर्ववर्ती आचार्य के द्वारा नियुक्त किये गये थे, जबकि वे किसी भी आचार्य के द्वारा नियुक्त न किये जाकर सारे सघ के द्वारा चुने गये थे।

तेरापन्थ में आचार्य के द्वारा नियुक्त किये गये व्यक्ति को नियमत सबको मानना पडता है, अत अन्य सब आचार्यों के लिए सर्व-सम्मत होने का मार्ग सहज था। वस्तुत उनको सर्व-सम्मति की कसौटी पर चढने की आवश्यकता ही नही हुई, यह आवश्यकता तो केवल डालगणी के लिए ही उत्पन्न हुई और वे उस कसौटी में खरे उतरकर सबके सामने आये थे। प्रत्यक्षत सब व्यक्तियो के द्वारा समान रूप से मान्यता प्राप्त करना कोई सरल कार्य नही है और यह असरल कार्य ही डालगणी के व्यक्तित्व को अन्य आचार्यों के व्यक्तित्व से पृथक् कर देता है।

स्वयं को आश्चर्य

उनके उस सर्व-सम्मत चुनाव से अन्य अनेक व्यक्तियो को आश्चर्य हुआ था, वह तो कोई असम्भव बात नही थी, परन्तु स्वय डालगणी को भी उसका बडा आश्चर्य हुआ था। उन्होने उस बात को अभिव्यक्त करते हुए उन्ही दिनो में सन्तो के सम्मुख एक पद्य भी कहा था

कुड कुड रो न्यारो पाणी, तुड-तुड री न्यारी वाणी।
थां सगलांरी सरिखी होई, आ तो वात अजब मैं जोई॥

अर्थात्—प्रत्येक कुएँ में भिन्न-भिन्न प्रकार का पानी होता है और प्रत्येक मुख मे भिन्न-भिन्न बातें होती है, परन्तु मेरे चुनाव के विषय में तुम सब की एक ही सम्मति हुई, यह बडे आश्चर्य की बात है।

मै इनकार कर देता तो ?

पदारोहण-उत्सव के कार्य से निवृत्त होने के पश्चात् डालगणी ने माणकगणी के देवलोक होने से लेकर स्वय के चुनाव तक की घटनावलि से अवगत होना चाहा। उसके लिए उन्होने

मगनलालजी स्वामी को चुना। क्योंकि वे आद्योपांत उस सारी घटनावलि के मध्य में रहे थे।

एक वार सध्याकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् उन्होंने मगनलालजी स्वामी के सामने वह वात चलाई और पूछा—"मेरी राय लिये विना ही तुम सव ने मुझे कैसे चुन लिया ?"

मगनलालजी स्वामी ने कहा—"आप इस पद के सर्वथा योग्य थे, अत सभी ने मिलकर आपको चुन लिया। आपकी राय लेने की इसमें कोई आवश्यकता थी ही नही।"

डालगणी ने कहा—"यदि मैं इनकार कर देता, तव क्या होता ?"

मगन मुनि ने कहा—"सघ जैसा हम सवका है, वैसा ही आपका भी है, अत अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उसकी सेवा करना प्रत्येक का कर्त्तव्य है। आप सघ की व्यवस्था-सम्बन्धी सेवा करने के सर्वथा योग्य है, अत इनकार करने का कोई प्रश्न ही नही उठ सकता था।"

डालगणी ने फिर जोर देते हुए कहा—"तुम कहते हो वह ठीक है, परन्तु एक क्षण के लिए कल्पना करो कि यदि मैं अपने को उतना योग्य नहीं समझता और अपनी असमर्थता के कारण इस भार को उठाने से इनकार कर देता, तो तुम लोगो ने मेरे विकल्प में किसी दूसरे का नाम सोचा तो अवश्य होगा।"

मगन मुनि ने उस प्रसग को टालने का काफी प्रयास किया, परन्तु डालगणी उसीको खोदने पर लगे हुए थे। आखिर जव उन्होंने देखा कि आचार्यदेव उस प्रसग को प्रच्छन्न रहने देना नही चाहते, तव उन्होंने साहसपूर्वक सारी वात स्पष्टतया उनके सामने रखते हुए कहा—"यथासम्भव हम सव विनय-अनुनय से अवश्य ही आपको मना लेते, फिर भी यदि आप नहीं मानते तो हमने कालूरामजी (छापर वालो) को आपके विकल्प में चुना था।"

मगनलालजी स्वामी की इस वात पर डालगणी एक क्षण के लिए स्तम्भित-से रह गये। कुछ देर के पश्चात् उन्होंने फरमाया—"मैंने भी कई नाम सोचे थे, परन्तु मेरी दृष्टि यहाँ नहीं पहुँच पाई थी।" उन्होंने उस नाम की उपलब्धि के साथ ही वार्तालाप को इस प्रकार से समाप्त कर दिया, मानो वह कभी हुआ ही नही था। ऐसा लगता है कि उन्होने उसी दिन से एक ऐसे व्यक्ति को पा लिया था कि जिसे अपना दायित्व सौंप कर वे निश्चिन्त हो सकते थे।

सुव्यवस्था की प्रशसा

उस अवसर पर उन्होने मगनलालजी स्वामी के कार्यों की प्रशंसा करते हुए कहा था कि माणकगणी के देवलोक होने के पश्चात् तथा मेरे द्वारा कार्य-भार सम्भालने के बीच में जो तीन महीने व्यतीत हुए हैं, उनमें अपने सघ की रीति-भांति के अनुसार तुमने यहाँ का कार्य बहुत ही अच्छे ढग से चलाया।

मगनलालजी स्वामी ने विनम्रभाव से कहा—"आपकी कृपा से सभी सन्तो का दृष्टिकोण संघ की महत्ता को बनाये रखने का था, अत किसी को काम चलाने की आवश्यकता ही नहीं थी। वह तो सवकी सुनीति के कारण अपने आप ही चलता रहा।"

अच्छी प्राप्ति

डालगणी मनुष्य की पहचान में बड़े निपुण थे। मगनलालजी स्वामी की उन बातों से उन्होंने जहाँ कालूगणी को पाया, वहाँ स्वयं मगनलालजी स्वामी को भी एक गम्भीर व्यक्ति के रूप में पा लिया था। उनकी दृष्टि में उसी दिन से उनके लिए महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया। उनकी परख प्राय अपने आप में पूर्ण हुआ करती थी। वे किसी व्यक्ति पर पूरी परख के पश्चात् विश्वास करने लगते थे, तो फिर उसे किसी भी प्रकार से मिटा पाना कम ही सम्भव हुआ करता था। अपने शासनकाल के प्रारम्भ से ही उन्होंने जो विश्वास मगनलालजी स्वामी के प्रति स्थापित किया, वह अन्त तक क्रमश विकसित होता गया।

प्रथम बार की व्यवस्था

माघ कृष्णा चतुर्दशी तक लाडणूं में विराजने के पश्चात् डालगणी ने वहाँ से विहार किया और बीदासर में मर्यादा-महोत्सव किया। वहाँ सत्तावन साधु और एक सौ तीस साध्वियाँ एकत्रित हुई थीं। सबकी यथावत् व्यवस्था करने का कार्य डालगणी के लिए प्रथम ही था, फिर भी उन्होंने उस कार्य को बड़ी कुशलता के साथ किया। उस कार्य को निबटाने में उनके प्रारम्भिक सघर्षमय जीवन के अनुभव काफी सहायक सिद्ध हुए। साधु-साध्वियो को भी यही अनुभव हुआ कि मानो वे किसी नए आचार्य के सम्मुख अपनी बातें प्रस्तुत नही कर रहे है, अपितु किसी वर्षों के अनुभवी आचार्य के सम्मुख ही कर रहे हैं।

मर्यादा-महोत्सव के अनन्तर गुरुदेव के पास से अनुज्ञा लेकर अत्यन्त सन्तोष के साथ सबने अपने गन्तव्य स्थलों की ओर विहार किया। जब वे आये थे, तब उन सबकी आकृति पर आचार्य के अभाव में जो अनिश्चय तथा आशका की भावनाएँ थी, वे सब उस समय तक निश्चय और असंदिग्धता में परिणत हो चुकी थी। वे सब वहाँ से एक नया उत्साह लेकर आगे बढे थे।

अकाल

सं० १९५६ में वर्षा के अभाव में प्रायः समस्त राजस्थान में भयकर अकाल पडा। कहा जाता है कि वैसा दुष्काल बड़े-बूढों की स्मृति में पहले कभी नही पडा था। आज भी उस दुष्काल के विषय में अनेक कहावतें प्रचलित है। किसी जान-पहचान के व्यक्ति को साधारण खुराक से अधिक खाते या शीघ्रता से खाते देखकर आज भी किसी राजस्थानी के मुँह से सुना जा सकता है—"क्या छपना पड रहा है ?" उस वर्ष गरीब लोगो ने वृक्षो की छाल तथा भरूंट (एक प्रकार का घास) के दानों तक को नही छोडा था।

ऐसी स्थिति में चातुर्मास के पश्चात् साधु-साध्वियों का एकत्रित हो पाना सम्भव नही था। मेवाड और मारवाड़ के मार्ग में अनेक गाँव उजड गये थे। लूट-खसोट का जोर बढ़ गया था। आहार-पानी का योग मिलना असम्भव हो गया था। ऐसी स्थिति में उधर से

किसी भी सिंघाड़े को नहीं बुलाया गया। डालगणी ने उस वर्ष मर्यादा-महोत्सव राजलदेसर में किया। वहाँ पर आस-पास से इकतालीस सन्त और छप्पन सतियाँ, यों सब मिलाकर सत्तानवे ठाणे एकत्रित हुए, जबकि पिछले वर्ष एक सौ सतासी ठाणे एकत्रित हुए थे।

अन्धे की चालाकी

सं० १६५७ में डालगणी बीदासर में विराज रहे थे। वहाँ उदयपुर निवासी डालचन्द बोरा अपने भतीजे को साथ लेकर आया। वह अचक्षु था। डालगणी के दर्शन कर उसने एकांत में निवेदन किया—"एक बार मैं सोया हुआ था कि अचानक आवाज आई—"डालचन्द ! उदयपुर के पाँच सौ घरों के साथ पैरों में पड़ जा।"

मैं सोचने लगा कि यह क्या आवाज आई, तभी दूसरी बार और फिर तीसरी बार वही आवाज आई। तब मैंने पूछा—"किसके पैरों में पड़ जाऊँ ?" इसके उत्तर में मुझे सुनाई दिया कि डालचन्दजी स्वामी के।

मैंने इस प्रेरणा का कारण पूछा तो उत्तर मिला कि अहमदाबाद के पुस्तक-भंडार में एक प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ है। उसमें तेरापन्थ के विषय में बहुत-सी बातें लिखी हुई हैं। वे ही सच्चे साधु हैं, अतः तू वहाँ जा।

वे सब बातें इतनी स्पष्ट थीं कि संदेह को कहीं स्थान ही नहीं था, फिर भी मैं उनकी सत्यता को परख लेना चाहता था, अतः अपने इस भतीजे को साथ लेकर उस ग्रन्थ को देखने के लिए अहमदाबाद गया। वहाँ खोज करने पर एक यतिजी से मेरी भेंट हुई। उन्होंने अपने पुस्तक-भंडार में उस ग्रन्थ के होने की बात कही। मैं कोई कच्चा खिलाड़ी तो था नहीं, जो कि बिना देखे ही उस पर विश्वास कर लेता। मैंने ग्रन्थ देखना चाहा, तब यतिजी ने मुझे वह दिखला दिया। मैंने उसका मूल्य पूछा, तो उसने दो हजार रुपये माँगे। उतने से कम में वे किसी प्रकार भी देने को तैयार नहीं हुए। उस समय मेरे पास इतने रुपये नहीं थे, अतः मैं उसे वहीं रखकर सीधा यहाँ चला आया।

मैं आँखों से तो उस प्रति को नहीं देख सकता था परन्तु टटोलकर देखने से लगता था कि वह काफी अच्छी है। अपनी बात को अधिक विश्वसनीय बनाने के विचार से उसने पास में बैठे हुए अपने भतीजे से पूछा—"क्यों रे ! तूँने तो उसे आँखों से देखा था, उसके आकार-प्रकार के बारे में कोई बात ध्यान में हो तो गुरुदेव को बता।"

भतीजा भी पहले से अच्छी तरह पढ़ाया हुआ था, अतः कुछ औदासीन्य-सा दिखलाता हुआ बोला—"अक्षर तो काफी सुन्दर थे, परन्तु उसके पत्र पुराने हो जाने के कारण तमाकू-रंग के हो गये थे, फिर भी फटे-टूटे न होकर काफी मजबूत दिखाई देते थे।"

डालगणी को अन्धे की चालाकी को समझते कोई देर नहीं लगी। उन्होंने उसकी बात को कोई महत्त्व नहीं दिया। जब वहाँ कोई प्रश्रय नहीं मिला, तब वह मगनलालजी स्वामी के

पास आया। वहाँ भी उसकी दाल नहीं गली, तब श्रावकों से बात-चीत की और ग्रन्थ खरीदने के लिए दो हजार रुपये माँगे। श्रावकों को पहले से ही सावधान कर दिया गया था, अत. वे कहने लगे कि चलो, हम भी आपके साथ चलें और उस ग्रन्थ को देखकर खरीद लायें।

वोरा ने कहा—"नही वह मेरे अतिरिक्त और किसी को नहीं देगा। उसको यदि यह पता लग जायेगा कि मैं वह ग्रन्थ किसी अन्य के लिए खरीद रहा हूँ, तो संभवत· वह किसी भी मूल्य पर देने को तैयार नही होगा।"

श्रावकों ने कहा—"आप उनसे पूछ लें यदि वे देना चाहेंगे, तो फिर हम अपने आप ही सौदा तय कर लेंगे।"

उसने अपनी चाल को विफल होते देखकर कहा—"ठीक है, मैं पूछ तो लूँगा, फिर काम होना-न-होना भगवान् के हाथ है।" यह कहकर वह गया तो फिर आया ही नही।

डालगणी ने उसकी चालाकी पर टिप्पणी करते हुए फरमाया—"अन्धा व्यक्ति आँखवालों को ठगने की सोच रहा था।"

न पधारने की प्रार्थना

स० १९५९ में डालगणी ने जोधपुर चातुर्मास करने का निर्णय किया। चातुर्मास से पूर्व जब वे पीपाड में विराजमान थे, तब उनका विचार पचपदरा, बालोतरा और जसोल आदि क्षेत्रों की ओर पधारने का था। परन्तु उस वर्ष उन क्षेत्रों में पानी की बडी कमी थी, अतः वहाँ के श्रावकवर्ग ने प्रार्थना की कि आप हम लोगों पर बडी कृपा कर रहे हैं, किन्तु गर्मी के दिनों में इस वर्ष हमारे यहाँ पधारने का अवसर नही है। इसलिए हम लोगों को दर्शन देने की कृपा आगामी शीतकाल में करनी होगी। श्रावकों की उस प्रार्थना के पश्चात् डालगणी पींपाड़ में एक महीना विराजकर सीधे जोधपुर की ओर पधार गये।

दो रात से अधिक नहीं

जोधपुर चातुर्मास में मेवाड-वासियों ने एकत्रित होकर दर्शन किये और मेवाड पधारने की प्रार्थना की। आचार्यदेव ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार करते हुए, चातुर्मास के पश्चात् मेवाड-पदार्पण के लिए फरमा दिया। सयोगवश उसके बाद ही जसोल, बालोतरा आदि की ओर से प्रार्थना करने के लिए कुछ व्यक्ति वहाँ पहुँचे। डालगणी ने उनको फरमाया कि अब तो मैंने मेवाड जाने के लिए कह दिया है। श्रावकों ने कहा—"हमारी प्रार्थना तो मेवाड-वासियों से भी पहले की थी। चातुर्मास से पूर्व जब आप उधर पधार रहे थे, तब तो अवसर नही था, किन्तु हमने उसी समय यह निवेदन कर दिया था कि आगामी शीतकाल में आप हम लोगों पर कृपा करें।"

डालगणी का विचार मेवाड से पूर्व उधर जाने का नहीं था, परन्तु उन लोगो का आग्रह रहा कि इसी शीतकाल में पदार्पण होना चाहिए। आखिर उन्होंने फरमाया कि इस समय

रहने के लिए तो मेरे पास दिन नहीं है, फिर भी कहो तो केवल दर्शन दे सकता हूँ। तुम्हें यह पहले से ही बतला देता हूँ कि किसी भी ग्राम में दो रात से अधिक ठहरने का विचार नहीं है। इतने पर भी श्रावक-वर्ग ने यही प्रार्थना की कि आपकी इच्छा हो उतना ही ठहरियेगा। हम तो आपके पदार्पण मात्र से ही तृप्त हो जायेंगे। उन्होंने तब उधर होते हुए मेवाड़ पधारने का निश्चय किया।

चर्चा का आह्वान

चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् डालगणी पचपदरा पधारे। वहाँ दो रात ठहरकर बालोतरा पधारे। उस समय वहाँ स्थानकवासी-साधु जवाहरलालजी थे। उन्होंने चर्चा करने के लिए आह्वान किया। चर्चा के उस आह्वान में पचपदरा-निवासी प्रतापमलजी चोपड़ा का मुख्य हाथ था। वे जानते थे कि इस समय ये दो रात से अधिक नहीं ठहरेंगे। अत: चर्चा का कोई निष्कर्ष निकलने से पहले यदि विहार कर जायेंगे, तो यह कहा जा सकेगा कि चर्चा में पराजय के भय से विहार कर गये।

प्रतापमलजी यद्यपि पहले तेरापन्थी थे, परन्तु बाद में विरोधी हो गये। संतों के यहाँ आया-जाया तो करते थे, पर पीछे से निन्दा भी किया करते थे। उनके उस स्वभाव के लिए डालगणी ने उनको जोधपुर चातुर्मास में उपालम्भ दिया था। तभी से वे स्थानक में जाने लग गये थे। उन्होंने बालोतरा में डालगणी के पधारने से पूर्व लोगों में ऐसी बातें फैला दी थीं कि पराजय के भय से ये लोग चर्चा नहीं करते।

डालगणी के पास चर्चा का आह्वान लेकर जब कुछ लोग आये, तो उन्होंने फरमाया कि हम तो इस समय विहार की शीघ्रता में हैं। दो रात से अधिक यहाँ ठहरने का हमारा कोई इरादा भी नहीं है। इतने स्वल्प समय में चर्चा के द्वारा किसी भी निष्कर्ष पर पहुँच पाना सम्भव नहीं है।

लोगों का फिर भी यह आग्रह रहा कि दो दिन के लिए ही सही, चर्चा तो होनी ही चाहिए। स्थानीय तेरापन्थी भाइयों का निवेदन था कि यदि चर्चा किये बिना ही विहार हो जायेगा, तो ये लोग मिथ्या प्रचार करेंगे कि चर्चा के भय से इतना शीघ्र विहार कर दिया।

डालगणी ने तब चर्चा के लिए संतों को भेजना स्वीकार कर लिया और यह भी घोषित कर दिया कि दो दिन के पश्चात् भी आवश्यकता हुई, तो संतों को यहाँ रखा जा सकता है। चर्चा के लिए तीसरा स्थान निर्णीत किया गया और वहाँ चर्चा प्रारंभ हुई। आचार्यदेव ने उस कार्य के लिए मगनलालजी स्वामी, कालूरामजी स्वामी (कालूगणी) आदि संतों को नियुक्त कर दिया। दो दिन की चर्चा से ही विपक्ष को पता लग गया कि चर्चा की बात करना जितना सहज होता है, उतना चर्चा करना या फिर चर्चा-क्षेत्र में डटे रहना नहीं होता।

तीसरे दिन प्रातः डालगणी ने पूर्व निर्णयानुसार अपना विहार कर दिया। मगनलालजी स्वामी तथा कालूरामजी स्वामी (कालूगणी) आदि ग्यारह संतों को उन्होंने चर्चा के लिए वहाँ छोड़ा। विहार करते समय उन्होंने यह घोषणा भी कर दी कि जब तक चर्चा चलती रहे, संत यहाँ रहें।

तीसरे दिन मध्याह्न में चर्चा के लिए जो समय निर्णीत किया गया था, उसी के अनुसार मगनलालजी स्वामी आदि संत चर्चा-स्थल पर पधार गये। परन्तु प्रतीक्षा करने पर भी दूसरी ओर से कोई नहीं आया। कुछ लोग उन्हें बुलाने के लिए भी गये, परन्तु वे फिर भी नहीं आये। मगनलालजी स्वामी ने तब यह घोषित किया कि यदि वे निर्णीत समय की समाप्ति तक भी नहीं आयेंगे, तो फिर यह समझ लिया जायेगा कि वे चर्चा करना नहीं चाहते। उस स्थिति में चर्चा समाप्त समझी जायेगी और हम विहार करने के लिए स्वतंत्र होंगे।

ये समाचार जब उन लोगों के पास पहुँचाये गये, तब भी वे न तो आये ही और न कोई नहीं आने का कारण ही बतलाया। मगनलालजी स्वामी ने तब जनता को बतलाया कि यहाँ ठहरने का हमारा उद्देश्य केवल चर्चा का ही था। जब वे लोग नहीं आते हैं, तो हमारे लिए यहाँ ठहरना कोई आवश्यक नहीं रह जाता है। ऐसी स्थिति में आज साय विहार कर देने का हमने निश्चय किया है। अपनी घोषणा के अनुसार संतों ने वहाँ से विहार कर दिया और आचार्यदेव की सेवा में पहुँच गये।

थलीवालों की स्वीकृति

डालगणी 'मालाणी'[1] के उन क्षेत्रों को पवित्र करते हुए पाली की तरफ पधार गये। वहाँ से मेवाड़ जाने की तैयारी थी, परन्तु उन्हें 'पानीझरा' निकल आया। अस्वस्थता के कारण उन्हें वहाँ सत्रह रात ठहरना पड़ा। वहाँ थली के श्रीचन्दजी गधैया, शोभाचन्दजी बेंगानी आदि अनेक श्रावक दर्शन करने के लिए आये और उन्हें थली में पधारने के लिए प्रार्थना करने लगे। डालगणी ने उनके आग्रह पर मेवाड़ में दर्शन देने के पश्चात् थली में आना स्वीकार कर लिया।

महाराणा कहें तो भी नहीं

वहाँ से विहार करते हुए वे राणकपुर के घाटे से मेवाड़ में प्रविष्ट हुए। वह घाटा अत्यंत भयंकर था, अतः सभी को साथ लेकर उसे पार किया। सबसे आगे सतियों ने विहार किया, उनसे कुछ ही पीछे संतों सहित डालगणी थे, फिर भाई और बहिनें थीं। घाटे चढ़ते ही डालगणी को पता लगा कि आज उदयपुर के भाई दर्शन करने के लिए आने वाले हैं। उन्हें यह भी पता लगा कि वे इस वर्ष का चातुर्मास उदयपुर में कराने के लिए राणा फतहसिंहजी से प्रार्थना कराने की सोच रहे हैं।

१—जसोल, बालोतरा, पंचपदरा आदि के समीपवर्ती क्षेत्र को मालाणी कहा जाता रहा है।

डालगणी अपनी बात के पक्के और बेपरवाह आचार्य थे। उन्होंने तत्काल मगनलालजी स्वामी को बुलाया और फरमाया कि तुम उदयपुर-वासियों को मेरी यह बात समझा देना कि मैंने इस वर्ष थली जाने का कह दिया है, अतः यदि महाराणा स्वयं आकर कहेंगे तो भी वहाँ चातुर्मास करने का विचार नहीं है। बहुत हुआ तो अगला चातुर्मास चाहे कह दूँ, परन्तु यह तो किसी भी प्रकार नहीं कर सकूँगा।

मगनलालजी स्वामी ने कहा—"आपके श्रावक विनीत हैं, अतः वे आपके मन के उपरांत कुछ भी नहीं करेंगे। जब वे यहाँ आयेंगे, तब मैं उन्हें समझा दूँगा।

जब उदयपुर के लोग आये तब पता चला कि वह सुनी हुई बात बिल्कुल ठीक थी। वे उस चातुर्मास को प्राप्त करने के लिए उच्चस्तरीय प्रयास में लगे हुए थे। मगनलालजी स्वामी ने उनको सारी स्थिति से अवगत किया, तब कहीं उन्होंने अपने प्रयास को आगे बढाने से रोका।

हमारी मान्यता सत्य हुई तो ?

मेवाड़ में विहार करते हुए डालगणी ने सं० १९५९ का मर्यादा-महोत्सव उदयपुर में किया। वहाँ बच्छराजजी सिंघी ने एक बार उनके दर्शन किये। सिंघीजी जोधपुर के राज-मुसद्दी थे, परन्तु दरबार की नाराजगी के कारण उदयपुर में रहा करते थे। उदयपुर-दरबार उन्हें घर बैठे एक हजार रुपये मासिक दिया करते थे। यद्यपि वे वैष्णव धर्म को मानने वाले थे, पर साथ ही साथ कुछ लोगों के द्वारा तेरापन्थ के विषय में भ्रांत कर दिये गये थे, अत कभी-कभी तेरापन्थ की निन्दा करने में भी रस लिया करते थे। जब वे डालगणी के पास आये तो उन्हें साधुओं का आचार-विचार बतलाया गया। साथ ही तेरापन्थ की मर्यादाओं से भी अवगत कराया गया। उस एक दिन के सत्संग से वे इतने प्रभावित हुए कि उसके पश्चात् जब कभी अवसर मिलता, तभी आ जाया करते थे। कुछ ही दिनों में वे डालगणी के पक्के भक्त हो गये।

डालगणी उदयपुर से विहार कर भुवाणा पधारे। पाली के पश्चात् बुखार की कमजोरी ठीक नहीं हो पाई थी, अत. उस विहार से उनकी आकृति पर कुछ थकान-सी झलक आई। उसी समय सिंघीजी भी दर्शन करने के लिए उदयपुर से वहाँ पहुँच गये। वे बड़ी मजाकी प्रकृति के थे। आचार्यदेव के शरीर की कमजोरी को लक्ष्य करके कहने लगे—"अभी तक आपके पिछले बुखार की कमजोरी तो पूर्णरूप से मिट भी नहीं पाई है और आपने विहार कर दिया। मुझे तो कभी-कभी आपके नियमों और कष्टाचरणों को देखकर यह चिंता होने लगती है कि खाने-पीने और मौज करने की हमारी मान्यता यदि ठीक निकली, तो आपका यह सारा कष्ट-सहन निरर्थक हो जाएगा।"

डालगणी ने भी उसी प्रकार से उत्तर देते हुए फरमाया—"इससे अधिक तो कुछ नहीं होगा न ?"

सिघीजी ने कहा—"और तो फिर क्या होगा ?"

डालगणी ने फिर एक प्रश्न करते हुए फरमाया—"और यदि हमारी मान्यता सत्य निकली तो ?"

सिंघीजी ने हँसते हुए कहा—"तब तो हम लोगों के इतने जूते पड़ेंगे कि धरती भी नही झेल सकेगी।"

दो कोस, नौ घटा

शारीरिक कमजोरी चालू थी। विहार भी चालू थे। शरीर पर उसका बुरा प्रभाव हुआ। फलस्वरूप कमजोरी और बढ गई। उस विहार में नाथद्वारा तक पहुँचने में उन्हें काफी कष्ट उठाना पडा। एक बार तो स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि सब कोई घबरा गये। एक दिन प्रातःकाल अमरेली की सराय से उन्होने विहार किया। दो कोस की दूरी पर चिरवा गाँव में उन्हें ठहरना था। इतने छोटे-से मार्ग में उन्हें नौ घण्टे का समय लगा। मार्ग में बार-बार विश्राम करना पडा। अनेक बार तो विश्राम के लिए उन्हें सोना भी पडा। किन्तु उस दिन के पश्चात् हालत में कुछ सुधार हो गया और वे धीरे-धीरे नाथद्वारा पधार गये।

देवता तुष्ट हुये है

वहाँ से राजनगर, देवगढ आदि क्षेत्रो में दर्शन देते हुए वे सिरियारी के घाटे से उतर कर थली की ओर पधारने का विचार कर रहे थे, किन्तु देवगढ से विहार होने से पूर्व ही गगापुर, पुर और भीलवाडे आदि की ओर से लगभग पाँच सौ व्यक्ति दर्शन करने के लिए आये तथा उधर पधारने के लिए आग्रह-युक्त प्रार्थना करने लगे।

डालगणी के लिए यह प्रसिद्ध है, कि वे बहुत कडे आचार्य थे। परन्तु वे उतने ही कोमल भी थे। उन्होंने श्रावको के अति आग्रह को देखकर फरमाया कि देखो मेरे शरीर की स्थिति काफी निर्बल है, थली जाने के लिए कहा हुआ है, सामने क़ाफी लबा विहार है, तुम लोग हठ न करो तो सीधा चला जाऊँ, अन्यथा मेवाड़ का फ़िर से इतना बडा चक्कर देकर जाना होगा। दोनों ओर की परिस्थिति को देखकर तुम लोग जैसा चाहते हो, वैसा कह दो।

यह बात सुन कर सारे-के-सारे चुप हो गये। गुरुदेव के शरीर की निर्बलता और इतने लम्बे विहार को देखते हुए किसी को बोलने का साहस नही हुआ। सारे इसी चिन्तन में थे, कि अब क्या कहा जाये ? इतने ही में राजनगर के सवाईरामजी पोरवाल ने खडे होकर प्रार्थी लोगों से कहा—"अरे! तुम देखते क्या हो ? देवता तुष्ट हुए है और तुम वर माँगने में सकोच करते हो ?" उनके इतना कहने मात्र की ही देर थी कि चारो ओर से एक ही आवाज गूँज उठी—"पधारने की कृपा करो।" आखिर डालगणी ने उनकी बात को स्वीकार किया और उतनी कमजोर हालत में भी उधर पधारे।

क्रिया और प्रतिक्रिया

डालगणी रामपुर पधारे। वहाँ उनके पदार्पण से पहले साध्वियाँ एक अन्य सम्प्रदाय वाले के घर से तख्त जाच कर लाई। उन्होंने उसे व्याख्यान के स्थान पर विछा दिया। डालगणी जब गाँव में पधारे और व्याख्यान देने के लिए उस तख्त पर बैठने लगे, तभी तख्त के मालिक ने आकर कहा—"इस तख्त पर हमारे गुरु महाराज के अतिरिक्त और कोई नहीं बैठ सकता।"

साधुओं ने उसको समझाते हुए कहा—"साध्वियाँ तुम्हारे घर से इसे आज्ञा लेकर ही लाई थीं, यह बात तुम्हें उसी समय कह देनी चाहिये थी। उस समय कुछ न कहकर अब तुम ऐन अवसर पर यह कहने आये हो, क्या यह उचित है ?" साधु उसे यों कह ही रहे थे कि डालगणी ने उनको रोकते हुए फरमाया—"कोई बात नहीं, उस समय इनका मन था, अतः आज्ञा दे दी थी, परन्तु अब यदि मन न रहा हो तो हम इसे वापस भुला देंगे।"

उस भाई ने व्याख्यान के लिए उत्सुक भाइयों का तथा संघ के इतने बड़े आचार्य का कोई लिहाज न करते हुए कहा—"हाँ, मैं इसे देना नहीं चाहता, आप इसे वापस सौंप दें।"

आचार्यदेव की आज्ञा से संतों ने तत्काल उसे उसके घर पहुँचा दिया और व्याख्यान के लिए दूसरी व्यवस्था कर ली। उपस्थित जनता को उस भाई का वह व्यवहार बहुत कड़वा लगा।

वह बात बाहर फैलती हुई जब व्यावर में पहुँची, तब वहाँ के तेरापन्थी श्रावक नथमलजी रांका बहुत क्रुद्ध हुए। उन्होंने उस सम्प्रदाय के श्रावकों के सम्मुख उस बात को बतलाते हुए कहा—"मैं तुम लोगों के माँगने पर तुम्हारे साधुओं के चातुर्मास के लिए अपनी नई हवेली कई बार दे चुका हूँ, किन्तु रामपुर में तुम्हारे भाइयों ने तख्त देकर भी जब से वापस मँगा लिया, तब से मेरा मन इतना खिन्न हुआ है कि मैं तुम लोगों से यह स्पष्ट बतला देना चाहता हूँ कि आगे के लिए हवेली माँगने को मेरे पास मत आना।" वस्तुतः ऐसी घटनाओं की जो क्रिया-प्रतिक्रिया हुआ करती है, वही हुई। उससे नजदीकी के बदले कुछ दूरी ही बढ़ी।

दस मन का हलुआ

मेवाड़ के क्षेत्रों में विहार करने के पश्चात् थली की ओर पधारते हुए डालगणी व्यावर भी पधारे। वहाँ अन्य सम्प्रदाय के कुछ व्यक्ति बात-चीत करने के निमित्त उनके पास आये। बात-चीत के बीच में ही एक व्यक्ति क्रुद्ध होकर बोल उठा—"तुम लोगों से क्या बात की जाये। तुमने तो अभी-अभी मार्ग के एक गाँव में दस मन का हलुआ बनवाकर ले लिया।"

डालगणी ने आश्चर्यान्वित होकर उस बात को दुहरा कर पूछा—"क्या कहा ? दस मन का हलुआ ?"

वह व्यक्ति भी और अधिक जोर देते हुए बोला—"हाँ, हाँ, दस मन का हलुआ।"

डालगणी ने तब अपने स्वर को और भी धीमा करते हुए पूछा—"आटे का या मैदे का ?"

उसने कहा—"आटे का।"

डालगणी ने तब उपस्थित लोगों से पूछा—"क्यों भाई! दस मन आटे में चीनी, घी और पानी डालने पर कितना हलुआ होता है?"

उनमें से एक ने कहा—"एक मन आटे का आठ मन हलुआ होता है।"

डालगणी ने हिसाब बतलाते हुए कहा—"तब दस मन आटे का अस्सी मन हलुआ हुआ। अब जरा सोचो तो सही कि अस्सी मन हलुआ हम कैसे लाये होंगे और कैसे उसे खाए होंगे? राजनगर से विहार करने के पश्चात् बाईस साधु और सात साध्वियाँ, यों उनतीस ठाणे हमारे साथ रहे हैं। तीसवाँ ठाणा उस दिन से आज तक हुआ ही नही, अत: तुम्हारे हिसाब से हम में से प्रत्येक व्यक्ति ने उस दिन ढाई मन से भी अधिक हलुआ खाया। परन्तु क्या यह बात सभव लगती है?"

सबके सामने अपनी बात को नीचे गिरते देखकर उस व्यक्ति ने सभलते हुए कहा—"मैंने तो जैसा सुना है, वैसा कहा है। लिया या न लिया, यह तुम जानो।"

डालगणी ने फरमाया—"इतनी बुद्धि तो एक गवार में भी मिल सकती है कि किसी गप्प पर विश्वास न करे और मुँह से बात निकालने से पहले उसकी सत्यता या असत्यता को तोल ले।"

मुहूर्त्त कब काम आयेगा?

डालगणी थली में पधारे। उनका विचार बीदासर में चातुर्मास करने का था। लाडणू से जब वे सुजानगढ पधारे, तब रूपचदजी सेठिया आदि श्रावको ने वहीं चातुर्मास करने के लिए प्रार्थना की। रूपचन्दजी बड़े श्रद्धालु और धार्मिक व्यक्ति थे। डालगणी उनकी बात को बडा महत्त्व दिया करते थे। उनकी प्रार्थना पर उन्होंने अपना वह चातुर्मास वहीं का फरमा दिया। आषाढ महीने के प्रथम दिन ही वहाँ पदार्पण हुआ था, अत. कल्प के लिए कुछ दिन अन्यत्र जाने की भी आवश्यकता नहीं थी।

श्रीचदजी गधैया सेवा के लिए सरदारशहर से वहाँ आये हुए थे। उन्होंने एक दिन डालगणी से निवेदन किया कि आप जिस दिन यहाँ पधारे थे, उस दिन ज्वालामुखी योग था, अत अच्छा हो कि एक रात गाँव-बाहर विराज कर अच्छे मुहूर्त में आप पुन. यहाँ पधार जाएँ।

डालगणी मुहूर्त आदि के बधन को अधिक महत्त्व नहीं दिया करते थे। उन्होंने हँसते हुए फरमाया कि यह साताकारी स्थान छोडकर एक रात के लिए अन्यत्र रहने से स्थान का कष्ट तो पहले ही देख लेना पड़ेगा। पता नहीं वह अच्छा मुहूर्त्त फिर कब काम आयेगा? यों उन्होंने गधैयाजी की बात को हँसकर टाल दिया और वहीं विराजते रहे। उनका वह चातुर्मास बड़ी निर्विघ्नता के साथ सम्पन्न हुआ।

तैयार होकर आ जाओ

तेरापन्थ-संघ का यह एक सर्व-प्रसिद्ध नियम है कि हर साधु-साध्वी आचार्य की आज्ञा के अनुसार ही विहार या चातुर्मास करे। प्राय: मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर आचार्यदेव उनके विहार और चातुर्मास का निश्चय कर देते हैं। उसके पश्चात् साधु-साध्वियाँ अपनी सुविधा के अनुसार कुछ ही दिनों में विहार कर जाते है। डालगणी ने सं० १९६३ में एतद्विषयक कार्य को निपटाने के लिए नये प्रकार से काम लिया। उन्होंने वह मर्यादा-महोत्सव सरदार-शहर में किया था। वहाँ से वे राजलदेसर की ओर पधारने की घोषणा कर चुके थे। सेठ सम्पतरामजी दूगड ने प्रार्थना की कि आप राजलदेसर पधारेंगे, उन्हीं दिनों में मेरे पुत्र सुमेरमल की बारात राजलदेसर जायेगी। यदि आप सभी संत-सतियों को तब तक के लिए अपने साथ रखने की कृपा करें, तो हम सब को दर्शन-सेवा का विशेष लाभ प्राप्त हो सके।

उनकी उस प्रार्थना का डालगणी ने उस समय 'हाँ' या 'ना' में कोई उत्तर नहीं दिया, पर जब वे राजलदेसर पधारे, तब उनके साथ प्राय: सभी साधु-साध्वियाँ थीं। बारात में काफी लोग आये थे, उन सब को सेवा का वह एक अच्छा अवसर प्राप्त हो गया। साधु-साध्वियों को भी लगभग डेढ महीने तक आचार्यदेव की उपासना का अधिक अवसर मिल गया।

शील सप्तमी के पश्चात् डालगणी ने एक दिन साधु-साध्वियों को फरमाया कि अपने-अपने झोलके और गांगले लेकर विहार करने के लिए तैयार होकर आ जाओ। उस आदेश पर प्राय सभी बड़े असमंजस में पड गये कि अभी तक न तो किसी का चातुर्मास ही फरमाया गया है और न विहार-क्षेत्र ही, विहार करेंगे भी तो किधर ? परन्तु डालगणी ने और कुछ स्पष्ट नहीं करते हुए यही फरमाया कि तुम सब एक बार तैयार होकर तो आ जाओ।

सभी सिंघाड़े जब तैयार होकर आ गये, तब उन्होंने बड़ावड़ सबके चातुर्मास फरमा दिये और विहार-क्षेत्र की पर्चियाँ देकर तत्काल विहार करा दिया। वह एक ऐसा अवसर था, जो कि अपने प्रकार का प्रथम तथा आज तक के लिए अन्तिम था।

लड्डू और चातुर्मास

मेवाड़ के एक गाँव से साध्वियों ने विहार किया। मार्ग पहाड़ी-पगडडियों का था; अत भूल जाने का पूरा-पूरा डर था। जब सभी श्रावक गाँव-बाहर तक पहुँचाकर जाने लगे, तब साध्वियों ने कहा—"मार्ग बतानेवाले के बिना कहीं भटक न जाएँ ?"

श्रावकों ने कहा—"यह सीधा ही मार्ग है। हम पहुँचाते अवश्य, पर आज हमारे यहाँ लड्डुओं का भोज है।"

साध्वियाँ विहार करती हुई आगे गईं, तो मार्ग में भटक गईं। बड़ी कठिनता से वे ग्राम में पहुँचीं।

डालगणी को जब उस बात का पता लगा, तो उन्होंने श्रावकों की उस लापरवाही पर वहाँ का चातुर्मास बन्द कर दिया।

उन लोगों ने बहुत प्रार्थना की तो फरमाया—"तुमसे एक समय के लड्डू भी नहीं छूटने, तो क्या हमारे साधु-साध्वियाँ फालतू हैं ?"

इस्पात की तरह

इस प्रकार उनका समग्र जीवन घटना-प्रधान होने के साथ-साथ अपने प्रकार का विचित्र ही था। साधारण और असाधारण दोनों ही प्रकार के जीवन का अनुभव उन्होंने गहराई तक पैठ कर किया था। प्रतिकूल परिस्थितियों की आग में तपकर और अनुकूल परिस्थितियों के ठंडे जल में डुबकियाँ लगाकर वे एक इस्पात की तरह मजबूत और अपराजेय व्यक्ति बन गये थे। तेरापन्थ के आचार्यपद को उन्होंने अपने व्यक्तित्व से अत्यन्त गौरवशाली बनाया था। वस्तुत: तेरापन्थ को उस समय उन जैसे तेजस्वी आचार्य की ही आवश्यकता थी।

: ७ :

जीवन की संध्या में

अग्नि के समान

डालगणी अपनी वृद्धावस्था तक प्रायः विचरते ही रहे थे। जीवन की संध्या में भी वे थके नहीं थे। आजीवन उनकी आकृति पर वही तेज बना रहा। अग्नि कभी निस्तेज होती ही नहीं। जब तक रहती है, पूर्ण तेजस्विता से जलती रहती है। बुझ जाती है तो पीछे राख ही रहती है, अग्नि नहीं। उनका जीवन सचमुच ही बड़ा तेजस्वी था। वे किसी से कुछ नहीं भी कहते, तो भी हर किसी के मन पर उनका प्रभाव इस प्रकार से छाया रहता था कि कहीं वे कुछ कह न दें। किसी साधु को वे बुलाते, तो वह यही सोचता कि आज कोई गलती तो नहीं हुई है?

पूंछ पर पैर न रखें

डालगणी अपनी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए कई वार साधुओं से कहा भी करते थे कि तुम लोग इतने डरते क्यों हो? गलती का ही तो तुम्हें उपालम्भ मिल सकता है। गलती नहीं करोगे तो कोई उपालम्भ कैसे दे सकेगा? परन्तु वे साथ में यह चेतावनी भी देने से नहीं चूका करते थे कि यह मत समझना कि गलती करने पर भी तुम उपालम्भ या दंड से बच सकते हो, यह सम्भव नहीं है। वे एक दृष्टान्त भी दिया करते थे कि लोग सर्प से कहा करते हैं—"नागदेव! जरा कृपा-दृष्टि रखना, परन्तु उन्हें उस प्रार्थना से पूर्व यह ध्यान रखना चाहिए कि वे उसकी पूंछ पर पैर न रखें। यदि वे उस सावधानी में चूकते हैं, तो उन्हें उसका दण्ड भोगने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।"

सोलह हाथ की सोड़

वे बहुधा भिक्षु-शासन को 'सोलह हाथ की सोड़' कहा करते थे। इस कथन में उनका तात्पर्य हुआ करता था कि मर्यादानुसार चलने वाले व्यक्ति के लिए संघ में बहुत बड़ा स्थान है। जिस प्रकार उपर्युक्त प्रमाण की सोड ओढकर सोने वाला व्यक्ति इधर-उधर लोटता भी रहे तो भी उसे ठंड लगने की सम्भावना नहीं रहती, उसी प्रकार मर्यादा में चलने वाले को उपालम्भ की कोई सम्भावना नहीं होती। जो अनुशासन में नहीं चल सकता, उसे संघ में कोई स्थान नहीं मिल सकता, वह यदि ठिठुरता है, तो अपने ही दुर्गुणों के कारण से। वे सबको शिक्षा देते हुए इसी ओर इंगित किया करते थे कि अनुशासन भंग करना संघ के व्यक्ति के लिए एक बहुत बड़ा अपराध है। उसे किसी भी प्रकार से क्षम्य नहीं माना जा सकता।

चरण-स्पर्श का साहस

डालगणी का अनुशासन बहुत कडा समझा जाता था । साधु-वर्ग ही नही, किन्तु श्रावक-वर्ग भी उनकी तेजस्विता से अभिभूत रहा करता था । दर्शन के निमित्त आने वाले व्यक्तियों में से थोडे ही ऐसे होते थे, जो उनके चरण-स्पर्श करने का साहस करते थे । वह साहस भी सम्भवत. वे तभी कर पाते थे, जब कि दो-चार बार ठिठक कर अपने मन को यह समझाने में सफल हो जाते थे कि यह कार्य उनकी इच्छा के विरुद्ध नही होगा । यह बात किसी दूर से आने वाले या कदाचित् आने वाले व्यक्ति के लिए ही नहीं थी, किन्तु प्रतिदिन आने वाले व्यक्ति भी इसी तरह सकोच से ही वहाँ तक पहुँच पाते थे ।

नाम की महिमा

उनके स्वय के तेज की तरह उनका नाम भी बडा तेजस्वी गिना जाता था । लोग विपत्ति के समय उनके नाम का आश्रय लेकर कृतकार्य हो जाया करते थे । सीकर का गुलाबखां नामक एक मुसलमान बगाल में नौकरी करता था । उसको एक बार साँप ने काट लिया । अनेक उपाय करने पर भी विष का प्रभाव बढ़ता गया । आखिर परिवार वालो ने उसके जीवन की आशा छोड दी ।

उसी समय एक तेरापन्थी भाई ने उसके परिवार वालों से कहा कि यदि तुम कहो तो मैं एक प्रयास कर के देखूं । परिवार वालों को उसमें क्या आपत्ति हो सकती थी ? उस भाई ने डालगणी का नाम लिखकर वह पानी उसके मुँह में डाला और उन्हीं का नाम मन में दुहराते हुए झाडना शुरू किया । सयोग की ही बात समझिये कि धीरे-धीरे विष का प्रभाव दूर होने लगा । जब वह बिल्कुल ठीक हो गया, तब झाडने वाले ने उसे बताया कि डालगणी के नाम के प्रभाव से ही वह ठीक हो पाया है, अत एक बार लाडणू जाकर अवश्य ही उसे उनके दर्शन करने चाहिए ।

गुलाबखां परिवार सहित लाडणूं आया और लोगो से पूछने लगा—"डालूजी महाराज का देहरा (मन्दिर) कहाँ है ?"

लोगों ने उस नाम का कोई देहरा नही सुना था, अत· उसे हर कहीं से यही उत्तर मिला कि यहाँ तो इस नाम का कोई देहरा नहीं है ।

गुलाबखां भी चकराया कि इतने चमत्कार वाले देवता का देहरा स्वय यहाँ के निवासियो से कैसे छिपा हुआ है ? फिर भी वह पूछ-ताछ करता हुआ बाजार में आया और वहाँ उपस्थित लोगो से जानकारी चाही । कुछ लोगो ने तो उसे उपर्युक्त प्रकार से ही उत्तर दे दिया, परन्तु कुछ ने उससे वहाँ आने का कारण आदि विवरण सहित पूछा । उसने जब अपना पिछला सारा वृत्तात सुनाया, तब लोगों को मालूम हुआ कि यह तो डालगणी के दर्शन के निमित्त आया है । उसको तब समझाकर बतलाया गया कि उनका यहाँ कोई देहरा नही है, अपितु वे

साक्षात् ही विद्यमान हैं। उपस्थित लोगों में से एक भाई उस परिवार को साथ लेकर आया और डालगणी के दर्शन कराकर उनसे सारी बात निवेदित की।

गुलाबखां कई दिन तक वहाँ ठहरा और साधु-चर्या की पूरी जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् उसने गुरु-धारणा कर ली। उसके पश्चात् वह प्रायः दर्शन करने के लिये आता रहता था। डालगणी के नाम की महिमा ने उसे जीवन-दान ही नहीं दिया था, किन्तु एक जैन श्रावक भी बना दिया था। उसके परिवार ने तो उसी समय से मांसाहार का परित्याग कर दिया था। पर सुना जाता है कि उसकी लड़कियाँ भी जहाँ व्याही गईं, वहाँ भी उन्होंने उन परिवारों को निरामिष-भोजी बना लिया।

अस्वस्थता

शरीर का अपना स्वभाव है कि वह अपने संध्या-काल में निर्बल हो जाता है। समय-समय पर अस्वस्थता के आक्रमण उसे और भी निर्बल बना देते हैं। डालगणी का शरीर स्वस्थ ही रहा था, परन्तु वृद्धावस्था में उस पर भी रोग छाने लगे। सं० १९६४ में उन्होंने बीदासर चातु-र्मास किया था। वहाँ श्रीचन्दजी गधैया ने उन्हें सरदारशहर पधारने की प्रार्थना की। डालगणी ने उसे स्वीकार कर लिया और चातुर्मास की समाप्ति पर वहाँ से विहार कर 'काला की ढाणी' पधारे। यद्यपि वह विहार दो कोस का ही था, परन्तु मार्ग में उनके श्वास की गड़बड़ी हो गई, अतः बड़ी कठिनता से वहाँ तक पहुँच पाये।

श्रीचन्दजी आदि आचार्यदेव के साथ ही सेवा में थे। उन्होने जब उनके शरीर की अस्वस्थता देखी, तो प्रार्थना की कि इस समय हमारे वहाँ पधारने का अवसर नहीं है। आप आसपास के क्षेत्रों में विहार करें और स्वास्थ्य लाभ होने पर हम लोगों को दर्शन देकर कृतार्थ करें।

डालगणी को भी अपने शरीर की निर्बलता से यह भान होने लगा कि अब अधिक विहार करना संभव नही है। तब वे छोटे-छोटे विहार कर चाड़वास और सुजानगढ होते हुए पौष कृष्णा सप्तमी को लाडणूं पधार गये।

रोगों का घेरा

वह उनका अंतिम प्रवास था। उसके पश्चात् अनेक बार प्रयत्न करने पर भी अन्यत्र कहीं पधारने में उनके शरीर ने साथ नहीं दिया। धीरे-धीरे अन्य रोग भी उन्हें घेरने लगे। उनके शरीर में कुछ-कुछ शोथ रहने लगा। यदा-कदा दस्तों की भी गड़बड़ होने लगी। रोगाक्रांत हो जाने पर उन्हें सं० १९६४ का मर्यादा-महोत्सव और अगला चातुर्मास वहीं करना पड़ा।

विहार का प्रयत्न

चातुर्मास के पश्चात् पौष महीने में उन्होंने एक बार वहाँ से विहार करने का विचार किया था। लगातार एक वर्ष तक एक ग्राम में रहने से सम्भवतः उनका मन कुछ उचट गया था।

नगर के प्रमुख व्यक्तियों ने मिलकर उन्हें वहीं रहने के लिए बहुत प्रार्थना की, पर वे नहीं माने। वहाँ के ठाकर ने भी दूसरे दिन आकर बहुत प्रयास किया, परन्तु उन्होंने यही फरमाया कि एक बार तो विहार करके देखने का विचार है, जा सकूँगा तो ठीक है, अन्यथा यहाँ तो रहना ही है।

उन्होंने बीदासर जाने के लिए 'गनोडा' की ओर विहार किया, परन्तु एक कोस में ही उन्हें बीस-पचीस विश्राम लेने पडे। उतनी-सी दूर में लगभग एक प्रहर दिन चढ गया। साधुओं तथा श्रावकों ने प्रार्थना करते हुए कहा कि अभी तो एक कोस ही पहुँच पाये हैं, ऐसी स्थिति में बीदासर कैसे पहुँचा जा सकता है ? कही मार्ग के गाँव में ही अटकना पड जायेगा तो वहाँ औषधि आदि का योग मिलना भी कठिन है। अच्छा हो कि आप यहाँ से वापस लाडणू पधार जाएँ। डालगणी ने भी वापस जाना ही उचित समझा, अत: वहाँ से वापस मुड़ गये और गाँव बाहर तखतमलजी फूलफगर की हवेली में विराज गये। वहाँ विराजने में भी उनका विचार यही था कि कुछ ठीक हो जाएँ, तो सीधे यहीं से विहार कर दें। लगभग एक सप्ताह तक वहाँ रहने पर भी जब स्थिति नहीं सुधरी, तब उन्होने कुछ समय के लिए विहार की आशा छोड दी और वापस नगर में पधार गये।

विवशता

स० १९६६ का चातुर्मास भी उन्हें वहीं करना पडा। वह उनका अन्तिम चातुर्मास था। चातुर्मास प्रारम्भ होने के अन्तिम दिन तक उनके मन का साहस उन्हें लाडणू से विहार कर अन्यत्र चातुर्मास करने को प्रेरित करता रहा, परन्तु शरीर ने उसका साथ नहीं दिया। विवश होकर उन्हें वहीं रहने का निर्णय करना पडा। उन्होंने चातुर्मासिक चतुर्दशी के मध्याह्न तक अपने लिए चातुर्मास की घोषणा नहीं की थी। सायकाल होने पर ही उन्होने उसे स्वीकार किया। फड़द (तेरापन्थ के साधु-साध्वियो के चातुर्मासिक स्थानों की सूची प्रस्तुत करने वाली प्रति) में भी वह उसके बाद ही लिखने दिया गया।

जम्मड़जी की प्रार्थना

सरदारशहर के कालूरामजी जम्मड ने लाडणू में आचार्यदेव के दर्शन किये। वे उनके शरीर की स्थिति देखकर बहुत चिन्तित हुए। वे एक श्रद्धालु श्रावक होने के साथ-साथ विचारशील तथा सघ के हित-चिन्तक व्यक्ति भी थे। उन्होंने आचार्यदेव को आगामी व्यवस्था कर देने की प्रार्थना की। डालगणी ने '*ध्यान में है*' कहकर उस बात को सहज ही टाल दिया। कालूरामजी ने तब अपनी बात पर जोर देते हुए दूसरी बार प्रार्थना की कि आपके ध्यान में तो सब कुछ है ही, परन्तु इस बात का हमें भी पता लग जाए तो ठीक रहे। डालगणी ने फिर भी उस बात को 'देखा जायेगा' कहकर टाल दिया। जम्मडजी ने तब तीसरी बार अधिक स्पष्ट होते हुए कहा—"आप जिस किसी का भी चुनाव करेंगे, वे इन्हीं विद्यमान उनहत्तर सन्तो

में से एक होगे । किसी को अब दीक्षित करके आचार्य-पद के योग्य बना सकें—सम्भवत: इतना समय हाथ में नही है, तब फिर आपको इस कार्य में इतना विलम्ब नहीं करना चाहिए। आपके, हमारे और सारे सघ के हित के लिए यही ठीक होगा कि आप इस कार्य में अधिक से अधिक शीघ्रता करें।"

इस बार डालगणी ने भी कुछ स्पष्ट होते हुए कहा—"जम्मड़जी ! मैं जानता हूँ कि 'दूध का जला हुआ छाछ को भी फूंक मारता है।' तुम्हारी इस प्रार्थना के पीछे संघ-हित की जो भावना है, वह मेरे से छिपी नही है । मैं स्वयं इसके लिए सावधान हूँ । संघ के प्रति अपने इस कर्तव्य को पूरी तरह् से निवाहने का ही मेरा विचार है। अवसर आने पर मैं इस कार्य को अवश्य पूरा कर देने का विचार रखता हूँ।"

सन्त-सतियों की प्रार्थना

जम्मडजी की उपर्युक्त प्रार्थना के कई दिन पश्चात् तक भी जब कोई कार्य सामने नहीं आया, तब साधु-साध्वियों ने पुनः एतद्विषयक प्रार्थना करने की बात सोची । ऐसे विषय को लेकर उनके पास जाना अवश्य ही एक टेढा कार्य था, परन्तु उतना ही आवश्यक भी था। मगनलालजी स्वामी आदि सन्तों ने उसके लिए श्रेष्ठ दिन देखकर प्रार्थना करने का निश्चय किया, उसमें यह भी ध्यान रखा गया कि साध्वी-प्रमुखा जेठांजी भी वहाँ उपस्थित हों।

प्रथम श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन पूर्व निश्चयानुसार बात प्रारम्भ करते हुए मगनलालजी स्वामी ने कहा—"आप शतायु हों, यही हम सबकी अभिलाषा है। परन्तु हम चाहते हैं कि संघ के लिए भावी आचार्य का प्रबन्ध अभी से हो जाये तो एक चिन्ता मिट जाए। यदि आप युवाचार्य के नाम को अभी प्रकट करना न चाहें तो युवाचार्य-पत्र को लिफाफा में बन्द करके प्रच्छन्न रख दें।" जेठांजी ने भी उनकी उस बात का समर्थन करते हुए कहा—"यह कार्य आज ही कर दिया जाये तो अत्युत्तम होगा। आज का दिन अति श्रेष्ठ है।"

रूपचन्दजी यहाँ है ?

साधु-साध्वियों की उस सम्मिलित प्रार्थना पर ध्यान देते हुए उन्होंने मगनलालजी स्वामी से पूछा कि रूपचन्दजी सेठिया यही पर हैं या सुजानगढ चले गये ? मगनलालजी स्वामी ने बतलाया कि वे कल सुजानगढ चले गये। डालगणी ने तब फरमाया कि उनके आने के पश्चात् ही इस विषय में कुछ करने या कहने का विचार है।

श्रावक-वर्ग ने तत्काल रूपचन्दजी सेठिया के पास वे समाचार भेजे और उन्हें लाडणूं आने के लिए कहा। वे यथाशीघ्र लाडणूं पहुँचे और गुरुदेव के चरणों में उपस्थित हुए। डालगणी ने कुछ देर तक उनसे बातचीत की।

पत्र-लेखन

उसके पश्चात् उन्होंने सन्तों को स्याही, कलम तथा पत्र लाने के लिए कहा। सन्तों ने सारी वस्तुएँ उनके पास ला कर रख दीं, तब उन्होंने सबको जाने का संकेत करते हुए एकांत में बैठकर युवाचार्य-पत्र लिखा और एक लिफाफे में बन्द करके अपने पूठे में रख दिया।

सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् उन्होने सब सन्तों को अपने पास बुलाया और फरमाया कि मेरे शरीर में काफी दिनों से गडबड चल रही है। कोई भी औषधोपचार अनुकूल नही पड रहा है। क्षीण से क्षीणतर होते हुए मेरे स्वास्थ्य को देखकर संघ के हर व्यक्ति को भावी संचालक की नियुक्ति के लिए चिंता हो, तो वह बिल्कुल स्वाभाविक ही है। मैंने आज अपने आप को तथा तुम सबको इस चिंता से मुक्त कर दिया है। यहाँ उपस्थित पैंतीस संतो में से ही मैंने एक साधु का नाम चुना है और उसे युवाचार्य-पत्र पर लिखकर अपने पूठे में रख दिया है। संतों ने इस बात पर बडा हर्ष प्रकट किया और उस नाम की जिज्ञासा भी व्यक्त की, परन्तु डालगणी ने उसे यह कहकर शान्त कर दिया कि अवसर आने पर नाम का पता भी लग जायेगा।

नाम-गोपन

उसके पश्चात् उन्होंने संतों को सामूहिक रूप से शिक्षा प्रदान की। अनेक साधु-साध्वियों को संघ की विशिष्ट सेवा करने के उपलक्ष में पुरस्कृत किया। उस दिन के पश्चात् भी समय-समय पर वे शिक्षाएँ देते रहे, परन्तु प्रकट रूप में यह कभी भी पता नही लगने दिया कि उन्होंने अमुक व्यक्ति का चुनाव किया है। औरों की तो बात ही क्या, जिसे चुना गया था, उसे भी अपनी ओर से यह झलक नहीं पडने दी।

क्रमिक क्षीणता

उस कार्य से निवृत्त होने के पश्चात् वे कुछ निश्चिन्त अवश्य हुए, परन्तु शरीर की स्थिति धीरे-धीरे गिरती ही गई। चातुर्मास प्रारंभ होने के पहले से ही उन्हें अन्न की अरुचि रहने लगी थी। फिरना-घिरना प्रायः बन्द हो गया था। वैसी स्थिति में भी उन्होंने चातुर्मास की प्रारंभिक चतुर्दशी का उपवास किया। उसके पश्चात् वे चार दिन तक केवल मिर्च-पताशी का पानी (उकाली) ही लेते रहे। उनके लिए वह एक पचोले की सी तपस्या हो गई। उनकी शक्ति क्रमशः अधिकाधिक क्षीण होती जा रही थी।

व्याख्यान-प्रेमी

वे व्याख्यान देने के बड़े प्रेमी थे, अतः ऐसे रुग्ण-अवस्था में भी कुछ दिन पूर्व तक प्रति-दिन लगभग दो घण्टा व्याख्यान दिया करते थे। जनता तो उनके व्याख्यान से कभी अघाती ही नही थी, किन्तु वे स्वयं भी व्याख्यान से नहीं थकते थे। विगत संवत्सरी (सं० १९६५) के दिन दो साधुओं का सहारा लेकर वे व्याख्यान-स्थल पर गये। पर विराजने के पश्चात् लगभग नौ मुहूर्त तक लगातार उन्होंने व्याख्यान दिया। अब जब कि कारण बढ जाने से

घूमना-फिरना बंद हो गया था, तब भी उनके मन में व्याख्यान देने की भावना रहा करती थी। संतो से वे कई वार फरमाया भी करते थे कि व्याख्यान के स्थान तक जाने की तो अब मेरी शक्ति नहीं रही है, किन्तु यदि मुझे उठा कर वहाँ बिठा दिया ही जाये तो दो घटे तक व्याख्यान दे सकता हूँ। संभवतः संतों तथा उपचार-कर्त्ताओं का आग्रह ही उन्हें उस कार्य से विरत रखता था। उन दिनों प्रातःकालीन व्याख्यान मगनलालजी स्वामी तथा मध्याह्न-कालीन कालूगणी दिया करते थे। -

मृत्यु का पूर्व आभास

उस वर्ष श्रावण मास दो थे। वे दोनों महीने ऐसी स्थिति में व्यतीत हुए थे कि कभी उन्हें दस्त अधिक लगने लगते और सूजन कम हो जाता तथा कभी दस्त कम हो जाते और सूजन बढ़ जाता। भाद्रपद के प्रारंभ होने के साथ-साथ स्वयं उनको यह अनुभव होने लगा कि अब शरीर अधिक दिनों तक टिकने नहीं पायेगा। उन्होंने एक दिन संतों के सामने यह फरमाया भी था कि इस वर्ष स्वामीजी का चरमोत्सव मनाया जाना संभव नहीं लगता। वह बात उनकी पूर्णतः ठीक निकली।

भाद्रपद शुक्ला द्वादशी के प्रातः काल में उनका श्वास अधिक भारी हो गया, अतः उन्होंने मगनलालजी स्वामी को बुलाकर फरमाया कि आज मेरे शरीर की स्थिति सदा से कुछ भिन्न प्रतीत होती है। मुझे लगता है कि मैं कल का दिन नहीं देख सकूँगा। तुम आज सावधानी से काम लेना।

मगनलालजी स्वामी ने उनके दीर्घायुष्य की कामना करते हुए कहा कि मैं आपकी इच्छा अनुसार सेवा में ही उपस्थित रहकर सब प्रकार से सावधानी रखने का विचार रखता हूँ।

डालगणी ने अपनी बात पर विशेष बल देते हुए फिर फरमाया—"विचार ही नहीं, पक्का ध्यान रखना।"

उस समय ऐसा लगता था कि उन्हें अपने मृत्यु के समय का पूर्वाभास मिल चुका था। अन्यथा वे इतने स्पष्ट शब्दों में इतनी बात क्यों कहते ?

श्वास-प्रकोप

मगनलालजी स्वामी ने वह पूरा दिन आचार्यदेव की सेवा में ही बिताया। श्वास का प्रकोप ठीक न होकर बढ़ता ही गया। सायंकाल तक तो वह इतना तीव्र हो गया कि उसकी आवाज काफी दूर तक सुनाई देने लगी।

बैठकर प्रतिक्रमण

सायंकालीन सामूहिक वंदन के समय सारे साधु गुरुदेव के पास एकत्रित हुए और सब ने वंदन किया। उसके पश्चात् वे सब प्रतिक्रमण करने में लग गये। स्वयं डालगणी ने इतनी वेदना होते हुए भी बैठकर प्रतिक्रमण सुना। दोनों ही समय का प्रतिक्रमण उन्हें कालूगणी ही सुनाया करते थे।

शरीर-त्याग

प्रतिक्रमण समाप्त होने के पश्चात् उन्होंने फरमाया कि अब मुझे सुला दो। सेवा में बैठे हुए साधुओं ने हाथ का सहारा देकर उन्हें सुला दिया, किन्तु सोते ही उन्होंने आँखें फेर दीं। मगनलालजी स्वामी पूर्ण सावधानी से उनके पास में ही उपस्थित थे। उन्होंने जब देखा कि गुरुदेव तो जा रहे हैं; तब तत्काल उन्हें चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान कराया और अंतिम समय के उपयुक्त शरण आदि सुनाये। प्रायः सभी संत वहाँ उपस्थित थे। सबके देखते-देखते उन्होंने शरीर-त्याग कर दिया। सं० १९६६ भाद्रपद शुक्ला द्वादशी के सूर्यास्त को अभी पूरा एक घन्टा भी नहीं हो पाया था कि जैन शासन का एक तेजस्वी सूर्य भी अस्त हो गया।

दाह-संस्कार

आसपास के अनेक शहरों तथा ग्रामों में उनके दिवंगत होने का समाचार रातों-रात ही पहुँच चुका था, अतः तभी से हजारों की संख्या में लोग बाहर से आने प्रारंभ हो गये थे। दूसरे दिन लगभग दस बजे उनकी बैकुंठी उठाई गई। तब तक वहाँ इतनी जनता एकत्रित हो चुकी थी कि मूल स्थान से बाजार तक लोग ही लोग दृष्टिगत होने लगे थे। उनके शरीर का दाह-संस्कार गढ के सामने तुलसीरामजी खटेड के नोहरे में किया गया।

ज्ञातव्य-विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

(१) जन्म-संवत्	१६०६ आषाढ़ शुक्ला चतुर्थी
(२) दीक्षा-संवत्	१६२३ भाद्रपद कृष्णा द्वादशी
(३) अग्रणी-संवत्	१६३०
(४) आचार्य-पद चुनाव संवत्	१६५४ पौष कृष्णा तृतीया
(५) आचार्य-पद संवत्	१६५४ माघ कृष्णा द्वितीया
(६) स्वर्गवास-संवत्	१६६६ भाद्रपद शुक्ला द्वादशी

महत्त्वपूर्ण स्थान

(१) जन्म-स्थान	उज्जयिनी
(२) दीक्षा-स्थान	इंदौर
(३) आचार्य-पद चुनाव-स्थान	लाडणूं
(४) आचार्य-पद स्थान	लाडणूं
(५) स्वर्गवास-स्थान	लाडणूं

आयुष्य-विवरण

(१) गृहस्थ	१४ वर्ष
(२) साधारण साधु	७॥ वर्ष
(३) अग्रणी	२४ वर्ष
(४) चुनाव और आचार्य-पदारोहण का मध्यकाल	१ मास
(५) आचार्य	११॥ वर्ष
(६) सर्वआयु	५७ वर्ष

जन्म-कुण्डली
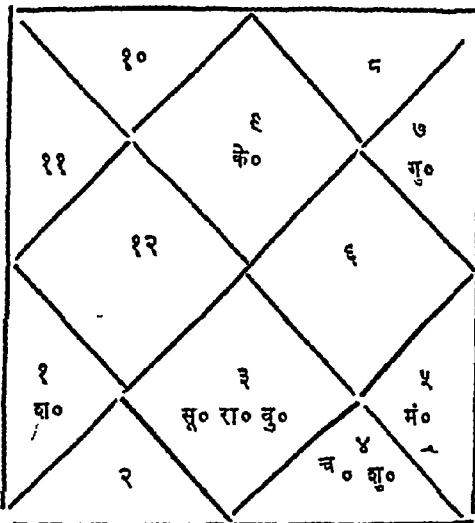
विहार-क्षेत्र

डालगणी के विहार-क्षेत्र में राजस्थान के तत्कालीन राज्य थली, मारवाड, मेवाड़ और ढूढाड़ आदि तथा मालव, गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ आदि प्रमुख रूप से रहे थे।

चातुर्मास

डालगणी ने साधारण साधु-अवस्था में सात चातुर्मास किये थे। उनमें से क्रमशः एक चातुर्मास हीरालालजी स्वामी के साथ, चार जयाचार्य के साथ, एक दुलीचन्दजी स्वामी तथा एक कालूजी स्वामी के साथ किया। अग्रणी-अवस्था में उन्होंने चौबीस चातुर्मास किये थे। उनमें सोलह चातुर्मास तो स्वयं ने तथा आठ औरों के साथ किये थे। औरों के साथ में से स० १९३२, ३३, ३७, ३८ के चार चातुर्मास तो जयाचार्य के साथ और स० १९३४, ३५, ४०, ४३ के क्रमश: एक-एक रूप से तपस्वी गुलहजारी, चिमनजी स्वामी, छोटूजी स्वामी और मघवागणी के साथ किया। आचार्य-अवस्था में उन्होंने बारह चातुर्मास किये। इस प्रकार उन्होंने सर्व तैंतालीस चातुर्मास किये थे। उनका पृथक्-पृथक् विवरण निम्नोक्त प्रकार से है :

साधारण साधु-अवस्था में

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
जयपुर	२	१९२४,२८
जोधपुर	१	१९२५
बीदासर	१	१९२६
लाडणूं	१	१९२७
ब्यावर	१	१९२९
उदयपुर	१	१९३०

अग्रणी-अवस्था में

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
कानोड	१	१९३१
लाडणूं	२	१९३२,३३
चूरू	१	१९३४
बोरावड	१	१९३५
बीदासर	१	१९३६
जयपुर	२	१९३७,३८
छापर	१	१९३९
जोबनेर	१	१९४०

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
बेला	३	१९४१,५०,५४
फतहगढ़	२	१९४२,५३
उदयपुर	२	१९४३,४८
गंगापुर	१	१९४४
कांकरोली	१	१९४५
रतलाम	१	१९४६
उज्जैन	१	१९४७
देवगढ	१	१९४९
बीकानेर	१	१९५१
पचपदरा	१	१९५२
आचार्य-अवस्था में		
लाडणू	४	१९५५,६२,६५,६६
सरदारशहर	२	१९५६,६३
बीदासर	२	१९५७,६४
राजलदेसर	१	१९५८
जोधपुर	१	१९५९
सुजानगढ	१	१९६०
चूरू	१	१९६१

मर्यादा-महोत्सव

डालगणी ने अपने शासन-काल में विभिन्न स्थानो पर १२ मर्यादा-महोत्सव मनाये। उनका विवरण इस प्रकार है :

स्थान	महोत्सव-संख्या	संवत्
बीदासर	४	१९५४,५५,६०,६२
राजलदेसर	१	१९५६
लाडणू	४	१९५७,५८,६४,६५
उदयपुर	१	१९५९
रतनगढ	१	१९६१
सरदारशहर	१	१९६३

शिष्य-संपदा

डालगणी के शासनकाल में एक सौ इकसठ दीक्षाएँ हुईं। उनमें छत्तीस साधु और एक सौ पचीस साध्वियाँ थीं। वे दिवंगत हुए उस समय अड़सठ साधु और दो सौ इकतीस साध्वियाँ संघ में विद्यमान थीं।

नवम परिच्छेद

आचार्य श्री कालूगणी

: १ :

गृहि-जीवन

पुण्यवान् आचार्य

श्री कालूगणी तेरापन्थ के अष्टम आचार्य थे। वे बडे प्रभावशाली और पुण्यवान् आचार्य थे। उनका प्रभाव इतना तीव्र था कि विरोधी-जन भी उनसे अभिभूत हुए बिना नहीं रह सकते थे। उनकी पुण्यवत्ता भी अद्वितीय थी। जो कार्य सैकडों व्यक्तियो के परिश्रम और धन से भी सम्भव नहीं होता, वह उनकी पुण्यवत्ता से स्वय ही हो जाया करता था। उनके शासन-काल में अनेक कार्य इस प्रकार से सम्पन्न हुए थे कि मानो उनके पीछे किसी अदृश्य शक्ति का सहयोग रहा हो। उनके युग में यद्यपि अनेक विरोध और ववन्डर उठे थे, परन्तु वे सब इस प्रकार से शांत हुए, मानो वे उन्हें और अधिक चमकाने के लिए ही आये थे। उनके युग में तेरापन्थ-समाज की भौतिक और आध्यात्मिक—दोनों ही प्रकार की उन्नति हुई।

कालूगणी एक सिद्धान्तवादी व्यक्ति थे। वे तात्कालिक आवश्यकता को महत्त्व न देकर अपनी स्थिर धारणा के आधार पर ही चला करते थे। वे न किसी की चापलूसी से प्रभावित होते थे और न किसी की धमकी से। किसी भी बात को बिना सोचे-समझे मान लेने की प्रवृत्ति उनमें नहीं थी, साथ ही सोच-समझकर स्वीकार की गई बात को वे तब तक छोडते भी नहीं थे, जब तक कि उसके विरुद्ध कोई सुदृढ प्रमाण उन्हें प्राप्त नहीं हो जाता था।

जन्म

कालूगणी का जन्म राजस्थान के अन्तर्गत बीकानेर डिवीजन के छापर नामक कस्बे में स० १९३३ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को हुआ था। जन्म-राशि के अनुसार उनका मूल नाम 'शोभाचन्द' दिया गया था, परन्तु वे माता-पिता द्वारा प्रदत्त 'कालूराम' नाम से ही प्रसिद्ध हुए। उनके पिता का नाम मूलचन्दजी कोठारी तथा माता का नाम छोगांजी था। मूलचन्दजी मूलत: ढढेरू ग्राम के निवासी थे, किन्तु वहाँ ठाकर से अनबन हो जाने के कारण सं० १९१८ में वे छापर आकर बस गये थे। छोगांजी के पिता नरसिंहदासजी लूणिया भी पहले कोटासर में रहा करते थे, किन्तु स० १९४० में वे भी डूगरगढ आकर बस गये थे।

थली का काया-कल्प

कालूगणी का जन्म ऐसे समय में हुआ था, जबकि थली-निवासी ओसवाल-समाज के लिए एक संक्रमण-काल का प्रारम्भ हो रहा था। वे लोग उस समय कृषिकर्म से हटकर वाणिज्य की ओर झुकने लगे थे। उनका ध्यान छोटे गाँवों को छोड़कर शहरों में बस जाने की ओर

हो रहा था। गाँवों की छोटी दूकानों तथा खेती-वाड़ी के कामों की अपर्याप्तता का अनुभव करते हुए वे दूरवर्ती प्रान्तो में, विशेषकर बगाल में व्यापार-निमित्त जाने लगे थे। वाणिज्य से प्राप्त आर्थिक सम्पन्नता के कारण उन लोगों के खान-पान, रहन-सहन तथा विचार-व्यवहार में भी एक अज्ञात और धीमा, किन्तु सतत होते जाने वाला परिवर्तन प्रारम्भ हो गया था। थली के लिए वह एक काया-कल्प का समय कहा जा सकता है।

छोगांजी का साहस

कालूगणी का जन्म हुआ, उस समय छोगांजी की अवस्था बत्तीस वर्ष की थी। युवावस्था, ग्रामीण वातावरण में पली-पुसी तथा परिश्रमी होने के कारण उनका शरीर जितना सबल था, उतना ही मन भी सबल था। निर्भयता महिलाओं में अपेक्षाकृत कम ही मिला करती है, किन्तु वह उनमें परिपूर्ण थी। वे कालूगणी के जन्म-समय की एक घटना सुनाया करती थीं— "कालूगणी के जन्म की तीसरी रात्रि को जब वे सोई हुई थीं, तब उन्हें अचानक ऐसा आभास हुआ कि कोई डरावनी सूरत का काला-कलूटा व्यक्ति बालक की तरफ लपकता हुआ आ रहा है। जब वह दानवाकृति प्राणी बच्चे की ओर हाथ बढाने लगा तो उन्होंने बालक को अपनी छाती के नीचे लेते हुए उस दानव को एक हाथ से ऐसा झटका दिया कि वह गिरता हुआ नजर आया। उसके पश्चात् वह अदृश्य हो गया।"

वे इस घटना के सम्बन्ध में कहा करती थीं कि उसके पश्चात् वह दानव फिर कभी दिखाई नहीं दिया, पर वे स्वयं बालक के विषय में विशेष सावधान हो गईं।

सन्त-समागम

सं० १९३४ में मूलचन्दजी का अचानक देहान्त हो गया। शोक-सतप्त छोगांजी उसके पश्चात् बहुधा पीहर ही रहने लगीं। उनके पीहर वाले जब डूगरगढ़ में जा बसे, तब छोगांजी को साधु-साध्वियों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। बालक कालूगणी भी उनके साथ-साथ दर्शन करने के लिए जाया करते थे। उन्हें उसी समय से साधुओं के प्रति विशेष अनुराग हो गया। सन्त-समागम में उन्हें खेल-कूद से भी अधिक आनन्द प्राप्त हुआ करता था। धीरे-धीरे उनके मन में धर्म के प्रति विशेष अनुराग रहने लगा और वह सहज-भाव में परिणत होता गया।

दीक्षा की भावना

सं० १९४१ में मघवागणी ने अपना चातुर्मास सरदारशहर में किया। छोगांजी वहाँ उनके दर्शन करने गईं। वे कालूगणी तथा कानकंवरजी को भी अपने साथ ले गईं। कानकंवरजी उनकी भानजी थीं। उनके मन में भी विराग-भावना थी। मघवागणी के नैरतरिक सम्पर्क से उन संबकी विराग-भावना को परिपक्वता प्राप्त हुई। अवसर देखकर उन सबने आचार्यदेव के

समक्ष अपनी भावना रखी और सयम प्रदान करने की प्रार्थना की । मघवागणी सबकी भावना से अवगत हुए, किन्तु कालूगणी की अवस्था उस समय तक कल्प की सीमा में नहीं आई थी । अत उन सबको अपना-अपना तत्त्वज्ञान वढाते रहने की प्रेरणा देते हुए, उन्होंने फरमाया— "अवसर आने पर इस विषय में विचार किया जायेगा ।"

तत्त्व-शिक्षा

उसके पश्चात् मघवागणी तो विहार करते हुए मारवाड की ओर पधार गये, फिर भी कालूगणी के विरागभाव को बल देने तथा तत्त्वज्ञान सिखाने के लिए वे साधु-साध्वियों को डूगरगढ तथा छापर, जहाँ भी वे होते, वहाँ भेजते रहते थे । जब वे मारवाड तथा मेवाड में भ्रमण करने के पश्चात् वापस थली में पधारे, तब लाडणू में छोगांजी ने फिर दर्शन किये और दीक्षा के लिए प्रार्थना की । इस पर मघवागणी ने उन्हें साधु-प्रतिक्रमण सीखने की आज्ञा प्रदान की ।

दीक्षा-ग्रहण

बीदासर-चातुर्मास में वे फिर दर्शन करने के लिए गये, तब उन्हें दीक्षा की स्वीकृति भी प्राप्त हो गई । स० १९४४ आश्विन शुक्ला तृतीया के दिन वडे उत्सव के साथ कालूगणी तथा उनके साथ ही छोगांजी और कानकवरजी को सहस्रों मनुष्यों की उपस्थिति में सयम-व्रत प्रदान किया गया ।

: २ :

निर्लिप्त साधना के धनी

स्थिरयोग

दीक्षा लेने के पश्चात् कालूगणी ने मघवागणी की सेवा में रहते हुए अपनी साधना प्रारंभ की। बालक होते हुए भी उनके योग बड़े स्थिर थे। वे अपना हर कार्य बड़ी सावधानी तथा उपयोगिता से किया करते थे। उनकी बुद्धि भी बड़ी तेज थी। जो बात एक बार बतला दी जाती थी, उसे फिर दुबारा बतलाने की आवश्यकता नहीं रहती थी। बहुधा वे इंगित से ही समझ जाया करते थे। बाल्यावस्था से ही उनमें यह असाधारण योग्यता थी।

वरद हस्त

मघवागणी का वरद हस्त उनपर था। दीक्षा लेते ही वे विद्याध्ययन में लगा दिये गये। उनके प्रत्येक कार्य की देख-रेख तथा सम्यक् दिशा-निर्देश स्वयं आचार्यदेव किया करते थे। वे उन्हें समय-समय पर अनेक शिक्षाएँ भी देते रहते। भोजन करने के पश्चात् जब मघवागणी थोड़ी देर इधर-उधर घूमा करते थे, तब प्रायः उनके कंधों पर हाथ रखकर ही घूमा करते थे। उस समय बीच-बीच में ठहर कर वे उन्हें अनेक उपयोगी बातें बतलाते रहते थे।

शीत से प्रकंपन

कालूगणी अपना अधिकांश समय मघवागणी की सेवा में ही बिताया करते थे। प्रतिलेखन और प्रतिक्रमण आदि भी वे उनके पास बैठकर ही किया करते थे। मघवागणी भी उनकी विनीतता तथा सेवा-परायणता से बड़े प्रसन्न थे। वे वात्सल्यभाव से उनकी देख भाल किया करते थे।

एक बार शीतकाल में वे मघवागणी के पास ही बैठकर प्रतिलेखन कर रहे थे। जब शरीर पर से वस्त्र उतार कर वे उनका प्रतिलेखन करने लगे, तो शीत के कारण उनका सारा शरीर धूजने लगा। मघवागणी ने उन्हें धूजते देखा, तो तत्काल अपनी पछेवड़ी उतार कर उन्हें ओढाते हुए कहा—"सारे वस्त्र एक साथ ही मत उतारा कर। एक वस्त्र का प्रतिलेखन कर पहले उसे ओढ लिया कर और उसके पश्चात् दूसरे वस्त्र का प्रतिलेखन किया कर।"

मघवा के अनुरूप

कालूगणी के जीवन पर मघवागणी की जो अमिट छाप पड़ी थी, वही प्रेरणा-सूत्र बनकर उन्हें आजीवन प्रेरित करती रही। वे अपने आचार्य-काल में भी जब कभी मघवागणी को याद करते, तब इतने भक्ति-विह्वल हो जाया करते थे कि मानो अब भी उनके सम्मुख पूर्ववत्

मघवागणी विद्यमान हों और वे एक लघु शिष्य हों। उस समय उनकी आकृति के उतार-चढाव वस्तुत दर्शनीय और महनीय हुआ करते थे।

उन्होंने बाल्यकाल से ही अपने आपको मघवागणी के अनुरूप ढालने का प्रयास किया था। उन्होंने जहाँ आचार-व्यवहार की पवित्रता और हृदय की सरलता आदि अनेक अन्तरग गुण उनसे ग्रहण किये थे, वहाँ बाह्य विशेषताओं में भी उनसे बहुत कुछ समानता प्राप्त की थी। यहाँ तक कि उन्होंने अपनी लिपि को भी मघवागणी की लिपि के अनुरूप बना लिया था। यदि दोनों की लिखी हुई प्रतियाँ सामने रख कर किसी को परखने के लिए कहा जाए, तो वह कठिनता से ही यह निश्चय कर सकेगा कि ये एक ही व्यक्ति की लिखी हुई हैं, या दो की।

प्रेरणा-बीज

मघवागणी की सेवा प्राप्त करने का उन्हें लगभग पाँच वर्ष का ही अवसर मिला। उस थोड़े से समय में उन्होंने उनसे जो कुछ ग्रहण किया था, वही विकसित होकर बाद में सबके सामने आया। यदि उनको उस सेवा का कुछ और अधिक अवसर मिल पाता, तो सम्भव है वह स्थिति तेरापन्थ की ओर भी अधिक तीव्र गति से प्रगति करने में सहायक होती। सेवा का थोड़ा ही अवसर प्राप्त होने का स्वय कालूगणी के मन में भी दुख था। वे अपने आचार्य-काल में अनेक बार उस कमी की बात को दुहराया करते थे।

वे महान् थे, अत उनकी कल्पनाएँ भी उसी अनुपात से महत्त्व लिए हुए हुआ करती थीं। सेवा का अधिक अवसर प्राप्त कर वे अपनी उन्नति का लक्ष्य कहाँ स्थापित करना चाहते थे, यह तो वे ही जानें, पर इतना तो नि सकोच कहा जा सकता है कि उन्होंने उस थोड़े से अर्से में जो प्रेरणा-बीज अपने में पनपाये थे, वे बाद में तेरापन्थ के गौरव को बढाने में आशातीत रूप से सफल सिद्ध हुए।

मूक सेवा-वृत्ति

मघवागणी के पश्चात् लगभग साढे चार वर्ष तक माणकगणी का तथा बारह वर्ष तक डालगणी का शासन-काल रहा। उसमें भी वे पूर्ववत् सेवा-परायणवृत्ति से रहते रहे। माणकगणी जब देवलोक हुए, तब पीछे से शासन-व्यवस्था को सुस्थिर बनाये रखने में भी उनका पूरा-पूरा सहयोग रहा। डालगणी के चुनाव तक वे एक भाव से मूक सेवा करते रहे। अधिक बोलने तथा प्रचार करने का उनका स्वभाव नही था। अत वे बिल्कुल निर्लिप्त-भाव तथा कर्त्तव्य-बुद्धि से ही हर कार्य को किया करते थे।

विकल्प में

उन्होंने अपने दीक्षाकाल के थोड़े से वर्षों में ही काफी प्रभाव स्थापित कर लिया था। सघ के साधु-साध्वियों में उनके प्रति एक श्रद्धाभाव रहने लगा था। माणकगणी के देवलोक

होने के पश्चात् उन्हें आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित करने तक की बातें अन्तरग रूप से चल पड़ी थीं। यदि उस समय उनकी अवस्था थोड़ी-सी और बड़ी होती, तो सम्भव है कि उन्हें आचार्य-पद पर विठा दिया जाता।

यद्यपि अन्तरंग रूप से चले चिन्तन की वह वात उस समय तो अधिक प्रसिद्ध नहीं हुई थी, पर डालगणी के चुनाव के तत्काल बाद ही जब स्वयं डालगणी ने यह जानना चाहा था कि यदि मैं इस पद को स्वीकार करने से साफ ही मुकर जाता, तो तुम लोगों ने मेरे विकल्प में किसका नाम सोचा था ? तब मगनलालजी स्वामी ने उस सारे रहस्य को प्रकट कर दिया था। डालगणी की दृष्टि तभी से उनकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हो गई थी।

किसको सम्भावना है ?

स्वयं कालूगणी अपने विषय में बिल्कुल निर्लिप्त तथा नि:स्पृह रहा करते थे। उन्होंने अपने विषय में की जाने वाली उपर्युक्त बातों में न कभी उत्सुकता व्यक्त की और न कभी अपने विषय की उस महत्त्वपूर्ण भावना को प्रबल बनाने का ही प्रयास किया। दूसरा भी कोई यदि उनके सामने उस बात को चलाता, तो वे ऐसा उत्तर देते कि वह बात वहीं समाप्त हो जाती।

डालगणी के चुनाव से पहले एक साधु ने उनके पास इसी प्रकार की बात चलाते हुए पूछा—"आपके दृष्टिकोण से किसको आचार्य बनाये जाने की सम्भावना है ?"

उन्होंने उसे उत्तर देते हुए कहा—"मेरी और तुम्हारी तो सम्भावना है नहीं, बाकी किसी को भी बनाया जाए, हमें उसके लिए इतना व्यग्र होने की क्या आवश्यकता है ?"

उनके उस एक उत्तर ने ही उस साधु को ऐसा निरुत्साह कर दिया कि आगे कुछ और पूछने का उसे साहस ही नहीं हुआ।

बातेड़ी की बिगड़े

उनके कुछ व्यवहार्य आदर्श ही ऐसे थे कि वे साधारणतया दूसरों से भिन्न प्रकृति के ज्ञात हुआ करते थे। अपने गौरव के विषय में इतने उदासीन रहने पर भी, उन्हें जो गौरवमय स्थान प्राप्त हुआ, उसमें उनके आदर्शों का ही प्राधान्य था। वे अपने आप के लिए बड़े सजग और सावधान रहा करते थे। जिस कार्य को कोई बुरा बता सके, उसके मार्ग पर ही वे नहीं जाया करते थे। अपने विषय में ही नहीं, किन्तु दूसरों के विषय में भी वे अधिक बातें नहीं किया करते थे। उनका यह एक सिद्धान्त था कि 'बातेड़ी की बिगड़े।' अर्थात् अधिक बातें बनाने वाले का कार्य सुधरता नहीं, अपितु बिगड़ता ही है,

पास बैठने को स्थान

वे बहुत कम बात किया करते थे, अत: उनके पास बैठने वालों की संख्या भी कम ही रहा करती थी। अधिक भीड़-भाड़ उन्हें पसंद नहीं थी। अपने पास बैठने वालों पर वे सदा यह

ध्यान रखा करते थे कि कोई अनर्गल बातें तो नहीं कर रहा है। इसके अतिरिक्त वे उनको आचरणों की विशुद्धि पर ध्यान रखने के लिए प्रमुख रूप से कहा करते थे। आचरणहीन व्यक्ति को वे किसी भी प्रकार का प्रश्रय देना पसंद नही करते थे।

उनके पास बहुधा बैठने-उठने वाले एक व्यक्ति ने एक बार उनके उस स्वभाव के विषय में बतलाते हुए कहा था कि आचार्य-अवस्था से पूर्व की बात है—एक बार एक व्यक्ति की आचार-हीनता विषयक कोई बात फैल गई थी। आम जनता में उस समय वह एक चर्चा का विषय बन गया। हम लोग जब कालूगणी की सेवा में बैठे और परस्पर वही बात करने लगे, तो वे हमें टोक कर विशेष सावधान करते हुए बोले—"उसकी बात तो तुम लोग कर रहे हो, पर अपने विषय में पूर्ण सावधान रहने का निश्चय किया है या नही ? यदि तुम लोगो में से किसी का भी एतद्विषयक अपवाद सुना गया, तो फिर मेरे पास बैठने के लिए कोई स्थान नही रहेगा।" चरित्र-हीनता के प्रति उनका यह कठोर रुख आजीवन समान रूप से ही रहा।

परख का सिद्धान्त

चापलूसी से भी उनके मन में बेहद घृणा थी। जब कोई अपना काम निकालने की वृत्ति से बात करता, तो वे बड़े खिन्न हुआ करते थे। उनकी धारणा थी कि जो अधिक मीठी बातें बनाता है, वह अन्दर से अधिक कड़ुवा भी होता है। किसी की मीठी या कड़ुवी बातों को नहीं, किन्तु उसकी क्रियाओं में उतरने वाली सत्यता को ही आधार मानकर व्यक्ति को परखा करते थे। यह उनकी परख का एक सिद्धान्त था।

: २ :

संस्कृत विद्या का वट-वृक्ष

फलोद्‌गम तक

तेरापन्थ में पहले जयाचार्य ने संस्कृत का अध्ययन किया था। किन्तु वह एक बीजवपन के समान ही कहा जा सकता है। मघवागणी को उसे अंकुरित रखने का श्रेय प्राप्त है। उसे बढाने, नाना दिशाओं में फैलाकर शत-शाखी बनाने तथा पुष्पित और फलित बनाने का समस्त श्रेय एक मात्र कालूगणी को ही दिया जा सकता है। यद्यपि इससे बीजवपन तथा अंकुरित करने की क्रिया का महत्त्व कम नहीं हो जाता, फिर भी उसे परिपूर्ण वृक्ष बनाने तथा फलोद्‌गम की स्थिति तक पहुँचाने की प्रक्रिया बहुत लम्बी और श्रम-साध्य होती है—यह भी भुलाया नहीं जा सकता। कालूगणी ने इस श्रम-साध्य कार्य को बड़े धैर्य के साथ सम्पन्न किया। तेरापन्थ को विद्या के क्षेत्र में आज जो सुफल प्राप्त हो रहे हैं, उनमें जयाचार्य की दूर-दृष्टि, मघवागणी की सत्प्रेरणा और कालूगणी की सतत परिश्रमशीलता का समन्वित रूप ही कारण भूत है।

अध्ययन की कठिनाइयाँ

जयाचार्य ने संस्कृत-पठन की जो प्रवृत्ति चालू की थी, मघवागणी उसे आगे बढाना चाहते थे। उन्होंने उस कार्य के लिए कालूगणी को चुना। वे अपनी दृढ़ संकल्प-शक्ति और तीव्र बुद्धि के कारण सर्वथा उपयुक्त पात्र थे। उस समय की परिस्थितियों के अनुसार संस्कृत-पठन आज की तरह सहज साध्य कार्य नहीं था। सर्वप्रथम बाधा तो यह थी कि उसे पढ़ाने वाला दुष्प्राप्य था। संघ में सांगोपांग संस्कृत व्याकरण का पाठ करने वाला कोई नहीं था। अत: उस कमी को पूरा करने के लिए किसी पंडित का सहयोग प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक था। किन्तु उस मार्ग में सबसे बड़ी बाधा यह थी कि नि:स्पृहभाव से विद्या का दान देने वाले पंडितों का अभाव सा ही था। अर्थदान के विनिमय में विद्यादान ग्रहण करने की पद्धति जैन श्रमण होने के नाते स्वीकार्य नहीं थी।

ऐसी परिस्थिति में पल्लवग्राही ज्ञान भी दु:साध्य था, तो उस विषय के परिपूर्ण ज्ञान की तो कल्पना ही कैसे की जा सकती थी? इसीलिए अधिकांश साधु संस्कृत पढ़ना प्रारम्भ ही नहीं करते थे। कोई-कोई प्रारंभ कर देते तो निरंतर पाठ नहीं चल सकने के कारण रुक जाते थे और आगे के लिए उस क्रम को बंद कर दिया करते थे। उस समय कालूगणी जैसे *स्थिरयोग* और दृढ़संकल्प व्यक्ति ही उस असहज कार्य को सहज बनाने में सफल हो सकते थे।

जैनागमों की चाबी

कालूगणी को संस्कृत-भाषा का अध्ययन करने की मूल प्रेरणा मघवागणी से ही प्राप्त हुई थी। मघवागणी जैनागमों का गम्भीर-ज्ञान प्राप्त करने के लिए संस्कृत-भाषा को आवश्यक समझा करते थे। जब कभी वे संस्कृत-पठन की प्रेरणा दिया करते थे, तब उसे जैनागमों की चाबी बतलाया करते थे। कालूगणी के मन में उन्होंने प्रारम्भ से ही ये संस्कार भर दिये थे। यद्यपि मघवागणी के समय में उनका प्रारंभिक ज्ञान पूरा नहीं हो पाया था, फिर भी उनके मन में उन्होंने ज्ञान-प्राप्ति की जो उद्दाम भावना पैदा कर दी थी, वह अंत तक अपना कार्य करती रही।

अध्यापक का अभाव

मघवागणी के दिवंगत होने के पश्चात् कालूगणी का वह विद्याभ्यास एक प्रकार से कुछ समय के लिए बन्द ही हो गया था। जो प्रेरणास्रोत उनके व्यक्तित्व को एक निर्णीत ढाँचे में ढाल रहा था, वह अचानक अवरुद्ध हो जाने से वे स्वयं अपने आपमें एक शून्यता का अनुभव करने लगे थे। इच्छा होते हुए भी अध्यापक के बिना उन्हें अपना अभ्यास चालू रखने में बड़ी कठिनाई प्रतीत होने लगी। दिशा-निर्देश के अभाव में आखिर उन्हें अपना संस्कृत-अध्ययन बंद कर देना पड़ा।

आगम-मंथन की ओर

क्रियाशीलता कहीं पर भी रुकती नहीं। जल के प्रवाह को एक ओर से रोका जाये तो वह दूसरी ओर से अपना मार्ग बना लेता है। कालूगणी ने जब संस्कृत-अध्ययन विषयक अपना मार्ग अवरुद्ध देखा, तो उन्होंने अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए अपनी क्रियाशीलता का मुख दूसरी ओर मोड़ दिया। वे आगम-अध्ययन में लग गये। अनेक वर्षों तक लगातार अध्ययन और मनन करते रहे। आगम-समुद्र का उन्होंने जो मंथन किया, उससे प्राप्त ज्ञान-मुक्ताओं से उनका व्यक्तित्व और भी अधिक निखर उठा था।

रिक्त स्थान

उनके आगम-मंथन का आधार स्वामीजी तथा जयाचार्य द्वारा लिखित राजस्थानी ग्रंथ, गुजराती भाषा के टब्बे तथा मूल आगम पाठ ही था। यद्यपि उन्होंने आगम-रहस्य तक पहुँचने के लिए उन सब का खूब उपयोग किया, फिर भी संस्कृत-टीकाओं के द्वारा जो प्राप्य हो सकता था, उसका स्थान तो रिक्त ही था। उसकी पूर्ति की प्रतीक्षा उन्होंने कभी नहीं छोड़ी।

प्रेरक श्लोक

कालूगणी का संस्कृत-पठन एक बार छूटा, तो वह फिर लम्बे समय तक प्रारम्भ नहीं हो सका। अनेक वर्षों की उस बाधा ने उनके संस्कृत सम्बन्धी संस्कारों को मूर्च्छित-सा कर दिया

था। परन्तु एक घटना ने उनके संस्कारों को पुनः उद्बुद्ध कर दिया। सं० १९६० में डालगणी का बीदासर में पदार्पण हुआ। वहाँ के ठाकर हुकमसिंहजी साधुओं के प्रति बड़ा अनुराग रखा करते थे। वे विशेष रूप से संस्कृत जानते तो नहीं थे, परन्तु उसके प्रति एक सहज श्रद्धा होने के कारण कुछ-न-कुछ पढते या सुनते रहते थे। एक बार उन्होंने डालगणी के पास एक संस्कृत का श्लोक भेजा। उन्हें अर्थ की जिज्ञासा थी। डालगणी ने वह श्लोक उन सतों को दिया, जिन्होंने कि संस्कृत का यत्किंचित् अभ्यास किया था, किन्तु कोई भी उसका अर्थ नहीं बता सका।

उस घटना ने कालूगणी के मन में एक उथल-पुथल मचा दी। एक साधारण से संस्कृत-श्लोक का अर्थ न बता सकने के कारण उन्हें बड़ी आत्मग्लानि हुई। उस एक ही झटके ने मघवागणी द्वारा प्रदत्त शिक्षाओं तथा मूर्च्छित-प्राय संस्कारों का पुनर्जागरण कर दिया। उन्होंने उसी समय यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि उन्हें संस्कृत का अध्ययन फिर से चालू करना ही है।

चाह को राह

अपने निश्चयानुसार उन्होंने तत्काल ही 'सारस्वत' का पूर्वार्ध कठस्थ करना प्रारम्भ कर दिया। उन्हें किसी अध्यापक की आवश्यकता अवश्य थी और वे उसकी खोज में भी थे, किन्तु उसके बिना भी वे अपने पाठ को रुकने देना नहीं चाहते थे। उन्होंने अपने ही अन्तर्मन की प्रेरणा से समग्र पूर्वार्ध को थोड़े ही दिनों में कंठस्थ कर लिया। उसके आगे अब क्या और कैसे करना चाहिये, इस बात को वे सोच ही रहे थे कि उन्हीं दिनों में डालगणी का चूरू में पदार्पण हुआ। वहाँ बगड़-निवासी पंडित घनश्यामदासजी का कालूगणी से परिचय हुआ। वे उन दिनों चूरू में ही रहा करते थे। वहाँ के सुराना-परिवार से उनका विशेष सम्बन्ध था। रायचन्दजी सुराना वहाँ के प्रमुख श्रावक थे। वे स्वयं संस्कृत के प्रति विशिष्ट रुचि रखा करते थे। उन्हीं के माध्यम से वह परिचय हुआ था। पंडितजी साधुओं के आचार-व्यवहार से परिचित हुए और साथ-ही-साथ प्रभावित भी। कालूगणी ने उनके सामने अपने पठन की इच्छा व्यक्त की, तो उन्होंने तत्काल उसे स्वीकार ही नहीं कर लिया, अपितु उसे अपना सौभाग्य भी माना।

चाह को राह मिल ही जाया करती है, अतः कालूगणी का अध्ययन फिर से सम्यग् रूपेण चालू हो गया। पण्डितजी प्रतिदिन नियमित रूप से आया करते और बड़े परिश्रम से पढाया करते। उनको कालूगणी के प्रति इतनी श्रद्धा थी कि वे निर्धारित समय के अतिरिक्त भी जब समय मिलता, तभी आ जाया करते थे।

घनश्यामदासजी की सेवा

पण्डित घनश्यामदासजी ने ऐसे समय में अपनी सेवा प्रदान की थी, जब कि तेरापन्थ को उसकी महती आवश्यकता थी। प्रारम्भ में कुछ ईर्षालु पण्डितों ने उन्हें उस कार्य से विरत

करने के लिए नाना प्रयत्न किये। उन्हें यहाँ तक कहा गया कि जैनों को व्याकरण पढाना तो साँप को दूध पिलाना है, किन्तु वे उन सब बातो को इस प्रकार से पीते चले गये कि मानों उन्हें कुछ कहा ही नहीं गया।

मुख-वस्त्रिका बांध कर भी

पण्डित धनश्यामदासजी को एक ओर जहाँ ब्राह्मण-पण्डितों के विरोध का सामना करना पडा था, वहाँ दूसरी ओर उससे भी बढकर स्थानीय स्थितियों का सामना करना पड़ा। वे खुले मुँह से बोलकर ही पढाया करते थे, अत उनकी वह प्रवृत्ति कुछ ऊहापोह का कारण बन गई थी। वह बात जब कालूगणी के सामने आई, तब उन्होंने पण्डितजी के सामने उसका जिक्र किया। पण्डितजी कालूगणी के व्यक्तित्व से इतने प्रभावित थे कि उनके लिए मुख-वस्त्रिका बाधकर पढाना भी उन्होने स्वीकार कर लिया। उन्होंने कुछ समय तक वैसा किया भी था।

इस घटना से ऐसा लगता है कि उस समय वहाँ का वातावरण सस्कृत के लिए विशेष अनुकूल नही था। जब कोई अन्य मतावलम्बी खुले मुँह से प्रश्न आदि पूछता तथा और कोई बातचीत करता, तब उसे उत्तर देने तथा बातचीत करने में उस समय भी कोई बाधा नहीं थी। तब फिर संस्कृत पढाने मे ही यह प्रश्न उठाना, उपर्युक्त निष्कर्ष की ओर ही स्पष्ट सकेत करता है। उस समय पण्डितजी की सेवा-भावना और कालूगणी के दृढ-सकल्प ने उस स्थिति को सहजता से ही पार कर लिया था। यदि दोनों में से किसी एक के भी विचार लडखडा जाते, तो सम्भव है कि सघ में आज जो चतुर्मुखी प्रगति दिखाई दे रही है, वह हो ही नही पाती।

थका देने वाली प्रक्रिया

चूरू में तो उनका वह पठन-क्रम सुचारुरूप से चलता रहा, किन्तु वहाँ से विहार करने पर पण्डितजी का सुयोग मिल पाना सम्भव नही था। फिर भी कालूगणी ने अपने ही निश्चय के बल पर पाठ चालू रखने का निर्णय किया। बीच-बीच में पण्डितजी का भी आगमन होता रहता था। जब-जब पण्डितजी सेवा में आये हुए होते, तब-तब व्याकरण की साधना चलती और वे न होते तब कंठस्थ करने तथा स्वय वाचन और स्मरण करने की प्रवृत्ति चालू रहती।

निरन्तर पाठ चालू रहने पर जितने स्वल्प समय में प्रगति की जा सकती थी, वह उस क्रम में सम्भव नहीं थी। वस्तुत: वह पढने की एक ऐसी प्रक्रिया थी, जो कि थका देने वाली होती है। परन्तु कालूगणी न तो थके और न अपने निश्चय से पीछे हटे। धीमी या मध्यम, जैसा भी जिस समय सम्भव हुआ, वे उसी गति से प्रगति करते रहे। उन्होंने उसी स्थिति में व्याकरण तथा 'अभिधानचिन्तामणि कोश' आदि अनेक ग्रन्थ समग्ररूप से कण्ठस्थ कर लिये थे।

आचार्यकाल मे अध्ययन

उन्हें जमकर अध्ययन करने का प्राय कम ही अवसर मिल सका था। पहले अध्यापक की समस्या थी, तो वाद में अनेक जिम्मेदारियाँ वढ गई थीं। सबसे अधिक व्यस्तता में तो उन्हें तब रहना पड़ा था, जब कि वे आचार्य-पद पर नियुक्त हुए। उन वर्षों में सघ की सुव्यवस्था में उन्हें अधिक समय लगाना पड़ता था। शिष्यों को सैद्धांतिक ज्ञान प्रदान करने का भी सारा दायित्व आचार्य होने के नाते उन पर ही आ गया था। इतने सब कुछ कार्य करते हुए भी वे संस्कृत-अध्ययन विपयक अपने निश्चय को भूले नही थे।

उनका अध्ययन आचार्य होने के पश्चात् भी चालू रहा। व्याख्यान आदि कुछ निश्चित कार्यों के अतिरिक्त वे अपना अधिकांश समय अध्ययन में ही लगाया करते थे। आगन्तुक व्यक्तियो से आवश्यक वातचीत तथा जिज्ञासा-शमन आदि कार्यों का भार मगनलालजी स्वामी पर छोड दिया गया था। इस प्रकार अथक परिश्रम द्वारा उन्होंने सस्कृत-भाषा पर अपना अधिकार किया था।

आचार्य-अवस्था में विद्याभ्यास के लिए इस प्रकार जुट जाने का वह एक अनुपम प्रसग ही कहा जा सकता है। उनका वह क्रम इस वात का एक सक्रिय उदाहरण था कि मनुष्य को आजीवन विद्यार्थी वने रह कर नई विद्याओं का अध्ययन करते रहना चाहिए। अगाध शास्त्रीय ज्ञान होने पर भी वे उसे संस्कृत के माध्यम से और अधिक गम्भीर करना चाहते थे। केवल स्वय के लिए ही नहीं, किन्तु सारे सघ के लिए वे उसे अत्यन्त आवश्यक समझते थे। उन्होंने अपने सकल्प की पूर्ति के लिए जो परिश्रम किया था, वह सब उनकी व्यक्तिगत सफलता के लिए तो महत्त्वपूर्ण था ही, परन्तु समस्त संघ के लिए भी उतना ही महत्त्वपूर्ण था।

स्वप्न का अर्थ

वे अपने उद्देश्य में इतने एकरस हो गये थे कि प्रत्येक वात को उसी रग में देखने लगे। आचार्य होने के पश्चात् एक वार स्वप्न में उन्हें पुष्पों और फूलों से लदा हुआ वृक्ष दिखाई दिया। उन्होंने उसका अर्थ लगाते हुए कहा—"अव सस्कृत का वृक्ष अवश्य ही पुष्पित और फलित होगा।" उनके कथन का हार्द था कि साधुओं में अव सस्कृत-भाषा की निष्णातता आयेगी। उनके उस स्वप्न ने शीघ्र ही फलीभूत होकर उनके कथन की सत्यता को प्रकाशित कर दिया।

मुनिजनों का विद्याभ्यास

कालूगणी ने अपने आचार्यकाल के प्रारम्भ से ही संस्कृत-भाषा को हर प्रकार से प्रोत्साहन दिया। नव-दीक्षितों को संस्कृत-अध्ययन की प्रेरणा देना उनका एक पवित्र कर्तव्य वन गया था। उनके उस उदार दृष्टिकोण के फलस्वरूप अनेक मुनियों ने अध्ययन प्रारम्भ किया। स्वय कालूगणी उनको पढाया करते थे।

बढ़ते चरण

पठन-पाठन के क्रम में ज्यों-ज्यों चरण आगे बढे, त्यों-त्यों 'सारस्वत' तथा 'सिद्धान्त-चन्द्रिका' के कतिपय स्थल अपूर्ण प्रतीत होने लगे। किसी बड़े व्याकरण का आधार लेने की बात सोची जाने लगी। उसी समय यतियों के प्राचीन भंडार में से उन्हें एक व्याकरण की प्रति प्राप्त हुई। वह किसी प्राचीन जैनाचार्य द्वारा निर्मित थी। 'सारकौमुदी' नाम से वह प्रक्रिया रूप में बनाई हुई थी। उसका अध्ययन किया गया और उसके कतिपय सूत्रों को छांटकर 'सिद्धान्त-चन्द्रिका' के समास आदि कुछ अपूर्ण स्थलो की पूर्ति करने का प्रयास किया गया। परन्तु दो व्याकरणों को मिलाकर पढना, स्वय ही अपने आप में एक झंझट का कार्य था। उससे जिज्ञासा की यथेष्ट तृप्ति नहीं हो पाई।

अष्टाध्यायी की खोज

कालूगणी ने एक बार अध्ययन-प्रसंग में फरमाया—"पाणिनीय के समान यदि 'सारकौमुदी' की अष्टाध्यायी मिल जाये, तो कितना अच्छा हो। उस क्रम से अध्ययन करने पर अधिक विकास होने की सम्भावना है।" कालूगणी का वह चिंतन बहुत स्वल्प समय में ही पूर्ण हो गया। भादरा के श्रावक रावतमलजी पारख के पास यतियो के प्राचीन पुस्तक-भडारो में से सगृहीत कुछ पुस्तकें थीं। मुनि चम्पालालजी 'मीठिया' जब भादरा गये, तब उन्होने उनका निरीक्षण किया। उसमें विशालकीर्त्ति गणी द्वारा विरचित 'विशाल-शब्दानुशासन' (अष्टाध्यायी) की एक प्रति थी। उन्होंने सोचा कि कहीं यह ग्रथ वही तो नहीं है, जिसके लिए गुरुदेव फरमा रहे थे। उन्होंने उस प्रति को लाकर गुरुदेव को भेंट किया। उन्होंने उसे देखा तो वे बड़े प्रसन्न हुए। वह वही ग्रथ था जिसकी प्राप्ति के लिए गवेषणा की जा रही थी। उन्होने शिष्यवर्ग को उसका अध्ययन प्रारम्भ करवा दिया।

नये मार्ग-दर्शन की आवश्यकता

कालूगणी के जीवन की अनेक महत्ताओं में से एक महत्ता जन-मानस को बहुत ही प्रभावित करने वाली थी कि उनको जब किसी बात की आवश्यकता होती थी, प्रकृति उससे पूर्व ही उसकी पूर्ति का सामान जुटाकर तैयार रखा करती थी। वह सदा उनके अनुकूल रही थी। उनके जीवन के वे स्वप्न, जिन्हें उन्होंने स्वय एक स्वप्न-मात्र ही समझा था, सहज रूप से पूर्ण होते देखे गये। सस्कृत के विषय में भी उन्होने जो स्वप्न देखा था, जो कल्पना की थी, उसकी पूर्ति सहज भाव से होती गई और सघ में सस्कृत-भाषा का प्रवाह आगे-से-आगे गतिशील बनता चला गया।

साधुओं को प्राथमिक व्याकरण-ज्ञान हो चुका था। आगे का कदम तभी उठ सकता था, जब कि कोई विशिष्ट व्याकरणज्ञ अपना समय दे। साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिये भी प्रयास किया जाने लगा था। कालूगणी ने शिष्य-वर्ग को उस विषय में प्रेरित करना प्रारम्भ कर

दिया था। सम्भवत: उनके अन्त:करण में पहले से ही यह आभास हो गया था कि उस ओर कदम उठाते ही मार्ग-दर्शक भी स्वयं आकर उपस्थित हो जाएगा। ऐसा ही कुछ हुआ भी।

पंडित रघुनन्दनजी का आगमन

सं० १९७४ में सरदारशहर चातुर्मास करने के पश्चात् कालूगणी का चूरू पदार्पण हुआ। वहाँ के यति रावतमलजी बड़े श्रद्धाशील व्यक्ति थे। तेरापन्थ के प्रति उनका अटूट धर्मानुराग था। संस्कृत-भाषा के प्रति कालूगणी के अधिकाधिक झुकाव और फलस्वरूप साधुओं की उस तरफ बढ़ती हुई अभिरुचि से भी वे अच्छी तरह से परिचित थे।

उन्हीं दिनों उत्तर प्रदेशान्तर्गत सुनामई ग्राम (अलीगढ के पास) के निवासी पंडित रघुनन्दनजी शर्मा किसी कार्यवश वहाँ आये हुए थे। यतिजी का उनसे परिचय हुआ, तो वे उनसे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने कालूगणी के समक्ष पंडितजी के विषय में बात चलाई और बतलाया कि ऐसे विद्वान् मैंने कम ही देखे है। एक दिन में पाँच-सात सौ श्लोकों की रचना कर लेना उनके लिए सहज बात है। तत्काल दिये हुए किसी भी विषय पर वे धारा-प्रवाह से श्लोक-रचना कर सकते है। उनकी इस विशिष्ट शक्ति से प्रभावित होकर विद्वज्जनों ने उन्हें 'आशुकविरत्न' की उपाधि प्रदान की है। इसके अतिरिक्त वे आयुर्वेदाचार्य भी हैं। उनकी योग्यताएँ वस्तुत: चकित कर देने वाली है।

कालूगणी ने उनकी सारी बात सुन लेने के पश्चात् छोटा-सा उत्तर देते हुए फरमाया— "कभी अवसर मिला तो ऐसे विद्वान् व्यक्ति से अवश्य परिचय करना चाहेंगे।" साथ ही उन्होंने यतिजी से यह भी कहा कि केवल बाहरी उपाधियो के प्रभाव में आकर ही तो कहीं आप उनकी इतनी प्रशसा नहीं कर रहे हैं? आजकल विद्वत्ता कम और उपाधियों के आधार पर आत्म-विज्ञापन अधिक चल रहा है। अत: वैसी स्थिति से सावधान रहना अत्यन्त आवश्यक है।

यतिजी ने कहा—"वे युवक होते हुए भी अत्यंत धीर प्रकृति के व्यक्ति है। आत्म-विज्ञापन के विरुद्ध आत्म-गोपन की प्रवृत्ति ही मैंने उनमें अधिक पाई है। उनकी विद्वत्ता उनकी उपाधियों से कहीं अधिक है। मैंने आपके समक्ष उनके विषय में जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह बहुत सयत और संक्षिप्त ही है। कम से कम एक बार वे आपके संपर्क में आयें—मैं ऐसा प्रयास करूँगा, फिर मेरी बात में कितनी अत्युक्ति या अल्पोक्ति है, यह आप स्वय निर्णय कर लेना।"

यतिजी पंडितजी से बहुधा मिलते रहते थे, अत: एक दिन उन्होंने उनके समक्ष कालूगणी की चर्चा की। तेरापन्थ और उनके साधु-वर्ग का परिचय देते हुए उनके आचार-व्यवहार से भी उन्हें अवगत किया। पंडितजी को जैन-साधुओं के विषय में अनेक भ्रांतियाँ थीं। उनमें से कुछ तो आस-पास के वातावरण से, कुछ अनुश्रुति से तथा कुछ धार्मिक असहिष्णुता के कारण ग्रन्थो में यतस्तत: लिखे गये अनर्गल विवरणो से पैदा हुई थीं। उसके अतिरिक्त तेरापन्थ के

विषय में भी किसी ने उन्हें भ्रांत कर रखा था, अत. एक बार तो उन्होंने यतिजी को टालने ही का प्रयास किया, परन्तु यतिजी को जब यह पता लगा कि इनको किसी के द्वारा भ्रांत किया गया है, तब उन्होंने थोडा स्पष्ट होते हुए कहा—"सत्य और असत्य का ज्ञान परोक्ष से जितना किया जा सकता है, उससे कहीं अधिक प्रत्यक्ष से किया जा सकता है। अत आपने जैन धर्म और तेरापन्थ के विषय में जो धारणाएँ बना रखी है, वे सब परोक्ष-सूत्रो से ही सबद्ध हैं। उन सबका प्रत्यक्ष के प्रकाश में परीक्षण करने के लिए इससे बढकर अन्य उपयुक्त समय फिर कब मिलेगा ? यदि वे सत्य हैं तो भी और असत्य हैं तो भी आप संपर्क करने के पश्चात् अधिक निर्णायकता की स्थिति में हो जाएंगे।"

पंडितजी को यतिजी की वे बातें ठीक लगी, अत. उन्होने कम से कम एक बार वहाँ आने का निर्णय किया। यतिजी दोनों ओर से उपयुक्त समय का निश्चय करके उन्हे अपने साथ लेकर आये। प्रारम्भ में कुछ समय परिचयात्मक बातें चलने के पश्चात् जैन धर्म तथा तेरापन्थ के मूल सिद्धान्तों से उन्हें अवगत किया गया। उनके मन की प्रत्येक भ्रांति का निराकरण हो जाने के पश्चात् वे बडे सतुष्ट हुए और अपनी पूर्व भ्रमणाओ के प्रति उन्होने पश्चाताप भी किया। आचार्यदेव भी पडितजी की विद्वता से प्रभावित हुए और उन्हें यतिजी के कथन के अनुरूप ही पाया।

साधु-शतक

पडितजी बातचीत करने के अनन्तर जब अपने स्थान पर गये, तो उसी दिन लगभग तीन घण्टे तक एकांत में बैठकर उन्होने 'साधु-शतक' की रचना की। कालूगणी के पास उन्होंने साधुचर्या की जो बातें सुनी थी, उन्हीं को उसमें पद्यबद्ध किया गया था। जब वे इस शतक को लेकर कालूगणी की सेवा में उपस्थित हुए, तब वे अत्यत भक्ति-विभोर स्थिति में थे। प्रथम सपर्क भ्रांत-अवस्था का था, जब कि द्वितीय भक्त-अवस्था का।

समय-दान

उन्होंने अत्यत नम्रता से आचार्यदेव को कहा—"मैं इतने दिन भ्रांत था, अत: कहने पर भी यहाँ आना नहीं चाहता था, पर अब चाहूंगा कि मैं अपनी कुछ सेवाएँ दे सकूं। मैं आपकी सेवा में अपना समय प्रस्तुत करता हूं। आप जब चाहें तभी उसका उपयोग कर सकते हैं।" कालूगणी ने पडितजी की इस प्रार्थना को बडे आदर से स्वीकार किया और सस्कृत-अध्यापन के लिए उनके समय का उपयोग करने का विचार व्यक्त किया।

उसके पश्चात् पडितजी का आवागमन प्राय: प्रतिवर्ष ही होने लगा। वे अपना आयुर्वेद का कार्य किया करते थे, फिर भी चातुर्मास में कुछ महीनो का समय निकाल कर अध्यापन के लिए अपनी सेवा अर्पित किया करते। वह उनकी एक ऐसी महत्त्वपूर्ण सेवा थी, जो कि तेरापन्थ की भावी उन्नति की आधारशिला बन गई।

नव्य व्याकरण की कल्पना

पहले पहल साधुओं का अध्ययन 'सारस्वत' के पूर्वार्ध और 'चन्द्रिका' के उत्तरार्ध के आधार पर प्रारम्भ हुआ था। परन्तु बाद में 'विशाल-शब्दानुशासन' और 'सारकौमुदी' नामक उसकी प्रक्रिया को प्रमुख रूप से पढा जाने लगा। कुछ साधु हेमचन्द्राचार्य विरचित 'हैमशब्दानुशासन' भी पढ़ते थे। हैमव्याकरण के साथ कोई प्रक्रिया-ग्रन्थ न होने से प्राथमिक ज्ञान के लिए पाठकों को कठिनाई का सामना करना पड़ता था। इसलिए कालूगणी को 'विशाल-शब्दानुशासन' तथा 'सारकौमुदी' की उपयुक्तता अधिक प्रतीत हुई।

'विशाल-शब्दानुशासन' में कुछ अपूर्णताएँ थीं, अत उन्हें सुधारकर उसे पूर्ण बना लेने का विचार किया गया। परन्तु सुधार की उस प्रक्रिया ने उसके सूत्रों को इतना उलट-पलट दिया कि उसका वह नाम रखना उचित नहीं रह गया। तब यह विचार उभरा कि क्यों न ऐसे व्याकरण की रचना की जाए, जिसमें प्राचीन सभी व्याकरणों का सारल्य तो हो, लेकिन उनकी दुरूहताएँ न हों।

'भिक्षु-शब्दानुशासन' का निर्माण

आचार्यदेव ने उस विचार को अत्यत सहानुभूति प्रदान की, अत सहजतया ही संतों की उस ओर अधिक अभिरुचि हो गई। मुनि श्री चौथमलजी ने उस कार्य का भार अपने ऊपर लिया और उसमें जुट गये। वे अपनी धुन के पक्के और हाथ में लिए हुए कार्य के प्रति प्रामाणिकता वर्तने वाले व्यक्ति थे। अनेक वर्षों के परिश्रम तथा अध्यवसाययुक्त परिशीलन के पश्चात् उन्होंने 'भिक्षु-शब्दानुशासन' नाम से एक महाव्याकरण तैयार किया। पंडित रघुनंदनजी ने उसकी बृहद् वृत्ति का निर्माण किया। वह सभी दृष्टियों से परिपूर्ण तथा व्याकरण की सूक्ष्मताओं का विश्लेषण करने वाला एक अपूर्व ग्रन्थ बन गया। इस प्रकार कालूगणी के अखंड प्रयास और सतत प्रेरणा का प्रथम फल तेरापन्थ ने प्राप्त किया।

'कालुकौमुदी' का निर्माण

उसके पश्चात् प्राथमिक ज्ञान के लिए प्रक्रिया निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई। वह कार्य भी मुनि श्री चौथमलजी की जागरूक-तत्परता की अपेक्षा रखता था, अत उन्हीं को सौंपा गया। उन्होंने बड़ी लगन के साथ उस कार्य को भी पूर्ण किया। इन ग्रन्थों के निर्माण के साथ ही तेरापन्थ के लिए व्याकरण संबंधी परापेक्षता का अवसान हो गया।

प्रथम अध्येता

'भिक्षु-शब्दानुशासन' और उसकी बृहद्-वृत्ति का सर्वप्रथम पारायण करने वालों में तेरापन्थ के भावी नवमाचार्य श्री तुलसीगणी तथा उनके सहपाठी मुनि श्री धनराजजी और मुनि श्री चन्दनमलजी थे। उनके व्याकरण-पाठ के समय तक प्रक्रिया का निर्माण नहीं हुआ था, अत उन्होंने उसकी पूर्ति 'चंद्रिका' कठस्थ करके ही की थी।

'कालुकौमुदी' को सर्वप्रथम कठस्थ करने वालो तथा उसका पूर्ण पारायण करने वालों में मैं तथा मेरे सहपाठी मुनि श्री नथमलजी थे। 'कालुकौमुदी' की रचना के तथा हमारे कठस्थ करने के प्रारभिक काल में तो काफी अन्तर था, पर पूर्तिकाल लगभग एक ही था। अनेक बार हमें याद किये हुए पाठ को छोड देना पडता था तथा बीच में डाले गये किसी नये पाठ को याद करना पडता था। प्रायः सारी 'कालुकौमुदी' हमने इसी काट-छाँट की परिस्थिति में याद की थी।

साहित्य-क्षेत्र मे पदन्यास

व्याकरण-रचना के उस कार्य ने जहाँ साधुओं के ज्ञान की भूमिका को सुदृढ बना दिया, वहाँ उनकी रचनात्मक प्रवृत्ति को भी उद्बुद्ध किया। साहित्य-रचना के लिए जिस शब्द-शक्ति की आवश्यकता होती है, उसे प्राप्त कर लेने के पश्चात् व्यक्ति की अपनी कल्पना-शक्ति को अनेक प्रकार से सहारा मिल जाया करता है और उसे अपनी सामर्थ्य का भी विश्वास होने लगता है। इसीलिए व्याकरण-रचना के साहस ने अन्य सभी क्षेत्रों में साधुजनों के साहस के लिए एक प्रगति-द्वार खोल दिया। उस विषय में प्रथम चरणन्यास था—भक्तामर तथा कल्याण मदिर की पाद-पूर्तियो के रूप में अनेक साधुओं द्वारा विविध स्तोत्रों का निर्माण। उसके पश्चात् क्रमश: उस क्षेत्र में अबाध प्रगति होती गई।

अभी बाकी है

कालूगणी शिष्यवर्ग की उस प्रगति से परम प्रसन्न थे, फिर भी वे उतने मात्र से तृप्त होने वाले नही थे। उन्होंने मार्ग-दर्शन करते हुए कहा—"यह एक सफलता तो हमें प्राप्त हुई है, परन्तु अभी तक न्यायशास्त्र का अध्ययन तो अछूता ही पडा है। जैन दर्शन का तलस्पर्शी ज्ञान उसके बिना सभव नहीं है।" उन्होंने अपने अध्ययनशील शिष्यो को, 'षड्दर्शन समुच्चय', 'अन्य-योगव्यवच्छेदिका', 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार' आदि ग्रथ कठस्थ करवाये। इस प्रकार उन्होंने न्याय के क्षेत्र में भी बीज वपन कर दिया।

ज्ञान प्रेरणा के स्रोत

अध्ययन के लिए अनेक प्रकार की प्रेरणाएँ देते रहना कालूगणी ने अपना लक्ष्य बना लिया था। वे एक मनोवैज्ञानिक की तरह सबके अतरग को छूने वाली प्रक्रियाओं के द्वारा अध्ययन के प्रति सबकी प्रवृत्तियों को जागरित करते रहते थे। गुह्य प्रेरणाओ के साथ-साथ आवश्यकता होने पर बाह्य प्रेरणा देने में भी वे कभी नहीं चूका करते थे। सीखने वालों की मानसिक तथा शारीरिक अनुकूलताओ पर भी वे ध्यान दिया करते थे। अध्ययनेच्छु के लिए आवश्यक सामग्री जुटाना, ज्ञान के क्रमिक विकास या ह्रास पर पूरी दृष्टि रखना, समय-समय पर पठित ज्ञान के विषय में पूछते रहना, स्वाध्याय के विषय में सचेष्ट करते रहना, प्रगति बनाये रखने के लिए उत्साह को नीचे न गिरने देना आदि कार्य वे इस सहज भाव से करते थे कि किसी को कुछ ऊपर का दबाव नहीं लगता था।

ज्ञान कंठस्थ करनेवालों के लिए उन्होंने पारितोषिक के रूप में गाथाएँ देने की घोषणा की थी। 'अष्टाध्यायी', 'कालूकौमुदी' तथा 'अभिधानचिन्तामणि कोश' को कंठस्थ करने वाले अनेक साधुओं को उन्होंने उनकी श्लोक संख्या के बराबर गाथाएँ दी थीं। उनकी उन कृपापूर्ण प्रेरणाओं से प्रेरित होकर ही संघ के अनेक साधु संस्कृत-भाषा में पारगामिता प्राप्त कर पाये। वे प्रेरणा के एक ऐसे स्रोत थे, जो कि निरन्तर बहता ही रहता था और सबको अभेद-बुद्धि से तृप्ति प्रदान करता रहता था।

व्यक्ति-निर्माण

बालक साधुओं के भावी जीवन का निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है, इसमें वे विशेषतः सिद्धहस्त थे। उनका एक-एक वाक्य बालकों के सौभाग्य-निर्माण के लिए अपार आशा से भरा हुआ होता था। बालकों के जीवन-निर्माण को ही वे संघ का जीवन-निर्माण समझते थे। उनके वरद हस्त की छाया में अनेक ऐसे व्यक्तित्व उभरे, जो कि सारे संघ की शोभा बने और अपने व्यक्तित्व से अपने आसपास के वातावरण को प्रभावित करने में समर्थ हुए।

अध्ययन-निरत

कालूगणी का सारा जीवन एक अध्ययन-निरत व्यक्ति का जीवन था। तभी वे दूसरों के लिए भी प्रेरक बन सके थे। इसीलिए उनकी प्रेरणा केवल वचन-विलास मात्र न होकर, एक सबल सजीवता लिए हुए हुआ करती थी। वे कहने से पहले तथा कहने से अधिक स्वयं किया करते थे। संस्कृत-भाषा के विषय में भी उन्होंने जितना कहा, उससे कहीं अधिक कर दिखाया। उसके अतिरिक्त भी वे अपना नियमित समय स्वाध्याय आदि में लगाया ही करते थे।

उस अध्ययन-परता के आधार पर ही आवश्यक ग्रन्थ-सामग्री की परख भी उनकी इतनी तीव्र हो गई थी कि थोड़ा-बहुत उलट-पुलट कर देखने मात्र से ही वे उस ग्रंथ की गहराई को तथा संघ की ज्ञान-वृद्धि में उसकी उपयोगिता को जान लिया करते थे। आज संघ में ऐसे अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं जो कि उनकी सूझ के ही परिणाम हैं। जिस समय संघ में उन ग्रन्थों के विषय को हृदयंगम कर लेने की क्षमता सीमित ही थी, उस समय उन्होंने यह कह कर उन्हें रख लिया था कि अभी इनकी उपयोगिता मालूम नहीं होती, पर ये आगे काम आयेंगे।

स्व-पर-सिद्धांत-मर्मज्ञ

वे अनेक विषय के ग्रन्थ पढ़ते रहते थे, अतः उनका ज्ञान बहुमुखी था। एक आचार्य के लिए ऐसा होना आवश्यक भी है। वे अपने शिष्य-वर्ग को भी स्व-पर-सिद्धांत-मर्मज्ञ बनाना चाहते थे। पर-सिद्धांत जानने से पहले वे स्व-सिद्धान्त का ज्ञान कर लेना आवश्यक समझते थे। इसीलिए प्रत्येक साधु के हृदय में दीक्षित होते ही शास्त्र-ज्ञान का बीजारोपण करने के

पश्चात् ही उसे अन्य ज्ञान के लिए उपयुक्त माना करते थे। वे स्वय आगम-स्वाध्याय में निरन्तरता से लगे रहते थे। समग्र मूल आगम और उनकी टीकाओं का उन्होंने अनेक वार पारायण किया था।

काव्य-प्रेमी

संस्कृत-भाषा के काव्यों के प्रति उनके हृदय में विशेष आदरभाव था, अत· अनेक वार प्रात कालीन व्याख्यान में आगम-व्याख्या के पश्चात् वे गद्य या पद्यात्मक काव्य-ग्रन्थों को स्थान दिया करते थे। नेमिनाथ-चरित्र, पार्श्वनाथ-चरित्र तथा पांडव-चरित्र आदि काव्य उनकी प्रमुख रुचि के ग्रन्थ थे।

व्याकरण-मर्मज्ञ

व्याकरण में उन्होंने 'सारस्वत', 'सिद्धान्त-चन्द्रिका' तथा 'सारकौमुदी' का पारायण किया था। वे अन्य व्याकरण-ग्रन्थो का तुलनात्मक ज्ञान भी रखते थे। उस समय के सस्कृत विद्वान् प्राय· दूसरों को भुलावे में डालने की प्रवृत्ति अधिक रखा करते थे, अत: अपने तुलनात्मक ज्ञान के आधार पर वे उन सव भ्रांतियों का निराकरण करने में समर्थ होते थे।

अनेक वार ऐसे पडितो से भी वातचीत करने का अवसर आ जाता था जो कि अनावश्यक ही वाद-विवाद की स्थिति पैदा करने में रस लिया करते थे। अनेक वार वैसी स्थितियों को टालते रहने पर भी कभी-कभी वैसा प्रसंग उपस्थित हो जाता था कि उन्हें न चाहते हुए भी एक व्याकरण से दूसरे व्याकरण की तुलना प्रस्तुत करनी पड जाती थी, जो कि विपक्ष के लिए कुछ कटु लगने वाली भी हो सकती थी। ऐसे प्रसगो पर वे इतनी स्पष्टता के साथ अपनी वात सामने रखते थे कि दूसरे व्यक्ति के लिए उसे मानने के अतिरिक्त कोई मार्ग ही शेष नहीं रह जाता था।

'तुच्छ' शब्द

एक वार सं० १९७५ में जव कालूगणी रतनगढ पधारे थे, तव वहाँ पडित हरिनन्दनजी आचार्यदेव के पास आये। वातचीत के सिलसिले में उनको सतो के सस्कृत-अध्ययन आदि से अवगत किया गया। जव उन्हें यह पूछा गया कि आपने मुख्य रूप से कौन से व्याकरण का परिशीलन किया है, तो वे थोडे से व्यगात्मक ढग से हँसे और कहने लगे कि व्याकरण तो ससार भर में एक ही है। भट्टोजी दीक्षित रचित 'सिद्धान्त-कौमुदी' से वढकर मैं कोई व्याकरण नहीं मानता। मैंने उसी का अध्ययन किया है। अगस्त्य ने जिस प्रकार तीन अजलियों से सारे समुद्र का पानी पी लिया था, उसी प्रकार तीन मुनियों द्वारा विरचित उस महाव्याकरण ने सभी शब्दों को अपने में समावेश कर लिया है। इसकी तुलना में दूसरे सव व्याकरण वाल-क्रीड़ा से वढकर कुछ नहीं हैं।

अन्य व्याकरणों पर उनका यह आक्षेप कालूगणी को ठीक नहीं लगा। उन्होंने उसका प्रतिवाद करते हुए फरमाया—"यद्यपि 'सिद्धान्त-कौमुदी' एक अच्छा व्याकरण है, फिर भी किसी व्याकरण के लिए यह दावा करना कठिन होता है कि उसमें सभी शब्दों की सिद्धि आ गई है। अगस्त्य के सिंधुपान के पश्चात् भी कुछ जल-बिन्दुओं का बच रहना कोई बड़ी बात नहीं है।"

पंडितजी इस बात से और भी अधिक अकड़े और कहने लगे—"कौमुदी का तो कौमुदी की तरह ही सर्वत्र अबाध संचार है। एक शब्द भी आपको ऐसा नहीं मिलेगा, जो कि उससे सिद्ध नहीं किया जा सकता हो।"

आचार्यदेव ने फिर फरमाया—"कौमुदी का सञ्चार सर्वत्र होते हुए भी कुछ तहखाने ऐसे होते हैं, जो उससे बिल्कुल अछूते ही रह जाते हैं। उसी प्रकार कुछ ऐसे शब्द भी हो सकते हैं, जो कि व्याकरण-विशेष की परिधि से बाहर रह जाते हैं।"

इस बार पण्डितजी कुछ उग्र हो गए और कहने लगे—"कोरी बातों का तो कोई मूल्य हो नहीं सकता। आप कोई एक भी तो ऐसा शब्द बतलाइये, जो कौमुदी से सिद्ध न होता हो।"

आचार्यदेव ने कहा—"मेरे कहने का उद्देश्य 'सिद्धान्त-कौमुदी' की अपूर्णता दिखलाने के लिए नहीं, किन्तु यह है कि प्रत्येक व्याकरण में अपनी कुछ विशेषताएँ तथा कुछ कमियाँ होनी सम्भव हैं। 'सिद्धान्त-कौमुदी' भी उसमें अपवाद नहीं हो सकती। व्याकरण में प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति मिलनी चाहिए, ऐसी आशा की जा सकती है, परन्तु व्याकरण-निर्माण से शब्द-प्रयोग थोड़ा आगे चलता है, अतः कुछ शब्द नये भी बन जाते हैं तथा कुछ शब्द प्रमादवश छूट भी जाते हैं।"

पण्डितजी ने फिर अपनी बात पर जोर देते हुए कहा—"अन्य व्याकरणों के लिए ऐसा कहा जा सकता है, परन्तु 'सिद्धान्त-कौमुदी' के लिए नहीं। मैं प्रत्येक शब्द की सिद्धि इस व्याकरण से करके दिखाने को उद्यत हूँ। यदि आप ऐसा कोई भी शब्द मेरे सामने नहीं रखते हैं तो मैं मानूँगा कि केवल यह बात योंही कह दी गई है, इसके पीछे ठोस आधार कुछ भी नहीं है।"

कालूगणी ने पण्डितजी के उस कथन से अनुभव किया कि अब बात ऐसी स्थिति में पहुँच गई है कि वैसा प्रमाण दिये बिना ये हमारे कथन को असत्य समझेंगे। उन्होंने फरमाया—"यद्यपि मैं ऐसा विवाद नहीं चाहता था, फिर भी यह अनायास ही हो गया है। मैं अपने कथन की पुष्टि के लिए इस समय केवल एक शब्द आपके सामने रखना चाहूँगा। वह शब्द है—'तुच्छ'। इसकी सिद्धि यदि आप 'सिद्धान्त-कौमुदी' के आधार से कर देंगे तो मैं समझूँगा कि मेरा विश्वास गलत था, अन्यथा आपको मेरे विश्वास की सत्यता माननी ही होगी।"

'सिद्धान्त-कौमुदी' की पुस्तक संयोगवशात् उस समय पण्डितजी के साथ ही थी। उन्होंने उस शब्द की सिद्धि के लिए उसे काफी टटोलकर देखा, पर उन्हें कोई सामग्री उपलब्ध नहीं

हुई। उन्होंने एक दिन का समय मांगा और कहा—"कल मैं यहीं आकर आपको उस शब्द की सिद्धि बतला जाऊँगा।"

आचार्यदेव को उसमें क्या आपत्ति हो सकती थी ? उन्होंने कहा—"आप अच्छी तरह से अन्वेषण कर लीजिये। समय के लिए कोई चिन्ता की बात नही है।"

आखिर काफी अन्वेषण करने के पश्चात् भी जब उन्हें 'सिद्धान्त-कौमुदी' में उस शब्द की सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकी, तब दूसरे दिन मध्याह्न में वे स्वय आये और उन्होने बडी नम्रतापूर्वक निवेदन किया—'तुच्छ' शब्द 'सिद्धान्त-कौमुदी' से सिद्ध नही हो पाया। मैं कल के अपने गर्वोक्तिपूर्ण विवाद के लिए क्षमा याचना करता हूँ।"

कालूगणी को उनकी क्षमा-याचना की कोई अपेक्षा नहीं थी। वह तो स्वय पण्डित हरिनन्दनजी की ही एक सहज सरलता के महत्त्वपूर्ण गुण की परिचायक मात्र थी। वे यदि उस स्वीकृति के लिए वापस न भी आते तो भी उन्हें अपनी बात के प्रति कोई आग्रह या आशका नहीं थी। उन्होंने जिस आत्मविश्वास के साथ पण्डितजी के सामने वह शब्द रखा था, उसके पीछे उनके अध्ययन-रत जीवन की लम्बी साधना कार्य कर रही थी।

इस प्रकार तेरापन्थ में संस्कृत के वट-वृक्ष का विस्तार उन्होंने अपना समस्त जीवन और श्रम लगाकर किया था। उन्होंने स्वय अपने परिश्रम के विन्दु उसकी जड में सींचे थे। यही कारण था कि उन्होंने एतद्विषयक सफलता का फल भी उतनी ही शीघ्रता से पाया था।

: ४ :

एक महान् आचार्य

मातृ-वात्सल्य-पूर्ण

कालूगणी तेरापन्थ को एक मातृ-वात्सल्य-पूर्ण आचार्य मिले थे। उनके व्यक्तित्व का निर्माण तेजस्विता और शीतलता के मिश्रण से हुआ था। वे शिष्य-वर्ग का निर्माण करने में बड़े निपुण थे। उनके प्रत्येक सरक्षण के साथ चोट और प्रत्येक चोट के साथ सरक्षण रहा करता था। घडा बनाने के लिए निपुण कुम्भकार यही तो करता है। माता की झिड़की और प्यार में एक ही तो रहस्य काम करता रहता है।

पहले पत्र पढ़िये

स० १९६६ भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को डालगणी दिवगत हुए थे, अत त्रयोदशी के प्रात जब पट्ट पर आसीन होने की बात उपस्थित हुई, तब डालगणी द्वारा लिखित युवाचार्य-नियुक्ति का पत्र खोलकर पढा गया। उसमें कालूगणी का नाम अकित था। वह पत्र जनता में पढकर सुनाया जाना था, अत· सब साधुओं सहित कालूगणी नीचे उपस्थित जन-समुदाय में पधारे। वहाँ पर पट्ट बिछा दिया गया। कालूगणी उसके पास जाकर खडे हो गये। साधुओं ने उन्हें उस पर बैठने के लिए निवेदन किया, किन्तु उनका सिद्धान्तवादी मन जनता में पत्र पढकर सुना देने से पूर्व पट्ट पर बैठने को उद्यत नहीं हुआ। उन्होंने मगनलालजी स्वामी से कहा—"आप पहले पत्र पढ़कर जनता को सुना दें, उसके पश्चात् मेरा पट्ट पर बैठना उचित रहेगा।"

साधु-वर्ग उसके विपरीत यह चाहता था कि वे पट्ट पर बैठ जाएँ, उसके पश्चात् जब जनता भी अपने-अपने स्थान पर बैठ जाए, तब पत्र सुनाया जाए, अन्यथा कोलाहल में किसी को कुछ सुनाई नही देगा।

कुछ क्षणों तक वह विवाद चलता रहा। आखिर मगनलालजी स्वामी ने, जो कि बाल्य-काल से ही कालूगणी के साथी रहे थे, हाथ पकड़कर बलपूर्वक उन्हें पट्ट पर बिठाते हुए कहा—"जब साधु-वर्ग ने पत्र पढ लिया है और उसमें आपके नाम का उल्लेख है, तब चाहे जनता को वह सुनाकर पट्ट पर बैठा जाये या पहले पट्ट पर बैठकर उसे सुनाया जाए, उसमें अन्तर क्या पड़ने वाला है ? बैठने से पहले हल्ला शान्त होने वाला नही है, अतः यह तो उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जा रहा है।"

कालूगणी सम्भवतः आगे कोई बात कहते या तर्क देते, पर मगनलालजी स्वामी ने उससे पूर्व ही उन्हें बलात् पट्ट पर बिठा दिया। उसके पश्चात् जनता को वह पत्र पढकर सुनाया गया।

व्यक्तित्व का निखार

भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा के दिन उनके पट्टारोहण का प्रथम उत्सव मनाया गया। उस दिन वे विधिपूर्वक आचार्यपद पर आसीन हुए। आचार्य बनने से पूर्व वे काफी कृशकाय तथा कृष्णवर्ण थे। किन्तु आचार्य बनने के पश्चात् शीघ्र ही उनके शारीरिक व्यक्तित्व में इतना बडा परिवर्तन आया कि मानो वे एकदम से ही परिवर्तित हो गये। गेहुआँ वर्ण, लबा कद, प्रशस्त ललाट और सैकडो व्यक्तियों में स्वय ही पृथक् दिखाई देने वाला उनका व्यक्तित्व द्रष्टाओं की आँखों को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया करता था।

प्रच्छन्नता से प्रकाश मे

युवाचार्य-पद पर रहने का उन्हें अवसर नही मिला था। यद्यपि डालगणी ने युवाचार्य-पद पर उनकी नियुक्ति प्रथम श्रावण की प्रतिपदा को ही कर दी थी, परन्तु उन्होंने उस पत्र को प्रकट नहीं किया था, अत. लगभग तीन महीने तक युवाचार्य होते हुए भी वे प्रच्छन्न ही रहे। सम्भवत' वह कार्य कालूगणी की प्रकृति के अनुरूप ही था। वे हर प्रकार से अपने को प्रच्छन्न रखना ही पसद किया करते थे। जब वे. आचार्य बने, तब उन्हें बहुत ही कम व्यक्ति जाना करते थे। उनका नाम सुनकर पहले-पहल तो बहुत से व्यक्तियों को आश्चर्य ही हुआ था। पर जब उनका व्यक्तित्व एक साथ ही निखर कर सबके सामने आया, तब सबको आश्चर्य-चकित रह जाना पडा।

प्रभावक आचार्य

कालूगणी तेरापन्थ के प्रभावक आचार्यों में से एक थे। उनके युग मे तेरापन्थ ने अपना प्रभाव-क्षेत्र काफी विस्तृत किया। वृद्धजन कहा करते थे कि एक बार जयाचार्य को स्वप्नावस्था में स्वय स्वामीजी दिखलाई दिये थे। उन्होंने उनको जो-जो बातें बतलाई थी, उनमें से एक यह थी कि आगे जो अष्टम आचार्य होगा, वह बडा प्रभावशाली होगा। उस बात में तथ्य कितना था, यह तो सर्वज्ञ ही जान सकते हैं, परन्तु वे एक प्रभावशाली आचार्य हुए थे, इसमें कोई सदेह नहीं।

अभूतपूर्व प्रगति

कालूगणी के युग में श्रमण-सघ, श्रावक-वर्ग, क्षेत्र, पुस्तक तथा कला आदि मे अभूतपूर्व प्रगति हुई। पहले किसी भी आचार्य के समय में साधुओ की सख्या अस्सी से ऊपर नही गई थी, परन्तु उनके युग में वह सख्या बहुत आगे बढकर एक सौ उनतालीस तक हो गई थी। श्रावक-वर्ग में भी उनके समय में अपेक्षाकृत अधिक जागृति हुई। उसमें आन्तरिक प्रेरणा से ही धर्म के प्रति श्रद्धा और अधिकाधिक दृढता का भाव उत्पन्न होना, वस्तुत उन जैसे आचार्यों का अतिशय ही कहा जा सकता है।

क्षेत्र-विस्तार

धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने अनेक कदम उठाये थे। पूर्वाचार्यों द्वारा निर्मित क्षेत्रों की सम्भाल करते रहकर उन्होंने दूरस्थ नवीन प्रदेशों में भी साधुओं को भेजा था। सं० १९८७ में उन्होंने घासीरामजी स्वामी को खानदेश की ओर भेजा, जो कि वहाँ से आगे बरार तथा दक्षिण हैदराबाद तक गये थे। सं० १९८९ में सूरजमलजी स्वामी को बम्बई तथा गुजरात में भेजा। सं० १९९० में चम्पालालजी स्वामी (मीठिया) को जब्बलपुर की ओर भेजा तथा सं० १९९२ में कानमलजी स्वामी को महाराष्ट्र में पूना की ओर भेजा। इस प्रकार साधुओं को जहाँ अनेक नये क्षेत्रों में जाने का अवसर प्राप्त हुआ, वहाँ स्थानीय जनता को धर्म-रहस्य समझने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

पुस्तक-भंडार

कालूगणी को पुस्तकों की अभिरुचि बहुत रहा करती थी। जहाँ कहीं भी पुस्तक-भंडार का पता लगता, वे प्रायः मगनलालजी स्वामी को वहाँ भेजते। उसका निरीक्षण करवाते। किस भंडार में कौन-सी विशिष्ट प्रति है, यह मगनलालजी स्वामी को विशेष रूप से ध्यान में रहता। भण्डार के स्वामी की भावना होती तो आवश्यक प्रतियाँ जाच ली जातीं। यही कारण था कि उनके समय में संघ का पुस्तक-भंडार बहुत समृद्ध हुआ।

स्वामी भीखणजी को जहाँ आगम-पुस्तकों के लिए बड़ा प्रयास करना पड़ता था, वहाँ कालूगणी के समय में वे सहजता से प्राप्त की जा सकती थीं। कहा जाता है कि स्वामीजी को भगवती-सूत्र की प्रति बहुत लम्बे समय की प्रतीक्षा और प्रयास-परम्परा के पश्चात् प्राप्त हुई थी और वह भी केवल एक ही, परन्तु कालूगणी के समय संघ में भगवती की छत्तीस प्रतियाँ प्राप्त थीं।

कला-विकास

कला के प्रति भी उनका बड़ा आकर्षण था। वे साधु-जनोचित उपकरणों में इसका विकास देखने को बड़े उत्सुक रहा करते थे। यही कारण था कि उनके समय में साधुओं के वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि उपकरणों में एक ऐसी सुरुचिपूर्णता का उद्भव हुआ, जो कि दर्शकों के लिए एक कला बन गया। हाथ से सिला हुआ वस्त्र, हाथ से रंगे हुए पात्र, नरेटी को घिसकर बनाई हुई टोपसी, सूत को गूंथ कर बनाई गई माला तथा कांटा निकालने के लिये निर्मित काठ की चीमटी तक में कला निखर उठी।

लिपि-सौक्ष्म्य

लिपिक्रिया में उस कला ने और भी अधिक चमत्कार पैदा कर दिया। अनेक संतों के सुन्दर अक्षर मोती का सा सौन्दर्य लिए पत्रों पर उतरने लगे। फलस्वरूप अनेक प्रतियों का जीर्णोद्धार हुआ और लिपिकला के कक्ष में अनेक ग्रंथ-रत्नों की वृद्धि हुई। कुन्दनमलजी स्वामी (जावद निवासी) ने अन्य लिपि-कर्ताओं से आगे बढ़कर सुन्दरता के साथ सूक्ष्मता का भी

योग कर दिया। उन्होंने एक पत्र में लगभग ढाई हजार श्लोक लिखकर सबको चकित कर दिया। समग्र उत्तराध्ययन सूत्र और समग्र व्यवहार-चूलिका उस एक लघुकाय पत्र के गर्भ में ही समा गई।

यह विकास एक दिन में नही हो गया था। लम्बे समय तक निरन्तर प्रगति का यह निष्कर्ष था। इसके लिए स्वय कालूगणी ने बहुत श्रम किया था। सब में लिपि-सौन्दर्य के प्रति भावना जगाने का कार्य तो उन्होने किया ही था, साथ ही लक्ष्य तक पहुँचने में मार्ग-दर्शन भी किया था। बाल साधुओं के अभ्यासार्थ उन्होने ऐसे सैकडो गत्ते तथा पाटियाँ लिखी थीं; जिन पर घूजते हुए हाथों से टेढे-मेढे अक्षर लिखते हुए साधुजन क्रमश लिपि-सौन्दर्य के उच्च शिखर तक पहुँचते थे।

न्यायवादी शासन

कालूगणी को एक न्यायवादी आचार्य कहा जा सकता है। वे सदैव न्याय के पक्ष को प्रबल रखा करते थे। अन्याय का प्रतिकार इतनी तीव्रता और कठोरता से करते कि दूसरी बार वैसी स्थिति पैदा करने का सहजतया किसी को साहस ही नही होता। उसमें वे छोटे या बडे, अपने या पराये का कोई भेद नहीं करते। उनके न्याय की यह एक विशेषता हुआ करती थी कि प्रायः दण्ड पाने वाला व्यक्ति भी स्वय अपने लिए उसे उपयुक्त ही माना करता था।

उन्होंने न्याय के प्रति सारे सघ में एक ऐसा विश्वास पैदा कर दिया था कि उससे सभी व्यक्तियों में एक अभयता तथा आत्मविश्वास पैदा हो गया। न्याय-पक्ष में रहने वाला कोई भी व्यक्ति शेष तक उस पर डटे रहने का साहस कर सकता था, क्योकि अत में विजय पाने में उसे कोई संदेह नहीं होता था। इसी प्रकार अन्याय-पक्ष वाला व्यक्ति शीघ्र ही अपने को सुधारने की तैयारी करता था, अन्यथा शेष में पराजित होने के अतिरिक्त उसके सामने कोई मार्ग नहीं रहता था।

सिफारिशों से अप्रभावित

जिस शासन में सिफारिशें चल सकती हों, वहाँ निर्भयता और निश्चिन्तता टिक नहीं सकती। वहाँ न्याय-पक्ष को सदैव डरते रहना पडता है, क्योंकि विरुद्ध-पक्ष की सबल सिफारिशें कहीं भी उसका अपमान करा सकती हैं। साथ ही अन्याय-पक्ष का दुस्साहस बढ जाता है। वह कैसा भी दुष्कार्य करके सिफारिशों के बलपर बच निकलता है। ऐसी स्थिति में चापलूसों की प्रबलता हो जाती है और स्वाभिमानी व्यक्तियों को प्रतिचरण कठिनाइयों का सामना करना पडता है। कोई भी व्यक्ति तब निर्भयता तथा आत्म-विश्वास के साथ अन्याय का सामना नहीं कर सकता। सारे सघ में एक प्रकार की आपाधापी और अस्थिरता व्याप्त हो जाती है। कालूगणी ने समस्त संघ को ऐसी स्थितियों से बडी प्रबलता के साथ बचाये रखा था। इसीलिए उनका शासन बड़ा ही लोक-प्रिय रहा। वे सिफारिशों से सर्वथा अप्रभावित रहकर न्याय किया करते थे।

माता की भी नहीं

उन्हें सिफारिश से बेहद घृणा थी। बहुधा वे सिफारिश करने वाले को झिड़क दिया करते थे। दूसरों की सिफारिश का तो उनपर प्रभाव होना ही क्या था, वे अपनी संसार-पक्षीया माता साध्वी छोगांजी को भी ऐसे अवसर पर टोक दिया करते थे।

एक बार बीदासर में छोगांजी ने किसी साध्वी के विषय में कोई सिफारिश की। कालूगणी ने तत्काल उनको टोकते हुए फरमाया—"आप अपने स्वाध्याय तथा माला की ओर ही ध्यान रखें। किसके विषय में मुझे क्या करना है, इसकी चिंता में न पड़ें। आपको अपनी व्यक्तिगत आवश्यकता के लिए कुछ कहना हो तो कह दें, दूसरों के लिए नहीं।"

उस दिन से छोगांजी ने तो फिर कभी ऐसे विषयों में न पड़ने का निर्णय किया ही, पर साथ ही सिफारिश करवाने वालों को भी पता लग गया कि जो व्यक्ति स्वयं अपनी माता की सिफारिश को भी पसंद नहीं करता, उसके पास किसी दूसरे से सिफारिश करवाना निरर्थक है।

स्वर्णिम काल

कालूगणी के उस न्यायवादी शासन से तेरापन्थ को अत्यंत सुस्थिरता और आन्तरिक सबलता प्राप्त हुई। उन्होंने संघ की उस सुस्थिरता तथा सबलता का उपयोग बड़े अच्छे ढंग से किया और संघ के सामूहिक आत्मविश्वास को बहुत ऊँचा उठा दिया, जो कि सामूहिक उन्नति के लिए बड़ा उपयोगी होता है। वस्तुतः उनका शासन-काल सभी दृष्टि-कोणों से एक स्वर्णिम काल कहा जा सकता है।

: ५ :

एक सामाजिक झगड़ा

झगडे की भूमिका

कालूगणी के युग में स० १९८३ में थली के ओसवाल-समाज में एक बहुत बडा सामाजिक झगडा खडा हो गया था। यद्यपि उसके मूल में सामाजिक भावना न होकर, पारस्परिक वैमनस्य की भावना ही प्रमुख थी, फिर भी उसका वाह्यरूप से सम्बन्ध मुर्शिदावाद के इद्रचन्दजी दूधेडिया तथा इन्द्रचन्दजी नाहटा की विलायत-यात्रा से जोडा गया था।

उन लोगों ने स० १९४४ में विलायत-यात्रा की थी। उस अपराध पर उस समय के ओसवाल-समाज ने उन लोगो को जाति-वहिष्कृत कर दिया था। वे लोग बिरादरी के समक्ष क्षमा-याचना करने तथा दण्ड लेने को उद्यत थे, फिर भी तत्कालीन कुछ प्रमुखों ने, जो कि उन लोगो से आंतरिक भाव में द्वेष रखते थे, वह कार्य नही होने दिया। फलस्वरूप वे तथा उनके साथी उन्नीस घर समाज से पृथक् रहने को वाध्य हुए।

उस समय विलायत जाने वालों के प्रति समाज में नाना प्रकार के सदेह थे। उनके खान-पान की पवित्रता तथा धर्मचारिता पर विश्वास नही किया जाता था, अत उनका साथ देने वाले व्यक्ति वहुत कम होते थे। किन्तु धीरे-धीरे उस स्थिति में परिवर्तन आने लगा। समय ने उन लोगो का साथ दिया। समाज के और भी अनेक व्यक्ति विलायत जाने लगे। यो अपने आप ही उनका पक्ष वढने लगा। साथ ही वे सव पढे-लिखे तथा सुसंपन्न भी थे, अत· अनेक व्यक्तियो तथा परिवारों को प्रभावित करते रहते थे। उन लोगो के मन में समाज द्वारा किये गये अपने अपमान पर वहुत क्षोभ था। वे अदर-ही-अदर अपने पक्ष को प्रवल वनाने में लगे हुए थे। फलस्वरूप समाज में गुटवदियाँ चलने लगीं और ओसवाल-समाज के प्रमुख रूप से दो धडे—पक्ष गिने जाने लगे। एक मुर्शिदावाद का और दूसरा मारवाड का। थली के ओसवाल मारवाड के धडे में नही थे। वे विलायत जाने का विरोध करने वाले मुर्शिदावाद के धड़े में सम्मिलित थे। दोनो धडो की पारस्परिक कटुता सतह पर तो उतनी दिखाई नही देती थी, किन्तु तल में काफी उग्ररूप में जीवित थी।

पुनर्जागरण

उस झगडे का पुनर्जागरण चूरू से हुआ। चूरू में उस समय कोठारी तथा सुराणा—ये दोनों परिवार काफी वडे थे। धन, परिजन तथा मान-सम्मान आदि सभी दृष्टियों से दोनों ही सुसम्पन्न तथा समकक्ष थे। उस समकक्षता के कारण ही दोनों में एक प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता तथा ईर्ष्या चला करती थी। उस ईर्ष्या के मूल में कुछ अपरिहार्य कारण भी थे। उनमें से एक मुख्य कारण यह था कि कोठारी-परिवार को सुराणा-परिवार के दवाव से एक बार किसी

बात पर सामाजिक रूप से दण्डित होना पड़ा था। वे उस अपमान का बदला लेने के लिए सदैव अवसर की ताक में रहा करते थे।

इसी अवसर पर सुराणा-परिवार के एक युवक शुभकरणजी का विवाह अजमेर के लोढा-परिवार की कन्या से निश्चित हुआ। यथासमय बरात अजमेर गई और विवाह आनन्द से सम्पन्न हो गया। वहाँ विजयसिंहजी दुधेड़िया ने, जो मुर्शिदाबाद के राजा कहे जाते थे, 'सामिवच्छल' किया। वे विलायत जाने वालों में से ही थे, अतः बरातियों में से कुछ तो उनके 'सामिवच्छल' में सम्मिलित हुए तथा कुछ नहीं हुए। बस वहीं से झगड़े का बीज-वपन हो गया।

बरात वापस चूरू पहुँची, उससे पहले ही वे जाति-विभेदक समाचार कोठारी-परिवार के पास पहुँच चुके थे। उन्होंने सुराणा-परिवार के विरुद्ध थली के प्रायः सभी स्थानों में हस्ताक्षर कराने प्रारम्भ कर दिये। जब सुराणा-परिवार के मुखिया वहाँ पहुँचे और उन्हें उस प्रवृत्ति का पता लगा, तो वे भी अपने पक्ष को प्रबल करने के लिए प्रत्येक ग्राम में पहुँच गये। दोनों ओर से अपने-अपने परिचितों तथा सम्बन्धियों पर दबाव डाला जाने लगा कि वे उनके ही पक्ष में हस्ताक्षर करें। कोठारियों का पक्ष 'श्री संघ' के नाम से तथा सुराणों का पक्ष 'विलायती' के नाम से पहचाना जाने लगा।

मान-मर्यादा का लोप

थली के प्रायः सभी ओसवाल श्री संघ और विलायती के उस कृत्रिम भेद में ऐसे फँसे कि अपनी मान-मर्यादा भी भुला बैठे। प्रायः हर ग्राम में एक दूसरे के विरुद्ध गंदे छापे निकाले जाने लगे। लड़के-लड़कियों के पूर्व-निश्चित सम्बन्ध तो टूटे ही, पर जिनके विवाह हो चुके थे उनमें भी जहाँ ससुराल और पीहर वाले एक पक्ष के नहीं थे, वहाँ जो लड़की ससुराल में थी वह पीहर आने से और जो पीहर में थी वह ससुराल जाने से वंचित हो गई।

वह एक ऐसा अनिगत समय आया था कि उनमें प्रायः सभी ने जातीय नियमों की तो मुक्त रूप से अवज्ञा की ही, पर नैतिक नियमों का भी किसी ने कोई मूल्य नहीं आंका। बड़े-बूढ़ों का सम्मान करने को अपना कर्त्तव्य समझने वाले युवक खुलकर उनका अपमान करने लगे। घर-घर की गुह्य बातें भरे बाजार में की जाने लगीं। प्रतिपक्ष की बहू-बेटियों पर विविध आरोप लगाये जाने लगे। इस प्रकार जहाँ पीढ़ियों से प्रेम चला आ रहा था, वहाँ वैर के अंकुर फूट आये।

उस झगड़े का सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि सामाजिक मान-मर्यादा का एक साथ ही लोप हो गया। पीढ़ियों से संचित जातीय-गौरव उस एक ही भूचाल में भूमिसात् हो गया, पर दोनों पक्षों में से किसी ने भी उधर ध्यान नहीं दिया। जो जाति अपने प्राचीन आदर्श तथा गौरव की अवहेलना करके चलती है और नवीन आदर्श तथा गौरव के संस्थापन को दबा देना चाहती है, वह प्रतिगामी बनकर अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारती है। ओसवाल-जाति

ने उस समय कुछ ऐसा ही कार्य किया। उसने अपने जातीयता के दायरे को विशाल बनाने की अपेक्षा और भी अधिक संकुचित बनाकर कोई बुद्धिमत्ता का परिचय नही दिया।

आचार्यदेव की तटस्थता

कालूगणी उस समय थली में ही विहार कर रहे थे। उन्होंने छूत के रोग की तरह फैलने वाले उस सामाजिक कलह को रोकने का प्रयास किया, परन्तु उस समय लोगो के मस्तिष्क में एक प्रकार की उन्मत्तता छाई हुई थी। वे किसी की बात सुनने को उद्यत नही थे। बुखार के चढते हुए वेग में औषधोपचार न कर उसके चढाव की पूर्णता या फिर उतार की प्रतीक्षा की जाती है, उसी प्रकार कालूगणी ने भी प्रतीक्षा करने का ही निर्णय किया। जब तक वैसा अनुकूल अवसर न आ जाए, तब तक के लिए उस विषय में तटस्थ रहकर मौन रहना ही उचित था।

अपनी उस तटस्थ-नीति की घोषणा करने के लिए उन्होने सब साधु-साध्वियो को बुलाया और फरमाया—"थली के हर क्षेत्र में श्रावक-समाज दो वर्गों में विभक्त हो गया है। प्रत्येक वर्ग में साधारण और असाधारण दोनो ही प्रकार के व्यक्ति हैं। दोनों ही पक्ष के प्राय: सभी व्यक्ति तेरापन्थी हैं। जो अत्यन्त धर्मपरायण रहे हैं, वे भी इस समय सामाजिक आवेश से अछूते नहीं हैं। साधारण जनता के आवेश की स्थिति भी वैसी ही भयंकर है। हमें दोनो ही पक्षों को परोटना है। कोई भी साधु-साध्वी इस सामाजिक कलह की बातो में न पड़े। किसी भी पक्ष का न समर्थन करे और न खडन। किसी भी पक्ष के द्वारा एक दूसरे के विपरीत में निकाले गये पत्रों को न पढे। हम लोगों को पूर्णरूप से तटस्थ रहकर उस समय की प्रतीक्षा करनी है, जिसमें कि इन लोगों का यह उन्माद उतार की ओर चलने लगे। उससे पहले यदि किसी भी पक्ष को कुछ कहा जायगा, तो ये लोग हमें भी किसी एक पक्ष के समर्थक होने की संदिग्ध-दृष्टि से देखने लगेंगे। ऐसा होने पर हम किसी भी पक्ष को नहीं सुधार सकेंगे।"

कालूगणी की उस तटस्थ-नीति ने दोनों ही पक्षो की धार्मिक भावना में दरार नही पड़ने दी। दोनों ही पक्ष के व्यक्ति समान रूप से सामायक, व्याख्यान आदि का लाभ लेते रहे। उन्होंने दोनों ही पक्षो को यह पूर्ण मनाही कर दी थी कि कोई भी व्यक्ति साधुओं के स्थान में उस झगडे संबधी कोई चर्चा को न छेडे। यही कारण था कि उन लोगो की लगाई हुई वह आग बाहर खूब तेज जलती रही, पर धर्म-स्थान के अंदर नहीं पहुँच पाई, वह पूर्व की ज्योंही एक शांति स्थल बना रहा।

धर्म-विभेद का प्रयास

उस सामाजिक झगडे में कुछ व्यक्ति तेरापन्थ से विद्वेष रखने के कारण उस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाने की बात सोचने लगे थे। वे उस झगडे का आधार लेकर धार्मिक क्षेत्र में भी दरार डाल देने के स्वप्न देखने लगे थे। उस कार्य में सरदारशहर के कुछ व्यक्ति प्रमुख रूप से भाग ले रहे थे। उनमें अधिकाश तो वे ही व्यक्ति थे, जो कि पीढियो से तेरापन्थ के प्रति

विद्वेष-भावना रखते आये थे। उनके पूर्वज छोगजी-चतुर्भुजजी के अनुयायी थे। छोगजी-चतुर्भुजजी जयाचार्य के समय में तेरापन्थ से पृथक् हो गये थे। यद्यपि बाद में उनका कोई शिष्य-प्रशिष्य नहीं रहा, फिर भी उनके वे श्रावक वंश-परंपरा से ही प्रायः तेरापन्थ के विरोधी बने रहे। वे लोग स्थानकवासी तो नहीं थे, परन्तु उस झगड़े की आड़ में तेरापन्थ को मिटा देने या कम से कम निर्बल बना देने की दृष्टि से उन्हें वहाँ लाना चाहते थे। चूरू के कुछ कोठारी भी उनकी उस भावना से सहमत थे।

आखिर उन लोगों ने स्थानकवासी पूज्य जवाहरलालजी महाराज को, जो कि उन दिनों बीकानेर तथा उसके आसपास के क्षेत्रों में विचरते थे, वहाँ बुला लाने का निर्णय किया और तदनुसार कुछ लोग एकत्रित होकर बीकानेर गये। उन लोगों ने उन्हें थली में आने की प्रार्थना की और वहाँ की सारी परिस्थिति से अवगत किया। प्रलोभन देने के तौर पर यह भी विश्वास दिलाया कि यदि आप इस समय उधर आयेंगे तो हम लोग तो स्थानकवासी बन ही जाएंगे, किन्तु हमारा सारा पक्ष भी स्थानकवासी बन जाएगा। इस प्रकार लगभग आधी थली तो अनायास ही आपकी हो जाएगी। उसके पश्चात् कुछ लोगों को हम अपने पक्ष में खींचने का प्रयास करेंगे, कुछ को आप समझाएंगे तथा कुछ तेरापन्थियों की मान्यता का खंडन होने से अपने आप आपकी ओर आ जाएंगे। यों धीरे-धीरे समस्त थली आपकी हो जाने का अवसर है। तेरापन्थ तो अब वहाँ एक बुझता हुआ दीपक है, थोड़ी-सी हवा लगने भर की देर समझनी चाहिए। जिस सरलता से थली उनके हाथ में आई थी, उससे भी अधिक सरलता से अब वह चली भी जाएगी।

उन लोगों की वह बात संभवतः उनके मन पर प्रभाव डालने वाली सिद्ध हुई। सारी थली का स्वप्न एक क्षण के लिए छोड़ भी दें, तो भी आधी थली का यों बातों-ही-बातों में भक्त बन जाना, कोई कम आकर्षण नहीं था। उन्होंने वातावरण के सभी पहलुओं पर सोच-विचार कर थली में आने का अपना निर्णय घोषित कर दिया। जो लोग उन्हें निमंत्रण देने के लिए गये थे, वे अपनी कूट-इच्छाओं की पूर्ति के सुनहले स्वप्न लेकर बड़ी प्रसन्नता के साथ वापस आये और अंदर-ही-अंदर अपनी तैयारी में लग गये।

स्थानकवासियों का आगमन

अपने पूर्व निश्चय के अनुसार सं० १९८४ में स्थानकवासी पूज्य जवाहरलालजी का थली के उन क्षेत्रों में आगमन हुआ। सामाजिक झगड़े के आधार पर धार्मिक भेद पैदा कर लाभ उठाने की वह एक बहुत गूढ़ चाल थी। उससे पूर्व एक बार सं० १९७२-७३ में उनके गुरु पूज्य श्रीलालजी भी उधर आये थे, उनका उद्देश्य अपने विचारों का वहाँ प्रचार करने का था। उस समय कालूगणी मेवाड़ की ओर पधारे हुए थे, अतः अपने लिए प्रचार का एक अच्छा अवसर समझकर ही वे वहाँ आये थे, परन्तु उन्हें वहाँ किसी प्रकार की सफलता प्राप्त नहीं हो सकी थी। लगभग बारह वर्ष के पश्चात् प्रचार के निमित्त उन लोगों का वह दूसरी बार उधर

आगमन हुआ था। इस बार आगमन का उद्देश्य केवल विचार-प्रसार का ही न होकर, संभवत परिस्थितियों का मुफ्त में लाभ उठा लेने का भी था।

उन लोगो का प्रथम आगमन तो पूर्णत विफल रहा। द्वितीय आगमन के प्रारभ काल में उन्हें अवश्य कुछ सफलता मिली थी। परन्तु उस सफलता को यदि इतने वर्षो के पश्चात् आज के प्रकाश में देखें, तो वह एक मरुमरीचिका-मात्र ही कही जा सकती है। आज उन क्षेत्रों में जो भी स्थानकवासी है, वे प्राय' उस समय भी तेरापन्थी नही थे। इतस्तत' जो तेरापन्थी उस सामाजिक आवेश में स्थानकवासी वन गये थे, वे उस आवेश की समाप्ति के साथ ही पुन सभल गये। उन लोगों को दोनो सम्प्रदायो के बाह्य और आंतरिक सगठन तथा आचार और विचार के सौक्ष्म्य की तुलना करने का जो अवसर मिल गया था, सभवत. वह उसी के निष्कर्ष का फल था।

उन लोगों का प्रथम आगमन सभवत' इसलिए असफल हो गया था कि उस समय वहाँ की जनता के मस्तिष्क में कोई आवेश नही था, अत' सोचने और निर्णय करने में वे अपनी जागरूक वुद्धि का ठीक और पूरा उपयोग कर सकते थे। दूसरी वार के आगमन पर सामाजिक आवेश भरपूर था, अत: कोई भी चिंतन निष्पक्ष न होकर उस आवेश से प्रभावित हो सकता था। पर फिर भी उनका वह आगमन सभवत इसलिए विफल हो गया था कि वे लोग वहाँ की जनता पर अपनी आचार-कुशलता, एकता और प्रामाणिकता की कोई विशिष्ट छाप नही छोड सके थे।

दो चातुर्मास

आचार्य जवाहरलालजी ने उस समय थली के उन क्षेत्रो मे दो चातुर्मास किये थे। प्रथम सरदारशहर में और द्वितीय चूरू में। दोनो ही स्थानो के कुछ प्रमुख व्यक्ति उनको लाने वालो में से थे, अत वहाँ तो प्रचार तथा प्रसार का विशेप प्रयास किया ही गया था। परन्तु अन्यत्र भी शेपकाल में विहार होता था, तव काफी प्रयास किया जाता था। कहा जाता है कि उस प्रचार में स्थानकवासियो की अपनी मान्यताओ की चर्चा से भी कही अधिक तेरापन्थ के खण्डन की चर्चा रहा करती थी। सभवत उन लोगों ने अपना लक्ष्य तेरापन्थ का खडन करने तथा उस पर ऐसे आक्षेप लगाने का ही वना लिया था कि जिसमे तेरापन्थ के प्रति जनता में वनी हुई सहज आस्था को मिटाया जा सके।

दूषित प्रचार

उन दिनो तेरापन्थ के प्रति घृणा फैलाने के लिए आये दिन कोई-न-कोई नई वात मौखिक रूप से प्रचारित होती रहती थी। 'हमारे पात्र मे पिल्ला डाल दिया गया,' 'पात्र मे पत्थर डाल दिये गये,' 'आहार-पानी देने का प्रत्याख्यान करा दिया गया' आदि वातें इसी समय की देन है। उन्ही वातो को वार-वार दुहराकर तथा अपने समाज के दूरवर्ती पत्रो में प्रकाशित कराकर ऐसा रूप दिया जाता था कि जिससे स्वय उनके समाजवालों के मन मे तो कम-से-कम

उनकी सत्यता का विश्वास जमाया जा सके। संभव है इस प्रकार के दूषित प्रचार में समाज के विभिन्न दलों में मानसिक दूरी बढ़ा देने का लक्ष्य रहा हो।

अप्रामाणिकता

उन लोगों के द्वारा उस समय कुछ ऐसी पुस्तकें भी प्रकाशित की गई, जिनमें कि तेरापन्थ के मंतव्यों का खण्डन करने का प्रयास किया गया था। किन्तु वह सब केवल खण्डन के लिए ही किया गया था, इसलिए सत्य स्थापना की दृष्टि स्पष्टत. सामने नहीं रह सकी। संभवत. यही कारण था कि 'सद्धर्म मंडन' में जो अप्रामाणिकता भूमिका मे प्रारम्भ हुई, वह शेष तक अनेक बार दुहराई गई। उसमें प्रमाण-स्वरूप उद्धृत ग्रंथों के स्थलों को अपने मनोनुकूल निष्कर्ष निकालने के लिए यथावश्यक काटा-छांटा गया।[1] ग्रन्थों में भी जब ऐसा किया गया था, तब मौखिक रूप में बरती जानेवाली अप्रामाणिकता के विषय में तो कहा ही क्या जा सकता है।

१—जयाचार्य विरचित 'भ्रमविध्वंसन' की भूमिका में कहा गया है कि 'वंगचूलिया' नामक ग्रंथ के कथनानुसार वीर निर्वाण १९९० वर्ष पश्चात् अर्थात् वि० सं० १५२० में संघ की जन्म-राशि पर ३३३ वर्ष की स्थितिवाला धूमकेतु नामक ग्रह लगा। वह संघ की पूजा-प्रतिष्ठा और उदय में बाधक था। वह जब निर्बल हुआ तब स्वामीजी ने वि० सं० १८१७ में तेरापन्थ की स्थापना तो कर दी, परन्तु संघ की वृद्धि तभी प्रारम्भ हुई जब कि वि० सं० १८५३ में वह पूर्णत उतर गया।

उपर्युक्त कथन का आधार 'वंगचूलिया' की ये गाथाएँ हैं :

मोक्खाओ वीर-पहुणो, दुसएहिं य एगनवइ अहिएहिं।
वरिसाइं संपइ निवो, जिण-पडिमा-ठावगो होही॥
ततो सोलसएहिं, नवनवइ पुणो जुएहिं वरिसेहिं।
ते दुट्ठा वाणियगा, अवमन्नइस्सति सुयमेयं॥
तम्मिगए अग्गिदत्ता! संघ-सुय-जम्मरासि-नक्खत्ते।
अट्ठतीसइमो दुट्ठो, लगिस्सइ धूमकेउ गहो॥
तस्स ठिइ तिन्नि सया, तेतीसा एग रासि वरिसाणं।
तम्मिय मीण पइट्ठे, संघस्स सुयस्स उदयोत्थि॥

अर्थात् वीरप्रभु के मोक्ष पधारने के २९१ वर्ष पश्चात् संप्रति नामक राजा होगा, जो कि जिन-प्रतिमाओं की स्थापना करेगा। उसके पश्चात् १६९९ वर्ष तक दुष्ट व्यक्ति धर्म की अवमानना करते रहेंगे। उसके पश्चात् संघ की जन्मराशि पर धूमकेतु ग्रह लगेगा। वह ३३३ वर्ष की स्थिति वाला होगा। वह जब उस राशि पर से हट जायेगा, तब संघ का पुनः उदय होगा। वंगचूलिया में कथित इन वर्षों का योग किया जाये तो फलित होता है कि वीर-निर्वाण के २३२३ वर्ष पश्चात् धूमकेतु उतर गया। वीर निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम संवत् चला था, अत २३२३ में से ४७० वर्ष निकाल देने पर १८५३ ही रहते हैं। इस प्रकार भ्रमविध्वसन का कथन पूर्णतः प्रमाणित होता है।

कालूगणी का आत्मविश्वास

सामाजिक क्षेत्र का झगडा जब धार्मिक क्षेत्र की ओर बढने लगा, तब अनेक संघ-हितैषी व्यक्तियों को कुछ चिंता होने लगी। सामाजिक तनाव के उस वातावरण में कुछ भी हो सकता था। जब कुछ व्यक्ति उधर झुकने लगे, तब तो वह और भी अधिक विचारणीय प्रश्न बनने लगा। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने सहयोगियों को खोना नही चाहता। साधु-साध्वियाँ भी उस विषय पर अपने-अपने ढंग से सोचते ही थे, परन्तु कालूगणी को उस विषय में कभी किसी प्रकार का क्षोभ नहीं हुआ।

जब कभी उस विषय की बात चलती, तब कालूगणी फरमाया करते—"इसकी चिन्ता क्यों करनी चाहिए कि अमुक व्यक्ति इधर आता है या उधर जाता है। अपनी सच्चाई पर ध्यान रक्खो, यदि वह ठीक है तो कोई कही जानेवाला नही है। कोई चला भी जाएगा तो कुछ दिन पश्चात् अपने आप ही वापस आ जाएगा। कोई नहीं भी आयेगा तो अपनी आत्मा के हित-अहित की वह स्वय सोचेगा, हम उसके पीछे कब तक चिन्तित होते फिरेंगे ?" प्रायः अनेक बार उन्होंने इसी आशय की बातें कही थी। सभवत यह उनके सुदृढ आत्म-विश्वास की ही अभिव्यक्ति थी।

साधु-साध्वियों को निर्देश

उस अस्थिर वातावरण में भी कालूगणी अविचल-भाव से अपनी निर्धारित शांति-नीति पर ही चलते रहे थे। वे नही चाहते थे कि वहाँ के वातावरण मे किसी भी प्रकार की अशांति हो। वे यथासभव सघर्ष को बचाना चाहते थे, अत उसी नीति के अनुसार एक दिन उन्होंने साधु-साध्वियों को बुलाया और कहा —"यह एक ऐसा अवसर है जिसमें बोलने से भी अधिक हमारा मौन काम करेगा, विरोधी लोग जनता में तरह-तरह की अफवाहें फैलाने का प्रयास कर रहे हैं। वे पारस्परिक कलह को और अधिक बढाने में लगे हैं। साधु-साध्वियों से झगडा करने

स्थानकवासी पूज्य जवाहरलालजी द्वारा विरचित 'सद्धर्म मंडन' की भूमिका (पृष्ठ ११) में उपर्युक्त कथन का खडन करने के लिए अप्रामाणिकता बरती गई है। वहाँ बंगचूलिया की प्रथम गाथा जिसमें कि वीर-निर्वाण के २९१ वर्ष पश्चात् संप्रति राजा के होने का उल्लेख है, छोड़ दी गई है और शेष वर्षों का मिलान करते हुए कहा गया है—"यहाँ वीर-निर्वाण से १६९९ पर ३३३ वर्ष के लिए धूमकेतु का लगना बतलाया है और विक्रम सं० १२२९ में वीर-निर्वाण काल १६९९ वर्ष का होता है। इसका हिसाब इस प्रकार लगाइये,—वीर-निर्वाण के अनन्तर ४७० वर्ष तक नन्दीवाहन का शक चलता रहा, उसके पश्चात् विक्रम संवत् आरभ हुआ। इसलिए विक्रम सं० १२२९ में ४७० वर्ष मिला देने से १६९९ वर्ष होते हैं। यही बंगचूलिया के हिसाब से धूमकेतु ग्रह के प्रवेश का समय है। वह धूमकेतु ३३३ वर्ष तक रहा, इसलिए विक्रम सं० १२२९ में ३३३ जोड़ देने से १५६२ वर्ष होता है। इसी विक्रम सं० १५६२ में धूमकेतु ग्रह उतरा। अतः 'भ्रम विध्वसन' की भूमिका में वि० सं० १८५३ में धमकेतु के उतरने का समय बतलाना मिथ्या समझना चाहिए।

की भी उनकी चेष्टा हो सकती है। ये सब कार्य वे इसलिए करेंगे कि जनता में अधिक क्षोभ और अधिक आतंक फैले। क्षोभ के वातावरण में दोनों पक्ष अधिक जोर से लड़ेंगे तो उन्हें बीच में घुसने के लिए सुगमता से मार्ग मिल जाएगा। घर की फूट जितनी तीव्र होती है, तीसरे व्यक्ति को बीच में पड़ने का उतना ही अच्छा अवसर मिलता है। कम-से-कम हम लोगों को उनके इस उद्देश्य को अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए और यथासंभव किसी भी प्रकार की उत्तेजना का हेतु बनने से बचना चाहिए।"

कालूगणी ने साधु-साध्वियों को आज्ञा देते हुए कहा—"यदि कोई विरोधी व्यक्ति मार्ग में मिल जाये, तो अपनी ओर से तुम्हें न कुछ उसे पूछने की आवश्यकता है और न कुछ उसके पूछने पर उत्तर देने की। वे लोग जो कुछ आरोप लगा रहे हैं और अफवाहें फैला रहे हैं, उन सबका निराकरण सामूहिक रूप से जनता के सामने ही किया जाना उचित रहेगा। व्यक्तिगत रूप से अकेले में कहे गये शब्दों का रूपान्तर होने में देर नहीं लगती, झगड़े के दिनों में तो ऐसा प्राय: हो ही जाता है। हमें ऐसा नहीं होने देना है।"

आचार्यदेव की वह आज्ञा सामयिक तो थी ही, पर साथ ही दूरदर्शितापूर्ण भी थी। संभावित कलह से बचने के लिए वह आज्ञा भगवान् महावीर की उस आज्ञा का स्मरण दिला देती है, जो कि गोशालक के साथ बोलने, चर्चा करने तथा उत्तर-प्रत्युत्तर करने की वर्जना के रूप में उन्होंने अपने श्रमण संघ को दी थी।[1]

चूरू में तनाव

चूरू उस समय सामाजिक झगड़े का केन्द्र तो था ही, पर साथ ही वह धार्मिक विभेद का केन्द्र बन जाने की ओर भी झुकने लगा था। वहाँ के कुछ मुखिया व्यक्ति चाहते थे कि सामाजिक झगड़े में जो व्यक्ति उनके पक्ष में हैं, वे अपना धार्मिक पक्ष भी बदल लें और विरोधी पक्ष से हर प्रकार से पृथक् हो जाएँ। उनकी वह इच्छा सहज रूप से पूरी होने वाली नहीं थी। अधिकांश व्यक्तियों ने वैसा करने से इनकार कर दिया था। उस स्थिति से निराश होकर ही संभवत: उन लोगों ने सोचा था कि यदि धार्मिक पक्ष में भी कोई तनाव उत्पन्न किया जा सके तो अपने मनोनुकूल बात बन सकती है।

वहाँ चातुर्मास प्राय: सुराणा-परिवार के एक मकान में हुआ करता था। दूसरे पक्ष के प्रमुखों ने उसी बात को लेकर अपने पक्ष के व्यक्तियों को उभाड़ना प्रारम्भ किया और उस वर्ष का चातुर्मास अपने वहाँ करवाने पर जोर डाला। वे अपने उस कदम में दोनों ओर लाभ देखते थे। यदि चातुर्मास उनके वहाँ होता है तो उसमें विरोधी-पक्ष को चिढ़ाने तथा नीचा दिखाने का अवसर मिलता है और यदि नहीं होता है तो अपने पक्ष के व्यक्तियों को उभाड़ कर उधर जाने से रोकने और फिर अपने इष्ट पक्ष की ओर लगाने में सहायता मिलती है।

१—भगवती: शतक १५

दोनों ओर का दबाव

इसी प्रकार की कुछ अंतरंग भावनाओं के साथ उन लोगों ने अपने वहाँ चातुर्मास करवाने की प्रार्थना आरंभ की। वह प्रार्थना क्या थी, एक प्रकार की चुनौती ही थी कि या तो हमारे वहाँ चातुर्मास करवाओ, अन्यथा हम अपना कोई दूसरा मार्ग देखेंगे। यद्यपि उनकी प्रार्थना के शब्दों में यह चुनौती नहीं थी, किन्तु उसके प्रकार और भाव में वह भरी हुई थी, जो कि स्पष्ट पढ़ी जा सकती थी। यदि उन लोगों ने चातुर्मास की वह प्रार्थना सामाजिक झगडा प्रारम होने से पहले कभी की होती, तो उसे स्वीकार कर लेना बिल्कुल सहज और सभव था, परन्तु उस समय तो सारी स्थिति ही दूसरी थी।

उधर सुराणा-परिवार को जब उनकी प्रार्थना का पता चला, तो वे भी यह प्रार्थना करने लगे कि जब प्रतिवर्ष हमारे वही चातुर्मास होते हैं, तो फिर इस वर्ष के लिये उनके कथन पर उधर कराने का अर्थ हमारे पक्ष वाले तो यही निकालेंगे कि कोठारियों ने हम लोगों को नीचा दिखा दिया। इतने वर्षों में कभी उन्होंने चातुर्मास के लिए अपने स्थान की प्रार्थना नहीं की। इस वर्ष प्रार्थना करने का तात्पर्य तो स्पष्ट ही हम लोगों के बाधा देने और यह प्रचार करने का है कि हमने सुराणों की बात नीची कर दी। इस प्रकार दोनों ही पक्ष अपनी-अपनी ओर चातुर्मास करवाने के लिए दबाव डालने लगे।

तटस्थता की उलझन

तटस्थ रहने वाले व्यक्ति के सामने कभी-कभी ऐसी उलझनें आ जाती है कि उनको सुलझाना सहज नहीं होता। जो व्यक्ति किसी भी एक पक्ष में होता है, उसे अधिक चिंता की बात नहीं होती, क्योंकि उसके सोचने का दृष्टिकोण अपने एक पूर्व निश्चित साचे में ढला हुआ होता है, परन्तु तटस्थ व्यक्ति को तो सभी परिस्थितियों से समझौता करते हुए, सभी पक्षों से बचते हुए, किसी भी पक्ष के सतोष तथा असन्तोष की मात्रा का सतुलन रखते हुए और सब से अधिक कठिन शर्त यह है कि न्याय को बलि होने से बचाते हुए अपना निर्णय करना पडता है। इसीलिए सक्रिय तटस्थता को निभाना, किसी एक पक्ष में बधकर चलने से कहीं अधिक दुष्कर कार्य है।

कोठारी-पक्ष की प्रार्थना स्वीकार कर लेने का अर्थ होता, सुराणा-पक्ष का अपमान। कोठारी जब उनके वहाँ सतो का रहना सहन नहीं कर सकते थे, तो कोठारियो के वहाँ रहना सुराणा भी कैसे सहन कर सकते थे। उधर चले जाने का एक अर्थ उस पक्ष का समर्थन करना भी लगाया जा सकता था, जब कि इधर रहने से वैसा नही किया जा सकता था, क्योंकि वहाँ रहने का क्रम तो अनेक वर्षों पूर्व से ही चालू था।

दोनों पक्षों की सारी बातों पर आचार्यदेव ने चिंतन किया और दोनों को उस विषय में समझौते से काम लेने को कहा। परंतु पूरा चातुर्मास प्राप्त करने से कम में वे सतुष्ट नही थे और

पूरा चातुर्मास देने का कोई औचित्य आचार्यदेव के ध्यान में नहीं जच रहा था। फलस्वरूप संतों को एक बार के लिए मूल स्थान पर ही जाने को कहा गया, आगे की बात आगे के चिंतन पर छोड दी गई। सत आचार्यदेव की आज्ञानुसार पहले-पहल मूल स्थान पर ही ठहरने के लिए गये।

दूसरी ओर झुकाव

झगडा न कभी तर्क-सगतता का अभ्यस्त रहा है और न औचित्य-अनौचित्य के सम्यक् विवेचन का। वह तो एक ही बात जानता और सोचता है कि हमारे पक्ष का तात्कालिक सम्मान और हित किसमें है ? इसलिए कोठारी-पक्ष के प्रमुखों ने उस बात को अपना बहुत वडा अपमान समझा। उन लोगों ने उस तनावपूर्ण वातावरण में अपने पक्ष के लोगों को यह समझाने का प्रयास किया कि यह अपने सारे पक्ष का ही अपमान है। उन्होंने यह भी समझाना चाहा कि यदि ये लोग अपने यहाँ चातुर्मास नहीं करते है, तो हमें और किसी का चातुर्मास करवाना चाहिए। उन लोगो की उस भावना में उनके सारे पक्ष की सहमति तो होती ही क्या, सारे कोठारी भी उससे सहमत नही थे, फिर भी उन्होने सोचा कि जब तनाव और अधिक बढ़ेगा, तब ये लोग स्वय ही अपने पक्ष का समर्थन करने लगेंगे।

महान् परिणाम की आशा

उन लोगों ने सरदारशहर तार दिया और स्थानकवासी पूज्य जवाहरलालजी को प्रार्थना करवाई कि युवाचार्य गणेशीलालजी को तत्काल चूरू चातुर्मास के लिए भेजा जाए। यद्यपि उस समय वे सब सरदारशहर चातुर्मास करने के लिए पहुँचे हुए थे। चातुर्मास प्रारभ होने में थोडे ही दिन अवशिष्ट रहे थे, परन्तु वह एक विशेष अवसर था, उससे महान् परिणाम निकलने की आशा थी, ऐसे अवसर को खो देना तो अनायास ही होने वाले लाभ को खो देना था, अतः उन्होंने सोच-विचार के पश्चात् उनकी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और युवाचार्य गणेशीलालजी को चातुर्मास करने के लिए चूरू भेज दिया।

वही ढाक के तीन पात

जिस महान् परिणाम की आशा से उन लोगों ने वहाँ वह चातुर्मास करवाया था, उसका वैसा कोई परिणाम हाथ नही लगा। न तो उनके पक्षवाले ही विशेषत उधर झुके और न सारे कोठारी ही। उस सारे झंझट और उखाड़-पछाड का आखिर वही ढाक के तीन पात वाला परिणाम रहा।

धार्मिक चर्चाओं की लहर

स्थानकवासियो के आगमन से थली के प्राय सभी नगरो में धार्मिक चर्चाओं की एक लहर-सी दौड़ गई। वहाँ के प्रत्येक नगर में तेरापन्थियों के काफी घर हैं। प्रतिवर्ष वहाँ साधु-

साध्वियों का विहरण हुआ करता है। उस वर्ष भी कालूगणी ने प्रायः प्रत्येक ग्राम में साधु-साध्वियों को भेजा। स्थानकवासी साधु भी वहाँ के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में गये। उन्होंने वहाँ तेरापन्थ के विरुद्ध नाना प्रकार का प्रचार करके लोगों को भ्रांत करने का प्रयत्न किया। साधु-साध्वियाँ जब वहाँ जातीं, तब वे सब पूर्व प्रचारित बातें जिज्ञासा लेकर उभरती। हर प्रश्न को आगमानुसार समाहित किया जाता और साथ ही अपने मन्तव्यों का जनता को ज्ञान कराया जाता। उन लोगों ने जैनेतर जनता में भी तेरापन्थ के विरुद्ध भावना भरने का काफी प्रयास किया, अतः उन लोगो पर भी विशेष ध्यान दिया गया।

अनेक शास्त्रार्थ

धार्मिक चर्चाओं की उस लहर ने अनेक स्थानों में शास्त्रार्थ का रूप भी धारण किया। यद्यपि शास्त्रार्थ बहुधा धार्मिक प्रश्नो के समाधान का उतना कारण नहीं बनता, जितना कि पारस्परिक विवाद की वृद्धि का बनता है, फिर भी वह जिज्ञासुओं के लिए इतनी सामग्री उपस्थित कर देता है कि वे उस वाद-विवाद से दूर रहकर स्वतन्त्ररूप से भी निष्कर्ष निकाल सकते हैं। उस समय अनेक बार उन लोगों ने तेरापन्थ को शास्त्रार्थ के लिए आह्वान किया था। तेरापन्थ के मुनिजनों ने भी उन आह्वानों को उसी तत्परता से स्वीकार कर जनता को दोनो पक्षों पर विचार करने का अवसर दिया था।

शास्त्रार्थ के उस कार्य में मुनिश्री हेमराजजी आदि अनेक सन्तो की दक्षता ने उन लोगों के साहस को इतना अस्तव्यस्त कर दिया कि वे उनके नाम से भी घबराने लगे। श्रावक-वर्ग में भी अनेक व्यक्ति शास्त्रार्थ में अच्छे निपुण थे। उनमें वृद्धिचन्दजी गोठी तथा नेमिनाथजी सिद्ध आदि के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। उन्होंने अनेक बार उन लोगों के साथ चर्चाएँ की थीं।

व्याख्यान में शास्त्रार्थ

एक बार स्वयं कालूगणी के साथ भी उन लोगों का शास्त्रार्थ हुआ। कालूगणी उन दिनों चूरू में विराजमान थे। स्थानकवासी भी वहीं आये हुए थे। उनके भावी आचार्य गणेशीलालजी महाराज एक दिन पूर्व सूचना के बिना ही कुछ सन्तो सहित आचार्यदेव के पास आ गये। आचार्यदेव उस समय व्याख्यान में विराजमान थे। परिषद् में काफी मनुष्य उपस्थित थे। उनके आगमन पर व्याख्यान का चालू प्रसग स्थगित कर दिया गया और वह व्याख्यान-सभा एक रूप से शास्त्रार्थ-सभा में बदल गई।

वे लोग साधु-साध्वियों की पारस्परिक सांभोगिकता-असांभोगिकता के विषय पर चर्चा करने आये थे, अतः वही विषय छेड़ा गया। लगभग पौने दो घण्टे तक प्रश्नोत्तर चलते रहे। आगमिक आधार पर जब कालूगणी ने उनकी सांभोगिकता को सिद्ध किया, तब स्वयं उनके ही साथ आये हुए पंडित ने उन्हें टोकते हुए कहा—"गणेशीलालजी महाराज! इसमें तो

आचार्यजी कहते हैं वही ठीक है।" जब उनके पास अपने ही पंडित को समझाने का चारा नहीं रह गया, तब वे निरुत्तर होकर वापस लौट गये। सुना है कि पूज्य जवाहरलालजी ने उस चर्चा के विषय में वहाँ अनेक बार खेद प्रकट करते हुए कहा था कि गणेशीलाल आखिर बालक ही तो था, वह अपने पक्ष को ठीक ढंग से नहीं रख सका आदि।

प्रत्यावर्त्तन

स्थानकवासी जब थली में उधर आये थे, तब वहाँ के समाज में बड़े जोर की उथल-पुथल मची हुई थी। इसीलिए वे लोग बड़ी-बड़ी आशाओं और कल्पनाओं से भरे-पूरे आये थे, किन्तु वर्षों तक वहाँ विहार करने के पश्चात् भी जब कोई आशा और कल्पना फलीभूत नहीं हो सकी, तब प्रत्यावर्त्तन ही उनके सामने एक मात्र प्रशस्त मार्ग रह गया था। आगमन का जोश प्रत्यागमन की खामोशी में बदल गया। उर्दू का यह शेर कितनी गम्भीर भावाभिव्यक्ति के साथ कहता है :

बहुत शोर सुनते थे पहलू में दिल का।
जब चीर कर देखा तो कतराए खून निकला॥

उपशांति की ओर

सामाजिक झगड़े का जोश धीरे-धीरे मन्द पड़ने लगा। होली के दिनों में जिस प्रकार कुछ लोग अपनी शिष्टता और शालीनता को ताक पर रखकर निश्चिन्त हो जाते हैं और खुल कर बकते-झकते हैं, उसी प्रकार ओसवाल-समाज ने भी झगड़े के उन दिनों में अपने पूर्वार्जित गौरव और प्रभाव को ताक पर रखकर एक दूसरे पर कीचड़ उछालने में कमी नहीं रखी। आखिर कभी-न-कभी तो थकते ही। जब वे थके और पेट याद आया, तब सब अपने-अपने काम की ओर दौड़ने लगे। झगड़ा अपने आप उनके दिमाग से विस्मृत होने लगा।

उसमें एक दूसरा कारण यह भी था कि कुछ व्यक्तियों की आंतरिक प्रेरणा ने उस झगड़े की मूल भूमिका को ही उखाड़ फेंका था। उनके प्रयास से मुर्शिदाबाद के उन उन्नीस परिवारों को फिर से समाज में ले लिया गया था, जो कि विलायत जाने के कारण मुर्शिदाबाद के ओसवाल-समाज द्वारा बहिष्कृत किये गये थे। उनको सम्मिलित करने से उस झगड़े की रीढ़ ही टूट गई। यों वह झगड़ा तो एक प्रकार से समाप्त हो गया, परन्तु उस समय जो पारस्परिक कटुता पैदा हो गई थी, वह इतनी शीघ्र मिटने वाली नहीं थी। उसमें क्रमशः कमी अवश्य आने लगी थी।

पागल कुत्ते के काट खाने पर प्रायः वर्षाकाल में तथा गाजबीज के समय उसकी भड़क उठा करती है। उसी प्रकार वह झगड़ा या मानसिक द्वेष बाद में एक ऐसे रोग के रूप में रह गया था कि जिसकी भड़क प्रायः विवाह तथा जीमनवार आदि में फिर-फिर जीवित हो उठा करती थी। धीरे-धीरे वे सारी स्थितियाँ भी ठीक होती गईं। द्वेष-भाव भी अनजाने ही क्षीण होता गया।

बीच में कई बार उसे विधिवत् समाप्त कर देने का प्रयास किया गया, परन्तु ज्योंही समझौते की कोई बात चलती, त्योंहीं फिर से गड़े मुर्दे उखड़ने प्रारम्भ होते और अपनी-अपनी शान पर अकड़ने की मनोवृत्ति काम करने लगती। तब अन्ततः यही मार्ग उचित समझा गया कि इसे अपने समय-परिपाक के साथ ही समाप्त होने के लिए छोड़ दिया जाए। वैसा ही किया गया। तब वह स्वयं ही उपशांत होता चला गया।

सोलह वर्ष पश्चात्

झगड़े में प्रमुख रूप से भाग लेने वाले नेता जब एक-एक कर प्रायः दिवगत हो गये, तब अगली पीढ़ी के मन पर उसकी कटुता और भी क्षीण हो गई। आचार्यश्री द्वारा समय-समय पर समाज का ध्यान उस झगड़े से उत्पन्न दुष्परिणामों की ओर खींचा गया। अनेक प्रयासों के पश्चात् अन्ततः उसे विधिवत् समाप्त करने का वातावरण बना। उसका श्रेय आचार्यश्री तुलसी को प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने चूरू चातुर्मास में उस विषय पर काफी परिश्रम किया और दोनों ही पक्षों को 'खमत खामणा' करने के लिए तैयार कर लिया। दोनों ही पक्ष के व्यक्तियों का उस कार्य को सम्पन्न करने में अच्छा सहयोग भी रहा। सं० १९९९ आश्विन शुक्ला त्रयोदशी को प्रभातकालीन व्याख्यान के समय दोनों पक्षों में परस्पर 'खमत खामणा' हो गया। हजारों व्यक्ति उस समय वहाँ एकत्रित थे। आचार्यश्री के सान्निध्य में सोलह वर्ष का वह प्राचीन जातीय संघर्ष इस प्रकार विधिवत् समाप्त कर दिया गया।

: ६ :

विहार-चर्या

१—बीकानेर-पदार्पण

छत्तीस वर्ष से

कालूगणी का विहार-क्षेत्र अधिक बड़ा नहीं था, फिर भी उनकी सतत विहार-चर्या से तेरापन्थ के प्रमुख प्रदेश पवित्र हो चुके थे। उनमें कुछ क्षेत्र तो ऐसे भी थे, जो निकट होते हुए भी एक लम्बे समय से आचार्यों के चरणस्पर्श से वंचित थे। ऐसे क्षेत्रों में बीकानेर, भीनासर आदि के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं। वहाँ आचार्यों का पदार्पण कम-ही हो पाया था। बीकानेर में कालूगणी से पूर्व सं० १९४४ में मघवागणी ने मर्यादा-महोत्सव किया था। उसके छत्तीस वर्ष पश्चात् कालूगणी ने ही उधर पधारने का निश्चय किया था।

शेष काल में

सं० १९७० में बीदासर-चातुर्मास करने के पश्चात् वे देशनोक होते हुए बीकानेर पधारे थे। वहाँ भीनासर, गंगाशहर और बीकानेर—ये तीनों ही क्षेत्र परस्पर सटे हुए-से हैं। गंगाशहर में तेरापन्थी अधिक है, बीकानेर और भीनासर में अपेक्षाकृत कम है। वहाँ की भक्ति-परायण जनता ने कालूगणी के दर्शन कर अपने आपको कृतकृत्य माना।

उस यात्रा से वहाँ के तेरापन्थियों में उत्साह बढ़ा। अन्य व्यक्तियों ने उस उत्साह को अपने लिए सावधानी की घण्टी समझा। वे सावधान हुए और कालूगणी के उस आगमन को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। कुछ-कुछ विरोध भी करने लगे। परन्तु बहुत वर्षों से वह आगमन हुआ था, अतः विरोध से अधिक आश्चर्य का भाव ही उन लोगों के मन में कार्य कर रहा था। बीदायत में विचरते-विचरते अचानक बीकायत[1] में आ जाने का उद्देश्य उन लोगों को संदिग्ध बनाये हुए था।

कालूगणी अपनी उस प्रथम यात्रा में वहाँ अधिक नहीं विराजे। शेष काल का समय था, कई क्षेत्र थे। यथावसर सभी को थोड़े-थोड़े दिन देकर तृप्त कर दिया और फिर बीदायत में पधार गये। साधारण विरोध के अतिरिक्त उनकी वह यात्रा काफी अच्छी रही।

१—बीकोजी और बीदोजी राठौर वंशी राजपूत थे। दोनों सगे भाई थे। बड़े भाई ने बीकानेर और छोटे भाई ने बीदासर बसाया। उसी आधार पर बीकानेर के आस-पास का क्षेत्र बीकायत और बीदासर के आस-पास का क्षेत्र बीदायत कहलाता रहा है।

चातुर्मास के लिए

सं० १९७९ में कालूगणी ने दूसरी बार बीकानेर पधारने का निश्चय किया। प्रथम बार के पदार्पण ने वहाँ की जनता की आकांक्षाओं को जगा दिया था और यह विश्वास भर दिया था कि अन्य क्षेत्रों के समान यहाँ भी आचार्यदेव का पदार्पण सहज ही हो सकता है। उन लोगों ने बीदासर में आकर कालूगणी के दर्शन किये और अपनी मांग प्रस्तुत की। अब वे केवल शेषकाल के कुछ दिनों से सतुष्ट होने वाले नही थे। उनकी मांग थी कि इस बार उधर चातुर्मास किया जाए।

कालूगणी ने उनकी प्रार्थना को सुना तो बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उन लोगों की मांग को आदर दिया। यद्यपि उसे स्पष्ट रूप से स्वीकार तो नही किया, परन्तु कुछ ऐसे आसार अवश्य पैदा कर दिये कि जिनसे वे अपने वहां चातुर्मास होना निश्चित रूप से समझ सकें।

विरोधियों की शिरोर्ति

विरोधी लोगों को जब कालूगणी के उधर आगमन के निश्चय का पता लगा, तब उनमें एक प्रकार की खलबली-सी मच गई। वे इस बात से और भी क्षुब्ध थे कि पिछली बार तो शेष काल में कुछ दिन ठहर कर ही चले गये थे, पर इस बार वे चार महीने तक ठहरने का निश्चय करके आ रहे थे। उनके लिए एक दूसरी बात भी कम चिंता का विषय नहीं थी, क्योंकि पिछली बार छब्बीस वर्ष के पश्चात् आये थे, जब कि इस बार नौ वर्ष के पश्चात् ही आ रहे थे। उन लोगों को यह स्पष्ट लगने लगा कि ये लोग धीरे-धीरे इन क्षेत्रों को भी बीदायत के समान अपना सुस्थिर विहार-क्षेत्र बना लेंगे। इसीलिए आचार्यदेव का उधर आगमन उनके लिए एक असह्य शिरोर्ति के समान बन गया था। इस बार उन सब ने मिलकर तेरापन्थ का प्रतिकार करने का निश्चय किया।

कालूगणी डूंगरगढ होते हुए उधर पधारे। पहले-पहल गंगाशहर में विराजना हुआ। विरोधी लोग वहाँ तक तो शांत ही रहे, क्योंकि वहाँ उनका कोई जोर नहीं था। परन्तु ज्योंही उनका पदार्पण भीनासर में हुआ, त्योंही उन लोगों ने अपनी हलचलें प्रारभ कर दी। भीनासर निवासी कनीरामजी बांठिया आदि कुछ व्यक्ति उस विरोध-कार्य में विशेष रूप से रुचि ले रहे थे।

शान्ति की नीति

कालूगणी ने उन लोगों की भावनाओं को स्पष्ट रूप से जान लिया था कि इस बार ये भरपूर विरोध करेंगे। वे एक सन्त-पुरुष थे, अतः उनके पास पत्थर का उत्तर ईंट से देने का सिद्धान्त न होकर **'उवसमेण हणे कोहं'** का सिद्धान्त था। इसी के अनुसार वे उन लोगों के क्रोध को अपने उपशान्त-भाव से जीतने की ही तैयारी करने लगे।

जब वे चातुर्मास करने के लिए बीकानेर पधारे, तब उन्होंने सब साधु-साध्वियों को अपने पास बुलाया और फरमाया—"यहाँ कुछ व्यक्तियों के मन में बड़ी तीव्र द्वेष-भावना है, इस वर्ष हम लोगों को अपने क्षमा-धर्म की एक प्रकार से परीक्षा ही देनी होगी। विरोधी-से-विरोधी वातावरण में भी उत्तेजित न होकर अपने आपको शान्त और सन्तुलित बनाये रखना होगा।"

संतों ने उनकी वाणी को शिरोधार्य किया और आने वाले विरोधों के विपरीत अपनी शान्त-भावना की मात्रा का संतुलन बनाये रखने को कृत-संकल्प हुए।

महात्मा बुद्ध ने एक बार दूर प्रदेशों में धर्म-प्रचारार्थ जाने वाले बौद्ध-भिक्षुओं को शान्ति का पाठ पढ़ाते हुए पूछा—"भिक्षुओ! यदि तुम्हें वहाँ के लोग गालियाँ देंगे, तो तुम क्या करोगे?"

भिक्षुओं ने कहा—"हम समझेंगे कि चलो ये तो गालियाँ ही दे रहे हैं, कोई हमें पीट थोड़े ही रहे हैं?"

बुद्ध ने फिर पूछा—"यदि कोई पीटने भी लगेगा तब?"

भिक्षुओं ने कहा—"हम समझेंगे कि अंगविच्छेद तो नहीं कर रहे हैं।"

बुद्ध ने आगे और पूछा—"यदि कोई अंगविच्छेद भी करने लगेगा तो?"

भिक्षुओं ने कहा—"तो समझेंगे कि प्राणांत तो नहीं कर रहे हैं?"

इन प्रश्नोत्तरों से लगता है कि बुद्ध ने अपने शिष्यों को यह जताने का प्रयत्न किया था कि प्रचारार्थ जाने वाले व्यक्ति को विरोधियों द्वारा प्राणांत तक के कष्ट पैदा किये जा सकते हैं, अतः वहाँ तक की स्थिति का सामना करने के अपने सामर्थ्य को पहले से ही तोल लेना चाहिए, अन्यथा वह अपने कार्य में सफल नहीं हो सकता।

उपर्युक्त प्रकार से कालूगणी ने भी अपने शिष्यों को यह बताया कि चाहे उत्तेजना की कैसी भी स्थिति पैदा क्यों न हो जाए, पर तुम अपनी शांत-वृत्ति को मत खोना। विरोधी उत्तेजित करना चाहते हों, तब उत्तेजित हो जाने से उनका ही मनोभिलषित पूरा होता है, यदि उत्तेजित न हुआ जाए तो उन्हें अपनी असफलता ज्ञात होती है और अपना विरोध निष्फल गया लगता है। विरोध का निष्फल होना ही तो शान्ति की जीत है। प्राणान्त पर भी अपने शान्ति के निश्चय से न टलने वाले को संसार में कोई भी शक्ति पराजित नहीं कर सकती। कालूगणी ने अपने शिष्य-वर्ग में वही भावना भरने का प्रयास किया था।

एक पक्षीय विरोध

चातुर्मास प्रारम्भ होने के साथ ही विरोध का रूप उग्र से उग्रतर होता चला गया। आये दिन निंदा तथा आक्षेपों से भरे छापे छपने लगे। जिधर दृष्टि पहुँचे, उधर ही भींतों पर विरोधी पैम्फलेट लगे दिखाई देने लगे। संभवतः बीकानेर की बहुत कम भींतें ऐसी रही होंगी

जहाँ उनकी पहुँच नहीं हो पाई हो। नीचे सडकों पर भी सैकडो पत्र चिपकाए जाने लगे। जिधर से आचार्यदेव तथा सन्त-सतियों का प्रतिदिन आवागमन हुआ करता था, उन सडको को विशेष रूप से उस कार्य के लिए चुना गया था। उन लोगो का यह सारा विरोध एक पक्षीय ही था, क्योकि तेरापन्थ ने ऐसे निम्नस्तरीय विरोधों का न कभी उत्तर दिया है और न कभी ऐसा करना उचित समझा है।

उत्तेजना

सहने की भी अन्तत' कहीं सीमा होती है। उस अनर्गल प्रचार से तग आकर वहाँ के समेरमलजी बोथरा आदि कुछ प्रमुख श्रावक बहुत उत्तेजित हो गये। उन्होंने कालूगणी को अपनी सहन-शीलता की सीमा आ जाने की सूचना देते हुए कहा—"आप साधु हैं, अत सब कुछ सह लेने का मार्ग आपका हो सकता है, हम यदि इस प्रकार चुपचाप यह अन्याय और असत्य-प्रचार सहते जाएँगे, तो ये लोग हमारा यहाँ बसे रहना कठिन कर देंगे। इतने दिन जो सह लिया सो सह लिया, अब आगे से हर प्रहार का बराबर उत्तर दिया जाएगा। हम सबने अब से यही निर्णय किया है।"

शिक्षा के छींटे

कालूगणी उनकी उत्तेजना के कारणों तथा प्रतिकार की भावनाओ को गहराई से जानते थे, फिर भी वे अशान्ति उत्पन्न करना नहीं चाहते थे। इसलिए शिक्षा के शीतल छींटों से उस आवेग को शान्त करते हुए बोले—"ऐसा करने से आज तक की हमारी शान्ति-नीति पर आघात पहुँचेगा। क्या इस तुच्छ से विरोध के सम्मुख हमें अपनी चिर-रक्षित नीति को समाप्त होने देना चाहिए ? एक व्यक्ति यदि अपने अज्ञान के कारण गलत साधनों का उपयोग कर रहा हो तो दूसरे द्वारा भी वैसे ही साधनों का उपयोग करने लग जाना, क्या कोई बुद्धिमत्ता का कार्य हो सकता है ? यदि तुम उनके विरुद्ध कोई पैंफलेट आदि छपाओगे तो आज तक उन्होंने जो कुछ छपाया है, उसके औचित्य को ही सिद्ध करोगे। जो जनता अब तक तुम्हें शान्ति-प्रिय समझती आ रही है, वह तुम दोनों को एक बराबर ही समझने लगेगी। इस समय अनेक तटस्थ व्यक्ति ऐसे हैं, जो तुम्हारी प्रशसा करते हैं और उनकी अप्रशसा। तुम्हारे द्वारा छपाया हुआ प्रथम पैंफलेट देखते ही उनकी सहानुभूति तुम्हारे साथ नही रह पायेगी। तुम इससे खोओगे अधिक, पाओगे कुछ नहीं।"

उतार-चढ़ाव

कालूगणी की शिक्षा ने उनके आवेश को शात कर दिया। उन्होने अपने निश्चय को बदल कर फिर से शांत रहने का निर्णय कर लिया। फिर भी जब-जब दूसरी ओर से उत्ते-जनात्मक कार्य होते, तब-तब उन लोगो के मन में उत्तर देने की भावना जोर मारने लगती

थी, परन्तु आचार्यश्री तक पहुँचने से पूर्व ही मगनलालजी स्वामी उसे सम्भाल लिया करते थे। सारा चातुर्मास भावों के इन्हीं उतार-चढ़ावों में बीता।

कोड़े की मार

तेरापन्थियों को उत्तेजित करने के लिए विरोधी लोग छापाबाजी के अतिरिक्त कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी कर लेते थे, जो कि परस्पर झगड़ा करा देने वाली हो सकती थीं। परन्तु मुनि-जनों की सहनशीलता उन सब स्थितियों को चुपचाप टाल दिया करती थी। गोचरी आदि के लिए जाते समय सन्तों को अपशब्द कहना तो उनके लिए साधारण तथा प्रतिदिन का कार्य हो गया था। इतना ही नहीं, वे लोग उससे भी बहुत आगे बढ़ गये थे। एक बार उनमें से किसी एक ने बड़ा ही दुस्साहस कर डाला था। मगनलालजी स्वामी स्थण्डिल-भूमि से आ रहे थे कि कोई पीछे से उनकी पीठ पर कोड़ा मारकर भाग गया। मगनलालजी स्वामी देखते ही रह गये। चुपचाप स्थान पर आ जाने के अतिरिक्त दूसरा कोई भी मार्ग झगड़ा बढ़ाने वाला ही हो सकता था, अतः वे इस प्रकार वहाँ से वापस आ गये, मानो कुछ हुआ ही नहीं था। चातुर्मासान्त तक वह घटना केवल कुछ सन्तों तक ही सीमित रही, किसी गृहस्थ तक नहीं पहुँची।

हत्या का षड्यंत्र

छापाबाजी वहाँ के विरोध का केवल बाहरी रूप था। अंदर ही अंदर गूढ़ता में कुछ और भी चल रहा था। वे लोग कालूगणी की हत्या कर देने तक की योजना बना चुके थे। वह तो तेरापन्थ का सौभाग्य और स्वयं कालूगणी का पुण्य-प्रताप समझिये कि ऐन अवसर पर जिघांसु की भावना पलट गई और उसने सारा भेद खोल दिया, अन्यथा वह हत्या की सारी तैयारी करके आया था।

बीकानेर के बाहर काफी दूर में मिट्टी के बड़े-बड़े ढूह फैले हुए हैं। साधुजन शौचादि के लिए उधर ही जाया करते थे। षड्यन्त्रकारियों ने कालूगणी को वहीं एकांत में अपने शस्त्र का लक्ष्य बनाने का निश्चय किया। उन लोगों ने एक व्यक्ति को प्रलोभन देकर उस कार्य के लिए नियुक्त किया। अपनी योजनानुसार पूर्व-निश्चित समय पर वह उस स्थान में पहुँच गया। कालूगणी प्रतिदिन के समान ही स्थंडिल-भूमि की ओर पधारे। जब वे अकेले रह गये, तब वह व्यक्ति उनकी ओर बढ़ा। उसके हाथ में भरी हुई पिस्तौल थी।

हृदय-परिवर्तन

अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिए उचित स्थान पर पहुँचने पर उसने कालूगणी की ओर देखा और अपना काम करना ही चाहा था कि न जाने कालूगणी की निश्छल और सहज स्नेहार्द्र दृष्टि का उस पर क्या प्रभाव हुआ कि वह एक क्षण के लिए ठिठक गया। उनकी निर्भय और निसर्ग-पुनीत आकृति ने उसके मन में एक उथल-पुथल मचा दी। वह एक देव-तुल्य पुरुष की

हत्या के गुरुतम पाप के परिणामो से कांप उठा। पिस्तौल उसके हाथ से छूटकर नीचे गिर गई।

भंडाफोड़

एक अज्ञात व्यक्ति को इस प्रकार अपनी ओर देखते देखा, तब कालूगणी ने ठहर कर पूछ लिया—"क्यों भाई ! क्या बात है ?"

वह व्यक्ति आगे बढ़ा और चरणस्पर्श करते हुए बोला—"बात तो बहुत बडी थी, परन्तु मैं इतना कमीना नहीं हूँ कि चाँदी के कुछ टुकडों के लिए आप जैसे देव-पुरुष को पिस्तौल का लक्ष्य बनाऊँ।"

गुरुदेव ने साश्चर्य पूछा—"मुझे पिस्तौल का निशाना किसलिए बनाना चाहते थे ?"

उस व्यक्ति ने तब बडी भाव-विह्वल भाषा में उस षड्यन्त्र का भंडाफोड करते हुए सारी बात बतलाई—"अमुक-अमुक व्यक्तियों ने मुझे इस कार्य के लिए नियुक्त किया था, पर आप जैसे भाग्यशाली व्यक्ति को देखते ही मेरा मन फिर गया। मेरे हाथों ने काम करने से इनकार कर दिया।"

वह व्यक्ति क्षमा माँगकर अपने घर गया और गुरुदेव पूर्ववत् निर्भय तथा अचचल भाव से शहर में आ गये।

महान् संत

षड्यन्त्रकारियो के पास जब वह खबर पहुँची होगी, तब पता नहीं उन पर क्या बीती होगी ? उन्होंने अपने पाप को छिपाने के लिए न जाने कितने उपाय सोचे होंगे। परन्तु कालूगणी ने एक महान् सत की ही तरह अपने साधुओ को चेता दिया कि वे उस बात को किसी भी गृहस्थ के सामने तब तक बिल्कुल न चलायें, जब तक कि चातुर्मास समाप्त न हो जाए।

वे जानते थे कि हम तो चातुर्मास की समाप्ति पर चले जाएँगे, परन्तु इस बात का पता चलने पर गृहस्थों में परस्पर यदि कोई झगडा हो जाएगा, तो वह शांत होना कठिन हो जाएगा। इस प्रकार फूँक-फूँक कर बडी सावधानी से पैर धरते-धरते अन्ततः वह चातुर्मास समाप्त हुआ।

समझौते का प्रयास

सपूर्ण चातुर्मास में विरोध प्राय. अविश्रान्त ही चलता रहा, किन्तु वह सारा एक ही पक्ष के द्वारा किया जाता रहा था, अत जनता में उनके लिए कोई सम्मान की भावना नहीं बन सकी थी। प्राय साधारण व्यक्तियों से लेकर उच्च राज्याधिकारियो तक सभी ने उनके उस कृत्य को बुरा ही बतलाया।

उन्हीं दिनो में तेरापन्थ के एक प्रमुख व्यक्ति किसी कार्यवश युवराज शार्दूल सिहजी से मिले थे। वे उस समय बीकानेर राज्य के गृहमत्री थे। बात ही बात में उस विरोध के सबन्ध

में भी चर्चा चल पड़ी। गृहमंत्री ने चाहा कि परस्पर में कोई समझौता हो जाए तो ठीक रहे। उन्होंने स्वयं अपने समक्ष ऐसा करवा देने का विचार व्यक्त किया।

महाराज गंगासिंहजी उस समय विलायत गये हुए थे। उनके आगमन से पहले-पहले वे प्रजा के उस पारस्परिक वैमनस्य को मिटा देना चाहते थे। संभवत: उनके आगमन के बाद तक झगड़ा चलते रहने से किसी गुप्त बात के खुल जाने तथा उसकी आँच स्वयं अपने तक आ जाने का उन्हें भय था। इसीलिए उन्होंने पारस्परिक समझौता कराने में बहुत दिलचस्पी ली।

एक दबाव

उन्होंने संबंधित सभी पक्षों से बातचीत की और उनको एक दिन अपने यहाँ बुला लिया। संवेगी, स्थानकवासी और तेरापन्थी—इन तीनों ही संप्रदायों के मुख्य व्यक्तियों पर उन्होंने दबाव डाला कि वे आगे के लिए एक दूसरे के विरुद्ध किसी प्रकार का प्रचार न करें और इस विषय में एक विधिवत् समझौता कर लें। तेरापन्थियों को तो उसमें किसी प्रकार की अड़चन नहीं थी, क्योंकि न तो उन्होंने किसी के विरुद्ध इस प्रकार का निम्नस्तरीय प्रचार किया था और न आगे कभी करने की उनकी नीति ही थी, फिर भी विधिवत् लिख देने में उनको यह बाधा थी कि ऐसा करने से यह समझा जा सकता था कि इतने दिन तक तेरापन्थियों ने भी उन लोगों के सदृश ही विपक्ष पर छींटाकशी की थी, जब कि वैसी बात बिल्कुल ही नहीं थी।

तेरापन्थियों का यह तर्क बिल्कुल उचित था, किन्तु उनको अलग रखने पर दूसरे भी लिखकर देने को तैयार नहीं थे। आखिर शार्दूलसिंहजी ने तेरापन्थियों को विशेषरूप से कहा—"यदि समझौता हो जाता है तो सदा के लिए यह झगड़ा समाप्त हो जाता है। तेरापन्थियों ने किसी के विरुद्ध ऐसा प्रचार नहीं किया है, यह तो सभी जानते है, अत: वैसा लिख देने पर भी उसका कोई दूसरा अर्थ नहीं लगाया जा सकेगा।"

समझौता

आखिर जब काफी दबाव पडा, तब वहाँ उपस्थित बधुओं को उसे स्वीकार करना ही उचित लगा। उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी। उसी समय एक समझौते पर तीनों सप्रदायों के मुख्य व्यक्तियों के हस्ताक्षर हो गये। वह इकरारनामा इस प्रकार था .

"हम ओसवालो में सम्वेगी, बाईस सम्प्रदाय, तेरापन्थी सम्प्रदाय है, और मजहबी विचारों में भिन्नता होने के कारण अभी थोड़े समय पहले तेरापन्थियों के श्री पूज्यजी महाराज के पधारने पर तेरापन्थियों के बारे में बहुत कुछ किताबां व इश्तिहार छपाये गये कि जिससे उनको बहुत दुख हुवा। और तेरापन्थियों की तरफ से राज मे अरज हुई। परन्तु अब श्री महाराजकुवारजी बहादुर के समझाने सू हम सब ओसवाल जाति यानि सम्वेगी, बाईस सम्प्रदाय, तेरापन्थी यह लिख देते है कि इसी विषय में हम सब श्री महाराज कुमार साहब बहादुर की आज्ञानुसार आपस में खुशी के साथ राजीपो करने कू तयार हैं। जो हुक्म श्री जी

साहब बहादुर या श्री महाराज कुमारजी साहब बहादुर की तरफ से दिया जायगा, उसीमें किसी तरह का फरक नही घालेगा और अब लिख देते हैं कि आयदे तेरापन्थियो के खिलाफ ना तो कोई जातीय हमला किया जायगा और ना उसके खिलाफ उसका अपमान हो, ऐसा लिखेगा ना छापेगा और ना ऐसी कोई सभा करके उसमें अनुचित शब्द कहेगा और ना कोई ऐसी बातें तेरापन्थियो की तरफ से सम्वेगी और बाईस सम्प्रदाय के खिलाफ कही जायगी।"

हस्ताक्षर—

कनीराम बांठिया (स्थानकवासी)
लिखमीचन्द डागा (स्थानकवासी)
पूनमचद कोठारी (सवेगी)
समेरमल बोथरा (तेरापन्थी)

तेरापन्थ की ओर से हस्ताक्षर करने वाले बीकानेर निवासी समेरमलजी बोथरा थे। उस समझौते का तेरापन्थ-समाज के अन्य नेताओ ने साधारणरूप से तो स्वागत ही किया, किन्तु उसमें तेरापन्थियो से किसी अन्य सप्रदाय के विरुद्ध आक्षेपात्मक प्रचार नही करने के लिए जो लिखवाया गया था, उसको उचित नही समझा गया। उसमें दोषी तथा निर्दोषी को एक ही तुला पर तौल दिया गया था। फिर भी सबको यही सतोष था कि आगे के लिये द्वेष-वृद्धि का द्वार बंद हो गया है, यह भी कोई कम बात नही है।

खुजलाहट

यदि वह समझौता नहीं होता तो भी तेरापन्थी अपनी नीति के अनुसार किसी की निंदा नहीं करते। इसलिए समझौता हो जाने के बाद भी उनको अपनी स्थिति मे किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं हुई। परिवर्तन तो उनको करना आवश्यक था, जिन्होंने इतने दिनों तक खूब खुलकर तेरापन्थ की निन्दा की थी। किन्तु वे अधिक दिनो तक अपने को रोक नहीं सके। खुजलीवाला भला अपने आप को खुजलाए बिना कितनी देर तक रोक सकता है। दूसरो की निंदा करने में रस लेने वाले व्यक्तियों या समाजो की भी प्राय: वैसी ही स्थिति होती है। वे अपने आपको रोक नही सकते। निंदा करना उनके स्वभाव में ऐसा रम जाता है कि वे उसे समझ और पकड नही पाते। सम्भवत: उन्हें उसी में किसी विशिष्ट आनन्द की अनुभूति होने लगती है।

समझौता भंग

समझौते की स्याही पूरी सूखने भी नही पाई थी कि कुछ ही समय पश्चात् उन लोगो ने एक पुस्तक—'पूज्य कालूरामजी के ढोल मे पोल की लीला' छपवाकर वितरीत की। न उन्होंने अपने हस्ताक्षरो का आदर किया और न प्रदत्त वचनो का। उन्होंने समझौता भग करके उन

सबका मूल्य स्वयं समाप्त कर दिया। वह समझौता इतना शीघ्र समाप्त कर दिया जायेगा, तेरापन्थियों को यह विश्वास नहीं था।

तेरापन्थियों का विचार

तेरापन्थी समाज उनके उन कृत्य से बहुत क्षुब्ध हुआ। पारस्परिक विचार-विमर्श के पश्चात् उन्होंने यह निश्चय किया कि हम लोगों को उनके बराबर होकर समझौता भंग करने की तो आवश्यकता नहीं है, पर विपक्ष के द्वारा जो उसका भंग किया गया है, उसकी ओर अधिकारी व्यक्तियों का ध्यान आकृष्ट अवश्य कर देना चाहिए। सरदारशहर निवासी श्रीचंदजी गधैया उन विषय में काफी जागरूकता से भाग ले रहे थे, अतः उन्हीं को उस कार्य का भार सौंपा गया। वे उस पुस्तक को लेकर बीकानेर गये और सबंधित व्यक्तियों से मिलकर उन्हें सारी स्थिति से अवगत किया।

कच्चा चिट्ठा

तेरापन्थियों ने उपर्युक्त पुस्तक के विषय में जो सूचना दी थी, उसका अधिकारीगण पर कितना और कैसा असर हुआ, उसके विषय में कुछ कह सकना कठिन है, पर लगता है कि विद्वेषी जनो के पाप का घड़ा भर चुका था। वह तो स्वयं फूटने को ही था, पर उसमें दो निमित्त भी जुड़ गये। एक निमित्त तो उपर्युक्त सूचना को ही कहा जा सकता है और दूसरा निमित्त बड़े ही विचित्र ढंग से उसी समय के अन्तर्गत आ मिला था। उसने उस प्रक्रिया में एक तीव्र वेग ला दिया। विरोधी लोगों ने उस चातुर्मास में तेरापन्थ का विरोध करने के लिए जो खर्च किया, उसका चिट्ठा उन्होंने कलकत्ते भेजा था। संयोगवशात् वह गलत स्थान पर पहुँच जाने के कारण पकड़ा गया। उसमें खर्च किए गये रुपयो का पूरा-पूरा विवरण प्रस्तुत किया गया था। कहा जाता है कि उसमें एक लाख चालीस हजार रुपये खर्च होने की अलग-अलग विगत दी हुई थी। उसी में कई हजार की एक बड़ी रकम एक विशिष्ट राज्याधिकारी को तेरापन्थ के एक कार्य को रोकने के लिए दी जाने का भी नाम सहित उल्लेख था। वह पत्र किसी प्रकार से बीकानेर-दरबार गंगासिंहजी के पास पहुँच गया। उसके पश्चात् जो स्थितियाँ पैदा हुईं, वे एक के बाद एक नया रंग लाती चली गई।

अंतिम परिणाम

महाराज गंगासिंहजी एक न्याय-प्रेमी और प्रभावशाली राजा थे। उस राज्याधिकारी की अनैतिकता से उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने उस मामले की पूरी कड़ाई से छान-बीन की। उसका अंतिम परिणाम यह निकला कि उस राज्याधिकारी को अपने पद से च्युत होना पड़ा। साथ ही युवराज शार्दूलसिंहजी को भी दरबार का उपालंभ सहना पड़ा, क्योंकि वह व्यक्ति उनके कृपापात्रों में से प्रमुख था। विद्वेष और घृणा फैलाने वाले व्यक्तियों पर उस घटना का

जो निष्कर्ष रूप प्रभाव पडा, वह यह था कि उनमें से अनेको को देश-निष्कासन का दड मिला, अनेकों के मुचलके लिए गए तथा उनके द्वारा छपाई गई विद्वेष-पूर्ण पुस्तकें जब्त हो गई ।

राजपत्र मे

उस दड-व्यवस्था का विवरण बीकानेर राजपत्र में प्रकाशित हुआ था, वह इस प्रकार है :

श्री लालगढ मुबरंखा ३१ अक्टूबर, सन् १९२३ ई०

न० ६२८ चूंके २० दिसम्बर, सन् १९२२ ई० को एक तरफ से समेगी और वाईस टोले के मुखियों और दूसरी तरफ से तेरापन्थियो के मुखियो के दरमियान एक तहरीरी इकरारनामा हुवा था कि आयन्दा किसी फरीक की तरफ से कोई जाती हमला नही किया जावेगा और न जवान से या तहरीर में कोई फोहश या खराव या हतक आमेज अलफाज इस्तैमाल किये जावेंगे कि जिनसे गालिवन किसी खास फिरके या फरीक के जजवात पर वुरा असर पडे और चूंकि यह वात श्रीजी साहव वहादुर की गवर्नमेन्ट के नोटिस में आई है कि वाज समेगी और वाईस टोले वालों ने इकरारनामे मजकूर की खिलाफवरजी की है और वोह एक नई और काविले ऐतराज किताव "पूज्य कालूरामजी के ढोल में पोल की लीला" की वावत जिम्मेवार हैं के जो मस्तराम के फरजी नाम से शाये की गई है, इसलिये हस्व जैल अहकाम सादिर किये जाते हैं—

(१) इकरारनामा मजकूर मन्सूख समझा जावे ।

(२) हस्व जैल काविले ऐतराज कितावें यानि (१) सवालात मुनि मगनसागर (२) कालुमुनि मतव्य व (३) पूज्य कालूरामजी के ढोल में पोल की लीला जब्त की गई है और जहाँ कहीं वोह रियासत में मिले, जब्त करली जावें और जिन शख्सो के पास इन कितावों की जिल्दें हों, उन्हें उन जिल्दों को फौरन सव से करीवी तहसील या थाने पुलिस मे हवाले कर देना चाहिये और इस नोटिफिकेशन की तारीख मे दो महीने के वाद जो शख्स इन किताबो की कोई जिल्द ले रक्खेगा तो उस पर मुकद्दमा चलाया जावेगा ।

(३) हस्व जैल अशखास यानी (१) कान्हीराम वांठिया (२) लखमीचद डागा (३) मगलचद मालू, को वहैसियत मुखिया उस फरीक के कि जिसने इकरारनामे की खिलाफवरजी की है, आया इस अमर की वजह जाहिर करनी चाहिये कि उनमें से हर एक से एक-एक हजार रुपये का मुचल्का क्यों न लिया जावे कि वोह आयन्दा ऐसे हमलों में शरीक न हों, या अलानिया तौर पर इस वात का इकरार करें कि उनका उन हमलों से कोई ताल्लुक नही है कि जो २० दिसम्बर, सन् १९२२ ई० से किये गये है और वतामील हुक्म मजकूर कान्हीराम वांठिया और लखमीचद डागा ने पहले ही एक तहरीर लिख दी है कि जिसके जरिये से उन्होंने अपने ऊपर यह जिम्मेवारी ली है कि वोह ऐसे हमलों में हिस्सा नहीं लेंगे और उन्होंने ऐसी कितावो और

हमलों की वावत ना पसन्दीदगी जाहिर की है और यह इकरार किया है कि उनका उनसे कोई ताल्लुक नही है।

(४) अमीचद गोलछा और जमनालाल कोठारी मालिकाने प्रेस, कलकत्ता कि जहाँ किताव नम्वर ३ रियासत में तकसीम किये जाने के लिये छपनी पाई जाती है, उनमें से भी हर एक से एक-एक हजार रुपये के मुचलके लिये जावें कि वोह आयन्दा ऐसे हमलों में शरीक न हों।

(५) अलावा इसके मुनि मगनसागर जैपुर वाला और आनन्दराज सुराना को वजरिये हुक्महाजा मना किया जाता है कि वोह ताहुक्मसानी रियासत वीकानेर में दाखिल न हों।

(६) अखीर में यह कि वीकानेर के छापेखानो को आगाह किया जाता है और मना किया जाता है कि वोह आयन्दा ऐसी काविल ऐतराज कितावें न छापें, वरना उनपर मुकद्दमा चलाया जावेगा।

वाई कमान्ड,

भैरू सिंह,

वाइस-प्रेसीडेन्ट कौंसिल।[1]

दूसरा वीकानेर

उपर्युक्त दण्ड-व्यवस्था के पश्चात् वीकानेर के अन्य सम्प्रदायों के मन में तेरापन्थ के प्रति जो गूढतम विद्वेष-भावना थी, उसकी एक प्रकार से रीढ ही टूट गई। सारी जनता विद्वेष करने वाली प्राय: होती ही नहीं, कुछ व्यक्ति उन्हें भडका कर गलत मार्ग पर ले जाते हैं। जव उनसे उनका संसर्ग छूट जाता है तो वह स्वयं प्रकृतिस्थ होकर अपने किये का स्वय लेखा-जोखा मिलाती है। जव उसे अपने आवेशकृत अध पतन का पता लगता है, तो उसके लिए सावधान भी होती है। सम्भवत. यही मन स्थिति वीकानेर के विरोध में भाग लेने वाली जनता की भी हुई थी।

उसके पश्चात् सवत् १९८३ तथा ८७ में कालूगणी फिर वीकानेर की ओर पधारे थे। उन्होंने वे दोनो चातुर्मास गगाशहर में किये। दोनों ही अवसरों पर वीकानेर तथा भीनासर में भी विराजना हुआ, परन्तु सव कहीं शान्ति का साम्राज्य था। उस समय ऐसा लगता था कि मानो स० १९७९ वाला वीकानेर कोई दूसरा ही था।

अपराजेय शक्ति

विद्वेप में स्वत. कोई शक्ति नहीं होती, आवेश से ही उसके जीवन का काम चलता है। विद्वेप को जीवित रखने के लिए आवेश के इन्जेक्शन देते रहना अनिवार्य है। शांति और सहिष्णुता में स्वत: शक्ति होती है, वे स्वय की शक्ति पर ही जीवित रहती है। यही कारण है कि

१-वीकानेर राजपत्र : शनिवार, ३ नवम्बर १९२३ (जिल्द ३६, नं० ४४)

विद्वेष और शान्ति का जहाँ सामना होता है, वहाँ एक बार चाहे विद्वेप जीतता हुआ दिखाई दे, पर अन्त में उसकी हार निश्चित है। तेरापन्थ की मुख्य नीति सदा से ही शान्ति और सहिष्णुता की रही है। इसी आधार पर उसने हर विरोध के पश्चात् अपने को अधिक समर्थ और आत्मविश्वास-युक्त पाया है। तेरापन्थ की यह एक अपराजेय शक्ति है।

२—हरियाणा-पदार्पण

प्रार्थना स्वीकार

हरियाणा (पजाब) में तेरापन्थ के आचार्यों में से माणकगणी ही पहले-पहल पधारे थे। परन्तु उस समय वहाँ बहुत थोडा समय दिया गया था। उसके छब्बीस वर्ष पश्चात् कालूगणी ने उन लोगों को दूसरी बार वैसा सुअवसर प्रदान किया। स० १९७६ के मर्यादा-महोत्सव के पश्चात् जब आचार्यदेव चूरू पधारे थे, तब हरियाणा-निवासी लोग काफी सख्या में दर्शन करने के लिए आये। उन्होने गुरुदेव के सम्मुख हरियाणा-पदार्पण के लिए बडी आग्रह भरी प्रार्थना की। कालूगणी ने उनकी उस प्रार्थना को स्वीकार किया और उधर विहार कर दिया।

हरियाणा के लोग

हरियाणा के लोग बडे श्रद्धालु और दृढ होते हैं। सरल होने के साथ ही पकड वाले भी होते है। अनुकूल व्यक्ति के प्रति जितनी उग्र उनकी अनुकूलता होती है, प्रतिकूल के प्रति उतनी ही उग्र प्रतिकूलता भी होती है। वे किसी भी समस्या को सुलझाने के लिए जीभ से कही अधिक हाथ से काम लेने के आदी होते है। लम्बे समय तक फल की प्रतीक्षा करते रहना, उनकी सैनिक-प्रकृति सहन नहीं कर सकती। 'एक घाव दो टूक' का सिद्धांत उनके जीवन-क्रम के अधिक निकट पाया जाता है, फिर विषय चाहे समाज का हो या राजनीति का, धन का हो या धर्म का।

सर्वत्र आकर्षण

कालूगणी का ज्यों ही हरियाणा में पदार्पण हुआ, वहाँ के सारे वातावरण में एक नई लहर-सी दौड गई। छोटे-छोटे गाँवों और खेडो से लेकर शहरों तक में आचार्यदेव के पदार्पण का सर्वत्र बडा आकर्षण रहा। जहाँ कहीं पधारना होता, वहाँ के आसपास के अनेक गाँवों के लोग पहले से ही एकत्रित हो जाया करते। वहाँ के ग्रामीण किसान जैन साधुओ की चर्या से परिचित न होने के कारण अनेक वार रुपये और नारियल की भेंट लेकर आ जाया करते, तो उन्हें समझाना बडा कठिन हो जाता। उनके मस्तिष्क में यह बात बडी कठिनता से ही बैठ पाती कि जैन साधु ऐसी कोई भेंट नहीं लिया करते।

भिवानी मे

हरियाणा के काफी क्षेत्रों मे विचरते हुए आचार्यदेव टुहाना तक पधारे और स० १९७७ का वर्षाकाल भिवानी में विताने का निश्चय किया। भिवानी में उस समय द्वारकादास बडा

प्रसिद्ध श्रावक था। वह सारे हरियाणे में अपना विशिष्ट प्रभाव रखता था। उसकी धर्म के प्रति निष्ठा और संघ के प्रति आस्तता अद्वितीय थी। बड़ा परिवार, अच्छा व्यापार और व्यापक प्रभाव वाले विरल व्यक्तियो में से ही वह एक था। उसने संघ की काफी सेवाएँ की थी। आचार्यदेव ने भिवानी में चातुर्मास करने का निर्णय करके उसकी तथा सारे भिवानी-निवासियों की भावना को और भी अधिक सबल बना दिया। हरियाणा में आचार्यदेव का वह सर्वप्रथम चातुर्मास था, अत तत्प्रदेशीय सभी व्यक्तियों का मन एक प्रकार की सुखानुभूति से आप्लावित हो उठा। वे सब के सब उस दुर्लभ अवसर को पूर्ण सफल बनाने के प्रयास में लग गये थे। उनकी लगन वस्तुत अनुकरणीय थी।

भयजनित विरोध

उस चातुर्मास में जैनेतर लोग भी व्याख्यान आदि से काफी लाभ उठाया करते थे। आचार्यदेव का उपदेश वृष्टि की तरह सर्व-जन-हिताय हुआ करता था। उसमें किसी धर्म-विशेष का खण्डन न होकर जीवनोपयोगी बातों का ही विशेष रूप से निदर्शन हुआ करता था। दुर्व्यसनों का निषेध तथा सत्य और अहिंसा को जीवन में उतारने का संदेश भला किसे अच्छा नही लगता? सभी लोग दत्तावधान होकर उनका उपदेश सुनते और तदनुकूल अपने जीवन को ढालने का प्रयास करते।

आश्विन तक यही क्रम सानन्द चलता रहा। परन्तु अन्दर ही अन्दर कुछ जैनेतर भाइयों के मन में यह सन्देह पैदा होने लगा कि ये कहीं हमारे समाज के व्यक्तियों को जैन न बना लें। इसी भय से प्रेरित होकर उन लोगो ने जैन धर्म के विरुद्ध तरह-तरह की अफवाहें फैलानी प्रारम्भ कर दी तथा आचार्यदेव की हर प्रवृत्ति का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। वे लोग हर किसी उपाय का सहारा लेकर अपने समाज के व्यक्तियों का वहाँ आवागमन रोकना चाहते थे। 'वहाँ मत जाओ' ऐसा आदेश तो किसी को मान्य हो नही सकता था, अत वे किसी ऐसे उपाय की खोज में थे, जिससे जनता में कोई विरोध पैदा किया जा सके या फिर झगड़े का वातावरण बनाकर पारस्परिक घृणा फैलाई जा सके।

आखिर उन्हें एक उपाय मिल गया। कार्तिक कृष्णा अष्टमी को चार दीक्षाएँ होने वाली थी। उन्होंने उसका विरोध करने की बात सोची। जनता की भावना को किसी के विरुद्ध उभाड़ना हो और घृणा फैलानी हो, तो वहाँ बहुत से तथ्यो की आवश्यकता थोड़े ही होती है। वहाँ तो अधिक विज्ञापन, अधिक प्रचार एव अधिक हल्ला मचाकर उत्तेजना पैदा कर देना ही पर्याप्त होता है। उन लोगों ने विरोधी सभाएँ की, नारे लगाये, जनता के जोश को उभाड़ा। वह सब जन-साधारण के बीच में ही होता रहा, अत उस प्रचार के प्रवाह में कुछ व्यक्ति तो बह गये। फिर भी जो कुछ आते-जाते रहे, उन्हें दबाव देकर, डरा-धमकाकर, पर-धर्म-प्रवेश का पाप बतलाकर और घृणा फैलाकर रोकने का प्रयास चलता रहा।

दीक्षा-विरोधी सभा

दीक्षा की घोषित तिथि ज्यो-ज्यो पास आती गई, त्यो-त्यो दीक्षा के विरुद्ध उनका अनर्गल प्रचार भी बढता गया। तेरापन्थी भाइयों में उससे चिन्ता फैलना स्वाभाविक ही था। उन्होंने भी अपनी ओर से हर प्रकार के विरोध का सामना करने की तैयारी की। आखिर दीक्षा-तिथि से पहली रात में विरोधियों ने एक सार्वजनिक सभा की और उसमें बडे जोशीले भाषण हुए। किसी ने दीक्षा के विरुद्ध धरना देने की बात कही, तो किसी ने दीक्षार्थियों को उडा लेने की। एक के पश्चात् एक भाषण होते रहे। प्रातः संपन्न होने वाली दीक्षा को रोकने के लिए उन्हें क्या-क्या करना है, यही उन लोगों के सम्मुख निर्णय विषय था।

बचाव के लिये

उधर तेरापन्थी लोग इस चिंतन में लगे हुए थे कि प्रात न जाने कौन-सी समस्या का सामना करना पडे ? वे उस अज्ञात समस्या का सभावित हल खोज रहे थे। दोनों ही अपनी-अपनी तैयारी में पूर्ण सतर्क थे। भिवानी में आखिर थोड़े से घर ही तो तेरापन्थी हैं। इतने बडे जन-समुदाय का सामना करने में उन्हें यदि चिंतित होना पडा, तो वह कोई अस्वाभाविक बात नहीं थी। अपने बचाव के लिए उन्हें उस समस्या का सामना करना आवश्यक था। सचाई से अपने मार्ग पर चलने वाला किसी के डराने-धमकाने से अपना मार्ग छोड दे, तो दुनियाँ में उसे जीवित ही कौन रहने देगा ? वस्तुत वह उनके अस्तित्व का प्रश्न था। उससे पीछे हटने का तात्पर्य होता—अन्याय के सम्मुख झुक जाना, समाप्त हो जाना। अन्याय और असत्य के सम्मुख तेरापन्थ ने न कभी घुटने टेके हैं और न कभी टेकेगा। इसी दृढ निश्चय ने उसे अनेक संघर्ष दिये हैं, तो उन पर विजय पाने का सामर्थ्य भी दिया है।

एक चमत्कार

भिवानी के तेरापन्थियो ने विरोधियों की हर चाल को विफल कर देने का अपने ढग से उपाय सोचा। पर उन्हें उन उपायों को काम में लेने का कोई अवसर ही नहीं मिला। कालूगणी के किसी अदृश्य प्रभाव से विरोधियों की वह सारी योजना उस रात्रिकालीन सभा में ही अपने-आप समाप्त हो गई। जिस समय भाषण पूरे जोश में चल रहे थे और जनता पूरे ध्यान से सुन रही थी, उसी समय अचानक सभा में भगदड मच गई। भयभीत होकर लोग एक दूसरे को रौंदते हुए इस तरह दौड़े कि उस अप्रत्याशित भगदड में अनेक व्यक्ति कुचल गये और घायल हो गये। कुछ मिनटो में ही सारा सभा-स्थल इस प्रकार खाली हो गया, मानो वहाँ पर कोई गोली चली हो। जो जैसे बैठा था, वह वैसे ही भाग खडा हुआ। अपनी पगडी, जूते और छाते सभालने तक का लोगों को अवसर नही मिला। सभास्थल में चारो ओर वह सामान बुरी तरह बिखरा हुआ रह गया।

बाद में जब भगदड के कारणों की खोज की गई, तो पता चला कि किसी को वहाँ आकाश से एक बहुत बडा सफेद गोला आता दिखाई दिया था तो किसी को सफेद वृछडा, किसी को दैत्य और किसी को और कुछ। उन अनेक बातो में सत्य क्या था, यह तो केवली-गम्य ही रह गया, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्राय: सभी को कोई श्वेत वस्तु दिखलाई दी थी। वह क्या थी ? कहाँ से आई थी ? कुछ थी भी या केवल भ्रम मात्र ही था ? ये सब प्रश्न आज भी प्रश्न ही है, आगे के लिए भी प्रश्न ही रहेंगे, फिर भी वह घटना ऐसे अवसर पर घटित हुई थी कि जिससे किसी अदृश्य शक्ति के द्वारा ऐसा किये जाने की ओर सभावना दौड़ती है। उस चमत्कार का प्रभाव सभी लोगों पर बहुत गहरा हुआ। विरोधियों के मस्तक स्वत: ही लज्जावनत हो गये।

दीक्षा-संपन्न

दूसरे दिन प्रात: बड़े शान्त वातावरण में दीक्षा सपन्न हुई। विरोध की सारी सभावनाएं स्वयं ही शांति में परिणत हो गई। किसी विरोधी को साहस ही नहीं हुआ कि वह कुछ करे या कहे। उन सब को रात के उस मामले में स्वय कालूगणी द्वारा किये गये किसी चमत्कार के ही दर्शन हुए। वस्तुस्थिति यह थी कि उनको किसी चमत्कार का सहारा लेने की आवश्यकता ही नहीं पडती थी। उनकी पुण्य पवित्रता ही स्वय अपने आप में एक चमत्कार थी। उसीसे उनके समस्त कार्य सरल और सहज हो जाते थे।

झगड़े के लिए साँग

उस चातुर्मास में उस घटना के पश्चात् भी कुछ दुस्साहसी लोगो ने कलह उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। एक व्यक्ति को जैन साधु का वेष पहनाकर उसे शहर में कुछ इधर-उधर घुमा कर उसी मार्ग से लाये, जहाँ कि आचार्यदेव विराजमान थे। जब वे वहाँ से गुजरे, तब तेरापन्थी श्रावकों को पता लगा कि उन लोगों ने साधुओं का 'साँग' निकाला है। उपस्थित भाइयों में आवेश की एक लहर-सी दौड गई। कालूगणी ने परिस्थिति को तत्काल भाँप लिया, अत किसी भी व्यक्ति को नीचे जाने से उन्होंने रोका और शांत रहने के लिए कहा। फिर भी कुछ व्यक्ति तो इतने जोश में आ गये थे कि उन्हें यदि दूसरे भाइयों द्वारा बांहो में पकड-पकड कर नही रोका जाता, तो वहाँ लड़ाई हो जाने में कोई सदेह नहीं था।

विपक्षी लोग तो झगडा करना ही चाहते थे, क्योंकि दीक्षा के समय उन्हें बड़ा अपमानित होना पड़ा था। उस अवसर पर वे अपना साहस नही दिखा सके थे, अत इस बार पिछली हीनता को धो देना चाहते थे। दूरदर्शी आचार्यदेव उन्हें ऐसा कोई अवसर नहीं देना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने उन सभी भाइयों को, जो कि सामना करने को उद्यत हुए थे, रोका और शांत किया। विरोधियों को जब झगडा खड़ा करने का कोई बहाना नहीं मिल सका, तब अन्तत: स्वय ही मन मारकर बैठ गये।

चार सौ मील

भिवानी का चातुर्मास सानद सपन्न करके कालूगणी हरियाणा के कुछ अवशिष्ट क्षेत्रों में विचरते हुए सरसा की ओर पधारे और फिर वहाँ से मर्यादा-महोत्सव के लिए सरदारशहर पधार गये। उस यात्रा में हाँसी, हिसार आदि हरियाणा के प्रमुख नगरो में आचार्यदेव का पदार्पण वडा ही प्रभावशाली रहा। सारा हरियाणा उनकी उस यात्रा से परितृप्त था। उस यात्रा में उन्हें लगभग चार सौ मील चलना पडा।

(३) मारवाड़-पदार्पण

लंबी यात्रा

कालूगणी ने अपने शासनकाल में वहुत अधिक लवी यात्राएँ तो नही की, किन्तु जो की थीं, उनमें उनकी अतिम यात्रा ही सवसे अधिक लम्बी थी। उसमें वे मारवाड, मेवाड और मालव में पधारे थे। उससे पूर्व थली के अतिरिक्त वे स० १९७६-७७ में हरियाणा और स० १९८० में जयपुर पधारे थे। वे उनकी केवल एक-एक प्रदेश की ही यात्राएँ थी, अत अपेक्षाकृत छोटी थी। उन दोनों से भी पूर्व एक वार वे मारवाड़ तथा मेवाड़ की यात्रा स० १९७२ और ७३ में कर चुके थे। उस समय मालव में पदार्पण नही हो सका था, अत: उसे उनकी मध्यम यात्रा कहा जा सकता है। मारवाड-मेवाड की उस प्रथम यात्रा में प्रथम चातुर्मास उदयपुर और फिर दूसरा जोधपुर मे किया गया, जवकि दूसरी यात्रा में प्रथम चातुर्मास जोधपुर और फिर दूसरा उदयपुर में किया गया था।

यात्रा का प्रारभ

स० १९९० में लाडणू में मर्यादा-महोत्सव सपन्न करने के पश्चात् कालूगणी कुछ दिन सुजानगढ में विराजे। वहाँ से फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को उन्होंने अपनी यात्रा प्रारभ की। डीडवाणा होते हुए उन्होंने छोटी खाटू में होली-चौमासी की और फिर वहाँ के छोटे-वडे सभी क्षेत्रो को सभालते हुए आगे पधारे।

मालाणी मे

मालाणी की जनता ने अपने क्षेत्रो की ओर पधारने की काफी प्रार्थना की थी, अत चातुर्मास से पूर्व गरमी की ऋतु में भी विहार करते हुए वे उधर पधारे। पचपदरा, वालोतरा तथा जसोल आदि का पार्श्ववर्ती क्षेत्र 'मालाणी' नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ के विभिन्न क्षेत्रों में थोड़े-थोड़े दिन विराजना हुआ। उन क्षेत्रो के कुछ व्यक्तियों को टालोकर ऋषिरामजी ने, कुछ महीने पूर्व जव कि वे गण में ही थे, भ्रांत कर दिया था। आचार्यदेव का वह पदार्पण उन सव के लिये वडा हितकर हुआ, वे प्राय सभी फिर से ठीक हो गये। वहाँ से विहार करते हुए वे चातुर्मास करने के लिए जोधपुर पधार गये।

जोधपुर की प्रार्थना

जोधपुर को सं० १९९१ का वह चातुर्मास काफी परिश्रम के पश्चात् प्राप्त हुआ था। अनेक बार काफी बडी संख्या में वे लोग थली के विभिन्न क्षेत्रों में पहुँचे और जोधपुर पधारने की प्रार्थना की थी। उनकी वह अनुनय-भरी प्रार्थना तथा आग्रह इतना प्रबल था कि उसे यों ही टाल देना सम्भव नहीं था। वे जब व्याख्यान के समय खड़े होकर प्रार्थना किया करते थे, तब कालूगणी के मन का तो पता नहीं, पर अन्य श्रोताजन द्रवित हो उठा करते थे। आखिर लगातार कई वर्षों की प्रार्थना के पश्चात् कालूगणी को भी द्रवित होना ही पडा। मूलतः उस समय यात्रा की जड़ में जोधपुर-वासियों की वह अदमनीय भक्ति काम कर रही थी, जिससे बंधे हुए कालूगणी को वहाँ आना ही पडा।

चातुर्मास की घोषणा

मार्ग में उन लोगों ने काफी सेवा की। मारवाड़ के प्राय प्रत्येक विशिष्ट क्षेत्र में सामूहिक रूप से दर्शन करने में भी वे बहुत रुचि लेते रहे थे। कालूगणी ने जैसी कृपा की थी, उनकी भक्ति भी वैसी ही थी। आषाढ कृष्णा त्रयोदशी को आचार्यदेव का जोधपुर में पदार्पण हुआ। वहाँ पधारने के पश्चात् ही उन्होंने वहाँ के चातुर्मास की घोषणा की।

संपर्क

जोधपुर-निवासी श्रावक प्राय. पढे-लिखे और कुशल व्यक्ति थे। उनमें से अधिकांश तो राज-कर्मचारी तथा अधिकारी-वर्ग के ही थे। उन लोगों की नौकरियाँ प्राय. जोधपुर तथा जोधपुर-राज्य में ही थीं, अत. वहाँ के अन्य व्यक्तियों से भी उनका संपर्क काफी गहरा और विस्तीर्ण था। उस संपर्क के कारण वहाँ के अनेक राज्याधिकारियों तथा कर्मचारियों ने आचार्यदेव के दर्शनों का लाभ प्राप्त किया। उसके अतिरिक्त उस चातुर्मास में अनेक ठिकाणों के राजपूत सरदारों ने भी दर्शन का लाभ उठाया।

बाईस दीक्षाएँ

उस चातुर्मास में कार्तिक कृष्णा अष्टमी को एक साथ बाईस दीक्षाएँ दी गई। एक साथ इतनी दीक्षाओं का होना जोधपुर-निवासियों के लिए एकदम ही प्रथम अवसर था। दीक्षाएँ स्थानीय कालेज के मैदान में हुई। उस अवसर पर शहर की जनता बहुत बडी संख्या में उपस्थित हुई। जोधपुर में किसी धार्मिक समारोह के अवसर पर इतनी बडी उपस्थिति संभवत. प्रथम बार ही हुई थी।

काँठा मे विहरण

चातुर्मास की समाप्ति पर आचार्यदेव ने पाली की ओर विहार किया। काठे के प्राय सभी क्षेत्रों को उन्होंने टेढ़े-मेढे चलते हुए दर्शन दिये। मर्यादा-महोत्सव के लिए तेरापन्थ का ऐतिहासिक क्षेत्र बगडी चुना गया। आचार्यदेव के वहाँ पदार्पण से पूर्व साधु-साध्वियों को

बगडी के आसपास के क्षेत्रों में ही विचरते रहने की आज्ञा थी, अत: प्राय: सभी ग्राम उस समय साधु-समागम से परितृप्त हो गये थे। आचार्यदेव के बगड़ी-पदार्पण के साथ ही साधु साध्वियों का भी वहाँ आगमन हुआ।

बगडी का वह मर्यादा-महोत्सव सारे कांठा क्षेत्र के लिए एक विशेष अवसर के रूप में ही था, अत: सभी में अच्छा उत्साह था। उस क्षेत्र के प्राय: बहुत से परिवार व्यापार के लिए दक्षिण भारत में रहने लग गये थे, किन्तु उस अवसर पर वे प्राय: अपने-अपने गाँव में आ गये थे और आचार्यदेव के पदार्पण का तथा मर्यादा-महोत्सव का उन्होंने पूरा-पूरा लाभ उठाया।

कांठा क्षेत्र के प्राय: अनेक राजपूत-परिवारों तथा ठिकाणों से तेरापन्थ का प्राचीन काल से ही परिचय रहा है, अत: आचार्यदेव के पदार्पण के अवसर पर उन लोगो ने अपने-अपने गाँवों में तो सेवा का लाभ उठाया ही था, पर अनेक बार आसपास के गाँवो में आकर भी वह लाभ प्राप्त किया। उनमें से अनेकों ने मद्य, माँस तथा शिकार आदि के दुर्व्यसनों का परित्याग भी किया।

महोत्सव की सपन्नता के पश्चात् आचार्यदेव को कुछ समय तक कांठे के क्षेत्रो में ही विहार करना आवश्यक था, क्योंकि वहाँ एक ओर के क्षेत्रो में तो पदार्पण हो चुका था, किन्तु दूसरी ओर के प्राय. सभी क्षेत्र चरण-स्पर्श के लाभ की आशा लगाये हुए थे। इसीलिए संत-सतियो को यथावश्यक आदेश-निर्देश देने के पश्चात् कालूगणी उन सभी क्षेत्रो की ओर पधारे।

घुटनों की पीड़ा

होली-चौमासी के पश्चात् आचार्यदेव को अपने घुटनो में कुछ पीडा की अनुभूति होने लगी। यों तो वह पीड़ा कई वर्षों से थी, परन्तु कभी-कभी अधिक हो जाया करती थी, तब कुछ विचारणीय स्थिति उत्पन्न कर दिया करती थी। वहाँ से उन्हें मेवाड में जाना था, अत: वह पीडा और भी चिन्तनीय बन गई थी। पर्वतीय प्रदेश में पैरों की पीड़ा लेकर जाना बहुत कठिन कार्य था, अत: वहीं उसका कुछ उपचार कर लेने की बात सोची गई। उन दिनो वे रामसिंहजी के गूडे में विराजमान थे। कुछ वर्ष पहले भी एक बार उनके घुटनो में पीडा बढ गई थी, तब भिलावा लगाया गया था और उससे काफी लाभ भी हुआ था। इसलिए यही निश्चय किया गया कि कुछ दिन वहाँ ठहर कर भिलावा ही लगा लिया जाए, ताकि काफी समय के लिए उस दुविधा से मुक्ति मिल जाए।

उपचार

पूर्व निश्चयानुसार भिलावे की एक पतली-सी लीक घुटने के एक पार्श्व पर खींच दी गई। एक सूई की नोक पर टिके जितने से भिलावे में न जाने कितना तेज होता है कि उससे प्राय: सारा पैर फफोलों से भर गया और उनसे पीप झरने लगा। फफोलों का विस्तार जितना

अनुमानित किया गया था, उससे कहीं अधिक हो गया, अतः उन्हें रामसिंहजी के गुड़े में अठारह दिन ठहरना पड़ा। फफोले एकदम ठीक नहीं हो पाये थे, फिर भी उन्होंने विहार करने जैसी स्थिति होते ही वहाँ से जोजावर तथा सिरियारी की ओर विहार कर दिया। सिरियारी मारवाड़ का उस ओर अंतिम क्षेत्र है। वहाँ कुछ दिन विराजकर उन्होंने मेवाड़ के लिए प्रस्थान कर दिया।

(४) मेवाड़-पदार्पण

फूलाद की चौकी पर

सिरियारी के पश्चात् अर्बुद (अरावली) पर्वत-श्रेणी प्रारंभ हो जाती है। आचार्यदेव ने उन पर्वत-श्रेणियों को लांघते हुए पीपली के घाटे से मेवाड़ में प्रवेश करने का निश्चय घोषित किया था। पूर्व निर्णयानुसार सिरियारी से विहार कर वे अक्षय-तृतीया की सन्ध्या को फूलाद की चौकी पर पधार गये। वह स्थान एकदम पहाड़ों से घिरा हुआ है। उस समय वहाँ केवल चौकी का एक मकान ही था। रेलवे-लाइन बिछाई जा रही थी, अतः कुछ दूर हटकर स्टेशन पर कुछ क्वार्टर भी बने हुए थे। रात को साधु उन दोनों ही स्थानों में रहे। उस रात सेवा में आये हुए मेवाड़, मारवाड़ तथा थली के सैकड़ों व्यक्ति बिल्कुल सुनसान जंगल में खुले आकाश के नीचे ही सोये।

वृक्षों और लताओं की सघनता से घिरा हुआ ऐसा पहाड़ी प्रदेश देखने का मेरे जैसे बालक साधुओं के लिए तो वह प्रथम अवसर ही था। रात्रि के समय ऐसे स्थानों में रहने का संभवतः अनेक प्रौढ़ों के लिए भी वह प्रथम अवसर ही रहा होगा। वहाँ जंगली पशुओं का काफी भय बतलाया जाता था, अतः लोगों द्वारा काफी सावधानी बरती गई थी। रात भर जागते हुए अनेक व्यक्तियों ने पहरा दिया था। रात को वहाँ सिंह की दहाड़ भी सुनी गई थी, जो कि कहीं थोड़ी दूर से ही आ रही प्रतीत होती थी। उस समय लोग हड़बड़ा कर उठ बैठे और अधिक सावधान हो गये। उस रात में एकदम निश्चिंतता की नींद तो संभवतः हम जैसे कुछ बालक-साधुओं को ही आई थी। औरों को तो कभी सिंह की दहाड़ से, कभी पास के वृक्षों की खड़खड़ाहट से, कभी पहरा देने वाले लोगों के पदचाप से तथा कभी जागते हुए लोगों की बात-चीत से कई-कई बार जागना पड़ा था।

अरावली की घाटियों में

प्रातःकाल होते ही सब लोग वहाँ से प्रयाण करने को तैयार हो गये। पैदल चल सकने वाले व्यक्ति तो विहार में साथ रहे, पर पहाड़ की काफी दुरूह चढाई में जो पैदल नहीं चल सकते थे, उनके लिए टट्टुओं की व्यवस्था की गई थी। अनेक पुरुषों और स्त्रियों ने उन्हीं साधनों का सहारा लेकर अर्बुद पहाड़ की उस चढ़ाई को पार किया था।

फूलाद की चौकी से कुछ दूर तक तो साधारण मार्ग ही था। उसमें कोई विशेष चढाई नही थी, पर वह साधारण भी इतना विशेष था कि थली और मारवाड के अन्य किसी भी मार्ग में वैसा सुहावना दृश्य मिलना कठिन था। चारों ओर फैली हुई अपार हरीतिमा, वन्य लताओं की भीगी-भीगी सुगध, कभी दायें और कभी बायें कल-कल निनाद से बहता हुआ झरने का शुभ्र जल, अज्ञात फलों और फूलो से लदे हुए छोटे-बडे वृक्ष, विविध वर्णों और स्वरूपों से सजधज कर मार्ग के वृक्षों की टहनियो पर फुदकते हुए विविध ध्वनियो में सत्कार करने वाले मनोहर पक्षी—ये सब उस मार्ग की सुषमा के अवयव थे। आचार्यदेव के आगमन से कुछ दिन पूर्व ही आकर वसत ने उस मार्ग को सवार कर और भी अधिक मनोहर बना दिया था।

हर झुरमुट और चट्टान के पीछे से किसी सिंह या भालू जैसे वन्य पशु के अचानक निकल आने की कल्पना का रस लेते हुए तथा वैसी स्थिति उत्पन्न होने पर क्या किया जाना चाहिए—इसका भी अपनी-अपनी कल्पनानुसार किला बांधते हुए सब लोग गंतव्य की ओर आगे बढे। कुछ दूर चलने के पश्चात् चढाई प्रारम्भ हो गई। छोटी-सी पगडडी सर्प की तरह बलखाती हुई ऊपर की ओर चढ रही थी। मनुष्य के चरणो की कठोरता की मूक कहानी को हृदय पर अकित किये हुए पगडडी का प्रत्येक पत्थर मनुष्य की ही तरह अपने नुकीलेपन को अन्दर की ओर समेट कर बाहर से चिकना बना हुआ था। साधुजनों के अनावृत पैरों का कोमल स्पर्श उनकी मनोभावना में अकित मनुष्य के स्वरूप से बिल्कुल भिन्न था, अत वे मानो फिर से सब को अपने हृदय के तराजू पर तौल-तौल कर परखना चाह रहे थे। धीरे-धीरे ऊपर चढता हुआ सारा काफिला जब पहाड के मध्यभाग तक पहुँचा, तब ऐसा लग रहा था मानो नीलाकाश में राजहसों की एक लम्बी कतार उडी चली जा रही हो।

वहाँ कुछ क्षण ठहर कर देखा तो प्रकृति के दो विरोधी रूप सब के सामने थे। बाईं ओर पहाड की ऊँची दीवार खडी भयभीत कर रही थी, तो दाईं ओर उससे भी अधिक भयावह गहरी खाई मन में कपन उत्पन्न कर रही थी। न सीधा चढना सहज था और न सीधा उतरना, किन्तु मार्ग के माध्यम से वे दोनो ही सहज हो गये थे। वहाँ से जब सामने दूर-दूर तक दृष्टि फैलाते हुए देखा तो मारवाड का बहुत बडा भाग समतल रूप से बिछा हुआ-सा प्रतीत हो रहा था। सूखी नदियाँ अनेक घुमावो सहित मटमैली सर्पिणियो की तरह मालूम हो रही थीं। सब कुछ नीरस हो जाने पर भी उनकी रेत अपने अस्तित्व को आस-पास की भूमि से पृथक् बताने पर अडी हुई थी। अर्बुद मानो मौन होकर उन सबको देख रहा था, न जाने कब से और कब तक के लिए। ज्यो-ज्यों सारा सघ आगे बढता गया, त्यो-त्यो उपत्यका अधिकाधिक दूर होती चली गई और अधित्यका समीप। काफी चढाई चढ लेने के पश्चात् मार्ग के पास ही उन अनेक सुरंगो में से एक सुरग भी आई, जो कि रेल के लिए पहाड को बीच से तराश कर बनाई गई थी। प्रकृति की उन दुर्जेय दीवारो में अनेक सूराख करके मनुष्य ने मानो वहाँ अपनी अजेयता की घोषणा को दुहराया था।

उसके पश्चात् एक चढ़ाई और आई। फिर अपेक्षाकृत समभूमि आ गई। सम्भवत अनेक व्यक्तियों के मन में यह कल्पना रही थी कि चढ़ने के पश्चात् उतना ही उतरना भी होगा, पर वह कल्पना आकार ग्रहण नहीं कर सकी। बड़े आश्चर्य के साथ सबने देखा कि जितना चढ़े थे, वह सब हजम हो गया और अब उतनी ऊँची भूमि पर ही विहार करना था। सचमुच ही प्रकृति का वह एक बहुत बड़ा आश्चर्य था। न जाने उसमें कितनी विषमताएँ भरी पड़ी हैं और वे सब एक दूसरे की पूरक होकर रह रही है।

मेवाड़-प्रवेश

अरावली की पर्वत-श्रेणियों में ही मेवाड़ की सीमा प्रारंभ हो जाती है। आचार्यदेव उस दिन मेवाड-प्रवेश की अपनी प्रथम मंजिल तय करके पींपली में पधार गये। प्रथम वर्ष के जोधपुर-चातुर्मास में उदयपुर से स्पेशल ट्रेन ले जाकर सैकड़ों मेवाड़-वासियों ने दर्शन करके आचार्यदेव के चरणो में मेवाड़-पदार्पण के लिए प्रार्थना की थी। उस समय तो उन लोगों को केवल एक साधारण आश्वासन ही मिल सका था, किन्तु उसी के परिणामस्वरूप आचार्यदेव को वे मेवाड़ में पा रहे थे। अपनी उस सफलता पर सारा मेवाड़ उल्लास-पूरित हो गया था।

विभिन्न क्षेत्रो मे

वहाँ से देवगढ, आमेट, केलवा, राजनगर, कांकरोली तथा नाथद्वारा आदि छोटे-बड़े प्रायः सभी क्षेत्रों में आचार्यदेव पधारे। मेवाड़ का प्रत्येक क्षेत्र उनके स्वागत में पलकें बिछाए हुए प्रतीक्षा कर रहा था। मेवाड़ के इतिहास में सुप्रसिद्ध सोलह तथा बत्तीस के ठिकाणों से प्रारम्भ से ही तेरापन्थ का अच्छा संबंध रहा था, अतः उनके क्षेत्रों में जब आचार्यदेव पधारते, तो वे लोग भी सामने आते, दर्शन करते और व्याख्यान आदि का अच्छा लाभ लेते थे। उनकी औरतें चली आ रही प्राचीन पद्धति से ही रहा करती थीं, अत जनता में बाहर नहीं आती थीं। उनकी प्रार्थना पर अनेक जगह आचार्यदेव गढ़ों में पधार कर भी व्याख्यान देते थे। प्रत्येक क्षेत्र में उनके पदार्पण से एक नवीन हलचल मच जाया करती थी।

रावलियाँ की ओर

आचार्यदेव नाथद्वारा से ऋषिराय की जन्म-भूमि रावलियाँ की ओर पधारे, तो वहाँ की भूमि अपेक्षाकृत और भी ऊँची थी। प्रत्येक विहार में प्रायः अनेक चढ़ाव आ जाते, पर उतार बहुत कम आते। छोटा पगडंडी-सा मार्ग, वह भी बड़ा ऊबड़-खाबड़ और टेढ़ा-मेढ़ा, बिना माप के कोस, जो कि कहीं तीन मील के और कहीं चार-चार मील तक के निकल जाया करते थे। अब तो प्रायः हर ओर सड़कें बन गई है, परन्तु उस समय वहाँ किसी ने सड़क का स्वप्न भी नहीं देखा होगा। अब तो उन पहाड़ों में मोटरें दौड़ रही हैं, पर उस समय तो बैलगाड़ियों के लिए भी मार्ग नहीं था। टट्टुओं पर ही गमनागमन अवलंबित था।

बनास नदी प्राय: हर विहार में घूम-फिरकर मार्ग मे अनेक बार आ जाया करती थी। कही धूल से भरी हुई तो कही पत्थरो से। स्वय ही घिसपिट कर गोल-मटोल बने हुए और एक दूसरे के ऊपर चढे हुए उन पत्थरो को देखकर कल्पना होती कि प्रकृति की गोद मे पडे ये सब महादेव न जाने कितने समय से किसी भक्त की प्रतीक्षा मे व्याकुल हो रहे हैं। शायद उनकी भावना से अनभिज्ञ लोग अपनी ही कल्पना के अनुसार उन्हें वहाँ से ले आते है और चटनी पीसने के लिए लोढी के रूप में काम लेते हैं। आचार्यदेव की सेवा में साथ चलने वाले व्यक्तियों में से भी अनेकों ने, विशेष कर थली की स्त्रियो ने, उन्हें इसी काम के लिए चुन-चुन कर लिया और थली के अपने गाँवो में ले गई।

गोगूंदा में

रावलियाँ दो हैं—छोटी और बड़ी। वहाँ कुछ दिन विराजकर वे गोगूंदा की ओर पधारे। गोगूदा को मोटा-गाम भी कहा जाता है। वहाँ की भूमि आबू पर्वत से भी कुछ ऊँची बतलाई जाती है। ठडा प्रदेश है, अत: लू नही चलती। जेठ के मध्य में भी अच्छी ठड रहती है। वही समय वहाँ आमो के लिए भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि आधे जेठ से आधे आपाढ तक तो आमो की इतनी भरमार रहती है कि उन्हें अवेरा तक नही जा सकता। अनेक बार तो चार आने में एक टोकरी तक के भाव में विकने लगते हैं। उस समय परिवहन तथा मार्गों की सुविधा के अभाव में न वे कहीं बाहर भेजे जा सकते थे और न ही अधिक समय तक सुरक्षित रखे जा सकते थे। बाहर से आये हुए यात्रियो ने उस ऋतु का काफी लाभ उठाया।

महताजी की बाड़ी में

वहाँ से आचार्यदेव उदयपुर की ओर पधारे। नाथद्वारा से रावलियाँ और गोगूदा आते समय जहाँ चढाई अधिक और उतार कम था, वहाँ उदयपुर के मार्ग में उतार अधिक और चढाई कम थी। आपाढ शुक्ला तृतीया के दिन उदयपुर में पदार्पण हुआ और वहाँ फतहसिंहजी महता की बाडी में विराजे। महताजी यो तो वैष्णव थे, पर कालूगणी के बडे भक्त थे। पहले-पहल उन्होंने स० १६८३ के गगाशहर-चातुर्मास मे आचार्यदेव के दर्शन किये थे। उस समय उनके पिता पन्नालालजी महता उदयपुर के दीवान थे। फतहसिंहजी को महाराणा ने उसी वर्ष बीकानेर-दरबार के वहाँ किसी काम के लिए भेजा था। वहाँ उन्होने वह कार्य तो किया ही था, साथ ही कालूगणी के दर्शन का भी उन्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसी समय से वे कालूगणी के भक्त हो गये थे। उसके पश्चात् उन्हें फिर दर्शन करने का अवसर उस बार मेवाड पधारने पर ही मिला था। गोगूदा में उदयपुर के भाई जब दर्शन के लिए तथा उदयपुर पधारने की तिथि निश्चित कराने के लिए गये थे, तब महताजी भी उनके साथ थे। महताजी ने वहाँ कुछ दिन के लिए अपनी बाडी मे विराजने की प्रार्थना की थी। फलस्वरूप आचार्यदेव ने पहले-पहल का समय उन्हें ही दिया।

महाराणा का आगमन

दूसरे ही दिन सायकाल के समय वहाँ महाराणा भूपालसिहजी दर्शन करने के लिए आये। उस समय मेघ की सभावना भी काफी थी। बादल उमड-घुमड़ कर इस प्रकार चढे हुए थे कि अब-तब में वर्षा आने ही वाली हो रही थी। कालूगणी खुले आकाश के नीचे पट्ट पर विराजे थे। महाराणा आये और वदन कर सम्मुख बैठ गये। कालूगणी ने धर्मोपदेश दिया और वे हाथ जोडे श्रद्धावनत श्रवण करते रहे। लगभग आध घण्टे तक वह क्रम चलता रहा। उसके पश्चात् आचार्यदेव को नमस्कार कर महाराणा अपनी मोटर की ओर चले गये तथा आचार्यदेव मकान में। वे मोटर तक पहुँच भी नहीं पाये होंगे कि एक साथ ही बड़े वेग से वर्षा प्रारम्भ हो गई।

महाराणा ने बाद में महताजी को कहा था कि महाराज का उपदेश बडा नि.स्पृह था। फिर कभी ऐसा अवसर हो तो मुझे अवश्य कहना। ऐसे सन्तों के दर्शन करने से चित्त बडा प्रसन्न होता है। यद्यपि उसके पश्चात् महाराणा को फिर कभी दर्शन करने का अवसर प्राप्त नहीं हो सका, फिर भी वे अनेक बार आचार्यदेव के समाचार पूछते रहा करते थे, कभी महताजी को तो कभी हीरालालजी मुरड़िया को। कई बार आवश्यकता-अनुसार उन्होंने अपनी ओर से संघहित के अनुकूल कुछ सुझाव भी प्रेषित किये थे।

उदयपुर चातुर्मास

महताजी की बाड़ी में दो दिन विराजकर पचमी के दिन आचार्यदेव ने शहर में प्रवेश किया। बीस वर्षो के पश्चात् उनका वहाँ पदार्पण हुआ था। जनता में अपार उल्लास था। हर व्यक्ति के मन में उस शुभ दिन के लिए एक लबे समय से प्रतीक्षा थी। उसकी पूर्ति किसके लिए आह्लाद-जनक न होती? चातुर्मास में वहाँ के पचायती नोहरे में विराजना हुआ। वहाँ बाहर के लोग भी दर्शन-सेवा के निमित्त बहुत आये। मेवाड-वासियों के लिए तो सेवा का वह सर्वोत्तम अवसर था ही।

दीक्षा की तैयारी और विरोध

कार्त्तिक महीने में कुछ दीक्षाएँ होने वाली थी, अत: दीक्षार्थी अपने-अपने अभिभावकों को साथ लेकर अपने लिए दीक्षा की स्वीकृति पाने की चेष्टा करने लगे थे। बहुधा उन दिनों में दीक्षाएँ हुआ करती थीं, अत: उदयपुर में भी वैसा वातावरण बन रहा था। विद्वेषी जनों को सारे चातुर्मास में अपनी प्रकृति के अनुसार हो-हल्ला मचाने की कोई विशेष सामग्री प्राप्त नहीं हुई थी। वर्षा के दिनों में कुछ दिन वर्षा नहीं हुई, उतने दिनों तक अवश्य उन्हें यह कहने का अवसर मिला था कि तेरापन्थियों ने वर्षा रोक रखी है, परन्तु उस प्रचार को वर्षा ने अधिक चलने नहीं दिया। तब से वे इसी प्रतीक्षा में थे कि अब क्या किया जाए। दीक्षा

की बातें चलने लगीं, तो उन्हें लगा कि अब कुछ हाथ दिखाये जा सकते है। आचार्यदेव ने दीक्षा की कोई तिथि निश्चित नही की थी, उससे पूर्व ही उन लोगो की काररवाई प्रारभ हो गई। उन्होंने ठेट दरवार तक अनेक चिट्ठियाँ पहुँचाई, उनमें तेरापन्थ की भावी दीक्षाओ को रोकने की प्रार्थना थी।

महाराणा का सुझाव

विरोधी लोगो ने चाहा तो तेरापन्थ के विपरीत ही था, परन्तु वही कार्य उलटा तेरापन्थ के अनुकूल हो गया। आने वाले अनेक प्रार्थना-पत्रों को हीरालालजी मुरडिया को दिखाते हुए महाराणा ने उनके माध्यम से आचार्यदेव से प्रार्थना करवाई कि कार्त्तिक के शुक्ल पक्ष में वे दिल्ली जाने का सोच रहे है, अत दीक्षा उससे पहले-पहले हो जाए तो ठीक रहे। कुछ व्यक्ति उसमें बाधाएँ डालने का सोच रहे है। उनके दिल्ली जाने के पश्चात् सभव है, वे अधिक उद्दंडता पर उतर आयें। महाराणा के उस आशय को हीरालालजी ने आचार्यदेव से निवेदित कर दिया। चातुर्मास में दीक्षाएँ प्राय: कार्त्तिक मास में ही हुआ करती थी, अत. कालूगणी ने कार्त्तिक कृष्णा पचमी का दिन दीक्षा के लिए घोपित कर दिया।

दीक्षा का जुलूस

उस अवसर पर पन्द्रह दीक्षाएँ होने वाली थी। दर्शनार्थी लोगों का आगमन दीक्षा के आस-पास और भी अधिक होने लगा था। सारे नगर में एक प्रकार की नई हलचल-सी प्रतीत होने लगी थी। द्वेपीजनों को वह सब खटकने वाला था। रात्रि के समय दीक्षार्थियो का जुलूस निकाला गया। उसमें विरोधियो द्वारा अनेक प्रकार से बाधा डालने का प्रयास किया गया। पर तेरापन्थ की शान्ति-नीति के अनुसार ही वह सब झझट पार कर लिया गया और उन्हें अशाति उत्पन्न करने का अवसर नही दिया गया।

दीक्षा के दिन प्रात जो जुलूस निकाला गया, वह बहुत बडा और भव्य था। उसके लिए स्वय महाराणा ने अपना 'रण-कंकण' बाजा और 'ग्यारसिये' घोडे, जो कि केवल महाराणा की सवारी के जुलूस में ही सम्मिलित होते थे, विशेप रूप से भेजे और किसी प्रकार की बाधा न आने पाये—इसके लिए विशेप प्रबन्ध किया था।

दीक्षा स्थानीय कालेज के मैदान में होने वाली थी, अत वहाँ प्रात'काल से ही सहस्रो की सख्या में जनता एकत्रित होने लगी थी। जब वहाँ आचार्यदेव का पदार्पण हुआ और उसके पश्चात् जब जुलूस वहाँ पहुँचा तब तक तो जनता का एक सागर-सा लहराने लगा था।

बाधा का अन्तिम प्रयत्न

वहाँ ऐन अवसर पर अन्तिम प्रयत्न के रूप में बाधा डालने के लिए विरोधियो ने पहले से ही कुछ तैयारी कर रखी थी। उन लोगों ने पुलिस इन्सपेक्टर तथा सुपरिन्टेन्डेन्ट को सूचना

दी थी कि उदयपुर के कन्हैयालालजी कोठारी के लड़के मीठालाल को बलपूर्वक दीक्षा दी जा रही है। उसके माँ-बाप तो रो रहे हैं। सात दिनो से उन्होंने अन्न का दाना भी मुँह में नहीं लिया है और औंवे मुँह पडे हैं। स्वय बालक भी रो रहा है। उसकी दीक्षा लेने की तनिक भी इच्छा नहीं है, परन्तु तेरापन्थ के अगवाणी श्रावको ने उसे डांट-डपट कर दीक्षा के लिए तैयार कर रखा है।

उस सूचना के आधार पर वे लोग दीक्षा-पडाल में आये और सूचना-विषयक बात को छिपाते हुए साधारण रूप से ही दीक्षा के विषय में आचार्यदेव से जानकारी प्राप्त करने लगे। दीक्षाएँ जन-समूह के सम्मुख ही होने वाली थीं, उसमें छिपाने जैसी कोई बात थी ही नहीं। आचार्यदेव ने तेरापन्थ की दीक्षा-प्रणाली बतलाते हुए उन्हें तत्काल-प्राप्त आज्ञा-पत्र भी दिखलाए। उन्होने उसे ध्यान से पढा। उसके पश्चात् दीक्षा के लिए उपस्थित हुए व्यक्तियों को भी उन्होंने देखा। विशेषकर बालक मीठालालजी से उन्होंने दीक्षा-विषयक कुछ प्रश्न भी पूछे। उनके माता-पिता जो कि वहीं पास में खड़े थे, उन्हें भी देखा और बातचीत की।

जब उन्हें किसी भी प्रकार की कोई गडबड नहीं लगी और उन दीक्षाओं के औचित्य में उन्हे पूर्ण विश्वास हो गया, तब सारी बात खोलते हुए उन्होंने बतलाया कि हमारे पास तो ऐसी सूचनाएँ पहुँची थीं और हम उन्ही के आधार पर यहाँ आये। हमारा विचार था कि यदि सचमुच ही सूचना के कथनानुसार कार्य हो रहा होगा, तो हम लोग उसे अवश्य रोकेंगे, परन्तु यहाँ प्रत्यक्ष देखने से पता लगा कि हमें बिल्कुल विपरीत सूचना दी गई थी। आखिर वे भी दीक्षा देखने वालों में सम्मिलित हो गये।

दीक्षा-प्रदान

उसके पश्चात् दीक्षार्थी व्यक्ति जब साधु का बाना पहनकर उपस्थित हुए, तब जनता के उत्सुक नेत्र मानो उनकी ओर ही लग गये। आचार्यदेव ने दीक्षार्थियों के अभिभावकों से फिर मौखिक आज्ञा ली। और उसके पश्चात् उन सबको दीक्षा प्रदान की। दीक्षा के उस सारे दृश्य को प्रत्यक्ष देख लेने के पश्चात् विरोधियों के प्रचार से प्रभावित व्यक्तियों को भी पता लग गया कि वे किस प्रकार भ्रांत हो गये थे। उन पुलिस-अधिकारियों ने भी सभवत अपने मन में यही कहा होगा कि चलो अच्छा ही हुआ, अन्यथा हम लोग यह दृश्य नहीं देख पाते।

महाराणा के पास जाकर जब उन पुलिस अधिकारियो ने अपनी सारी घटना सुनाई और कहा कि हम लोग तो गये थे कुछ और ही उद्देश्य को लेकर, पर वहाँ जो सुना था उससे बिल्कुल उलटा मिला। तब महाराणा ने कहा कि आँख और कान का अन्तर तो केवल चार अगुल का ही है, पर उसे लाख हाथ का कहा जाय तो भी थोड़ा ही होता है। इस प्रकार अनेक विरोधों और बाधाओं के पश्चात् भी दीक्षा का कार्य सानन्द सम्पन्न हुआ।

मालव की प्रार्थना

उदयपुर-चातुर्मास में मालव देश के भाइयों ने आचार्यदेव के चरणों में मालव-पदार्पण के लिए बहुत जोर देकर प्रार्थना की। उन लोगों ने स० १९७२ में भी बहुत प्रार्थना की थी। स्पेशल ट्रेन लेकर वहाँ से एक सौ छह आदमी उदयपुर आये थे। उस समय आचार्यदेव ने विधिवत् स्वीकृति तो प्रदान नही की थी, परन्तु उन्हें काफी आश्वस्त अवश्य कर दिया था। इतना ही नही किन्तु मालव पधारने की धारकर मालव-सीमा के पार्श्ववर्ती क्षेत्र कानोड तक पधार गये थे। फिर भी परिस्थितिवशात् उस समय उधर पधारना नही हो सका था। वहाँ से वापस मुडकर वे रेलमगरा और मोई की तरफ पधारकर बाद में थली की ओर पधार गये।

इस बार भी मालव-निवासी बडे उत्साह से आये थे। तीन सौ आदमी स्पेशल ट्रेन में उदयपुर पहुँचे थे। उन्होंने प्रार्थना करते हुए कहा था कि मालव में आचार्यों का पदार्पण हुए इक्यासी वर्ष हो चुके है। स० १९११ में जयाचार्य पधारे थे। उसके पश्चात् हम लोगो को मानो भुला दिया गया है। ये वाक्य उनके हृदय की व्यथा के द्योतक थे, अत इस बार उन्हें यों ही भुलाया जाना उचित नहीं था। उन लोगों को आचार्यदेव ने निश्चित वचन तो इस बार भी नहीं दिया, पर प्रकारान्तर से यह जता अवश्य दिया कि यथासभव इस बार उनकी प्रार्थना निष्फल नही जायेगी। वे लोग आचार्यदेव के उस आश्वासन को गांठ में बाँधकर ही वहाँ से वापस मालव गये थे।

सारणा-वारणा का कार्य

चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् एक ओर तो मालव में पधारने की बात थी तथा दूसरी ओर शीतकाल में सम्मिलित होने वाले सारे सघ की सारणा-वारणा की बात थी। जहाँ यात्रा में देरी करना अभीष्ट नहीं था, वहाँ साधु-साध्वियों का वह कार्य भी अत्यन्त आवश्यक था। उन सब को मालव तक ले जाना सभव नही था। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए उन्होने चातुर्मास समाप्त होते ही शीघ्रता से राजनगर पहुँचने का निश्चय किया। साधु-साध्वियों को भी वहीं एकत्रित होने का आदेश दिया।

राजनगर में पधारते ही वे साधु-साध्वियो की पूछताछ में लग गये। दो महीनों में किया जाने वाला वह कार्य केवल पाँच दिनों में ही उन्होंने सपन्न कर दिया। आगामी चातुर्मास के लिए निर्देश तथा विहार के लिए चोखले आदि भी प्रदान कर दिये। थली के कुछ सिंघाड़े इतने शीघ्र नही पहुँच सके थे। अत उनके लिए आदेश-निर्देश देकर झमकूजी को कुछ दिन के लिए वहीं रख दिया और स्वय विहार करते हुए कानोड पधार गये।

(५) मालव-पदार्पण

स्वीकृति

कानोड मालव की सीमा के पास ही पड़ता है। अत. वहाँ पदार्पण से मालव-वासियों को बडा आत्मतोष हुआ। उन्हें अपनी चिरकालीन पिपासा को शांत करने का अवसर नजदीक

दिखाई देने लगा। यद्यपि मालव-विहार की स्पष्ट स्वीकृति उन्हें अभी तक नहीं मिली थी, फिर भी आसार बहुत स्पष्ट होते जा रहे थे। इस बीच वे भी निष्क्रिय नहीं थे। दूध का जला छाछ को भी फूकता है—इसी जनोक्ति के अनुसार उन्हें यह भय था कि कहीं स० १९७२ की तरह इस बार भी अवसर हाथ से न निकल जाये। इसीलिए आचार्यदेव के मुख से स्वीकृति प्राप्त कर लेने की उनकी भरसक चेष्टा थी।

कानोड में उन लोगों ने दर्शन किये। इस बार वे धार-विचार कर आए थे कि मालव पधारने की स्वीकृति लेकर ही वापस जाएँगे। उन्होंने अपनी भावना आचार्यदेव के सम्मुख ऐसे भाव और भक्ति-पूर्ण शब्दों में रखी कि उन्हें उस पर स्वीकृति प्रदान करनी ही पडी।

मालव-प्रवेश

मालव में तेरापन्थ की मान्यता के घर अपेक्षाकृत बहुत कम हैं, फिर भी उन सबका सम्मिलित उत्साह बडा ही प्रशंसनीय था। उसी उत्साह का फल था कि आचार्यदेव के चरण मालव की ओर बढ गये। कानोड से मालव की ओर विहार पौष कृष्णा त्रयोदशी को हुआ। बोहीड़ा, सादडी (बडी और छोटी) और बाघाणा होते हुए वे नीमच की छावनी पधारे।

मालव-प्रवेश के साथ ही ऐसा अनुभव होने लगा कि मानो भूमि की प्रकृति में कुछ अंतर आ गया है। उसे भूमि की प्रकृति का अतर न कहकर शासन-संबंधी और सामाजिक रहन-सहन की पद्धति-संबंधी अतर कहा जाना अधिक ठीक होगा। समतल और उपजाऊ भूमि तो मालव की अपनी विशेषता है ही, पर सडक का मार्ग सभी यात्रियों के लिए विशेष सुविधा का कारण था। अपेक्षाकृत साफ-सुथरे ग्राम और लिपे-पुते व्यवस्थित मकान वहाँ के ग्रामीणों की सुरुचि के परिचायक थे।

नीमच और स्थानाभाव

छावनी से विहार कर नीमच शहर पधारे। वहाँ स्थानकवासी जैनों के घर तो काफी थे, परन्तु मानसिक अनुकूलता नहीं होने के कारण साधु-साध्वियों तथा सेवा में चलने वाले यात्रियों को ठहरने के लिए वहाँ कोई स्थान प्राप्त नही हो सका। आखिर ग्राम से कुछ बाहर की तरफ एक राजपूत ने अपना मकान दिया। काफी अच्छा और बडा मकान था। खुली जमीन भी काफी थी। साधु वहाँ ठहरे, यात्री भी काफी मात्रा में वहाँ ठहरे और कुछ आस-पास के किसान भाइयों के घरों में ठहरे।

मध्याह्न के समय वहाँ के कुछ जैन भाई आये और बात ही बात में कहने लगे कि आप यह मत समझना कि शहर में मकान नहीं थे। मकान तो बहुत से थे, परन्तु हम आपको देना नहीं चाहते थे। जब हमारे पूज्य जवाहरलालजी महाराज थली में गये थे, तब आपके श्रावकों ने भी तो उन्हें स्थान नहीं दिया था। गोचरी के लिए जाते तो आपके अनुयायी कभी उनके पात्र में पत्थर डाल देते और कभी पिल्ले, यह सब हम कैसे सहन कर सकते है ?

आचार्यदेव ने उन्हें समझाते हुए फरमाया—"मकान देना या न देना यह तो आप लोगों की इच्छा की बात थी, परन्तु मन में जो गलत धारणाएँ हैं, वे तो कम-से-कम नही रहनी चाहिए। आप लोग इतना तो शायद जानते ही हैं कि उन्होंने थली में दो चातुर्मास किये थे। यदि किसी ने मकान नहीं दिया होता, तो फिर दो वर्ष तक कैसे ठहर पाते ? दूसरी बात पत्थर और पिल्ले पात्र में डाल देने की है, उसे तो आप लोग स्वयं ही थोड़ा-सा अनुमान लगाकर जान सकते हैं कि क्या कभी यह संभव है ? यह केवल भ्रांतियाँ फैलाने के लिए किया गया प्रचार ही है। यदि एक क्षण के लिए इसे सत्य भी मान लिया जाय, तो क्या यह प्रश्न पैदा नहीं होता कि क्या लेने वाला व्यक्ति कुछ देखता ही नही है, जो उसके पात्र में पिल्ला या पत्थर भी डाला जा सकता है ?" इन भ्रांतियों के निराकरण के पश्चात् आचार्यदेव ने उन्हें तेरापन्थ की मान्यता विषयक जानकारी भी दी। दूसरे दिन वहाँ से विहार कर मदसोर की ओर पधार गये।

जावरा में विरोधी प्रचार

मदसोर से विहार करते हुए आचार्यदेव जावरा पधारे। विरोधियो ने उनके आगमन से पूर्व ही तरह-तरह के विरोधी प्रचार से वहाँ के वातावरण को इस प्रकार का बना दिया था कि मानो नगर में उनके आगमन से कोई बहुत ही भयकर घटना घटित होने वाली हो। जिन्होंने अपने जीवन में तेरापन्थ का नाम तक भी नही सुना था, उनके सामने जब पैम्फलेटो के रूप में उसका गलत और भयंकर रूप प्रस्तुत किया गया, तो सहज ही जनता को यह उत्सुकता हुई कि आखिर ये आने वाले कौन है ? इनके विरुद्ध इतना प्रचार किसलिए किया जा रहा है ?

द्वेष और विरोध तो जिन व्यक्तियों के मन में था, उन्ही के था, जनसाधारण को तो उस अकारण द्वेष से आश्चर्य ही हुआ। जब आचार्यदेव का जावरा में पदार्पण हुआ, तो प्रायः प्रत्येक नुक्कड पर आदमियों की भीड उनकी प्रतीक्षा में खडी थी। यदि इतना विरोधी प्रचार न हुआ होता, तो जनता में इतनी जिज्ञासा और उत्सुकता भी न हुई होती। उन लोगों का विरोध भी तेरापन्थ के लिए अनुकूलता में परिणत हो गया।

आचार्यदेव का वहाँ बाजार की एक धर्मशाला में विराजना हुआ। पहले एक दूसरे मकान में ठहरने का निर्णय किया गया था, किन्तु विरोधियो द्वारा मकान मालिक पर दबाव डालकर उसे इनकार कर देने को बाध्य कर दिया गया। इसलिए विराजने तथा प्रथम व्याख्यान के लिए उस धर्मशाला को ही उपयुक्त समझा गया। धर्मशाला के बाहर का चौक जनता से ठसाठस भरा हुआ था। इतनी जनता के आगमन की कल्पना भी नही थी। परन्तु वह सब उनके ही कारण संभव हुआ, जो कि यह चाहते थे कि तेरापन्थियो के पास कोई भी न जाए।

आचार्यदेव ने अपने व्याख्यान में तेरापन्थ की रीति-नीति तो बतलाई ही, साथ में उन भ्रांतियो का निराकरण भी किया जो कि विभिन्न पैंफलेटो द्वारा जनता में प्रचारित की गई थी। व्याख्यान की समाप्ति के पश्चात् लोगों की प्रतिक्रिया से पता लगा कि वे सब बड़े प्रभावित हुए थे। कई दिनों के धुआधार और अनर्गल प्रचार का महत्त्व आचार्यदेव के आध घंटे के भाषण मात्र से धराशायी हो गया। वह कुछ वैसा ही सहज चमत्कार था, जैसा कि रातभर के संचित अंधकार का सूर्यागमन के एक क्षण में ही नष्ट हो जाने में तथा सारी ग्रीष्म-ऋतु के अर्जित ताप का प्रथम वर्षा के आगमन पर शांत हो जाने में होता है।

रतलाम में

जावरा से विहार कर आचार्यदेव रतलाम पहुँचे। वहाँ भी पैंफलेटों से विरोधी-प्रचार खूब किया गया। फलस्वरूप जनता में काफी कुतूहल तथा जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। प्रथम व्याख्यान में ही आचार्यदेव ने पैंफलेटों के उन आक्षेपों का जब स्पष्टीकरण किया, तब उपस्थित जनता में से एक डाक्टर ने उठकर कहा—"सारे शहर में पैंफलेटों के कारण एक ऐसा वातावरण बन गया था, जैसा कि किसी बालक के सामने हौए की बातों से बन जाया करता है। हम लोग उन्ही बातो का स्पष्टीकरण करवाना चाहते थे कि उनमें कहाँ तक सत्य है। पर आपने अपने प्रथम व्याख्यान में ही बिना किसी के कुछ पूछे स्वय ही सारा भ्रम दूर कर दिया।"

'राड-नपूती' की प्रतीक्षा

आचार्यदेव का रतलाम में चार दिन विराजना हुआ। तीसरे दिन मध्याह्न में कई पंडित आये। उन्होंने बतलाया—"हम आये नहीं है, किन्तु हमें आना पडा है। आपके आगमन से पूर्व आपके विरुद्ध जो प्रचार किया गया था, उसे पढ-पढकर हमलोग आपके आगमन के दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे। हम समझ रहे थे कि आप के आगमन के साथ ही 'रांड-नपूती' की लड़ाई प्रारम्भ हो जाएगी। एक तरफ के पैंफलेटो को तो देख चुके थे, अब दूसरी तरफ की बारी थी। किन्तु वैसा कुछ नही हुआ। आपको आये आज तीन दिन हो रहे है, फिर भी उनके विरुद्ध किसी प्रकार का निन्दात्मक प्रचार आपकी ओर से नही आया, तब मन ने कहा ये कोई साधु-पुरुष है। अन्यथा एक को वमन होते देखकर दूसरे को भी बहुधा हो जाया करता है। आश्चर्य है कि आपने उस सारी निंदा को भी पचा लिया है।"

आचार्यदेव ने अपने प्रचार की पद्धति बतलाते हुए कहा—"हम किसी की निंदा करके अपना प्रचार करने में विश्वास नहीं करते। हम उसे निम्न श्रेणी का कार्य समझते है, अत॰ एक कोई अज्ञानवश वैसा करता हो तो हमें वैसा ही करने की क्या आवश्यकता है? वमन देखकर वमन तो वही करता है, जिसकी पाचन-शक्ति निर्बल हो। हम तो अपने पूर्वजों से यही पाठ पढते आये हैं कि यदि प्रचार करना हो तो अपना सिद्धान्त बतलाओ। दूसरे को बुरा कहने से स्वयं कोई भला नहीं बन सकता।"

पडित-वर्ग ने आचार्यदेव के मुखारविंद से जब यह बात सुनी, तो वे गद्गद् हो गये। उन्होंने आचार्यदेव के उस सिद्धान्त को एक अमूल्य सिद्धान्त माना और उन्हें देव-पुरुष मानते हुए श्रद्धा-युक्त प्रणाम करके अपने को पवित्र किया।

बड़नगर में मर्यादा-महोत्सव

आचार्यदेव रतलाम से विहार कर बडनगर की ओर पधारे। मर्यादा-महोत्सव वहीं करने का निर्णय था, अतः विलम्ब करना उचित नही था। यद्यपि उस समय वहाँ तेरापन्थ के केवल तीन ही घर थे, परन्तु तीनो ही सुसम्पन्न थे। आचार्यदेव के मालव-पदार्पण में उन लोगों ने विशेपरूप से सेवा की थी। यद्यपि उस मर्यादा-महोत्सव पर अडतालीस साधु और बावन साध्वियाँ ही एकत्रित हो सकी थी, किन्तु जनता बहुत बडी सख्या में दर्शनार्थ आई थी। वहाँ पर मालव के कुछ तो ऐसे व्यक्ति भी आये थे, जिन्होंने अपने जीवन मे प्रथम बार ही आचार्यदेव के दर्शन किये थे। वहाँ माघ शुक्ला चतुर्थी को पदार्पण हुआ और पूर्णिमा को उज्जयिनी की ओर विहार हो गया।

उज्जयिनी मे

उज्जयिनी भारत की प्राचीन नगरियो में से एक है। वह नगरी अपने गर्भ में न जाने कितने साम्राज्यो के उत्थान और पतन का इतिहास छिपाई हुई है। किसी युग में वह सारे भारत का हृदय थी, पर अब उसके वे दिन बीते युग की एक कहानी मात्र रह गये हैं। अब वह कहीं की राजधानी नहीं है। भारत की वह गौरवमंडिता प्राचीन राजधानी अब एक भारतीय विधवा का सा जीवन विता रही है। वहाँ के विशाल मदिरों आदि का जो रोचक वर्णन और परिवर्तनशील इतिहास मिलता है, वह अब उसे केवल प्राचीनता का ही गौरव प्रदान कर सकता है। उसके साथ समाज के हृदय की धड़कन का कोई विशेप सम्बन्ध नही रह गया है।

आचार्यदेव के पदार्पण से वहाँ के सुप्त वातावरण में एक लम्बे समय के पश्चात् फिर से जनता के कानों में यह वात पडी की धर्म का सम्बन्ध सीधा जीवन से है। यदि जीवन में कोई परिवर्तन लाये विना जीवन भर क्रिया-कांडो में अपने को लगाये रखे, तो उससे लक्ष्य की प्राप्ति नही की जा सकती। उनकी वह वाणी अवश्य ही एक नवीन सदेश देने वाली थी।

इन्दौर मे

उज्जयिनी के पश्चात् वे इन्दौर पधारे। वहाँ सर हुकम चंदजी के मकान मे विराजे। सर हुकम चदजी दिगम्बर जैन थे। वे बड़े धनाढ्य व्यक्ति थे। शहर में उनके अनेक महल और कोठियाँ थी। उन्होंने सेवा में आये हुए यात्रियों का अच्छा सत्कार किया। मोती-महल में उन सबको ठहराया गया। आचार्यदेव के पास वे अनेक वार आये और दर्शन, सेवा तथा

तत्त्व-चर्चा से लाभान्वित हुए। सर हुकम चदजी तथा वहाँ के श्रावकवर्ग के विशेष आग्रह पर आचार्यदेव ने होली तक वही विराजना स्वीकार कर लिया।

आचार्यदेव जहाँ विराजे थे, वहाँ से कुछ दूर पर ही सर हुकमचन्दजी द्वारा निर्मित जैन मन्दिर था। उसमें पुस्तक-भडार भी था। उन्होंने वहाँ पधारने तथा पुस्तकों आदि का निरीक्षण करने के लिए प्रार्थना की। आचार्यदेव वहाँ पधारे और देर तक विराज कर पुस्तकों आदि का निरीक्षण किया।

पेटलावद में

वहाँ से केसूर, बखतगढ तथा झखणावद विराजते हुए आचार्यदेव चैत्र-पूर्णिमा को पेटलावद पधारे। एक दिन वहाँ के कुछ विरोधी व्यक्ति सम्मिलित होकर आये। ऊपर से तो उनका उद्देश्य बातचीत करने का ही कहा गया था, परन्तु अवसर पाकर कलह करने की भावना भी कही अंतरंग में काम कर रही प्रतीत होती थी। उन्होंने अपनी ओर से वैसी कुछ भूमिका तैयार करने का भी प्रयास किया था, किन्तु अंततः उनकी वह भावना सफल नहीं हो सकी। फिर भी उनके कुछ कटु शब्दों ने दोनों समाजों में एक बार के लिए कुछ पारस्परिक कटुता अवश्य उत्पन्न कर दी थी। पेटलावद में ग्यारह दिन विराजना हुआ, उसके पश्चात् फिर रतलाम की ओर विहार हो गया।

फिर रतलाम में

रतलाम से चलकर फिर रतलाम पहुँचने में आचार्यदेव को लगभग ढाई सौ मील का चक्कर लगाना पडा। उस बार रतलाम में वहाँ के दीवान तथा कौंसिल के अनेक सदस्यों ने गुरुदेव के दर्शन का लाभ प्राप्त किया।

मालव-यात्रा की संपन्नता

रतलाम से वैशाख शुक्ला षष्ठी को आचार्यदेव ने विहार किया। वह विहार एक प्रकार से उस मालव-यात्रा का उपसहार कहा जा सकता है। उस उपसंहारात्मक विहार में वे सेलाना, जावरा, मन्दसोर और नीमच होते हुए जावद पधारे। वहाँ मालव-यात्रा की सपन्नता समझी जा सकती है, क्योंकि वहाँ से विहार कर आचार्यदेव को पुनः मेवाड़ में प्रविष्ठ होना था।

मालव की उस ऐतिहासिक यात्रा में लगभग चार महीने का समय लगा। वह यात्रा बहुत लाभदायक तथा उत्साह-वर्धक रही। मालव-वासियों के लिए तो वह एक स्वर्णिम अवसर ही था। उन लोगों ने सेवा भी बड़ी भाव-प्रवणता के साथ की थी। मालव के अतिरिक्त अन्य प्रदेशो के व्यक्तियों ने भी उस अवसर का अच्छा लाभ लिया था। थली के अनेक

व्यक्तियों तथा परिवारों ने उस यात्रा में प्रारम्भ से अन्त तक सेवा की। मेवाड तथा मारवाड आदि प्रदेशों के व्यक्तियों का भी आवागमन प्रायः चालू ही रहा था। सब मिलकर उस यात्रा में काफी लोग आचार्यदेव की सेवा में साथ-साथ रहे। अनेक व्यक्तियों ने उस यात्रा में एक-दो तथा तीन-तीन बार तक दर्शन किये थे। बम्बई वाले मगन भाई ने तो इस विषय में पराकाष्ठा ही कर दी थी। उन्होने तेरह बार दर्शन किये थे। सरदारशहर के गणेशदासजी गधैया ने उस यात्रा में जन-सम्पर्क में काफी बडा सहयोग दिया। इस प्रकार मालव-यात्रा का वह प्रेरक प्रसग सारे संघ के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण रहा।

: ७ :

विविध जीवन प्रसंग

जन्म-घोषणा

आचार्य कालूगणी का जब जन्म हुआ था, तब मघवागणी बीदासर में विराजमान थे। उसी दिन व्याख्यान में वहाँ के नामी श्रावक नगराजजी बँगानी ने खडे होकर कहा—"तेरापन्थ के एक प्रभावक आचार्य का आज जन्म हुआ है और वह स्थान यहाँ से चार कोस के अन्दर-अन्दर है।" कहा जाता है कि उनके किसी देव का इष्ट था और उसीके कथनानुसार उन्होंने यह बात सभा में कही थी।

भविष्य-वाणी

कालूगणी के दादा बुधसिंहजी कोठारी ने नवजात शिशु का जन्म-समय देकर अपने एक परिचित ज्योतिषी से कुण्डली बनवाई। उस वृद्ध ज्योतिषी ने कुण्डली बनाकर देते हुए यह भविष्यवाणी की थी कि इस जातक (सन्तान) के तैंतीसवें वर्ष में द्वार पर हाथी बंधेगा। यह इतना प्रभावशाली होगा कि प्रतापी नरेशों के बीच में इसको कुर्सी लगेगी। अनुभवी ज्योतिषी की वह भविष्यवाणी उस रूप में तो नहीं, किन्तु अपने दूसरे रूप में कितनी स्पष्ट और सत्य थी—यह उनके जीवन से परिचित हर एक व्यक्ति जान सकता है। वे तैंतीसवें वर्ष में आचार्यपद पर आसीन हुए थे और अनेक नरेश उनके प्रति विशेष श्रद्धा रखते थे।

स्वाभिमानी व्यक्तित्व

कालूगणी का स्वाभिमान बाल्यावस्था से ही अत्यंत जागरूक था। जब वे दीक्षा ग्रहण करने के लिए बीदासर गये, तब उनकी बनोरियां निकाली जाने लगी। वहाँ के प्रमुख श्रावक शोभाचन्दजी बँगानी ने उस समय के लिए उनके गले में अपना एक बहुमूल्य कण्ठहार पहनाना चाहा, किन्तु स्वाभिमानी बालक ने पहनने से इनकार कर दिया। काफी आग्रह करने के पश्चात् भी वे उसके लिए उद्यत नहीं हुए। दूसरो के आभूषणों से बढने वाली शोभा और सुन्दरता की अपेक्षा उनके लिए अपना स्वाभिमान कही अधिक मूल्यवान् था। विचारो का यही बीज आगे चलकर उनके जीवन मे सिद्धान्तवादिता के रूप में प्रस्फुटित हुआ।

छोटे बछड़े

कालूगणी अनेक बार अपने कुछ विशिष्ट स्वप्नों का अर्थ लगा लिया करते थे और वह बहुधा मिल जाया करता था। एक बार आचार्य बनने के कुछ समय पश्चात् उन्होंने एक स्वप्न में छोटे-छोटे बछडे देखे। उन्होने उसका अर्थ लगाते हुए कहा—"बालक अवस्था में

साधु बनने वाले व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक होंगे।" उनका वह स्वप्नफल बिल्कुल ठीक निकला। उनके शासनकाल में बाल्यावस्था में दीक्षित होने वाले साधु-साध्वियों की सख्या बहुत बड़ी थी।

मुझे आवश्यकता है

बालक-साधुओं के जीवन-निर्माण में वे सदा जागरूक रहा करते थे। उनका वात्सल्य बालक साधुओं के लिए अमृत के समान कार्य करने वाला होता था। उनका एक-एक वाक्य बालकों के प्रति उनकी गहरी दिलचस्पी का द्योतक होता था। सं० १९८० के जयपुर-चातुर्मास की बात है। मुनिश्री धनराजजी तथा मुनिश्री चन्दनमलजी उस समय नवदीक्षित बाल साधु ही थे। एक बार उनमें परस्पर झोड हो गया। मुनि धनराजजी उनके संसार-पक्षीय बड़े भाई थे, अत वे छोटे भाई की शिकायत लेकर कालूगणी के पास पहुँचे और निवेदन किया—"यह तो कहता है—'आपको सिखाने की गरज हो तो स्वयं रटते जाइये। आप रटेंगे, तब मैं सुन-सुन कर ही याद कर लूंगा।' पर मुझे क्या आवश्यकता है कि मैं अनावश्यक ही इसके लिए रटन लगाता रहूँ?"

मुनि चन्दनमलजी ने भी अपनी सफाई प्रस्तुत करते हुए बाल-सुलभ सरलता से कहा—"जब इन्हें सिखाने की गरज नहीं है, तो मुझे सीखने की क्या गरज है? इन्हें आवश्यकता हो तो स्वयं रट-रट कर सिखाएँ, नही तो न सही।"

कालूगणी ने दोनों के सिर पर हाथ रखते हुए समाधान किया—"न तो तुझे आवश्यकता है और न इसे, पर मुझे आवश्यकता है, अत दोनो को ही परिश्रम से सीखना चाहिए।"

धब्बों वाला कंबल

कालूगणी बालकों की प्रत्येक मानसिक उलझन को बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से सुलझाया करते थे। स० १९८९ के सरदारशहर-चातुर्मास की बात है। तब मैं और मुनि नथमलजी बालक ही थे। एक कंबल आया था, वह हम दोनों को आधा-आधा दिया जाने वाला था। हमें किसी के कथन से यह पता लग गया कि उसके एक हिस्से में कुछ काले धब्बे लगे हुए हैं। जब दो टुकड़े करके कालूगणी हमें देने लगे, तो हम दोनों ने ही समानरूप से बिना धब्बे वाला टुकड़ा मांगा। आखिर कालूगणी ने दोनो टुकड़ो को अपने नीचे दबाया और केवल दो छोर ऊपर रखकर उनमें से एक-एक को पकड़ लेने के लिए कहा। हम दोनों ठिठके तो सही, पर आखिर एक-एक किनारा पकड़ लिया। कवलों की पांती हो चुकी थी। धब्बों वाला टुकड़ा मुनि नथमलजी के आया, अत वे थोड़े से उदास हुए, किन्तु बाद में जब वे धुलकर वापस हमारे पास आये तो धब्बे दोनों में से किसी पर भी नहीं थे।

मुझे भी भर्तृशतक चाहिए

सं० १६८६ में एक वार आचार्यदेव डूंगरगढ में विराज रहे थे। उन्होंने मुनिश्री नथमलजी को भर्तृशतक प्रदान किया। मैं उस समय वहाँ नहीं था, अतः वे उसे लेकर सीधे मेरे पास ही आये। मैंने उसे देखा तो सीधा गुरुदेव के पास जाकर वोला—"मुझे भी भर्तृशतक चाहिए।" एक वार तो उन्होंने फरमाया कि अब भर्तृशतक कहाँ है ? पर जब मैंने दुवारा भी अपनी वात को दुहराया, तो उन्होंने मुनिश्री चौथमलजी के 'पूठें' से एक दूसरा भर्तृशतक निकलवाकर मुझे दिया। यह थी वालकों के मन को परोटने की उनकी पद्धति।

कविता का पत्र

सं० १६६० में गुरुदेव जब वीदासर में थे, तब उन्होंने कविता का एक पत्र मुझे प्रदान किया। उस समय मुनि नथमलजी वहाँ नहीं थे। मैंने उन्हें यह पत्र दिखलाया तो वे भी तत्काल आचार्यदेव के पास से उन्हीं कविताओं का पत्र माँगने लगे। आखिर आचार्यदेव ने उन्हें नवीन पत्र लिखवाकर प्रदान किया। वस्तुतः वे वालकों के मन को तोड़ना तो कभी जानते ही नही थे।

आप भी बच्चों में मिल गये

एक वार आचार्यदेव डूगरगढ में विराजमान थे। वहाँ रात्रि के समय कहीं थोडी ही दूर पर से एक प्रकाश दिखाई दे रहा था। आचार्यदेव के पास उस समय मुनि धनराजजी, मुनि चंदनमलजी तथा मुनि तुलसीरामजी (आचार्य श्री तुलसी) वैठे हुए उसी प्रकाश के विषय में चर्चा कर रहे थे। कोई उसे विजली का प्रकाश वतला रहा था, तो कोई अन्य कुछ।

कालूगणी ने उन्हें टोकते हुए वीच में ही फरमाया—"नही, यह तो गली के नुक्कड़ पर लगी हुई लालटेन का प्रकाश है।"

वह वात सुनकर सवने 'तहत्त' तो कह दिया, किन्तु समर्थन फिर भी विजली का ही होता रहा। पास में विराजमान मगनलालजी स्वामी ने भी विजली का ही समर्थन किया। तब आचार्यदेव ने फिर फरमाया—"मैंने पहले इसे देखा था, यह विजली का नहीं, किन्तु लालटेन का ही प्रकाश है।"

इस पर मगनलालजी स्वामी तो 'तहत्त' कहकर चुप हो गये, पर तीनों विद्यार्थी साधुओं का मन माना नहीं। उनमें से एक उठा और वाहर वरामदे में जाकर, जहाँ से कि वह स्थान स्पष्ट दिखाई देता था, देख आया। उसके आते ही सवने उत्सुकतावश पूछा कि क्या था ? उसने वतलाया कि विजली नहीं, लालटेन ही है।

इतनी देर सारी वातें ध्यान से सुन लेने के पश्चात् कालूगणी ने सवको उपालम्भ देते हुए फरमाया—"जब मैंने दो वार कह दिया कि यह लालटेन का ही प्रकाश है तो क्या तुम

लोगो को फिर भी आग्रह रखना चाहिए था ? आखिर तुम लोग वहाँ जाकर देख आये तभी विश्वस्त हुए।" मगनलालजी स्वामी की ओर रुख करते हुए उन्होंने फरमाया—"ये तो क्या जाने बच्चे थे, पर आप भी इनमें ही मिल गये। मेरे द्वारा इतना स्पष्ट कहे जाने पर भी इन्हें आग्रह करने तथा जाकर देखने से आपने टोका नही।"

मगनलालजी स्वामी अत्यन्त सावधान व्यक्ति थे, फिर भी उस समय उनका ध्यान चूक गया था, अत वे भी उपालभ के भागी बन गये। उन्होने तत्काल आचार्यदेव के कथन का सम्मान करते हुए आगे के लिए सावधानी वरतने की प्रार्थना की।

सुसरा देखै के सै?

भिवानी का सुप्रसिद्ध श्रावक द्वारकादास प्राय प्रतिवर्ष एक या दो वार सेवा में आ ही जाया करता था। उसका परिवार बहुत बडा था, अत जब भी सेवा में आता, तब उसके साथ दस-पन्द्रह व्यक्तियो का होना तो एक साधारण बात थी। थोड़े से व्यक्तियों के साथ उसे अच्छा भी नही लगा करता था। वह उदार-प्रकृति का व्यक्ति था, अत अपने परिवार के अतिरिक्त भी अनेक व्यक्तियों को वह अपने यहाँ ठहरने तथा भोजन करने को बाध्य करता रहता था। दान की प्रवृत्ति उसमें यथेष्ट से भी कुछ अधिक थी, अत· कदाचित् मनाही करते रहने पर भी पात्र में अधिक गिराने की चेष्टा वह कर लिया करता था।

बीदासर में एक वार मुनिश्री मगनलालजी उसके यहाँ गोचरी पधारे। स्वभावानुसार उसने कुछ अधिक डाल दिया। उन्होंने स्थान पर आकर आचार्यदेव से निवेदित किया कि आज तो द्वारकादास ने अधिक डाल दिया है। आचार्यदेव ने फरमाया कि यों अधिक कैसे डाल देता है, अपनी ओर से थोडी अधिक सावधानी वरतनी चाहिए। मगनलालजी स्वामी ने 'तहत्त' कहकर उस बात को वही समाप्त कर दिया।

कालांतर में महीने भर की सेवा के पश्चात् जब द्वारकादास वापस जाने को तैयार हुआ, तब उसने स्वय कालूगणी को गोचरी पधारने के लिए प्रार्थना की। उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया और गोचरी के समय वहाँ पधारे। वे जब किसी के घर गोचरी पधारा करते थे, तब झोली में एक छोटी पात्री रखकर उसे वे स्वय अपने हाथ में ही लेकर पधारा करते थे। उसी क्रम से वहाँ भी पधारे।

गोचरी लेते समय जब कालूगणी ने वही पात्र सामने किया, तो द्वारकादास ने बहुत अनुनय-विनय किया कि जब आप स्वयं ही पधार गये है तो कुछ बडा पात्र हाथ में लेने की कृपा कीजिए। किन्तु आचार्यदेव नही माने। आखिर द्वारकादास उसी पात्र में बहराने के लिए पहले-पहल स्वय ही प्रस्तुत हुआ। जितना उसके हाथ से लेना अभीष्ट था, उतना ही जब उसके हाथ में आहार रहा, तब आचार्यदेव ने झोली खोली और उसमें रखे पात्र में बहरा देने के लिए कहा। द्वारकादास ने अपने हाथ में लिया हुआ आहार झोली में रखे पात्र में रख दिया और

साथ ही अपना हाथ भी उसी में रख दिया। पास में खड़े दूसरे व्यक्ति को कोहनी से सावधान करते हुए कहा—"मुसरा ! देखै के सै ? इसा मोका के बार-बार आवै सै ?"

बस उसके इतना कहते ही साथ के भाइयों ने वह पात्र भर ही नहीं दिया, किन्तु ऊपर तक उसके शिखा चढ़ा दी। कालूगणी फरमाते ही रह गए, किन्तु द्वारकादास ने अपना हाथ तब तक झोली में से नहीं निकाला, जब तक कि सबने अपनी ओर से थोड़ा-बहुत नहीं बहरा दिया। आखिर उसने हाथ उठाया, तब उस आहार को दूसरे बड़े पात्र में ही रखना पड़ा। कालूगणी ने उसे समझाने के लिए फरमाया कि यह डालने की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। पर उसने वापस प्रार्थना करते हुए कहा—"हमें भिवानी में तो ऐसा अवसर ही नहीं मिलता, क्योंकि वहाँ तो थोड़े से साधु या साध्वियाँ आती हैं, अतः अधिक डाल देने से उन्हें दिक्कत हो सकती है, पर यहाँ तो बहुत से साधु-साध्वियाँ हैं। यहाँ आप छोटी-सी पात्री रखकर ही हमें संतुष्ट करना चाहते हैं, यह कैसे हो सकता है ?"

कालूगणी ने तब मगनलालजी स्वामी से कहा—"ये लोग जब मेरे साथ भी ऐसा कर देते हैं तो संतों के साथ ऐसा करने में तो आश्चर्य ही क्या हो ?"

मगनलालजी स्वामी ने विनोद में कहा—"साधुओं को तो आपके उपालंभ का भय रहता है, अतः वे पूरी सावधानी बरतते हैं। पर आपको तो कोई उपालम्भ देने वाला भी नहीं है। इस बात पर सारा वातावरण हँसी से गूँज उठा।"

चिथड़ों के शेर

एक बार सती छोगांजी की प्रार्थना पर बीदासर में मर्यादा-महोत्सव होना प्रायः निश्चित सा हो चुका था। परन्तु आचार्यदेव के द्वारा उसकी घोषणा होनी अवशिष्ट थी। श्रीचंदजी गधैया सरदारशहर के लिए प्रार्थना कर रहे थे। उन्होंने आचार्यदेव को तो बहुत जोर देकर प्रार्थना की ही थी, पर प्रायः संतों को भी अपनी सहायता के लिए तैयार कर लिया था। यहाँ तक कि मगनलालजी स्वामी ने भी श्रीचन्दजी की प्रार्थना स्वीकार करने की ओर आचार्यदेव का ध्यान आकृष्ट किया।

आचार्यदेव ने सन्तों को बुलाकर सामूहिक रूप से पूछा—"श्रीचन्दजी इतनी प्रार्थना कर रहे हैं, परन्तु अन्य वर्षों की अपेक्षा इस वर्ष शीत कहीं अधिक जोर से पड़ रहा है। ऐसी ऋतु में वृद्ध, ग्लान आदि सब साधु-साध्वियों को लेकर वहाँ तक जाना कष्ट-साध्य ही हो सकता है। इस विषय में तुम लोगों का क्या विचार है ?"

उस पृच्छा पर प्रायः सभी ने एक स्वर से यही प्रार्थना की—"हमको चलने में कोई कष्ट नहीं है, आप श्रीचन्दजी पर अवश्य कृपा करें।"

आचार्यदेव उनकी एक-स्वरता पर जहाँ आश्चर्य-चकित हुए, वहाँ श्रीचन्दजी की विनयशीलता पर भी मुग्ध हुए बिना नहीं रह सके। स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि उन्होंने छोटे से लेकर बड़े सन्तों तक, सभी के पास पहुँचकर उनको उस शीत में चलने को तैयार किया

था। जब सबकी ऐसी तैयारी देखी, तो उन्होंने सरदारशहर के लिए मर्यादा-महोत्सव की स्वीकृति प्रदान कर दी। श्रीचन्दजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और प्रारभिक तैयारी के लिए सरदारशहर चले गये। बीदासर वालों को वह बात अवश्य अखरी। किसी-किसी ने तो कह भी दिया कि आज यदि शोभाचन्दजी बैंगानी जीवित होते, तो यहाँ का निश्चित-प्राय: महोत्सव यों कोई भी नहीं ले जा सकता था।

उस मर्यादा-महोत्सव की प्रार्थना के विषय को लेकर एक दिन कालूगणी ने विनोद में सतों को फरमाया—"तुम सब चिथड़ों के शेर हो गये। इस बार तो मगनलालजी स्वामी भी तुम लोगों में ही मिल गये। सारे सघ की सुविधा-असुविधा को देखे बिना ही किसी की प्रार्थना पर इतना मुग्ध हो जाना किस काम का है ?"

नि.शल्यभाव और चातुर्मास

सरदारशहर के श्रीचन्दजी गधैया तथा वालचन्दजी सेठिया में परस्पर किसी बात को लेकर अनबन हो गई थी। दोनों ही व्यक्ति वहाँ के प्रमुख श्रावक तथा धर्म के मर्मज्ञ थे। बात की पकड भी दोनों के ही काफी थी। साधु-साध्वियाँ प्राय: वहाँ कभी इनके और कभी उनके मकान में रहा करते थे। अनबन अधिक बढ जाने पर वे एक दूसरे के स्थान की भी कमियाँ बताने लगे। गधैयाजी के यहाँ साधु ठहरे हुए होते तो सेठियाजी तथा सेठियाजी के यहाँ ठहरे हुए होते तो गधैयाजी, प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से साधुओं के मन पर यह प्रभाव डालना चाहते कि यह स्थान ठहरने योग्य नहीं है।

वर्षों तक यह तनाव योंही चलता रहा। अनेक प्रयास करने पर भी कोई झुकने के लिए तैयार नहीं हुआ। उन्हीं दिनों कालूगणी का वहाँ पदार्पण हुआ। सरदारशहर की जनता ने काफी उत्साह से आचार्यदेव की सेवा की। जब वहाँ से विहार होने लगा तो सबने साधुओं का चातुर्मास कराने के लिए प्रार्थना की। चातुर्मास प्रारम्भ होने में अधिक दिन अवशिष्ट नहीं थे, अत सभी को यही आशा थी कि अब तो फरमा ही देंगे। किन्तु उन्होंने कुछ नहीं फरमाया। आखिर दुवारा-तिवारा प्रार्थना की गई तो भी नहीं फरमाया, तब लोगों को कुछ आश्चर्य तथा कुछ दुःख भी हुआ। उन लोगों ने फिर से काफी दबाव देकर प्रार्थना की, उसमें श्रीचन्दजी गधैया तथा वालचन्दजी सेठिया दोनों ही सम्मिलित थे।

कालूगणी ने अवसर देखकर उन दोनों को लक्ष्य करते हुए फरमाया—"साधु-साध्वियाँ ग्राम में केवल रोटी खाने के लिए ही नहीं आते है। तुम लोगों में परस्पर जो फूट है, उसके फलस्वरूप एक दूसरे के स्थान को बुरा बतलाया जाता है। उससे साधु-साध्वियाँ बड़े असमजस में पड जाते है कि किसकी बात मानी जाए और किसकी नही ? मैं ऐसा नहीं चाहता। अत: जब तक तुम्हारा यह झगड़ा तय न हो जाए, तब तक के लिए यहाँ चातुर्मास नहीं कराना ही अधिक श्रेयस्कर लगता है।'

आचार्यदेव का वह उपालंभ सुनकर गधैयाजी तथा सेठियाजी तो शून्यवत् खड़े के खड़े ही रह गये, मानो उनमें बोलने का साहस ही नहीं रहा हो। नगर के अन्य व्यक्तियों पर भी उस उपालंभ की असाधारण प्रतिक्रिया हुई। सारे नगर के लिए अंतराय का कारण न, गधैयाजी बनना चाहते थे और न सेठियाजी। विरोध चाहे कितना भी तेज क्यों न होता, पर दोनों ही व्यक्ति आचार्यदेव की दृष्टि से विरुद्ध कार्य करने को बिल्कुल तैयार नहीं थे। अतः दोनों ने ही उदारता-पूर्वक अपने विरोध को भुला दिया और एक दूसरे से वहाँ की भरी सभा में क्षमा-याचना कर पूर्णतः शल्यरहित हो गये। उसके पश्चात् उन्होंने फिर आचार्यदेव के पास चातुर्मास की प्रार्थना की। निःशल्यभाव से की गई उस प्रार्थना को आचार्यदेव कैसे ठुकरा सकते थे, उन्होंने तत्काल उसके लिए स्वीकृति प्रदान कर दी।

बर्फ का उपचार

कालूगणी का शरीर साधारणतया नीरोग था। फिर भी कभी-कभी रोग उन्हें घेर लिया करता था। घुटनों की पीड़ा उन्हें कई वर्षों तक लगातार रही, पर उसमें कमी-वेशी होती रहती थी। सं० १९७४ में उनका चातुर्मास सरदारशहर में था। वहाँ वे काफी लम्बे समय तक बीमार रहे। कमजोर भी इतने हो गये कि खड़े होते ही उन्हें चक्कर आने लगते थे। एक बार तो स्थिति इतनी गंभीर हो गई कि लोगों को उनके बच जाने में भी संदेह होने लगा था। अनेक प्रकार के उपचार किये जाने पर भी रोग शांत नहीं हो पाया। डा० अश्विनीकुमार ने आखिर बहुत सोच-विचार के पश्चात् मगनलालजी स्वामी से कहा—"अन्य सभी उपाय परख लेने के पश्चात् अब अंतिम रूप से एक यह उपाय और परख देखें। यदि कहीं बर्फ मिल सके तो उसका सेंक दिया जाये।"

साधुओं के सामने बर्फ प्राप्त करने की एक समस्या थी। पानी की बर्फ सचित्त पानी से जमाई जाती है, अतः वह अग्राह्य होती है, उससे सेंक कैसे किया जा सकता था? आखिर बालचन्दजी सेठिया ने समस्या को सुलझाते हुए सुझाव दिया कि खाने के लिए जो बर्फ जमाई जाती है, उसमें दूध या चीनी आदि मिले होते है, अतः उसी का सेंक दिया जाये। मैं स्वयं बर्फ बेचने वालों से बातचीत करूँगा कि वे बिना किसी मूल्य के अपनी बर्फ दे सकते हैं या नहीं? उन्होंने बर्फ बेचने वालों से पूछ-ताछ की, तो वे उसके लिए सहर्ष तैयार हो गये। प्रतिदिन चार-पाँच सेर बर्फ का सेंक उनके शरीर पर कई दिनों तक किया गया। वह इलाज अनुकूल पड़ गया और वे धीरे-धीरे पुनः पूर्ण स्वस्थ हो गये।

व्रण-वेदना

कई बार उन्हें व्रण की वेदना भी सहन करनी पड़ी। अन्तिम वर्ष की व्रण-वेदना के अतिरिक्त स० १९७५ में उन्हें पैर में हुए व्रण से बड़ा परेशान रहना पड़ा था। उस वर्ष उनका विचार बीदासर में चातुर्मास करने का था, परन्तु व्रण के कारण राजलदेसर में ही रुक जाना पड़ा।

उस व्रण ने समय भी काफी लवा लिया। उसकी वेदना से प्रभावित कालूगणी का शरीर आश्विन तक भी पूर्ण सशक्त नहीं हो सका। व्याख्यान भी वे आश्विन के पश्चात् ही दे पाये थे। मगनलालजी स्वामी ने उसके चीरा दिया था और प्रतिदिन उसकी सफाई भी वे ही किया करते थे। मवाद निकालते समय कालूगणी को कितनी वेदना होती, उसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि एक दिन स्वयं उन्होंने मगनलालजी स्वामी से कहा कि जब आपको आता देखता हूँ तब काँप-सा जाता हूँ। इतनी असह्य वेदना होते हुए भी वे उसे शात भाव से सहा करते थे।

लू की परेशानी

स० १९८९ का चातुर्मास करने के लिए कालूगणी तारानगर से विहार करते हुए सरदारशहर पधार रहे थे। गर्मी की ऋतु थी। राजस्थान में प्राय गर्मी बहुत अधिक पडती है। उसमें भी थली की रेतोली और टीलो वाली धरती पर उसका प्रकोप और भी भयकर हो जाता है। एक प्रहर दिन चढते-न-चढते तो गर्मी इतनी तेज हो जाती है कि बाहर निकलना कठिन हो जाता है। लू के झोके शरीर को झुलसा डालते हैं। अनेक व्यक्तियो को लू लगने की बीमारी भी हो जाती है। जिस व्यक्ति को लू लग जाती है, उसे अन्न की अरुचि हो जाती है। धूप के सामने जाने मात्र से उसके शरीर में कांटे-से चुभने लगते हैं। गर्म हवा तो असह्य पीडा बन जाती है। अशांति इतनी हो जाती है कि उसके लिए वे गर्मी के दिन एक प्रकार से मृत्यु-दड जैसे बन जाते है। वह अशाति तब तक तकलीफ देती रहती है, जब तक कि वर्षा ऋतु नही आ जाती और कम से कम एक तेज वर्षा नही हो जाती। उस बीमारी से प्राय प्रतिवर्ष सैकडों व्यक्तियों का प्राणांत हो जाता है।

कालूगणी जब छोटे-छोटे ग्रामों की मजिलें तय करते हुए सरदारशहर की ओर बढ़ रहे थे, तब एक दिन मार्ग में उन्हें लू लग गई। उसके पश्चात् वे चलकर ग्राम तक पहुँचे तो सही, पर उसमें शरीर के बल की अपेक्षा मन का बल ही अधिक सहयोगी हुआ। उस समय की उनकी अशांति का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि वे पधारते ही बिछौने की प्रतीक्षा किये बिना एक छोटे से कम्बल पर ही लेट गये।

उस छोटे ग्राम में आये हुए व्यक्तियों के पास जो कुछ औषध आदि प्राप्त हुआ, उसी के अनुसार तात्कालिक उपचार किया गया। व्यवस्थित उपचार तो सरदारशहर पहुँचने के पश्चात् ही हो सकता था, पर वहाँ पहुँचने में कई मजिलें बाकी थीं। मनोबली आचार्यदेव लू की उस बेचैनी को अपने मे समेटे हुए उस तेज धूप और लू में प्रतिदिन विहार करते हुए सरदारशहर पहुँचे। वहाँ उसका व्यवस्थित उपचार किया गया। काफी दिनों के निरतर प्रयास से वह बीमारी कुछ शान्त हुई। पूर्ण शान्ति तो वर्षा होने के पश्चात् ही प्राप्त हुई। फिर भी प्रति वर्ष गर्मी के दिनों में उसका प्रभाव शरीर पर प्राय अन्त तक प्रकट होता रहा था।

पात्र सीधा कर लें

सं० १९७३ में कालूगणी ने जोधपुर चातुर्मास किया। वहाँ पहले कुछ दिन तक वृष्टि की कमी रही। विरोधियो ने उसका सारा दोष तेरापन्थियों पर ही मढ़ा। लोगों में उसका काफी प्रचार हो गया। लोग पूछने लग गये कि वर्षा को तुमने क्यों रोक रखा है ?

उन लोगों में वर्षा के सम्बन्ध में एक यह बात भी फैल गई, कि इनके पास एक ऐसा पात्र है, जिसे उलटा कर दें तो वर्षा होने लगे और सीधा कर दें तो वह रुक जाये ! किसी-किसी ने यह कहा भी कि अपने पात्र को कुछ दिन के लिए उलटा करके रख दीजिये न !

प्रकृति का वैचित्र्य ही समझिये कि शीघ्र ही वहाँ वर्षा प्रारम्भ हो गई। वर्षा का वह क्रम कई दिन तक लगातार चलता रहा। यहाँ तक कि लोग चाहने लगे, अब वर्षा बन्द हो जाए और धूप निकले, परन्तु वैसा नहीं हुआ। एक दिन स्थडिल-भूमि जाते समय एक व्यक्ति ने कालूगणी से कहा कि अब आप अपना पात्र सीधा कर लें न ? अन्यथा ये हमारे सारे घर ढह जायेंगे।

मार्ग मे बैठकर उपदेश

स० १९९२ में मालव की ओर प्रयाण करते हुए कालूगणी सादड़ी पधारे। वहाँ एक रात रहकर दूसरे दिन प्रात.काल विहार कर दिया। पीछे में वहाँ के राजराणा, जो कि मेवाड़ के सोलह उमरावों में मुख्य माने जाते थे, मोटर में बैठकर आये और मार्ग में दर्शन किये। उनके कुँवर आदि कुछ अन्य व्यक्ति भी उनके साथ थे। राजराणा ने प्रार्थना की कि हम लोग कुछ आवश्यक कारणों से कल दर्शन नहीं कर सके थे। आज आने का विचार था, परन्तु हमें पता चला कि आपने तो विहार ही कर दिया है। हम उसी समय मोटर में बैठकर दौड़े आये हैं। आपने हमारे इस ग्राम को एक दिन ठहरने के ही योग्य समझा, यह तो कोई बात नहीं हुई। आपको वापस पधारना चाहिए और वहाँ की जनता तथा हमारे जैसे लोगों को, जो कि आपके उपदेश से वचित रह गये हैं, लाभ प्रदान करना चाहिए।

आचार्यदेव ने उन्हें अपनी मालव-यात्रा तथा उसके लिए निश्चित की हुई तिथियों का विवरण बतलाते हुए फरमाया कि अब वापस वहाँ जाकर ठहरने जितना समय तो हमारे पास नहीं है, उपदेश की बात यहाँ भी पूरी की जा सकती है।

सन्तों ने आचार्यदेव का आशय समझा और प्रासुक भूमि देखकर कम्बल बिछा दिया। आचार्यदेव वहाँ विराज गये। आगन्तुक सज्जन भी सामने बैठ गये। यद्यपि वहाँ बहुत थोड़े समय के लिए ही ठहरना हुआ, पर उसी में उपदेश तथा तेरापन्थ का परिचय आदि तो दिया ही, पुस्तक खोलकर सूक्ष्म-लिपि का पत्र और अन्य कलाकृतियाँ भी उन्हें दिखलाई। उसके पश्चात् आचार्यदेव ने आगे विहार कर दिया और वे लोग हर्ष-विभोर होकर वापस सादड़ी चले गये।

किसान की माँग

एक बार मारवाड में आचार्यदेव के पास एक किसान आया। मैले और फटे हुए कपडे, हाथ में जेई, धूलि-धूसरित शरीर, उसके किसान होने का बिना पूछे ही परिचय दे रहे थे। वह सीधा आचार्यदेव के पास आकर खडा हो गया, तो उन्होंने भी सहज-भाव से उसे आने का कारण पूछा लिया।

किसान ने कहा—"बो पानों देखणो है।"

कालूगणी ने समझा कि सूक्ष्म लिपि वाला पत्र देखना चाहता होगा। इसलिए, अपना 'पूठा' मगाया और वह पत्र निकाल कर उसे देखने के लिए दिया। उसने कुछ इधर-उधर करके उसे देखा, परन्तु उसकी भाव-भगिमा यह स्पष्ट बतला रही थी कि उसे उसमें कोई आनन्द प्राप्त नहीं हो रहा था।

कालूगणी ने तत्काल उसे पूछा -"क्यों भाई! यही पत्र देखना था या और कोई?"

किसान ने कुछ निराशा के स्वर में कहा—"महाराज! बो पानो दिखावो, जकै में कुभार को गधो खो गयो है।"

आस-पास में बैठे हुए लोग उसकी इस ऋजुता पर हँस पड़े। परन्तु दयालु कालूगणी ने सन्तों के पास से वह पत्र मगाया और उसे देखने के लिए देते हुए कहा—"अब तुम इसमें खोज कर बतलाओ कि वह खोया हुआ गधा कहाँ पर है?"

इस प्रकार कालूगणी एक साधारण-से-साधारण व्यक्ति की इच्छा को भी यथेष्ट महत्त्व देते और उसके मन को जीत लेते थे। वस्तुत वे **'जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ'** -इस आगम-वाणी के एक मूर्त्त उदाहरण थे।

प्रकोप-शमन

एक बार एक पडित आचार्यदेव के दर्शनार्थ आये। बातचीत के सिलसिले में मुनिश्री सोहनलालजी ने जिज्ञासावश पूछ लिया कि रघुवश महाकाव्य में **'कथं द्वयेषामपि मेदिनीभृताम्'** इस पद में 'द्वयेषां' का प्रयोग क्या अशुद्ध नहीं है?

पडितजी ने उस प्रश्न का आशय यह खींचा कि ये जैन होने के कारण हमारे प्राचीन मनीषियों की कृतियों में त्रुटि निकाल कर उन्हें अपमानित करना चाहते हैं। बस वे एकदम कुपित होकर उस शब्द की सिद्धि के लिए बोलना प्रारम्भ किया तो रोके भी नहीं रुके। उनका वाग्-वैदग्ध्य चोट खाये हुए साप की तरह फुफकारता रहा।

कालूगणी पडितजी की वाक्-शक्ति पर मुग्ध हुए, पर साथ ही उनकी गलतफहमी पर खिन्न भी हुए। उन्होंने बडे शांत स्वर में कहा—"आपने जिज्ञासा से पूछी गई बात को सम्भवतः अन्यथा समझ लिया है। हम आपके पांडित्य का आदर करते हैं, परन्तु आप यह मत समझियेगा कि हम कम बोलने पर किसी को मूर्ख समझ लेते हैं।"

कालूगणी के उन शब्दों ने पंडितजी पर गारुडी मंत्र का सा काम किया। वे तत्काल चुप हो गये। तब उन्हें पूछने का सारा आशय बतलाया गया। वे पूर्ण संतुष्ट तो नहीं हुए, फिर भी उस समय संतोष-सा ही प्रकट करते हुए चले गये। बाद में उन्हें अनावश्यक ही पैदा हुए अपने रोष पर पश्चात्ताप हुआ। वे दूसरे दिन प्रातःकालीन व्याख्यान में आये और कालूगणी की स्तुति के ग्यारह श्लोक बनाकर लाये। उन्होंने उन श्लोकों को परिषद् में पढा और पूर्व-दिन की घटना पर खेद प्रकट किया। उनके भाव और भाषा से समृद्ध उन श्लोको में से अंतिम यह था :

सायंतने गत-दिने भवदीय-शिष्यैः, साकं विवादविषयेऽत्र यते! प्रवृत्ते।
यत् किञ्चिदल्पमपि जल्पितमस्तु कोष्णं, क्षन्तव्यमेव भवतात्र कृपा-परेण॥

डा० हर्मन जेकोबी का आगमन

जर्मन विद्वान् डा० हर्मन जेकोबी विभिन्न अठारह भाषाओं के विद्वान् थे। जैनागम तथा जैन दर्शन के भी वे विशेषज्ञ थे। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग आदि आगमों का उन्होंने जर्मन-भाषा में अनुवाद किया था। एक बार पहले भी वे भारत में आये थे। दूसरी बार की यात्रा में उन्होंने कालूगणी और उनके व्यक्तित्व के विषय में कुछ बातें सुनीं, तो दर्शन करने का निश्चय किया।

उन्होंने सं० १९७० में लाडणू आकर कालूगणी के दर्शन किये। वहाँ तीन दिन तक ठहरे। साधुओं की दिन-चर्या देखी। अनेक विषयों पर बातचीत की। जैनागम-विषयक कुछ अपनी आशंकाओं की भी निवृत्ति की। उन्होंने अपनी आशंका सामने रखते हुए कहा—"अहिंसा-धर्मी जैन तीर्थंकर मांस खाते थे, यह बात मेरे मन को सदैव कचोटती रही है, पर जैनागम—आचारांग का अनुवाद करते समय **'मंसं वा मच्छं वा'** से मैंने यही पाया कि ऐसा होता था।"

कालूगणी ने तब आचारांग, दशवैकालिक तथा भगवती आदि में आये हुए विविध पाठ, उनका पूर्वापर संबंध तथा टीकाकारों द्वारा किये गये अर्थों के संदर्भ में उसे पन्नवणा के वनस्पति-पद में आये हुए वे नाम भी दिखलाए; जो कि उन शब्दों से उत्पन्न होने वाली भ्रांति का निराकरण करने-वाले थे। उसके अतिरिक्त 'चेइय' शब्द पर भी काफी लंबी चर्चा चली।

जब वे गये तो बडे प्रभावित होकर गये, अपनी उस तत्त्व-चर्चा का उन्होंने भारत से विदा होने से पूर्व जूनागढ में हुई एक सभा में उल्लेख करते हुए कहा—"इस बार की यात्रा में मुझे भगवान् महावीर की परम्परा के श्रमणों का दर्शन-लाभ हुआ।"

उनके अतिरिक्त और भी अनेक विदेशी विद्वानों तथा व्यक्तियों ने समय-समय पर कालूगणी के दर्शनों का लाभ प्राप्त किया था। उनमें से इटालियन विद्वान् टेसी टोरी, चिकागो के डा० गिल्की, जयपुर के प्रधान ग्लेन्सी, आबू के ए० जी० जी, होलैंड आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

बाव के राणा का आग्रह

बाव के राणा कालूगणी के बडे भक्त थे। उन्होने दो बार बाव से आकर आचार्यदेव के दर्शन किये। प्रथम बार डू गरगढ में स० १९८६ के पौप महीने में और दूसरी बार जोधपुर में सम्वत् १९९१ के चातुर्मास में। डूगरगढ में उन्होने आचार्यदेव के समक्ष अपने वहाँ चातुर्मास के लिए विशेष आग्रहपूर्वक प्रार्थना की थी। उनकी प्रार्थना के आधार पर ही कालूगणी ने हुलासांजी (सरदारशहर वाला) का वहाँ चातुर्मास करवाया था।

महाराणा का सुझाव

स० १९७२ में कालूगणी का उदयपुर चातुर्मास था। पचायती नोहरे में विराजना हुआ। विरोधी व्यक्तियों ने नाना प्रकार के निंदात्मक पर्चे छपाकर जनता में वितरित किये। वे उन्हें महाराणा फतहसिंहजी तक भी पहुँचाते रहे। महाराणा-परिवार भारमलजी स्वामी के समय से ही तेरापन्थ का भक्त रहा है। महाराणा ने उन पर्चो को देखकर हीरालालजी मुरडिया से पूछा कि तुम लोगों ने इनका क्या प्रतिकार सोचा है।

मुरडियाजी ने वतलाया कि तेरापन्थियो की तो यह परपरा ही रही है कि कोई कितना ही गदा प्रचार क्यों न करता रहे, पर वे उसके समान निम्नस्तर पर आकर पर्चेबाजी में नही पडते। महाराणा ने उस नीति को सराहा।

कुछ समय पश्चात् ही विरोधियो द्वारा प्रचारित एक अन्य पर्चा महाराणा के सामने पहुँचा। उसमें लिखा था कि पचायती नोहरे की भट्टी में एक गाय जलकर मर गई। तेरापन्थी लोग वहाँ विद्यमान थे, परन्तु किसी ने उसे वचाया नही।

महाराणा ने हीरालालजी को बुलाकर कहा—"इस पर्चे का उत्तर तो तुम लोगो को अवश्य दे देना चाहिए। अन्यथा लोगों में भ्रम फैलेगा।"

मुरडियाजी ने महाराणा के उस सुझाव की वात कालूगणी के सामने रखी और वाद में उस पर्चे के उत्तरस्वरूप स्पष्टीकरण निकाला कि चातुर्मास में पचायती नोहरे में कोई जीमनवार नहीं होता। इसलिए वहाँ भट्टी जलने का प्रसग ही उपस्थित नही होता। ऐसी स्थिति में भट्टी में गाय के पडने तथा जल जाने का जो प्रचार किया गया है, वह सब असत्य है और विद्वेषवश किया गया है।

मै नहीं मानता

स० १९७९ में कालूगणी बीकानेर के चौखले में पधारे। भीनासर में कनीरामजी वाठिया आदि कुछ व्यक्ति चर्चा करने के निमित्त आये। मध्याह्न का समय था। चर्चा प्रारम्भ हुई। कालूगणी ने उनको चर्चित विषय पर टीका का मत दिखलाया। उन लोगो के साथ उस समय सस्कृत समझने वाला कोई नहीं था, अत· कनीरामजी ने कहा—"मैं कल फिर आऊँगा और किसी पडित को लेकर इस टीका का ठीक अर्थ करवाऊँगा।"

आचार्यदेव ने कहा—"जैसी तुम्हारी इच्छा ।"

दो-तीन दिन के पश्चात् वे लोग फिर आये । वे टीका का अर्थ कराने के लिए पंडित गणेशदत्तजी को अपने साथ लाये । उस दिन बीकानेर से भी उनके लोग काफी बड़ी सख्या में आये थे ।

कालूगणी ने पिछली वार की वातचीत का सिलसिला जोडते हुए टीका का कथन पढ़कर सुनाया और उसका अर्थ किया ।

उन लोगों ने पडितजी से कहा कि आप इस टीका को पढकर देखिये कि यही अर्थ होता है या और कुछ ।

पडितजी ने पत्र लिया । कुछ देर तक पढकर उसके आशय को हृदयगम किया और कहने लगे—"कनीरामजी ! इसका तो वही अर्थ होता है, जो आचार्यजी कह रहे हैं ।"

कनीरामजी तथा उधर के अन्य भाइयों ने पडितजी पर जोर देते हुए कहा—"पडितजी ! यों सुने-सुनाये अर्थ को ही ठीक मत कह दो, अपने दिमाग से सोचकर अर्थ लगाओ और फिर निर्णय करके वतलाओ ।"

पंडितजी ने उस टीका को दुबारा पढा और कहने लगे—"पिष्टपेषण से कोई लाभ नहीं होगा । इसका अर्थ जब स्पष्ट यही है तो मैं अन्यथा कैसे कह दूँ ?"

जब उस प्रश्न पर आगे कुछ वोलने का मसाला नहीं रहा, तब उनमें से एक भाई ने कहा—"चलो, कोई दूसरा प्रश्न छेडो ।"

कालूगणी ने फरमाया—"हाँ पहला प्रश्न यदि हल हो गया हो तो उसे स्वीकार कर आगे दूसरा प्रश्न किया जाये ।"

कनीरामजी ने कहा—"मैं उस प्रश्न को हल हुआ नहीं मानता । मुझे वह अर्थ कतई स्वीकार नहीं है ।"

कालूगणी ने कहा—"तो फिर उसी प्रश्न में आगे कोई तर्क उपस्थित किया जाए ताकि जो अंश हल हुए विना रह गया लगता है, उसको हल किया जा सके ।"

सब मौन थे । कोई तर्क भी उनके पास नहीं था । तब कालूगणी ने फरमाया कि 'मैं नहीं मानता' की तो फिर किसीके पास कोई औषध भी नहीं है ।

: ८ :

प्राणहारी व्रण

वेदना का प्रादुर्भाव

मालव की यात्रा सम्पन्न कर आचार्यदेव स० १९९३ की ग्रीष्म-ऋतु मे जावद से विहार करते हुए मेवाड में प्रविष्ट हुए और चित्तौड़ पधारे। वहाँ उनके बायें हाथ की तर्जनी अगुली में एक छोटा-सा व्रण हुआ। पहले तो उसे व्रण समझा ही नही गया, किन्तु बाद में वही विस्तार खाकर उनके लिए प्राणहारी बन गया था। यद्यपि उस अगुली में कुछ अपरिचित-सी पीडा तो जावद में ही अनुभूत होने लगी, किन्तु वह इतनी प्रारम्भिक तथा स्वल्प थी कि उसे पीडा का पूर्वाभास ही कहना अधिक उपयुक्त होगा।

चित्तौड आने के पश्चात् भी अगुली के उस भाग पर पहले-पहल तो कुछ 'सली' की रडकन ही अनुभूत की गई थी। इसीलिये उसे थोडा-सा कुरेद भी लिया गया था। सली तो कही नहीं मिली, किन्तु कुरेदने से वह पीडा विस्तार खा गई। अगुली में शोथ हो गया। इस पर भी उसे योही कोई साधारण व्रण समझा गया और उसी आधार पर साधारण-सा उपचार प्रारम्भ किया गया।

जिस प्रकार किसी बडे आदमी को भूल से साधारण समझ लेने पर उसके साथ साधारण औपचारिकता का ही बर्त्ताव कर लिया जाता है और तब वह प्राय· रुष्ट हो जाया करता है, 'सम्भवत उसी प्रकार वह व्रण भी उसे तुच्छ समझ लेने पर रुष्ट हो गया था।

वह कुछ विस्तार खाने लग गया था। शोथ अगुली से बढकर हथेली तक हो गया। वह टीस भी देने लगा, अत: रात को नींद कम आने लगी, दिन में बेचैनी रहने लगी और अन्न की रुचि भी कम हो गई। चित्तौड में पधारते ही रात्रिकालीन व्याख्यान प्रारम्भ किया, किन्तु बेचैनी के कारण उसे भी तुलसीरामजी स्वामी (आचार्य तुलसी) को सम्भला देना पडा।

चातुर्मास की स्वीकृति

चित्तौड में गगापुर-निवासियो ने अपने वहाँ चातुर्मास करने के लिए बडी जोर से प्रार्थना की। वे पहले भी अनेक बार दूर-दूर तक जाकर प्रार्थना कर चुके थे। वे निर्णय-पूर्वक घोपणा चाहते थे। चातुर्मास के प्रारम्भ होने मे दिन बहुत कम रह गये थे, अत आचार्यदेव को भी निर्णय करना ही था। शरीर की अस्वस्थता अवश्य थी, पर उस समय वह कोई बाधक बन सकने वाली नहीं लग रही थी। इसलिए स० १९९३ का अपना चातुर्मास उन्होने गगापुर करने की घोपणा कर दी।

डाक्टरों का सुझाव

चित्तौड़ से हम्मीरगढ़ होते हुए आचार्यदेव ने भीलवाड़ा की ओर विहार किया। भीलवाड़ा में उस समय उदयपुर-निवासी मदनसिंहजी मुरड़िया पुलिस-सुपरिन्टेंडेंट थे। हम्मीरगढ़ में ही उन्होंने आचार्यदेव के पदार्पण की स्वीकृति प्राप्त कर ली थी। वहाँ डाक्टरों तथा वैद्यों का संयोग भी सुलभ था। भीलवाड़ा से दो मंजिल पूर्व आचार्यदेव 'मंडपिया' नामक एक छोटे से ग्राम में विराजे। वहाँ मुरड़ियाजी दो डाक्टरों को साथ लेकर दर्शन करने के लिए आये। उन डाक्टरों में से एक नन्दलालजी तो उस समय भीलवाड़ा में ही काम करते थे। दूसरे डाक्टर मोतीलालजी गुलाबपुरा में काम करते थे। दोनों ने ही आचार्यदेव के उस व्रण को देखा। अच्छी तरह से परीक्षण कर लेने के पश्चात् उन लोगों ने निवेदन किया कि पीप सारी हथेली में फैल चुका है, अतः जितना शीघ्र हो सके इसे शल्य-क्रिया के द्वारा बाहर निकाल देना आवश्यक है।

आचार्यदेव ने फरमाया कि चीरा तो भीलवाड़ा जाने के पश्चात् ही ठीक रहेगा। उससे पहले यहाँ ग्राम में शल्य के उपयुक्त शस्त्र तथा औषधि आदि का मिल पाना भी कठिन होगा।

डाक्टरों ने कहा—"भीलवाड़ा पधारने में अभी दो दिन और लगने की सम्भावना है। तब तक व्रण का विस्तार इतना हो चुका होगा कि उस पर नियन्त्रण करना कठिन हो जायेगा। इसलिये चीरे के विषय में तो एक घंटा का भी विलम्ब करना उचित नहीं है। शल्य से उपयुक्त शस्त्र तथा औषधि आदि का सब सामान हमारे पास है। इस विषय में आपको किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं होने पाएगी।"

उनकी सारी बात सुनकर आचार्यदेव ने फरमाया—"इस समय आप लोग केवल दर्शन के निमित्त ही नहीं आये हैं, किन्तु मुख्यतः मेरे व्रण की चिकित्सा के निमित्त आये हैं, अतः आपके ये शस्त्र और औषधि आदि हमारे निमित्त होने के कारण काम नहीं आ सकेंगे।" इसके साथ ही उन्होंने डाक्टरों का एक दूसरी बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा—"यह तो सम्भवतः आप लोगों को पता ही होगा कि हम लोग अपने नियमानुसार किसी गृहस्थ के पास से शल्य-क्रिया आदि कार्य नहीं करवा सकते, अतः यदि चीरा देना अत्यंत आवश्यक ही हो तो आपको यह भी सोच लेना है कि वह यहाँ प्राप्त हो सकने वाले किसी चाकू से तथा किसी साधु के द्वारा ही दिया जा सकेगा।"

डाक्टरों ने इन बातों पर एक बहस-सी प्रारंभ कर दी। काफी देर तक तर्क-वितर्क चलता रहा; किन्तु आखिर जब आपरेशन करानेवाला व्यक्ति स्वयं वैसा कराने को तैयार ही न हो, तो तर्क-वितर्क क्या काम आ सकते थे। हार कर उन लोगों ने यही कहा —"अपना जैसा आचार और कल्प हो, आप उसी के अनुसार कार्य करिये, किन्तु चीरा तो आज ही लग जाना चाहिए।"

शल्य-क्रिया

उसी दिन शल्य-क्रिया करने का जब निश्चय हो गया, तब किसी अच्छे चाकू की खोज की गई। आचार्यदेव की सेवा में चलने वाले भाइयों के पास कलम काटने के कई चाकू थे। उन्ही में से तेज तथा नया देखकर एक चाकू लिया गया और उसे गरम पानी में अच्छी तरह से धो लिया गया। अन्य उपयुक्त सामग्री भी तैयार कर ली गई। मुनि श्री चौथमलजी ने डाक्टर द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर चाकू लगाया और यथा-विधि शल्य-क्रिया सपन्न की।

हथेली के पिछले भाग में लगभग एक इन्च गहराई तक चाकू लगाने पर एक साथ ही पीप का फव्वारा-सा छूट पडा। मुनि श्री मगनलालजी तथा मुनि श्री चौथमलजी ने धीरे-धीरे आस-पास के स्थान को दबा-दबाकर काफी मवाद बाहर निकाला और फिर वहाँ प्राप्त कोई साधारण मलहम लगाकर पट्टी बाँध दी। बहुत सारा मवाद बाहर निकल जाने से उस दिन आचार्यदेव को काफी साता का अनुभव हुआ। थोडी-बहुत नीद भी आई।

डा० नदलालजी की सेवा

आषाढ कृष्णा तृतीया को आचार्यदेव ने भीलवाडा में पदार्पण किया। वहाँ मुरडियाजी ने तो रात-दिन एक करके सेवा की ही थी, पर डा० नदलालजी की सेवा भी बहुत प्रशसनीय रही। वे प्रतिदिन आते और अपने सामने ही व्रण को धुलवाते। पीप से भरे काफी चिथडे बाहर निकाले जाते और सफाई करने के पश्चात् घाव में काफी सारा 'गोज' भर दिया जाता। सफाई करने के उस समय में कालूगणी को बडी वेदना हुआ करती, किन्तु वे बडे आत्मबली पुरुष थे, अत' मुख पर सिकन तक भी नही आने देते थे। डाक्टर नदलालजी भी उस समय को सरस बनाने के लिए अनेक रुचिकर बातें तथा डाक्टरी के अपने विशिष्ट अनुभव सुनाते रहते थे।

चार डाक्टरों का परामर्श

व्रण और उसकी शल्य-चिकित्सा के समाचार प्राय सभी स्थानो पर पहुँच चुके थे, अत समाज के प्राय सभी मुखिया व्यक्ति भीलवाडे में एकत्रित हो गये। दूर-दूर से अन्य दर्शनार्थी भी बहुत बडी सख्या में वहाँ पहुँच गये। पत्रों द्वारा प्राप्त सुखसाता के समाचारो से संभवत उनके मन को पूरा समाधान नही मिल पाया था।

उन आगतुक व्यक्तियों में दो बंगाली डाक्टर भी थे। एक अश्विनीकुमार और दूसरे विभूतिभूषण। दोनों सगे भाई थे और आचार्यदेव के बडे भक्त थे। उन्होंने गुरु-धारणा भी कर रखी थी। थली के अनेक नगरो में उन दोनो ने वर्षो तक डाक्टरी की। तेरापन्थ के प्रति तथा साधु-साध्वियो के प्रति उनके मन में अगाध भक्ति थी। आचार्यदेव के अस्वास्थ्य का समाचार पाकर वे अपने आपको रोक नहीं सके। अश्विनीकुमार उस समय कलकत्ता से आये थे और विभूतिभूषण लाडणू से। उदयपुर के श्रावक मालमसिंहजी डोसी, जो कि उस समय

ईडर में डाक्टर थे, वहाँ पहुँच गये। डाक्टर नंदलालजी वहाँ थे ही। इस प्रकार वहाँ चार डाक्टर एकत्रित हो गये। उन लोगों ने मिलकर परस्पर विचार-विमर्श किया। सामान्यतः उपचार ठीक चल रहा था, फिर भी न घाव भर पा रहा था और न वेदना उपशांत हो रही थी। यही उन सबके सामने एक विचारणीय समस्या थी। वे लोग रोग तथा उपचार के विषय में एकमत नहीं हो पाये। डाक्टर अश्विनीकुमार का विचार उन सबसे भिन्न था। आखिर उन सबने आचार्यदेव तथा मगनलालजी स्वामी के सामने अपने-अपने विचार रख दिये।

डाक्टर अश्विनीकुमार के विचारानुसार आचार्यदेव के मधुमेह की बीमारी भी प्रारंभ हो गई थी, अतः वह घाव दुश्पूर हो गया था। अन्य डाक्टर उससे सहमत नहीं थे, वे मधुमेह होने से इनकार करते थे। बाद में जब परीक्षण किया गया, तब अश्विनीकुमार का कथन ही सत्य पाया गया। उसके पास उस रोग पर दी जानेवाली औषधि भी थी, किन्तु वह आचार्यदेव की बीमारी के निमित्त ही वहाँ आया था, अतः उसकी औषधि नहीं ली जा सकती थी। वहाँ गवेषणा करने पर अन्य किसी के पास वह मिल नहीं सकी।

आखिर सभी डाक्टरों के द्वारा सामान्यरूप से जो उपचार निर्दिष्ट किया गया, उसी प्रकार से सब कुछ चलने लगा, किन्तु फिर भी व्रण की स्थिति ठीक नहीं हो पा रही थी। शल्य-क्रिया के फलस्वरूप एक बार जो शांति मिली, वह भी स्थिर नहीं रह पाई। धीरे-धीरे वेदना तीव्र ही होती गई। प्रातःकाल जब घाव धोया जाता था, तब मवाद काफी मात्रा में निकला करता। शनैः शनैः शरीर में निर्बलता भी आने लगी।

भीलवाड़ा-निवासियों का अनुनय

उपचार के निमित्त भीलवाड़ा में काफी दिन विराजना हुआ। परन्तु जब शीघ्र ही घाव ठीक हो जाने की संभावना नहीं रही तब उन्होंने वहाँ से विहार करने का निश्चय कर लिया। व्रण की बढ़ती हुई वेदना, नींद का अभाव, शरीर की निर्बलता आदि विविध प्रतिकूल परिस्थितियों के होते हुए भी उन्होंने चौदह दिन विराजकर वहाँ से विहार करने की घोषणा कर दी।

भीलवाड़ा-निवासियों को जब उस घोषणा का पता लगा, तो वहाँ के प्रायः सभी मुखिया लोग एकत्रित होकर आचार्यदेव के पास आये और अनुनय करते हुए कहने लगे कि इस वर्ष का आप अपना चातुर्मास यहीं कीजिये। आप यह विचार मत कीजिए कि यहाँ आपके अनुयायी कम हैं। हम सभी आपके शिष्य हैं, आपके उपदेशों से लाभ उठाने का यह अवसर हमें ही प्रदान कीजिये। उन लोगों ने काफी आग्रह किया तथा दबाव भी डाला, परन्तु कालूगणी तो उन महान् व्यक्तियों में से थे, जो कि अपने वचन को बहुत बड़ा महत्त्व देते हैं।

राम ने अपने विषय में कहा था—"**द्विः शरं नाभिसंधत्ते, रामो द्विर्नाभिभाषते**" अर्थात् "राम एक लक्ष्य के लिए दो बाण नहीं मारता और एक बात को पलट कर दूसरी नहीं कहता"

ठीक उसी तरह कालूगणी ने भी उन लोगों से कहा —"मेरे अनुयायी यहाँ कितने हैं और कितने नहीं—मैं इस वात का कोई विचार नही करता। आप जिस भक्ति-भावना से प्रेरित होकर मुझे यहाँ रहने के लिए कह रहे है, मैं उसका आदर करता हूँ, किन्तु इस वर्ष का चातुर्मास मैंने गगापुर में करना स्वीकार कर लिया है, अत जहाँ तक शरीर में थोडी-बहुत भी चलने की शक्ति रहेगी, तब तक तो वही पहुँचने का प्रयास करूँगा।"

प्राण जाहिं पर वचन न जाही

कालूगणी का वचन भीष्म-प्रतिज्ञा के समान ही अपरिवर्त्तनीय हुआ करता था। वे जो कुछ एक वार कह दिया करते थे, उसके पश्चात् उनके सामने दूसरा कोई विकल्प रह ही नही जाता था। इसीलिए उन लोगों की प्रार्थना का आदर करते हुए भी वे उसे स्वीकार नही कर सके। उन्होने अपने निश्चयानुसार आपाढ शुक्ला तृतीया को भीलवाडा से विहार कर दिया। एक रात वीच में रहकर पुर पधारे। वहाँ के लोगों ने भी वहीं ठहरने के लिए काफी प्रार्थना की, पर केवल तीन रात ही वहाँ ठहर कर उन्होने विहार कर दिया।

विहार की वह स्थिति वडी विकट थी। एक हाथ तो व्रण की पीडा से पीडित था ही, किन्तु दूसरा हाथ भी स्वतत्र नही रह पाया था। चलने में वडी थकावट रहती थी, अत· दूसरा हाथ प्राय सहारा लेने के लिए किसी शिष्य के कधे तथा हाथ पर रखकर ही चलना होता था। मेवाड का वह मार्ग भी ऊबड-खावड था। चलने वाले को समतल भूमि प्राय· कठिनता से ही मिल पाती थी। छोटे-छोटे गांवो में रोगी के अनुकूल स्थान मिलने की भी एक वहुत वडी कठिनाई थी।

लवे विहार करने की शक्ति तो थी ही नही, किन्तु छोटे-छोटे विहारो में भी अनेक जगह विश्राम लेकर चलना पडता था। ऐसी स्थिति थी कि मानो आत्मा अव शरीर का संचालन नहीं करके उसे केवल ढो रही थी। वह इतना सारा परिश्रम तथा कष्ट केवल अपने वचन को निभाने मात्र के लिए ही उठाया गया था। यदि चातुर्मास के लिए पहले स्वीकृति दी हुई न होती, तो गंगापुर तक पहुँचना किसी भी प्रकार से सभव नही था। "प्राण जाहिं पर वचन न जाहीं" का वह एक वहुत उत्तम उदाहरण कहा जा सकता है।

गंगापुर-पदार्पण

भीलवाडा से गगापुर तक की यात्रा यो तो वहुत छोटी-सी थी, परन्तु कालूगणी के शरीर की उस समय की स्थिति को देखते हुए वह एक वहुत लवी यात्रा से भी अधिक कष्टपूर्ण थी। उसे सपन्न कर आपाढ शुक्ला द्वादशी के दिन आचार्यदेव ने गगापुर में प्रवेश किया। वहाँ रगलालजी हिरण की हवेली (रग-भवन) में विराजे। गगापुर पहुँच जाने से आचार्यदेव को वडी मानसिक शांति मिली। उससे उनका दिया-हुआ वचन पूरा हो गया।

वह उनका अंतिम चातुर्मास था। उदयपुर चातुर्मास से विहार करने के पश्चात् लगभग आठ सौ मील का विहरण करके वे वहाँ पधारे। गंगापुर-निवासियों को बहुत भारी हर्ष था। चिरकाल से अभिलषित स्वप्न के पूरा होने का वह अवसर उन लोगों को प्राप्त हुआ। सभी व्यक्ति यह आशा लगा रहे थे कि अब आचार्यदेव को कुछ शारीरिक विश्राम मिलेगा। एक जगह जमकर औषधि की जायगी, तब क्रमश. स्वास्थ्य-लाभ मिल जायेगा।

एक शरीर अनेक रोग

आचार्यदेव ने साधारणरूप से औषधि तो पहले से ही चालू कर रखी थी, परन्तु गंगापुर पहुँचने के पश्चात् व्यवस्थित रूप से उपचार प्रारम्भ किया गया। फिर भी उनकी शारीरिक स्थिति में कोई अनुकूल परिवर्तन नहीं आ सका। रोग क्रमश विस्तार ही पाता गया। अन्न की अरुचि तो पहले से ही चलती थी, पर वह धीरे-धीरे इतनी बढ गई कि सामने अन्न देखते ही उबाक आने लगती। इस अस्वस्थता के साथ-साथ कुछ ज्वर भी होने लग गया। यकृत की क्रिया भी दूषित हो गई तथा सारे शरीर में कुछ-कुछ शोथ भी रहने लगा।

नाव में एक छिद्र हो जाने के पश्चात् जिस प्रकार पानी आगे से आगे भरता ही चला जाता है, उसी प्रकार व्रण का वह एक रोग क्या हुआ, शरीर की नाव में एक छिद्र ही हो गया था। एक के पश्चात् एक रोग उसमें घुसते ही चले जा रहे थे। यद्यपि बदल-बदल कर अनेक व्यक्तियों ने अनेक प्रकार से उपचार किया, परन्तु किसी की भी औषधि ने अनुकूल प्रभाव नहीं दिखलाया। उनके उस एक शरीर में अनेक रोगो ने मानो अपना अड्डा ही जमा लिया था।

कार्यों पर प्रभाव

विकट रुग्ण-अवस्था में भी कालूगणी ने अपने शरीर पर आत्मा का ही नियंत्रण कर रखा था। किन्तु धीरे-धीरे शरीर की शक्ति इतनी क्षीण हो गयी कि उसके लिए आत्मा की प्रत्येक आज्ञा बजा लाना कठिन हो गया था। फिर भी श्रावण की अमावस्या तक वे शौचादि के निमित्त बाहर ही जाते रहे और व्याख्यान भी देते रहे। उसके पश्चात् बाहर जाना तो बंद हो गया, पर प्रात काल का व्याख्यान चालू रहा। धीरे-धीरे व्याख्यान का श्रम भी शरीर के लिए सह्य नहीं रहा, फिर भी उन्होंने साधुओं द्वारा कई बार निवेदन करने पर भी उसे बंद नहीं किया।

उनका दृष्टिकोण था कि व्याख्यान बंद कर देने से दूर-दूर तक लोगों में अनावश्यक ही चिंता फैलेगी, वे उसे बचाना चाहते थे। परन्तु शरीर के ऊपर होकर कोई भी काम कब तक चल सकता था। आखिर भाद्रपद के प्रथम सप्ताहांत में वह बंद कर देना पड़ा। उसके पश्चात् भी दोनों समय का प्रतिक्रमण वे जनता के सम्मुख बैठ कर ही किया करते थे, किन्तु सूखी खाँसी का जोर बढ जाने पर वह भी बन्द कर देना पड़ा। रात्रिकालीन व्याख्यान तो प्रारम्भ से ही उन्होंने मुनिश्री तुलसीरामजी (आचार्य तुलसी) को सौंप दिया था, इस प्रकार धीरे-

धीरे उनका शरीर दबता ही चला गया और एक के पश्चात् एक कार्य क्रमश. बन्द होते चले गये।

रोगों ने उनके विरुद्ध मानो कोई व्यूह-रचना कर ली थी। एक ही साथ अनेक रोगों के आक्रमण तथा प्रहारों का सामना करते हुए वे एक वीर योद्धा की तरह अविचल भाव से जूझ रहे थे। चक्रव्यूह में प्रविष्ट वीर अभिमन्यु की तरह अपने अतिम अस्त्र तथा अतिम मांस तक वे उन सबका सामना करते रहे।

रघुनन्दनजी की औषधि

श्रावण के शुक्लपक्ष में पडित रघुनन्दनजी गगापुर आए। वे प्राय· प्रत्येक चातुर्मास में इसी महीने में आया करते थे। उस वर्ष उनके आगमन पर मगनलालजी स्वामी ने उन्हें आचार्यदेव के रोग की सारी परिस्थिति बतलाई और आगे के लिये रोग-निदान करने तथा औषधि प्रदान करने के लिए कहा।

पडितजी ने बडे ध्यान से गुरुदेव के सारे शरीर का निरीक्षण किया और तब विभिन्न रोगों के लिए विभिन्न औषधियाँ प्रारम्भ कीं। कई दिनों तक उनके कथनानुसार उपचार चलता रहा, परन्तु फिर भी कोई लाभ नही हुआ। तब स्वय पडितजी को भी अपने निर्णय पर सन्देह हुआ। उन्होंने उस सन्देह को दूर करने के लिए सोचा कि क्यों न किसी विख्यात वैद्य से इस विषय में सम्मति ले ली जाए?

पत्र-परामर्श

-पडितजी ने अपने विचार को कार्यरूप देने के लिए जयपुर-निवासी राजवैद्य स्वामी लच्छीरामजी से विमर्षण करने का निश्चय किया। स्वामी लच्छीरामजी उस समय के अति प्रसिद्ध वैद्यों में से एक थे। पडितजी ने आचार्यदेव की रोग-स्थिति तथा अपने द्वारा दी जाने वाली औषधियाँ और पथ्य आदि का सारा वृत्तांत सस्कृत के इक्कीस पद्यों में संक्षिप्त रूप से निबद्ध कर पत्ररूप में वहाँ भेजा और सम्मति मांगी कि औषधियाँ काम नही कर रही है, अत आपके विचारानुसार मुझे क्या करना चाहिए।

स्वामी लच्छीरामजी ने पडितजी की उपचार-प्रक्रिया का अनुमोदन करते हुए सस्कृत के छह पद्यों में अपनी ओर से कुछ सुझावों के साथ पत्र का उत्तर दिया। एक अति प्रसिद्ध तथा निपुण वैद्य के उस अनुमोदन ने पडितजी के आत्म-विश्वास को और भी अधिक दृढ कर दिया। पत्र के माध्यम से प्राप्त हुए परामर्श को ध्यान में रखते हुए उन्होंने पूर्ववत् उत्साह के साथ कुछ घटा-बढ़ाकर औषधि चालू रखी। सूखी खांसी के लिए तो उन्होंने जो औषधि दी थी, उसने एक प्रकार का चमत्कार सा दिखलाया। कई दिनों से जो खांसी उनको नीद नहीं लेने देती थी, वह एकदम ठीक हो गई। उससे उन्हें रात को नींद लेने में सुविधा हुई और बहुत दिनों के पश्चात् कुछ शांति का अनुभव हुआ।

जनता का ऊहापोह

पण्डितजी की औषधि पर स्वयं आचार्यदेव तथा मगनलालजी स्वामी आदि पूर्णरूप से विश्वास करते थे। उनकी औषधि अन्य आयुर्वेदिक औषधियों की परम्परा के समान ही कुछ लम्बा समय तो अवश्य लिया करती थी, परन्तु उससे रोगोपशान्ति स्थायीरूप से हो जाया करती थी। उस बार भी उसी आशा से औषधि चालू थी, किन्तु फल वैसा प्राप्त नहीं हो रहा था। एक बार कुछ लाभ दिखाई देता और फिर मूल अवस्था ही हो जाया करती थी।

जनता चाहती थी कि आचार्यदेव का शरीर शीघ्रातिशीघ्र ठीक हो, परन्तु दिन-पर-दिन लगे चले जा रहे थे। इसलिए पंडितजी की औषधि के विषय में कुछ ऊहापोह प्रारम्भ हो गया। लोगों ने संकेतात्मक भाषा से कई बार पण्डितजी को जता भी दिया कि जब आपकी औषधि कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचा रही है, तो फिर आप दूसरों के लिए मार्ग रोक कर क्यों खड़े है।

पण्डितजी का निवेदन

पण्डितजी लोगो की उस भावना को समझे तब पहले तो बड़े असमंजस में पड़ गये, किन्तु बाद में अपना कर्तव्य निश्चित करके आचार्यदेव तथा मगनलालजी स्वामी के पास आये और निवेदन किया कि मेरी औषधि लेते हुए आपको कई दिन हो गये है, मैं जिस गति से लाभ की आशा करता था, वह नहीं मिल सका। अत: अब चाहें तो किसी दूसरे वैद्य या डाक्टर की औषधि ग्रहण करें, संभव है उनकी औषधि कुछ काम कर सके। जनता का भी यही ध्यान है कि अब मुझे अन्य व्यक्तियों को अवसर देना चाहिये।

कालूगणी का विश्वास

कालूगणी ने फरमाया—"जनता तो मेरे स्वास्थ्य के लिए आतुर है। इसलिए सोचती है कि एक वैद्य से जो रोग ठीक नहीं हुआ, सम्भवत. दूसरे से हो जाये। व्यवहार-दृष्टि से उनका यह सोचना उचित ही है। परन्तु मूल बात वैद्यों को बदल लेने की नहीं है। वह तो साता-वेदनीय के उदय की है। आप क्या कोई कम परिश्रम कर रहे हैं ? फिर भी असाता वेदनीय का जब तक उदय है, तब तक यह सब भोगना ही है। पुरुषार्थ करना अपना कर्त्तव्य है, अत किये जा रहे हैं। फल की प्राप्ति न आपके हाथ है और न अन्य किसी के। औषधि काम करती है, परन्तु उसके साथ विश्वास भी कुछ कम काम नही करता। मुझे आपकी औषधि पर विश्वास है। सम्भवत: औरों की अपेक्षा वह अधिक ही है। दूसरों की औषधि जो काम करेगी, आपकी उससे कुछ अधिक ही करेगी। क्योंकि उसमें अपेक्षाकृत विश्वास की मात्रा कुछ अधिक रहेगी। आप अपना उपचार चालू रखिये। जनता की बातों से घबराने की आवश्यकता नहीं है।" मगनलालजी स्वामी ने भी उनकी सेवा का अनुमोदन किया। इस प्रकार विश्वास की वह मात्रा पाकर पण्डितजी फिर उत्साह से भर गये और अपना उपचार चालू रखा।

अश्विनीकुमार का आगमन

डाक्टर अश्विनीकुमार भीलवाडा में आचार्यदेव की सेवा करके वापस कलकत्ता चले गये थे। आचार्यदेव की शारीरिक स्थिति से वह वहाँ भी बराबर अवगत होता रहा। यो तो उसने भीलवाडा में ही व्रण की दुष्पूरता व्यक्त की थी, पर उस समय अन्य डाक्टरो की आशावादिता के सामने उसने अधिक बल देना उपयुक्त नही समझा। अब जब कि इतने दिनों के पश्चात् भी घाव भरा नही तथा अन्य बीमारियों की भी वृद्धि हो गई, तब वह अपने आपको फिर नही रोक सका। उसने भाद्रपद मास में गंगापुर पहुँच कर आचार्यदेव के दर्शन किये।

पण्डितजी के समान ही वह भी पूर्ण विश्वस्त व्यक्ति था। उसके कथन में जितनी स्पष्टता होती थी, उतनी कम व्यक्तियों में ही मिलती है। डाक्टरों और वैद्यों में तो और भी कम। कुछ लोग डाक्टरों आदि की स्पष्टवादिता को एक दोष मानते है। वे कहते हैं कि उससे रोगी का साहस टूट जाने तथा निराश होकर अधिक रोगी हो जाने की आशका रहती है, परन्तु अश्विनीकुमार के विचार उस विषय में कुछ भिन्न थे। स्पष्ट पता चल जाने के पश्चात् रोगी को निरर्थक भ्रम में रखना उसके विचारानुसार उसके साथ एक धोखा करने के समान ही था। रोगी को कहने कि स्थिति नही, तो पारिवारिको को सावधान कर देना तो वह नितान्त आवश्यक माना करता था। यही आकर अन्य डाक्टरों तथा वैद्यों के साथ कुछ ले देकर उसका समझौता हो जाया करता था।

शरीर-परीक्षण

डाक्टर अश्विनीकुमार जिस दिन आया, उसी दिन मगनलालजी स्वामी ने आचार्यदेव के शरीर का परीक्षण करने के लिए कहा। उसने बडे ध्यान से वह कार्य किया और जब परीक्षण करने के पश्चात् निष्कर्ष बताने के लिए बैठा, तो उससे कुछ बोला नही गया। आँखो से आँसू टपक पडे। उसने अपने आवेग को छिपाने के लिए मुँह दूसरी ओर फेर लिया।

मगनलालजी स्वामी ने उससे पूछा—"आखिर इतनी दिलगीरी का क्या कारण है ? जो भी बात हो, वह सारी साफ-साफ कहो। सकोच करने की कोई आवश्यकता नही है।"

उसने मगनलालजी स्वामी को एकात में ले जाकर सारी बातें कही और बतलाया कि गुरुदेव के शरीर की स्थिति अब ऐसी नही रह गई है कि उसके ठीक हो जाने की आशा की जा सके। मुझे लगता है कि अब यह शरीर अधिक दिन तक नहीं टिक सकेगा।

त्रिजन-परामर्श

उतनी स्पष्टता के साथ वह बात पहले-पहल ही सामने आई। अत मगनलालजी स्वामी ने कहा—"पण्डितजी को उपचार करते हुए कई दिन हो गये हैं, अत. यदि हम इस विषय में

उनसे भी कुछ विचार-विमर्श कर लें तो कैसा रहे ?" अश्विनीकुमार को उसमें क्या अड़चन हो सकती थी। उसने उसे सम्मिलित करने के लिए किसी आदमी को भेजा और तत्काल पण्डितजी वहाँ पहुँच गये।

मगनलालजी स्वामी ने अश्विनीकुमार द्वारा कथित सारी बात पण्डितजी के सामने रखी और पूछा कि आपके इस विषय में क्या विचार है ? उन्होंने यह भी कहा कि यदि ऐसी कोई चिंतनीय बात हो, तो उसे अधिक प्रचारित करने की आवश्यकता तो नहीं है, परन्तु बिलकुल गोप्य रखने का खतरा भी नही उठाना चाहिये।

पण्डितजी ने तब अश्विनीकुमार की बात का समर्थन करते हुए कहा—"यद्यपि यह बात मेरे मन में भी अनेक बार चक्कर काटती रही है, पर मैं उसे इस प्रकार स्पष्ट कह देने का साहस नहीं कर सका हूँ। अनेक प्रकार से उलट-पलट कर औषधोपचार कर लेने पर भी कोई फल उपलब्ध नही हुआ है, यह बात मन में बडी निराशा उत्पन्न करती है। मेरा मन बार-बार कहता है कि अब तो औषधि केवल इसीलिए दी जा रही है कि कहीं रोगी का साहस कम न हो जाए।"

दोनो व्यक्तियों की बातें सुनकर मगनलालजी स्वामी बडे गम्भीर हो गये। उन्होंने स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए और भी अधिक स्पष्टता से पूछताछ की। वह त्रिजन-परामर्श अन्य सभी से गुप्त रखा गया। वे सब इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब वह बात आचार्यदेव से गुप्त नही रखी जानी चाहिये। कम से कम उनके सामने स्थिति को इतनी दूर तक तो स्पष्ट कह ही देना चाहिये कि जिससे उन्हें संघ की आगामी व्यवस्था के विषय में सावधान होने का अवसर प्राप्त हो सके।

आचार्यदेव से मंत्रणा

डाक्टर अश्विनीकुमार की स्पष्टोक्ति तथा पण्डित रघुनन्दनजी के समर्थन के पश्चात् मगनलालजी स्वामी के सामने आचार्यदेव के शरीर की स्थिति तो एकदम स्पष्ट हो गई थी। किन्तु तब उनके सामने यह एक जटिल समस्या उपस्थित हो गई कि इस प्रकार की अस्वस्थता में उनके सामने सारी स्थिति स्पष्टरूप से कैसे रखी जाए ? यद्यपि सबकी मुख-मुद्राओं को देखकर तथा बातचीत की गम्भीरता को देखकर आचार्यदेव से कुछ छिपा नही रह सका था, फिर भी उस बात को उनके सामने कहना भी कोई छोटी बात नही थी। आखिर कर्तव्य-प्रेरणा को सामने रख कर उन्होंने अश्विनीकुमार द्वारा कथित सारी बातें कथन-चातुरी के साथ आचार्यदेव के सम्मुख रख दी।

मगनलालजी स्वामी प्रारम्भकाल से ही कालूगणी के साथी रहे थे। उनके प्रति अपने कर्तव्य को वे सदा से ही दृढतापूर्वक निभाते आये थे। वह समय तो उनके लिए और भी

अधिक सावधानी पूर्वक कर्त्तव्य-पालन करने का था। वे उससे पीछे नही हटे। उन्होने आचार्य देव से उनकी शारीरिक स्थिति के सम्बन्ध में तो विचार-विमर्प किया ही, साथ ही उससे सघ पर पड़ने वाले प्रभाव की चर्चा भी उन्होंने की।

वह सब विचार-विमर्षण भाद्रपद कृष्णा दशमी के दिन हुआ। उससे गुरुदेव को अपने प्रति तथा सघ के प्रति विशेष जागरूकता रखने की प्रेरणा मिली। यद्यपि उससे पूर्व भी वे इस विषय में कोई उपेक्षा-भाव नहीं रखते थे, किन्तु मगनलालजी स्वामी की मत्रणा के पश्चात् उस जागरूकता में एक वेग आ गया था।

एक निश्चय

कालूगणी अनेक बार बातचीत के प्रसंग में फरमाया करते थे कि प्रत्येक आचार्य पर यदि कोई सबसे बड़ा उत्तरदायित्व का भार है तो वह है—सघ का भावी सुप्रबन्ध। अत्यन्त सावधानी के साथ यथासमय अपने इस भार से निवृत्त होकर ही वह सघ के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभा सकता है और ऋण-मुक्त हो सकता है। अपने उस कथन को वे दूसरों के लिए उपदेश मात्र ही नहीं, मानते थे, अपने जीवन का एक सूत्र भी मानते थे। यही कारण था कि जब उन्हें अपने शरीर की वास्तविक स्थिति का पता लग गया, तब वे अन्य सब बातों को गौण समझ कर सघ की आगामी व्यवस्था पर ही विशेष ध्यान देने लगे। भार-मुक्ति के लिए उपयुक्त व्यवस्था करना ही तब उनका लक्ष्य बन गया।

कर्त्तव्य-परायण

युवाचार्य की नियुक्ति का महान् कार्य वे शुभ मुहूर्त्त देखकर करना चाहते थे। वैसा दिन देखा गया तो वह भाद्रपद शुक्ला तृतीया से पहले नही था। मुहूर्त्त की प्रतीक्षा मे कार्य को गौण कर देना उन जैसे कर्त्तव्य-परायण आचार्य के लिए सम्भव नहीं था। उन्होने निश्चय किया कि यदि शरीर साथ दे सके तो शुभ-मुहूर्त्त के दिन विधिवत् युवाचार्य-पद दे दिया जाये, परन्तु यदि वह साथ न दे पाये, तो भी प्रकारान्तर से संघ को यह जतला दिया जाये कि वे किसे भावी आचार्य बनाना चाहते हैं। उन्होंने उस दिन से मुनिश्री तुलसीरामजी को अपने पास बुलाना प्रारम्भ कर दिया और एकांत में सघ की भावी व्यवस्था के विषय में आदेश-निर्देश देना प्रारम्भ कर दिया।

निश्चिन्त हो गया हूँ

सौभाग्य से उनके शरीर ने साथ दिया और भाद्रपद शुक्ला तृतीया के दिन प्रातःकाल मे युवाचार्य-पद प्रदान करने की विधि उन्होंने सानन्द सम्पन्न कर दी। उसके साथ ही उन्होने सघ के प्रति अपने अन्य अनेक उत्तरदायित्व भी युवाचार्य को सौप दिये और फरमाने लगे कि मैं अब पूर्णरूप से निश्चिन्त हो गया हूँ।

केशलुंचन

संवत्सरी का दिन निकट आ रहा था, अत. उससे पूर्व केश-लुंचन करा लेना आवश्यक था। जिस प्रकार सघ-व्यवस्था से वे निश्चित हो चुके थे, उसी प्रकार उसी दिन वे केश-लुंचन की ओर से भी निश्चित हो जाना चाहते थे। रुग्णावस्था के नाम पर वे अपने लिए इतना सा भी अपवाद सेवन करना नही चाहते थे। यद्यपि उनकी शारीरिक स्थिति उस कार्य के लिए बिलकुल अनुकूल नहीं थी, फिर भी उन्होने उसकी कोई परवाह नही की। उनके मन की प्रबलता शरीर की निर्बलता को प्राय. सदैव ढाँक लिया करती थी। वे शरीर-निरपेक्ष होकर सुस्थिर बैठ गये और मुनिजनों ने बडी सावधानी से उस कार्य को सम्पन्न कर दिया। उनके मस्तक के पिछले भाग में केवल थोडे से केश विद्यमान थे। वे शुभ्र होने के साथ-साथ चन्द्राकार में अवस्थित रहा करते थे, अत बड़े सुशोभित लगा करते थे। साधारण अवस्था में उनका लुंचन कोई विशेष वेदना का कारण नही होता, परन्तु रुग्णावस्था में वह थोड़ा-सा कष्ट-सहन भी बहुत बडा साहस का कार्य हो गया था।

सन्तो का रात्रि-जागरण

उस दिन प्रात काल युवाचार्य-पद प्रदान करते समय और फिर मध्याह्न में लुंचन कराते समय आचार्यदेव के शरीर को काफी परिश्रम उठाना पडा। इसलिए सायकाल में काफी शिथिलता बढ गई। रात्रि के समय तो वेदना का इतना प्राबल्य हुआ कि उन्हें बहुत बेचैनी अनुभूत होने लगी। कभी सोते, तो कभी बैठते, किन्तु दोनों ही स्थितियों में अधिक देर तक टिक पाना असम्भव हो गया। कभी आँख खोलते, तो कभी बन्द करते थे। वेदना की तीव्रता उनकी आकृति पर झलकने लगी थी। संत प्रायः सभी उनके आसपास बैठे थे। प्रहर रात्रि व्यतीत हुए देर हो गई थी, फिर भी गुरुदेव को उस अवस्था में छोड़कर किसी का मन सोने को नहीं हो रहा था। युवाचार्य भी सेवा में ही विराजमान थे।

कुछ देर पश्चात् स्वयं आचार्यदेव ने युवाचार्य को सो जाने के लिए कहा, किन्तु वे वैसी स्थिति में जा नहीं पा रहे थे। संतों ने तब उन पर सो जाने को दबाव डाला और कहा कि यदि कोई विशेष बात ध्यान में आयेगी, तो आपको तत्काल जगा दिया जायेगा। इस आश्वासन पर वे सोने के लिए गये। अन्य साधुओ ने भी कुछ मडल बना लिए और निश्चय किया कि आज सारी रात जागते रहना चाहिए। इस प्रकार पहले-पीछे के क्रम का एक निर्णय करके वे जागते रहे। कुछ श्रावक भी उसी प्रकार से बारी बांधकर जागते रहे।

नाड़ी की विषम गति

रात्रि के लगभग एक बज चुके थे। उस समय अचानक आचार्यदेव के श्वास का वेग बढ़ गया। नाड़ी की गति भी विषम हो गई। पडित रघुनन्दनजी ने नाडी देखते हुए बतलाया

कि एक नाड़ी वन्द हो गई है। डाक्टर अश्विनीकुमार ने भी देखा और वतलाया कि स्थिति काफी विषम है। आचार्यदेव पूर्ण सावधान और सचेत थे। शरीर की स्थिति विषम हो गई थी, मन की नहीं।

उन्होंने सन्तों से युवाचार्य को जगाकर बुला लाने के लिए कहा। सतो ने उनके आदेशानुसार तत्काल युवाचार्य को जगाया तथा अन्य सभी सन्तो को भी जगाया। सब-के-सब तत्काल आचार्यदेव की सेवा में उपस्थित हो गये।

शिक्षा के बोल

महापुरुष अपने शरीर की परवाह कम ही किया करते हैं। कर्त्तव्य के सामने तो वे अपने शरीर को एक मिट्टी के ढेले जितना भी महत्व नहीं देते। उनके सामने कर्त्तव्य का स्थान शरीर से सदैव पहले रहता है। महापुरुषों की उसी परम्परा के धनी आचार्यदेव ने शरीर की उस विषम-स्थिति में भी सघ की सुव्यवस्था सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य को नहीं भुलाया। वे सारे सघ को अपनी अन्तिम शिक्षा के रूप मे कुछ कहना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने सबको अपने पास बुलाया।

पहले-पहल उन्होंने युवाचार्य को शिक्षा देते हुए फरमाया—"अब सघ के ये सभी साधु-साध्वी तेरे ही शरण में हैं। तू इनकी पूरे तन-मन से सार-सभार करना। जिसकी इच्छा साधुता पालने की हो, उसे अन्त तक पूरा सहयोग देना। जो साधुता निभाने में असमर्थ हो, उसे गण से पृथक् कर देने में किंचित् भी ढील मत करना। यथायोग्य उपालम्भ और धन्यवाद देने में किसी प्रकार का पक्षपात मत करना। न्याय करने में किसी को अपना या पराया मत समझना।"

उन्होंने सन्तो को लक्ष्य करके फरमाया—"सभी साधु-साध्वियो का यह प्रथम कर्त्तव्य होता है कि वे आचार्य की आज्ञा को अपने प्राणो से भी अधिक समझें और उसका पूर्णरूप से पालन करें। गण और गणी के प्रति अखंड विश्वास रखें। हर परिस्थिति में अपने संयम को निर्मल बनाये रखने का ध्यान रखें। भिक्षु-शासन सबका है तथा सबके लिए है, अतः उसकी उन्नति को ही अपनी उन्नति समझें। सघ से प्रतिकूल व्यक्तियो को किसी प्रकार का महत्त्व न दें। सघ के अनुकूल व्यक्तियों को सदैव सम्मान की दृष्टि से देखें।"

विशेष-नामोल्लेख

उसके पश्चात् उन्होने विभिन्न सतो को उनकी विशेष सेवाओ के उपलक्ष में विभिन्न पारितोषिक दिये। अनेक सन्तो के कार्यों की विशेष-नामोल्लेख पूर्वक सराहना की। चौथमलजी स्वामी के विषय में उन्होने फरमाया कि यह मेरे शरीर के लिए विशेष साताकारी रहा। शिवराजजी स्वामी के लिए फरमाया कि यह एक खरा आदमी है। ऐसा दूसरा आदमी

कठिनता से ही मिलता है। मैंने इसके योग से बड़ी मानसिक-बाधा का अनुभव किया है। शरीर की उस विषम-स्थिति में भी उन्होंने उस रात लगभग एक घण्टा तक लगातार सन्तों को शिक्षाएं दीं।

मेरा हृदय नहीं धड़कता

आचार्यदेव की उस आत्मशक्ति से पंडित रघुनन्दनजी तथा डाक्टर अश्विनीकुमार आदि सभी व्यक्ति चकित थे। जिस व्यक्ति की एक नाड़ी जा चुकी हो तथा अब जाने-तब जाने का सन्देह होने लगा हो, उससे भला घण्टा भर तक लगातार अपने कर्त्तव्य के लिए इस प्रकार चिंतनपूर्वक बोलते रहने की आशा कहाँ रखी जा सकती है? किन्तु वहाँ तो यह सब उन लोगों के सामने प्रत्यक्ष ही था।

दूसरे दिन डाक्टर अश्विनीकुमार ने स्टेथिस्कोप लगाकर आचार्यदेव के हृदय की जांच करनी चाही। वह देखना चाहता था कि रात के परिश्रम से उस पर क्या असर आया है और वर्तमान में उसकी स्थिति कैसी है? आचार्यदेव ने उसके मानसिक भावों को ताड़ लिया, अतः स्मितभाव से कहने लगे—"क्या देखना चाहता है? मेरा हृदय यों कभी नहीं धड़कता।" उनका वह कथन वस्तुतः ही ठीक था, क्योंकि डाक्टर ने जब परीक्षण करके देखा तो यही पाया कि वह पूर्ववत् सुदृढ़ है, उसमें किसी प्रकार की दुर्बलता या सदोषता नहीं आ पाई है।

जन-समुद्र

कालूगणी की रुग्णावस्था ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती थी, त्यों-त्यों जनता में एक प्रकार की चिन्ता बढ़ती जाती थी। उनके अन्तिम दर्शन पाने की अभिलाषा से बहुत दूर-दूर से लोग इस प्रकार उमड़ पड़े थे, मानो कोई समुद्र ही उमड़ पड़ा हो। गंगापुर के इतिहास में इतने लोगों के एकत्रित होने का वह प्रथम अवसर ही था। यद्यपि रेल की सुविधा वहाँ पर नहीं थी, फिर भी दूर से आने वाले व्यक्ति सरदारगढ़ तक रेल में आकर आगे लगभग सोलह मील का मार्ग लारियों में तय करके आया करते थे। कच्ची सड़क, वर्षा का समय, कीचड़ से भरा हुआ मार्ग, कहीं नदी नाले और कहीं सड़क की खराबी, ऐसी स्थिति में लारियों का अटक जाना सहज बात थी, अतः कहीं चढ़कर, तथा कहीं पैदल चलकर जहाँ जैसा आवश्यक हुआ, वहाँ वैसा ही करते हुए लोग चले आ रहे थे। दर्शन-प्राप्ति के लिए उस समय 'चरैवेति, चरैवेति' ही उनके सामने एक मात्र लक्ष्य था।

उन दिनों गंगापुर की प्रत्येक गली तथा मुहल्ला जनाकीर्ण हो गया था। वहाँ कोई ऐसा घर शायद ही बचा हो, जो कि ठहरने के लिए लोगों ने नहीं मांगा हो। छोटी-छोटी कोठरियों तक में लोग एक प्रकार से भरते चले गये। सामान रखने भर को स्थान मिल पाना कठिन हो गया था। सोने-बैठने के लिए दूकानों की चौकियों तक खाली नहीं मिल पाती थीं। इस

प्रकार गगापुर के लिए उस जन-समुद्र को सम्भाल पाना कठिन हो गया। वे सब एक ही लक्ष्य से आये हुए थे, अत अन्य आगन्तुको को भी अपने में ही समाते चले गये।

समाचार-व्यवस्था

जो व्यक्ति किसी कारणवश दर्शनार्थ नहीं आ पाये, तथा जो शीघ्र ही आने का निर्णय किये बैठे थे, वे प्रतिदिन गगापुर के समाचारो से अवगत रहना चाहते थे। इसीलिए आचार्यदेव के स्वास्थ्य-सम्बन्धी समाचारों की जानकारी के लिए आने-जाने वाले पत्रो तथा तारो की संख्या इतनी अधिक हो गई थी कि वह वहाँ के सरकारी कर्मचारियों के लिए एक जटिल समस्या बन गई थी। वर्षभर में जितने तार वहाँ नही आते-जाते थे, उससे कही अधिक एक ही दिन में आने-जाने लगे थे। उस समस्या को हल करने के लिए राज्य को विशेष व्यवस्था करनी पडी।

दर्शन-व्यवस्था

दर्शनार्थ समागत वन्धुओ की बृहत् सख्या से एक यह समस्या उत्पन्न हो गई थी कि यदि उनको आचार्यदेव के दर्शनों की छूट दी जाती, तो रोगी की शांति के भग होने का भय था और यदि छूट नहीं दी जाती, तो उनके दूर-दूर से आने का सारा प्रयास ही निष्फल हो जाता। ऐसी स्थिति में कार्यकर्ताओं ने लोगों के चढने और उतरने के पृथक्-पृथक् मार्ग निश्चित कर दिये। प्रत्येक दर्शनार्थी एक जीने से चढता और चुपचाप कमरे के बाहर से आचार्यदेव के दर्शन करके दूसरे जीने से उतर जाता था। न वहाँ किसी को अधिक देर तक रुकने दिया जाता और न कमरे के अन्दर जाने दिया जाता था। अन्तिम दिनों में तो वह क्रम प्रात.काल से प्रारम्भ होता और प्राय' सायकाल तक लगातार चलता रहता। वह समय ही ऐसा था कि उसमें केवल एक क्षण के लिए आचार्यदेव का मुखारविंद दिखाई दे जाना ही सारे दिन की सफलता का माप-दड बन गया था।

साधु-साध्वियो का आगमन

मेवाड में चातुर्मास करने वाले साधु-साध्वियाँ आचार्यदेव के अन्तिम दर्शन पाने को बहुत लालायित थे। चातुर्मास में साधारणतया कोई भी साधु-साध्वी अपने निश्चित ग्राम के अतिरिक्त किसी अन्य ग्राम में रात्रि व्यतीत नहीं कर सकता। परन्तु उसमें कई अपवाद भी हैं। उनमें से एक यह है कि यदि आचार्य आदि के सथारा हो तथा विशेष रुग्णावस्था हो तो वे वहाँ जा सकते तथा रह सकते हैं। उसी अपवाद-मार्ग का आश्रय लेते हुए उस समय कांकरोली, राजनगर, पुर, पहुँना, वागोर, पीथास तथा आमेट से अनेक साधु-साध्वियों ने गगापुर पहुँच कर आचार्यदेव के दर्शन किये।

संवत्सरी का उपवास

भाद्रपद शुक्ला पचमी को सवत्सरी थी। उससे पूर्व दिन प्राय दिनभर उनका श्वास जमा ही रहा, पर सायंकाल में उसका कुछ प्रकोप हो गया। शरीर की स्थिति भी कुछ बदली हुई सी लगने लगी। हाथ-पैर ठडे पड गये। कुछ देर तक वैसी चिंताजनक स्थिति रही, किन्तु बाद में शीघ्र ही उसमें कुछ सुधार हो गया। एक बार के लिए सभी को कुछ आश्वस्त होने का अवसर अवश्य मिला, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति को यह विचार झकझोर रहा था कि सवत्सरी का दिन किस प्रकार से निकलेगा।

चतुर्थी के सायकाल में ही कालूगणी ने षष्ठी के सूर्योदय तक के लिए सागारिक अनशन ग्रहण कर लिया। सवत्सरी का दिन यो तो ठीक ही बीत गया, किन्तु अशक्ति इतनी बढ गई कि उनमें बोलने तक की शक्ति भी शेष नहीं रह गयी थी। पश्चिम रात्रि में जाकर उन्हें कुछ शक्ति प्रतीत हुई और तभी वे दो-चार बार कुछ बोले। षष्ठी के दिन प्रातःकाल सबके उपवास का पारण हुआ। आचार्यदेव ने भी नाम मात्र के लिए पारण किया।

श्वास का प्रकोप

षष्ठी के दिन लगभग तीन प्रहर तक शरीर की स्थिति एक समान जमी हुई ही चलती रही, किन्तु चतुर्थ प्रहर में श्वास का प्रकोप प्रारम्भ हो गया, साथ-साथ कुछ घबराहट भी होने लगी। सायंकाल के समय लगभग पौने छह बजे उन्होने पूछा—"सूर्यास्त होने में कितनी देर है ?" संतों ने पता लगाकर बतलाया—"लगभग पैंतीस मिनट दिन है।"

उन्होंने तब पानी पीने की इच्छा व्यक्त की। संत पानी लेकर आये और सोये-सोये ही पिला देने का उपक्रम करने लगे तो उन्होंने बिठाने के लिए कहा। सतों ने प्रार्थना की कि शक्ति कम है, अत सोये-सोये ही जल-पान कर लें तो ठीक रहेगा। किन्तु आचार्यदेव उनकी उस बात से सहमत नहीं हुए। उन्होने फरमाया—"कोई भी तरल वस्तु सोये-सोये नहीं पीनी चाहिए।" संतों ने तब हाथ का सहारा देकर उन्हें बिठाया और पानी पिलाया। श्वास का वेग उस समय काफी तेज था। उनके मुह के सामने पानी किया गया तब वह श्वास की तेजी के कारण उछला जा रहा था। पानी पिलाने के पश्चात् जब उन्हें वापस लिटाया गया, तब एकाएक श्वास का वेग और भी अधिक तीव्र हो गया।

मगनलालजी स्वामी आये कि नहीं ?

कालूगणी को उस समय अपने शरीर की स्थिति काफी विकट लगने लगी, अतः कुछ सोचकर उन्होंने संतों से पूछा—"मगनलालजी स्वामी अभी तक आये कि नहीं ?"

संतों ने प्रार्थना की—"अभी आये तो नही है, किन्तु आने वाले ही होने चाहिए। फिर भी शीघ्रता के लिए उन्हें बुलाने को एक संत भेज रहे है।"

मगनलालजी स्वामी सायकाल के समय स्थडिल-भूमि से प्राय' सूर्यास्त होने के आस-पास ही वापस आया करते थे। यह उनकी बहुत काल की प्रकृति थी। उस दिन वे स्वय ही सदा की अपेक्षा कुछ शीघ्र लौट पडे थे। बुलाने के लिए गये हुए सत ज्योंही उनके पास पहुँचे और आचार्यदेव की पृच्छा से उन्हें अवगत किया, तो वे अत्यत शीघ्रता से चलकर स्थान पर पहुँचे। उनका शरीर भारी था, अत' शीघ्रता से चलने तथा ऊपर चढने के कारण हाँफने लग गये। परन्तु उस समय उन्हें अपने शरीर की ओर ध्यान देने का समय नही था, वे उसी हाँफती हुई स्थिति में सीधे आचार्यदेव के पास पहुँचे और निवेदन किया कि मैं आपकी सेवा में उपस्थित हूँ।

अनशन

आचार्यदेव को मगनलालजी स्वामी के आगमन का पता लगा, त्योंही उन्होंने आँखें खोलकर उनके सामने देखा और कहा—अव…… । इन दो अक्षरो से अधिक वे कुछ बोल नहीं पाये। श्वास के वेग ने उनकी बोलने की शक्ति को अवरुद्ध कर दिया।

मगनलालजी स्वामी ने उनके मनोभावों को जानकर उनके वाक्य को पूरा करते हुए पूछा—"क्या आप यही कहना चाहते हैं कि अब सथारा करा दिया जाए ?"

धीमे किन्तु दृढ स्वर में आचार्यदेव ने कहा—"हाँ।"

मगनलालजी स्वामी ने तब उन्हें चारों आहारों का प्रत्याख्यान कराते हुए यावज्जीवन का अनशन करा दिया।

लौ बुझ गई

अनशन स्वीकार करने के कुछ मिनट पश्चात् ही उनके आत्मप्रदेश खिंचने लग गये। सात मिनट का अनशन प्राप्त कर वे छह बजकर नौ मिनट पर दिवंगत हो गये। इस प्रकार एक प्रकाश जो कि ससार को अपनी ज्योति-किरणों मे जगमगा रहा था, सदा के लिए मिट गया। एक लौ, जो कि असयममय तिमिस्रा के सघन अधकार को निगलती हुई निर्धूम जल रही थी, बुझ गई।

साधुजन उन्हें घेरे हुए निर्वाक् खडे-के-खडे रह गये। उस समय ग्यारह मिनट लगभग दिन अवशेष था। नीचे खडी जनता में वह समाचार पानी में पडे तैल-विन्दु की तरह अपने आप ही फैल गया। सूर्य भी उस कारुणिक दृश्य के सामने अपने को नही टिका सका, अत: अपनी अन्तिम किरणो को समेटता हुआ वह अन्यत्र चला गया। उदासीनता का अन्धकार चारों ओर परिव्याप्त हो गया।

देह का व्युत्सर्ग

एक क्षण पहले जो शरीर नाना चेष्टाओं से युक्त था, वही एक क्षण पश्चात् एकदम निश्चेष्ट पडा हुआ था। साधुवर्ग उदासमुद्रा में काल के वैचित्र्य का चिंतन कर रहा था।

थोड़ी-सी प्रतीक्षा के पश्चात् जब अनुमानतः यह निश्चय हो गया कि अब देह में प्राण-शक्ति का लेश भी अवशिष्ट नहीं है, तब उसका प्रत्यक्षतः परीक्षण किया गया। डाक्टर तथा वैद्य प्रभृति ने भी वही निष्कर्ष घोषित किया। उसके पश्चात् देह का विधिवत् व्युत्सर्ग कर दिया गया।

देह-दर्शन

देह-व्युत्सर्ग के साथ ही साधु-संघ का उसके प्रति कर्त्तव्य समाप्त हो गया। गृहस्थों ने उसे सम्भाला और उसे वहाँ से उठाकर वे रग-भवन की निचली मंजिल में ले गये। वहाँ उसे चौक में एक खम्भे के सहारे बाजोट पर विराजित कर दिया गया। वहाँ बैठे भी वे ऐसे लगते थे, मानो अभी-अभी बोल उठेंगे। किन्तु वह केवल देखने वालों के मन की कल्पना ही कही जा सकती है। न उनके बोलने की और न उठने की कोई बात शेष रह गई थी। जनता उनकी देह को अन्तिम रूप से देखने के लिए उमड़ पड़ी। सायंकाल से उसका तांता प्रारम्भ हुआ, तो प्रातःकाल तक लगातार चलता ही रहा। एक क्षण के लिए भी उसमें व्यवधान शायद ही पड़ा हो।

विशाल जुलूस

सप्तमी के दिन लगभग ग्यारह बजे रंगभवन से कालूगणी के शरीर को उठाया गया और विमान में आरूढ किया गया। सवारी चली तो दूर-दूर तक की गलियाँ मनुष्यों से भरी हुई थीं। छतें महिलाओं से भरी हुई थीं। जिधर दृष्टि उठाई जाती, उधर मनुष्य ही मनुष्य दिखाई देते थे। अनुमानतः पैंतीस-चालीस हजार व्यक्ति तो बाहर से आये हुए थे। स्थानीय व्यक्तियों की संख्या भी काफी बड़ी थी। जुलूस वहाँ से चला, तब ऐसा लग रहा था मानो विमान तैरता चला जा रहा था। विमान के सम्मुख भजन-मंडली द्वारा भजन गाये जा रहे थे। भीड़ का नियंत्रण करने के लिए स्वयं-सेवकों का दल जागरूक भाव से कार्य-व्यस्त था। पुलिस की ओर से भी काफी अच्छी व्यवस्था थी।

दाह-कर्म

नगर के विभिन्न भागों में घूमता हुआ वह जुलूस ग्राम बाहर श्मशान-भूमि के पास पहुँचा। वहाँ रंगलालजी हिरण के खेत में दाह-संस्कार के लिए स्थान चुना गया। चिता आदि की सम्पूर्ण व्यवस्था वहाँ पहले ही की जा चुकी थी। थोड़ी देर के पश्चात् चिता प्रज्वलित कर दी गई और सबके देखते-देखते उस पूजनीय व्यक्ति का वह संयम की आग में तपा हुआ पवित्र शरीर, उस भौतिक आग में जलकर भस्म हो गया, किन्तु उनकी पवित्र आत्मा आज भी अजर अमरभाव का संदेश दे रही है। सुगन्धिमय भौतिक पदार्थ, जो कि चिता के रूप में जलकर वातावरण को सुगंधित कर रहे थे, कुछ ही देर के पश्चात् शांत हो गये, किन्तु उनका अभौतिक यशो-गन्ध आज भी दिग्-दिगंतव्यापी होकर संसार के वातावरण को सुगन्धित कर रहा है।

: ९ :

पवित्र स्मृति

धर्म-जागरण के रूप मे

कालूगणी के दिवगत होने के समाचार प्राय अधिकाश स्थानो पर रात-रात में ही पहुँच गये थे। अत उनकी पवित्र स्मृति में प्राय' प्रत्येक स्थान पर साधु-साध्वियो ने सामूहिक रूप में उपवास किये। श्रावक-श्राविकाओं ने भी वहुत वडी सख्या में उपवास किये। सर्वत्र उस दिन को धार्मिक-जागरण के रूप में मनाया गया।

व्यापारिक नगरों मे वन्दियाँ

उनकी स्मृति में वगाल तथा आसाम के अनेक नगरों में पूर्णरूप से वन्दी रखी गई। कलकत्ता तथा वम्वई के भी अनेक वाजार वद रहे। वाजार वन्द होने से लोगो ने माल नहीं उठाया, तो कलकत्ता रेल्वे ने हरजाना छोड दिया। प्राय' प्रत्येक व्यापारिक नगरों में उनके भक्त रहा करते थे। उनकी पवित्र स्मृति में उन्होने इस रूप में भी श्रद्धांजलि अर्पित की थी।

रियासतों मे

वीकानेर-रियासत भर में राज्य की ओर से वन्दी की घोषणा की गई। स्वय वीकानेर महाराज गगासिंहजी ने राजमहलो में प्रतिदिन गाये जाने वाले गीतो को तीन दिन के लिए वन्द रखा। मेवाड तथा मारवाड़ में भी प्राय. अनेक शहरों में वन्दी रखी गई। मेवाड-नरेश भूपालसिंहजी को आचार्यदेव के दिवगत होने का समाचार कुछ दिन वाद मिल पाया था। उससे वे वहुत खिन्न हुये। उन्होंने सुदरलालजी मुरडिया को, जो कि तेरापन्थी श्रावक थे और महाराणा के निजी व्यक्तियो में से थे, वुलाकर उपालभ देते हुए कहा—"हीरालाल (सुन्दरलालजी के पिता) के विद्यमान न रहने का मुझे वस्तुत: आज अनुभव हुआ है। वह आज विद्यमान होता तो क्या मुझे पूज्यजी के दिवगत होने का तत्काल पता नही हो जाता? वे अपने देश में दिवगत हुए और हम उनकी स्मृति में राज्य की ओर से वन्दी भी नहीं कर सके, यह हमारे लिए शोभा की वात नहीं हुई। मेरे मन में यह एक सदा के लिए पछतावा रह गया।"

सुन्दरलालजी ने अपनी उस भूल के लिए काफी पश्चात्ताप किया और क्षमा-याचना भी की, परन्तु वह अवसर तो वीत ही चुका था। उसके लिए पश्चात्ताप के अतिरिक्त किया भी क्या जा सकता था?

विरल में से एक

कालूगणी के दिवंगत होने के समाचार सुनकर उनके भक्तों को जो आघात लगा, उसमें कोई आश्चर्य नहीं था, परन्तु जो व्यक्ति जीवन भर उनका विरोध करते रहे, उन्हें भी वह समाचार एक बार के लिए व्यग्र कर देने वाला हुआ। सुना जाता है कि उस समय अनेक विरोधियों के मुख से अनायास ही उनके लिए श्रद्धाभिषिक्त वचन निकल पड़े थे। उनकी दृष्टि में वे विरल आचार्यों में से एक थे।

वीरमाता छोगांजी

कालूगणी की संसारपक्षीया माता छोगांजी, जो कि एक तपस्विनी साध्वी थीं, उस समय लगभग इकानवे वर्ष पार कर चुकी थी। वृद्धावस्था के कारण वे काफी वर्षों से बीदासर में स्थिरवास के रूप में रह रही थीं। वे विरक्त-भावना की एक जीती-जागती मूर्ति थीं। जो भी कोई उनके पास जाता वे सदैव उसे विराग-भाव की ओर ही आकृष्ट करने का प्रयास किया करती थीं। यदि कोई अपने प्रियजन की मृत्यु से शोक-विह्वल भी उनके पास जाता, तो वे उसे भी यही कहा करती थीं कि हृदय को दृढ रखना चाहिए, जो वस्तु जाने की थी वह चली गई, अब उसकी चिंता करने से क्या होना-जाना है।

जब कालूगणी दिवंगत हुए तब लोगों ने सोचा कि दूसरों को विराग का उपदेश देना ही सहज होता है, पर जब अपने पर बीतती है, तब उसे पालन करना बहुत कठिन होता है। उनकी दृष्टि में संभवतः छोगांजी भी उन्हीं व्यक्तियों की संख्या में गिनी जाने वाली हो सकती थीं। कई व्यक्तियों का तो यहाँ तक अनुमान था कि अब वे संथारा कर देंगी। हजारों लोग उस समय छोगांजी की प्रतिक्रिया को देखने के लिए बीदासर में एकत्रित हो गये थे।

उन सबने वहाँ देखा कि वीर माता छोगांजी पर वैसी कोई भी प्रतिक्रिया नहीं हुई, जैसी कि वे सोच रहे थे। संथारा कर देने की भी कोई बात सामने नहीं आई। जिसने भी उनके सामने कालूगणी की बात चलाई, उसके कानों को वापस यही बात सुनाई दी—"अरे! गई वस्तु चाहे कितनी भी प्रिय क्यों न हो, वापस कब आती है? फिर उनकी चिंता क्या करना? मेरे लिए तो जैसे वे थे, वैसे ही तुलसीगणी भी हैं।" लोग उनकी इस स्थित-प्रज्ञता से बहुत ही प्रभावित हुए।

कालूगणी के दिवंगत होने के पश्चात् वे लगभग पाँच वर्ष तक फिर जीवित रहीं और छियानवे वर्ष की अवस्था में दिवंगत हुईं। जब नव आचार्य श्री तुलसीगणी ने गंगापुर से विहार करके थली में आकर छोगांजी को प्रथम दर्शन दिये और उनके लिए कालूगणी ने जो कुछ फरमाया था, वह सब सुनाया, तब वे बहुत आह्लादित हुईं। उन्होंने कालूगणी की पवित्र स्मृति को आचार्य तुलसीगणी के रूप में प्रत्यक्षता का रूप दे दिया था।

इस प्रकार पवित्रात्मा आचार्य कालूगणी की पवित्र स्मृति विभिन्न रूपों में की गई थी। इन सभी स्मृतियों की पृष्ठभूमि में जनता की उनके प्रति प्रगाढ श्रद्धा ही एक मात्र कारणभूत थी।

: १० :

ज्ञातव्य-विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

(१) जन्म-सवत्	१९३३ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया
(२) दीक्षा-सवत्	१९४४ आश्विन शुक्ला तृतीया
(३) आचार्यपद-सवत्	१९६६ भाद्रपद पूर्णिमा
(४) स्वर्गवास-सवत्	१९९३ भाद्रपद शुक्ला षष्ठी

महत्त्वपूर्ण स्थान

(१) जन्म-स्थान	छापर
(२) दीक्षा-स्थान	बीदासर
(३) आचार्यपद-स्थान	लाडणू
(४) स्वर्गवास-स्थान	गगापुर

आयुष्य-विवरण

(१) गृहस्थ	१०॥ वर्ष
(२) साधारण साधु	२२ वर्ष
(३) आचार्य	२७ वर्ष
(४) सर्व आयु	५९॥ वर्ष

जन्म-कुण्डली
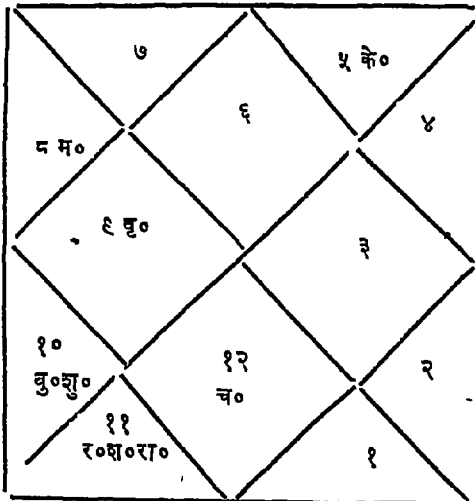
विहार-क्षेत्र

कालूगणी के विहार-क्षेत्र में राजस्थान के तत्कालीन राज्य—थली, मारवाड़, मेवाड़ और ढूंढाड़ तथा पंजाब (हरियाणा) और मालव रहा था।

चातुर्मास

कालूगणी ने साधारण साधु-अवस्था में बाईस चातुर्मास किये थे। उनमें से क्रमशः पाँच चातुर्मास मघवागणी, पाँच माणकगणी और बारह डालगणी की सेवा में किये थे। आचार्य-अवस्था में उन्होंने सत्ताईस चातुर्मास किये थे। उनका विवरण निम्नोक्त प्रकार से है :

स्थान	चातुर्मास-संख्या	संवत्
सरदारशहर	३	१९६७,७४, ८९
बीदासर	४	१९६८,७६,८२,८८
चूरू	२	१९६९,८१
लाडणूं	२	१९७०,८६
सुजानगढ़	२	१९७१,९०
उदयपुर	२	१९७२,९२
जोधपुर	२	१९७३,९१
राजलदेसर	१	१९७५
भिवानी	१	१९७७
रतनगढ़	१	१९७८
बीकानेर	१	१९७९
जयपुर	१	१९८०
गंगाशहर	२	१९८३,८७
डूंगरगढ़	१	१९८४
छापर	१	१९८५
गंगापुर	१	१९९३

मर्यादा-महोत्सव

कालूगणी ने अपने शासनकाल में विभिन्न स्थानों पर २७ मर्यादा-महोत्सव मनाये। उनका विवरण इस प्रकार है :

स्थान	महोत्सव-संख्या	संवत्
बीदासर	३	१९६६,६९,७०
राजलदेसर	४	१९६७,७४,७९,८२
लाडणूं	६	१९६८,७३,७८,८३,८५,९०

स्थान	महोत्सव-संख्या	संवत्
गंगापुर	१	१९७१
पाली	१	१९७२
सुजानगढ	३	१९७५,८०,८६
सरदारशहर	४	१९७६,७७,८१,८७
चूरू	१	१९८४
छापर	१	१९८८
डूंगरगढ	१	१९८९
सुधरी	१	१९९१
वडनगर	१	१९९२

शिष्य-संपदा

कालूगणी के शासन-काल में चार-सौ-दस दीक्षाएँ हुई । उनमें एक सौ पचपन साधु और दो सौ पचपन साध्वियाँ थीं । वे दिवगत हुए उस समय एक सौ-उनचालीस माधु और तीन सौ तेईस साध्वियाँ सघ में विद्यमान थीं ।

दशम परिच्छेद

आचार्य श्री तुलसी

: १ :

गृहि-जीवन

वर्त्तमान व्यक्तित्व

आचार्य श्री तुलसी तेरापन्थ के नवम आचार्य हैं। उनके अनुशासन में रहते हुए वर्तमान में तेरापन्थ ने जो उन्नति की है, वह अभूतपूर्व कही जा सकती है। प्रचार और प्रसार के क्षेत्र में भी इस अवसर पर तेरापन्थ ने बहुत बडा सामर्थ्य प्राप्त किया है। जन-सम्पर्क का क्षेत्र भी आशातीत रूप में विस्तीर्ण हुआ है। सक्षेप में कहा जाए तो यह समय तेरापन्थ के लिए चतुर्मुखी प्रगति का रहा है। आचार्य श्री ने अपना समस्त समय सघ की इस प्रगति के लिए ही अर्पित कर दिया है। वे अपनी शारीरिक सुविधा-असुविधा की भी परवाह किये विना अनवरत इसी कार्य में जुटे रहते हैं। इसीलिए आचार्यश्री के शासन-काल को तेरापन्थ के प्रगति-काल या विकास-काल की सज्ञा दी जा सकती है।

आचार्यश्री का बाह्य तथा आन्तरिक—दोनो ही प्रकार का व्यक्तित्व बडा आकर्षक और महत्त्वपूर्ण है। मझला कद, गौरवर्ण, प्रशस्त ललाट, तीखी और उठी हुई नाक, गहराई तक झाँकती हुई तेज आँखें, लम्बे कान व भरा हुआ आकर्षक मुखमण्डल— यह है उनका बाह्य व्यक्तित्व। दर्शक उन्हें देखकर महात्मा बुद्ध की आकृति की एक झलक अनायास ही पा लेता है। अनेक नवागन्तुकों के मुख से उनकी और बुद्ध की तुलना की बातें मैंने स्वय सुनी हैं। दर्शक एक क्षण के लिए उन्हें देख कर भावविभोर-सा हो जाता है।

उनका आन्तरिक व्यक्तित्व उससे भी कहीं बढ कर है। वे एक धर्म-सम्प्रदाय के आचार्य होते हुए भी सभी सम्प्रदायों की विशेषताओं का आदर करते है और सहिष्णुता के आधार पर उन सब में नैकट्य स्थापित करना चाहते हैं। वे मानवतावादी हैं, अत समस्त मानवों के सुसस्कारो को जगाकर भूमण्डल से अनैतिकता और दुराचार को हटा देने के स्वप्न को साकार करने में जुटे हुए हैं। अथक परिश्रम उनके मानस को अपार तृप्ति प्रदान करता है। वे बहुधा अपने भोजन तथा शयन के समय में से भी कटौती करते रहते है। अपराजेय साहस, चिन्तन की गहराई, दूसरे के मनोभावो को सहजता से ही ताड लेने का सामर्थ्य और अयाचित स्नेहार्द्रता ने उनके आन्तरिक व्यक्तित्व को और भी महत्त्वशील बना दिया है।

उनका बाह्य व्यक्तित्व जहाँ सन्देहों से परे है, वहाँ आन्तरिक व्यक्तित्व अनेक व्यक्तियो के लिए सन्देह-स्थल भी बना है। कुछ लोगों ने उनमें द्वैध-व्यक्तित्व की आशकाएँ की है। उनका व्यक्तित्व किसी को सम्प्रदायातीत मालूम दिया है, तो किसी को अपार साम्प्रदायिक। किसी ने उनमें उदारता और स्नेहार्द्रता के दर्शन किये है तो किसी ने अनुदारता और शुष्कता

के। तात्पर्य यह है कि वे अनेक व्यक्तियों के लिए अभी तक अज्ञेय रहे हैं। वे समन्वयवाद को लेकर चलते हैं, अतः अपने आपको बिलकुल स्पष्ट मानते हैं, परन्तु उनमें भयङ्कर अस्पष्टता का आरोप करने वाले व्यक्ति भी मिलते हैं। वे अहिंसक हैं, अतः अपने लिए किसी को अमित्र नहीं मानते, फिर भी अनेक व्यक्ति उनको अपना भयङ्कर विरोधी मानते है। भारत के प्रायः सभी प्रमुख पत्रों ने तथा कुछ विदेशी पत्रों ने भी जहाँ उनको तथा उनके कार्यों को महत्त्वपूर्ण बतलाया है, तो कुछ छोटे पत्रों ने उनको जी-भर कर कोसा भी है। इतना ही नहीं, किन्तु उन्होंने उनकी तथा उनके कार्यों की निम्नस्तरीय आलोचनाएँ भी की हैं। पर वे उन सबको एकभाव से देखते रहे हैं। न स्वयं उन विरोधों का प्रतिवाद करते हैं और न अपने किसी अनुयायी को करने देते हैं। वे सत्यशोध के लिए विरोध को आवश्यक समझते हैं और उसे विनोद की तरह सहजभाव से ग्रहण करते हैं। अपनी इस भावना को उन्होंने अपने एक पद्य में यों व्यक्त किया है :

जो हमारा हो विरोध, हम उसे समझें विनोद।
सत्य, सत्य-शोध में, तब ही सफलता पायेंगे॥

अनेक विचारक व्यक्तियों ने उनके विचारों का समर्थन करने वाला तथा अनेकों ने खण्डन करने वाला साहित्य लिखा है। उस उच्चस्तरीय आलोचना तथा खण्डन का उन्होंने उसी उच्चस्तर पर उत्तर भी दिया है। वे **'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः'** को एक बहुत बड़ा तथ्य मानते हैं। वे आलोचनाओं से बचने का प्रयास नहीं करते, किन्तु उनके स्तर का ध्यान सदैव रखते हैं। उच्चस्तरीय आलोचना को उन्होंने सदैव सम्मान की दृष्टि से देखा है और उस पर उनकी भावनाएँ मुखर होती रही हैं, जब कि निम्नस्तरीय आलोचना पर वे पूर्णतः मौन धारण करते रहे हैं।

इस प्रकार उनके व्यक्तित्व के विषय में विविध व्यक्तियों के विविध विचार हैं, पर यह विविधता और विरोध ही उनके व्यक्तित्व की प्रचण्डता और अदमनीयता का परिचायक है। वे समन्वयवादी हैं, अतः जहाँ दूसरों को अन्तर्-विरोध का आभास होता है, वहाँ उनको समन्वय की भूमिका दिखाई पड़ती है। उनके दर्शन की इस पृष्ठभूमि ने उनको विविधता प्रदान की है और उनके विरोधियों को एक उलझन।

ऐसे व्यक्तियों को शब्दों में बांधना बहुत कठिन होता है, परन्तु यह भी सत्य है कि ऐसे व्यक्तित्व ही शब्दों में बांधने योग्य होते हैं। जिनके जीवन में न तेज होता है, न प्रवाह और न बहा ले जाने का सामर्थ्य, उनका व्यक्तित्व शब्द में छिप कर रह जाता है और जिनमें ये विशेषताएँ होती हैं, उनके व्यक्तित्व में शब्द छिप कर रह जाता है। समस्या दोनों जगह पर है, परन्तु वह भिन्न-भिन्न प्रकार की है। आचार्यश्री के व्यक्तित्व को शब्दों में बांधने वाले के लिए यही सबसे बड़ी कठिनाई है कि उसे जितना बांधा जाता है, उससे कहीं अधिक वह

बाहर रह जाता है। शब्द उसके सामस्त्य को अपने में अटा नही पाते, उनके व्यक्तित्व की गुरुता के सम्मुख शब्दो के ये बाट बहुत ही हल्के पडते है।

जन्म

आचार्य श्री तुलसी का जन्म वि० स० १९७१ कार्तिक शुक्ला द्वितीया राजस्थान (मारवाड) के लाडणू शहर में हुआ। उनके पिता का नाम झूमरमलजी तथा माता का नाम वदनांजी है। वे ओसवाल जाति के खटेड गौत्रीय हैं। छ. भाइयों में वे सबसे छोटे है। उनके तीन बहिनें भी है। उनके मामा हमीरमलजी कोठारी उन्हें 'तुलसीदासजी' कहकर पुकारा करते थे। वे यह भी कहा करते थे कि हमारे 'तुलसीदासजी' बडे नामी आदमी होगे। उनकी वह बात उस समय तो सम्भवत: प्यार के अतिरेक से उद्भूत एक सरल और सहज कल्पना ही मानी गई होगी, परन्तु आज उसे एक सत्य घटित होने वाली भविष्यवाणी कहा जा सकता है।

घर की परिस्थिति

आचार्यश्री के ससार-पक्षीय दादा राजरूपजी खटेड काफी प्रभावशाली तथा प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। वे सिराजगज (अब यह पूर्वी पाकिस्तान में है) में राजबहादुर बाबू बुधसिंहजी के यहाँ मुनीम थे। वहाँ उनका बहुत बडा व्यापार था और उसकी सारी देखभाल राजरूपजी के ऊपर ही थी। वे व्यापार में बडे निपुण थे, अत. उस क्षेत्र में उनका काफी सम्मान था। रहन-सहन भी उनका बडा रोबीला था।

स० १९४४ में बुधसिंहजी के पौत्र इन्द्रचन्दजी आदि विलायत यात्रा पर गये तो लौटने पर वहाँ एक सामाजिक झगडा चल पड़ा। उनके विरोधी-पक्ष ने उनको तथा उनसे सम्बन्ध रखने वालो को जाति-बहिष्कृत कर दिया। उस झगडे में श्री सघ के पक्षपाती होने के कारण राजरूपजी ने उनके वहाँ से नौकरी छोड दी और घर आ गये। पहले कुछ दिनो तक वे कहीं अन्यत्र मुनीमी प्राप्त करने का प्रयास करते रहे, परन्तु जिस सम्मान और रौब से वे सिराजगज में रह चुके थे, उससे कम में रहना उन्हें पसन्द नही था। उतना कही मिल नही सका, अत वे तब से प्राय· घर पर ही रहने लगे। उनके पुत्र झूमरमलजी एक सरल-स्वभावी व्यक्ति थे। वे व्यापार में अधिक सफल नही हो सके। आय साधारण रही और परिवार बडा होने से व्यय अधिक रहा। अतः धीरे-धीरे आर्थिक स्थिति गिरने लगी और परिवार पर ऋण हो गया।

स० १९७३ में राजरूपजी का देहान्त हो गया। उसके पश्चात् सं० १९७६ में झूमरमलजी का भी देहान्त हो गया। इन मौतो के कारण परिवार की आर्थिक स्थिति पर और भी अधिक दबाव पड़ा, किन्तु आचार्यश्री के बड़े भाई मोहनलालजी ने काफी प्रयत्न तथा साहस से उस स्थिति को सम्भाल लिया। उन्होंने बहुत कम समय में ही उस ऋण को उतार दिया तथा

अपने घर की स्थिति को फिर से सुव्यवस्थित कर लिया। उस समय उनके अन्य भाई भी व्यापार-कार्य में लगे और उन्होंने घर की आर्थिक स्थिति को सुधारने में यथाशक्ति योग दिया। इस प्रकार वह परिवार फिर से अपने पैरों पर खड़ा होकर सम्मानित जीवन बिताने लगा।

धार्मिकता की ओर झुकाव

आचार्यश्री के परिवार वालों में प्रायः सभी के धार्मिक अभिरुचि अच्छी थी। उनमें भी वदनांजी की श्रद्धा तथा अभिरुचि सर्वोपरि कही जा सकती है। लाडणूं में सं० १६१४ से लगातार वृद्ध सतियों का स्थिरवास चला आ रहा है। साध्वियाँ जहाँ रहती हैं, वहाँ पास में ही उनका घर है, अतः उनका फुरसत का समय प्रायः वहीं व्यतीत होता था। व्याख्यान आदि के समय तो एक प्रकार से निश्चित बन्धे हुए थे ही। वे अपने बालकों को भी दर्शन करने के लिए प्रेरित करती रहती थीं। जब कोई बालक प्रातराश के लिए कहता, तो वे बहुधा पूछ लिया करती थीं कि दर्शन कर आया कि नहीं। यदि दर्शन किये हुए नहीं होते तो वे यही चाहतीं कि एक बार वह दर्शन कर आये। उनकी उस नैरन्तरिक प्रेरणा ने वहाँ का वातावरण ही ऐसा बना दिया कि साधु-साध्वियों के स्थान पर जाकर दर्शन कर आना उन सबका स्वाभाविक और प्रथम कर्तव्य हो गया। आचार्यश्री उस समय बाल्यावस्था में ही थे, फिर भी घर के अन्य सदस्यों के समान ही प्रतिदिन वे दर्शन करने के लिए जाया करते थे। धर्म के प्रति उनका एक आन्तरिक अनुराग हो गया था। उनके एक बड़े भाई मुनिश्री चम्पालालजी ने जब सं० १६८१ में दीक्षा ग्रहण की, तब से तो वे और भी अधिक धार्मिकता की ओर आकृष्ट हुए। उनका वह झुकाव धीरे-धीरे अनुकूल वातावरण में वृद्धिगत होता रहा।

एक दूसरा पहलू

जीवन में जब दैवी संस्कारों का बीज-वपन होता है, तब बहुधा आसुरी-संस्कार भी अपने अस्तित्व को बनाए रखने का जोर मारते हैं। वे किसी न किसी बहाने से व्यक्ति को भटका देना चाहते हैं। वैसी स्थिति में अनेक व्यक्ति भटक जाते हैं, तो अनेक सम्भल कर वैसे संस्कारों पर विजय पा लेते हैं और उन्हें सत्-संस्कारों में परिणत कर लेते हैं। आचार्यश्री के बाल-जीवन में भी कुछ-एक ऐसे क्षण आए, जब कि एक ओर तो धार्मिक संस्कार उनके मन में जड़ जमाने लगे और दूसरी ओर से आसुरी संस्कारों ने उन्हें भटका देना चाहा। वह उनके बाल-जीवन के चित्र का एक दूसरा पहलू कहा जा सकता है। उन्होंने स्वयं अपने 'अतीत के कुछ संस्मरण' लिखते हुए एक घटना का उल्लेख किया है। घटना इस प्रकार है—एक बार उन्हीं के एक कौटुम्बिक जन ने उन्हें बतलाया कि यहाँ गाँव से बाहर 'ओरण' में एक रामदेवजी का मन्दिर है। उसमें देवता बोलता है, परन्तु उसको नारियल चढ़ाना आवश्यक

होता है। यदि तुम अपने घर से नारियल ला सको तो हम तुम्हें देवता की बोली सुना सकते हैं। बाल-सुलभ जिज्ञासा से प्रेरित होकर उन्होने नारियल ले आने का वचन दिया और घर में जाकर चुपके से एक नारियल उठा लाये। मन्दिर में छिपकर किसी व्यक्ति के बोलने को ही उन्होंने अपनी बाल-सुलभ सरलता मे देव-वाणी मान लिया था। उस चक्कर में उन्होंने कई बार नारियल चुराये, परन्तु शीघ्र ही आत्म-निरीक्षण द्वारा वे इस कुसंगति से छूट गये और सत्-संस्कारों की विजय हुई।

दीक्षा के भाव

स० १९८२ के मार्गशीर्ष महीने में आचार्यश्री कालूगणी का लाडणू पदार्पण हुआ। उस समय बालक तुलसी को निकटता से आचार्यदेव के दर्शन करने तथा व्याख्यान आदि सुनने का प्रथम अवसर प्राप्त हुआ। उस निकट सपर्क ने उनके पूर्वार्जित सस्कारों को उद्‌बुद्ध कर दिया। फलस्वरूप बालक होते हुए भी वे विराग-भाव से रहने लगे। जो बात व्याख्यान आदि में सुनते, उस पर विशेषरूप से मनन करते। मन में जो प्रश्न उठते, उनकी चर्चा घर जाकर अपनी माता के पास करते और उनका समाधान खोजते। माता वदनांजी उन्हें जो सरल-सा उत्तर देती, उस समय उनकी जिज्ञासा उसीमे तृप्त हो जाया करती।

एक दिन उन्होने अपने घरवालों के सामने अपनी दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की, परन्तु उसे बाल-भाव का एक विनोद-मात्र समझकर यों ही टाल दिया गया। उन्होंने कुछ दिन पश्चात् फिर अपनी बात को दुहराया, परन्तु किसी ने उस बात पर गम्भीरता से ध्यान नहीं दिया। उन्हें इस बात पर बहुत खेद हुआ कि वे जिस बात को एक तथ्य के रूप में कहना चाहते है, घरवाले उसे एक बाल-भाव मात्र समझते हैं, परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नही थी। घरवाले उनकी उस भावना से परिचित होने के साथ-साथ सावधान भी हो गये थे। अपनी 'हाँ' या, 'ना' से वे उस बात को खीचकर अधिक पक्का करना नही चाहते थे। वे उस समस्या को सुलझाने का अन्दर ही अन्दर कुछ प्रयत्न सोचने में लगे थे।

एक समस्या

उनकी बहिन लाडांजी के कुछ समय से दीक्षा लेने के विचार थे। आचार्यश्री कालूगणी के पदार्पण से ऐसी सम्भावनाएँ की जाने लगी थी कि सम्भवतः इस अवसर पर उन्हें दीक्षा की स्वीकृति मिल जाए। परिवार के प्रमुख तथा अगुआ सदस्य मोहनलालजी उस समय बगाल में थे। उनको बुलाये बिना न लांडाजी के विषय में कोई निश्चित कदम उठाया जा सकता था और न बालक तुलसी के विषय में। दोनों समस्याओं का हल एक ही था कि मोहनलालजी को बुला लिया जाये। यह चिन्ता फिर वे स्वयं ही कर लेंगे कि क्या करना है तथा कैसे करना है।

वे उन दिनों सिराजगंज (पूर्वी बंगाल) में रहा करते थे। उन्हें तार दिया गया कि लाडांजी की दीक्षा की संभावना है, शीघ्र आओ। तार पढ़कर वे तुरत लाडणूं चले आये। स्टेशन पहुँचने पर पता चला कि तुलसी भी दीक्षा की बात कर रहा है, तो वे बहुत झल्लाए। कहने लगे कि मुझे यह खबर होती तो मैं आता ही नहीं। आखिर वे घर पर आये। घरवालों को बहुत कुछ कहा-सुना। बालक तुलसी को भी अच्छी-खासी डाँट सुनाई और आगे के लिए ऐसी बात को मुंह में भी न घालने की चेतावनी दी।

जो टलने का नहीं होता, उसे कैसे टाला जा सकता है? बात रुकने की नहीं थी सो नहीं रुकी, जब-तब सामने आती रही। उनके चौथे भाई मुनिश्री चम्पालालजी पहले ही दीक्षित हो चुके थे। उनकी प्रेरणा थी कि वे उस दीक्षा में बाधा न दें, परन्तु मोहनलालजी अब और किसी भाई को दीक्षित होने देना नहीं चाहते थे। उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि वे दीक्षा की स्वीकृति नहीं देंगे। तेरापन्थ की दीक्षा विषयक नियमावली के अनुसार अभिभावकों की लिखित स्वीकृति के बिना किसी को दीक्षा नहीं दी जा सकती। मोहनलालजी को अनेक व्यक्तियों ने समझाने का प्रयास किया। मुनिश्री मगनलालजी ने भी उनसे कहा, पर वे नहीं माने।

समस्या का सुलझाव

बालक तुलसी ने जब देखा कि यह समस्या यों सुलझने वाली नहीं है, तो वे अपने में से ही कोई मार्ग खोजने लगे। मन में एक विचार कौंधा और वे हर्षोत्फुल्ल हो उठे। उस समय आचार्यश्री कालूगणी व्याख्यान दे रहे थे। वहाँ की विशाल परिषद् उनके सामने उपस्थित थी। वे वहाँ गये और व्याख्यान में खड़े होकर कहने लगे—"गुरुदेव! मुझे आजीवन विवाह करने और व्यापारार्थ परदेश[1] जाने का त्याग करा दीजिए।" सुनने वाले चकित रह गये। मोहनलालजी सोच में पड़ गये कि यह क्या हो रहा है? आचार्यदेव ने शांत भाव से समझाते हुए कहा—"तू अभी बालक है, इस प्रकार का त्याग करना बहुत बड़ी बात होती है।"

गुरुदेव के इस कथन से मोहनलालजी बड़े आश्वस्त हुए, परन्तु बालक तुलसी के मन में बड़ी उथल-पुथल मच गई। जो सोचा था, वह द्वार खुल नहीं पाया। वे एक क्षण रुके, कुछ असमंजसता में पड़े और दूसरे ही क्षण दूसरे मार्ग का निश्चय कर लिया। उन्होंने अपने साहस को बटोरा और कहने लगे—"गुरुदेव! मैं आपकी साक्षी से ये त्याग करता हूँ।"

मोहनलालजी अब कहें तो क्या कहें और करें तो क्या करें? बहुत व्यक्तियों ने पहले उनको समझाया था, पर भातृ-मोह बाधक बन रहा था। समस्या की जो डोर सुलझ नहीं

१—उन दिनों थली के ओसवाल व्यापारार्थ प्रायः बंगाल जाया करते थे। वे उसे 'परदेश जाना' कहा करते थे।

पा रही थी, आपके उस उपक्रम से वह अपने आप सुलझ गई। बात का और डोर का सिरा हाथ लग जाने पर उसे सुलझते कोई देर नही लगती।

मोहनलालजी ने परिस्थिति को समझा, दीक्षार्थी के परिणामो की उत्कटता को समझा और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब इसे रोकने का प्रयास करना व्यर्थ है। आखिर उन्होंने दीक्षा के लिए आज्ञा प्रदान करने का ही निर्णय किया। उन्होने गुरुदेव के चरणो में दीक्षा प्रदान करने के लिए प्रार्थना प्रस्तुत की। गुरुदेव ने पहले साधु-प्रतिक्रमण सीखने के लिए आज्ञा प्रदान की और उसके कुछ दिन पश्चात् फिर प्रार्थना करने पर दीक्षा-प्रदान करने के लिए पौष कृष्णा पचमी का दिन घोषित कर दिया।

एक परीक्षा

दीक्षा ग्रहण करने से एक दिन पूर्व रात्रि के समय मोहनलालजी ने विरागी बालक की भावना तथा साधु-आचार-सम्बन्धी उनके ज्ञान की परीक्षा करने की सोची। मोहनलालजी की चारपाई के पास ही उनकी चारपाई बिछी हुई थी। जब वे सोने के लिए उस पर आकर लेटे, तो मोहनलालजी और वे दो ही वहाँ पर थे। परीक्षा के लिए वही ठीक अवसर समझकर मोहनलालजी ने उनसे धीरे से बात करते हुए कहा—"कल तो तुम दीक्षित हो जाओगे। साधु जीवन में कठिनाइयाँ-ही-कठिनाइयाँ होती हैं, अत बडी सावधानी और साहस से तुम्हें रहना होगा। अभी तुम बालक हो, अत भूख-प्यास के कष्ट भी काफी सतायेंगे। कभी किसी समय भोजन मिलेगा तो कभी किसी समय। कही आचार्यदेव के द्वारा दूर प्रदेशो में विहार करने के लिए भेज दिए जाओगे, तो मार्ग में न जाने कैसे-कैसे कष्टों का सामना करना पडेगा। अन्य सब कष्ट तो मनुष्य फिर भी सह सकता है, परन्तु यदि आहार-पानी नही मिला तो तुम जैसे बालक के लिए भूख और प्यास के कष्टो को सहना बडा ही कठिन हो जाएगा। परन्तु हाँ, उसका एक उपाय हो सकता है।" इतना कहकर उन्होंने अपने पास से एक सौ रुपये का एक नोट निकाला और उनको देने का प्रयास करते हुए कहने लगे—"यह नोट तुम अपने पास रखो। जब कभी तुम्हारे सामने भूख-प्यास का सकट आए, तब तुम इसे अपने काम में ले लेना।"

अपने बडे भाई की वह बात सुनकर वे बहुत हसे और छोटा-सा उत्तर देते हुए कहने लगे —"साधु हो जाने के पश्चात् नोट रखना कल्पता ही कहाँ है ?"

मोहनलालजी ने उनकी बात का विरोध किया और कहा—"रुपये-पैसे रखने तो नहीं कल्पते, किन्तु यह तो एक कागज है। क्या तुम प्रतिदिन नही देखते कि साधुओ के पास कितने कागज होते हैं ? तुमने अभी जो साधु-प्रतिक्रमण सीखा है, वह भी कागजो पर ही साधुओ द्वारा लिखा हुआ था। वे इतने सारे कागज कल्प से बाहर नही हैं, तो फिर यह छोटा सा कागज क्यो नही कल्पेगा ? उनमें और इसमें आखिर अन्तर भी क्या है ? अपने 'पूठे'

में एक ओर रख लेना, पड़ा रहेगा, तुम्हारा इसमें नुकसान भी क्या है ? समय-बे-समय काम ही आयेगा।"

उनकी इतनी सारी बातो के उत्तर में वे केवल हंसते रहे और बोले—"ये तो रुपये ही है। यह नहीं कल्पता।" बार-बार मनुहार करने पर भी वे अपनी धारणा पर दृढ रहे, तब मोहनलालजी ने समझ लिया कि केवल ऊपर से ही विराग नही है, अपितु अन्तरग से है और साथ में संयम की सीमाओ का भी ज्ञान है। उन्होने नोट को यथास्थान रख लिया और परीक्षा में उनकी उत्तीर्णता पर मन-ही-मन प्रसन्न हुए।

दीक्षा-ग्रहण

आचार्यश्री कालूगणी को लाडणू आये एक महीना पूर्ण हो चुका था, अत: चतुर्थी के दिन ही वहाँ से विहार कर गांव से बाहर मालमचन्दजी बोरड की कोठी में पधार गये। कोठी के बाहर ही बहुत बड़ा खुला चौक है। वहीं दीक्षा प्रदान करने का स्थान निर्णीत किया गया। प्रातःकाल सहस्रो व्यक्तियों के सम्मुख दीक्षा प्रदान की गई और सीधे वही से विहार करके सुजानगढ़ पधार गये। वह दिन स० १९८२ पौष कृष्णा पंचमी का था।

उस दीक्षा को आचार्यश्री कालूगणी ने सम्भवत. प्रारम्भ से ही कुछ विशिष्ट समझा था। दीक्षा से पहले तो उन्होने अपनी कोई ऐसी भावना प्रकट नही की, किन्तु कुछ दिन पश्चात् एक बार वह अनायास ही प्रकट हो गई थी। एक बार उनके पास शकुन-सम्बन्धी बातें चल पड़ी थी। मुनिश्री चौथमलजी ने कहा—"पहले तो शकुनों के फल प्राय: मिला करते थे, यही सुना जाता है, पर अब तो वैसा कुछ नहीं देखा जाता।" कालूगणी ने तब उसका प्रतिवाद करते हुए फरमाया—"नही ही मिलते, ऐसी तो कोई बात नहीं है। अभी हम लोग बीदासर से विहार कर के लाडणूं जा रहे थे, अच्छे शकुन हुए। फलस्वरूप तुलसी की दीक्षा कैसी अनायास और अकस्मात् ही हो गई ?"

मालूम होता है, उनके उन शब्दो के पीछे कुछ विशिष्ट भावना अवश्य रही थी, जिसको कि उन्होंने कुछ खोला और कुछ ढके ही रहने दिया। उस समय उस शकुन की विशेषता के प्रति किसी को निष्ठा हुई हो, चाहे न हुई हो, पर अब यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि आचार्यश्री कालूगणी का उस शकुन के विषय में जो विचार था, वह बिलकुल सत्य निकला। आचार्यश्री तुलसी ने अपने विकासशील व्यक्तित्व से यह अच्छी तरह सिद्ध कर दिया कि वे एक विशेष योग्यता-सम्पन्न व्यक्तित्व को लेकर ही दीक्षित हुए थे।

: २ :

मुनि जीवन के ग्यारह वर्ष

विद्या का बीज-वपन

आचार्यश्री तुलसी ने अपनी ग्यारह वर्ष की लघु अवस्था मे ही दीक्षा ग्रहण की थी। उसके पश्चात् वे तत्काल ही विद्यार्जन में लग गये। प्रारम्भ से ही विद्या के विषय में उनकी विशेष आतुरता रहा करती थी। गृहस्थावस्था में जब उन्होने अपना प्रारम्भिक अध्ययन प्रारम्भ किया था, तब भी उनकी वह आतुरता लक्षित की जा सकती थी। वे अपनी कक्षा के सबसे अधिक बुद्धिमान् और निपुण विद्यार्थी समझे जाते थे। वे अपनी कक्षा के मानीटर थे। अध्यापक उनके प्रति विशेष विश्वस्त रहा करते थे।

विद्या का बीज-वपन यद्यपि उन्होंने गृहस्थ-जीवन में किया था, किन्तु उसका यथेष्ट अर्जन तो दीक्षा-ग्रहण करने के पश्चात् ही किया। बाल्य अवस्था, तीव्र बुद्धि और विद्या के प्रति प्रेम — इन तीनो का एकत्र सयोग होने से वे अपने भावी जीवन के महल का बड़ी तीव्रता से निर्माण करने लगे।

ज्ञान कण्ठा, दाम अण्टा

दीक्षा-ग्रहण करते ही साधुचर्या का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए दशवैकालिक सूत्र, जो कि प्राय. प्रत्येक नव-दीक्षित को कण्ठस्थ कराया जाता है, उन्होंने बहुत थोड़े ही समय में कण्ठस्थ कर लिया। उसके पश्चात् वे सस्कृत-अध्ययन में लग गये। वे 'ज्ञान कण्ठां और दाम अण्टां' इस राजस्थानी कहावत के हार्द को भली-भाँति जानते थे, अत· कण्ठस्थ करने में उनका विशेप ध्यान था। उन्होंने अपने विद्यार्थि-जीवन में लगभग बीस सहस्र श्लोक-परिमित ग्रन्थ कण्ठस्थ किया था। प्राचीनकाल में तो ज्ञानार्जन के लिए कण्ठस्थ करने की प्रणाली को बहुत महत्व दिया जाता था। सारा-का-सारा ज्ञान-प्रवाह परम्पर रूप से कण्ठस्थ ही चलता रहता था, परन्तु युग की बदलती हुई धारणाओ के समय में भी इतना ग्रन्थ कण्ठस्थ करके उन्होंने सबके सामने एक आश्चर्य ही पैदा कर दिया। उनके कण्ठस्थ किये गये ग्रन्थों में व्याकरण, साहित्य, दर्शन और आगम-विपयक ग्रन्थ मुख्य थे।

घो-चो-पू-ली

अपनी मातृ-भाषा के अतिरिक्त उन्होने सस्कृत तथा प्राकृत भाषाओ का अधिकार-पूर्ण अध्ययन किया। उनकी शिक्षा के सचालक मुख्यत: स्वयं आचार्यश्री कालूगणी ही रहे थे। उनके अतिरिक्त आयुर्वेदाचार्य, आशुकविरत्न, पडित रघुनन्दनजी शर्मा का भी उसमे काफी

अच्छा सहयोग रहा था। संस्कृत-व्याकरण की दुरूहता का दिग्दर्शन कराते हुए आचार्यश्री कालूगणी अनेक बार विद्यार्थी साधुओं को एक दोहा फरमाया करते थे। वह इस प्रकार है :

खान-पान-चिन्ता तजै, निश्चय मांडै मरण।
घो-ची-पू-ली करतो रहै, जद आवै व्याकरण॥

अर्थात् "जब कोई खान-पान आदि की चिन्ताओं को छोड़कर केवल व्याकरण के ही पीछे अपना जीवन झोंक देता है, तथा उतने समय के लिए घोटने, चितारने (घोटे हुए पाठ का पुनरावर्तन करने), पूछ-ताछ करने और लिखने को ही अपना मुख्य विषय बना लेता है, तब कहीं संस्कृत-व्याकरण को हृदयंगम करने में सफलता मिलती है।" इस दोहे के माध्यम से वे अपने शिष्य-वर्ग को यह बतलाने का प्रयास किया करते कि व्याकरण सीखने वालों को अपना संकल्प कितना दृढ़ करने की तथा अपनी वृत्तियों को कितना केन्द्रित करने की आवश्यकता है।

आचार्यश्री तुलसी ने अपने विद्यार्थि-जीवन में कालूगणी की उसी प्रेरणा को चरितार्थ कर दिखाया था। केवल व्याकरण के लिए ही नहीं, वे तो जिस विषय को हाथ में लेते थे, उसके पीछे उपर्युक्त प्रकार से ही अपने आपको झोंक दिया करते थे। कभी न थकने वाली उनकी उस लगन ने ही उनको आज अकल्पनीय को भी कल्पनीय और असम्भव को भी सम्भव बना देने का सामर्थ्य प्रदान किया है। विद्यार्थि-जीवन की उनकी वह प्रकृति आज भी रूपान्तर पाकर उसी तरह से विद्यमान है।

कण्ठस्थ ग्रन्थ

अपनी प्रखर बुद्धि के बल पर वे जिस किसी भी ग्रन्थ को कण्ठस्थ करने का निर्णय करते, उसे बहुत स्वल्प समय में ही पूर्ण कर छोड़ते। इसीलिए उनकी त्वरता में दूसरों का उनके साथ निभ पाना प्रायः कम ही सम्भव रहा। दशवैकालिक, भ्रमविध्वंसन, अभिधान चिन्तामणि (नाममाला), सिद्धान्त-चन्द्रिका, भिक्षुशब्दानुशासन, प्रमाण-नयतत्त्वालोक और षड्दर्शन-समुच्चय आदि आगम, व्याकरण तथा दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थ तो उन्होंने कण्ठस्थ किये ही थे, परन्तु शान्त-सुधारस, भक्तामर आदि अनेक स्वाध्याय-योग्य ग्रन्थ तथा अनेक छोटे बड़े व्याख्यान-योग्य ग्रन्थ भी उन्होंने कण्ठस्थ किये थे। इनके अतिरिक्त उन्होंने अनेक ऐसे ग्रन्थ भी कण्ठस्थ कर डाले थे, जिन्हें साधारणतया पढ लेने से ही काम चल सकता था। सम्पूर्ण संस्कृत-धातु-पाठ, गणरत्न-महोदधि तथा उणादिसूत्रपाठ आदि को उसी कोटि के ग्रन्थों में गिनाया जा सकता है। आज के शिक्षा-विशेषज्ञ इसे बुद्धि पर डाला गया अतिरिक्त भार कहकर अनावश्यक कह सकते हैं, परन्तु जिस व्यक्ति को थोड़ा-सा विशेष ध्यान देकर पढने-मात्र से ही जब पाठ कण्ठस्थ हो जाये, तो उसे अनावश्यक तथा भार कैसे कहा जा सकता है ? अल्प-बुद्धि छात्रों को वह भार अवश्य हो सकता है, परन्तु वे उस भार को उठाने के लिए उद्यत ही कहाँ होते

हैं ? सम्भवत: उस अवस्था में आचार्यश्री को साधारण अध्ययन की अपेक्षा उसे कण्ठस्थ कर लेने में ही अधिक आनन्द मिलता था।

सौ-सवासौ पद्य

उनकी कण्ठस्थ करने की वृत्ति तथा त्वरता का अनुमान एक घटना से लगाया जा सकता है। आचार्यश्री कालूगणी स० १९९१ के शीतकाल में मारवाड़ के छोटे-छोटे गांवों में विहार कर रहे थे। कही अधिक दिनों तक एक स्थान पर टिक कर रहने का अवसर आने की सम्भावना नही थी। ऐसी स्थिति में भी उन्होने जैन-रामायण को कण्ठस्थ करना प्रारम्भ कर दिया। प्रात कालीन समय का अधिकांश भाग प्राय: विहार करने में ही व्यतीत हो जाता था। किसी भी कृत्रिम प्रकाश में पढना सघीय मर्यादा से निषिद्ध होने के कारण रात्रि का समय भी काम नही लग सकता था। दिन में साधुचर्या के अन्यान्य दैनदिन कार्यों का करना भी अनिवार्य था। उन सबके पश्चात् दिन में जो समय अवशिष्ट रहता, उसमें से कुछ हम लोगों को पढाने में लगा दिया जाता था और शेष समय में वे स्वय पाठ कण्ठस्थ किया करते थे। इतनी सब दुविधाओं के बावजूद भी उन्होंने उस विशाल ग्रन्थ को केवल अडसठ दिनों में ही समाप्त कर डाला। बहुधा वे अपना पाठ मध्याह्न के भोजन से पूर्व ही समाप्त कर लिया करते थे। उन दिनो वे प्रतिदिन पचास-साठ से लेकर सौ-सवासौ पद्यों तक याद कर लिया करते थे।

स्वाध्याय

वे कण्ठस्थ करने में जितने निपुण थे, उतने ही परिवर्त्तना (चितारना) के द्वारा उसे याद रखने में भी। अनेक बार वे रात्रि के समय सम्पूर्ण चन्द्रिका की परिवर्त्तना कर लिया करते थे। शीतकाल में तो प्राय: पश्चिम रात्रि मे आचार्यश्री कालूगणी उन्हें अपने पास बुला लिया करते और पाठ-श्रवण किया करते थे। पूर्वरात्रि के समय में भी उन्हें जितना समय मिल पाता, उसका अधिकांश वे स्वाध्याय में ही लगाने का प्रयास किया करते थे। यदि कभी नींद या आलस्य आने लगता तो खडे हो जाया करते थे और अपने उद्दिष्ट स्वाध्याय को पूरा कर लिया करते थे। कभी-कभी तो शयन से पूर्व दो-दो हजार पद्यों तक का स्वाध्याय कर लिया करते थे। प्रारम्भिक समय की अपनी उस प्रवृत्ति को आज भी आचार्यश्री अपने में सुरक्षित रखे हुए हैं। यद्यपि पूर्वरात्रि में जन-सम्पर्क आदि कार्यों की व्यस्तता से उन्हें विशेष समय नहीं मिलता, फिर भी पश्चिम रात्रि में वे बहुधा स्वाध्याय-निरत देखे जा सकते हैं। कभी-कभी वे नव-दीक्षितों का पाठ सुनते हुए भी मिल सकते हैं।

सुयोग्य-शिष्य

तेरापन्थ में आचार्य पर जो अनेक दायित्व होते हैं, उन सब में बडा दायित्व है—भावी संघपति का चुनाव। उसमें आचार्य को अपनी व्यक्तिगत रुचि से ऊपर उठकर समाज में से ऐसे

व्यक्ति को खोज कर निकालना होता है, जो प्राय: सभी की श्रद्धा को प्राप्त करने में सफल हुआ हो, तथा भविष्य के लिए भी उनकी श्रद्धा को सुनियोजित रखने का सामर्थ्य रखता हो।

आचार्य अपने प्रभाव-बल से किसी व्यक्ति को प्रभावशाली तो बना सकते है, पर श्रद्धेय नहीं बना सकते। श्रद्धेय बनने में आचार-कुशलता आदि आत्म-गुणों की उच्चता अपेक्षित होती है। श्रद्धेयता के साथ प्रभावशालिता अवश्यम्भावी होती है, जबकि प्रभावशालिता के साथ श्रद्धेयता हो भी सकती है और नहीं भी।

इस विषय में आचार्यश्री कालूगणी बड़े भाग्यशाली थे। अपने दायित्व की पूर्ति करने में उन्हें कभी चिन्तित नहीं होना पड़ा। आप जैसे सुयोग्य शिष्य को पाकर वे इस चिन्ता से सर्वथा मुक्त हो गये। आप अपने विद्यार्थि-जीवन में ही प्रभावशाली होने के साथ-साथ संघ के अधिकांश व्यक्तियों के लिए श्रद्धास्पद भी बन गये थे। प्रभाव व्यक्तियों के शरीर पर ही नियन्त्रण स्थापित करता है, जबकि श्रद्धा आत्मा पर। किसी भी समाज को ऐसा संचालक सौभाग्य से ही मिल पाता है, जो जनता की आत्मा पर नियन्त्रण कर पाता हो। शरीर पर किये जाने वाले नियत्रण की अपेक्षा यह बहुत उच्चकोटि का नियन्त्रण होता है।

गुरु का वात्सल्य

शिष्य के लिए गुरु का वात्सल्य जीवनदायिनी शक्ति के समान होता है। उनके बिना शिष्यत्व न पनपता है और न विस्तार पाकर फलदायी ही बन सकता है। शिष्य की योग्यता गुरु के वात्सल्य को पाकर धन्य हो जाती है और गुरु का वात्सल्य शिष्य की योग्यता पाकर कृतकृत्य हो जाता है। आचार्य के प्रति शिष्य आकृष्ट हो, यह कोई विशेष बात नहीं है, किन्तु जब शिष्य के प्रति आचार्य आकृष्ट होते है, तब वह विशेष बात बन जाती है। आचार्य श्री कालूगणी के पास दीक्षित होकर तथा उनका सान्निध्य पाकर आपको जो प्रसन्नता प्राप्त हुई थी, वह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी, परन्तु आपको शिष्य रूप में प्राप्त कर स्वयं आचार्य श्री कालूगणी को जो प्रसन्नता हुई, वह अवश्य ही आश्चर्यजनक थी। आपने आचार्य श्री कालूगणी का जो वात्सल्य पाया, वह निश्चय ही असाधारण था। एक ओर जहाँ वात्सल्य की असाधारणता थी, वहाँ दूसरी ओर नियन्त्रण तथा अनुशासन भी कम नहीं था। कोरा वात्सल्य उच्छृंखलता की ओर ले जाता है, तो कोरा नियन्त्रण वैमनस्य की ओर। पर जब वे जीवन में साथ-साथ चलते हैं, तब जीवन में सतुलन पैदा करते हैं। वह सन्तुलन ही जीवन के हर क्षेत्र में व्यक्ति को विकासशील बनाता है।

आचार्य श्री कालूगणी ने आपको सामुदायिक कार्य-विभाग (जो सब साधुओं को बारी से करना होता है) से मुक्त रखा। वे आपके हर क्षण को शिक्षा में लगा देखना चाहते थे। इस विषय में आप स्वयं भी बड़े जागरूक रहते थे। पाँच-दस मिनट का समय भी आपके लिए

बहुमूल्य हुआ करता था। आप उसका उपयोग स्वाध्याय में कर लिया करते थे। स्वयं गुरुदेव की दृष्टि भी यही रहती थी कि आप अपने समय का अधिक से अधिक उपयोग करें। इस विषय में समय-समय पर वे आपको प्रेरित भी करते रहते थे। निम्नोक्त घटना से यह जाना जा सकता है कि गुरुदेव आपके समय को कितना मूल्यवान् समझते थे।

आचार्यश्री कालूगणी का अन्तिम जन-पद विहार चालू था। वृद्धावस्था के कारण मार्ग में अपेक्षाकृत अधिक समय लगा करता था। विहार के समय आप भी साथ-साथ चला करते थे। एक दिन आचार्यदेव ने आपसे कहा—"तुलसी! तू आगे चला जाया कर और वहाँ पर सीखा कर।" आप साथ में रहना ही अधिक पसन्द किया करते थे, अतः आपने साथ में रहने का ही अनुरोध किया। परन्तु आचार्यदेव ने उसे स्वीकार नहीं किया और फरमाया कि वहाँ जो कार्य करेगा, वह भी तो मेरी ही सेवा है। आप उसके पश्चात् आगे जाने लगे। इस क्रम से लगभग आध घण्टा समय निकल सकता था। उसे आप अध्ययन-अध्यापन के कार्य में लगाने लगे। जो समय निकल सके, उसका उपयोग कर लेने की ओर ही गुरुदेव का झुकाव था।

योग्यता-सम्पादन

आचार्यश्री कालूगणी आपके योग्यता-सम्पादन में हर प्रकार से सचेष्ट रहते थे। पहले कुछ वर्षों तक विद्याभ्यास के द्वारा आवश्यक योग्यता प्राप्त कराने का उपक्रम चला। उसके पश्चात् वक्तृत्वकला में भी आपको निपुण बनाने का उनका प्रयत्न रहा। मध्याह्न का व्याख्यान आपको सौंपा गया। यद्यपि आजकल मध्याह्न का व्याख्यान एक उपेक्षित-सा कार्य बन गया है, कहीं होता है, कहीं नहीं भी होता, परन्तु उस समय उसका बड़ा महत्त्व था। जनता भी काफी आया करती थी।

आपके कण्ठ मधुर थे और महीन भी। आप जब व्याख्यान करते तथा गाते, तब लोग मुग्ध हो जाते थे। अनेक बार रात्रि के समय ऐसा भी होता था कि आप कोई गीतिका गाते और आचार्य श्री कालूगणी स्वयं उसकी व्याख्या किया करते। कई बार मुनिश्री नथमलजी तथा मैं (मुनि बुद्धमल्ल) 'सूक्ति-मुक्तावली' के श्लोक गाया करते और आचार्यश्री के सान्निध्य में आप उनका अर्थ किया करते। आप अपने कण्ठों का बहुत ध्यान रखा करते थे। आप कहा करते हैं कि मैं ज्यों-ज्यों अवस्था में बड़ा होता गया, त्यों-त्यों मोटे स्वर में गाने और बोलने का प्रयास करने लग गया। इसका कारण आप यह बतलाते हैं कि ऐसा किये बिना कण्ठों का माधुर्य बना नहीं रह सकता। आपके विचार से लगभग सोलह वर्ष की अवस्था के आस-पास, जब कि शारीरिक विकास त्वरता से होता है, तब ध्यान न रखने से कण्ठ एकाएक विस्वर बन जाते हैं

आचार्यश्री कालूगणी के अन्तिम तीन वर्ष उनके जीवन के महत्त्वपूर्ण वर्षों में से थे। वे वर्ष क्रमशः मारवाड़, मेवाड़ और मालव की यात्रा में ही बीते। उससे पूर्व बहुत वर्षों तक वे थली में ही विहार करते रहे। आपकी दीक्षा के पश्चात् वह उनका प्रथम जनपद-विहार था, तथा कालूगणी का अपने जीवन की दृष्टि से अन्तिम। वह विहार मानो आपको अपने श्रद्धालुओं तथा उनके क्षेत्रों से परिचित कराने के लिए ही हुआ था। उस यात्रा से पूर्व आपका जन-सम्पर्क काफी सीमित था। यात्रा-काल में उसका काफी विस्तार हुआ। व्यावहारिक ज्ञानार्जन के लिए वे वर्ष बहुत ही मूल्यवान् सिद्ध हुए।

आचार-कुशलता और अनुशासन-कुशलता आपको अपने संस्कारों के साथ ही प्राप्त हुई थी। उनको आपने अपने प्रयास से दिन-प्रतिदिन और भी निखार लिया था। विद्या तथा व्यवहार-कुशलता आपने आचार्य श्री कालूगणी के सान्निध्य में प्राप्त की और उन्हें अपने अनुभवों के आधार पर एक आकर्षक रूप प्रदान किया। आपकी योग्यताओं का निखार स्वयं आचार्य श्री कालूगणी को इष्ट था। वे उनकी प्रगति से अत्यन्त प्रसन्न थे।

संघ की आन्तरिक प्रवृत्तियों में भी आचार्य श्री कालूगणी समय-समय पर आपका उपयोग करते। उनका बहुमुखी अनुग्रह हर दिशा में आपको परिपूर्ण बनाने का रहा करता था। इन्हीं कारणों से आपकी ओर समूचे संघ का ध्यान खिंच गया। लोग आपके विषय में बड़ी बड़ी कल्पनाएँ करने लगे। संघ के विशिष्ट साधु भी आपको श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। आपका प्रभाव सभी पर छाने लगा। आपने जिस अप्रत्याशित गति से योग्यता का सम्पादन किया, वह सचमुच ही बड़ा प्रभावशाली था।

शिक्षा या संकेत ?

कालूगणी का विहार उन दिनों मारवाड़ में कांठे के गांवों में हो रहा था। एक बार सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् जब आप वंदन के लिए गए, तो आचार्यश्री कालूगणी ने आपको अपने पास आने का संकेत किया। आपने समीप जाकर वंदन किया, तो गुरुदेव ने एक शिक्षात्मक सोरठा रचकर सुनाया और फरमाया कि सबको सिखा देना। वह सोरठा था :

सीखो विद्या सार, परहो कर परमाद नैं।
बधसी बहु विस्तार, धार सीख धीरज मनैं॥

दूसरे दिन शाम को गुरु-वंदन के पश्चात् जब आप मुनिश्री मगनलालजी को वंदन करने गये, तब उन्होंने पूछा—"कल आचार्यदेव ने जो सोरठा कहा था, उसके उत्तर में तूने वापस कुछ निवेदन किया या नहीं ?"

आपने कहा—"किया तो नहीं।"

आगे के लिए मार्ग बतलाते हुए मुनिश्री मगनलालजी ने कहा—"अब कर देना।"

आपने उस बात को शिरोधार्य कर उत्तर में जो सोरठा निवेदित किया, वह इस प्रकार था :

महर रखो महाराय, लख चाकर पद-कमल नों ।
सीख आपो सुखदाय, जिम जल्दी शिव-गति लहूं ॥

अकेले आचार्य श्री कालूगणी के सोरठे को देखने से लगता है कि उसके द्वारा शिष्यो को शिक्षा दी गई है। पूर्व भूमिका सहित जब दोनों सोरठों को देखते हैं, तब लगता है कि सवाद है। पर क्या इतने से मन भर जाता है ? वह अपने समाधान के लिए गहराई में जाता है, तब इनके शब्द तथा अर्थ तो ऊपर रह जाते हैं और उनकी मूल प्रेरणाओं के प्रकाश में जो समाधान निकलता है, वह कहता है कि ये किसी अध-प्रकाशित संकेत के प्रतीक हैं।

आचार्यश्री कालूगणी एक गम्भीर प्रकृति के आचार्य थे, अत· उनके मन की गहराई को स्पष्ट समझ पाना जरा कठिन होता था। मुनि श्री मगनलालजी उनके बाल्यावस्था के साथी थे, अतः सम्भवत वे उनके सकेतो को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट समझते थे। तभी तो उन्होंने आपको उस सांकेतिक पद्य का उत्तर देने की प्रेरणा दी होगी। अन्य किसी के पास उन संकेतों को समझने के साधन तो नही थे, पर अनुमान अनेकों का यही था कि उसके द्वारा गुरुदेव ने अपनी अतिशय कृपा का द्योतन करने के साथ-साथ भावी के लिए बहुविस्तार का आशीर्वचन भी दिया था।

विस्तार मे योगदान

बीज छोटा होता है, पर उसकी योग्यताएँ बहुत बडी होती हैं। उसके अपने विकास के साथ-साथ योग्यताओं का भी विस्तार होता रहता है। उस विस्तार में अनेको का योग-दान होता है। बीज उसे कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण करता है और आगे बढता है। आचार्यश्री में व्याप्त बीज-शक्तियों का विकास भी उसी क्रम से हुआ है। वे आज जो कुछ हैं, वैसे बनते अनेक वर्ष लगते है। आज भी वे अपने आपको परिपूर्ण नहीं मानते। वे मानते हैं कि निर्माण की गति कभी रुकनी नही चाहिए। मनुष्य को सीखते ही रहना चाहिए। जहाँ उपयोगी वस्तु मिले, उसे निःसकोच भाव से ग्रहण करते रहना चाहिए।

उन्होने अपने बाल्यजीवन से आज तक अनेकों व्यक्तियों से सीखा है। हर एक का यही क्रम होता है। पहले स्वय सीखता है, तब फिर सिखाने योग्य बनता है। शिष्य बने बिना कौन गुरु बन पाया है ? हर एक व्यक्ति के ज्ञात तथा अज्ञात अनेक गुरु होते हैं। प्रथम गुरु माता को माना जाता है। शिक्षा का बीज-वपन उसी से प्रारम्भ होता है। उसके अतिरिक्त परिवार के तथा आस-पास के वे सब व्यक्ति कुछ-न-कुछ सिखाने में सहयोगी बनते ही हैं। जिनके कि सम्पर्क में आते रहने का अवसर मिलता है। किसने क्या और कितना सिखाया है, इसका विश्लेषण करना सहज नही होता, अतः उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का यही उपाय हो

सकता है कि व्यक्ति सबके प्रति विनम्र रहे। बहुत से व्यक्तियों के उपकार बहुत स्पष्ट भी होते हैं। उन्हें पृथक् रूप से पहचाना जा सकता है। ऐसे व्यक्तियों के प्रति जो विनम्र तथा भक्ति-संभृत व्यवहार होता है, वही कृतज्ञता का मापदण्ड बन जाता है।

आचार्यश्री आज सहस्र-सहस्र व्यक्तियों को उपकृत कर रहे है, परन्तु वे स्वय भी अनेकों से उपकृत हुए हैं। वे अपने उपकर्ताओं के विषय में अपने कर्त्तव्य को मानते है। उन व्यक्तियों के नाम से ही वे कृतज्ञता से भर उठते हैं।

प्रत्यक्ष-उपकारकों में वे अपना सबसे बड़ा उपकारक आचार्यश्री कालूगणी को मानते हैं। इसीलिए वे उनके प्रति सर्वतोभावेन समर्पित होकर चलते हैं और अपनी हर क्रिया की श्रेयोभिमुखता में उन्हीं की आन्तरिक प्रेरणा मानते है। उनके उपकारों को वे अनिर्वचनीय मानते है। वे आज जो कुछ हैं, वह सब आचार्यश्री कालूगणी की ही देन है।

माता वदनांजी के उपकार को भी वे बहुत महत्व देते है। उनके द्वारा उप्त धार्मिकता का बीज ही तो आज विकसित होकर शत-शाखी बना है। आगम कहते है कि पुत्र पर माता का इतना उपकार होता है कि यदि वह आजीवन उनके मनोनुकूल रहे, सभी शारीरिक सेवाएं करे, तो भी वह ऋण-मुक्त नहीं हो सकता। उनको धार्मिकता में नियोजित करे तो ऋण-मुक्त हो सकता है। आचार्यश्री ने वही किया है। पुत्र के द्वारा दीक्षित होने वाली माताएँ इतिहास में विरल ही मिल पायेंगी। स्वभाव की ऋजुता, निरभिमानिता तथा तपस्या ने उनके संयम को और भी उज्ज्वलता प्रदान की है।

मुनि श्री मगनलालजी ने भी आपके निर्माण में बहुत महत्वपूर्ण योग-दान दिया था। सर्व-प्रथम वे आपकी दीक्षा में सहयोगी बने थे। उनकी प्रेरणा ने ही परिवार वालों को इतनी शीघ्र आज्ञा देने को तैयार किया। दीक्षा के पश्चात् भी वे आपके हर विकास को प्रोत्साहन देते रहे। युवाचार्य बनने पर वे आपके कर्त्तव्यों का मार्ग प्रशस्त करते रहे। आचार्य बनने के पश्चात् वे आपकी मन्त्रणा के प्रमुख अवलम्बन बनकर रहे थे। आचार्यश्री ने उनके उस महत्त्वपूर्ण योग-दान को यों प्रकट किया है—"उस संधिकाल में जब पूज्य कालूगणी का स्वर्गवास हुआ और मैंने छोटी अवस्था में संघ का उत्तरदायित्व सम्भाला था, यदि वे (मुनिश्री मगनलालजी) नहीं होते तो मुझे न जाने किन-किन कठिनाइयों का अनुभव करना होता ?"[1]

वे आचार्यश्री को किस प्रकार सहयोग-दान करते थे, यह भी आचार्यश्री के शब्दों में ही पढ़िये—"एक दिन वे आये और बोले कि आप कभी-कभी मुझे सबके सामने उलाहना दिया करें। मेरा तो उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, दूसरों को एक बोध-पाठ मिलेगा।"[2] यह उस समय की बात है, जबकि आपने शासन-भार सम्भाला ही था। उस समय उपर्युक्त प्रार्थना

१—जैन भारती २८ फरवरी १९६०
२—जैन भारती २८ फरवरी १९६०

करने का उनका उद्देश्य यह था कि लघुवय आचार्य के व्यक्तित्व की कोई अवहेलना न कर पाये।

मन्त्री मुनि के स्वर्गवास होने के समाचार पाकर आचार्यश्री ने कहा—"वे अतुलनीय व्यक्ति थे। उनकी कमी को पूरा करने वाला कौन साधु है? कोई एक साधु उनकी विशेषताओं को न पा सके तो अनेक साधु मिलकर उनकी विशेषताओं को सजो लें। उन्हें जाने न दें।"[१]

मुनि श्री चम्पालालजी आचार्यश्री के ससार पक्षीय बड़े भाई हैं। वे उनकी दीक्षा में प्रमुख रूप से प्रेरक रहे थे। दीक्षा के अनन्तर आप उन्हीं की देख-रेख में रहते रहे। उनका नियत्रण काफी कठोर होता था, पर जो स्वय अपने नियत्रण में रहता हो, उसके लिए दूसरे का नियत्रण केवल व्यवहार-मात्र ही होता है। रात्निक तथा बड़े भाई होने के नाते वे उनका उस समय भी सम्मान करते रहे और आज भी करते हैं। अपने निर्माण में वे उनका भी श्रेयोभाग मानते है।

आपके अध्ययन-कार्य में मुनिश्री चौथमलजी का भी अच्छा सहयोग रहा। वे एक सेवाभावी और कार्य-निष्ठ व्यक्ति थे। 'भिक्षुशब्दानुशासन' महाव्याकरण तथा 'कालुकौमुदी' आदि के निर्माण में उनका जीवन खपा था। तेरापन्थ के भावी छात्रों के लिए उनका श्रम वरदान बन गया। वे जो भी कार्य करते, पूरी लगन से करते थे।

आयुर्वेदाचार्य आशुकविरत्न पडित रघुनन्दनजी शर्मा तेरापन्थ में विद्या-प्रसार के लिए बहुत बडे निमित्त बने हैं। उनसे पूर्व पडित धनश्यामदासजी ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया था। उन्होंने अपना सहयोग उस समय प्रदान किया, जबकि बिना अर्थ-प्राप्ति के उतना प्रयत्न करने वाला मिलना ही कठिन था। पडित रघुनन्दनजी का महत्त्व इसलिए है कि विद्या-विकास का द्वार पूर्णत. उन्हीं के योग से खुला। मुनिश्री चौथमलजी ने 'भिक्षुशब्दानुशासन' का निर्माण किया। पंडितजी ने उस पर बृहद्वृत्ति लिखकर तेरापन्थ के मुनि-समाज को सस्कृत अध्ययन में स्वावलम्बी बना दिया। आचार्यश्री को व्याकरण तथा दर्शन-शास्त्र के अध्ययन में इन्हीं का योगदान रहा।

आगम-ज्ञान अर्जन करने में आचार्यश्री के मार्ग-दर्शक मुनि श्री भीमराजजी तथा मुनिश्री हेमराजजी थे। मुनिश्री भीमराजजी को आगमो का जितना गहरा ज्ञान था, उतना कम ही व्यक्तियों को होता है। वे अनेक सतों को आगम का अध्ययन कराते रहते थे। समय के बड़े पक्के थे। निर्णीत समय से पांच मिनट पहले या पीछे भी उन्हें अखरता था। आगम-रहस्यो की गहराई तक स्वय उनकी तो अबाध गति थी ही, पर वे अपने छात्रो में भी वैसा ही सामर्थ्य भर देते थे। आचार्यश्री ने उनके पास अनेक आगमों का अध्ययन किया। वे अपने

१—जैन भारती २८ फरवरी १९६०

शेष जीवन तक अपने ही प्रकार से जिये। सेवा लेना उन्होंने प्रायः कभी पसन्द नहीं किया। पराश्रयी होकर जीना उनके सिद्धान्तवादी मन ने कभी स्वीकार नहीं किया। आचार्यश्री की दृष्टि में उनके गुण अनुकरणीय तो थे ही, पर साथ ही अनेक गुण ऐसे भी थे, जो अद्वितीय थे।

मुनिश्री हेमराजजी का भी आगम-ज्ञान बड़ा गहरा था। आगम-मन्थन उन्होंने इतने बड़े पैमाने पर किया था कि साधारणतया उनके तर्कों के सामने टिक पाना कठिन होता था। आचार्यश्री के आगम-ज्ञान को परिपूर्णता की ओर ले जाने में उनका पूरा हाथ था।

आचार्यश्री इन सभी व्यक्तियों के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ रहे हैं। बातचीत के सिलसिले में जब कभी इन व्यक्तियों में से किसी का भी प्रसंग उपस्थित हो जाता है, तब वे बड़े भावुक बनकर इनका वर्णन करते हैं। अपने गुरुजनों और श्रद्धेयों के प्रति उनकी अतिशय कृतज्ञता की यह भावना उनके गौरव को और ऊंचा उठा देती है।

: ३ :

युवाचार्य

घोषणा

सं० १९९३ में आचार्यश्री कालूगणी का चातुर्मासिक निवास गगापुर (मेवाड) में था। वहाँ पहुचने से पूर्व ही उनका शरीर रोगाक्रांत हो गया। फिर भी वे गगापुर पहुंचे। शरीर क्रमश: रोगों से अधिकाधिक घिरता गया। बचने की आशाएं धूमिल होने लगीं। ऐसी स्थिति में सघ के भावी अधिकारी का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक था।

तेरापन्थ के विधानानुसार आचार्य अपनी विद्यमानता में ही भावी आचार्य का निर्धारण करते हैं। यह उनका सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व होता है। यदि वे किसी कारणवश अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वहन नहीं कर पाते, तो वह उनके कर्त्तव्य की अपूर्त्ति तो होती ही है, परन्तु वह स्थिति सारे संघ के लिए भी चिन्ताजनक हो जाती है। कालूगणी उस विषय में पूर्णतः सजग थे। उन्होंने उचित समय पर उस कार्य को सम्पन्न कर देने की घोषणा कर दी।

आदेश-निर्देश

गुरुदेव ने आपको एकान्त में बुलाना प्रारम्भ कर दिया। उसमें आपको संघ के सारणा-वारणा-सम्बन्धी आवश्यक आदेश-निर्देश दिये गये। कुछ बातें मुखस्थ कहीं गईं तथा कुछ लिखाई भी गई। इतने दिन तक जो बातें केवल सकेत के रूप में ही सामने आती थी, उस समय वे सब स्पष्टता से सामने उभरने लगीं। जन-जन की कल्पनाओं में बना हुआ अव्यक्त चित्र तब व्यवहार के पट पर स्पष्ट रेखाओं के रूप में अभिव्यक्त होने लगा। गुरुदेव जब उन दिनों साधु-साध्वियों को विशेष शिक्षा प्रदान करते समय यह कहते—"किसी समय आचार्य अवस्था में छोटे होते हैं, किसी समय बडे, फिर भी सबको समान रूप से उनके अनुशासन का पालन करना चाहिए। गुरु जो कुछ करते है, वह संघ के हित को ध्यान में रखकर ही करते हैं।" तब प्रायः सभी जानने लग गये कि गुरुदेव का संकेत क्या है। गुरुदेव उसे छिपाना चाहते भी नही थे। नाम की उद्घोषणा नहीं की गई थी, केवल इसीलिए वे उसे बचाना चाहते थे।

उत्तराधिकार-पत्र

विधिवत् उत्तराधिकार-समर्पण करने का कार्य प्रथम भाद्रपद शुक्ला तृतीया को सम्पन्न किया गया। प्रातःकाल का समय था। रग-भवन के हॉल में साधु-साध्वियाँ तथा कुछ श्रावक उपस्थित थे। सारी जनता को वहाँ जाने की छूट नहीं दी जा सकती थी। लोग बहुत बड़ी

संख्या में आए हुए थे। सभी में अपार उत्सुकता थी। युवाचार्य-पद प्रदान करने के उत्सव में सब कोई सम्मिलित होना चाहते थे, पर ऐसा सम्भव नहीं था। स्थितिजन्य विवशता थी। रुग्ण होने के कारण गुरुदेव पंडाल में तो क्या, उस कमरे से बाहर भी नहीं जा सकते थे। हॉल में भी अधिक भीड़ का एकत्रित होना अभीष्ट नहीं था। उससे उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की सम्भावना थी।

अशक्त होते हुए भी कर्तव्य की पुकार के बल पर आचार्यश्री कालूगणी बैठे। युवाचार्य-पद का पत्र लिखा। फूलते हुए साँस, धूजते हुए हाथ और पीड़ा-व्याकुल प्रत्यंग की अवहेलना करते हुए उन्होंने कुछ पंक्तियाँ लिखी। मोटे-मोटे अक्षर और टेढ़ी-मेढ़ी पंक्तियों वाला वह ऐतिहासिक पत्र कई विश्रामों के पश्चात् पूरा हुआ। तदनन्तर आपको युवाचार्य-पद का उत्तरीय धारण कराया गया और पत्र पढ़कर जनता को सुनाया गया। उसमें लिखा था :

"गुरुभ्योनमः
भिक्षु पाट भारीमल
भारीमल पाट रायचंद
रायचंद पाट जीतमल
जीतमल पाट मघराज
मघराज पाट माणकलाल
माणकलाल पाट डालचंद
डालचंद पाट कालूराम
कालूराम पाट तुलसीराम
विनयवंत आज्ञा-मर्यादा प्रमाणे चालसी, सुखी होसी।
संवत् १९९३ भादवा प्रथम सुदी ३, गुरुवार।"

आचार्यश्री कालूगणी तथा युवाचार्यश्री तुलसी के जयनादों से वातावरण गुंजायमान हो गया। योग्य धर्म-नेता को प्राप्त कर सबको गौरवानुभूति हुई। आचार्यश्री कालूगणी तो संघ-प्रबन्ध की चिंता से मुक्त हुए ही, परन्तु साथ में सारे संघ को भी निश्चिंतता का अनुभव हुआ।

अदृष्ट-पूर्व

युवाचार्य के प्रति साधु-साध्वियों के क्या कर्तव्य होते हैं, यह जानने वाले वहाँ बहुत कम ही साधु थे। जयाचार्य के समय आचार्यश्री मघवागणी अनेक वर्षों तक युवाचार्य रहे थे। उसके पश्चात् लगभग पचपन वर्षों में कोई ऐसा अवसर आया ही नहीं। आचार्यश्री माणकगणी को युवाचार्य पद दिया गया, पर वह अत्यन्त स्वल्पकालीन था, अतः कर्तव्य-बोध के लिए नगण्य-सा ही समय प्राप्त हुआ। उसे देखने वालों में भी एक तो स्वयं गुरुदेव तथा दूसरे

मुनिश्री मगनलालजी, बस ये दो ही व्यक्ति वहाँ विद्यमान थे। शेष के लिए तो वह पद्धति अदृष्ट-पूर्व ही थी।

पहले-पहल स्वय गुरुदेव ने ही युवाचार्य के प्रति साधु-साध्वियों के कर्त्तव्यो का वोध प्रदान किया। शेप सारी बातें मुनिश्री मगनलालजी यथासमय बतलाते रहे। आचार्य के समान ही युवाचार्य के सब काम किये जाते हैं। पद की दृष्टि से भी आचार्य के पश्चात् उन्हीं का स्थान होता है। गुरुदेव ने युवाचार्य के व्यक्तिगत सेवाकार्यों का भार मुनि श्री दुलीचन्दजी (सादुलपुर) को सौंपा। वे अपने उस कार्य को आज भी उसी निष्ठा और लगन से तथा पूर्ण निष्काम और निर्लेप-भाव से कर रहे है।

अधूरा स्वप्न

आचार्यश्री कालूगणी को अपने स्वास्थ्य की अत्यन्त शोचनीय अवस्था के कारण ही उस समय उत्तराधिकारी की नियुक्ति करनी पडी, अन्यथा उनका स्वप्न कुछ और ही था। अपने इस अधूरे स्वप्न का अत्यन्त मार्मिक शब्दों में विवेचन करते हुए एक दिन उन्होंने सभी के समक्ष कहा भी था कि युवाचार्य-पद प्रदान करने की मेरी जो योजना थी, वह मेरे मन में ही रह गई। अव उसकी पूर्ति सम्भव नही है। जिस कार्य को मैं छोगाजी (घोर तपस्विनी गुरुदेव की समार पक्षीय माता) के पास बीदासर पहुँचने के पश्चात् सु-आयोजित ढग से करने वाला था, वह मुझे यही पर बिना किसी विशेष आयोजन के करना पडा है। काल के सम्मुख किसी का कोई वग नहीं है।

नये वातावरण मे

युवाचार्य बनने के साथ ही आपको नये वातावरण में प्रवेश करना पड़ा। वहाँ सब कुछ नया-ही-नया था। नये सम्मान का भार इतना बढ गया कि आप उससे बचना चाहते थे, परन्तु बच नही पा रहे थे। जनता द्वारा अर्पित श्रद्धा और विनय की बाढ़ में आप अपने को घिरा-सा अनुभव कर रहे थे। जिन रात्निक मुनियों का आप सम्मान करते रहे, अब वे सब आपका सम्मान करने लगे। उनके सामने पडते ही आपकी आँखें झुक जाती थी। तेरापन्थ-सघ की विनय-पद्धति की एकार्णवता ने आपको अप्रत्याशित रूप में अभिभूत कर लिया था। उन दिनों आप जिधर से भी जाते, मार्ग जनाकीर्ण ही होता। सभी कोई दर्शन करना चाहते, परिचय करना चाहते, कम-से-कम एक बार तृप्त होकर देख लेना तो चाहते ही थे।

जब व्याख्यान देने गये

यों तो व्याख्यान आप कई वर्षो से ही देते आ रहे थे। जनता को रस-प्लावित करने की आप में अपूर्व क्षमता थी, परन्तु उस दिन जब कि युवाचार्य बनने के पश्चात् आप अपना प्रथम

व्याख्यान देने गये, तब आपके मानस की स्थिति बड़ी ही विचित्र थी। अब भी आप कभी-कभी अपनी उस मानस-स्थिति का पुनरवलोकन या विश्लेषण करते है, तब भाव-विभोर हो जाते हैं।

पण्डाल जनता से खचाखच भरा हुआ था। उसके सामने की ऊँची चौकी पर पट्ट बिछाया गया था। उसी के पास बैठकर पहले मुनि श्री मगनलालजी ने जनता को धर्मोपदेश दिया और कुछ देर पश्चात् व्याख्यान देने के लिए आप गये। अनेक मुनि साथ थे। वृद्ध मुनिश्री मगनलालजी तथा तत्रस्थ जनता ने खड़े होकर युवाचार्योचित अभिवादन किया। आप उसे स्वीकार करते हुए चौकी पर चढकर पट्ट के पास आये, किन्तु सहसा ही ठिठक कर खड़े रह गये। जनता आपके बैठने की प्रतीक्षा में खड़ी थी, पर आप बैठ नहीं पा रहे थे। सम्भवतः आप सोच रहे थे कि वयोवृद्ध तथा सम्मान्य मुनिश्री मगनलालजी के सामने पट्ट पर बैठें तो कैसे ? मुनिश्री ने देखा तो बढ़कर आगे आये, प्रार्थना की, जोर दिया और जब उससे भी काम नहीं बना तो हाथों के कोमल तथा भक्ति-संभृत दबाव से आपको उस पर बिठाकर ही रहे। उस समय उस कार्य का प्रतिकार करने की कोई स्थिति आपके पास नहीं थी।

जैसे-तैसे, सहमे-सहमे, सकुचे-सकुचे-से आप पट्ट पर बैठ तो गये, परन्तु तब भी व्याख्यान की समस्या तो सामने ही थी। बड़ी निर्भीकता से व्याख्यान देने का सामर्थ्य रखते हुए भी उस दिन प्रायः समूचे व्याख्यान में आपके नेत्र ऊँचे नहीं उठ पाये। वह नये उत्तरदायित्वों की झिझक थी, जो कि प्रथम व्याख्यान के अवसर पर सहसा उभर आई थी।

वह प्रथम अवसर की झिझक थी। अन्दर की योग्यता उसमें से भी झाँक-झाँक कर बाहर देख रही थी। आपने अपने सामर्थ्य तथा वर्चस्व को वहाँ जितना भी छिपाने का प्रयास किया, वह उतना ही अधिक प्रबलता के साथ उभर कर बाहर आया। शीघ्र ही आपने अपने को उस नये वातावरण के अनुरूप ढाल लिया। झिझक मिट गई।

केवल चार दिन

युवाचार्य-पद प्रदान करने के पश्चात् आचार्यश्री कालूगणी एक प्रकार से चिंता मुक्त हो गये थे। संघ-प्रबन्ध के सारे काम आप करने लग गये। कुछ काम तो पहले से ही आपको सौंपे हुए थे, परन्तु अब व्याख्यान, आज्ञा, धारणा आदि भी आपको सम्भला दिये गये। आचार्य के सम्मुख युवाचार्य की स्थिति बड़ी सुखद घटना थी, परन्तु वह अधिक लम्बी नहीं हो सकी। चार दिन पश्चात् ही आचार्यश्री कालूगणी का देहावसान हो गया। युवाचार्य के रूप में हम उन्हें केवल चार दिन ही देख पाये। मन कल्पना करता है कि वे दिन बढ पाये होते तो कितना ठीक होता ? परन्तु कल्पना को वास्तविकता के संसार में उतर आने का कम ही अवसर मिलता है। इसीलिए सारे संघ ने उन चार दिनों में जो कुछ देखा, पाया, उसी को अपनी स्मृति में सुरक्षित रखकर अपने को कृतकृत्य माना।

वर्तमान नवमाचार्य श्रीतुलसी

: ४ :

तेरापन्थ के महान् आचार्य

(१) शासन-सूत्र

तेरापन्थ की देन

आचार्यश्री तुलसी एक महान् आचार्य है। उनका निर्माण तेरापन्थ में हुआ है, अतः उनके माध्यम से आज यदि जन-जन तेरापन्थ से परिचित हुआ है तो कोई आश्चर्य नही। वे तेरापन्थ से और तेरापन्थ उनसे भिन्न नही है। तेरापन्थ उनकी शक्ति का स्रोत है और वे तेरापन्थ की शक्ति के केन्द्र है। यह शक्ति कोई विनाशक या वियोजक शक्ति नही है, यह धर्म-शक्ति है, जो कि विधायक और सयोजक है। तेरापन्थ को पाकर आचार्यश्री अपने को धन्य मानते हैं तो आचार्यश्री को पाकर तेरापन्थ गौरवान्वित हुआ है।

जो व्यक्ति आचार्यश्री तुलसी को गहराई से जानना चाहेगा, उसे तेरापन्थ को और जो तेरापन्थ को गहराई से जानना चाहेगा, उसे आचार्यश्री तुलसी को जानना आवश्यक होगा। उन्हे एक दूसरे से भिन्न करके कभी पूरा नही जाना जा सकता। भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री वी० पी० सिन्हा ने अपने एक वक्तव्य में कहा है—"मेरी समझ में तेरापन्थ की सब से बड़ी देन आचार्यश्री तुलसी हैं, जिन्होने ठीक समय पर सारे देश में नैतिक जागरण का शंख फूका है।"[१] उनके इस कथन में जहाँ आचार्यश्री के महान् व्यक्तित्व और कर्तृत्व के प्रति आदर-भाव है, वहाँ ऐसे नररत्न का निर्माण करने वाले तेरापन्थ के प्रति कृतज्ञता भी है। व्यक्ति की तेजस्विता जहाँ उसके आधार को प्रख्यात करती है, वहाँ उसके निर्माण-सामर्थ्य को भी उजागर कर देती है।

समर्पण-भाव

आचार्यश्री तेरापन्थ के नवम अधिशास्ता है। उनके अनुशासन में रहने वाला शिष्यवर्ग उनके प्रति पूर्ण समर्पण की भावना रखता है। यह अनुशासन न तो किसी प्रकार के बल से थोपा जाता है और न किसी प्रकार की उसमें बाध्यता ही होती है। आचार्यश्री के शब्दो में उसका स्वरूप यह है—"तेरापन्थ का विकास अनुशासन और व्यवस्था के आधार पर हुआ है। हमारा क्षेत्र साधना का क्षेत्र है। यहाँ बल-प्रयोग का कोई स्थान नही है। जो कुछ होता है, वह हृदय की पूर्ण स्वतन्त्रता से होता है। आचार्य अनुशासन व व्यवस्था देता है, समूचा सघ उसका पालन करता है। इसके मध्य में श्रद्धा के अतिरिक्त दूसरी कोई शक्ति नहीं है। श्रद्धा और विनय—ये हमारे जीवन के मंत्र है। आज के भौतिक जगत् में इन दोनों के प्रति

१—जैन भारती २४ जुलाई १९६०

तुच्छता का भाव पनप रहा है, वह अकारण भी नहीं है। बड़ों में छोटों के प्रति वात्सल्य नहीं है। बड़े लोग छोटे लोगों को अपने अधीन ही रखना चाहते हैं। इस मानसिक द्वन्द्व में बुद्धिवाद अश्रद्धा और अविनय की ओर मुड़ जाता है। हमारा जगत् आध्यात्मिक है। इसमें छोटे-बड़े का कृत्रिम भेद है ही नहीं। अहिंसा हम सबका धर्म है। उसकी नसों में प्रेम और वात्सल्य के सिवाय और है ही क्या ? जहाँ अहिंसा है, वहाँ पराधीनता हो ही नहीं सकती। आचार्य शिष्य को अपने अधीन नहीं रखता, किन्तु शिष्य अपने हित के लिए आचार्य के अधीन रहना चाहता है। यह हमारी स्थिति है।"[1]

अनुशासन और व्यवस्था

अनुशासन और सुव्यवस्था के विषय में तेरापन्थ को प्रारम्भ से ही ख्याति उपलब्ध है। उसके विरोधी अन्य बातों के विषय में चाहे कुछ भी कहते हो, परन्तु इन विषयों में तो बहुधा वे तेरापन्थ की प्रशसा ही करते पाये गये हैं। तेरापन्थ का लक्ष्य है— चारित्र की विशुद्धि। अनुशासन और सुव्यवस्था के बिना चारित्र की विशुद्ध आराधना असम्भव होती है। तेरापन्थ के प्रतिष्ठाता आचार्यश्री भिक्षु इस रहस्य से सुपरिचित थे। इसीलिए उन्होंने इसकी स्थापना के साथ ही इन गुणों पर विशेष बल दिया। वे सफल भी हुए। अनुशासन और व्यवस्था के विघटन में जिन प्रमुख कारणों को उन्होंने अन्य साधु-संघों में देखा था, तेरापन्थ में उनको पन पने ही नहीं दिया। उन्होंने तेरापन्थ के सविधान का उद्देश्य यही बतलाया—"न्यायमार्ग चालण रो नै चारित्र चोखो पालण रो उपाय कीधो छै।"

आचार्यश्री ने इस विषय में कहा है—"तेरापन्थ का उद्भव ही चारित्र की शुद्धि के लिए हुआ है। देश-काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तन होता है, इस तथ्य को आचार्यश्री भिक्षु स्वीकार करते थे। पर देश-काल के परिवर्तन के साथ मौलिक आचार का परिवर्तन होता है, यह उन्हें मान्य नहीं हुआ। इस स्वीकृति में ही तेरापन्थ के उद्भव का रहस्य है। चारित्र की शुद्धि के लिए विचार की शुद्धि और व्यवस्था—ये दोनों स्वय प्राप्त होते हैं। विचार-शुद्धि का सिद्धान्त आगम-सूत्रों से सहज ही मिला और व्यवस्था का सूत्र मिला देश-काल की परिस्थितियो के अध्ययन से। आचार्य भिक्षु ने देखा, वर्तमान के साधु शिष्यों के लिए विग्रह करते है। उन्होंने शिष्य-परंपरा को समाप्त कर दिया। तेरापन्थ का विधान किसी भी साधु को शिष्य बनाने का अधिकार नहीं देता।

"आज तेरापन्थ के साधु-साध्वियाँ इसलिए सतुष्ट है कि उनके शिष्य-शिष्याएँ नहीं है।

"आज तेरापन्थ इसलिए सगठित और सुव्यवस्थित है कि उसमें शिष्य-शाखा का प्रलोभन नहीं है।

१—जैन भारती २४ जुलाई १९६०

"आज तेरापन्थ इसलिए शक्ति-सपन्न और प्रगति के पथ पर है कि वह एक आचार्य के अनुशासन में रहता है और उसका साधु-वर्ग छोटी-छोटी शाखाओ में वटा हुआ नहीं है।"[1]

तेरापन्थ की व्यवस्था बहुत सुदृढ है। इसका कारण यह है कि उसमें सबके प्रति न्याय हो, यह विशेष ध्यान रखा गया है। आचार्यश्री भिक्षु ने दो-सौ वर्ष पूर्व सघ-व्यवस्था के लिए जो सूत्र प्रदान किये, वे इतने सुदृढ प्रमाणित हुए हैं कि आज के समाजवादी सिद्धान्तो का उन्हें एक मौलिक रूप कहा जा सकता है। आचार्यश्री के शब्दों में वह इस प्रकार है— "आचार्य श्री भिक्षु ने व्यवस्था के लिए जो समता का सूत्र दिया, वह समाजवाद का विस्तृत प्रयोग है। यहाँ सब-के-सब श्रमिक हैं और सब-के-सब पण्डित। हाथ, पैर और मस्तिष्क में अलगाव नहीं है। सामुदायिक कार्यों का संविभाग होता है। सब साधु-साध्वियाँ दीक्षा-क्रम से अपने-अपने विभाग का कार्य करती है। खान, पान, स्थान, पात्र आदि सभी उपयोगी वस्तुओ का संविभाग होता है। यदि खाने वाले चार हों तो एक रोटी के चार टुकडे हो जाते है। यदि पीने वाले चार हों तो एक सेर पानी पाव-पाव कर चार भागो में वट जाता है।"[2] यह सविभाग साधु-साध्वियों के जीवन-व्यवहार में आने वाली प्राय: हर वस्तु पर लागू पडता है। **असंविभागी न हु तस्स मोक्खो**[3] अर्थात् सविभाग नहीं करने वाला व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी नही हो सकता, यह आगम-वाक्य तेरापन्थ-सघ-व्यवस्था के लिए मार्ग-दर्शक बन गया है।

समाजवाद का सूत्र यही तो है कि "एक के लिए सब और सब के लिए एक" यह तेरापन्थ के लिए बहुलांश में लागू पडता है। जननेता श्री जयप्रकाशनारायण जयपुर में जब पहले-पहल आचार्य श्री से मिले, तब तेरापन्थ की व्यवस्था को जानकर बड़े आश्चर्यान्वित हुए। उन्होंने कहा —"हम जिस समाजवाद को आज लाना चाहते हैं, वह आपके यहाँ तो शताब्दी पूर्व ही आ चुका है, यह प्रसन्नता की बात है। हम इन्ही सिद्धान्तो को गृहस्थ-जीवन में लागू करना चाहते हैं।"

प्रथम वक्तव्य

आचार्य श्री ने तेरापन्थ का शासन-भार स० १९९३ भाद्रपद शुक्ला नवमी को सभाला था। उस समय सघ मे एक सौ उनचालीस साधु और तीन सौ तेतीस साध्वियाँ थी। उनमे से छिहत्तर साधु तो आपसे दीक्षा-पर्याय में बडे थे। छोटी अवस्था, बटा सघ और उन सब पर समान अनुशासन की समस्या थी। उस समय भी आचार्य श्री का धैर्य विचलित नही हुआ। उन्हें जहाँ अपने सामर्थ्य पर विश्वास था, वहाँ सघ के साधु-साध्वियो की नीतिमत्ता

१— जैन भारती २४ जुलाई १९६०

२—जैन भारती २४ जुलाई १९६०

३—दशवैकालिक ९-२-२२

और अनुशासन-प्रियता पर भी कोई कम विश्वास नहीं था। नवमी के मध्याह्न में उन्होंने अपनी नीति के बारे में जो प्रथम वक्तव्य दिया था, उसमें ये दोनों ही विश्वास परिपूर्णता के साथ प्रकट किये गये थे। उस वक्तव्य का कुछ अंश यों है :

"श्रद्धेय आचार्य प्रवर श्री कालूगणी का स्वर्गवास हो गया। इससे मैं स्वयं खिन्न हूँ। साधु-साध्वियाँ भी खिन्न हैं। मृत्यु एक अवश्यम्भावी घटना है। उसे किसी प्रकार टाला नहीं जा सकता। खिन्न होने से क्या बने ? इस बात को विस्मृत ही बना देना है। इसके सिवाय चित्त को स्थिर करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

"अपना संघ नीति-प्रधान संघ है। इसमें सभी साधु-साध्वियाँ नीतिमान् हैं, रीति-मर्यादा के अनुसार चलने वाले हैं। इसलिए किसी को कोई विचार करने की जरूरत नहीं है। श्रद्धेय गुरुदेव ने मुझे संघ का कार्यभार सौंपा है। मेरे नन्हें कंधों पर उन्होंने अगाध विश्वास किया, इसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। सङ्घ के साधु-साध्वियाँ बड़े विनीत, अनुशासित और इंगित को समझने वाले हैं, इसलिए मुझे इस गुरुतर भार को ग्रहण करने में तनिक भी संकोच नहीं हुआ। संघ की नियमावली को सब साधु-साध्वियाँ पहले की ही तरह हृदय से पालन करते रहें। मैं पूर्वाचार्य की तरह ही सबकी अधिक से अधिक सहायता करता रहूँगा—ऐसा मेरा दृढ संकल्प है। इसके साथ में सबको सावधान भी कर देना चाहता हूँ कि मर्यादा की उपेक्षा मैं सहन नहीं करूँगा।

"सब तेरापन्थ-सङ्घ में फलें-फूलें, संयम में दृढ रहें, इसी में सबका कल्याण है, सङ्घ की उन्नति है। यह सब का संघ है, इसलिए सभी इसकी उन्नति में प्रयत्नशील रहें।"

बयासी वर्ष के

एक बाईस वर्ष के युवक पर संघ का भार देकर आचार्य श्री कालूगणी ने जिस साहस का काम किया, आचार्य श्री ने अपने कर्तृत्व से उसमें किसी प्रकार की लांछना नहीं आने दी। वे उस अवस्था में भी एक स्थविर आचार्य की तरह कार्य करने लगे। प्रारम्भ में जो लोग यह आशंका करते कि आचार्यश्री की अवस्था बहुत छोटी है, उन्हें मुनि श्री मगनलालजी कहा करते—"कौन कहता है आचार्यश्री की अवस्था छोटी है ? आप तो बयासी वर्ष के हैं।" वे अपनी बात की पुष्टि इस प्रकार करते—"जन्म के वर्षों से ही अवस्था नहीं होती, वह अनुभवों की अपेक्षा से भी हो सकती है। जन्म की अपेक्षा से आप अवश्य बाईस वर्ष के हैं, किन्तु अनुभवों की अपेक्षा से आपकी अवस्था बहुत बड़ी है। आचार्य श्री कालूगणी ने अपनी साठ वर्ष की अवस्था तक जो अनुभव अर्जित किये थे, वे सब उनके द्वारा आपको सहज ही प्राप्त हो गये हैं, अतः अनुभवों की दृष्टि से आप बयासी वर्ष के होते हैं।" मंत्री मुनि के इस कथन ने उस समय के वातावरण में एक प्रगाढ़ता और गौरव ला दिया था।

सुचारु संचालन

तेरापन्थ का शासन-सूत्र सभालते ही आचार्य श्री के सामने सबसे प्रमुख कार्य था—सङ्घ का सुचारु रूप से संचालन। सङ्घ-संचालन का अनुभव एक नवीन आचार्य के लिए होते-होते ही होता है, किन्तु आचार्यश्री ने उसमें सहज ही सफलता प्राप्त कर ली। वे अपने कार्य में पूर्ण जागरूक रह कर बढे। अनुशासन करने की कला में यों तो वे पहले से ही निपुण थे, पर अब उसे विस्तार से कार्यरूप देने का अवसर था। उन्होंने अपने प्रथम वर्ष में ही जिस प्रकार से सङ्घ-व्यवस्था को सम्भाला, वह श्लाघनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी था। उन्होंने साधु-सङ्घ के स्नेह को जीत लिया था। जिन व्यक्तियों को यह आशका थी कि एक बाईस वर्षीय आचार्य के अनुशासन में सङ्घ के अनेक प्राचीन व विद्वान् मुनि कैसे चल पायेंगे, उनकी वह आशका शीघ्र ही निर्मूल हो गई।

तेरापन्थ में समूचे साधु-सङ्घ के चातुर्मासिक प्रवास तथा शेपकालीन विहरण के क्षेत्रो का निर्धारण एकमात्र आचार्य ही करते है। वह कार्य यदि सुव्यवस्था से न हो तो असन्तोष का कारण बनता है। इसके साथ-साथ प्रत्येक सिंघाड़े में पारस्परिक प्रकृतियो का संतुलन भी बिठाना पडता है। पिछले वर्ष में किये गये समस्त कार्य का लेखा-जोखा भी उसी समय लिया जाता है। सङ्घ-उन्नति के विशिष्ट कार्यों की प्रशसा और खामियो का दोप-निवारण भी एक बहुत बडा कार्य है। रुग्ण साधु-साध्वियों की व्यवस्था के लिए विशेष निर्धारण करना पडता है। वृद्धजनो की सेवा और उनकी चित्त-समाधि के प्रश्न को भी प्राथमिकता के आधार पर हल करना होता है। इतना सब कुछ करने के पश्चात् शेष सिंघाडों के लिए आगामी वर्ष का मार्ग-निर्धारण किया जाता है। लेखन-पठन आदि के विपय में भी पूछताछ तथा दिशा-निर्देशन करना आचार्य का ही काम होता है। ये सब कार्य गिनाने में जितने लघु है, करने में उतने ही बडे और जटिल हैं। जो आचार्य इन सब में अत्यन्त जागरूकता के साथ मुनिजनों की श्रद्धा प्राप्त कर सकता है, वही सघ का सुचारु रूप से सञ्चालन कर सकता है। आचार्यश्री ने इन सब कार्यों का व्यवस्थित सञ्चालन ही नहीं किया, अपितु इनमें नये प्राणो का सचारण भी किया।

(२) असाम्प्रदायिक भाव

पर-मत-सहिष्णुता

आचार्यश्री द्वारा किये गये अनेक विकास-कार्यों में प्रमुख और प्रथम है—चिन्तन-विकास। अन्य समाजों के समान तेरापन्थ भी एक सीमित दायरे में ही सोचता था। सम्प्रदाय-भावना उसमें भी प्रायः वैसी ही थी, जैसी कि किसी भी धर्म-सम्प्रदाय में हुआ करती है। आचार्यश्री ने उस चिन्तन को असाम्प्रदायिकता की ओर मोडा। सम्प्रदाय शब्द का मूल अर्थ होता है—

गुरु-परम्परा। वह कोई बुरी वस्तु नहीं है। वह बुरी तब बनती है, जब असहिष्णुता के भाव आते हैं। वृक्ष का मूल एक होता है, पर शाखाओं, प्रशाखाओं तथा टहनियों के रूप में उसकी अनेकता में भी कोई कमी नहीं होती, फिर भी उनमें कोई असहिष्णुता नहीं होती, अत. वे परस्पर एक-दूसरे की शक्ति और शोभा बढ़ाती हैं। मनुष्य जहाँ भी रहा है, सम्प्रदाय, संगठन, परम्परा आदि बनाकर रहा है। तब आज कैसे कोई सम्प्रदायातीत हो सकता है? अपने सामूहिक-जीवन की कोई न कोई परम्परा अवश्य ही विरासत में हर व्यक्ति को मिलती है। 'भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय नहीं रहने चाहिए।' यह कहने वाले भी तो अपना एक सम्प्रदाय बनाकर ही रहते है। आचार्यश्री की दृष्टि में असाम्प्रदायिकता का अर्थ होता है—पर-मत-सहिष्णुता। जब तक मनुष्य में पर-मत-सहिष्णुता रहती रहेगी, तब तक मत-भेद होने पर भी मन-भेद नहीं हो सकेगा। असहिष्णुता ही मत-भेद को मन-भेद में बदलने वाली होती है। जो व्यक्ति प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णुता के भाव रखता है, वह चाहे फिर किसी भी सम्प्रदाय में रहता हो, असाम्प्रदायिक ही कहा जायेगा।

इस चिंतन-विकास ने तेरापन्थ को वह उदारता प्रदान की है, जो कि पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ी है। इससे इतर सम्प्रदायो के साथ तेरापन्थ के सम्बन्ध मधुर हुए हैं, दूरी कम हुई है। आचार्यश्री के प्रति सभी सम्प्रदाय वालों के मन में आदर-भाव बढ़ा है।

वे एक सम्प्रदाय के आचार्य हैं। उसकी सारणा-वारणा करना उनका कर्त्तव्य है। वे उसे बड़ी उत्तमता से निभाते है। फिर भी सम्प्रदाय उनके लिए बन्धन नहीं, साधना-क्षेत्र है। वे एक वृक्ष की तरह है, जिसका मूल निश्चित स्थान पर रुपा हुआ होता है, पर उसकी छाया और फल सबके लिए समान रूप से लाभदायक होते है।

पाच सूत्र

आचार्यश्री के चिंतन तथा कार्यकलापो का रुझान समन्वय की ओर ही रहा है। उन्होंने समय-समय पर सभी सम्प्रदायो से सहिष्णु बनने और परस्पर मैत्री रखने का अनुरोध किया है। इसके लिए उन्होने एक पचसूत्री योजना भी प्रस्तुत की थी। सभी सम्प्रदायो के लिए वे सूत्र माननीय है:

(१) मण्डनात्मक नीति बरती जाए। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाए। दूसरो पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किये जाए।

(२) दूसरो के विचारो के प्रति सहिष्णुता रखी जाए।

(३) दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियो के प्रति घृणा व तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाए।

(४) कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाए।

(५) धर्म के मौलिक तथा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाए।

धर्म-सम्प्रदायों में परस्पर सहिष्णुता का भाव पैदा करना कठिन अवश्य है, परन्तु असम्भव नही, क्योंकि उनमें मूलत ही समन्वय के तत्त्व अधिक और विरोधी तत्त्व कम पाये जाते हैं। यदि विरोधी तत्त्वो की ओर मुख्य लक्ष्य न रहे तो समन्वय बहुत ही सहज हो जाता है। धार्मिकों के लिए यह एक लज्जास्पद बात है कि वे किसी विचार-भेद को आधार मानकर एक-दूसरे पर आक्षेप करें, घृणा फैलायें और असहिष्णु बनें। आचार्यश्री का विश्वास है कि विचारो की असहिष्णुता मिट जाए तो विभिन्न सम्प्रदायो के रहते हुए भी सामंजस्य स्थापित हो सकता है। उनके इन उदार विचारों के आधार पर ही उन्हें एक महत्त्वपूर्ण आचार्य माना जाता है। जनता उन्हें भारत के एक महान् सत के रूप में जानने लगी है।

समय नहीं है

आचार्यश्री अपने इन उदार विचारों का केवल दूसरों के लिए ही निर्यात नहीं करते, वे स्वय इन सिद्धान्तो पर चलते हैं। वे किसी की व्यक्तिगत आलोचना करना तो पसन्द करते ही नहीं, पर किसी की आलोचना सुनना भी उन्हें पसन्द नहीं है। एक बार एक अन्य सम्प्रदाय के साधु ने आचार्यश्री के पास आकर बातचीत के लिए समय मांगा। आचार्यश्री ने उन्हें दूसरे दिन मध्याह्न का समय दे दिया। यथासमय वे आये और बातचीत प्रारम्भ की। वे अपने गुरु के व्यवहारों से असन्तुष्ट थे, अत' उनकी कमियों का व्याख्यान करने लगे। आचार्यश्री यदि उसमें कुछ रस लेते तो वे तेरापन्थ का प्रमुख रूप से विरोध करने वाले एक विशिष्ट आचार्य की कमजोरियों का पता दे सकते थे, परन्तु उन्हें यह अभीष्ट ही नही था। उन्होंने इस साधु से कहा—"मेरा अनुमान था कि आप कोई तत्त्व-विषयक चर्चा करना चाहते हैं, इसीलिए मैंने समय दिया था। किसी की निन्दा सुनने के लिए मेरे पास कोई समय नहीं है। इस विषय में मैं आपकी कोई सहायता भी नहीं कर सकता।" उसी क्षण बातचीत का सिलसिला समाप्त हो गया और आचार्यश्री दूसरे काम में लग गये।

सार्वत्रिक उदारता

उनके उदार विचारों का दूसरा पहलू यह है कि वे हर सम्प्रदाय के व्यक्ति से खुलकर विचार-विमर्श करते है। वे इसमें कोई कार्पण्य या सकोच नहीं करते। वे अन्य सम्प्रदायों के धार्मिक स्थानों पर भी नि सकोच-भाव से जाते हैं। जहाँ लोग अन्य सम्प्रदायों के स्थानो में जाना अपना अपमान समझते है, वहाँ आचार्यश्री बडी रुचि के साथ जाते हैं। वे जानते हैं कि दूर रहकर दूरी को नही मिटाया जा सकता। सम्पर्क में आने पर वह दूरी भी मिट जाती है, जिसे कभी न मिटने वाली समझा जाता है। वे अनेक बार दिगम्बर और श्वेताम्बर

मन्दिरों में जाते रहे हैं। अनेक बार वहाँ उन्होंने प्रार्थनाएँ भी की हैं। मूर्ति-पूजा में उन्हें विश्वास नहीं है, पर वे मानते हैं कि जब अन्य सभी स्थानों में भावपूजा की जा सकती है तो वह मन्दिर में भी की जा सकती है। आचार्यश्री के ऐसे विचार सभी लोगों को सहजतया आकृष्ट कर लेते हैं। उनकी यह उदारता इस या उस किसी एक पक्ष को आधार रखकर नहीं होती, किन्तु सार्वत्रिक होती है। वस्तुत: उदार वृत्तियाँ हर प्रकार की मानसिक दूरी को मिटाने वाली होती है।

आगरा के स्थानक में

उत्तर-प्रदेश की यात्रा में आचार्यश्री आगरा पधारे। धर्मशाला में ठहरना था। मार्ग में जैन-स्थानक आया। वहाँ संसद-सदस्य सेठ अचलसिंहजी आदि स्थानकवासी सम्प्रदाय के कुछ प्रमुख श्रावकों ने आगे खड़े होकर प्रार्थना की—"यहाँ कवि अमरचन्दजी महाराज विराज रहे हैं। आप अन्दर पधारने की कृपा कीजिए।" यद्यपि काफी विलम्ब हो चुका था, फिर भी इस समन्वय के क्षण को आचार्यश्री ने छोड़ा नहीं। साधुओं सहित अन्दर पधार गये। इतने में कविजी भी ऊपर से आ गये। वे अच्छे विद्वान् तथा मिलनसार व्यक्ति हैं। स्थानकवासी समाज में अच्छी प्रतिष्ठा है। वे 'उपाध्यायजी' के नाम से भी प्रसिद्ध है। आते ही बड़ी उल्लासपूर्ण मुद्रा में कहने लगे—"मैं नहीं जानता था कि आप अन्दर आ जायेंगे। आपकी उदारता स्तुत्य है। परोक्ष में जो बातें सुनी थीं, उससे भी कहीं अधिक महत्ता को देखकर मुझे प्रसन्नता हुई है।" फिर तो लगभग ढाई बजे तक वहाँ ठहरना हुआ। बातचीत और विचार-विमर्श में इतना उल्लास रहा कि पहले उसकी कोई कल्पना ही नहीं थी। कई वर्ष पूर्व प्रकाशित उपाध्यायजी की 'अहिंसा-दर्शन' नामक पुस्तक में कई जगह तेरापन्थ की आलोचना की गई थी। बातचीत के प्रसंग में आचार्यश्री ने उन स्थलों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करना चाहा। मुनिश्री नथमलजी उन स्थलों को खोजने लगे, पर वे मिले नहीं। उपाध्यायजी ने मुस्कराते हुए कहा—"यह दूसरा संस्करण है। इसमें आप जो खोज रहे हैं, वह नहीं मिलेगा।" आचार्यश्री की समन्वय-नीति का ही यह प्रभाव कहा जा सकता है कि स्वयं लेखक ने ही अपनी आत्म-प्रेरणा से उन सब आलोचनात्मक स्थलों को अपनी पुस्तक में से हटा दिया था।

वर्णीजी से मिलन

इसी प्रकार एक बार दिगम्बर-समाज के बहुमान्य गणेशप्रसादजी वर्णी के यहाँ भी आचार्यश्री पधारे थे। पारसनाथ हिल का स्टेशन 'ईसरी' है। वे वहाँ एक आश्रम में रहते थे। आचार्यश्री विहार करते हुए वहाँ पधारे तो आश्रम में भी पधारे। आचार्यश्री की इस उदारता से वर्णीजी बड़े प्रभावित और प्रसन्न हुए। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने तेरापन्थ के विषय में बड़ी गुणग्राहकता और उदारता भरी वाणी में कहा—"आपका धर्म-संघ बहुत

ही सगठित है। ऐसी अद्वितीय अनुशासनप्रियता अन्य किसी भी धर्म-सघ में दिखाई नहीं देती।" इस प्रकार के स्वल्पकालीन मिलन भी सौहार्द-वृद्धि में बड़े उपयोगी होते हैं। इस मिलन की सारे दिगम्बर-समाज पर एक मूक, किन्तु अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। ये छोटी-छोटी दिखाई देने वाली बातें ही आचार्यश्री की महत्ता के पट में ताना और बाना बनी हुई है।

विजयवल्लभ सूरि के यहाँ

बम्बई में मूर्त्तिपूजक-सम्प्रदाय के प्रभावशाली तथा सुप्रसिद्ध आचार्य विजयवल्लभ सूरि के यहाँ भी आचार्यश्री पधारे। वहाँ भी बड़े उल्लासमय वातावरण का निर्माण हुआ था। वहाँ के मूर्त्तिपूजक जैन-समाज पर तो गहरा असर हुआ ही, पर बाहर भी उस मिलन की बहुत अनुकूल प्रतिक्रियाएँ हुई।

दरगाह में

आचार्यश्री केवल जैनो के धर्म-स्थानो या जैनधर्माचार्यो के यही जाते हो, सो बात नहीं है। वे हर किसी धर्म-स्थान और हर किसी व्यक्ति के यहाँ उसी सहजभाव से चले जाते हैं, मानो वह उनका अपना ही धर्म-स्थान हो। अजमेर में वे एक बार वहाँ की सुप्रसिद्ध दरगाह की ओर चले गये। वहाँ के सरक्षक ने उन्हें अन्दर जाने से रोक दिया। नगे सिर वह किसी को अन्दर नहीं जाने देना चाहता था। आचार्यश्री तत्काल वापस मुड गये। किसी भी प्रकार की शिकायत की भावना के बिना उनके इस प्रकार वापस मुड जाने ने उसको प्रभावित किया। दूसरे ही क्षण उसने सम्मुख आकर कहा—"आप तो स्वयं पहुँचे हुए व्यक्ति हैं, अत: आप पर इन नियमो को लागू करना कोई आवश्यक नही है। आप मजे से अन्दर जाइये और देखिये।" जिस सौम्यभाव से वे वापस मुडे थे, उसी सौम्यभाव से फिर दरगाह की ओर मुड गये। अन्दर जाकर उसे देखा और उसके इतिहास की जानकारी ली।

वे गुरुद्वारा, सनातन-मन्दिर, आर्यसमाज-मदिर, चर्च आदि में भी इसी प्रकार की निर्द्वन्द्वता के साथ जाते रहे है। इस व्यवहार ने उनकी समन्वयवादी दृष्टि को बहुत बल दिया है।

श्रावको का व्यवहार

आचार्यश्री के सहिष्णु और समन्वयी विचारो का अन्य सम्प्रदाय वालो पर अच्छा प्रभाव पडा है। ऐसी स्थिति में स्वय तेरापन्थी-समाज पर तो उसका प्रभाव पडना ही चाहिए था। वस्तुतः वह पडा भी है। कहीं अधिक तो कही कम, प्रायः सर्वत्र वह देखा जा सकता है। तेरापन्थ-समाज को प्राय बहुत कट्टर माना जाता रहा है। उसमें एतद्विषयक परिवर्त्तन को एक आश्चर्य-जनक घटना के रूप में ही लिया जा सकता है। कुछ भी हो, पर इतना निश्चित है कि असहिष्णुता की भावना में कमी और सहिष्णुता की भावना में वृद्धि हुई है।

बम्बई के तेरापन्थी भाई मोतीचन्द हीराचन्द जवेरी ने संविग्न सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य विजयवल्लभ सूरि को अपने यहाँ निमन्त्रित किया। चोपाटी के अपने मकान फूलचन्द-निवास में सात दिन उन्हें भक्ति-बहुमान सहित ठहराया। तेरापन्थ-समाज की ओर से उनका सार्वजनिक भाषण भी करवाया गया। आचार्यजी ने उस भाषण में बड़े मार्मिक शब्दों में जैन-एकता की आवश्यकता बतलाई। इस घटना के विषय में भाई परमानन्द ने लिखा है—"एक सम्प्रदाय के श्रावक-जन अन्य सम्प्रदाय के एक मुख्य आचार्य को बुलायें और वे आचार्य उस निमन्त्रण को स्वीकार कर वहाँ जायें, व्याख्यान दें, ऐसी घटना पहले तो कभी कोई भाग्य से ही घटित हुई हो, तो हो। एकता के इस वातावरण को उत्पन्न करने में तेरापन्थी-समाज निमित्त बना है, अतः वह धन्यवाद का पात्र है।"[1]

फादर विलियम्स

आचार्यश्री उन दिनों बम्बई में थे। कुछ तेरापन्थी भाई वहाँ के इंडियन नेशनल चर्च में गये। पादरी का उपदेश सुना। बातचीत की। उन लोगों के उस आगमन तथा उपदेश-श्रवण का चर्च के सर्वोच्च अधिकारी फादर जे० एस० विलियम्स पर बड़ा ही रुचिकर प्रभाव पड़ा। उनके मन में यह भावना उठी, जिसके शिष्य इतने उदार हैं कि उन्हें दूसरे धर्म का उपदेश सुनने में कोई एतराज नहीं है तो उनका गुरु न जाने कितना महान् होगा ? इसी प्रेरणा ने उनको आचार्यश्री का सम्पर्क कराया। वे किसी गद्दीधारी महंत की कल्पना करते हुए आये थे, पर वहाँ की सारी स्थितियों को देख-सुनकर पाया कि ईसा के उपदेशों का सच्चा पालन यहीं होता है। वे अत्यन्त प्रभावित हुए। एक धर्मगुरु होते हुए भी उन्होंने अणुव्रत स्वीकार किये। अधिकांश अणुव्रत-अधिवेशनों में वे सम्मिलित होते रहे हैं। आचार्यश्री के प्रति उनकी बड़ी उत्कट निष्ठा है।

साधु-सम्मेलन में

इसी प्रकार के उदारता और सौहार्दपूर्ण कार्यों की एक घटना बीकानेर चोखले की भी है। भीनासर में एक साधु-सम्मेलन हुआ। उसमें अखिल भारतीय स्तर पर स्थानकवासी साधु एकत्रित हुए थे। भीनासर अपेक्षाकृत एक छोटा कस्बा है। उससे बिलकुल सटा हुआ ही गंगाशहर है। वह उससे कई गुना बड़ा है। वहाँ तेरापन्थ के लगभग नौ-सौ परिवार रहते हैं। उन्होंने उस सम्मेलन में हर प्रकार का सम्भव सहयोग प्रदान किया। यह सहयोग केवल भाईचारे के नाते ही था और उससे दोनों समाजों में काफी निकटता का वातावरण बना।

इस सम्मेलन के अध्यक्ष थे बनेचन्द भाई। उनका जब बीकानेर में जुलूस निकाला गया, तब वहाँ के तेरापन्थ-समाज की ओर से उन्हें माला पहनाई गई तथा सम्मेलन की सफलता के

१—प्रबुद्धजीवन १ मई '५२

लिए शुभकामना व्यक्त की गई। इस घटना ने उन लोगो को और भी अधिक प्रभावित किया।

इन सब घटनाओ का अपना एक मूल्य है। ये तेरापन्थ के मानस का दिग्दर्शन कराने वाली घटनाए है। इनके पीछे आचार्यश्री के समन्वयवादी विचारो का वल है। तेरापन्थ के सभी व्यक्ति आचार्यश्री की इन उदार प्रेरणाओं से अनुप्राणित हो चुके हो, ऐसी वात तो नही है। अनेक व्यक्ति ऐसे भी है, जो आचार्यश्री के इन समन्वयी तथा उदार कार्यो को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। उनके विचार से आचार्यश्री तेरापन्थ को लाभ नही, अलाभ ही पहुँचा रहे हैं। उनका कथन है कि ऐसी प्रवृत्तियो से श्रावको की एक-निष्ठता हटती है। आचार्यश्री उनके विचारों को यह समाधान देते है कि तेरापन्थ सत्य से अभिन्न है। जहाँ सत्य है, वहाँ तेरापन्थ है और जहाँ सत्य नही है, वहाँ तेरापन्थ भी नहीं है, यह व्याप्ति है। समन्वयवादिता तथा गुणज्ञता आदि गुण अहिंसा की भूमिका पर उद्भूत होते हैं, अत वे सत् और आदेय होते है। कदाग्रहवादिता और अवगुणग्राहिता आदि दोष हिंसा की भूमिका पर उद्भूत होते हैं, अत वे असत् और हेय होते है। इसीलिए सत्य के प्रति निष्ठा रखना ही तेरापन्थ के प्रति निष्ठा रखना है। तेरापन्थ के प्रति निष्ठा रखता रहे और सत्य के प्रति निष्ठा न हो, तो वह वास्तविक तेरापन्थ तक पहुँचा ही नही है। सम्प्रदाय के रूप में तेरापन्थ एक मार्ग है। उस पर चलकर पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचना है। मार्ग साधन होता है, साध्य नही।

(३) चैतन्य-विरोधी प्रतिक्रियाएँ

सेतुबन्ध

आचार्यश्री किसीके द्वारा 'नई चेतना के प्रहरी' करार कर दिये जाते है तो किसी के द्वारा 'पुराणपथी'। वे विलकुल गलत भी नही है, क्योकि आचार्य श्री को नवीनता से भी प्यार है और पुराणता से भी। उनकी प्रगति के ये दोनो पैर है। 'एक उठा हुआ, तो दूसरा टिका हुआ। वे दोनों पैर आकाश में उठाकर उडना नही चाहते, तो दोनो पैर धरती पर टिकाकर रुकना भी नही चाहते। वे चलना चाहते हैं, प्रगति करना चाहते है, निरतर और निर्बाध। उसका क्रम यही हो सकता है कि कुछ गतिशील हो तो कुछ टिका हुआ भी। गति पर स्थिति का और स्थिति पर गति का प्रभाव पडता रहे।

साधारणतया लोग नई वात से कतराते है और पुरानी से चिमटते हैं। पुरानी के प्रति विश्वास और नई के प्रति अविश्वास, उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य कर देता है। परन्तु आचार्यश्री ऐसे लोगो से सर्वथा पृथक् है। वे प्राचीनता की भूमिका पर खडे होकर नवीनता का स्वागत करने में कभी नही हिचकिचाते। वस्तुत वे प्राचीनता और नवीनता को जोडनेवाला उपादेयता का ऐसा सेतु-बध बनाना जानते हैं कि फिर व्यवहार की नदी के परस्पर कभी न मिलने वाले इन दोनो तटों में सहज ही सामजस्य स्थापित हो जाता है।

उनकी इस वृत्ति को स्वयं तेरापन्थ-समाज के कुछ व्यक्तियों ने सशक दृष्टि से देखा है। वृद्धों का कथन है कि वे नये-नये कार्य करते रहते हैं, न जाने समाज को कहाँ ले जायेंगे ? युवक कहते हैं कि वे पुराणता को साथ लिए चलते हैं, इस प्रकार कोई क्रान्ति नहीं हो सकती। दोनों का साथ-साथ निभाव करने की नीति तुष्टीकरण की नीति होती है। उससे दोनों को ही लाभ नहीं मिल सकता। यों वे दोनों की आलोचनाओं के लक्ष्य बनते रहते हैं। विरोधी विचार रखने वाले अन्य लोगों ने तो उनके दृष्टिकोण पर तरह-तरह के आक्षेप किये ही हैं।

विरोध से भी लाभ

आचार्यश्री विरोध से घबराते नहीं हैं। वे उसे विचार-मन्थन का हेतु मानते हैं। दो पदार्थों के घर्षण से जिस प्रकार उष्मा पैदा होती है, उसी प्रकार दो विचारों के सघर्ष में नव-चिंतन का प्रकाश जगमगा उठता है। विरोध ने उनके मार्ग में जहाँ बाधाएं उत्पन्न की है, वहाँ अनेक बार उन्हें लाभान्वित भी किया है। जो व्यक्ति विशेषज्ञ हैं, वे किसी भी प्रकार की चेतना को प्रत्यक्ष सम्पर्क से तो आंकते ही हैं, पर कभी-कभी उसके विरोध में किये जाने वाले प्रचार को देख सुनकर परोक्ष रूप से भी आंक लेते है। मध्यप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल श्री मंगलदास पकवासा बम्बई के समाचार पत्रों में आचार्यश्री के विरुद्ध किये जाने वाले प्रचार को पढ़कर ही सम्पर्क में आये थे। वे जानना चाहते थे कि जिस व्यक्ति का इतना विरोध हो रहा है, वह वस्तुतः कितना चैतन्य-युक्त होगा। काका कालेलकर भी जब पहले-पहल आचार्यश्री से मिले तो बतलाया कि मैं तेरापन्थ के विरोध में बहुत कुछ सुनता आ रहा हूँ। मुझे जिज्ञासा हुई कि जहाँ विरोध है, वहाँ अवश्य चैतन्य है। मृत का कभी कोई विरोध नहीं करता।

विरोधी-साहित्य-प्रेषण

आचार्यश्री के प्रति विरोध-भाव रखने वालों में अधिकांश ऐसे मिलेंगे जो उनके चैतन्य को—उनके सामर्थ्य को सहन नहीं कर पा रहे है। वे अपनी शक्ति से 'सर्वजन-हिताय' बिखरे चैतन्य को बटोरने के बजाय आवृत कर देना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति उनके विरुद्ध में नाना प्रकार से अपवाद फैलाते हैं, उनके विरुद्ध पुस्तकें लिखते तथा छपाते हैं। जहाँ अवसर मिले, वहाँ इस प्रकार का साहित्य भेजकर उनके विरुद्ध वातावरण बनाने का प्रयास करते है। परन्तु वे उनके अपराजेय व्यक्तित्व को किसी भी प्रकार आच्छन्न नहीं कर पाये है। आज तक उनका व्यक्तित्व जितना निखर चुका है, भविष्य में वह उतना ही नहीं रहेगा, उसमें और निखार आयेगा। उनके चैतन्य तथा सामर्थ्य का प्रकाश और जगमगायेगा, यही एकमात्र सम्भावना की जा सकती है। यदि कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि इस प्रकार के विरोधी प्रचार से उनके व्यक्तित्व पर रोक लगेगी, तो वे भूल करते है। इस प्रकार के कुछ प्रयासों के फलित

देख लेने से पता चल सकता है कि उनका यह शस्त्र उल्टा आचार्यश्री के व्यक्तित्व को और अधिक निखारने वाला ही सिद्ध होता रहा है।

ढेर लग गया

सुप्रसिद्ध लेखक भाई किशोरलाल मश्रुवाला ने एक बार हरिजन में अणुव्रत-आन्दोलन की समालोचना की। फलस्वरूप उनके पास इतना तेरापन्थ-विरोधी साहित्य पहुँचा कि वे आश्चर्य-चकित रह गये। उन्होंने पत्र द्वारा आचार्यश्री को सूचित किया कि जब से वह समालोचना प्रकाशित हुई है, तब से मेरे पास इतना विरोधी साहित्य आने लगा है कि एक ढेर-का-ढेर लग गया है।

ऐसा होता ही है

इसी प्रकार की घटना श्री उ० न० ढेवर के साथ भी घटी। वे उन दिनो सौराष्ट्र के मुख्यमन्त्री थे। आचार्यश्री बम्बई-यात्रा के मध्य अहमदाबाद पधारे। वहाँ वे आचार्यश्री के सम्पर्क में पहले-पहल ही आये। उन्होंने आचार्यश्री को सौराष्ट्र आने का निमन्त्रण दिया और कहा कि इस प्रकार के कार्यक्रमो की वहाँ बडी आवश्यकता है। आप अपने कार्यक्रम में सौराष्ट्र-यात्रा को भी अवश्य सम्मिलित करें। वहाँ आपको अनेक रचनात्मक कार्यकर्ता भी उपलब्ध हो सकते है। दूसरे दिन वे फिर आये और बात-चीत के सिलसिले में अपने उस निमन्त्रण को दुहराते हुए उन्होने कहा कि आप इसकी स्वीकृति दे दीजिये। आचार्यश्री का आगे का कार्यक्रम निर्धारित हो चुका था। उसमें किसी प्रकार का बडा हेर-फेर कर पाना सम्भव नहीं रह गया था, अतः वह बात स्वीकृत नही हो सकी।

कुछ समय पश्चात् ढेवर भाई कांग्रेस-अध्यक्ष बनकर दिल्ली में रहने लगे। उन दिनो मैं (मुनि बुद्धमल्ल) भी दिल्ली में ही था। मिलन हुआ तो बातचीत के सिलसिले मे उन्होंने मुझे यह सारी घटना सुनाई और कहा कि जब से मेरे निमंत्रण देने के समाचार पत्रों में प्रकाशित हुए, तभी से मेरे पास आचार्यश्री के विषय में विरोधी साहित्य इतनी मात्रा में पहुँचने लगा कि मैं चकित रह गया।

मैंने जब यह पूछा कि आप पर उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई ? तब वे कहने लगे—"मैं सोचता हूँ कि हर एक कार्य के प्रारम्भ में बहुधा ऐसा होता ही है। ऐसा हुए बिना कार्य में चमक नही आती।"

व्यक्तिगत पत्र

अभी कुछ दिन पूर्व साप्ताहिक तथा दैनिक पत्रो में तेरापन्थ, अणुव्रत और आचार्यश्री के विषय में अनेक लेख प्रकाशित हुए। कुछ व्यक्तियों को वे अखरे। उन्होंने सम्पादकों के पास काफी मात्रा में विरोधी साहित्य तथा सम्पादकों को कर्त्तव्य-बोध देने वाले व्यक्तिगत पत्र भेजे। ऐसा ही एक पत्र संयोगवशात् मुझे देखने को मिला। वह साप्ताहिक हिन्दुस्तान के

सम्पादक श्री बांकेविहारी भटनागर के नाम था। उसमें आचार्यश्री, तेरापन्थ तथा अणुव्रत-आन्दोलन को प्रश्रय देने की नीति का विरोध किया गया था। परन्तु उसका प्रभाव क्या होता था ? उस पत्र के कुछ दिन पश्चात् ही स्वयं श्री भटनागरजी का एक लेख साप्ताहिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित हुआ। उसमें आचार्यश्री तथा अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति एक गहरी श्रद्धा-भावना व्यक्त की गई थी।

ऐसी घटनाएँ अनेक हैं और होती रहती हैं, पर जो आचार्यश्री के कार्यों से प्रभावित होते हैं, उनकी संख्या के सामने वे नगण्य-सी हैं। जहाँ गति होती है, वहाँ का वायु-मण्डल उसका विरोधी बनता ही आया है। गति में जितनी त्वरा होती है, वायुमण्डल भी उतनी ही अधिक तीव्रता से विरोधी बनता है, पर क्या कभी गति की प्राण-शक्ति क्षीण हुई है ?

समय ही कहाँ है ?

आचार्यश्री अपने विरुद्ध किये जाने वाले विरोध या आक्षेपों के प्रति कोई विशेष ध्यान नहीं देते। उनका उत्तर देने की तो तेरापन्थ में प्रायः पहले से ही परिपाटी नहीं रही है। यह ठीक भी है। कार्य करने वाले के पास विरोध और झगड़ा करने का समय ही कहाँ रह पाता है ? वे इतने कार्य-व्यस्त रहते हैं कि कभी-कभी उन्हें समय की कमी खटकने लगती है। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति निठल्ला रहकर या कलह आदि में समय व्यतीत करता है, उसका वह समय मुझे मिल पाता तो कितना अच्छा होता ? उनकी कर्मठता और अदम्य शक्ति मानव-जाति के लिए एक नव आशा का संचार करती है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमारजी का निम्नोक्त कथन इसी बात की तो पुष्टि करता है—"तुलसीजी को देखकर ऐसा लगता है कि यहाँ कुछ है। जीवन मूर्च्छित और परास्त नहीं है। उसमें आस्था है और सामर्थ्य है। व्यक्तित्व में सजीवता है और एक विशेष प्रकार की एकाग्रता, यद्यपि हठवादिता नहीं। वातावरण के प्रति उनमें ग्रहणशीलता है और दूसरे व्यक्तियों और सम्प्रदायों के प्रति संवेदन-शीलता। एक अपराजेय वृत्ति उनमें पाई, जो परिस्थिति की ओर से अपने में शैथिल्य लेने को तैयार नहीं है, बल्कि अपने आस्था-संकल्प के बल पर उन्हें बदल डालने को तत्पर है। धर्म के परिग्रहहीन आकिञ्चन्य के साथ इस सपराक्रम सिंहवृत्ति का योग अधिक नहीं मिलता। साधुता निवृत्त और निष्क्रिय हो जाती है। वही जब प्रवृत्त और सक्रिय हो तो निश्चय ही मन में आशा उत्पन्न होती है।"[1]

मेरी हार मान सकते हैं

कभी उन्हें धार्मिक वाद-विवादों तथा जय-पराजयों में रस रहा हो तो रहा हो, पर अब तो वे उसे पसंद नहीं करते। वाद-विवाद प्रायः जय-पराजय के भाव उत्पन्न करते हैं और तत्त्व-चिंतन के स्थान पर छल, जाति आदि के प्रयोगों की ओर ले जाते हैं। पुराने युग में

१—आचार्यश्री तुलसी, पृष्ठ ग-घ

शास्त्रार्थों में बड़ा रस लिया जाता था, पर अब उन्हें वैमनस्य बढाने का ही एक प्रकार माना जाने लगा है। इसीलिए वे यथा-सम्भव ऐसे अवसरों से बचना चाहते है।

एक बार कुछ भाई आचार्यश्री से बातचीत करने आये। धीरे-धीरे बातचीत ने विवाद का रूप लेना प्रारम्भ कर दिया। आचार्यश्री ने उसका रुख बदलने के विचार से कहा कि इस विषय में जो मेरा विचार है, वह मैंने आपको बता दिया है। अब आपको उचित लगे तो उसे मानिये, अन्यथा मत मानिये।

वे भाई बातचीत की दृष्टि से उतने नही आये थे, जितने कि वाद-विवाद की दृष्टि से। उन्होंने कहा—"ऐसा कहकर बात समाप्त करने से तो आपके पक्ष की पराजय ही प्रकट होती है।"

आचार्यश्री ने सौम्यभाव रखते हुए कहा—"आपको यदि ऐसा लगता हो तो आप निश्चिन्तता से मेरी हार मान सकते है। मुझे इसमें कोई आपत्ति नही है।"

उपर्युक्त बात किसी ने मुझे सुनाई थी, तब मुझे गांधीजी के जीवन की एक ऐसी ही घटना का स्मरण हो आया। गाधीजी के हरिजन-आन्दोलन के विरुद्ध कुछ पडित उनसे शास्त्रार्थ करने आये। उनका कथन था कि वर्णाश्रम-धर्म जब शास्त्र-सम्मत है, तब हरिजनों को स्पृश्य कैसे माना जा सकता है? गांधीजी को इस प्रकार के शास्त्रार्थ में कोई रस नहीं था। उन्होंने उस बात को वहीं समाप्त कर देने के भाव से कहा—"मैं शास्त्रार्थ किये बिना ही अपनी पराजय स्वीकार करता हूँ। पर हरिजनो के विषय में मेरे जो विचार हैं, वे ही मुझे सत्य लगते हैं।"

गांधीजी ने बडे सहज भाव से हार मान ली, तब उन लोगों के पास आगे कुछ कहने को शेप नही रह गया था। वे जब उठ कर जाने लगे तो गांधीजी ने कहा—"हरिजन-फण्ड में कुछ चन्दा तो देते जाइये।"

पण्डित-वर्ग उनकी बात को टाल न सका। प्रत्येक व्यक्ति ने चन्दा दिया। गांधीजी ने वह सहर्ष ग्रहण किया और अपने काम में लग गये। विवाद से बचकर काम में लगे रहने की मनोवृत्ति का यह एक ज्वलन्त उदाहरण कहा जा सकता है।

कार्य ही उत्तर है

तेरापन्थ की प्रारम्भ से ही यह पद्धति रही है कि निम्नस्तरीय आलोचनाओं तथा विरोधो का कोई उत्तर नही दिया जाना चाहिए। विरोध से विरोध का उपशमन नहीं हो सकता। उससे तो उसमें और अधिक तेजी आती है। विरोधो का असली उत्तर है—कार्य। सब प्रश्न और सब तर्क-वितर्क कार्य में आकर समाहित हो जाते हैं। आचार्यश्री इस सिद्धान्त के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। जब दूसरे आलोचना में समय विनष्ट करते रहते है, तब आचार्यश्री कोई-न-कोई कार्य निष्पादन करते रहते हैं। किसी के विरोध का उसी प्रकार के विरोध-भाव से उत्तर देने में वे अपना तनिक भी समय लगाना नही चाहते।

वम्बई में आचार्यश्री का चातुर्मास था। उस समय कुछ विरोधी लोग समाचार-पत्रों में उनके विरुद्ध धुआँधार प्रचार कर रहे थे। पत्र उनके अपने थे। प्रेरणाएँ किनकी थीं, यह कहने से अधिक जानना ही अच्छा है। कहना ही हो तो उसका साधारणीकरण यों किया जा सकता है कि वह दूसरों की भी हो सकती है और उनकी अपनी भी। सभी पत्र वैसे नहीं थे। फिर भी कुछ विशेप पत्रो में जव लगातार किसी के विरुद्ध प्रचार होता रहे, तो दूसरे पत्र भी उससे प्रभावित हुए विना नही रहते। या तो वे उसी राग में आलापने लगते है, या फिर उसकी सत्यता की गवेषणा में लगते हैं। वही के एक पत्र 'वम्वई-समाचार' के प्रतिनिधि श्री त्रिवेदी प्रतिदिन के उन विरोधी समाचारो से प्रभावित हुए और आचार्यश्री के पास आये। बातचीत करने पर उन्होने पाया कि जो विरोधी प्रचार किया जा रहा है, वह विद्वेप-प्रेरित है। उन्होने बड़े आश्चर्य के साथ आचार्यश्री से पूछा कि जब इतना विरोधी प्रचार हो रहा है, तव आप उसका उत्तर क्यो नही देते ?

आचार्यश्री ने कहा—"हम यहाँ जो काम कर रहे है, वही उसका उत्तर है। विरोध का उत्तर विरोध से देने में हमें कोई विश्वास नहीं है।" वस्तुत: आचार्यश्री अपने सारे चैतन्य को—सामर्थ्य को कार्य में खपा देना चाहते है। उसका एक कण भी वे निरर्थक बातों में अपव्यय करना नही चाहते। विरोध है और रहेगा, कार्य भी है और रहेगा, परन्तु विरोध के जीवन से कार्य का जीवन बहुत बड़ा होता है। अतः शेप में विरोध मर जायेगा और कार्य रह जायेगा। तव उनके अपराजेय चैतन्य की विजय सबकी समझ में आयेगी। उससे पूर्व किसी के आयेगी और किसी के नहीं।

(४) सर्वाङ्गीण विकास

भगीरथ प्रयत्न

संघ के सर्वाङ्गीण विकास के सम्वन्ध में आचार्यश्री ने बहुत बड़ा कार्य किया है। उनके अनुशासन में तेरापन्थ ने नई करवट ली है। युग-चेतना की गंगा को संघ में बहाने के लिए उन्होंने भगीरथ बनकर तपस्या की है। अब भी कर रहे है। उनका कार्य अवश्य ही बहुत बड़ा तथा श्रम-साध्य है, पर लाभ भी उतनी ही बड़ी मात्रा में है। जिन्होंने प्रारम्भ में उनकी इस तपस्या का मूल्य नही आंका, वे आज आंकने लगे हैं। जो आज भी नहीं आंक पाये है, वे उसे कल अवश्य आंकेंगे। आचार्यश्री के प्रयासों ने तेरापन्थ को ही नही, अपितु सारे जैन-समाज और सारे धर्म-समाज का मस्तक ऊँचा किया है।

विकास-काल

जैन धर्म भारतवर्ष का प्राचीनतम धर्म है। किसी समय में उसका प्रभाव सारे भारत में व्याप्त था, परन्तु अब वह ग्रीष्मकालीन नदी की तरह सिकुड़ता और सूखता चला जा रहा है। पता नही कौन-सा वर्षाकाल उसे फिर से वेग और पूर्णता प्रदान करेगा। इस समय तो वह

अनेक शाखाओं में विभक्त है। मुख्य शाखाएँ दो है—दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर शाखा के तीन विभाग है—सवेगी, स्थानकवासी और तेरापन्थ। इन सब में तेरापन्थ अपेक्षाकृत नया है। वि० स० २०१७ की आषाढ पूर्णिमा को इसकी आयु दो-सौ वर्ष की सम्पन्न हुई है। एक धर्म-सघ के लिए दो-सौ वर्ष कोई लम्बा समय नहीं होता। तेरापन्थ की प्रथम शती तो बहुलांश में सघर्ष-प्रधान ही रही। हर क्षेत्र में उसे प्रवल सघर्षों में से गुजरना पड़ा। प्रगति के हर कदम पर उसे बाधाओ का सामना करना पड़ा। द्वितीय शती के दो चतुर्थांशो में साधारण गति ही होती रही। उसमें कोई विलक्षणता, प्रवाह या वेग नहीं था। तृतीय चतुर्थांश में प्रविष्ट होते ही उसमें कुछ विलक्षणताएँ कुलबुलाने लगीं, प्रवाह और वेग भी दृग्गोचर होने लगे, हालांकि वे उस समय बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था में थे। अन्तिम चतुर्थांश वस्तुतः प्रगति का काल कहा जा सकता है। यह पूरा-का-पूरा काल आचार्यश्री के नेतृत्व में ही बीता है। वे उसका सर्वाङ्गीण विकास करने में जुटे हुए हैं।

व्याख्या-विकास

आचार्यश्री ने तेरापन्थ की व्याख्या में भी एक नया विकास किया है। स्वामीजी ने तेरापन्थ की व्याख्या की थी—"हे प्रभो! तेरापन्थ।" आचार्यश्री ने उसे विकसित करते हुए कहा—"हे मनुष्य! तेरापन्थ।" दोनों वाक्यो का सम्मिलित अर्थ यों किया जा सकता है कि जो प्रभु का पन्थ है, वही मनुष्य का भी पन्थ है। प्रभु को पन्थ की आवश्यकता नहीं है, वह तो मनुष्य के लिए ही उपयोगी हो सकता है। मनुष्य और प्रभु मार्ग के दो छोरो पर है। एक छोर मजिल का प्रारम्भ है, तो दूसरा उसकी पूर्णता। प्रभु पूर्ण है, मनुष्य को पूर्ण होना है, मजिल तय करने के लिए चलना है। मार्ग चलने वाले के लिए ही उपयोगी है। पहुँच जाने वाले के लिए किसी समय उपयोगी रहा हो, पर अब उसके लिए उसकी आवश्यकता नहीं है। स्वामीजी की व्याख्या में धर्म की स्थिति विश्लिष्ट हुई है और आचार्यश्री की व्याख्या में गति। स्थिति और गति, दोनो ही परस्पर सापेक्ष भाव हैं। कोरी गति या कोरी स्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आचार्यश्री ने अपने एक कविता-पद में उपर्युक्त दोनो अर्थों का समावेश इस तरह किया है :

हे प्रभो! यह तेरापन्थ,
मानव मानव का यह पंथ,
जो बने इसके पथिक,
सच्चे पथिक कहलाएँगे।

युग-धर्म के रूप में

बहुत वर्षों तक तेरापन्थ का परिचय प्राय राजस्थान से ही रहा था। उससे बाहर जाना एक विदेश-यात्रा के समान ही गिना जाता था। राजस्थान में भी कुछ निश्चित वर्ग के लोगों

तक ही इसकी परिधि सीमित रही थी। उस समय जन-साधारण में तेरापन्थ को जानने वाले व्यक्ति नगण्य ही कहे जा सकते थे। आचार्यश्री के विचारों में उसके प्रसार की योजनाएँ थीं। उनका मन्तव्य है कि निस्सीम धर्म को किन्ही सीमाओं में जकड कर रखना गलत है। वह हर व्यक्ति का है, जो करे उसीका है। उन्होने 'अमर गान' मे अपने इन विचारों को यों गूँथा है :

व्यक्ति-व्यक्ति में धर्म समाया,
जाति-पाँति का भेद मिटाया,
निर्धन धनिक न अन्तर पाया,
जिसने धारा, जन्म सुधारा।

आचार्यश्री ने केवल यह कहा ही नही, किया भी है। वे ग्रामीण किसानो से लेकर शहरी व्यापारियों में और हरिजनो से लेकर राष्ट्र के कर्णधारों तक में धर्म के संस्कार भरने का काम करते रहे हैं। उनकी दृष्टि में धर्म आत्म-शुद्धि का साधन है। अहिंसा, सत्य आदि उसके भेद हैं। यही तेरापन्थ है।

आचार्य भिक्षु ने धर्म का जो सूक्ष्मतापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया तथा हिंसा और अहिंसा की जिन सीमा-रेखाओं को निर्भीकता और स्पष्टता से प्रस्तुत किया, उसका महत्त्व उस युग में उतना नहीं आंका जा सका, जितना कि आज आंका जा रहा है। स्वामीजी के वे विवेचित तथ्य आचार्यश्री की भाषा पाकर युग-धर्म के रूप में परिणत हो रहे है। हिंसा और अहिंसा की सूक्ष्मतापूर्ण विवेचना से प्रभावित होकर भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री बी० पी० सिन्हा ने कहा—"उनका (आचार्य भिक्षु का) यह मन्तव्य मुझे बहुत ही अच्छा लगा कि हिंसा में यदि धर्म हो तो जल-मन्थन से घृत निकल आये। वे व्यापक अहिंसा के उपासक थे। उन्होने उपासना में और सिद्धान्त में अहिंसा को कही खण्डित नही होने दिया। बहुत बार लोग अहिंसा को तोड़-मरोड कर परिस्थितियो के साथ उसकी संगति बिठाते है, पर यह ठीक नहीं। अहिंसा एक शाश्वत सिद्धान्त और आदर्श है। यदि हम उस तक नही पहुँच पा रहे है तो हमें अपनी दुर्बलता को समझना चाहिए। हिंसा और अहिंसा का कोई तादात्म्य नही हो सकता।" आचार्य भिक्षु का यह कथन बहुत यथार्थ है—"पूर्व और पश्चिम की ओर जाने वाले दो मार्गों की तरह हिंसा और अहिंसा कभी मिल नही सकती।"[1]

उत्तर का स्तर

तेरापन्थ के मन्तव्यो को लेकर प्रारम्भ से ही काफी ऊहापोह रहा है। उनकी गहराई को बहुत छिछलेपन से लिया गया, अत: बहुधा उनका परिहास किया जाता रहा है। जैन के महान् सिद्धान्त 'स्याद्वाद' को शंकराचार्य और धर्मकीर्ति जैसे उद्भट विद्वानों ने जिस प्रकार अपने व्यंगो का विषय बनाया और कहा—"स्याद्वाद के सिद्धान्त को मान लिया जाए तो

१—जैन भारती २४ जुलाई १९६०

यह सिद्ध होगा कि 'ऊँट ऊँट भी है और दही भी' परन्तु भोजन के समय दही खाने की इच्छा होती है तब क्या कोई ऊँट को दही मानकर खाने लगता है ?" ऐसी ही कुछ बिना सिर-पैर की उल्टी-सीधी तर्कों के आधार पर तेरापन्थ के मन्तव्यों पर भी व्यंग किये जाते रहे हैं।

विरोधियों को तेरापन्थ के विरुद्ध प्रचार करने का अवसर तो अबाध गति से मिलता रहा है, क्योंकि किसी भी प्रकार के विरोध का उत्तर देने की परम्परा तेरापन्थ में नहीं रही। फलस्वरूप तेरापन्थ के मन्तव्यों को विकृत रूप से प्रस्तुत करने वाला साहित्य जनता और विद्वानों तक प्रचुर मात्रा में पहुँचता रहा, परन्तु उनके गलत तर्कों का समाधान करने वाला साहित्य बिल्कुल नहीं पहुँच पाया। इस वास्तविकता से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि उत्तर देने की आवश्यकता न होने के कारण ऐसा कोई समाधान-कारक साहित्य लिखा भी नहीं गया। फल यह हुआ कि उन मन्तव्यों के प्रति धारणा बनाने का साधन विरोधी-साहित्य ही बनता रहा। यह स्थिति आचार्यश्री जैसे क्रान्तदर्शी मनीषी कैसे सहन कर सकते थे ? उनके विचारों में मन्थन होने लगा कि विरोध का उत्तर दिये बिना किसी को सत्य का कैसे पता लग पायेगा ? आलोचना को सर्वथा उपेक्षा की दृष्टि से देखना क्या उचित है ? इस विचार-मन्थन में से जो नवनीत के रूप में निर्णय उभरा, वह यह था कि उच्चस्तरीय आलोचनाओं का उसी स्तर पर उत्तर देना चाहिए। उससे विवाद बढ़ने के बजाय तत्त्व बोध होने की ही अधिक सम्भावना है। इस निर्णय के पश्चात् उन अनेक आलोचनाओं के उत्तर दिये जाने लगे, जो कि द्वेष-मूलक न होकर तत्त्व-चिंता-मूलक होती थीं। उसका जो फल आया, उससे यही अनुभव किया गया कि वह सर्वथा लाभप्रद चरणन्यास था।

निरूपण-शैली का विकास

आचार्यश्री ने तेरापन्थ के मन्तव्यों को नवीन निरूपण-शैली के द्वारा विद्वज्जन-भोग्य बनाने का प्रयास किया। उन्होंने साधु-समाज को एतद्-विषयक साहित्य लिखने की प्रेरणा और दिशा दी। साहित्य के माध्यम से जब उन मन्तव्यों की दार्शनिक पृष्ठभूमि जनता तक पहुँची तो उसका स्वागत हुआ। फलत आलोचनाओं का स्तर ऊँचा उठा।

निरूपण-शैली की नवीनता ने जहाँ अनेक व्यक्तियों को तत्त्वलाभ दिया, वहाँ कुछ व्यक्ति उस दृष्टि-कोण को यथार्थता से नहीं आंक सके। उन्होंने आचार्यश्री पर यह आरोप लगाया कि वे आचार्यश्री भिक्षु के विचारों को बदल कर जनता के सामने रख रहे हैं। सिद्धान्तों का यथावत् प्रतिपादन करने में उन्हें भय लगने लगा है। परन्तु ये सब निर्मूल बातें है। ऐसे अनेक अवसर आये हैं, जहाँ आचार्य श्री ने विद्वत्-सभाओं में तेरापन्थ के मन्तव्यों का बड़ी स्पष्टता के साथ निरूपण किया है। वे यह मानते हैं कि तत्त्व को किसीके भी सामने यथार्थ रूप में ही निरूपित करना चाहिए, उसे छिपाना बहुत बडी कायरता है। परन्तु वे यह भी मानते हैं कि तत्त्व-निरूपण में जितनी निर्भीकता की आवश्यकता है, उससे कहीं अधिक विवेक की आवश्यकता है।

संस्कृत साधना

जैनाचार्य भाषा के विषय में बड़े उदार रहे है। वे जब जिस स्थान पर रहे, तब वहीं की भाषा को उन्होंने अपनी भाषा बनाया और उसके साहित्य-भण्डार को भरा। जनता तक पहुँचने तथा उन तक अपने विचार पहुँचाने का इससे अधिक और कोई उत्तम प्रकार नहीं हो सकता। उन्होंने भारत के प्राय हर प्रान्त के साहित्यार्चन में अपना योग-दान दिया है। अर्ध-मागधी, अपभ्रंश, गुजराती, महाराष्ट्री, तेलगू, तमिल, कन्नड़ आदि भाषाओं में तो उन्होने इतना लिखा है कि ये भाषाएँ जैनाचार्यों के उपकार से ऋण-मुक्त नहीं हो सकतीं। क्षेत्रीय भाषा में तो उन्होंने लिखा ही, परन्तु जब संस्कृत का प्रभाव बढा तब उसमें भी वे पीछे नहीं रहे। प्रायः हर विषय पर उन्होने अधिकारी ग्रन्थ लिखे, वह एक प्रवाह था। खूब बहा, बहता रहा, पर पीछे धीरे-धीरे मन्द होने लगा। कई सम्प्रदायों में तो उसके रुकने की-सी स्थिति आ गई। प्रान्तीय भाषाओ का पल्लवन अवश्य सुचारु रूप से होता रहा।

तेरापन्थ का प्रवर्तन ऐसे समय में हुआ, जबकि सस्कृत का कोई वातावरण नहीं था। आगमो का अध्ययन खूब चलता था, पर सस्कृत के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा एक प्रकार से विच्छिन्न थी। इसीलिए तेरापन्थ की प्रथम शती केवल राजस्थानी साहित्य को ही माध्यम बनाकर चलती रही। यह उचित भी था, क्योंकि स्वामीजी का विहार-क्षेत्र राजस्थान था। यहाँ की जनता को प्रतिबोध देना उनका लक्ष्य था। दूसरी भाषा यहाँ इतनी सफलता नहीं पा सकती थी।

लगभग सौ वर्ष पश्चात् जयाचार्य ने तेरापन्थ में सस्कृत का बीज-वपन किया। एक संस्कृत-विद्यार्थी को उन्होंने अपना मार्ग-दर्शक बनाया। ब्राह्मण विद्वान् जैनों को विद्या देना नही चाहते थे। उनकी दृष्टि में वह सांप को दूध पिलाने जैसा था। उनके शिष्य श्रीमघवागणी ने उस अध्ययन-परम्परा को जरा आगे बढाया, परन्तु वह पनप नही सकी और उनके साथ ही विलीन हो गई।

आचार्यश्री कालूगणी ने उस क्रम को पुनरुज्जीवित किया। उनके युग में अनेक साधु सस्कृत-व्याकरण के पारंगत विद्वान् बने। उन्हीं के युग में मुनिश्री चौथमलजी द्वारा महा व्याकरण 'भिक्षु शब्दानुशासन' का निर्माण हुआ। उसकी बृहद्वृत्ति प० रघुनन्दनजी ने लिखी। धीरे-धीरे उसके अन्य अंगोंपांग भी बना लिए गये। इस प्रकार व्याकरण की दृष्टि से आत्म-निर्भर तो अवश्य बन गये, पर विषय-विस्तार नहीं हो सका। साहित्य-निर्माण की शक्ति कुछ स्तोत्र बनाने तक ही सीमित रही।

आचार्यश्री तुलसी के मुनि-जीवन के ग्यारह वर्ष व्याकरण ज्ञान की गलियो में घूमते ही बीते थे। आज जो कुछ उनके पास है, वह तो सब बाद का ही अर्जन है। यह अवश्य है कि क्रमिक विकास चालू था। आचार्यश्री ने अपने विद्यार्थी-काल में दर्शन-शास्त्र के अध्ययन का बीज-वपन कर दिया था, पर वह पल्लवित तो आचार्य बनने के पश्चात् ही हो सका।

आचार्यश्री के पास पढने वाले हम विद्यार्थी मुमुक्षुओ को व्याकरण-अध्ययन-सम्बन्धी असुविधाओ का विशेष सामना नहीं करना पडा। उसमें आत्म-निर्भरता तो आ ही गई थी, साथ ही क्रम-निर्धारण भी हो गया था। परन्तु हम लोगों को दर्शन के जगल में बिलकुल बिना मार्ग के चलना पडा था। सयोग ही कहना चाहिये कि उसमें भटकते-भटकते जब सहज ही बाहर आये तो अपने को मजिल के पास ही पाया। हम लोगो के बाद के विद्यार्थियो को अन्य अनेक असुविधाए या बाधाए भले ही देखनी पडी हों, परन्तु अध्ययन सम्बन्धी असुविधाएँ प्राय समाप्त हो गई थीं।

यह तेरापन्थ में सस्कृत-भाषा के विकास की सक्षिप्त-सी रूपरेखा है। इसकी गति को त्वरा प्रदान करने में आचार्यश्री का ही श्रेयोभाग अधिक रहा है। आपकी दीक्षा से पूर्व वह गति बहुत मन्द थी। दीक्षा के पश्चात् कुछ त्वरा आई। उसमें आपका प्रयास भी साथ था। आचार्य बनने के पश्चात् उसमें पूर्ण त्वरा भरने का श्रेय तो पूर्णत आपको ही दिया जा सकता है। आपने अपने बुद्धि-कौशल से न केवल अपने शिष्य-वर्ग को सस्कृत भाषा का ही अधिकारी विद्वान् बनाया है, अपितु उसको प्रत्येक क्षेत्र का अधिकारी विद्वान् बनाने में प्रयत्न चालू रखा है। इससे दर्शन तथा साहित्य विषयक निर्माण को बहुत प्रोत्साहन मिला। स्वय आचार्यश्री ने तथा उनके शिष्य-वर्ग ने अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण कर सस्कृत-वाङ्मय की अर्चना की है और कर रहे हैं।

हिन्दी मे प्रवेश

भारत गणतन्त्र की राजभाषा हिन्दी स्वीकृत की गई है। इससे इस भाषा के महत्त्व में किसीको आशका नहीं हो सकती। स्वतन्त्रता से पूर्व भी भारत में हिन्दी का बहुत महत्त्व रहा है। यह भाषा सारे राष्ट्र को एक कडी मे जोडने वाली रही है। विदेशी सरकार ने यद्यपि इसके विकास में अनेक बाधाएं उत्पन्न कर दीं, जो कि अब तक भी बाधक बनी हुई हैं, फिर भी उसका अपना सामर्थ्य इतना है कि वह पराजित नही हो सकती। हिन्दी का अपना साहित्य है, अपना इतिहास है। उसका बहुत लम्बा-चौडा विस्तार है। पर तेरापन्थ में हिन्दी-भाषा का प्रवेश कोई अधिक पुरानी घटना नही है।

तेरापन्थ का विहार-क्षेत्र इतने वर्षों तक मुख्यत: राजस्थान ही रहता रहा है। पहले यहाँ प्राय· देशी रियासतों का ही बोलबाला था। भाषा के सबन्ध में वहाँ के लोगों की अपनी-अपनी अच्छी-बुरी अनेक धारणाएं थी। वहाँ प्राय सर्वत्र राजस्थानी (मारवाडी) भाषा का ही प्रचलन था। अत· हिन्दी बोलना एक अह का सूचक समझा जाता था।

एक बार सुजानगढ में हिन्दी भाषा के विषय में कोई प्रकरण चल पडा। शुभकरणजी दसाणी भी वहीं थे। उन्होंने आचार्यश्री से पूछा—"सन्तों में क्या कोई हिन्दी भाषा में निबन्धादि लिख सकते है ?" आचार्यश्री ने हम तीनो सहपाठियो (मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री नगराजजी और मुनि बुद्धमल्ल) की ओर देखकर कहा—"क्या उत्तर देते हो ?" हम तीनों ने जब

उत्तर में स्वीकृति-मूलक सिर हिलाया तो आचार्यश्री को आश्चर्य ही हुआ। शुभकरणजी ने वहाँ यह बात खोलने के लिए ही चलाई थी, अन्यथा उन्हें पता था कि हम लिखते है। वस्तुतः हम तीनो उन दिनों हिन्दी में कुछ-न-कुछ लिखते रहते थे, पर वह सब गुप्त ही था। उस दिन की उस स्वीकृति ने ही उस रहस्य को प्रकट किया। आचार्यश्री से कुछ प्रेरणा-मूलक विचार पाकर हमें भी सुखद आश्चर्य हुआ। उसी दिन से वह लेखन-कार्य प्रच्छन्नता से हटकर प्रकट रूप में आ गया। हम लोगो ने कोई हिन्दी की अलग शिक्षा ग्रहण नहीं की थी। सीधे संस्कृत से ही उसमें आये थे, परन्तु हिन्दी की पुस्तकें पढते रहने के कारण वह अपने आप ही हृदयगम हो गई थी।

धीरे-धीरे अनेक साधु हिन्दी के अच्छे विद्वान् तथा लेखक बन गये। अनेक स्वतन्त्र ग्रथों का प्रणयन हिन्दी में किया गया। स्वय आचार्य श्री ने हिन्दी में अनेक रचनाए की है। तेरापन्थ में हिन्दी को बडी त्वरता से अपनाया गया और विकसित किया गया। जैनागमो के हिन्दी अनुवाद की घोषणा भी आचार्यश्री कर चुके है। कार्य बडे वेग से आगे बढ रहा है। अनेक साधु अनुवाद के कार्य में लगे हुए है।

भाषण-शक्ति का विकास

वि० स० १९९४ में आचार्यश्री अपना प्रथम चातुर्मास बीकानेर करने के पश्चात् शीतकाल में भीनासर पधारे। उन दिनों हम लोग स्तोत्र-रचना कर रहे थे। पडित रघुनन्दनजी वहाँ आये हुए थे। हमने उनको अपने-अपने श्लोक सुनाये। उन्होंने सायकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् आचार्यश्री के सम्मुख स्तोत्र रचना की बात रख दी। आचार्यश्री ने हम सब से श्लोक सुने और प्रोत्साहन दिया। साथ ही एक दूसरी दिशा की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा—"मैंने अनुभव किया है कि अब तक संस्कृत पठन के पश्चात् श्लोक-रचना की ओर तो सन्तों की सहज प्रवृत्ति होती रही है, पर भाषण-शक्ति के विकास की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। तुम लोग इस तरफ भी अपनी शक्ति लगाओ।"

हम सबको आचार्यश्री के इस दिशा-निर्देश से बड़ी प्रेरणा मिली। बात आगे बढी अभ्यास-वृद्धि के मार्गों का निश्चय किया गया। पडितजी भी उस विचार-विमर्श में सहायक थे। समय-समय पर वाद-विवाद-प्रतियोगिता तथा भाषण-प्रतियोगिता करते रहने का सुझाव आया। संस्कृतज्ञ संतो को बुलाकर आचार्यश्री ने प्रतियोगिता में भाग लेने की प्रेरणा दी और अगले दिन से उसे प्रारम्भ करने की घोषणा की। योजना-पूर्वक भाषण-पद्धति को विकसित करने का वह प्रथम प्रयास था। उससे पूर्व कोई अपनी प्रेरणा से अभ्यास करता तो कर लेता, पर उसमे बोलने की झिझक नही मिटती। सामुदायिक रूप से सबके सम्मुख भाषण करने मे जो अभ्यास होता है, उसकी अपनी विशेषता ही अलग होती है।

शीतकाल का समय था। बाहर से साधु-वर्ग आया हुआ था। सस्कृत भाषण का नवीन कार्य प्रारम्भ होने जा रहा था। सभी की आंखों से उल्लास झांक रहा था। किसी के मन में बोलने की उत्सुकता थी, तो किसी के मन में सुनने की। आचार्यश्री ने समवयस्कता और समयोग्यता के आधार पर दो-दो व्यक्तियों के अनेक ग्रुप बना दिये और उन्हें एक-एक विषय दे दिया। इस क्रम से वह प्रथम वाद-विवाद-प्रतियोगिता प्रारम्भ हुई। आचार्यश्री को सतो के सामर्थ्य को तौलने का अवसर तो प्राय मिलता ही रहता है, पर उससे जन-साधारण को भी सबके सामर्थ्य से परिचित होने का अवसर मिला।

भाषण-शक्ति के विकास के लिए वह प्रकार अत्यत उपयोगी सिद्ध हुआ। उससे विद्यार्थि-वर्ग में आत्म-विश्वास का जागरण हुआ। उसके पश्चात् हम लोग स्वत: अभ्यास में भी अधिक तीव्रता से प्रवृत्त हुए। प्रभात-काल में ग्राम-बाहर जाते, वहाँ अकेले ही खडे-खडे वक्तव्य दिया करते। समय-समय पर आचार्यश्री के समक्ष प्रतियोगिताएँ होती रहती। उससे हमारी गति में अधिक त्वरा आती रहती।

शीतकाल में संस्कृतज्ञ साधुओ की जितनी सख्या होती, उतनी बाद में नहीं रह सकती थी। अत बडे पैमाने पर ऐसी प्रतियोगिताएँ प्राय शीतकाल में ही हुआ करतीं। कई बार ऐसी प्रतियोगिताएँ अनेक दिनो तक चलती रहती। एक बार छापर में वाद-विवाद-प्रतियोगिता हुई थी तथा एक बार आडसर में भाषण-प्रतियोगिता। वे दोनों ही काफी लम्बे समय तक चलती रही। धीरे-धीरे वक्तव्यकला मे अनेक नवोन्मेष होते रहे। अनेक व्यक्तियों ने धारा-प्रवाह भाषण देने की योग्यता प्राप्त की। आडसर मे प्रारम्भ हुई भाषण-प्रतियोगिता में मुनिश्री नथमलजी पुरस्कारभाग् रहे।

एक बार आचार्यश्री सरसा में थे। सायकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् उन्होंने सतो को बुलाया और सस्कृत-भाषण के लिए कहा। यह घोषणा भी की कि 'त्रिवेणी' (मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री नगराजजी तथा मुनि बुद्धमलजी) के अतिरिक्त अन्य कोई साधु यदि भाषण में कोई विशेष योग्यता दिखाएगा, तो उसे पुरस्कार दिया जायेगा। अनेक सतो के भाषण हुए। उसमें मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' तथा मुनि बच्छराजजी ने यह उद्घोषित पुरस्कार प्राप्त किया। वे दोनों ही एकाक्षर-प्रधान सस्कृत बोले थे।

सस्कृत के समान ही हिन्दी में भी भाषण-कला के विकास की आवश्यकता थी, अत· कभी-कभी हिन्दी-भाषणो का कार्यक्रम भी रखा जाता रहा है। कभी-कभी विचार-गोष्ठियों का आयोजन किया जाता रहा है। उसमें किसी एक विद्वान् साधु का साहित्य; दर्शन आदि किसी भी निर्णीत विषय पर वक्तव्य रखा जाता है और भाषण के पश्चात् उसी विषय पर प्रश्नोत्तर चलते हैं। एक बार स० २००८ के मर्यादा-महोत्सव पर उस वर्ष की विचारगोष्ठियों के भाषण तथा प्रश्नोत्तर 'विचारोदय' नाम से हस्तलिखित पुस्तक के रूप में सकलित भी किये गये थे। वक्तव्य-कला के विकासार्थ इस प्रकार के अनेक उपक्रम होते रहे हैं। हर नवीन

उपक्रम एक नवीन शक्ति का वरदान लेकर आता रहा है और आचार्यश्री की प्रेरणाओं के बल पर संघ ने हर बार उसे प्राप्त किया है।

कहानियाँ और निबंध

वक्तृत्व-कला के साथ-साथ लेखन-कला की वृद्धि करना भी आवश्यक था। आचार्यश्री का चिन्तन हर क्षेत्र में विकास करने के संकल्प को लेकर चल रहा था। हम सब उस चिन्तन के प्रयोग-क्षेत्र बने हुए थे। आचार्यश्री ने हम सबको मार्ग-दर्शन देते हुए कहा—"तुम लोगों को प्रतिमास संस्कृत में एक कहानी लिखनी चाहिए।" इसके लिए प्रत्येक मास के शुक्ल पक्ष का छट्ठा दिन निश्चित कर दिया गया। इस बार कौन-सी कहानी लिखनी है, यह उस दिन बता दिया जाता और हम प्रायः चार दिन के अन्दर-अन्दर लिखकर वह आचार्यश्री को भेंट कर देते। अनेक महीनों तक यह क्रम चलता रहा। इससे हमारा अभ्यास बढ़ा, चिन्तन बढ़ा और शब्द-प्रयोग का सामर्थ्य बढ़ा।

कथा लिखने का सामर्थ्य हो जाने पर हमारे लिए प्रतिमास एक निबंध लिखना अनिवार्य कर दिया गया। यह क्रम भी अनेक महीनों तक चलता रहा। कई बार निबंध-प्रतियोगिताएँ भी की गईं। अशुद्धियाँ निकालने के लिए पहले तो हम एक दूसरे की कथाओं तथा निबंधों का निरीक्षण करते, पर बाद में कई बार गोष्ठी के रूप में सब सम्मिलित बैठकर बारी-बारी से अपना निबंध पढ़कर सुनाते और एक दूसरे की अशुद्धियाँ निकालते। संस्कृत भाषा के अभ्यास में यह क्रम हमारे लिए बहुत ही परिणामकारी सिद्ध हुआ।

समस्या-पूर्ति

समस्या-पूर्ति का क्रम आचार्यश्री कालूगणी के युग में ही चालू हो चुका था। अनेक संतों ने कल्याण-मन्दिर तथा भक्तामर स्तोत्रों के विभिन्न पदों को लेकर समस्या-पूर्ति की थी। स्वयं आचार्यश्री ने कालूगणी की स्तुति-रूप में कल्याण-मन्दिर की समस्या-पूर्ति की थी। हम लोगों के लिए आचार्यश्री ने इस क्रम को पुनरुज्जीवित किया। परन्तु वह उसी रूप में न होकर अन्य रूप में था। किसी काव्य आदि में से लेकर तथा नवीन बनाकर कुछ पद दिये जाते और एक निश्चित अवधि में उनकी पूर्ति करवाई जाती। शीतकाल में बाहर से भी मुनिजन आ जाते, तब यह कार्यक्रम रखा जाता। फिर वे श्लोक सभा में सुनाये जाते, बड़ा उत्साह रहा करता।

इस प्रकार संस्कृत में भाषण, लेखन और कविता-निर्माण आदि अनेक प्रवृत्तियाँ चलती रहती थीं। अनेक बार ऐसे सप्ताह मनाये जाते, जिनमें यह प्रतिज्ञा रहती कि संस्कृतज्ञों के साथ साधारणतया संस्कृत में ही बोला जाये। उस समय का सारा वातावरण संस्कृतमय ही रहा करता था।

जयज्योति:

स २००५ के फाल्गुन में जय-ज्योति नामक हस्तलिखित मासिक पत्रिका निकाली गई। इसका नामकरण जयाचार्य की स्मृति में किया गया। इसमें सस्कृत और हिन्दी, दोनों ही भाषाओं के लेख आदि निकलते थे। इसका सम्पादन मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' किया करते थे। इसके अतिरिक्त कुछ समय तक 'प्रयास' नामक पत्र भी निकाला गया। वह प्राय: नवीन विद्यार्थियों की उपयोगिता की दृष्टि से निकलता था।

एकान्हिक शतक

पडित रघुनन्दनजी शर्मा जब पहले-पहल आचार्यश्री कालूगणी के सम्पर्क मे आये, तब उन्हें जैन-साधुओं का आचार-व्यवहार बतलाया गया था। जो कुछ उन्होने वहाँ सुना, उसे घर जाकर कुछ ही घटों में सस्कृत के सौ श्लोको में आबद्ध कर दिया। उनकी वह कृति 'साधु-शतक' के नाम से प्रसिद्ध है। हम लोगो के विचारो में वह शतक घूमने लगा। हम भी एक दिन में शतक बनाने की सोचने लगे। पाखें खुलते ही पखी उडने को आतुर हो जाता है, वही स्थिति हमारी कल्पनाओ की थी।

स० २००० के फाल्गुन में आचार्य श्री भीनासर में थे। वहाँ मुनिश्री नथमलजी और मुनिश्री नगराजजी ने एकान्हिक शतक बनाये। मैं आचार्यश्री कालूगणी के दिवगत होने की मूलतिथि के दिन ही उनकी स्तुति में शतक बनाना चाहता था, अत. भाद्रव शुक्ला षष्ठी तक के लिए मुझे रुकना पडा। वह तिथि आई, तब मैंने भी एकान्हिक शतक बनाया। आचार्यश्री ने हम सबको पुरस्कृत किया। कालान्तर में और भी अनेक सतों ने शतक लिखे।

हमसे अगली पीढ़ी के विद्यार्थियो ने उस कार्य को और भी बढाया। मुनिश्री महेन्द्र-कुमारजी 'प्रथम' ने एक दिन में पचशती (पाच-सौ-श्लोक) की रचना की। कई वर्ष पश्चात् मुनि राकेशकुमारजी ने एक हजार श्लोक बनाये और मुनि गुलाबचन्दजी ने ग्यारह-सौ।

आशु कविता

आशुकविता का अर्थ होता है शीघ्रता से कविता करना। यह तभी हो सकता है जबकि व्यक्ति का सबधित भाषा पर पूर्ण अधिकार हो, कल्पना-शक्ति तीव्र हो और विषयानुसार शब्द-योजना का चातुर्य हो। किसी भी भाषा में आशुकविता कर पाना सहज नहीं होता, सस्कृत में तो वह और भी कठिन हो जाता है। तत्काल प्रदत्त विषय या समस्या पर उसी समय पद्य-बद्ध बोलने की क्षमता प्राप्त करने वाले को मानसिक एकाग्रता की बहुत बडी आवश्यकता होती है। उसके मस्तिष्क को एक साथ अनेक बातों पर ध्यान रखकर उन सबमें सामजस्य बिठाना पडता है। प्रतिपाद्य को क्रमश आगे बढाते जाना, तदनुकूल शब्दों का चयन करते जाना, छदो भग न होने देना और व्याकरण की दृष्टि से कोई अशुद्ध प्रयोग न होने देना आदि ऐसी अनेक गुत्थियाँ हैं, जिनको एक साथ ही सुलझाते हुए चलना पडता है। जो एक साथ इतना सब कुछ नही कर सकता, वह आशुकविता भी नही कर सकता।

सं० २००१ का मर्यादा-महोत्सव सुजानगढ में था। वहाँ मैंने (मुनि बुधमल्ल) अपने आशुकविता के अभ्यास को आचार्यश्री के चरणो में निवेदित किया। आशुकविता के क्षेत्र में वह सर्वप्रथम पदन्यास था। उसके पश्चात् सं० २००४ के मार्गशीर्ष महीने मे राजलदेसर में मुनिश्री नथमलजी और मैंने जनता के सम्मुख आशुकविता की। मुनिश्री नगराजजी तृतीय और मुनि महेन्द्रकुमारजी चतुर्थ आशुकवि हुए। उनके पश्चात् मुनि दुलीचन्दजी (सादुलपुर) मुनि मीठालालजी, मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' आदि अनेक संतों ने आशुकविता का अभ्यास किया। इस क्षेत्र में भी पंडित रघुनन्दनजी का आशुकवित्व ही प्रेरणा का सूत्र बना। आचार्यश्री के शुभ आशीर्वादों और प्रेरणाओं ने इस क्षेत्र में मुनिजनो को जो सफलता प्रदान की है, वह विद्वत्-समाज मे संघ के गौरव को बहुत ऊ चा करने वाली सिद्ध हुई है।

अवधान

अवधान-विद्या स्मरण-शक्ति और मन की एकाग्रता का एक चामत्कारिक रूप है। जैनों में यह विद्या दीर्घकाल से प्रचलित रही है। नन्द के महामन्त्री शकडाल की सातों पुत्रियों की चामत्कारिक स्मरणशक्ति का वर्णन ग्रन्थों में मिलता है। उपाध्याय यशोविजयजी सहस्रावधानी थे। श्रीमद्रायचन्द भी अवधान-विद्या में निपुण थे। इस प्रकार के अनेक व्यक्तियों के नाम तो प्राय बहुत समय से सुनते आये थे, परन्तु उसका प्रत्यक्ष रूप स० १९९६ बीदासर में देखने को मिला। गुजराती भाई धीरजलाल टोकरसी शाह वहाँ आचार्यश्री के दर्शन करने आये। वे शतावधानी थे। उन्होंने आचार्यश्री के सामने अवधान प्रस्तुत किये। आचार्यश्री उनकी इस शक्ति से प्रभावित हुए। तेरापन्थ-सघ मे भी इस विद्या का प्रवेश हो, ऐसा उनके मन में सकल्प हुआ। कालान्तर में मुनिश्री धनराजजी (सरसा) का चातुर्मास बम्बई में हुआ। वहाँ धीरजलाल भाई ने उनको वह विद्या सिखाई। उन्होने वहाँ विधिवत् सौ अवधानों का प्रयोग कर इस क्षेत्र मे पहल की। आचार्यश्री का संकल्प मूर्त बन गया।

मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने अवधान-विद्या को भारत-विश्रुत ही नही, परन्तु उससे भी अधिक प्रसिद्ध कर दिया। दिल्ली मे किये गये उनके प्रयोग अत्यन्त प्रभावक रहे। पत्रों मे उनकी बहुत चर्चाएँ हुईं। स्वयं राष्ट्रपति इस विषय में जिज्ञासु हुए और राष्ट्रपति-भवन में यह प्रयोग करने के लिए उन्हें आमन्त्रित किया गया। राष्ट्रपति-भवन की ओर से ही वह कार्यक्रम रखा गया था। राजधानी के अनेकानेक उच्चतम व्यक्तियो को आमन्त्रित किया गया। राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, उपराष्ट्रपति डा० एस० राधाकृष्णन्, प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू आदि उसमें प्रश्नकर्त्ता के रूप मे उपस्थित थे। अवधानकार ने आसन जमाया और प्रश्न सुनने के लिए बैठ गये। निर्धारित प्रश्नो की समाप्ति के पश्चात् जब उन्होने एक-से-एक क्लिष्ट उन सभी प्रश्नो को यथावत् दुहरा दिया और उनका उत्तर भी दे दिया तो उपस्थित जन आश्चर्यचकित रह गये। एक अन्य समारोह में गृहमन्त्री श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने तो यहाँ तक

कहा था कि यह तो कोई दैवी चमत्कार ही हो सकता है। मुनिश्री नगराजजी ने उस विषय को स्पष्ट करते हुए उन्हें बतलाया कि दैवी चमत्कार नाम की इसमें कोई वस्तु नही है। यह केवल साधना और एकाग्रता का ही चमत्कार है।

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी के प्रयोगों और उस विषय में हुई हलचलो ने अवधान की ओर सबका ध्यान आकृष्ट कर दिया। अनेक मुनियो ने इसका अभ्यास किया। अनेक नवोन्मेष भी हुए। मुनि राजकरणजी ने पाँच-सौ, मुनि चम्पालालजी (सरदारशहर) और धर्मचन्दजी ने एक-हजार तथा मुनि श्रीचन्दजी ने डेढ-हजार अवधान किये।

इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में आचार्यश्री ने विकास के बीज बोये हैं। कुछ अकुरित हुए है, कुछ पुष्पित, तो कुछ फलित भी। वे प्रेरणा के अखण्ड स्रोत है। उन्होंने अपने शिष्य-वर्ग को सत्-प्रेरणाओ से अनुप्राणित कर सदैव आगे बढने का साहस प्रदान किया है। उन्होंने न केवल अपना ही, अपितु सारे सघ का सर्वाङ्गीण विकास किया है। हतोत्साह को उत्साहित करने और निराश को आशान्वित करने का उन्हे अद्वितीय कौशल प्राप्त है।

(५) अध्यापन कौशल

कार्य-भार और कार्य-वेग

अध्ययन-कार्य से अध्यापन-कार्य कही अधिक कठिन होता है। अध्ययन करने मे स्वय के लिए स्वय को खपाना होता है, जबकि अध्यापन मे पर के लिए अपने को खपाना होता है। अध्यापक को अपनी शक्ति पर भी नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है। उसमें रबड जैसे सक्षेप-विस्तार की योग्यता होनी आवश्यक है। उसे अपने ज्ञान और अपनी व्याख्या-शक्ति को हर क्षण विद्यार्थियो की योग्यता के अनुसार घटा-बढाकर प्रस्तुत करना पडता है। ऐसी और भी अगणित कठिनाइयाँ इस मार्ग मे रहा करती हैं। फिर भी किसी-किसी की उदात्त भावनाएँ इस कठिन कार्य को भी सहज बनाने तथा सहज मानकर चलने के लिए आगे आती है। आचार्यश्री उन्ही उदात्त भावनाओ वाले व्यक्ति है। उनमे क्रिया-जन्य अध्यापन-कुशलता से कही अधिक वह सस्कार-जन्य प्रतीत होती है। बहुत से लोग तो अध्यापक बनते है, पर वे अध्यापक है। बनने की बात तो तब आती है, जबकि होने की बात गौण रह जाती है।

वे तेरापन्थ के एक मात्र शास्ता हैं, अत न केवल अध्यापन का ही, अपितु सघ की व्यवस्था, सरक्षा और विकास का सारा उत्तरदायित्व भी उन्ही पर है। अपने अनुयायियो के धार्मिक सस्कारों का पल्लवन और परिष्करण उनका अपना कार्य है। इन सब कार्यों के साथ साथ वे जन-साधारण में आध्यात्मिक जागृति और नैतिक उच्चता की स्थापना करना चाहते है। अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन उनके इन्ही विचारो का मूर्तरूप है। जनता के नैतिक आधोगमन को रोकने का दुर्वह भार जब से उन्होने अपने ऊपर लिया है, तब से उनकी व्यस्तता

और भी बढ गई है। परन्तु साथ ही कार्य-सम्पादन का वेग भी बढ गया है, अतः वह व्यस्तता उन्हें अस्त-व्यस्त नहीं कर पाती। उनके कार्य-भार को उनका कार्य-वेग सम्भाले रहता है।

आत्मीयता का आकर्षण

वे अपने अनेक कार्यो का सम्यक् सम्पादन करते हुए भी कुछ समय अध्यापन के लिए निकाल लेते है। इस कार्य को वे परोपकार की दृष्टि से नहीं, किन्तु कर्तव्य की दृष्टि से करते आरहे है। जब वे स्वयं छात्र थे और निरंतर अध्ययन-रत रहा करते थे, तब भी अनेक शैक्ष साधु उनकी देख-रेख में अध्ययन किया करते थे। छात्रो पर अनुशासन करना उन्हें उस समय भी खूब आता था। पर उनका वह अनुशासन कठोर नहीं, मृदु होता था। वे अपने छात्रों को कभी विशेष उलाहना नहीं दिया करते थे। डांट-डपट करने में तो उन्हें विश्वास ही नहीं था। फिर भी शैक्ष साधुओं को वे इतना नियन्त्रण में रख लेते थे कि कोई भी कार्य उनको बिना पूछे नहीं हो पाता था। यह सब इसलिए था कि उनमें आत्मीयता की एक ऐसी आकर्षण-शक्ति थी कि उससे बाहर जाने का किसी छात्र को साहस ही नहीं होता था। उन दिनों वे अपने विद्यार्थी साधुओ के खान-पान, सोने-बैठने से लेकर छोटे-से-छोटे कार्य को भी सुव्यवस्थित रखने की चिंता रखते थे। विद्यार्थी साधु भी उन्हें केवल अपना अध्यापक ही नहीं, किन्तु सरक्षक, माता-पिता तथा सब कुछ मानते थे। शैक्ष साधुओ को कहीं इधर-उधर भटकने न देना, परस्पर बातों में समय व्यय न करने देना, एक-के-पश्चात् एक काम में उनका मन लगाये रखना, अपनी संयत-वृत्तियो के प्रत्यक्ष उदाहरण से उनकी वृत्तियों को संयतता की ओर प्रेरित करते रहना, इन सबको वे अध्यापन-कार्य का ही अंग मानते रहे है।

अपना ही काम है

अपने अध्ययन-कार्य में जैसी उनकी तत्परता थी, वैसी ही शैक्ष साधुओं के अध्यापन-कार्य में भी थी। उस कार्य को भी वे सदा अपना ही कार्य समझकर किया करते थे। दूसरों को अपनाने की और दूसरो को अपना स्वत्व सौंपने की उनमें भारी क्षमता थी। इसीलिए दूसरे भी उनको अपना मानते और निश्चिन्त-भाव से अपना स्वत्व सौंप दिया करते थे। साधु-समुदाय में विद्या का अधिक-से-अधिक पसार हो, यह आचार्यश्री कालूगणी का दृष्टिकोण था। उसी को अपना ध्येय बनाकर वे चलने लगे। मुनिश्री चम्पालालजी (उनके ससार-पक्षीय बडे भाई) कई बार उनको टोकते हुए कहते—"तू दूसरो-ही-दूसरो पर इतना समय लगाता है, अपनी भी कोई चिन्ता है तुझे ?"

इसके उत्तर में वे कहते—"दूसरे कौन ? यह भी तो अपना ही काम है।" उस समय के इस उदारता-पूर्ण उत्तर के प्रकाश में जब हम वर्तमान को देखते हैं तो लगता है कि सचमुच में वे उस समय अपना ही काम कर रहे थे। उस समय जिस प्रगति की नींव उन्होंने डाली थी, वही तो आज प्रतिफलित होकर सामने आ रही है। समस्त सघ की सामूहिक प्रगति आज की व्यक्तिगत प्रगति बन गई है।

तुलसी डरै सो ऊबरै

जिन विद्यार्थियों को उनके सान्निध्य में रहकर विद्यार्जन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उनमें से एक मैं भी हूँ। हम छात्रों में उनके प्रति जितना स्नेह था उतना ही भय भी था। वे हमारे लिए जितना कोमल रहा करते थे, उतने ही कठोर भी। उनके व्यक्तित्व के प्रति हमारी बाल-कल्पनाओं का कोई अन्त नहीं था। एक बार मैं और मेरे सहपाठी मुनिश्री नथमलजी आचार्यश्री कालूगणी की सेवा में बैठे थे। उन्होंने हमें एक दोहा कण्ठस्थ कराया :

हर डर गुरु डर गाम डर, डर करणी में सार।
'तुलसी' डरै सो ऊबरै, गाफिल खावै मार।

इसके तीसरे पद का अर्थ हमने अपनी बाल-सुलभ कल्पना के अनुसार उस समय यही समझा था कि भगवान्, गुरु, जनता और अपनी क्रिया के प्रति भय रखना आवश्यक है, उतना ही 'तुलसी' से डरना भी आवश्यक है। उस समय हमारी कल्पना में यह 'तुलसी' नाम किसी कवि का नहीं, किन्तु अपने अध्यापक का ही नाम था, जिनसे कि हम डरा करते थे। हम समझे थे कि आचार्यदेव हमें बता रहे हैं, तुलसी से डरते रहना ही तुम्हारे लिए ठीक है।

उस समय तो यह तर्क नहीं उठ सका कि उनसे भय खाना क्यों ठीक है ? पर आज उसी स्थिति का स्मरण करते हुए जब उस बाल-सुलभ अर्थ पर ध्यान देने लगता हूँ, तब मन कहता है कि वह अर्थ ठीक था। जिस विद्यार्थी में अपने अध्यापक के प्रति भय न होकर कोरा स्नेह ही होता है, वह अनुशासनहीन बन जाता है। इसी तरह जिसमें स्नेह न होकर कोरा भय ही होता है, वह श्रद्धा-हीन बन जाता है। सफलता उन दोनों के सम्मिलन में है। हम लोगों में उनके प्रति स्नेह से उद्भूत भय था। हमारे लिए उनकी कमान जैसी तनी हुई वक्रीभूत भौंहों का भय कितना सुरक्षा का हेतु था, यह उन दिनों नहीं समझते थे, उतना आज समझ रहे हैं।

उत्साह-दान

विद्यार्थियों का अध्ययन में उत्साह बनाये रखना भी अध्यापक की एक कुशलता होती है। एक शैक्ष के लिए उचित अवसर पर दिया गया उत्साह-दान जीवन-दान के समान ही मूल्यवान् होता है। अपनी अध्यापक-अवस्था में आचार्यश्री ने अनेकों में उत्साह जागृत किया तथा अनेकों के उत्साह को बढ़ाया था। मैं इसके लिए अपनी ही बाल्यावस्था का एक उदाहरण देना चाहूँगा। जब हमने 'अभिधान-चिन्तामणि कोश' (नाममाला) कण्ठस्थ करना प्रारम्भ किया, तब कुछ दिन तक दो श्लोक कण्ठस्थ करना भी भारी लगता था। मूल बात यह थी कि संस्कृत के कठिन उच्चारण और नीरस पदों ने हमको ऊबा दिया था। उन्होंने हमारी अन्यमनस्कता को तत्काल भांप लिया और आगे से प्रतिदिन आध घण्टा तक हमें अपने साथ उसके श्लोक रटाने लगे, साथ ही अर्थ बताने लगे। उसका प्रभाव यह हुआ कि हमारे लिए कठिन पड़ने वाले उच्चारण सहज हो गये, नीरसता में भी कमी लगने लगी। थोड़े दिनों

पश्चात् हम उसी कोश के छत्तीस-छत्तीस श्लोक कण्ठस्थ करने लग गये। मैं मानता हूँ कि यह उनकी कुशलता से ही सम्भव हो सका था, अन्यथा हम उस अध्ययन को कभी का छोड़ चुके होते।

जो अध्यापक अपने विद्यार्थियों की दुविधा को समझता है और उसे दूर करने का मार्ग खोजता है, वह अवश्य ही अपने शिष्यों की श्रद्धा का पात्र बनता है। उनकी प्रियता के जहाँ और अनेक कारण थे, वहाँ यह सबसे अधिक बड़ा कारण था। आज भी उनकी प्रकृति में यह बात देखी जा सकती है। विद्यार्थियों की अध्ययन-गत असुविधाओं को मिटाने में आज भी वे उतना ही रस लेते हैं। इतना अन्तर अवश्य है कि उस समय उनका कार्य-क्षेत्र कुछ ही छात्रों तक सीमित था, पर आज वह समूचे संघ में व्याप्त हो गया है।

अनुशासन-क्षमता

अनुशासन करना एक बात है और उसे कर जानना दूसरी। छात्रों पर अनुशासन करना तो कठिन है ही, पर कर जानना उससे भी कठिन। वह एक कला है, हर कोई उसे नहीं जान सकता। विद्यार्थी अवस्था से बालक होता है, स्वभाव से चुलबुला, तो प्रकृति से स्वच्छन्द। अन्य-अन्य जीवन-व्यवहारों के समान अनुशासन भी उसे सिखाना ही होता है। जो बात सीखने से आती है, उसमें बहुधा स्खलनाएं भी होती है। स्खलनाओं को असह्य मानने वाले अध्यापक छात्रों में अनुशासन के प्रति श्रद्धा नहीं, अश्रद्धा ही उत्पन्न करते हैं। अनुशासन का भाव छात्र में उत्पन्न न हो जाए, तब तक अनुशासन को अधिक उदार, सावधान और सहानुभूतियुक्त रहना आवश्यक होता है। आचार्यश्री की अध्यापन-कुशलता इसीलिए प्रसिद्ध नहीं है कि उनके पास अनेक छात्र पढ़ा करते थे, किन्तु इसलिए है कि वे अनुशासन करना जानते थे। विद्यार्थियों को कब कहना और कब सहना, उसकी सीमा उनको ज्ञात थी।

एक शिकायत, एक कथा

मैं (मुनि बुद्धमल्ल) और मुनिश्री नथमलजी छोटी अवस्था के ही थे। आपके कठोर अनुशासन की शिकायत लेकर एक बार हम दोनों पूज्य कालूगणी के पास गये। रात्रि का समय था। आचार्यदेव सोने की तैयारी में थे। हम दोनों ने पास में जाकर वंदन किया तो आचार्य देव ने पूछा—"बोलो, किसलिए आये हो?"

हमने सकुचाते-सकुचाते साहस बांधकर कहा—"तुलसीरामजी स्वामी हम पर बहुत कड़ाई करते है। हमें परस्पर बात भी नहीं करने देते।"

आचार्यश्री कालूगणी ने पूछा—"यह सब तुम्हारी पढ़ाई के लिए ही करता है या और किसी कारण से?"

हमने कहा—"करते तो पढ़ाई के लिए ही हैं।"

आचार्यदेव बोले—"तब फिर क्या शिकायत रह जाती है? इसमें तो वह चाहेगा वैसा ही करेगा। तुम्हारी कोई बात नहीं चलेगी।"

हम दोनों ही अवाक् थे। आचार्यदेव ने एक कहानी सुनाई कि राजा का पुत्र गुरुकुल में पढ़ा करता था। पढाई समाप्त होने पर आचार्य उसे राज-सभा में ले जा रहे थे। बाजार में एक दूकान से उन्होंने गेहूँ खरीदे और पोटली बांधकर राजकुमार को उठाने के लिए कहा। वह अस्वीकार तो नहीं कर सका, पर मन-ही-मन बहुत खिन्न हुआ। मार्ग में थोडी दूर जाकर पोटली उतरवा दी गई। वे राज-सभा में पहुचे। राजा ने कुमार के ज्ञान की परीक्षा ली। वह सब विषयो में उत्तीर्ण हुआ। राजा ने प्रसन्न होकर अध्यापक से पूछा—"राजकुमार का व्यवहार कैसा रहा ?"

अध्यापक—"बहुत अच्छा, बहुत विनय-युक्त।"

राजकुमार से पूछा—"आचार्यजी ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया ?"

राजकुमार—"इतने वर्ष तो बहुत अच्छा व्यवहार किया, पर आज का व्यवहार उससे भिन्न था।"

राजा—"कैसे ?"

राजकुमार ने पोटली की बात सुनाई। राजा भी उसे सुनकर बहुत खिन्न हुआ। आचार्य से कारण पूछा तो उत्तर मिला कि वह भी एक पाठ ही था। उसकी आवश्यकता अन्य छात्रों को उतनी नहीं थी, जितनी कि राजकुमार को। मैं भावी राजा को यह बतला देना चाहता था कि भार उठाने में कितना कष्ट होता है। इस बात को जान लेने पर यह अत्यन्त गरीबी में रहने वाले और परिश्रम से पेट भरने वाले अभावग्रस्तों के श्रम का मूल्य आंक सकेगा और किसी पर अन्याय नही कर सकेगा।

आचार्यदेव ने कहा—"अध्यापक तो राजकुमार से भी पोटली उठवा लेता है, तो फिर तुम्हारी शिकायत कैसे मानी जा सकती है ? उसने तो तुम्हें केवल बात करने से ही रोका है। जाओ, पढा करो और वह कहे वैसे ही किया करो।"

हम आशा लेकर गये थे और निराशा लेकर चले आये। दूसरे दिन पढ़ने के लिए गए तो वह भय सता रहा था कि हमारी बात का पता लग गया तो क्या होगा ? हम कई दिनो तक कतराते-कतराते से रहे, पर उन्होने यह कभी मालूम तक नही होने दिया कि शिकायत करने की बात का उन्हें पता है।

स्वानुशासन

दूसरों को अनुशासन सिखाने वाले को अपने पर कही अधिक अनुशासन करना होता है। छात्रों के अनेक कार्यों को बाल-विलसित मानकर सह लेना होता है। अध्यापक का अपने मन पर का अनुशासन भग होता है तो उसकी प्रतिक्रिया छात्रों पर भी होती है। इसीलिए अध्यापक की अनुशासन-क्षमता छात्रो पर पडने वाले रौब से कही अधिक, उसके द्वारा अपने आप पर किये जाने वाले सयम और नियन्त्रण से मापी जाती है।

हर पाठ

अध्यापन के कार्य में आचार्यश्री की रुचि प्रारम्भ से लेकर अब तक समान रूप से चली आई है। वे इसे बुनियादी कार्य समझते हैं। उनकी दृष्टि में अध्यापन का कार्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना कि संघ-सचालन और आन्दोलन-प्रवर्तन। वे अपने चिंतन के क्षण जिस प्रकार उन कार्यों में लगाते हैं, उसी प्रकार इसमें भी लगाते है। छोटे-से-छोटा ग्रन्थ व छोटे-से-छोटा पाठ उनकी अध्यापन-कला से बड़ा बन जाता है। वस्तुतः कोई पाठ छोटा होता ही नहीं, उसका शब्द-कलेवर छोटा होने से चाहे उसे छोटा कह दिया जाये, परन्तु सारा जीवन-व्यवहार उन्हीं छोटे-छोटे पाठों की भित्ति पर खड़ा हुआ है।

विकास का बीज-मंत्र

वे जब पढ़ाते है तो अध्यापन-रस में सराबोर होकर पढाते हैं। मूल पाठ को तो वे पूर्णतः स्पष्ट करते ही हैं, साथ ही अनेक शिक्षात्मक बातें भी इस प्रकार से जोड देते हैं कि पाठ की क्लिष्टता मधुमयता में बदल जाती है। नव-शिक्षार्थियों को शब्द-रूप और धातु-रूप पढाते समय वे जितनी प्रसन्न-मुद्रा में देखे जाते हैं, उतने ही किसी काव्य या दार्शनिक ग्रन्थ के पाठन में भी देखे जा सकते है। सामान्यतः उनकी वह प्रसन्नता ग्रंथ की साधारणता या असाधारणता को लेकर नहीं होती, अपितु इसलिए होती है कि वे किसी के विकास में सहयोग दे रहे है। वे अपने निःशेष आवश्यक कार्यों में इसको भी गिनते है और पूरी लगन के साथ करते रहते हैं। संघ के उदय-हेतु वे शिक्षा को बीज मानकर चलते हैं।

महात्मा गांधी एक बार किसी प्रौढ महिला को वर्णमाला का अभ्यास करा रहे थे। आश्रम में देश के अनेक उच्च कोटि के नेता आये हुए थे। उन्हें गांधीजी से देश की विभिन्न समस्याओं पर विमर्श करना था तथा मार्ग-दर्शन लेना था। बड़ी व्याकुलता लिए वे सब बाहर बैठे हुए अपने निर्धारित समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। अनेक विदेशी भी महात्माजी से मिलने के लिए उत्कण्ठित हो रहे थे। पर महात्माजी सदा की भांति तल्लीनता के साथ उस महिला को 'क' और 'ख' का भेद समझा रहे थे।

एक परिचित विदेशी ने झुंझलाकर गांधीजी से कहा—"बहुत लोग प्रतीक्षा में बैठे हैं। आपके भी महत्त्वपूर्ण कार्यों का चारों ओर ढेर लगा है। ऐसे समय में यह आप क्या कर रहे हैं?"

गांधीजी ने स्मित-भाव से उत्तर देते हुए कहा—"मैं सर्वोदय ला रहा हूँ।"

प्रश्नकर्त्ता इस पर और क्या कहते? चुप होकर बैठ गए। ठीक यही स्थिति आचार्यश्री की भी कही जा सकती है। विद्या को वे विकास का बीज-मंत्र मानते हैं।

कहीं मैं ही गलत न होऊँ?

दिल्ली की तृतीय यात्रा वहाँ ठहरने के दृष्टिकोण से तो पिछली दोनों यात्राओं से छोटी थी, पर व्यस्तता के दृष्टिकोण से उन दोनों से बहुत बड़ी थी। देशी और विदेशी व्यक्तियों के

आगमन का प्रवाह प्राय निरन्तर चालू रहता था। प्रतिदिन अनेक स्थानो पर भाषण के आयोजन रहते। आचार्यश्री पैदल चलकर वहाँ जाते और भाषण के पश्चात् वापस आते। थका देने वाला नैरन्तरिक परिश्रम चल रहा था। उन दिनों दिन का प्राय समस्त समय अन्यान्य कार्यों में विभक्त हो गया था। पर आचार्यश्री तो अध्यापन-व्यसनी ठहरे, दिन में समय न मिला तो पश्चिम-रात्रि में ही सही। 'शांतसुधारस' का अर्थ छात्रों को बताया जाने लगा। अर्थ के साथ-साथ शब्दो की व्युत्पत्ति, समास और कारक आदि का विश्लेषण भी चलता रहता।

एक बार आचार्यश्री ने 'शान्तसुधारस' में प्रयुक्त किसी समास के विषय में छात्रो से पूछा। उन्हें नहीं आया, तब उनसे अग्रिम श्रेणी वालों को बुलाया और उसी समास के विषय में पूछा। उन्हें भी नहीं आया, तब आचार्यश्री ने हम लोगों (मुनि नथमलजी, मुनि नगराजजी और मुनि बुद्धमल्ल) को बुलाया। हमने कुछ निवेदन किया और उसे सिद्ध करने वाला सूत्र भी कहा। आचार्यश्री के ध्यान से वह सूत्र वहाँ के लिए उपयोगी नही था। पर वे बोले—"तो कहीं मैं ही गलत न होऊ?" अपनी धारणा वाला सूत्र बतलाते हुए उन्होंने कहा—"क्या यह समास इस सूत्र से सिद्ध होने वाला नहीं है?" हम सबको अपनी त्रुटि ध्यान में आ गई और हम बोल पडे—"सचमुच में यही सूत्र समास करने वाला है।"

यद्यपि आचार्यश्री का ज्ञान बहुत परिपक्व और अस्खलित है, परन्तु वे उसका कभी अभिमान नही करते। वे हर क्षण अपने शोधन के लिए उद्यत रहते हैं। कठिनता यह है कि जहाँ शोधन की तत्परता होती है, वहाँ बहुधा उसकी आवश्यकता नहीं होती और जहाँ शोधन की तत्परता नहीं होती, बहुधा वही उसकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है।

उदार व्यवहार

शिष्यो की विकासोन्मुखता में आचार्यश्री असीम उदारता बरतते हैं। विकास के जो क्षितिज सघ के साधु-साध्वियो के लिए खुल नहीं पाये थे, उनको खोलने और सर्व-सुलभ बनाने की प्रक्रिया से उन्होने विकास में एक नया अध्याय जोडा है। शिष्यों के विकास को वे अपना विकास मानते है और उनकी श्लाघा को अपनी श्लाघा। अपनी प्रवृत्तियो से तो उन्होने इस बात को बहुधा पुष्ट किया ही है, पर अपनी काव्य-कल्पनाओं में भी इस भावना का अंकन किया है। 'कालू-यशोविलास' में वे एक जगह कहते है ·

बढ़े शिष्य नी साहिबी, जिम हिम-रितु नी रात।
तिम तिम ही गुरु नी हुवै, विश्वव्यापिनी ख्यात॥

आचार्यश्री का यह उदार व्यवहार उनके शिष्य-वर्ग को जहाँ आगे बढने का प्रोत्साहन देता है, वहाँ उनके व्यक्तित्व की उदारता का परिचय भी देता है। **'पुत्रादिच्छेत् पराजयम्'** अर्थात् पुत्र को अपने से बढ़कर योग्य देखने की इच्छा रखना प्रत्येक पिता का कर्तव्य है। आचार्यश्री इस भारतीय भावना के मूर्तरूप कहे जा सकते है।

साध्वी-समाज में शिक्षा

साधुओं का प्रशिक्षण आचार्यश्री कालूगणी ने बहुत पहले से ही प्रारम्भ कर दिया था, अतः अनेक साधु उनके जीवन-काल में ही निपुण बन चुके थे, लेकिन साध्वी-समुदाय में ऐसी स्थिति नहीं थी। कोई एक भी साध्वी इतनी निपुण नहीं थी कि उस पर साध्वियों की शिक्षा का भार छोड़ा जा सके। आचार्यश्री कालूगणी स्वयं अधिक समय नहीं दे पाते थे, फिर भी उन्होंने विद्या का बीज-वपन तो कर ही दिया था। कार्य को अधिक तीव्रता से आगे बढ़ाने की आवश्यकता थी। आचार्यश्री कालूगणी ने जब आपको भावी आचार्य के रूप में चुना, तब संघ-विकास के जिन कार्यक्रमों का आदेश-निर्देश किया, उनमें साध्वी-शिक्षा भी एक था। उसी आदेश को ध्यान में रखते हुए आपने आचार्य-पद पर आसीन होते ही इस विषय पर विशेष ध्यान दिया।

एक नवीन आचार्य के लिए अपने पद के उत्तरदायित्व की उलझनें भी बहुत होती हैं, परन्तु आप उन सबको सुलझाने के साथ ही अध्यापन-कार्य भी चलाते रहे। प्रारम्भ में कुछ साध्वियों को संस्कृत-व्याकरण 'कालुकौमुदी' पढ़ाकर इस कार्य का प्रारम्भ किया गया और क्रमशः अनेक विषयों के द्वार उनके लिए उन्मुक्त होते गए। सं० १९९३ से यह कार्य प्रारम्भ किया गया। इसमें अनेक कठिनाइयां थीं। अध्ययन निरन्तरता चाहता है, पर यह अन्य कार्यों के बाहुल्य से अन्तरित होता रहा। जब-जब आचार्यश्री अन्य कार्यों में अधिक व्यस्त होते, तब-तब अध्ययन को स्थगित करना पड़ता। फिर भी निरन्तरता की ओर विशेष सावधानी बरती गई और कार्य चलता रहा। उसी का यह फल है कि साधुओं के समान ही साध्वियाँ भी आज दर्शन-शास्त्र तक का अध्ययन करने में लगी हुई हैं।

अध्यापन की एक समस्या

साध्वी-समाज में अध्ययन की रुचि उत्पन्न कर आचार्यश्री ने जहाँ उनके मानस को जागरूक बना दिया है, वहाँ अध्यापन-विषयक एक समस्या भी खड़ी करली है। आचार्यश्री के साथ साथ विहार करने वाली साध्वियों को तो अध्ययन का सुयोग मिल जाता है, परन्तु वे संख्या में बहुत थोड़ी होती है। अधिकांश साध्वियाँ पृथक् विहार करती हैं, उनकी अध्ययन-पिपासा को शांत करने की समस्या आज भी विचारणीय ही है।

साध्वियों को विदुषी बनाने का बहुत बड़ा कार्य अभी अवशिष्ट है। इस विषय में आचार्यश्री बहुधा चिन्तन करते रहते हैं। तेरापन्थ-द्विशताब्दी के अवसर पर उन्होंने यह घोषणा भी की है कि हर प्रशिक्षणार्थी को उचित अवसर प्रदान किया जायेगा, परन्तु उक्त घोषणा को कार्यरूप में परिणत करने का कार्य अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही कहा जा सकता है। साधुओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था तो सहजतया ही की जा सकती है, पर साध्वियों के लिए वैसा कर पाना सुगम नहीं है। किसी विदुषी साध्वी की देख-रेख में प्रतिवर्ष कोई विद्याकेन्द्र स्थापित करने का विचार एक परीक्षणात्मक रूप में सामने आया है, परन्तु अभी इस समस्या

का कोई स्थायी समाधान नहीं निकल पाया है। जो सीखना चाहता है, उसकी व्यवस्था करना आचार्यश्री अपना कर्तव्य मानते हैं। इसीलिए वे इसका कोई-न-कोई समुचित समाधान निकालने के लिए समुत्सुक हैं। उनकी उत्सुकता का अर्थ है कि निकट भविष्य में यह समस्या सुलझने वाली ही है।

पाठ्यक्रम का निर्धारण

अनेक वर्षो के अध्यापन-कार्य ने अध्ययन-विषयक व्यवस्थित क्रमिकता की आवश्यकता अनुभव कराई। व्यवस्थित क्रमिकता के अभाव में साधारण बुद्धि वाले विद्यार्थियों का प्रयास निष्फल ही चला जाता है। इस वात के अनेक उदाहरण उस समय उपस्थित थे। सम्पूर्ण चन्द्रिका अथवा कालुकौमुदी कठस्थ कर लेने तथा उनकी साधनिका कर लेने पर भी कई व्यक्तियो का कोई विकास नहीं हो पाया था। इसकी जड में एक कारण यह था कि उस समय प्राय संस्कृत इसलिए पढी जाती थी कि उससे आगमों की टीकाओं का अध्ययन सुलभ हो जाता है। स्वय टीका बनाने का सामर्थ्य तथा वोलने या लिखने की योग्यता अर्जित करने का लक्ष्य सामने नहीं था। इसीलिए व्याकरण कठस्थ करने और उसकी साधनिका करने पर ही वल दिया जाता था। उसके व्यावहारिक प्रयोग की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। उस समय तक सस्कृत समझ लेना ही अध्ययन की पर्याप्तता मानी जाती थी। धीरे-धीरे उस भावना में परिवर्तन आया और कुछ छुट-पुट रचनाएँ होने लगी, पर यह सव अध्ययन के वाद की प्रक्रियाएँ थीं। अध्ययन-क्रम क्या हो, यह निर्धारण वहुत वाद में हुआ।

आचार्यश्री ने साध्वी-समाज को प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया, तव उनके विकास की गति को त्वरता प्रदान करने के उपाय सोचे जाने लगे। एक वार आचार्यश्री कोई पत्रिका देख रहे थे। उसमें किसी सस्था-विशेष का पाठ्यक्रम छपा हुआ था। उनकी ग्रहणशील वुद्धि ने तत्काल उस वात को पकडा और निश्चय किया कि अपने यहाँ भी एक पाठ्य-प्रणाली होनी चाहिए। उनके निश्चय और कार्य-परिणति में लम्बी दूरी नहीं होती। आगम कहते हैं कि देवता के मन और भाषा की पर्याप्तियां साथ ही गिनी जाती हैं। आचार्यश्री के लिए मन, भाषा और कार्य का ऐक्य माना जाय तो कोई अत्युक्ति नही मानी जायेगी। वे सोचते हैं, वतलाते हैं और कर डालते है। उनके कार्य की प्रायः यही प्रक्रिया रही है। पाठ्यक्रम के निर्धारण का विचार उठा, शिष्यो में चर्चा की गई, रुपरेखा वनाई गई और उसे लागू कर दिया गया। यह स० २००५ के आश्विन की वात है। अगले वर्ष स० २००६ के माघ में लगभग तीस व्यक्तियो ने परीक्षाए दी।

इस पाठ्यक्रम ने शिक्षा को वहुमुखी वनाने की आवश्यकता को पूरा किया और विचारो के वहुमुखी विकास का मार्ग खोला। विचारो का विकास ही जीवन का विकास होता है। जहाँ उसके लिए मार्ग अवरुद्ध होता है, वहाँ जीवन-विकास की कल्पना ही नहीं की जा

सकती। तेरापन्थ के शिक्षा-क्षेत्र में आमूलचूल परिवर्तन करने वाली इस पाठ्य-प्रणाली का नाम दिया गया—'आध्यात्मिक दिक्षा-क्रम।'

इस शिक्षा-क्रम के निर्धारण में उन विद्यार्थियों की आवश्यकता को ध्यान में रखा गया, जो कि सर्वांगपूर्ण शिक्षा पाने की ओर उन्मुख हो। इसके तीन विभाग है—योग्य, योग्यतर और योग्यतम। संघ में इस शिक्षाक्रम का सफलतापूर्वक प्रयोग चालू है। अनेक साधु-साध्वियों ने इस क्रम से परीक्षा देकर इसकी उपयोगिता को सिद्ध कर दिया।

एक दूसरी पाठ्य-प्रणाली "सैद्धान्तिक शिक्षा-क्रम" के नाम से निर्धारित की गई। इसकी आवश्यकता उन व्यक्तियों के लिए थी, जो अनेक विषयों में निष्णात बनने की क्षमता नहीं रखते हों, वे आगम-ज्ञान में अपनी पूरी शक्ति लगाकर कम-से-कम उस एक विषय में पारगत हो सकें। इन शिक्षा-क्रमों में अनेक परिवर्तन भी हुए है और सम्भवत. आगे भी होते रहेंगे। परिमार्जन के लिए यह आवश्यक भी है, परन्तु यह निश्चित है कि हर परिवर्तन पिछले की अपेक्षा अधिक उपयोगी बन सके, यह ध्यान रखा जाता है।

आचार्यश्री कालूगणी ने संघ में विद्या-विषयक जो कल्पना की थी, उसे मूर्त रूप देने का अवसर आचार्यश्री तुलसी को मिला। उन्होंने उस कार्य को इस प्रकार पूरा किया है कि आज तेरापन्थ युग-भावना को समझ सकता है और आवश्यकता होने पर उसे नया मोड देने का सामर्थ्य भी रखता है। एक अध्यापक के रूप में आचार्यश्री के जीवन का यह कोई साधारण कौशल नहीं है।

(६) महान् साहित्य-स्रष्टा

अतुलनीय विशेषता

आचार्यश्री जहाँ एक सफल आध्यात्मिक नेता, कुशल संघ-सचालक तथा अनुभवी अध्यापक है, वहाँ महान् साहित्य-स्रष्टा भी हैं। साहित्य-सर्जन की उनकी प्रक्रिया में एक अतुलनीय विशेषता पायी जाती है। साहित्यकार को बहुधा एकांत तथा शान्त वातावरण की आवश्यकता होती है, किन्तु इस प्रकृति के विपरीत वे जन-सकुल और कोलाहलपूर्ण वातावरण में बैठकर भी एकाग्र हो जाते है और साहित्य-रचना करते रहते हैं। यह स्वभाव सम्भवत. उनको इसलिए बना लेना पडा है कि एकान्त चाहने पर भी जनता उनका पीछा नही छोडती। कुछ उनके स्वभाव की मृदुता भी इसमें बाधक होती रही है। इतने पर भी साहित्य-स्रोतस्विनी अपनी अव्याहत गति से बहती ही रहती है।

विविधाङ्गी साहित्य

उनका साहित्य पद्य और गद्य, दोनों ही रूपों में है। भाषा की दृष्टि से वे राजस्थानी, हिन्दी तथा सस्कृत में लिखते है। राजस्थानी तो उनकी मातृ-भाषा है ही, किन्तु हिन्दी और

संस्कृत को भी उन्होने मातृभाषावत् ही बना लिया है। विषय की दृष्टि से उनका साहित्य काव्य, दर्शन, उपदेश, भजन तथा स्तवन आदि अगों में विभक्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त उनके धर्म-सन्देश तथा दैनन्दिन प्रवचनो के सग्रह भी स्वतन्त्र कृतियों के समान ही अपना महत्त्व रखते हैं।

अध्यात्म-प्रेरक

अध्यात्म आचार्यश्री की जीवन-शक्ति है, इसलिए उनका साहित्य भी अध्यात्म से अनुप्राणित है। उनकी भक्त्यात्मक तथा उपदेशात्मक गीतिकाएँ जन-मानस को रसाप्लुत कर देने वाली होती हैं। जब उन गीतिकाओ को वे स्वयं गाते हैं, तब जनता में एक अतिरिक्त आत्म-विभोरता उत्पन्न हो जाया करती है। उनके द्वारा रचित विभिन्न पद्यात्मक आख्यान तथा प्रबन्ध काव्य भी जनता के लिए अध्यात्म-प्रेरणा के स्रोत होते हैं।

वास्तविकता तो यह है कि वे जो कुछ लिखते हैं केवल वही साहित्य नही होता, वे जो कुछ बोलते हैं, वह भी ऋषिवाणी के रूप में स्वय-सिद्ध साहित्य बन जाता है। यही कारण है कि उनके दैनदिन प्रवचनों को अनेक व्यक्तियों ने विभिन्न रूप में संकलित किया है और वह सब साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण अग बन गया है।

आचार्य-चरितावलि

आचार्यश्री ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के जीवन-चरित्र लिखकर तेरापन्थ के इतिहास को एक महत्त्वपूर्ण देन दी है। तेरापन्थ के प्रथम पाँच आचार्यों के जीवन-चरित्र पूर्वाचार्यों द्वारा पद्यबद्ध किये जा चुके थे, परन्तु उसके पश्चात् तीन आचार्यों के जीवन-चरित्र अवशिष्ट थे। वे सम्भवत: आचार्यश्री की कुशल लेखनी की प्रतीक्षा में थे। आचार्यश्री ने उस कार्य को हाथ में लिया और अत्यन्त व्यस्तता में भी उसे सम्पन्न किया। फलस्वरूप माणक महिमा, डालिम-चरित्र और कालूयशोविलास नामक ग्रन्थों ने तेरापन्थ के पूर्वाचार्यो की चरितावलि की विच्छिन्न कड़ी को जोड़ा और उसे परिपूर्णता का रूप प्रदान किया।

प्रवेश-द्वार

एक अनुभवी अध्यापक होने के कारण उन्होंने संस्कृत के माध्यम से जैन तत्त्व तथा दर्शन का अध्ययन करने वाले छात्रों का मार्ग सुगम बनाने का काफी सफल प्रयास किया है। उनके विभिन्न सस्कृत-ग्रन्थों में से 'जैन-सिद्धान्त-दीपिका' तथा 'भिक्षु-न्याय कर्णिका' उसके लिए विशेष उल्लेखनीय हैं। ये ग्रन्थ अपने-अपने विषय में विद्यार्थियों के लिए प्रवेश-द्वार का कार्य करते हैं।

अमाप्य प्रवाह

आचार्यश्री के साहित्य का प्रवाह अनवरत रूप से प्रवहमान है। एक के पश्चात् एक रचनाएँ सामने आती जा रही हैं। उनमें भाषाओं की विभिन्नता है, विषयों की भी विभिन्नता है, किन्तु वे सब भेद वाणी-मन्दिर में चढे हुए विभिन्न रंग तथा रूप के पुष्पों के सदृश है। उनकी साहित्यिक कृतियाँ आज के लिए तो अमाप्य ही कही जा सकती हैं, क्योंकि जिस त्वरा से वे चल रहे है, उसमें उनकी इयत्ता स्थापित नही की जा सकती। उसकी अपेक्षा भी नहीं है। उनके साहित्य का अमाप्य प्रवाह अव्याहत चलता रहे—यही काम्य है।

: ५ :

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक

समय की माग

अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात जिन परिस्थितियों में हुआ, उन सबके अनुशीलन पर ऐसा लगता है जैसे कि वह समय की एक माग थी। वह ऐसा समय था, जब कि द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् क्षत-विक्षत मानवता के घावों से रक्तस्राव हो रहा था। उस महायुद्ध का सबसे अधिक भीषण अभिशाप था, अनैतिकता। हर महायुद्ध का दुष्परिणाम प्राय: यही हुआ करता है। भारत महायुद्ध के अभिशापों से मुक्त होता, उससे पूर्व ही स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ होने वाले जातीय सघर्षों ने उसे आ दबोचा। भीषण क्रूरता के साथ चारो ओर विनाश-लीला का अट्टहास सुनाई देने लगा। उसमें जनता की आध्यात्मिक और नैतिक भावनाओं का बहुत भयकरता से पतन हुआ। ज्यों-त्यों करके जब वह वातावरण शान्त हुआ, तब लोग अपनी-अपनी कठिनाइयों का हल खोजने में जुटने लगे। देश के कर्णधारो ने आर्थिक और सामाजिक उन्नयन की अनेक योजनाएँ बनायी और देश को समृद्ध बनाने का सकल्प किया। कार्य चालू हुआ और देश अपनी मजिल की ओर बढ़ने लगा।

उस समय देश में अध्यात्म-भाव और नैतिकता के ह्रास की जो एक ज्वलत समस्या थी, उस ओर प्राय न किसी जन-नेता का और न किसी अन्य व्यक्ति का ही ध्यान गया। आचार्यश्री तुलसी ही वे प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने उस कमी को महसूस किया और उस ओर सबका ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया।

आत्मा की भूख

नि:श्रेयस् को भूलकर केवल अभ्युदय में लग जाना कभी खतरे से खाली नही होता। उससे मानवीय उन्नति का क्षेत्र सीमित तो होता ही है, साथ ही अस्वाभाविक भी। मनुष्य जड नही है, अत: भौतिक उन्नति उसकी स्वय की उन्नति कैसे हो सकती है? मनुष्य की वास्तविक उन्नति तो आत्मगुणों की अभिवृद्धि से ही सम्भव है। आत्म-गुण, अर्थात् आत्मा के सहज भाव। आगम-भाषा में जिन्हें सत्य, अहिंसा आदि कहा जाता है।

मनुष्य शरीर और आत्मा का एक सम्मिलन है। न वह केवल शरीर है और न केवल आत्मा। उसके शरीर को भी भूख लगती है और आत्मा को भी। अभ्युदय शारीरिक भूख को परितृप्ति देता है और नि:श्रेयस् आत्मिक भूख को। आत्मा परितृप्त हो और शरीर भूखा हो तो क्वचित् मनुष्य निभा भी लेता है, परन्तु शरीर परितृप्त हो और आत्मा भूखी, तब तो

किसी भी प्रकार से नहीं निभ सकता। वहाँ पतन अवश्यम्भावी हो जाता है। देश में उस समय जो योजनाएँ बनीं, वे सब मनुष्य को केवल शारीरिक परितृप्ति देने वाली ही थीं। आत्म-परितृति के लिए उनमें कोई स्थान नहीं था।

उपेक्षित क्षेत्र में

आचार्यश्री ने इस उपेक्षित क्षेत्र में काम किया। अणुव्रत आन्दोलन के माध्यम से उन्होंने जनता को आत्मतृप्ति देने का मार्ग चुना। देश के कर्णधारों का भी इस ओर ध्यान आकृष्ट करने में वे सफल हुए। उनकी योजनाओं, कार्यक्रमों और विचारो का कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं अप्रत्यक्ष प्रायः सर्वत्र प्रभाव हुआ ही है। आध्यात्मिक और नैतिक उत्थान के घोष को प्रबल करने में आचार्यश्री के साथ उन सभी व्यक्तियों का स्वर भी समवेत हुआ है, जो इस क्षेत्र में अपना चिन्तन रखते हैं।

देश की प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं में जहाँ नैतिकता या सदाचार सम्बन्धी कोई चिन्ता नहीं की गई, वहाँ तृतीय योजना उससे बिल्कुल रिक्त नहीं कही जा सकती। यह देश के कर्णधारों के बदले हुए विचारों का ही तो परिचय है। इन विचारों को बदलने में अन्य अनेक कारण हो सकते हैं, पर उसमें कुछ न कुछ भाग अणुव्रत-आन्दोलन तथा उसके द्वारा देश में उत्पन्न किए वातावरण का भी कहा जा सकता है।

अपेक्षाकृत पहले

आचार्यश्री ने जनता की इस भूख को अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा पहले अनुभव किया, इसलिए वे किसी की प्रतीक्षा किए बिना इस कार्य में जुट गए। अन्य जन अब अनुभव करने लगे है तो उन्हें अब इस ओर त्वरता से आगे आना चाहिए। पंडित नेहरू के विचार भी इन दिनों में बहुत परिवर्तित हो गए है। वे अब मनुष्य की इस अद्वितीय भूख को पहचानने लगे है। 'ब्लिट्ज' के सम्पादक श्री आर० के० करंजिया के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने अपने में यह परिवर्तन स्वीकार भी किया है।

करंजिया ने पूछा—"आपके कुछ वक्तव्यों में यह चर्चा है कि देश की समस्याओं के लिए नैतिक एवं आध्यात्मिक समाधानों की भी सहायता लेनी चाहिए। क्या हम समझें कि जीवन के सांध्य में नेहरू बदल गया है?"

उत्तर देते हुए श्री नेहरू ने कहा—"इस बात को यदि आप प्रश्न के रूप में रखना चाहते हैं तो मैं 'हाँ' में ही उत्तर दूंगा। मैं वस्तुतः बदल गया हूँ। मेरे वक्तव्यों में नैतिक एवं आध्यात्मिक समाधानों की चर्चा अनर्गल या केवल औपचारिक नहीं होती। बहुत सोच-विचार कर ही मैं उन पर बल देता हूँ। बहुत चिंतन के पश्चात् मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि आज

के मानव की आत्मा अशांत और भूखी है। यदि भौतिक उन्नति के साथ मनुष्य की आत्मा भूखी रहेगी तो ससार का समस्त भौतिक वैभव भी उस भूख को नही मिटा सकेगा।"[1]

आन्दोलन का उत्स

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रारम्भ एक बहुत ही साधारण-सी घटना से हुआ। बडी-से-बडी नदी का भी उत्स प्राय: साधारण ही होता है। स० २००५ में आचार्यश्री ने अपना वर्षा-कालीन प्रवास छापर में किया। एक दिन वहाँ उनके पास बैठे हुए कुछ व्यक्ति नैतिकता के विषय में परस्पर बात करने लगे। उनमें से एक ने निराशा व्यक्त करते हुए बडा जोर देकर कहा कि इस युग में नैतिकता कोई रख ही नही सकता। यद्यपि आचार्यश्री उस बातचीत में भाग नही ले रहे थे, किन्तु उस भाई के इन शब्दो ने उनका ध्यान आकृष्ट कर लिया। वे उस समय कुछ भी नही बोले, किन्तु उनके मन में एक उथल-पुथल अवश्य मच गई।

नैतिकता के प्रति अभिव्यक्त उस निराशा से आचार्यश्री को एक प्रेरणा मिली। वे वहाँ से उठकर प्रभात-कालीन प्रवचन करने के लिए सभा में गये। जो बात उनके मस्तिष्क में घूम रही थी, वही प्रवचन में शत-शत धारा बनकर फूट पडी। उन्होंने नैतिकता को पुष्ट करते हुए मेघ-मन्द्र स्वर में पच्चीस ऐसे व्यक्तियों की मांग की, जो अनैतिकता के विरुद्ध अपनी शक्ति लगा सकें और हर सम्भावित खतरे को झेल सकें। उस मांग के साथ ही वातावरण में एक गम्भीरता छा गई। उपस्थित व्यक्ति आचार्यश्री के आह्वान और अपने आत्म-बल को तौलने लगे। मनो-मथन का वह एक अद्‌भुत दृश्य था।

सहसा सभा में से कुछ व्यक्ति खडे हुए और उन्होंने अपने नाम प्रस्तुत किये। वातावरण उल्लास से भर गया। एक-एक कर पच्चीस नाम आचार्यश्री के पास आ गये। सभा-समाप्ति के अनन्तर भी वह ध्वनि लोगों के मन में गूंजती रही। राजस्थान के 'छापर' नामक उस छोटे से कस्बे का घर-घर उस दिन चर्चा-स्थल बन गया। उस दिन की वह छोटी-सी घटना ही अणुव्रत-आन्दोलन की नीव के लिए प्रथम ईंट बन गई।

1—Is not that unlike the Jawaharlal of yesterday, Mr. Nehru, to talk in terms of ethical and spiritual solutions? What you say raised visions of Mr. Nehru in search of God in the evening of his life?

Ans—If you put it that way, my answer is: yes, I have changed. The emphasis on ethical and spiritual solutions is not unconscious. It is deliberate, quite deliberate There are good reasons for it First of all, apart from material development that is imperative, I believe that the human mind is hungry for something deeper in term of moral and spiritual development, without which all the material advance may not be worth while.

—The Mind of Mr. Nehrus p. 81

रूपरेखा

उस समय यह कल्पना भी नहीं की गई थी कि यह घटना आगे चलकर एक आन्दोलन का रूप ले लेगी और जनता द्वारा उसका इतना स्वागत होगा। प्रारम्भ में केवल यही भावना थी कि जो लोग प्रतिदिन सम्पर्क में आते है, उनका नैतिकता के प्रति दृष्टिकोण बदले। वे धर्म को केवल उपासना का तत्त्व ही न मानें, उसे जीवन-शोधक के रूप में स्वीकार करें।

जिन व्यक्तियों ने अपने नाम प्रस्तुत किये थे, उनके लिए नियम-संहिता बनाने के लिए सोचा गया। उसके स्वरूप-निर्धारण के लिए परस्पर चर्चाएँ चलने लगीं। आचार्यश्री ने मुनिश्री नगराजजी को यह कार्य सौंपा। उन्होंने व्रतो की रूपरेखा बनाई और आचार्यश्री के सम्मुख प्रस्तुत की। राजलदेसर में मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर 'आदर्श-श्रावक-संघ' के रूप में वह योजना जनता के सम्मुख रखी गई।

चिंतन फिर आगे बढ़ा और कल्पना हुई कि अनैतिकता की समस्या केवल श्रावक-वर्ग में ही नहीं है, वह तो हर धर्म के व्यक्तियों में समायी हुई है। क्यों न इस योजना के लक्ष्य को विस्तृत कर सबके लिए एक सामान्य नियम-संहिता प्रस्तुत की जाये। आखिर उस चिंतन के आधार पर नियमावली को फिर विकसित किया गया। फलस्वरूप सर्वसाधारण के लिए एक रूपरेखा निर्धारित हुई और सं०-२००५ में फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को सरदारशहर (राजस्थान) में आचार्यश्री ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन किया।

पूर्व-भूमिका

आन्दोलन-प्रवर्तन से पूर्व भी आचार्यश्री नैतिकता के विषय में अनेक प्रयोग करते रहे, परन्तु उस समय तक उनका लक्ष्य केवल श्रावक-वर्ग ही था। उनकी 'नव-सूत्री[1] योजना' और 'तेरह-सूत्री[2] योजना' के द्वारा लगभग तीस हजार व्यक्तियों को नैतिक उद्बोधन मिल चुका था। उन व्यक्तियों ने उन योजनाओं के व्रतों को स्वीकार कर अणुव्रत-आन्दोलन के लिए एक सुदृढ भूमिका तैयार कर दी थी।

१—(१) आत्म-हत्या करने का त्याग (२) मद्य आदि मादक वस्तुओं के सेवन का त्याग (३) मांस और अंडा खाने का त्याग (४) बड़ी चोरी करने का त्याग (५) जूआ खेलने का त्याग (६) पर-स्त्री गमन और अप्राकृतिक मैथुन का त्याग (७) झूठा मामला और असत्य की साक्षी का त्याग (८) मिलावट का व नकली को असली बताकर बेचने का त्याग (९) तौल-माप में कमी-बेशी करने का त्याग।

२—(१) निरपराध चलते-फिरते जीवों को जान-बूझकर न मारना (२) आत्म-हत्या न करना (३) मद्य न पीना (४) मांस न खाना (५) चोरी न करना (६) जूआ न खेलना (७) झूठी साक्षी न देना (८) द्वेष या लोभवश आग न लगाना (९) पर-स्त्री गमन और अप्राकृतिक मैथुन न करना (१०) वेश्या-गमन न करना (११) धूम्र-पान व नशा न करना (१२) रात्रि-भोजन न करना (१३) साधु के निमित्त भोजन न बनाना।

नामकरण

प्रारम्भ में अणुव्रत-आन्दोलन का नाम 'अणुव्रती-सघ' रखा गया था। 'अणुव्रत' शब्द जैन परम्परा से लिया गया है। मनुष्य के जागरित विवेक का निर्णय जब संकल्प का रूप ग्रहण करता है, तब वह व्रत कहलाता है। वह अपनी पूर्णता की सीमा में महाव्रत कहलाता है और अपूर्णता की स्थिति में अणुव्रत। एक सयम की उच्चतम स्थिति है, तो दूसरी न्यूनतम। पूर्ण सयम में रहना कठिन साधना है, तो पूर्ण असयम में रहना सर्वथा अहितकर। दोनों अतियों के मध्य का मार्ग है—अणुव्रत। अणुव्रत-नियमों का पालन करने वाले व्यक्तियों के सगठन का नाम रखा गया—'अणुव्रती-संघ'।

जनता ने इस आन्दोलन का अच्छा स्वागत किया। हजारों व्यक्ति अणुव्रती वने, लाखो ने उसका समर्थन किया और उसकी आवाज तो करोडो तक पहुँची। वम्वई में हुए पंचम अधिवेशन तक अणुव्रतियों के नाम की सूची रखी जाती रही, परन्तु फिर क्रमश बढती हुई सख्या की सुव्यवस्था रखने में शक्ति लगाने का विचार छोड दिया गया। सख्या का लोभ पहले भी नहीं रखा गया था, केवल भावना-प्रसार के रूप में ही जनता उसमें भाग ले, यही अभीष्ट माना गया। वहाँ अनेक नियमो में परिवर्त्तन किया गया। नाम के विपय में भी सुझाव आया कि 'सघ' शब्द सीमा को सकुचित करता है, जवकि 'आन्दोलन' शब्द अपेक्षाकृत मुक्त भावना का द्योतक है। सुझाव ठीक ही था, अत. मान लिया गया। तभी से इसका नाम 'अणुव्रत-आन्दोलन' कर दिया गया।

व्रतो का स्वरूप निर्णय

आन्दोलन के प्रारम्भिक समय तक आचार्यश्री तथा मुनिजन वहुलांश में राजस्थान के सम्पर्क में ही रहे थे। नियमावली वनाते समय वहीं के गुण-दोप स्पष्ट रूप से सामने आ सकें, अत· वहाँ की जीवन-यापन पद्धति को आधार मानकर ही व्रतों का स्वरूप-निर्धारण किया गया। पहले-पहल व्रतों की सख्या चौरासी थी। आन्दोलन की ज्यों-ज्यों व्यापकता होती गई, त्यो-त्यों देश तथा विदेश के व्यक्तियों की प्रतिक्रियाए सामने आने लगी।

सुप्रसिद्ध विचारक भाई किशोरलाल मश्रुवाला ने आन्दोलन के प्रयास को प्रशंसनीय वताते हुए कुछ वातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। उन्हें लगा कि अन्य व्रत तो असाम्प्रदायिक हैं, परन्तु अहिंसा-व्रत पर पथ की पूरी छाप है। उन्होंने उदाहरण के रूप में मांसाहार और रेशमी-वस्त्रो के विपय में लिखा है कि जैनो और वैष्णवों की एक छोटी-सी संख्या के अतिरिक्त देश या विदेश के अधिकाश व्यक्ति मांसाहार के नियम निभाने की स्थिति में नहीं होते। इसी प्रकार रेशम के लिए व्रत वना, तो मोती के लिए क्यो नही वना? रेशम के समान उनमें भी छोटे जीवो की हिंसा होती है।[1]

१—हरिजन सेवक, २० मार्च, १९५०

इस पर चिंतन चला तो यह निष्कर्ष सामने आया कि मांसाहार यद्यपि मानव-जाति में बहुत व्यापक रूप से प्रचलित है, फिर भी यह विषय पुनर्विचार की अपेक्षा रखता है। जैनों और वैष्णवों ने इसका बहुत समय पूर्व से बहिष्कार कर रखा है, परन्तु आज वह केवल धार्मिक प्रश्न ही नहीं रह गया है। उसमें बहुत सारे वैज्ञानिक तथ्य भी हैं। शरीर-शास्त्रियों की मान्यता भी यही बनती जा रही है कि मांस मनुष्य के लिए खाद्य नहीं है। शाकाहार का समर्थन करने वाले व्यक्ति आज प्रायः हर देश में मिल जाते हैं, अतः इसमें किसी पंथ के दृष्टिकोण को महत्व देने या न देने का प्रश्न नहीं है। आचार्यश्री का चिंतन रहा है कि निरामिषता का क्रमिक विकास होना चाहिए। साथ ही आमिषभोजियों को अणुव्रत में स्थान न हो, यह भी अभीष्ट नहीं माना गया, अतः प्रवेशक-अणुव्रती के व्रतों में वह व्रत न रखकर मूल अणुव्रतियों के व्रतों में रख दिया गया। इससे उनकी साधना को क्रमिक विकास का अवसर मिलेगा।

मोती में यद्यपि रेशम के समान ही हिंसा सन्निहित है, फिर भी उसका उपयोग रेशम के समान व्याप्त नहीं है। स्वल्प जनों से सबद्ध होने के कारण फिलहाल एतद्विषयक नियम को आगे के चिन्तन पर छोड़ दिया गया।

सत्य—अणुव्रत के विषय में आचार्य विनोबा का अभिमत था कि सत्य अखण्ड होता है, अहिंसा की तरह उसका अणुव्रत नहीं बनाया जा सकता। इस पर भी आचार्यश्री ने चिन्तन किया। लगा कि लक्ष्य की दृष्टि से सत्य जितना अखण्ड है, उतनी ही अहिंसा भी। परन्तु साधक की साधना में जब तक पूर्णता का समावेश नहीं हो जाता, तब तक न अहिंसा की पूर्णता आ पाती है और न सत्य की। सत्य और अहिंसा अभिन्न हैं। जहाँ हिंसा है, वहाँ सत्य नहीं हो सकता। स्वरूप की दृष्टि से इनकी अखण्डता को मान्य करते हुए भी आचार-शक्यता के क्रमिक विकास की दृष्टि से इनके खंड भी आवश्यक माने गए हैं।

जापान के कुछ व्यक्तियों की प्रतिक्रिया थी कि इनमें से कुछ नियमों को छोड़कर शेष नियमों का हमारे देश के लिए कोई उपयोग नहीं। वे सब भारतीय जीवन को दृष्टि में रख-कर ही बनाए गए प्रतीत होते हैं। उन लोगों की यह बात कुछ अंशों में ठीक ही थी, क्योंकि स्थानीय परिस्थितियों का प्रभाव रहना स्वाभाविक ही है। पर आचार्यश्री को देशी और विदेशी का कोई भेद अभीप्सित नहीं रहा है।

इस प्रकार की अनेक प्रतिक्रियाओं तथा सुझावों के प्रकाश में नियमावली को फिर से संशोधित करने का निश्चय किया गया। उस बार के संशोधनों में यह बात मुख्यता से ध्यान में रखी गई कि असंयम की मूल प्रवृत्तियाँ सर्वत्र समान होती हैं, उपभेदों में भले ही अन्तर आता रहे। इसीलिए वह नियमावली मूल प्रवृत्तियों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए ही बनाई गई। शेष नियम देश-कालानुसार स्वयं निर्धारित करने के लिए छोड़ दिए गए। इस क्रम से नियमों की संख्या घटकर केवल चमालीस रह गई।

तीन श्रेणियाँ

प्रथम रूप-रेखा में अणुव्रतियों की कोई श्रेणी नही थी। सशोधन के फलस्वरूप उनकी तीन श्रेणियाँ निश्चित की गई—(१) प्रवेशक अणुव्रती, (२) अणुव्रती और (३) विशिष्ट अणुव्रती। ये श्रेणियाँ किसी पद की प्रतीक नहीं हैं, अपितु क्रमिक अभ्यास की प्रगति-सूचक सीढियाँ हैं। प्रवेशक अणुव्रती के लिए ग्यारह नियम अथवा वर्गीय नियम हैं। अणुव्रती के लिए चमालीस और विशिष्ट अणुव्रती के लिए उन चमालीस नियमो के साथ-साथ छः नियम और हैं। इस प्रकार व्रतों के स्वरूप और श्रेणियों का जो निर्णय किया गया है, वह कई परिवर्तनों के वाद की स्थिति है।

असाम्प्रदायिक रूप

आन्दोलन का दृष्टिकोण प्रारभ से ही असाम्प्रदायिक रहा है। यह विशुद्ध रूप से चरित्र-विकास की दृष्टि लेकर चला है और इसी उद्देश्य की पूर्ति में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देना चाहता है। सब धर्मों की समान भूमिका पर रहकर कार्य करते रहना ही इसने अपना श्रेयोमार्ग चुना है। परन्तु प्रारम्भ में लोगो को यह विश्वास नहीं हो पा रहा था कि सम्प्रदाय विशेष का एक आचार्य इतना उदार वनकर सव धर्मों की समन्वयात्मकता के आधार पर कोई आन्दोलन चला सकता है। उस समय यह प्रश्न बार-बार आचार्यश्री के सामने आता रहता था कि अणुव्रती वनने पर क्या हमें आपको धर्म-गुरु मानना होगा। दिल्ली में एक भाई ने यही प्रश्न सभा में खडे होकर पूछा था।

आचार्यश्री ने कहा—"यह कोई आवश्यक नही है। आपके लिए केवल आन्दोलन के व्रतों का पालन करना ही आवश्यक है। कौन से धर्म को मानते हैं, किसको धर्म गुरु मानते हैं, अथवा किसी धर्म को मानते भी हैं या नहीं—इन सब बातों में अपने विचार और प्रवृत्ति को यथारुचि रखने में आप स्वतत्र है। आन्दोलन उसमें बाधक नहीं बनता।"

जनता ज्यों-ज्यों सम्पर्क में आती गई, त्यों-त्यो साम्प्रदायिकता का भय अपने-आप दूर होता गया। धीरे-धीरे उसमें सभी तबको के मनुष्य सम्मिलित होने लगे। हिन्दू, सिख, मुसलमान; और ईसाई आदि सभी धर्मो को इसमें अपने ही सिद्धान्त प्रतिबिम्बित हुए लगने लगे।

सर्वदलीय

आचार्यश्री ने इस आन्दोलन में राजनैतिक-सम्प्रदायो का भी समन्वय किया है। वे इसे किसी भी राजनैतिक-पार्टी की कठपुतली नही बना देना चाहते। समय-समय पर प्राय अनेक राजनैतिक दलों के लोग आन्दोलन के कार्यक्रमों में सम्मिलित होते रहे हैं। उनके पारस्परिक मतभेद कुछ भी क्यों न रहते हों, किन्तु चरित्र-विशुद्धि की आवश्यकता तो वे सब समान रूप से ही समझते हैं।

सन् १९५६ में चुनावों की तैयारियाँ हो रही थी, तब आचार्यश्री भी दिल्ली में ही थे। आम चुनावों में अनैतिक और अनुचित प्रवृत्तियों का समावेश न हो, इस लक्ष्य से आचार्यश्री

के सान्निध्य में एक सभा का आयोजन किया गया। उसमें चुनाव मुख्यायुक्त श्री सुकुमार सेन, कांग्रेस अध्यक्ष श्री उ० न० ढेबर, साम्यवादी नेता श्री अ० क० गोपालन, प्रजा समाज-वादी नेता श्री जी० म० कृपलानी आदि देश के प्रमुख राजनीतिज्ञ सम्मिलित हुए। सभी ने आन्दोलन के व्रतों को क्रियान्वित करने का विश्वास दिलाया। इस भूमिका में आंदोलन को निर्दलीय अथवा सर्वदलीय कहा जा सकता है।

सहयोगी भाव

असम्प्रदाय-भावना ने अणुव्रत-आन्दोलन को सबके साथ मिलकर तथा सबका सहयोग लेकर सामूहिक रूप से कार्य करने का सामर्थ्य प्रदान किया है। व्यक्ति अकेला किसी ऐसी बुराई का, जो सर्व साधारण में अव्याहत रूप से फैल चुकी हो, सामना करने में अपने-आपको असमर्थ पाता है। परन्तु जब समान उद्देश्य के अनेक व्यक्ति उस बुराई के विरुद्ध खड़े होते हैं तो उसमें भाग लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने में एक विशेष सामर्थ्य का अनुभव होने लगता है। जब बुराई अनेक व्यक्तियों का सामूहिक सहयोग पाकर प्रबल बन जाती है तो अच्छाई को भी अनेक व्यक्तियों के सामूहिक सहयोग से प्रबल बनना चाहिए। एक अच्छा व्यक्ति अनेक बुरे व्यक्तियों से श्रेष्ठ अवश्य होता है, पर जीवन-व्यवहार में टिक तभी सकता है, जबकि अनेक अच्छे व्यक्ति उनकी जीवन-यापन-पद्धति के पोषक तथा सहायक हों।

आचार्यश्री सभी दलों तथा व्यक्तियों का सहयोग इसीलिए अभीष्ट मानते हैं कि उससे धार्मिक तथा नैतिक जीवन व्यतीत करने की कामना रखने वाले व्यक्तियों को एक रूपता प्रदान की जा सके और उसमें अधार्मिकता और अनैतिकता के वर्तमान प्रभाव को नष्ट किया जा सके। आचार्यश्री ने एक बार कहा था कि जब चोर आदि दुर्गुणी व्यक्ति सम्मिलित होकर काम कर सकते हैं, तो अच्छा उद्देश्य रखने वाले दल सम्मिलित होकर काम क्यों नहीं कर सकते? इस कथन से सर्वोदयी नेता जयप्रकाश नारायण बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने कहा—"मैं सर्वोदय कार्यकर्त्ताओं के सम्मुख चर्चा करूँगा कि ऐसे समान उद्देश्यों के कार्यों में परस्पर सहयोगी बनें।"

प्रथम अधिवेशन

अणुव्रत आन्दोलन का प्रथम वार्षिक अधिवेशन भारत की राजधानी दिल्ली में हुआ। यद्यपि आन्दोलन के प्रसार की दिशाएँ जयपुर से ही उन्मुक्त होने लगी थीं, पर सार्वजनिक रूप उसे दिल्ली में मिला। वह आचार्यश्री का दिल्ली में प्रथम बार पदार्पण था। आन्दोलन नया-नया ही था। परिस्थितियाँ कोई अधिक अनुकूल नहीं थीं। अविश्वास, संदेह और विरोध की मिली-जुली भावनाओं का सामना करना पड़ रहा था। फिर भी आचार्यश्री ने अपनी बात पूरे बल के साथ जनता में रखी। पहले-पहल शिक्षित-वर्ग ने उनकी बातों को उपेक्षा व उपहास की दृष्टि से देखा, पर उनकी आवाज समय की आवाज थी, उसकी उपेक्षा की

नहीं जा सकती थी। उनकी बातो ने धीरे धीरे जनता के मन को छूआ और आन्दोलन के प्रति आकर्षण बढने लगा।

कुछ दिन पश्चात् वार्षिक अधिवेशन का आयोजन हुआ। दिल्ली-नगरपालिका-भवन के पीछे के मैदान में हजारों व्यक्ति एकत्रित हुए। वातावरण में एक उल्लास था। दिल्ली के नागरिकों ने एक आशा भरे दृष्टि-कोण से अधिवेशन की कार्यवाही को देखा। नगर के सार्वजनिक कार्य-कर्ता, साहित्यकार तथा पत्रकार आदि भी अच्छी संख्या में उपस्थित थे।

कार्य प्रारम्भ हुआ। कुछ भाषण हुए। प्रथम वर्ष की रिपोर्ट सुनाई गई। उसके पश्चात् व्रत स्वीकार कराये गए। आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनो में जहाँ पचहत्तर व्यक्ति थे, वहाँ प्रथम अधिवेशन के समय छ सौ पचीस व्यक्तियो ने व्रत ग्रहण किये। उपस्थित जनता के लिए वह एक अपूर्व बात थी। अधिवेशन का वही सबसे बड़ा आकर्षण था। उससे देश में नैतिक क्रान्ति के बीज अंकुरित होने का स्वप्न आकार ग्रहण करता हुआ दिखाई देने लगा। चारो ओर चलनेवाली अनैतिकता में खड़े होकर कुछ व्यक्ति यह संकल्प करें कि वे किसी प्रकार का अनैतिक कार्य नहीं करेंगे, तो वह एक अघटनीय घटना ही लग सकती है। अनैतिक वातावरण में मनुष्य जहाँ स्वार्थ को ही प्रमुख मानकर चलता है, परमार्थ को भूलकर भी याद नहीं करता, वहाँ कुछ व्यक्तियों का अणुव्रती बनना एक नया उन्मेष था।

पत्रों की प्रतिक्रिया

पत्रकारों पर उस घटना का बहुत ही अनुकूल प्रभाव हुआ। देश के प्रायः सभी दैनिक पत्रो ने बड़े-बड़े शीर्षकों से उन समाचारो को प्रकाशित किया। अनेक दैनिक पत्रो में एतद्-विषयक सम्पादकीय लेख भी लिखे गए। हिन्दुस्तान टाईम्स (नई दिल्ली) ने अपने सांध्य-संस्करण में लिखा—"चमत्कार का युग अभी समाप्त नही हुआ, एक क़िरण दीख पडी है।... जब अनुचित रूप से कमाये गए पैसे पर फूलने-फलने वाले व्यापारी एकत्रित होकर सच्चाई से जीवन विताने का आन्दोलन शुरू करते हैं, तब कौन उनसे प्रभावित नहीं होगा।......उन्होंने यह सत् प्रतिज्ञा आचार्य श्री तुलसी के सामने अणुव्रती-सघ के पहले वार्पिक अधिवेशन के अवसर पर ग्रहण की है ......आचार्य तुलसी जो कि इस सगठन या आन्दोलन के दिमाग हैं, राजपूताना के रेतीले मैदानों को पार करके दिल्ली की पक्की सडकों पर आये हैं।"

हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड (कलकत्ता) ने २ मई, ५० को अणुव्रती-संघ का स्वागत करते हुए लिखा था......इस देश में व्यापार-व्यवसाय में मिथ्या जोरो पर है। यह भय है कि कहीं उससे समाज के जीवन का सारा नैतिक ढांचा ही नष्ट न हो जाये, इसलिए कुछ व्यापारियो का यह आन्दोलन कि वे व्यापार—व्यवसाय में मिथ्या आचार न करेंगे, देश में स्वस्थ व्यापार-व्यवसाय को जन्म दे सकेगा, इस दिशा में अणुव्रती-सघ के आचार्य श्री तुलसी ने जो पहल की है, उसके लिए वे बधाई के अधिकारी हैं।

कलकत्ता के सुप्रसिद्ध बंगला दैनिक आनंद बाजार पत्रिका ने 'नूतन सतयुग' शीर्षक से लिखा था—"तो क्या कलियुग का अवसान हो गया है ? क्या सतयुग प्रकट होने को है ? नई दिल्ली, ३० अप्रैल का एक समाचार है कि मारवाड़ी समाज के कितने ही लखपति और करोड़-पति लोगों ने यह प्रतिज्ञा की है कि वे कभी चोरबाजारी नही करेंगे। ……इसके प्रेरक हैं आचार्य श्री तुलसी, जिन्होंने मानव-जाति की समग्र बुराइयों को दूर करने के लिए एक आन्दोलन प्रारंभ किया है। उसके समर्थन में ये प्रतिज्ञाएं की गई हैं। हम आचार्य श्री तुलसी से सविनय अनुरोध करना चाहते है कि वे कलकत्ता नगरी में पधारने की कृपा करें।"

'हरिजन-सेवक' के हिन्दी, अंग्रेजी व गुजराती-संस्करणों में श्री किशोरलाल मश्रूवाला ने संघ के व्रतों की विवेचना करते हुए सम्पादकीय में लिखा—"अणुव्रत का अर्थ है प्रत्येक व्रत का अणु से लेकर क्रमशः बढ़ता हुआ पालन। उदाहरण के लिए, कोई आदमी जो अहिंसा और अपरिग्रह में विश्वास तो रखता है, लेकिन उनके अनुसार चलने की ताकत अपने में नहीं पाता, वह इस पद्धति का आश्रय लेकर किसी विशेष हिंसा से दूर रहने या एक हद के बाहर और किसी खास ढंग से संग्रह न करने का संकल्प करेगा और धीरे-धीरे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ेगा। ऐसे व्रत अणुव्रत कहलाते हैं।"

इस प्रकार आन्दोलन की प्रतिध्वनि समस्त देश में हुई। क्वचित् विदेशी पत्रों में भी उस विषय में लिखा गया। न्यूयार्क के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक 'टाइम' (१५ मई १९५०) में यह संवाद प्रकाशित हुआ—"अन्य अनेक स्थानों के कुछ व्यक्तियों की तरह एक दुबला, पतला, ठिगना, चमकती आंखों वाला भारतीय संसार की वर्तमान स्थिति के प्रति अत्यंत चिन्तित है। चौतीस वर्ष की आयु का वह आचार्य तुलसी है, जो जैन तेरापन्थ-समाज का आचार्य है। वह अहिंसा में विश्वास करने वाला धार्मिक समुदाय है। आचार्य तुलसी ने १९४९ में अणुव्रती-संघ की स्थापना की थी। ……जब समस्त भारत को व्रती बना चुकेंगे, तब शेष संसार को व्रती बनाने की उनकी योजना है।"

देशी और विदेशी पत्रों में होने वाली उस प्रतिक्रिया से ऐसा लगता है कि मानों ऐसे किसी आन्दोलन के लिए मानव-समाज भूखा और प्यासा बैठा था। प्रथम अधिवेशन पर उसका वह स्वागत आशातीत और कल्पनातीत था।

आशावादी दृष्टियां

आन्दोलन का लक्ष्य पवित्र है, कार्य निष्काम है, अतः उससे हर एक व्यक्ति की सहमति ही हो सकती है। जब देश के नागरिकों की संकल्पशक्ति जागरित होती है, तब मन में मधुर आशा का एक अंकुर प्रस्फुटित होता है। आन्दोलन के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के उद्गार यहाँ इस बात के साक्षी हैं। उनमें से कुछ ऐसे व्यक्तियों के उद्गार यहाँ दिये जा रहे हैं, जिनका राष्ट्रव्यापी प्रभाव है, तथा जो किसी भी प्रकार के दबाव से अप्रभावित रहकर चिन्तन करने की क्षमता रखते हैं।

राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा—"पिछले कई वर्षों से अणुव्रत-आन्दोलन के साथ मेरा परिचय रहा है। शुरुआत में जब कार्य थोडा आगे बढा था, मैंने इसका स्वागत किया और अपने विचार बतलाये। जो काम आज तक हुआ है, वह सराहनीय है। मैं चाहूँगा इसका काम देश के सभी वर्गों में फैले, जिससे सब इससे लाभान्वित हो सकें। इस आन्दोलन से हम दूसरों की भलाई करते हैं, इतना ही नही, अपने जीवन को भी शुद्ध करते हैं, अपने जीवन को बनाते हैं। सयम की जिन्दगी सबसे अच्छी जिन्दगी है। इसीलिए हम चाहते है कि सब वर्गों में इसका प्रचार हो। सबको इसके लिए प्रोत्साहित किया जाये।"[१]

उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् ने अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में लिखा है—"हम ऐसे युग में रह रहे हैं, जब हमारा जीवात्मा सोया हुआ है। आत्म-बल का अकाल है और प्रमाद का राज्य है। हमारे युवक तेजी से भौतिकवाद की ओर झुकते चले जा रहे है। इस समय किसी भी ऐसे आन्दोलन का स्वागत हो सकता है, जो आत्म-बल की ओर ले जाने वाला हो। इस समय हमारे देश में अणुव्रत-आन्दोलन ही एक ऐसा आन्दोलन है, जो इस कार्य को कर रहा है। यह काम ऐसा है कि इसको सब तरफ से बढावा मिलना चाहिए।"[२]

प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू कहते है—"हमे अपने देश का मकान बनाना है। उसकी बुनियाद गहरी होनी चाहिए। बुनियाद यदि रेत की होगी तो ज्यों ही रेत ढह जायेगी, मकान भी ढह जायेगा। गहरी बुनियाद चरित्र की होती है। देश में जो काम हमें करने हैं, वे बहुत लबे-चौडे हैं। इन सबकी बुनियाद चरित्र है। इसे लेकर बहुत अच्छा काम अणुव्रत-आन्दोलन में हो रहा है। मैं मानता हूँ, इस काम की जितनी तरक्की हो, उतना ही अच्छा है। इसलिए मैं अणुव्रत-आन्दोलन की पूरी तरक्की चाहता हूँ।"[३]

अणुव्रत-सेमिनार में उद्घाटन-भाषण करते हुए यूनेस्को के डायरेक्टर-जनरल डॉ० लूथर इवान्स ने कहा—"हम लोग यूनेस्को के द्वारा शांति के अनुकूल वातावरण बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। इधर अणुव्रत-आन्दोलन भी प्रशसनीय काम कर रहा है, यह बडी खुशी की बात है। मैं इसकी सफलता चाहता हूँ कि आपका सत्कार्य ससार में फैले और शान्ति का मार्ग-दर्शन करें।"[४]

राष्ट्र के सुप्रसिद्ध विचारक काका कालेलकर ने कहा है—"श्रमण और भिक्षु शान्ति-सेना के सैनिक हैं। नैतिक प्रचार और प्रसार के लिए उन्होंने जीवन को जगाया है, यह उचित है। अणुव्रत-आन्दोलन में नैतिक विचार-क्रान्ति के साथ-साथ बौद्धिक अहिंसा पर भी बल दिया गया है। यह इसकी अपनी विशेषता है।"[५]

१—नवनिर्माण की पुकार, पृष्ठ ४१, २—अणुव्रत-आन्दोलन
३—अणुव्रत-जीवन-दर्शन, ४—नव निर्माण की पुकार,पृष्ठ ३४
५—नव निर्माण की पुकार, पृष्ठ ५०

श्री राजगोपालाचार्य ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है – "मेरी राय में यह जनता के नैतिक एव सांस्कृतिक उद्धार की दिशा में पहला कदम है।"

आचार्य जे० बी० कृपलानी ने अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में अपने भाव यों व्यक्त किये हैं—"……मैं मानता हूँ कि व्रतो के विना दुनियां चल नहीं सकती। व्रतों को त्यागने से सर्वनाश हो जाता है। मैं व्यक्ति-सुधार में विश्वास नही रखता। सामूहिक सुधार को सत्य मानकर चलता हूँ। व्यक्ति-सुधार की प्रक्रिया में वह वेग और उत्साह नही रहता, जितना सामूहिक सुधार में रहता है। इसके तात्कालिक परिणाम भी लोगों को आकृष्ट कर लेते है। अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा में मार्गसूचक बने, ऐसी मेरी भावना है।"[1]

हिन्दी जगत् के सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमार के विचार इस प्रकार हैं—"सिद्धान्त की कसौटी व्यवहार है, जो व्यवहार पर खरा सिद्ध नही होता, वह सिद्धान्त कैसा? मुझे यह कहते प्रसन्नता है कि महाव्रत का मार्ग जगत् ने एकदम निरपेक्ष नही है, अणुव्रत उसका उदाहरण है। व्रत जीवन में किनारे जैसे है। यदि नदी के किनारे न हो, तो उसका पानी रेगिस्तान में सूख जाये। किनारे नदी को बांधने वाले नही होने चाहिए, वे उसको मर्यादा में रखने वाले होने चाहिए। ऐसे ही वे किनारे जीवन-चैतन्य को विकास देने वाले और दिशा देने वाले हो सकते हैं।"[2]

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के भूतपूर्व महामन्त्री श्री श्रीमन्नारायण ने अपनी भावना यों व्यक्त की है—"अणुव्रत-आन्दोलन की जब से मुझे जानकारी हुई है, तभी से मैं इसका प्रशंसक रहा हूँ। इसके संबध में मेरा आकर्षण इसलिए हुआ कि यह आन्दोलन जीवन की छोटी-छोटी वातों पर भी विशेष ध्यान देता है। वडी वातें करने वाले बहुत है, किन्तु छोटी वातो को महत्त्व देने वाले कम होते हैं।

"यह आन्दोलन क्रमिक विकास को महत्त्व देता है, यह इसकी विशेषता है। एक साथ लक्ष्य पर नही पहुँचा जा सकता, एक-एक कदम आगे वढा जा सकता है।"[3]

संसद्-सदस्या श्रीमती सुचेता कृपलानी ने कहा है—"अणुव्रत-आदोलन जीवन-शुद्धि का आन्दोलन है। जब कार्य और कारण दोनो शुद्ध होते है, तब परिणाम भी शुद्ध होता है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक का व उनके साथी साधुओ का जीवन शुद्ध है। अणुव्रतों का कार्य-क्रम भी पवित्र है, इसलिए इनके कहने का असर पडता है।

१—नव निर्माण की पुकार, पृष्ठ ४५, २—वही, पृष्ठ ५३, ३—वही, पृष्ठ ५१

"अणुव्रत-आन्दोलन के व्रत सार्वजनीन हैं। प्रत्येक वर्ग के लिए इसमें व्रत रखे गए हैं। यह इसकी अपनी विशेषता है। व्रतों की भाषा सरल व स्वाभाविक है। अहिंसा आदि व्रतों का विवेचन सामयिक व युगानुकूल है। अहिंसा की व्याख्या व व्रतों में शब्दो का संकलन मुझे बहुत ही भावोत्पादक लगा। कहा गया है—जीव को मारना या पीडा पहुचाना तो हिंसा है ही, किन्तु मानसिक असहिष्णुता भी हिंसा है। अधिकारों का दुरुपयोग भी हिंसा है। कम पैसों से अधिक श्रम लेना भी हिंसा है, आदि-आदि। इसी प्रकार सभी व्रत जीवन को छूते हैं। अणुव्रतियों का जीवन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। मुझ पर आन्दोलन का काफी असर है। आचार्यजी का सत्-प्रयास सफल हो, यह मेरी कामना है।"[1]

उपर्युक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त भी बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं, जो अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में बहुत श्रद्धाशील और आशावादी हैं। उन सबके उद्‌गारों का सकलन एक पृथक् पुस्तक का विषय हो सकता है। यहां उन सबका उल्लेख सम्भव नहीं है।

सन्देह और समाधान

आन्दोलन के विषय में जहाँ अनेक व्यक्ति आशावादी हैं, वहाँ कुछ व्यक्तियो को एतद्-विषयक नाना सदेह भी हैं। किसी भी विषय में सन्देहों का होना अस्वाभाविक नही कहा जा सकता। वस्तुत वे बात को अधिक गहराई से सोचने की प्रेरणा ही देते है। सावधान भी करते है। यहाँ आन्दोलन के विषय में किये जाने वाले कुछ सन्देहों का प्रश्नोत्तर रूप से सक्षेप में समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. प्रश्न—भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध और महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति भी जब विश्व को नैतिकता के ढांचे में नहीं ढाल सके, तो आचार्यश्री वह कार्य कैसे कर सकेंगे ?

उत्तर – समूचे विश्व को नैतिक बना देना किसी के लिए सम्भव नहीं है। नैतिकता का इतिहास जितना पुराना है, उतना ही अनैतिकता का भी। हर युग में इन दोनो का परस्पर सघर्ष चलता रहा है। संसार के रग-मच पर कभी एक की प्रमुखता होती रही है तो कभी दूसरे की, पर सम्पूर्ण रूप से न कभी नैतिकता मिटी है और न ही अनैतिकता। जब-जब मानव समाज में नैतिकता की प्रबलता रही है, तब-तब उसका उत्थान हुआ है और जब-जब अनैतिकता की प्रबलता हुई है, तब-तब पतन। एक न्याय, मैत्री और साम्य की सवाहक बनकर शांति का साम्राज्य स्थापित करती है, तो दूसरी अन्याय, विद्वेष और विषमता की संवाहक बनकर अशांति का दावानल प्रज्वलित करती है। सभी महापुरुषों का विचार रहा है कि विश्व नैतिक और आध्यात्मिक बने, किन्तु वे सब यह भी जानते रहे हैं कि यह सम्भव नहीं है। इसलिए वे फल की ओर से निश्चिंत होकर केवल कार्य पर लगे रहे। उससे समाज में आध्यात्मिकता और नैतिकता का प्रामुख्य स्थापित हुआ। आचार्य श्री भी अपना पुरुषार्थ इसी

[1]—नव निर्माण की पुकार, पृष्ठ ५३-५४।

दिशा में लगा रहे हैं। कितना क्या कुछ बनेगा, इसकी चिंता न वे करते है और न उन्हें करनी ही चाहिए।

२. प्रश्न—सारा संसार ही जब भ्रष्टाचार और दुर्व्यसनों में फंसा है, तब चन्द मनुष्य अणुव्रती बनकर अपना सत्य कैसे निभा सकते है ?

उत्तर—सत्य आत्मा का धर्म है। उसके लिए दूसरे का सहारा नितांत अपेक्षित नहीं है। सफलता संख्या पर नही, भावना पर निर्भर है। संसार के प्रायः सभी सुधार थोड़े व्यक्तियों से ही प्रारंभ हुए हैं। अधिक व्यक्ति तो उसके विरोध में रहे हैं, क्योकि विचारशील और स्वार्थ-त्यागी मनुष्य अपेक्षाकृत स्वल्प ही मिलते है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अणुव्रतियों की संख्या स्वल्प ही रहनी चाहिए, किन्तु यह है कि संख्या को सफलता का मापक यंत्र नहीं मानना चाहिए। अधिक व्यक्ति जिस मार्ग को चुनते हैं, वह सच्चा ही हो, यह आवश्यक नहीं है। अतः सत्य-सेवी के लिए बहुमत का महत्त्व अधिक नहीं रह जाता। उसे अपने आत्म-बल पर विश्वास रखते हुए बहु-जन-मान्य अनैतिक विषयों का सामना ही नहीं, अपितु उन पर प्रहार करने को भी उद्यत रहना चाहिए। इस प्रकार वह अपने सत्य को तो निभा ही लेता है, साथ-साथ उन अनेक व्यक्तियों को सत्य-मार्ग के लिए प्रेरित भी कर देता है, जो साथी के अभाव में अपने बलपर आगे बढने से घबराते है।

३. प्रश्न—जिस गति से लोग अणुव्रती बन रहे है, वह बहुत धीमी है। इस गति से यहाँ का नैतिक दुर्भिक्ष मिट नहीं सकता। प्रतिवर्ष एक सहस्र व्यक्ति अणुव्रती बनते रहे तो भी अकेले भारत की चालीस करोड़ जनता को नैतिक बनाते लाखों वर्ष लग जायेंगे, तब आन्दोलन के पास इस समस्या का क्या हल है ?

उत्तर—यह स्वीकार किया जा सकता है कि गति बहुत धीमी है। उसे तेज करना चाहिये, किन्तु आन्दोलन गुण की निष्ठा लेकर चलता है। संख्या का महत्त्व उसमें गौण है। यदि गुण का आधिक्य हो तो औषधि की अल्प मात्रा भी जिस तरह प्रभूत परिणाम ला सकती है, उसी तरह अल्पसंख्यक गुणी व्यक्ति भी सारे समाज को प्रभावित कर सकते हैं। यह मानवीय भावना का प्रश्न है। इसे साधारण गणित के आधार पर समाहित नहीं किया जा सकता। मानवीय भावना गणित के फारमूलों से बंधकर नही चला करती।

सहस्रों व्यक्तियों की सम्मिलित भावना का जब कहीं एक स्थान पर तीव्र विस्फोट होता है, तब वह हमारी गणित की प्रक्रिया में एक के रूप में सम्मिलित किया जाता है। अवशिष्ट व्यक्ति गणना-क्षेत्र से बाहर रह जाते है। अणुव्रत-भावना को भी इसी आधारपर यों समझा जा सकता है कि जब सहस्रों व्यक्तियों के मन पर अनीति के विरुद्ध नीति का प्रभाव होता है, तब उनमें से तीव्रतर या तीव्रतम प्रभाव वाला व्यक्ति, जो कि उन सहस्रों की भावना का एक प्रतीक समझा जा सकता है, प्रतिज्ञाबद्ध होता है। अणुव्रत-भावना से प्रभावित होते हुए

भी अवशिष्ट व्यक्ति उस संख्या से बाहर रह जाते हैं। इसलिए अणुव्रतियों की सख्या को ही अणुव्रत-भावना का विकास-क्षेत्र नहीं मान लेना चाहिए।

भारत के स्वातन्त्र्य सग्राम के अहिंसक सैनिक इस बात की सत्यता के लिए प्रमाण भूत माने जा सकते हैं। सारे भारतवासी तो क्या पर शतांश भी उस सस्था के सदस्य नहीं थे। पर क्या इससे यह माना जा सकता है कि जितने उस संस्था के सदस्य थे, केवल उतने ही स्वतत्रता के पुजारी थे ? अवशिष्ट व्यक्तियों का स्वतत्रता-संग्राम से कोई सम्बन्ध नहीं था ?

इसके अतिरिक्त सारे भारत की बात सोचने से पहले यह तो हर एक व्यक्ति को मान्य होगा कि अभाव से तो स्वल्प-भाव अच्छा ही होता है। स्वल्प-भाव को सर्व भाव की ओर बढ़ने में अपनी गति तीव्र करनी चाहिए, इसमें स्वयं अणुव्रत-आन्दोलन सहमत है, परन्तु सर्व-भाव न हो, तब तक के लिए अभाव ही रहना चाहिए, स्वल्प-भाव की कोई आवश्यकता नहीं है, इस बात से वह सहमत नहीं हो सकता।

४ प्रश्न—अणुव्रतो की रचना में मुख्यत: निषेधात्मक दृष्टि ही क्यों अपनायी गई है, जब कि जीवन-निर्माण में विधि-प्रधान पद्धति की आवश्यकता होती है ?

उत्तर—यों तो विधि में निषेध और निषेध में विधि स्वत' गर्भित रहती ही है, फिर भी मनुष्य की आचार-सहिता में विधेय अधिक होते हैं और हेय कम। इसीलिए अपनी मर्यादा में रहकर मनुष्य को क्या-क्या करना चाहिए, इसकी लम्बी सूची बनाने से अधिक सुगम यह होता है कि उसे क्या-क्या नहीं करना चाहिए, यह बतलाया जाये। सीमा या मर्यादा का भावात्मक अर्थ निषेध ही तो होता है। माता-पिता या गुरु अपने बालक को निषिद्ध वस्तु की मर्यादा ही बतलाते हैं। 'बिजली को मत छूआ करो' यह कहकर वे उसकी जो सुरक्षा कर सकते हैं क्या वही कमरे की 'ये-यें वस्तुए छुआ करो' कहकर कर सकते हैं ? सरकार भी विदेश से जिन-जिन व्यापारों का निषेध करना चाहती है, उन्हीं का नाम-निर्देश करती है, किन्तु जो-जो मगाया जा सकता है, उसका सूची-पत्र प्रसारित नहीं करती। सरलता भी इसी में है।

५. प्रश्न—हर कार्य की उपलब्धि सामने आने पर ही उस पर विश्वास जमता है। अणुव्रत-आन्दोलन की कोई उपलब्धि दृष्टिगत क्यों नहीं हो रही है ?

उत्तर—भौतिक समृद्धि के लिए किये जानेवाले कार्यों से जो स्थूल उपलब्धियाँ होती है, वे प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं। परन्तु यह आन्दोलन उन कार्यों से सर्वथा भिन्न है। इसकी उपलब्धि किसी स्थूल पदार्थ के रूप में प्रत्यक्ष नहीं देखी जा सकती। अन्न, वस्त्र या फलों के ढेर की तरह आध्यात्मिकता, नैतिकता या हृदय-परिवर्तन का ढेर नहीं लगाया जा सकता। भौतिक और अभौतिक वस्तुओं को एक तुला पर तोलने की तो बात ही क्या की जा सकती है, जबकि भौतिक वस्तुओं में भी परस्पर अतुलनीय अन्तर होता है। पत्थर और हीरे को क्या कभी एक तराजू पर तोला जा सकता है ?

अणुव्रत-आन्दोलन की उपलब्धि-प्रत्यक्ष नहीं हो सकती, फिर भी उसने क्या कुछ किया है, इस बात का पता लगाने के लिए कुछ कार्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं। आन्दोलन का ध्येय हृदय-परिवर्तन के द्वारा जनता के चारित्रिक उत्थान का रहा है। अतः उसने भ्रष्टाचार, मिलावट, झूठा तोल-माप, दहेज और रिश्वत आदि के विरुद्ध अनेक अभियान चलाये हैं। मद्यपान और धूम्रपान के विरुद्ध भी वातावरण तैयार करने का प्रयास किया है। सहस्रों व्यक्तियों को उपर्युक्त दुर्गुणों से दूर कर देना आत्मशुद्धि के क्षेत्र में जहाँ एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, वहाँ जन-सामान्य की दृष्टि में आनेवाली आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि भी है। परन्तु आन्दोलन इस उपलब्धि की अपेक्षा उस सूक्ष्म उपलब्धि को अधिक महत्व देता है, जिससे कि जन-मानस में अध्यात्म का बीज-वपन होता है।

आन्दोलन की आवाज

अणुव्रत-आन्दोलन की आवाज तालाब में उठने वाली उस लहर की तरह है, जो कि धीरे-धीरे आगे बढ़ती और फैलती जाती है। आज जितने व्यक्ति इससे परिचित हैं, वे सब धीरे-धीरे ही इसके सम्पर्क में आये हैं। प्रारम्भ काल में बहुत से लोग इसे एक साम्प्रदायिक आन्दोलन मानते रहे थे। आचार्यश्री को अनेक बार एतद्-विषयक स्पष्टीकरण करना पड़ता था। फिर भी सबके मस्तिष्क में वह बात कठिनता से ही बैठ पाती थी। आचार्यश्री यथाशीघ्र इस अविश्वसनीय स्थिति को मिटा देना चाहते थे। वे यह अच्छी तरह से जानते थे कि जब तक यह स्थिति मिट नहीं जाती, तब तक आन्दोलन गति नहीं पकड़ सकता।

वे इस विषय में दूसरो के सुझाव लेने में भी उदार रहे हैं। जयपुर में डा० राजेन्द्रप्रसाद आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। वे उन दिनों भारतीय विधान-परिषद् के अध्यक्ष थे। आचार्यश्री ने उनके सामने अणुव्रत आन्दोलन की रूपरेखा और कार्यक्रम रखा, तो उन्होंने कहा—"देश को ऐसे आन्दोलन की इस समय बहुत आवश्यकता है। इसका प्रसार तीव्र गति से होना चाहिये।"

आचार्यश्री ने तब निःसंकोच भाव से अपनी समस्या रखते हुए कहा—"हम भी यही चाहते हैं, परन्तु इसमें बाधा यह है कि लोग अभी तक इसको साम्प्रदायिक दृष्टि से देखते हैं, इससे प्रसार होने में बहुत बाधाएँ आती हैं।"

डा० राजेंद्रप्रसाद ने कहा—"आन्दोलन यदि असाम्प्रदायिक भाव से कार्य करता रहेगा तो ज्यों-ज्यों लोग सम्पर्क में आयेंगे, त्यों-त्यों यह दृष्टिकोण अपने आप मिट जायेगा।" बात भी यही हुई। आज प्रायः सभी व्यक्ति यह जानने लगे हैं कि अणुव्रत-आन्दोलन का कार्य सम्प्रदाय-भाव से प्रभावित नहीं है। राष्ट्रपति बनने के पश्चात् डा० राजेन्द्रप्रसाद ने आन्दोलन की इस सफलता को महत्त्वपूर्ण मानते हुए लिखा था—"मुझे सबसे अधिक प्रसन्नता तो इस बात से है कि देश में इस आन्दोलन ने सार्वजनिक रूप ले लिया है। मैं समझता हूँ कि अब

लोगों में ये भावनाएँ नहीं रह गई हैं कि यह कोई साम्प्रदायिक आन्दोलन है। इस आन्दोलन का एक सार्वजनिक रूप ही उसके सुनहरे भविष्य का सूचक है।"[1]

इतना होने पर भी कचित् कुछ व्यक्ति आन्दोलन को किसी पक्ष या विपक्ष का मानने की भूल कर जाते हैं। डा० राममनोहर लोहिया तथा एन० सी० चटर्जी आदि कुछ व्यक्तियों ने ऐसा अनुभव किया कि आचार्यश्री द्वारा कांग्रेस की नींव गहरी की जा रही है। इस प्रकार के कई आक्षेप सम्मुख आये। आचार्यश्री का इस विषय में यही स्पष्टीकरण रहा कि आन्दोलन किसी भी राजनीतिक दल से सम्बद्ध नहीं है, पर साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि वह किसी भी दल से असम्बद्ध रहना भी नही चाहता। मानव-मात्र के लिए किये जाने वाले आन्दोलन को न किसी पक्ष-विशेष से बंधना ही चाहिये और न किसी पक्ष-विशेष को उपेक्षित ही करना चाहिए। दो विरोधी पक्षों में भी उसे समन्वय की खोज करना आवश्यक होता है। इसी धारणा पर चलते रहने के कारण आज अणुव्रत आन्दोलन को सभी दलों का स्नेह प्राप्त है। वह अपनी आवाज सभी दलो तक पहुँचाना चाहता है। समन्वय के क्षेत्र में दल, जाति, धर्म आदि का भेद स्वयं ही अभेद में परिणत हो जाता है। आन्दोलन का कार्य किसी की दुर्बलता को समर्थन देना नही है, वह तो हर एक को सबल बनाना चाहता है।

आन्दोलन का मुख्य बल जनता है। उसी के आधार पर इसकी प्रगति निर्भर है। यों सभी दलों तथा सरकारो का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है। सबकी शुभकामनाएँ तथा सहानुभूति उसने चाही है और वे उसे हर क्षेत्र से पर्याप्त मात्रा में मिलती रही है। जन-मानस की सहानुभूति ही उसकी आवाज को गांवो से लेकर शहरों तक तथा किसान से लेकर राष्ट्र-पति तक पहुँचाने मे सहायक हुई है। आन्दोलन ने न कभी राज्याश्रय प्राप्त करने की कामना की है और न उसे इसकी आवश्यकता ही है।

राज्य-सभा मे

भारत की राज्य-सभा मे सन् ५७ में जब अणुव्रत-आदोलन विषयक प्रश्नोत्तर चले थे, तब उसका उत्तर देते हुए गृहमन्त्रालय के मन्त्री श्री बी० एन० दातार ने कहा था—"इस आन्दोलन को राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री नेहरू की शुभकामनाए प्राप्त हैं।" आन्दोलन के अन्तर्गत चल रहे भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा था—"यह कार्य सिर्फ भाषणों तक ही सीमित नही रहेगा, अपितु साधु-जन घर-घर जाकर स्वतन्त्र रूप से उच्चाधिकारियो व कर्मचारियों को भ्रष्टाचार से बचने की प्रेरणा देंगे।" यह कथन सरकार की ओर से उसके संचालकों की शुभकामना का सूचक ही है। आन्दोलन के कार्यकर्ता आर्थिक सहयोग के लिए सरकार की ओर कभी नहीं झुके हैं। यह आन्दोलन की शक्ति है और इसी के आधार पर वह सबका मुक्त सहयोग पा सका है।

१—अणुव्रत—आन्दोलन

विधान-परिषद् में

इसी प्रकार सन् ५६ की फरवरी में उत्तर-प्रदेश की विधान-परिषद् में विधायक श्रीसुगनचन्द्र द्वारा एक प्रस्ताव रखा गया, जिस पर अन्य सत्ताईस विधायकों के भी हस्ताक्षर थे। उसमें कहा गया था—"यह सदन निश्चय करता है कि उत्तरप्रदेशीय सरकार देश में आचार्यश्री तुलसी द्वारा चलाये गए आन्दोलन में यथोचित सहयोग तथा सहायता दे।"[1]

इस प्रस्ताव से कुछ विधायकों को अवश्य ऐसा संदेह हुआ था कि अणुव्रत-आन्दोलन के लिए आर्थिक सहायता मांगी जा रही है। किन्तु बहस के अवसर पर जब यह प्रश्न उठा, तब अनेक विधायकों ने उसका समुचित खण्डन कर दिया। चर्चा काफी लम्बी चली थी, पर यहाँ कुछ व्यक्तियों के ही कथनों को उद्धृत किया जा रहा है। विधायक श्री ललिताप्रसाद सोनकर ने विषय को स्पष्ट करते हुए कहा—"यह प्रस्ताव सरकार से धन की मांग नहीं करता है और न किसी अन्य वस्तु की मांग करता है, लेकिन यह प्रस्ताव सरकार से यही चाहता है कि उसके शासन में रहने वाले लोगों की नैतिक और अध्यात्म-सम्बन्धी या चरित्र-सम्बन्धी बातों में सुधार हो।"[2]

विधायक श्री शिवनारायण ने कहा—"सरकार से सहयोग का मतलब यह है कि सरकार की सहानुभूति प्राप्त हो। आज हर एक आदमी सहयोग का नारा लगा रहा है। सहयोग का मतलब है कि नीचे से लेकर ऊपर तक सभी इस काम में जुट जायें।.........पैसे की कमी नहीं। मान्यवर! पैसा मांगता कौन है?"[3]

सामाजिक सुरक्षा तथा समाज-कल्याण राज्य-मन्त्री श्री लक्ष्मीरमण आचार्य ने कहा—"जहाँ तक सहायता का सम्बन्ध है और सहयोग तथा सहायता के शब्द प्रयोग किये गए हैं, शायद उसके माने यह है कि सरकार यह कह दे कि अणुव्रत-आन्दोलन एक ठीक आन्दोलन है।... ..... लेकिन वह सहायता रुपये-पैसे की नहीं है, मैं ऐसा समझता हूँ। जहाँ तक इन चीजों का सम्बन्ध है, श्रीमन् मुझे सरकार की तरफ से यह कहने में सकोच नहीं है कि अणुव्रत-आन्दोलन को सरकार गलत नहीं समझती है। और ऐसा भी ख्याल करती है कि अणुव्रत-आन्दोलन कोई रिट्रोग्रेटिव स्टेप नहीं है और न कोई प्रतिक्रियावादी शक्तियों की जंजीर है, यह धर्म की स्थापना का नया तरीका है।"[4]

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि अणुव्रत-आन्दोलन के समर्थकों ने जो सहयोग चाहा, वह आर्थिक न होकर वैचारिक तथा चारित्रिक है। इसी सहयोग के आधार पर आन्दोलन की आवाज व्यापक प्रसार पा सकती है। ऐसे आन्दोलनों में वैचारिक तथा

१—जैन भारती १५ नवम्बर, १९५९, २—वही २७ दिसम्बर, १९५९

३—वही २७ दिसम्बर, १९५९, ४—वही २४ जनवरी, १९६०

आचारिक सहयोग से बढ़कर अन्य कोई सहयोग नहीं हो सकता। आर्थिक प्रधानता तो ऐसे आन्दोलनों को नष्ट करने वाली ही हो सकती है। आन्दोलन की आवाज को आगे बढ़ाने में सरकार से लेकर किसान तक का सहयोग इसलिए उन्मुक्त है कि वह आर्थिक या राजनैतिक सहायता की अपेक्षा को कभी मुख्यता प्रदान नही करता।

जन-जन मे

इस आवाज को जन जन तक पहुँचाने के लिए आचार्यश्री ने इन बारह वर्षों में अनेक लम्बी-लम्बी यात्राए कीं और भारत के अनेक प्रान्तों में पहुँचे। लाखों व्यक्तियो से साक्षात्कार हुआ। शहरों और गांवों के व्यक्तियों से आन्दोलन-विषयक चर्चा करने में ही उनका बहुत-सा समय खपता रहा है। पैदल चलना, मार्गस्थ गांवो में थोडा-थोडा ठहरकर जनता को उद्बोध देना और फिर आगे चल पडना, यह एक ऐसी थका देने वाली प्रक्रिया है कि दृढ निश्चय के बिना लगातार ऐसा सम्भव नही हो सकता। अपनी बात को शिक्षितों में किस तरह रखना चाहिए और अशिक्षितों में किस तरह—इसे वे बहुत अच्छी तरह जानते है। वे जितना विद्वानों को प्रभावित करते हैं, उतना ही अशिक्षित ग्रामीणों को भी प्रभावित कर लेते हैं।

अनेकों का श्रम

आचार्यश्री के शिष्यवर्ग ने भी इस कार्य में बहुत परिश्रम किया है। अनेक क्षेत्रों में उनके श्रम ने ही आन्दोलन के मूल को सुदृढ किया है। दिल्ली जैसे व्यस्त तथा राजनैतिक हलचलों से भरे शहरो में आन्दोलन की आवाज को घर-घर में पहुँचाने का काम, यद्यपि बहुत कठिन है, फिर भी मुनिश्री नगराजजी के निर्देश में रहते हुए मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने इस दुस्साध्य कार्य को सहज बना दिया। मुनिश्री नगराजजी की सूझ-बूझ तथा विद्वता और मुनि महेन्द्रकुमारजी की श्रमशीलता का योग आन्दोलन के लिए बडा ही गुणकारी हुआ है। दिल्ली में रहने का अवसर मुझे भी अनेक बार मिला है। उस समय मेरे सहयोगी मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' ने भी वहाँ इस कार्य के लिए अपने शरीर से ऊपर होकर परिश्रम किया है। वहाँ के साहित्यकारों और पत्रकारों से उन्होंने जो विशिष्ट सम्पर्क स्थापित किया, वह आन्दोलन के लिए अतिशय गुणकारी सिद्ध हुआ। मेरा विश्वास है कि आन्दोलन की आवाज का भारत की राजधानी ने जैसा स्वागत किया है, वह प्रथम ही है। अन्य विभिन्न क्षेत्रों में मुनि गणेशमलजी, मुनि छत्रमलजी, मुनि मगनलालजी, मुनि पुष्पराजजी, मुनि राकेशजी आदि साधुओ तथा कस्तूराजी आदि साध्वियो का परिश्रम भी इस दिशा मे उल्लेखनीय रहा है।

नये उन्मेष

बीज जब तक धरती में उप्त नहीं किया जाता, तब तक वह अपनी सुषुप्त-अवस्था में रहता है, किन्तु जब उसे अनुकूल परिस्थितियों में उप्त कर दिया जाता है, तो वह अकुरित

होकर नये-नये उन्मेष करता हुआ फल तक विकसित हो जाता है। विचारों का भी कुछ ऐसा ही क्रम होता है, वे या तो सुषुप्त रहते है या फिर जागृत होकर नये-नये उन्मेष प्राप्त करते हुए फल-निष्पत्ति की ओर अग्रसर होते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ तब साधारण आचार-संहिता के रूप में उसका वीज विचार-क्षेत्र से निकलकर कार्य-क्षेत्र में उप्त हुआ। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों उसमें अनेक नये-नये उन्मेष होते गए।

हर उत्थान अनेक उत्थानों को साथ लेकर आता है और हर पतन अनेक पतनों को। भारतीय जीवन में जब पुराकाल में आचरणों के प्रति सावधानी हुई, तब उसका विकास यहाँ तक हुआ कि माल से भरी दूकानों में भी ताला लगाने की आवश्यकता नहीं रही। लिखी हुई बात का तो कहना ही क्या, किन्तु कही हुई या यों ही सहज भाव से मुह से निकली बात को निभाने के लिए प्राणोत्सर्ग तक भी कोई वडी बात नहीं रही, परन्तु जब उसी भारत में दूसरा दौर प्रारम्भ हुआ तो नैतिकता या सदाचार से जैसे विश्वास ही उठ गया। जेब में पड़ी चीजें भी गायब होने लगीं। लिखी हुई बात भी विश्वसनीय नहीं रही। परमार्थ की वृत्ति में अग्रणी भारतीय आकण्ठ स्वार्थ में निमग्न हो गए।

साहित्य द्वारा

ऐसी स्थिति में आचार्यश्री ने पुन: आचरण-परिशोध की बात प्रारम्भ की, तो उसके साथ अनेक प्रकार के परिशोधों की ओर सहज ही दृष्टि जाने लगी। विचार-क्रान्ति को परिपुष्ट करने के लिए अणुव्रत-साहित्य का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। यह आन्दोलन का प्रथम नवोन्मेष था, जो बातें शत-शत बार के कथन से हृदयगम नहीं हो पातीं, वे साहित्य के द्वारा सहज ही हृदयंगम हो जाती है। अणुव्रत-साहित्य ने जीवन-परिशोध की जो प्रेरणाएँ दीं, वे अन्यथा सुलभ नहीं हो सकती थीं।

गोष्ठियां आदि

विचार-प्रसार के लिए समय-समय पर विचार-परिषदों, गोष्ठियों, प्रवचनों तथा सार्वजनिक भाषणों का क्रम प्रचलित किया गया। यह भी आन्दोलन की प्रवृत्तियों में एक नवोन्मेष ही था।

विविध अभियान

कार्य-क्षेत्र में भी विविध उन्मेष हुए। दहेज-विरोधी अभियान, व्यापारी-सप्ताह, मद्य-विरोधी तथा रिश्वत-विरोधी कार्यक्रम—ये सब आन्दोलन के कार्य-क्षेत्र को और अधिक विकसित करने में सहायक हुए। यही क्रम कुछ विकसित होकर वर्गीय नियमों के आधार पर विचार-प्रसार का माध्यम बना।

विद्यार्थि-परिषद्

विचारों की पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिए विद्यार्थियो को विशेष रूप में उचित पात्र समझा गया। आन्दोलन ने उन पर विशेष ध्यान दिया। अध्यापकों और विद्यार्थियों के

द्वारा वहाँ अणुव्रत विद्यार्थि-परिषदों की स्थापना हुई। दिल्ली में यह कार्य विशेष रूप से सगठित हुआ। लगभग पचास हायर सेकेण्ड्री स्कूलों में अणुव्रत विद्यार्थी-परिषद् स्थापित हुई। उन सबको एक सूत में ग्र थित करने के लिए प्रत्येक स्कूल के प्रतिनिधियो के आधार पर केन्द्रीय अणुव्रत-विद्यार्थि-परिषद् बनी। इस परिषद् ने दिल्ली में अनेक बार दहेज-विरोधी कार्यक्रम सम्पन्न किये। भाषण-प्रतियोगिता, वाद-विवाद-प्रतियोगिता आदि आयोजनों द्वारा छात्रों की सुरुचि को जागृत करने का प्रयास किया।

केन्द्रीय अणुव्रत समिति

केन्द्रीय अणुव्रत-समिति की स्थापना भी आन्दोलन के क्षेत्रो में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसकी स्थापना आन्दोलन के कार्यों को व्यवस्थित गति देने के लिए हुई थी। साहित्य-प्रकाशन तथा 'अणुव्रत' नामक पत्र का प्रकाशन भी समिति ने किया। अणुव्रत-अधिवेशन के रूप में प्रतिवर्ष विचारो का आदान-प्रदान तथा एकसूत्रता का वातावरण बनाये रखने के लिए वह सदा प्रयत्न करती रही है।

स्थानीय समितियाँ

आन्दोलन के प्रसारार्थ आचार्यश्री तथा मुनिजनों का विहार-क्षेत्र ज्यों ज्यों विकसित हुआ, त्यों-त्यों स्थानीय अणुव्रत-समितियों की भी काफी सख्या में स्थापना हुई। उन्होंने अपने स्थानीय आधार पर बहुत कुछ काम किया है। उनमें कुछ का स्थायित्व तो काफी प्रशसनीय रहा है, परन्तु कुछ बहुत ही स्वल्पकालिक निकली।

कमजोर पक्ष

अणुव्रत-आन्दोलन का यह एक बहुत कमजोर पक्ष भी रहा है कि आचार्यश्री तथा मुनिजन कार्य को जहाँ आगे बढ़ाते रहे हैं, पीछे से उसकी सार संभाल बहुत ही कम हो सकी है। इस शिथिलता के कारण बिहार तथा उत्तरप्रदेश के अनेक स्थानों में स्थापित अणुव्रत-समितियों से आज कोई विशेष सम्पर्क नहीं रह पाया है। यदि केन्द्रीय समिति इस कार्य को व्यवस्थित रूप दे सकती, तो आन्दोलन की प्रगति को अधिक स्थायित्व मिलता और तब 'परिश्रम अधिक और फल कम' की बात कहने का किसी को अवसर नही मिलता।

सामूहिक सुधार

अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति-सुधार की दृष्टि से कार्य करता रहा है, किन्तु वह सामूहिक सुधार में भी दिलचस्पी रखता है। आचार्यश्री ने एक बार आन्दोलन का अगला कदम परिवार-सुधार को बतलाते हुए कहा था—"अब हमें व्यक्ति से समष्टि की ओर अग्रसर होना है। परिवार-सुधार सामूहिक सुधार की दिशा में ही एक कदम है।" आचार्यश्री उस घोषणा के पश्चात् क्रमश उस ओर आन्दोलन को प्रगति देते रहे हैं।

उन्ही दिनों मैं (मुनि बुद्धमल) दिल्ली में था। वहाँ राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद से मिलने के लिए १८ जुलाई १९५९ का दिन निश्चित हुआ था। यथासमय मैं उनसे मिला। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा—"अब समय आ गया है, जब कि अणुव्रत-आन्दोलन को सामूहिक सुधार की दिशा में काम करना चाहिए।"

मैंने तब आचार्यश्री द्वारा घोषित सामूहिक सुधार की योजना उनके सामने रखी और कहा कि दो चिन्तकों के मन में एक ही प्रकार के विचार कार्य कर रहे हैं, यह आन्दोलन के लिए बहुत शुभ है।

राष्ट्रपति ने उस योजना में बड़ी दिलचस्पी ली और अपने अनेक सुझाव भी दिये।

नया मोड़

परिवार-सुधार की उस योजना को विकसित कर आचार्यश्री ने कुछ समय पश्चात् नये मोड के रूप में समाज के सम्मुख कुछ बातें रखी। उसमें प्राचीन रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों के विरुद्ध जन-मानस को तैयार करने का उपक्रम किया गया। समाज के ऐसे बहुत से कार्य है, जो चालू परम्परा से किये जाते है, परन्तु आज उनका मूल्य बदल गया है। समाज के धनी-मानी लोग नये मूल्यों के अनुसार नये कार्य तो प्रारम्भ कर देते है, किन्तु प्राचीन कार्यों को सहसा छोड नहीं पाते। मध्यम वर्ग के लोग उन्हें छोडना चाहते हुए भी अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेते है और छोडने के बजाय उनसे चिमट कर रह जाते है। उनकी गति सांप-छछूंदर जैसी बन जाती है।

आचार्यश्री एक लंबे समय से सामाजिक अभिशापों की बातें सुनते रहे है। उनके विषय में कुछ कहते भी रहे है। समाज में जन्म, विवाह और मृत्यु के समय किये जाने वाले संस्कार इतने विचित्र और इतने अधिक हैं कि उन सबको यथाविधि करने वाला तो शायद मिलना ही कठिन है, परन्तु प्राय: हर व्यक्ति कुछ पुराने संस्कार को छोड़ देता है तो कुछ नये अपना लेता है। यों वह बराबर उतना ही भार ढोये चलता है। दक्षिण के राजा रामदेव के मन्त्री आचार्य हेमाद्रि ने अपने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' ग्रथ में तथा उसी समय के काशी के पंडित नीलकंठ, कमलाकर भट्ट, आदि ने अपने ग्रन्थो में हिन्दुओं के क्रिया-काण्डों का विशद विवेचन किया है। उनके अनुसार प्रत्येक नैष्ठिक हिन्दू को प्रतिवर्ष दो हजार के लगभग क्रियानुष्ठान करने आवश्यक होते हैं, अर्थात् प्रतिदिन पाँच-छह अनुष्ठान। आजकल उन अनुष्ठानों में से बहुत से तो केवल पुस्तकों में ही रह गये हैं, फिर भी जो अवशिष्ट है तथा नये-नये प्रचलित किये जा रहे हैं, वे भी इतने हैं कि साधारण व्यक्ति उनके भार से दबा जा रहा है। आचार्यश्री अनुभव कर रहे हैं कि जब तक सामाजिक जीवन में सादगी को महत्व नहीं दिया जायेगा, तब तक अणुव्रत-भावना के प्रसारार्थ क्षेत्र की अनुकूलता नही हो सकेगी। इसीलिए वे नये मोड पर इतना जोर देते हैं और चाहते है कि हर गांव में सामाजिक स्तर पर कुछ नियम बनाये जाये और उनमें सादगी को प्रमुखता दी जाये।

अनेक स्थानों पर इस भावना के अनुरूप नियम बने हैं। जहाँ अभी तक नहीं बने हैं, वहाँ के लिए प्रयास चालू है। प्राय हर गांव में ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं जो सादगी को पसद करते हैं, परन्तु इस कार्य में बाधाएँ भी बहुत हैं। पुराने विश्वासों के स्थान पर नये विश्वासों को जमाना प्राय· सहज नहीं होता। यदि अणुव्रत-आन्दोलन यह कर देता है, तो वह अपने लक्ष्य में से एक बहुत बडे कार्य की पूर्ति कर लेता है।

प्रकाश-स्तम्भ

आना ही न पड़ता

अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से जो कार्य हुआ है, वह परिमाण में भले ही बहुत कम हो, किन्तु मात्रा में काफी महत्त्वपूर्ण हुआ है। हृदय-परिवर्तन के ऐसे अनेक उदाहरण सामने आये हैं, जो कि विरले ही मिल सकते हैं। एक बार दिल्ली सेंट्रल जेल में आचार्यश्री का भाषण हुआ। उसके कुछ ही दिन बाद एक सिपाही एक बदी को लिए हुए जा रहा था। एक अणुव्रती भाई भी उस तरफ ही जा रहा था। मार्ग में उस भाई ने बन्दी से पूछा—"क्या तुमने जेल में आचार्यश्री का भाषण सुना था ?" बन्दी ने कहा—"हाँ, सुना तो था, लेकिन वही भाषण यदि कुछ पहले सुन पाता तो मुझे यहाँ आना ही न पडता।"

एक सौ नौ

उत्तरप्रदेश में विहार करते हुए जब आचार्यश्री हाथरस पधारे, तब वहाँ मुनिश्री नगराजजी आदि ने व्यापारियो को प्रेरणा दी और अणुव्रत-आन्दोलन के वर्गीय-नियमो की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया। फलस्वरूप एक सौ नौ व्यापारियों ने मिलावट न करने आदि के नियम ग्रहण किये। उनमें छोटे-बड़े सभी प्रकार के व्यापारी थे।

उन दिनों मैं दिल्ली में था। हाथरस की उस घटना के कुछ दिन पश्चात् ही पण्डित नेहरू के साथ मेरा अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में विचार-विनिमय हुआ। पौन घण्टा के उस वार्त्तालाप-प्रसग में जहाँ आन्दोलन के विविध पहलुओं पर बातें हुई, वहाँ हृदय-परिवर्त्तन के विषय में भी बात हुई। उस सिलसिले में मैंने हाथरस की घटना को उनके सामने रखा। वे हृदय-परिवर्तन की उस घटना से जहाँ आश्चर्याभिभूत हुए, वहाँ कुछ जिज्ञासु भी हुए। उन्होंने पूछा—"क्या उन सबके नाम पत्रों में प्रकाशित किये गये हैं ? यदि नहीं, तो शीघ्र ही वे नाम प्रकाशित होने चाहिये, ताकि अन्य व्यक्ति भी उनसे प्रेरणा ले सकें।" वस्तुत. वे नाम उत्तरप्रदेश के पत्रों में उसी समय प्रकाशित हो चुके थे।

सबके सम्मुख

हृदय-परिवर्तन के ऐसे उदाहरण यत्र-तत्र उपलब्ध तो होते रहते हैं, परन्तु वे संकलित कठिनता से ही किये जाते हैं। अणुव्रत-समिति के वार्षिक अधिवेशनो के समय ऐसे उदाहरणों

का सकलन सहज होता है। उस समय अधिवेशन से पूर्व आचार्यश्री के सान्निध्य में एक अन्तरग सम्मेलन किया जाता है। उसमें समागत अणुव्रती भाई-बहिन सम्मिलित होते है और अपनी अपनी कठिनाइयाँ सामने रखते है। जिसने उन कठिनाइयों का सामना करने में किसी विशेष पद्धति का अनुसरण किया हो तो वह भी दूसरो की सुविधा के लिए सामने रखा जाता है।

अणुव्रतियों के अनुभवों से पता लगता है कि वे अनैतिकता के सामने डटे हैं। अपने उस कर्तव्य में मानवीय स्वभाव के अनुसार कचित् किसी की भूल हो जाना भी स्वाभाविक है, परन्तु वहाँ सबके सामने अनेक व्यक्तियों ने अपनी उन भूलों को भी स्वीकार किया है तथा उसका प्रायश्चित्त किया है। भूल करना बुरा होता है, परन्तु उसे छिपाना उससे भी अधिक बुरा होता है। जहाँ अधिकांश व्यक्ति अपनी भूल को छिपाना चाहते हैं, वहाँ अनेक व्यक्तियों के सम्मुख अपने ही द्वारा उसे स्वीकार कर लेना, बडा साहस का कार्य कहा जा सकता है।

एक ओर अर्थ-लाभ हो तथा दूसरी ओर नैतिकता, वहाँ अर्थ-लाभ को ठुकरा देना बहुत कठिन होता है। किन्तु अनेक सदस्यो ने ऐसा किया है। उनके कुछ प्रेरणाप्रद उदाहरण अवश्य ही यहाँ प्रासगिक होंगे।

क्या पूजें?

एक व्यक्ति जब अणुव्रती बनकर अपने मालिक के यहाँ गया और उसने बहीखाते में गड़-बडी न करने की अपनी प्रतिज्ञा उनको बतलाई तो मालिक ने कहा—"यदि ऐसा नहीं कर सकता तो क्या हम तुझे यहाँ बिठा कर पूजें?" और उसने उसे अपने यहाँ से हटा दिया। काफी समय तक उसे आर्थिक विपत्तियो का सामना करना पडा, किन्तु अब उसका कथन है कि वह विपत्ति ही उसके लिए वरदान बन गई। अब बाजार मे उसकी साख बहुत ऊँची है और इस समय वह पहले से कहीं अधिक कमा लेता है।

नदी मे

एक ओषधि-विक्रेता के यहाँ दस हजार रुपये का मिलावटी पिपरमेण्ट आ गया। एक अणुव्रती होने के नाते उसने उसे नदी में बहा दिया। यदि वह चाहता तो जैसे आया था, वैसे खपा भी सकता था। पर सहस्रों रुपयो की हानि उठाकर भी उसने ऐसा नहीं किया

यह मुझे मंजूर नहीं

एक अन्य अणुव्रती ने दो सौ रुपये का अधिक इन्कमटैक्स लगा देने पर मुकदमा लड़ा। लोगों ने कहा—"मुकदमा लड़ने पर तो दो सौ की जगह कही दो हजार खर्च होने की सम्भावना होती है, तब फिर ये दो सो ही क्यों नही दे देते?" उसने कहा—"दो सौ रुपये भी दूँ और चोर भी बनूँ, यह मुझे मंजूर नहीं।"

रिश्वत या जेल

इनके अतिरिक्त ऐसे भी अनेक उदाहरण सामने आये है, जिनसे अनैतिकता का सामना करने की भावना को वढाने में आन्दोलन की सतत जागरूकता का परिचय मिलता है। उदाहरण-स्वरूप उडीसा प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी तथा ग्राम-पचायत के सदस्य एक अणुव्रती की घटना दी जा सकती है। एक बार उसके गांव में सवर्ण तथा असवर्ण हिन्दुओ का परस्पर झगड़ा हो गया। उसमें एक ब्राह्मण-दम्पती की हत्या कर दी गई। पुलिस-अफसर ने पचायत वालों द्वारा जोर डालने पर भी, न जाने क्यो, उस मामले पर विशेष ध्यान नही दिया। उन्हीं दिनो सम्बलपुर में नेहरूजी आने वाले थे। उस अवसर पर टिटलागढ सव-डिवीजन के प्रतिनिधि के रूप में उपर्युक्त अणुव्रती भाई वहाँ कांग्रेस-कमेटी में भाग लेने वाला था। सयोगवश उसने पुलिस अफसर से कह दिया कि मैं यहाँ की सारी घटना सम्बलपुर-कांग्रेस-कमेटी में कहूँगा। वस, फिर क्या था, पुलिस ने झूठा गवाह तैयार करके उसे फांसा और हत्या में उसका भी हाथ होने के अभियोग में गिरफ्तार कर लिया। जब वह हिरासत में था, पुलिस वालो ने अपने ढग से उसे यह जतला दिया कि कुछ देकर वह इस झझट से वच सकता है। किन्तु उसने रिश्वत देकर छूटने से साफ इनकार कर दिया। आखिर मुकदमा चला और सोलह महीने के पश्चात् वह निर्दोष होकर छूटा। उसका कहना है कि राज्य की न्याय-व्यवस्था तथा पुलिस पर आक्रोश के भाव तो मन में अवश्य उभरे, पर इस बात का सन्तोष है कि कष्ट सहकर भी मैंने रिश्वत देने की भ्रष्ट पद्धति का अवलम्बन नहीं लिया।

ब्लैक स्वीकार नहीं

एक व्यापारी को अपने साथी दूसरे व्यापारी के साथ प्लास्टिकचूर्ण का एक वडा कोटा मिला हुआ था। उस समय की ब्लैक-दर से उसमें लगभग तीन लाख का मुनाफा होता था, किन्तु उस भाई को अणुव्रती होने के नाते ब्लैक करना स्वीकार नही था, अतः उसे वह व्यापार ही छोड देना पडा।

गुड़ की चाय

आसाम के एक व्यवसायी अणुव्रती होने के पश्चात् कोई भी वस्तु ब्लैक से नही खरीदते थे। ब्लैक से खरीदे बिना उस समय चीनी प्राप्त कर लेना कठिन ही नही, किन्तु असम्भव-प्राय था। वे भाई अपने नियम में पक्के रहे और गुड की चाय पीने लगे। एक वार उनके किसी सम्बन्धी के यहाँ कुछ अतिथि आये। उन अतिथियो में एक टैक्सटाइल सुपरिण्टेण्डेण्ट भी थे। चायपार्टी में वह अणुव्रती भाई भी सम्मिलित हुआ। किन्तु औरों के लिए जहाँ चीनी की चाय आई, वहाँ उसके लिए गुड की चाय मंगायी गई। अतिथि उनके उस विचित्र व्यवहार से बड़े चकित हुए, किन्तु जब उन्हें कारण से अवगत किया गया तो वे वहुत प्रभावित हुए। समागत अफसर ने तभी से ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि उन्हें प्रति-सप्ताह ढाई सेर चीनी नियन्त्रित भावों से मिलती रहे।

सत्य की शक्ति

एक सप्लाई-क्लर्क को उसके अफसर ने बुलाकर कहा—"स्टॉक में सीमेंट कम है और मांग अधिक है। जान-पहचान के कुछ व्यक्तियों को सीमेन्ट दिलाना है, अतः आप अपनी रिपोर्ट में अन्य व्यक्तियों की दरख्वास्त पर स्टॉक में सीमेण्ट न होना लिख देना।"

क्लर्क ने कहा—"श्रीमन् ! माफ करें। मैं गलत रिपोर्ट नहीं दे सकता। आपको ऐसा ही करना है तो मुझसे रिपोर्ट न मांगें। जिन्हें दिलाना चाहें, उनकी दरख्वास्त पर आर्डर लिख दें, मैं परमिट बना दूंगा।"

उस अफसर पर उस बात का इतना प्रभाव पड़ा कि उसके पश्चात् वे उसके द्वारा पेश किये गए कागजों पर बिना किसी संशय के हस्ताक्षर कर देने लगे। यहाँ तक कि कभी-कभी तो दूसरे विभागों के कागजात भी उसके पास भेजकर कह देते थे कि इन पर आर्डर लिख देना, मैं हस्ताक्षर कर दूंगा। इन्हीं सब बातों को देखते हुए उस भाई का विश्वास है कि सत्य में काफी शक्ति होती है। पर उसकी परीक्षा में डटे रहना ही सबसे अधिक कठिन है।

दूकानों की पगड़ी

दिल्ली में एक भाई ने नया मकान बनवाया। उसमें आठ दूकानें किराये पर देने की थीं। शहर में दूकानों की प्रायः कमी होती है, अतः लोग किराये के अतिरिक्त पगड़ी के रूप में भी हजारों रुपये पहले देने को तैयार रहते हैं। उस भाई को दूकानों के लिए भी पांच-पांच हजार रुपये की पगड़ी देने वाले कई व्यक्ति आये। इस प्रकार अनायास ही आठ दूकानों का चालीस हजार रुपया पगड़ी के रूप में मुफ्त ही मिल रहा था। परन्तु अणुव्रती होने के नाते उसने वह पैसा स्वीकार नहीं किया और अपनी सारी दूकानें केवल उचित किराये पर ही दे दीं।

एक चुभन

एक अणुव्रती भाई की दूकान पर सेल्स-टैक्स-इंसपेक्टर आया। उसने कुछ कपड़ा खरीदना चाहा, परन्तु जो कपड़ा वह चाहता था, वह पहले ही स्टेशन-मास्टर द्वारा खरीदा जा चुका था। वैसा और कपड़ा दूकान में था नहीं। दूकानदार ने कहा—"आप दूसरा चाहें जो कपड़ा खरीद लें, पर यह खरीदा हुआ कपड़ा मैं आपको कैसे दे सकता हूं?"

इन्सपेक्टर कुछ गर्म हुआ और चला गया, परन्तु उसके मन में उस बात की चुभन हो गई। एक बार सेल्स-टैक्स ऑफीसर को उस दूकानदार ने हर वर्ष की तरह अपने वही खाते दिखाये। वह उस पर फैसला लिखने ही वाला था कि इतने में वह इन्सपेक्टर वहाँ आ गया और बोला—"मैं इस फर्म की इन्क्वायरी करूंगा।" ऑफीसर ने कह दिया, कर लो। तबसे उस दूकानदार का मामला सेल्स-टैक्स आफीसर से हटकर इन्सपेक्टर के हाथ में आ गया।

वह उसे आये दिन तग करने लगा । समय-असमय बुला लेता और तरह-तरह के प्रश्न करता रहता । वह एक प्रकार से वैर लेने की वृत्ति से काम कर रहा था । उसे फसाने के लिए उसने उन सब तारीखों को गुप्त रूप से सग्रहीत कर रखा था, जिनमें कि विभिन्न स्थानों से उसकी दूकान पर माल आया था । उसके पास इसका भी पूरा-पूरा व्यौरा था कि म्युनिसिपल कमेटी का टरमिनल टैक्स कब दिया और कितना दिया । बहुत दिनों तक वह उसके वही-खाते भी देखता रहा । आखिर कहीं भी कोई पकड वाली बात हाथ न लगी, तब वह स्वय ही अपने कार्य के प्रति लज्जित हुआ । दूकानदार के प्रति उसका हृदय भी बदला आखिर उसने अपनी इन्क्वायरी की समाप्ति इन शब्दों में लिख कर की—"मैंने फर्म के वही खाते बडी सावधानी से देखे हैं । इनमें कहीं भी गोलमाल नहीं मिला ।"

इस प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण हैं जो कि आन्दोलन के द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्य के प्रति मन में निष्ठा उत्पन्न करते है और दूसरो को यह प्रेरणा भी देते हैं कि सकल्प करने पर हर कोई वैसा बन सकता है । वस्तुत' शुभ सकल्प करना इतना कठिन नहीं होता, जितना कि बाद में प्रतिक्षण उस पर डटे रहना । किन्तु ऐसा किये बिना समाज में न आध्यात्मिकता पनप सकती है और न नैतिकता । उपर्युक्त उदाहरण हर एक व्यक्ति के लिए प्रकाश-स्तम्भ के समान है । कठिनाइयाँ पृथक्-पृथक् हो सकती हैं, परन्तु उन सबको हल करने का एक मात्र यही तरीका हो सकता है, कि वह अपने-अपको इतना दृढ बनाये कि उस पर असत्य का नाग फन मार-मार कर भले ही मर जाये, पर उस पर उसके विष का कोई प्रभाव न हो सके ।

: ६ :

विहार-चर्या

प्रशस्त चर्या

'विहार चरिया इसिणं पसत्था' इस आगम-वाक्य में ऋषियों के लिए विहार-चर्या को ही प्रशस्त बताया गया है। भारतवर्ष में प्रायः हर सन्यासी के लिए यायावरता को अत्यन्त आवश्यक माना गया है। जीवन की गति-शीलता के साथ पैरों की गतिशीलता का अवश्य ही कोई अदृश्य सम्बन्ध रहा है। यहाँ के नीतिकारों ने देशाटन को चातुर्य का एक कारण माना है। उपनिषद्कारों ने **'चरैवेति-चरैवेति'** सूत्र से केवल भावात्मक गतिशीलता को ही नहीं, अपितु देशाटन—यायावरता को भी विभिन्न उपलब्धियों का हेतु माना है।

जैन मुनियों के लिए तो यह चर्या मुनि-जीवन के साथ ही सहज स्वीकृत होती है। आज जब कि वाहनों के विकास ने क्षेत्र की दूरी को सकुचित कर दिया है, जल, स्थल और आकाश की अगम्यता धीरे-धीरे गम्यता में परिणत हो गई है, तब भी जैन मुनि उसी प्राचीन परिपाटी के अनुसार पाद-चार से ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए देखे जा सकते है।

संपर्क के लिए

विहार-चर्या जन-सम्पर्क की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। गांवों और शहरों में हर प्रकार के व्यक्तियों तक पहुंचने के लिए एक मात्र सफल उपाय यही हो सकता है। तेज वाहनों पर चलने से वह सम्पर्क सम्भव नहीं हो सकता। मुनि-जीवन के लिए जिस साधारणीकरण की आवश्यकता होती है, वह इस चर्या के द्वारा ही सपन्न हो सकती है। विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वीकृत यह आदर्श अपने-आप में जन-सम्पर्क की अद्वितीय क्षमता सजोये हुए है।

राजघाट पर आचार्य श्री तुलसी और विनोबाजी का मिलन हुआ। विनोबाजी ने कहा—"मैंने भी जैन मुनियों की तरह पैदल चलने का निश्चय किया है।" उनके इस कथन से मुझे लगा कि जन-सम्पर्क के लिए विनोबाजी ने भी इसे सर्वोत्तम साधन माना है। किन्तु दोनों की स्थितियों में अंतर है। विनोबाजी की पद- यात्रा उनका व्रत नहीं है, जब कि आचार्य श्री की पदयात्रा उनका व्रत है।

प्रचण्ड जिगमिषा

यों तो प्रत्येक जैन-मुनि दीक्षा-ग्रहण के साथ ही आजीवन के लिए पद-यात्री बन जाता है, परन्तु आचार्य श्री की पदयात्राएँ अपने साथ एक विशेष कार्यक्रम लिए हुए है। वे आजतक जितना घूम चुके हैं, उससे कहीं अधिक घूमना उनके लिए अवशिष्ट है। उनकी गति की त्वरता यही बतलाती है कि अभी उनके लिए बहुत काम अवशिष्ट है, शिथिल गति से उसकी

पूर्ति नहीं की जा सकती। वे लगभग सोलह-सत्रह-हजार मील चल चुके हैं, परन्तु अब भी उनका चलने का उत्साह बिलकुल नया बना हुआ है।

वे एक यात्रा समाप्त करते हैं, उससे पहले ही अन्य यात्राओं की भूमिका बांध लेते हैं। गुजरात-यात्रा के अवसर पर वे 'बाव' गये थे, परन्तु उससे बहुत पहले वहाँ जाने की स्वीकृति दे चुके थे। मेवाड़ से थली में आने से पूर्व ही वापस मेवाड़ और उदयपुर पहुचने की अतिम तिथि का निर्धारण उन्होंने कर दिया। दक्षिण-यात्रा का विचार उनके मन में एक अधूरे स्वप्न की तरह सदैव अपनी पूर्ति की मांग करता रहता है। वस्तुत यात्रा में वे अपने आपको अपेक्षा-कृत अधिक ताजा और प्रसन्न अनुभव करते हैं। नवीनता से वे चिर-वचन करके आये है। एक स्थिति में या एक क्षेत्र में ठहरना उनके मन ने कभी स्वीकार नही किया है। वे गति चाहते हैं, अपने लिए भी और दूसरों के लिए भी। एक प्रचण्ड जिगमिषा उन्हें अज्ञात रूप से सतत प्रेरित करती रहती है।

दैनिक गति

आठ-दस मील चलने को अब वे बहुत साधारण गिनते हैं। चौदह-पन्द्रह मील चलने पर उन्हें कहीं विहार करने का मनस्तोष मिल पाता है। आवश्यकता होने पर बीस-बाईस मील चल लेना भी उन्हें कोई अधिक कठिन कार्य नही लगता। स० २०१३ में सरदारशहर से दिल्ली पहुँचे, तो प्राय प्रतिदिन बीस मील के लगभग चले। कलकत्ता से थली में आये, तो प्राय प्रतिदिन पन्द्रह-सौलह मील चले। बीच-बीच में क्वचित् उससे अधिक भी चले। उन्हें मानो गति में थकान नही आती, स्थिति में आती है। अपने आचार्य-काल के प्रथम बारह वर्षों में वे बहुत कम घूमे, उस समय उनकी गतिविधि केवल थली (बीकानेर डिवीजन) तक ही सीमित रही। परन्तु अगले बारह वर्षों में वे इतने घूमे कि पूर्व काल में कम घूमने की बात अविश्वस-नीय-सी बन गई।

शाश्वत यात्री

अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना और सुदूर यात्राएँ प्राय· साथ-साथ ही प्रारभ हुई। राज-स्थान, दिल्ली, पजाब , उत्तरप्रदेश, विहार, बगाल, मध्यभारत, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रान्त उनके चरण-स्पर्श का लाभ प्राप्त कर चुके हैं। भारत के अवशिष्ट प्रान्त उत्सुकतापूर्वक उनकी प्रतीक्षा में हैं। आगामी यात्राओ का उनका क्या कार्यक्रम है, यह तो वे ही जाने, परन्तु पिछली यात्राओ को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उनकी यात्राओं का क्रम अखड रूप से चालू रहेगा। जन-मानस को प्रेरित करने के लिए ऐसी यात्राएँ बहुत ही उपयोगी होती हैं।

उनकी यात्राओं को चार भागों में बांटा जा सकता है—दिल्ली, पंजाब-यात्रा, गुजरात-महाराष्ट्र-मध्यभारत-यात्रा, उत्तरप्रदेश-विहार-बंगाल-यात्रा और राजस्थान-यात्रा। यद्यपि

उनके इस भ्रमण के लिए 'यात्रा' शब्द उतना अनुकूल नहीं बैठता, क्योंकि यात्री किसी एक निर्णीत स्थान से चलता है और जब पुनः अपने स्थान पर पहुच जाता है, तब उसकी एक यात्रा समाप्त मानी जाती है। परन्तु आचार्य श्री के लिए अपना कोई स्थान नहीं है। यों सभी स्थानों को वे अपना ही मानते है, पराया उनके लिए कोई नहीं है। तब फिर कहाँ से यात्रा का प्रारभ हो और कहाँ अत ? वे शाश्वत यात्री है और उनकी यात्रा भी शाश्वत है। वह उनके जीवन की एक अभिन्न चर्या है। इसीलिए ऐसी यात्रा को आगम 'विहार-चर्या' के नाम से पुकारते है। केवल जन-प्रचलित भाषा-प्रयोग की निकटता के लिए ही यहाँ मैंने 'यात्रा' शब्द का प्रयोग कर लिया है।

(१) प्रथम यात्रा

चरत भिक्खवे

आज से लगभग ढाई-हजार वर्ष पूर्व जब कि अध्यात्म-प्राण भारत-भूमि में हिंसा, जातीयता, कामुकता, शोषण और सग्रह आदि की प्रवृत्तियाँ जोर पकड रही थीं, तब गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा था—

चरत भिक्खवे चारिकां, चरत भिक्खवे चारिकां,
बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।

अर्थात्—"हे भिक्षुओं ! बहुत जनो के हित और सुख के लिए तुम पद-विहार करो।" भिक्षुओं ने पूछा—"भदन्त ! अज्ञात प्रदेश में जाकर हम लोगों से क्या कहे ?" बुद्ध ने कहा—

पाणो न हंतवो,
अदिन्नं न दातव्वं,
कामेसु मुच्छा न चरितव्वा,
मूसा न भासितव्वा,
मज्जं न पातव्वं।

अर्थात्—"प्राणियों की हिंसा मत करो, चोरी मत करो, कामासक्त मत बनो, मृषा मत बोलो और मद्य मत पीओ। उन्हें इस पंचशील का सदेश दो।" अपने शास्ता की आज्ञा को शिरोधार्य कर भिक्षु चल पडे। उस छोटी-सी घटना ने वह विस्तार पाया कि एक दिन समस्त एशिया भूखण्ड में पंचशील का घोष फैल गया।

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रारंभ भी उसी प्रकार की स्थितियों में हुआ। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ भारत में हिंसा, जातीयता, गरीबी और शोषण आदि का दुश्चक्र बहुत तेजी से घूमने लगा। लम्बी पराधीनता के कारण जनता का चरित्र-बल-शून्यता के आसपास ही पहुच चुका था। देश को सर्वाधिक तात्कालिक आवश्यकता चरित्र-निर्माण की थी। उस समय आचार्य श्री ने अपने शिष्यों से कहा—"साधुओ ! स्व-पर-कल्याण के लिए विहार करो और गांवों तथा

नगरों में पहुँचकर चरित्र-उत्थान का संदेश दो।" उन्होने उन सबको पचशील के स्थान पर पच अणुव्रतों की व्यवस्थित रूप-रेखा दी। वे पांच अणुव्रत ये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

उन्होंने कहा—"अहिंसा आदि की पूर्णता तक पहुचना जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिए और उनको अणुरूप से प्रारभ कर अधिकाधिक जीवन-व्यवहार में उतारते जाना प्रतिदिन का काम होना चाहिए। अतः तुम ससार को अणु से पूर्ण की ओर वढने का सन्देश दो।" मुनिजन अपने नियामक के निर्देश को घर-घर पहुँचाने में जुट गए। उत्तर में शिमला से लेकर दक्षिण में मद्रास तक तथा पूर्व में वगाल से लेकर पश्चिम में वम्वई-महाराष्ट्र तक पद- यात्राओं का एक सिलसिला प्रारंभ हो गया। अणुव्रतों के घोप से वायुमण्डल मुखरित हो उठा। जनता के सुप्त मानस में पुन एक हलचल प्रारभ हुई

जयपुर मे

आचार्यश्री स्वय भी इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी ऐतिहासिक पदयात्राओ के लिए चल पडे। सरदारशहर (राजस्थान) में अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात कर, वे राजस्थान के लघु ग्रामों में वह सन्देश देते हुए वहाँ की राजधानी जयपुर में पहुचे। वहाँ अणुव्रत-आन्दोलन को प्राथमिक वल मिला। पत्र-पत्रिकाओ में उसकी चर्चा हुई। प्रारंभ काल था, अत विविध सन्देहो के वादल भी घिरे। प्रकाश-किरण को सर्वथा अस्तित्वहीन कर देने का सामर्थ्य वादलो में नही होता। वे कुछ समय के लिए उसको घूमिल या मद कर सकते है, परन्तु आखिर उन्हें हटना ही पडता है। विरोधों और अवरोधो के वावजूद आन्दोलन का प्रकाश फैला, जनता आकृष्ट हुई, चारो ओर से ऐसे कार्यक्रमों की आवश्यकता स्वीकार की जाने लगी। आचार्यश्री को अपने कार्य की उपयोगिता पर और अधिक दृढता से विश्वास करने का अवसर मिला।

दिल्ली मे

वहाँ से वे आगे वढे और अलवर, भरतपुर, आगरा, व मथुरा जैसे देश के प्रसिद्ध नगरो तथा मार्ग के देहातो की पद-यात्रा करते हुए भारत की राजधानी दिल्ली में पधारे। दिल्ली मे तेरापन्थ के आचार्यों का वह सर्वप्रथम पदार्पण था। वहाँ उन्होने अपने प्रथम भाषण में ही यह घोषणा की—" मै अपने सघ की शक्ति को राष्ट्र की नैतिक सेवा व नैतिक उत्थान के लिए अर्पित करने राजधानी में आया हूँ।"

उस घोषणा को कुछ ने आश्चर्य की दृष्टि से व कुछ ने उपहास और उपेक्षा की दृष्टि से देखा। दिल्ली जैसे हलचल से भरे और आधुनिकता मे पगे शहर के नागरिको को उस समय यह विश्वास होना भी कठिन हो रहा था कि आधुनिक-साधन-सामग्री से सर्वथा विहीन यह पैदल चलने वाला व्यक्ति विश्व-हित की भावना लेकर देश को कोई सदेश दे सकेगा ? किन्तु धीरे धीरे उनका वह भ्रम दूर हो गया। आचार्यश्री की आवाज को वहाँ वह वल मिला जिसकी कि सारे देश तथा विदेशों में प्रतिक्रिया हुई।

दूसरी बार

वहाँ से हरियाणा तथा पजाब के विभिन्न स्थानो पर अपना सदेश देते हुए आचार्यश्री वर्षावास करने के लिए पुनः दिल्ली पधारे। वह उनकी देश के चारित्रिक उत्थान के लिए की गई प्रथम यात्रा कही जा सकती है। उसमें उन्होने जन-साधारण से लेकर राष्ट्र के कर्णधारों तक अणुव्रत-आदोलन की विचार-धारा को पहुचाया।

उसी यात्रा में उनका राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू तथा आचार्य विनोवा भावे आदि के साथ आन्दोलन तथा राष्ट्र की नैतिक और चारित्रिक स्थितियो के विषय में प्रथम विचार विमर्श हुआ। आचार्यश्री की उस प्रथम यात्रा का महत्त्व यदि अति सक्षिप्त शब्दो में कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि उनकी उस यात्रा ने भारतीय जन-मानस को यह विश्वास करा दिया कि आध्यात्मिक दुर्भिक्षता के अवसर पर आचार्य श्री तुलसी अणुव्रत-आन्दोलन के रूप मे एक जीवन-दायी वरदान लेकर आये हैं।

तीसरी बार

उस यात्रा के लगभग पाँच वर्ष पश्चात् आचार्यश्री तीसरी बार दिल्ली में फिर गये। प्रथम यात्रा की तुलना में उस समय बहुत बडा अंतर आ गया था। पहले-पहल जहाँ आचार्य श्री तथा अणुव्रत--आन्दोलन को प्रचण्ड विरोध सहना पडा था, तरह-तरह की आशंकाओं का सामना करना पडा था, साम्प्रदायिक संकीर्णता, धार्मिक गुटबन्दी तथा पूंजीपतियो का राजनैतिक स्टण्ट होने के आरोप झेलने पड़े थे, वहाँ तीसरी बार की यात्रा में उनका आशातीत स्वागत और कल्पनातीत समर्थन किया गया। प्रथम वार ही आचार्य श्री की वाणी ने राजधानी के आध्यात्मिक व नैतिक वातावरण में एक प्रचंड हलचल पैदा कर दी थी। तीसरी यात्रा में उसकी लहरें और भी अधिक प्रभावक रूप मे सामने आई। यद्यपि वह प्रवास केवल चालीस दिन का ही था, फिर भी उस थोडे से समय में अणुव्रतो के दिव्यरूप की जो छाप राजधानी के माध्यम से देश तथा विदेश के विचारको पर पड़ी, वह उस यात्रा की सबसे बडी सफलता थी।

विभिन्न प्रेरणाएं

आचार्य श्री के उस पदार्पण का अवसर ही कुछ ऐसा था कि उस समय यूनेस्को--कान्फ्रेंस, वौद्ध-गोष्ठी तथा जैन-गोष्ठी आदि के सांस्कृतिक समारोहों के कारण देश-विदेश के कुछ विशिष्ट विचारक पहले से ही राजधानी में उपस्थित थे। उस स्थिति से आचार्य श्री के संदेश को उन लोगो तक पहुचाने के लिए अनायास ही अनुकूलता हो गई थी। लगता है, उस प्रवास के पीछे कोई सुदृढ आन्तरिक प्रेरणा काम कर रही थी। वाहरी प्रेरणा भी कोई कम नहीं थी। राष्ट्र की आध्यात्मिक और नैतिक स्थिति को देखते हुए देश के सभी विचारक यह अनुभव कर रहे थे कि राष्ट्रोत्थान की अन्य योजनाओ के साथ नैतिक उत्थान का कार्य भी बहुत आवश्यक है। इसी अनुभूति ने उन सवका ध्यान आचार्यश्री और उनके आन्दोलन की ओर आकृष्ट किया।

आचार्यश्री द्वारा अनुष्ठित नैतिक निर्माण की गूज राजधानी में निरन्तर सुनी जाती रही। उससे उच्च राजनीतिक क्षेत्र भी प्रभावित हुआ। सम्भवत: इसीलिए पंडित जवाहरलाल नेहरू ने मुनिश्री नगराजजी से हुई एक मुलाकात में आचार्यश्री के दिल्ली-आगमन-विषयक निवेदन किया था। अणुव्रत-आन्दोलन के अन्य समर्थकों और कार्यकर्ताओ की भी यह प्रवल इच्छा थी कि उस महत्वपूर्ण अवसर पर आचार्यश्री अवश्य राजधानी में आयें, क्योंकि वे वहाँ आयोजित होने वाले सांस्कृतिक कार्यक्रमों का लाभ अणुव्रत-आन्दोलन के लिए प्राप्त करने की प्रवल इच्छा रखते थे।

राजधानी के अनेक विशिष्ट नेता तथा कार्यकर्ता आचार्यश्री के सम्मुख यह अनुरोध करते रहे कि स० २०१३ का वर्षाकाल वे दिल्ली में ही वितायें। किन्तु अनेक कारणों से आचार्यश्री उस अनुरोध को स्वीकार नही कर सके और उन्होंने वह वर्षाकाल सरदारशहर में विताया। वहाँ उन लोगो का यह निवेदन रहा कि वर्षाकाल-समाप्ति के तत्काल वाद यदि आचार्यश्री दिल्ली पहुँच जायें, तो उन सभी सांस्कृतिक कार्यक्रमो तथा जन-सपर्क का सहज-प्राप्य लाभ अणुव्रत-आन्दोलन के लिए विशेष उपयोगी हो सकता है।

ग्यारह दिनो में

आचार्यश्री को उन लोगो का सुझाव उपयुक्त लगा। वे दिल्ली की तीसरी यात्रा का वातावरण वनाने लगे। उन्होंने इस विषय मे मुनिजनों से आवश्यक विचार-विनिमय किया और दिल्ली-यात्रा की घोषणा कर दी। चातुर्मास समाप्त होते ही उन्होने वहाँ से प्रस्थान कर दिया। अपने एक प्रवचन में उन्होंने दिल्ली-यात्रा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा था—"मेरा वहाँ जाने का उद्देश्य देश-विदेश से आये लोगो से सम्पर्क करना और दिल्लीवासियों की प्रार्थना पूरी करना है। वहाँ के नेताओ का भी ख्याल है कि मेरा वहाँ जाना उपकारक हो सकता है।"[1]

आचार्यश्री को वहाँ जिन कार्यक्रमों मे भाग लेना था, उनकी तिथियां काफी पहले से निश्चित हो चुकी थी। उनमें परिवर्तन की गुजायश नही थी। समय वहुत कम था और मार्ग वहुत लम्बा। सरदारशहर से दिल्ली लगभग दो-सौ मील है। आचार्यश्री लम्बे विहार करते हुए सिर्फ ग्यारह दिनों में वहाँ पहुच गए।

विभिन्न सम्पर्क

जिस उद्देश्य को लेकर वे दिल्ली गये थे, वह आशातीत रूप से परिपूर्ण हुआ। वहाँ यूनेस्को के प्रतिनिधि, वौद्ध-भिक्षु, देश-विदेश के विद्वान्, नैतिक व सांस्कृतिक आन्दोलनो में लगे हुए अनेक प्रचारक तथा राष्ट्र के धुरीण राजनीतिज्ञ आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। विदेशी व्यक्तियों में अंग्रेज, अमेरिकन, फ्रांसीसी, जर्मनी, जापानी और श्रीलङ्कावासी लोगों का सम्पर्क

१—नव निर्माण की पुकार, पृष्ठ १०

अपेक्षाकृत अधिक रहा। उनकी मुलाकात, जिज्ञासाएँ तथा विचार-मंथन बहुत ही रोचक रूप से चला करते थे।

हरमन जेकोबी के शिष्य

कई व्यक्ति तो वहाँ ऐसे भी मिले जो अनन्तर रूप से परिचित तो नहीं थे, किन्तु परम्पर रूप से परिचित थे। उनमें जर्मन विद्वान् प्रो० हरमन जेकोबी के दो शिष्य—प्रो० हासनाथ और प्रो० हॉफमैन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वे दिल्ली-प्रवेश के प्रथम दिन ही, जबकि आचार्यश्री वाई० एम० सी० ए० के हॉल में बौद्ध-गोष्ठी में सम्मिलित होने गये, बहुत देर से बड़ी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करते हुए मिले। उनके गुरु प्रो० हरमन जेकोबी जैनागमों के ख्यातनामा विद्वान् थे। वे जब भारत-यात्रा पर आये, तब लाडणू (राजस्थान) में अष्टमाचार्यश्री कालूगणी से मिले थे और जैनागमो की अनेक उलझी हुई समस्याओं पर विचार-विनिमय किया था। उन दोनो जर्मन प्रोफेसरों को इस बात की विशेष प्रसन्नता थी कि आचार्यश्री के गुरु और उनके गुरु का जो धार्मिक सम्पर्क हुआ था, वह आज दोनों ही ओर की अगली पीढी में पुन. नवीन हो रहा था।

व्यस्त कार्यक्रम

वह यात्रा न केवल जन-सम्पर्क की दृष्टि से ही सम्पन्न थी, अपितु नाना आयोजनों ने भी उसके महत्त्व को बढा दिया था। अणुव्रत-सेमिनार, राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण-सप्ताह, मैत्री-दिवस, चुनाव-शुद्धि-प्रेरणा, सस्कृत-गोष्ठी, साहित्य-गोष्ठी तथा विविध सस्थाओं और स्थानों पर हुए आचार्यश्री के प्रवचन मुख्यतः अणुव्रत-विचार-प्रसार के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। अणुव्रत-सेमिनार का उद्‌घाटन अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातनामा विद्वान् डॉ० लूथर इवान्स ने, मैत्री-दिवस का उद्‌घाटन राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने तथा चरित्र-निर्माण सप्ताह का उद्‌घाटन प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने किया था।

जीत लिया

दिल्ली के वे चालीस दिन आचार्यश्री ने इतनी व्यस्तता में विताये थे कि उनके पास प्रायः अतिरिक्त समय बच ही नहीं पाता था, फिर भी वे वहाँ के नागरिकों की आध्यात्मिक और नैतिक भूख को पूरा नही कर सके। उन्होंने मर्यादा-महोत्सव की स्वीकृति सरदारशहर के लिए पहले ही दे दी थी, अतः उससे अधिक ठहरना वहाँ सम्भव नहीं था। वहाँ स्वल्पकालीन प्रवास का सभी दृष्टियों से इतना प्रभाव रहा कि सुप्रसिद्ध पत्रकार श्रीसत्यदेव विद्यालङ्कार ने उसकी तुलना रोम-सम्राट् जूलियस सीजर की मिश्र-विजय पर प्रस्तुत की गई रिपोर्ट के शब्दों से की है। जूलियस सीजर ने अपनी बात को अति सक्षेप में यों कहा था—"मैं गया, मैंने देखा और मैंने जीत लिया।" सत्यदेवजी कहते हैं—"जूलियस सीजर के शब्दों को कुछ बदलकर

हम आचार्यश्री की धर्मयात्राओं का विवरण इन शब्दों में देने का साहस कर रहे है—वे आये, उन्होंने देखा और जीत लिया।"[1]

चौथी बार

उस यात्रा के पश्चात् आचार्यश्री चौथी बार दिल्ली में तब पधारे जबकि वे कलकत्ता से राजस्थान आ रहे थे। परन्तु उस समय वे वहाँ केवल चार दिन ही ठहरे थे। वह प्रवास दिल्ली के लिए नही था, फिर भी पत्रकार-सम्मेलन, विचार-परिषद् तथा राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री आदि से हुई मुलाकातों से वह अति स्वल्पकालीन प्रवास भी काफी महत्व का हो गया। दिल्ली की ये सभी यात्राएँ अपने-अपने प्रकार का पृथक्-पृथक् महत्त्व रखती हैं। इन सब में अणुव्रत-आन्दोलन के कार्यक्रम को बहुत बल मिला है।

(२) द्वितीय यात्रा

गुजरात की ओर

आचार्यश्री की द्वितीय यात्रा स० २०१० के राणावास मर्यादा-महोत्सव के पश्चात् प्रारम हुई। कुछ दिन काठे के गावों में विचर कर वे आबू के मार्ग से गुजरात में प्रविष्ट हुए, आबू में रघनाथजी के मन्दिर में ठहरे। वहाँ से दूसरे दिन देलवाडा के प्रसिद्ध जैन-मन्दिरो में गये। प्राचीनकाल के गौरव-मडित जैन-इतिहास के साक्षी बनकर खडे ये मन्दिर अपनी अपूर्व भव्यता से मन को आकृष्ट करते हैं। शान्त और स्निग्ध वातावरण में प्रशान्त मुद्राशील मूर्तियाँ भगवान् की साधना को अनायास ही स्मृति-पटल पर ला देती हैं। देलवाडा मार्ग में नहीं था। टेढे मार्ग से जाना पडा था, अत: वापस आबू ही आ गये। आबू राजस्थानियों की ओर से दी गई विदाई और गुजरातियो की ओर से किये गये स्वागत का सधिस्थल बन गया।

बाव में

गुजरात में प्रवेश हुआ, उस समय तक गर्मी काफी तेज पडने लगी थी। लूएँ झुलसाये डालती थी, तो सूर्य की किरणों का ताप शरीर को पिघाल-पिघाल डालता था। फिर भी मजिल पर मजिल कटती गई और आचार्यश्री बाव पहुच गये। बाव अब थराद सब-डिवीजन का प्रमुख शहर है, परन्तु पहले भूतपूर्व राजा राणा हरिसिंह की राजधानी था। राणा आचार्यश्री के प्रति बहुत श्रद्धा रखते रहे हैं। दूर-दूर तक आकर दर्शन भी करते रहे हैं। पाँच-छ: वर्ष पूर्व बाव के श्रावको तथा राणा ने आचार्यश्री के दर्शन किये थे। तब बाव-पदार्पण के लिए काफी प्रार्थना की। वह प्रार्थना इतनी प्रभावशाली सिद्ध हुई कि आचार्य श्री ने उसी समय यह स्वीकृति दे दी थी कि उधर आयेंगे, तब यथावसर बाव भी आने का विचार रखेंगे। इतने लम्बे समय के पश्चात् अब वह वचन पूर्ण हुआ।

१—नव निर्माण की पुकार, पृष्ठ ६,

सौराष्ट्र की प्रार्थना

वहाँ से आचार्यश्री अहमदाबाद पधार गए। वह क्षेत्र कच्छ, सौराष्ट्र तथा गुजरात तीनों के ही लिए अनुकूल पड़ सकता है, अत: वर्षाकाल वहीं व्यतीत करने की प्रार्थना की गई, पर वह स्वीकृत नहीं हुई। सौराष्ट्र के तत्कालीन मुख्य मन्त्री श्री ढेवर भाई की सौराष्ट्र-पदार्पण के लिए काफी आग्रह-भरी प्रार्थना थी, पर वह भी स्वीकृत नहीं हुई। आचार्यश्री ने पहले से ही अपने मन में जो निर्णय कर रखा था, उसी के अनुसार उन्होंने सूरत की ओर प्रस्थान किया।

सूरत में

गुजरात में तेरापन्थ के प्रतिष्ठापन में सूरत प्रमुख रूप से कार्य करने वाला क्षेत्र रहा है। धर्म-प्रसार में जी-जान लगाने वाले सुप्रसिद्ध श्रावक मगन भाई वहीं के थे। वहाँ केवल तीन दिन ठहरना हुआ। सम्भवत: वहाँ और अधिक विराजते, किन्तु उस क्षेत्र की वर्षा-ऋतु के क्रम को देखते हुए शीघ्र ही बम्बई पहुच जाना आवश्यक था।

बंबई की ओर

बम्बई की ओर विहार करते हुए आचार्यश्री प्रतिदिन प्राय पन्द्रह-सोलह मील चला करते, फिर भी मार्ग में वर्षा शुरू हो गई। उससे गर्मी की तीव्रता से तो कुछ छुटकारा मिला; पर दूसरी अनेक दुविधाएं पैदा हो गई। वर्षा के कारण विहार का समय बिल्कुल अनिश्चित हो गया। कभी समय पर विहार हो जाता और कभी नहीं। मार्ग काटना था। अत. कभी मध्यान्ह में और कभी साय लम्बा चलना पड़ता। नदी-नालों से बचने के लिए रेल की पटरी का मार्ग लिया गया, किन्तु वहाँ ककरो के मारे पैर छलनी हो जाते। नीचे चलते तो वर्षा से भींगी हुई चिकनी मिट्टी पैरों से इतनी मात्रा में चिमट जाती कि उसका भार महसूस होने लगता। इसी प्रकार की अनेक कठिनाइयों को पार करते हुए आचार्यश्री बम्बई के एक उपनगर 'बोरीवली' पहुच गए। तब तक वे लगभग एक हजार मील चल चुके थे। उनकी उद्दिष्ट यात्रा का वहाँ एक चरण सम्पन्न हो गया।

नौ महीने

चातुर्मासिक काल से पूर्व तथा पश्चात् बम्बई के विभिन्न उपनगरों में रहना हुआ। वर्षा-काल सिक्कानगर में बिताया। मर्यादा-महोत्सव के लिए भी पुन: सिक्कानगर आये। लगभग नौ महीने का वह प्रवास हुआ। उस प्रवास-काल के प्रारम्भिक महीनों में ज्यो-ज्यों कार्य बढ़ा, त्यों-त्यों एक ओर तो जनता आकृष्ट हुई, पर दूसरी ओर कुछ व्यक्तियों द्वारा विरोध भी हुआ। वहाँ के कुछ दैनिक पत्र ऐसे व्यक्तियों के हाथ में थे, जो आचार्यश्री तथा उनके मिशन से विरोध रखते थे। धीरे-धीरे उन लोगों को यह पता लग गया कि आचार्यश्री का विरोध कर वे जन-दृष्टि में अपने पत्र के ही महत्व को गिरा रहे है। फलत: पिछले महीनो में विरोध की तीव्रता मन्द हो गई।

मर्यादा-महोत्सव के पश्चात् आचार्यश्री ने उस यात्रा का दूसरा चरण प्रारंभ किया। उस समय उन्हें चौपाटी पर विदाई दी गई। एक ओर चौपाटी का विशाल समुद्र था तथा दूसरी ओर जन-समुद्र था। उस समय दोनो ही उद्वेलित थे। एक वायु से, तो दूसरा विदाई के वातावरण से। लोकमान्य तिलक की मानवाकार पाषाण-मूर्ति उन दोनों की ही समस्याओं को समझने का प्रयत्न करती हुई-सी पास में खडी थी। लोगो के मन में उस समय एक ओर कृतज्ञता के भाव तथा दूसरी ओर विरह के भाव उमड रहे थे, किन्तु आचार्यश्री उन दोनो से अलिप्त रहकर अपने पथ पर आगे बढने को उद्यत हुए।

पूना मे

वे पूना पधारे। पूना को दक्षिण भारत की काशी कहा जा सकता है। वहाँ संस्कृत के धुरीण विद्वान् काफी सख्या मे है। वहाँ के विद्या-व्यसनी कुछ व्यक्तियों ने तो अपना जीवन ही इस कार्य में झोंक दिया है। आचार्यश्री के पदार्पण से वहाँ का सांस्कृतिक तथा साहित्यिक क्षेत्र मानो एक सुगध से महक उठा। यद्यपि वहाँ का प्रवास-काल अति सक्षिप्त था, फिर भी स्थानीय विद्वानो से परिचय की दृष्टि से वह बहुत महत्त्वपूर्ण रहा।

एलौरा और अजता में

वहाँ से महाराष्ट्र के विभिन्न गावों में विहार करते हुए आचार्य श्री एलौरा तथा अजता की सुप्रसिद्ध गुफाओ में पधारे। ये दोनो ही स्थल प्राकृतिक दृष्टि से अत्यन्त रमणीय है। ये गुफाएँ वहाँ उस पहाड को उत्कीर्ण करके ही बनाई गई है। वहाँ की उत्कीर्ण मूर्तियाँ बहुत ही कलापूर्ण और सजीव हैं। उन्हें प्राचीन स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। एलौरा में जहाँ जैन बौद्ध और वैदिक—तीनों ही सस्कृतियों की गुफाए तथा मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, वहाँ अजता में केवल बौद्ध मूर्तियाँ ही है। उसमें बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी अनेक घटनाएँ तथा जातक-कथाएँ आलिखित तथा उत्कीर्ण हैं। आलिखित चित्रो का रंग बहुत प्राचीन होने पर भी नवीन-सा लगता है। कई मूर्तियाँ इस प्रकार के कौशल से उत्कीर्ण की गई है कि उन्हें विभिन्न तीन कोणों से देखने पर तीन विभिन्न आकृतियाँ दिखलाई पडती हैं। वहाँ के कई स्तम्भ ऐसे हैं कि उन्हें हाथ से बजाने पर तबले की-सी ध्वनि उठती है। वहाँ मनुष्यो तथा पशुओ की तो अनेक भावपूर्ण मुद्राएँ अकित की ही गई हैं, किन्तु वेल-बूटो के भी मनोहारी दृश्य चित्रित है। अजन्ता में जाने से पूर्व-दिन की रात्रि उन्होंने 'व्यू पोइण्ट' पर बिताई थी। 'व्यू पोइण्ट' उस स्थान को कहते है, जहाँ से एक अग्रेज शिकारी को अजन्ता की उन विस्मृत गुफाओं का पहले-पहल आभास मिला था।

प्रत्यावर्त्तन

इस प्रकार आचार्यश्री महाराष्ट्र के प्राकृतिक दृश्यो तथा जालना, भुसावल, जलगांव धूलिया, डोंडायचा, शाहदा आदि विभिन्न शहरो का समान आनन्द लेते हुए विचरते रहे। लोगो का अनुमान था कि वे उस यात्रा के तीसरे चरण में बगलौर तक पहुच जायेंगे। सम्भवतः

आचार्यश्री का भी कुछ-कुछ ऐसा विचार रहा हो, किन्तु परिस्थिति-वश वैसा नही हो सका। वहाँ से वे मध्य-भारत की ओर मुड गये। मालव के विभिन्न क्षेत्रों में विचरते हुए उन्होंने अपनी यात्रा का तीसरा चरण उज्जैन में वर्षाकालीन प्रवास के द्वारा सम्पन्न किया। उस यात्रा का अंतिम-चरण उज्जैन से गंगापुर-पदार्पण था। लगभग आठ महीने तक मालव में विहरण हुआ। राजस्थान-प्रवेश के साथ आचार्यश्री की वह द्वितीय यात्रा सम्पन्न हुई।

(३) तृतीय यात्रा

नया कार्य-क्षेत्र

आचार्यश्री की तृतीय यात्रा बहुत लंबी होने के साथ-साथ बहुत महत्त्वपूर्ण भी रही। इस यात्रा में आचार्यश्री ने अपने कार्य-क्षेत्र के लिए नया क्षितिज खोला और नये प्रभाव-क्षेत्र का निर्माण किया। भारत के सुप्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण प्रांत उत्तरप्रदेश, बिहार और बगाल इस यात्रा के लक्ष्य थे। किसी युग में इन प्रदेशों में जैन श्रमणों का बडा महत्त्व रहा था। बिहार तो भगवान् महावीर का मुख्य कार्य-क्षेत्र था ही। राजगृह और वैशाली का महत्त्व उस समय केवल बिहार के लिए ही नही, अपितु सारे भारत के लिए था। आचार्यश्री ने उस यात्रा का निश्चय किया और राजस्थान की राजधानी जयपुर से विहार करते हुए उधर पधारे।

उत्तर प्रदेश में

पहले उत्तरप्रदेश ही मार्ग में आया। समाचार-पत्रो द्वारा आचार्यश्री के पदार्पण का समाचार पाकर वहाँ के विभिन्न क्षेत्रों की जनता अति उत्सुकता के साथ उनकी प्रतीक्षा करने लगी। जहाँ-जहाँ पदार्पण होता, वहाँ की जनता में चेतना की एक लहर-सी दौड जाती। आचार्यश्री के पदार्पण से पूर्व मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने अनेक क्षेत्रों में रहकर एक भूमिका तैयार करदी थी। आचार्य श्री वहाँ चरित्र-निर्माण के बीज बिखेरते जा रहे थे। जनता आचार्यश्री के चरित्रोत्थानमूलक कार्यक्रमो में बड़ा रस लेती थी। अनेक स्थानों पर स्थानीय अणुव्रत-समितियो का गठन हुआ। आचार्यश्री के मिशन को आगे बढाने के लिए तथा नैतिकता के पक्ष में उत्पन्न हुए वातावरण को स्थायित्व देने के लिए प्राय· सभी लोग उत्सुक थे।

एक बलि

आचार्यश्री ग्रीष्म-ऋतु में वहाँ खूब विचरे। राजस्थान की लूओं में पले हुए व्यक्तियों के लिए वहाँ की गरमी यद्यपि अधिक कठोर नही थी, परन्तु वहाँ की लूओ ने राजस्थान को भी पीछे छोड़ दिया। राजस्थान में सभवत· लूओ से इतने व्यक्ति नही मरते होंगे, जितने कि उत्तरप्रदेश और बिहार में मरते हैं। वहाँ की लूओं ने एक साध्वी की बलि तो ले ही ली, पर दो-तीन साधुओं को भी एक बार तो उस किनारे के निकट तक पहुँचा ही दिया। यह दूसरी बात है कि वे बच गए। उस गरमी में जन-कल्याण के उद्देश्य से विहार करते हुए आचार्यश्री ने अपना वर्षा-काल कानपुर में बिताया।

नगरो और ग्रामों में

उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ, विद्वत्ता और पवित्रता के लिए प्रख्यात वाराणसी तथा उद्योग-नगरी कानपुर आदि में जहाँ महत्त्वपूर्ण जन-सम्पर्क हुआ, वहाँ छोटे-छोटे गांवों में भी वह कम नहीं हुआ। पर मानस-सम्पर्क की जहाँ तक बात है, वहाँ शहरों की अपेक्षा गांव सदैव आगे रहे हैं। शहरों की जनता जहाँ सभ्यता, शिष्टता और भारी-भरकम शब्दों के क्रमिक विधि-विधानों के माध्यम से बात करती है, वहाँ ग्रामीण जनता सीधे मन से सम्बद्ध सरल और आडंबरहीन क्रम से बात करना पसंद करती है। ग्रामवासियों का व्यवहार यद्यपि असभ्य और अशिष्ट नहीं होता, परन्तु वह सभ्यता और शिष्टता की भाषा में भी नही बधता। वह कुछ अपने ही प्रकार का विलक्षण भाव होता है। उसे समीप से पहचानने के लिए यदि कोई शब्द प्रस्तुत करना ही हो, तो उसे 'सहज भाव' कहा जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से ग्रामीण जन अवश्य ही गरीब होते हैं, परन्तु सहजता और नम्रता के तो इतने धनी होते है कि उन जैसा धनी शहरो में चिराग लेकर खोजने पर भी मिलना कठिन है। आचार्यश्री के सम्पर्क में दोनों ही प्रकार के व्यक्ति आते रहे हैं। वे उनकी प्रकृति-भिन्नता से बहुत अच्छी तरह परिचित हैं। दोनों की विभिन्न समस्याओ का भी उन्हें पता है। वे उन दोनो के लिए मार्ग-दर्शन देते हैं, अत· दोनों के लिए ही समान रूप से श्रद्धा-भाजन बन गए हैं।

बिहार में

चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् आचार्यश्री कानपुर से चले। बगाल पहुचने का लक्ष्य सामने था। बिहार मार्ग में पडता था। चरण बढ चले। बिहार-भूमि में प्रविष्ट हुए। वह भगवान् महावीर की जन्म-भूमि और निर्वाण-भूमि होने के साथ उनकी मुख्य तपोभूमि भी रही है।

तीर्थ स्थानो में

वहाँ आचार्य श्री पटना, पावा, नालन्दा, राजगृह आदि ऐतिहासिक क्षेत्रो में भी गये। नालदा में सरकार द्वारा स्थापित 'नव नालदा महाविहार' एक महत्त्वपूर्ण विद्या-संस्थान है। पाली भाषा के अध्ययनार्थ वह एक तीर्थ का रूप लेता जा रहा है। नालन्दा में बौद्ध तथा जैन विद्वानों द्वारा आचार्यश्री का बडा भावभीना स्वागत किया गया। राजगृह में जैन-संस्कृति सम्मेलन रखा गया। उसमें अनेक विद्वानो ने भाग लिया। दोनो श्रमण-परम्पराओ के ये दोनो विभिन्न तीर्थ-स्थान परस्पर बहुत समीप है।

भय और आग्रह

शहरों की स्थिति से वहाँ गांवों की स्थिति भिन्न थी। गावो में जैन साधुओ को बहुत कम लोग जानते है, प्राय· नहीं ही जानते, अतः ठहरने के लिए स्थान आदि की बडी दिक्कतें रहतीं। डाकुओं का आतक होने के कारण कही-कही आचार्यश्री के साथ चलने वाले काफिले को भी उसे सन्देह की दृष्टि से देखा जाता। कही-कही यह भय भी स्थान देने में बाधक

बनता कि इतने व्यक्तियो को कहीं भोजन कराना न पड़ जाये ? परन्तु उन लोगो का वह भय तब निर्मूल सिद्ध हो जाता, जबकि आचार्यश्री के साथ चलने वाले गृहस्थ अपनी रोटी आप पकाते, उन लोगों का गांव पर किसी प्रकार का कोई भार नही होता। रात को आचार्यश्री उपदेश देते, भजन सुनाते, सत्य की प्रेरणा देते और दुर्व्यसन छोड़ने को उत्साहित करते। लोगों को तब अपने पूर्वकृत व्यवहार पर पछतावा होता। जो लोग पहले दिन स्थान देना तक नहीं चाहते, वे ही दूसरे दिन अधिक ठहरने का आग्रह करने लगते।

बंगाल में

बिहार को पार कर आचार्यश्री बगाल मे प्रविष्ट हुए। सैंथिया में मर्यादा-महोत्सव किया, बंगाल में राजस्थान के लोग बहुत बडी सख्या में रहते है। उनमें अधिकांश आचार्यश्री को बहुत श्रद्धा की दृष्टि से देखते है। वहाँ के काफी लोग ठेठ कानपुर से ही आचार्य श्री के साथ थे।

कलकत्ता में

भारत की महानगरी कलकत्ता के लोगो का प्रारभ से ही यह आग्रह था कि आचार्यश्री का वहाँ पदार्पण हो। उनकी प्रार्थना को मान्य करते हुए आचार्यश्री ने जब कलकत्ता में प्रवेश किया, तब वहाँ के जन-समुदाय का हर्ष देखने योग्य था। प्रवेश के समय आया हुआ जन-समुद्र सचमुच ही अगाध समुद्र के समान बन गया था। कलकत्ता पहुचने पर वे कुछ दिनों तक विभिन्न उपनगरों में रहे और बाद में वर्षाकाल व्यतीत करने के लिए बडा बाजार क्षेत्र में आ गए। तेरापन्थी-महासभा-भवन में ठहरे। प्रवचन वहाँ से कुछ ही दूर बनाए गये विशाल अणुव्रत-पण्डाल मे हुआ करता था।

उपस्थिति

प्रतिदिन के प्रवचन में उपस्थिति प्राय: सात-आठ हजार व्यक्तियो की हो जाया करती थी। रविवार को इससे भी अधिक होती थी। कलकत्ता जैसा व्यस्त व्यापारिक क्षेत्र में आर्थिक विषय के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय मे अधिक उत्साह कम ही देखने को मिलता है, किन्तु वहाँ वह पर्याप्त देखा जा सकता था। जन-जागृतिमूलक कार्य भी वहाँ बडे उत्साह से सम्पन्न किये जाते रहे। वहाँ के निम्न-वर्ग से लेकर आभिजात्य-वर्ग तक के लोग आचार्य श्री के सम्पर्क में आये। जन-सम्पर्क तथा उससे मिलने वाले श्रेयोभाग ने अनेक व्यक्तियों को ईर्ष्यालु भी बनाया। ऐसे व्यक्तियो ने अपनी शक्ति का उपयोग आचार्यश्री के विरुद्ध वातावरण बनाने में किया। परन्तु उससे आचार्यश्री क्यो घबराते ? वे अपना काम करते रहे और आचार्यश्री अपना।

चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् आचार्यश्री वहाँ से वापस चले, तो बिहार, उत्तर-प्रदेश, दिल्ली होते हुए हांसी में आकर उन्होने मर्यादा-महोत्सव किया। वही उस प्रलब-यात्रा की समाप्ति समझी जा सकती है।

(४) चतुर्थ यात्रा

अन्तर-काल

इन विशिष्ट यात्राओं के अतिरिक्त आचार्यश्री ने जो परिव्रजन किया है, उसे मैंने चतुर्थ यात्रा के रूप में मान लिया है। उपर्युक्त तीनों यात्राओं से पूर्व आचार्यश्री लगभग बारह वर्ष तक राजस्थान के बीकानेर डिवीजन में विचरते रहे। वह समय उन्होंने मुख्यतः सघ के विद्या-विकास पर ही लगाया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी हर एक यात्रा राजस्थान से ही प्रारभ की है, अतः एक यात्रा से दूसरी यात्रा का अन्तर-काल राजस्थान के विहार का ही काल रहा है। काल-व्यवधान को गौण रखकर यहाँ उनकी इस यात्रा को एक रूप में ही देखा गया है।

राजस्थान में

राजस्थान को प्रकृति ने विभिन्न परिस्थितियाँ प्रदान की हैं। कहीं वह बालू-प्रधान है, कहीं पर्वत-प्रधान और कही समतल। कहीं ऐसा रेगिस्तान है कि हरियाली देखने को भी कठिनता से ही मिलती है, तो कही खूब हरा-भरा भी है। आचार्यश्री का पाद-विहार वहाँ के बीकानेर, जोधपुर, अजमेर, उदयपुर और जयपुर डिवीजनों में ही बहुधा होता रहा है।

अजस्र स्रोत

इस प्रकार उनकी यात्रा का स्रोत अजस्र चालू है। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तथा एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में वे उसी सहज भाव से जाते-आते रहते है, जैसे कि कोई व्यक्ति अपने मकान के एक कमरे से दूसरे कमरे में जाता-आता रहता है। कोई दिक्कत, अनभावन या परायापन नही। कोई थकान नही, तो कोई समाप्ति भी नही।

: ७ :

जन-सम्पर्क

तीन विभाग

आचार्यश्री का जन-सम्पर्क व्यापक है। "जहा पुणस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ[1]" अर्थात्— किसी बड़े आदमी को जो मार्ग बतलाये, वही एक गरीब आदमी को भी। इस आगम-वाक्य को वे अपना प्रकाश-स्तंभ बनाकर चलते हैं। आध्यात्मिकता और नैतिकता के मार्ग का लक्ष्य सभी के लिए एक है। कौन कितना अपना सकता है या किसको कितनी साधना की आवश्यकता है—यह अवश्य व्यक्तिगत स्थितियों पर निर्भर कर सकता है। आचार्यश्री के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों की विभिन्न स्थितियों के आधार पर उनके जन-सम्पर्क को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—१ साधारण जन-सम्पर्क, २ विशिष्ट जन-सम्पर्क और ३ प्रश्नोत्तर। 'साधारण जनसम्पर्क' से तात्पर्य है—बहुधा सम्पर्क में आते रहने वाले जन-समुदाय का सम्पर्क। इसी प्रकार 'विशिष्ट जन-सम्पर्क' से तात्पर्य है—जिनका समाज में विशिष्ट स्थान है और जो क्वचित् ही सम्पर्क में आ सकते हैं, उनका सपर्क। 'प्रश्नोत्तर' में देशी-वेदेशी जिज्ञासुओं के प्रत्यक्ष या पत्रादि के माध्यम से किये गये प्रश्न और आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त उत्तर हैं।

(१) साधारण जन-सम्पर्क

निष्काम वृत्ति से

आदिवासी से लेकर राजनेता तक उनके सम्पर्क में आते है, अपनी बात कहते है और मार्ग दर्शन पाते है। पारिवारिक कलह से लेकर सामाजिक कलह तक की समस्याएँ उनके सामने आती हैं। न्यायालयों में वर्षों तक जो कलह नहीं निपटते, वे कुछ ही समय में आचार्यश्री के मार्ग-दर्शन से निपटते देखे गये है। कहीं न भी निपटे, तो आचार्यश्री को उसका कोई क्षोभ नहीं होता, कलह-निवारण का प्रयास करना वे अपना कर्तव्य मानते है, समझौता हो जाये तो उन्हें उन लोगों से कोई पारिश्रमिक या भेंट लेनी नही है और न हो तो उनके पास से कुछ जाता नहीं है। निष्काम वृत्ति से जितना होता है या किया जा सकता है, उसी में वे आत्म-तुष्टि का अनुभव करते है। यहाँ उनके साधारण जन-सम्पर्क की कुछ घटनाएँ उद्‌धृत की जाती है।

एक पुकार

मेवाड़ में भील जाति के लोग काफी बड़ी संख्या में रहते है। वे अपने-आपको भील के स्थान पर 'गमेती' कहना अधिक पसन्द करते हैं। मेवाड़ के महाजनों ने उन गरीब तथा भोले

1—आचारांग

लोगों को ऋण आदि से काफी दबा रखा है। तरह-तरह से वे लोग उन पर अन्याय भी करते रहते हैं। आचार्यश्री जब स० २०१७ में मेवाड गये, तब 'रावलिया' के आस-पास के गमेतियो ने अपनी दशा को आचार्यश्री के सम्मुख रखा था। वे अपनी दशा और महाजनो के अत्याचारो के विषय में चार पृष्ठ का एक पत्र भी लिख कर लाये थे। उसे उन्होने प्रस्तुत किया। आचार्यश्री ने उस विषय में महाजनो को कहा भी तथा कुछ सन्तो को एतद्-विषयक दोनो पक्षो की पूरी जानकारी के लिए वहाँ छोडा भी। उस पत्र के कुछ अश इस प्रकार है—

"श्री श्री १००८ श्री श्री श्री माराज धरमीराजजी पुजनीक माराज, थला री धरती वाला माराजजी पुजजी माराज से दुका (दुखियों) की पुकार—

"तरत फैसला, अदल नाव माराज पुजनीकजी""""कर सकेगा, गरीब जाति रो हेलो जरूर सुणेगा, पचाव (हिसाव) तो लेगा। धरमराज रो भरोसो है। गमेती जनता री हाथ जोड करके अरज है के मारी गरीब जाती बोत दुखी है""""।" कुछ महाजनों के नाम देकर आगे लिखा है—"फरजी जुटा-जुटा खत माडकर गरीवाँ रे पास से जमी ले लीदी है और गायां, मैंसा, बकर्‌या वी ले लीदी है। बडा भारी जुलम कीदा है, जुटा-जुटा दावा करके कुरकी करावे ने जोर-जबरदस्ती करने वसूली करे है। गरीवां ने ५) रुपया दे ने ५००) रुपया रा खत माडे। सो मारा सब पसा (पचो) री राय है, के""""जल्दी सूं जल्दी पद मगाकर देकाया जावे, जल्दी सू जल्दी फैसला दिया जावै।

द० दलीग सब जन्ता (जनता) रा केवा सु
२०१७ जेठ सुद सातम "[१]

इस पत्र का भावार्थ है—"आचार्यश्री से दु:खियो की पुकार। हमें विश्वास है कि आप हम गरीवों की पुकार अवश्य सुनेंगे, शीघ्र फैसला कर हमें उचित न्याय देंगे। गमेती जनता बहुत दु:खी है। अमुक-अमुक.. व्यक्तियों ने झूठे खत लिखकर हमारे खेत ले लिये हैं, पशु भी ले लिये है। झूठे दावे करके कुर्की करा दी जाती है और फिर बलपूर्वक उसको वसूला जाता है। पाँच रुपये देकर पाँच-सौ लिख लिये जाते हैं, अतः हमारे पचों की राय है कि आप हमारा फैसला करें।

हस्ताक्षर—'दलीग' सब जनता के कहने से
स० २०१७ ज्येष्ठ शुक्ला सप्तमी"

हरिजनो का पत्र

मारवाड के काणाना नामक गांव में मेघवाल जाति के हरिजन व्यक्तियों द्वारा भी ऐसा ही एक पत्र आचार्यश्री के चरणों में प्रस्तुत किया गया। उसमें कुछ महाजनों के व्यक्तिगत नाम लिखकर अपनी पुकार की गई थी। उस पत्र के कुछ अश इस प्रकार है—

१—जैन भारती, ९ अक्तूबर, १९६०

"हम मेघवंश सूत्रकार-जाति जन्म से यहीं के निवासी है। यहाँ के महाजन हमारे पर लेन-देन को लेकर काफी ज्यादती करते है। अतः उन्हें समझाया जाये। वे लोग बेईमानी कर हमें हर समय दु ख देते हैं। यदि यह भार हम पर कम हुआ तो हम ऊपर उठ सकते है।

"साथ ही साथ वे इतने छूआछूत रखते है कि हमें दूकानो पर चढने तक का अधिकार नही। क्या हम मानव-पुत्र नही है ?

"आपके उपदेश बडे हितकर व मानव-कल्याणमूलक है। हम आपके उपदेशों पर चलेंगे और आपके अणुव्रत-आन्दोलन के नियमो की कभी भी अवहेलना नहीं करेंगे।

हम हैं आपके विश्वासपात्र
मेघवंशी समाज (काणाना)"[१]

आचार्यश्री ने उस पत्र का अपने व्याख्यान मे जिक्र किया और यह प्रेरणा दी कि किसी को हीन मानना बहुत बुरा है। जैन होने के नाते लेन-देन मे धोखा, अधिक व्याज और झूठे मुकदमे भी तुम लोगों के लिए अशोभनीय है। उस व्याख्यान का लोगो पर अच्छा असर रहा। अनेक व्यक्तियो ने अपने-आपको उन दुर्गुणो मे बचाने का सकल्प किया।

छात्रो का अनशन

काणाना के महाजनों मे भी परस्पर झगडा था। वर्षो से वे दो गुटो में विभक्त थे। आचार्यश्री का पदार्पण हुआ, तब स्थानीय छात्रो ने उस अवसर का लाभ उठाने की सोची। वे गाँव की उस दलबन्दी को तोडना चाहते थे। लगभग सवा-सौ छात्र एकत्रित होकर एकता-सम्बन्धी नारे लगाते हुए आचार्यश्री के पास आये। उन्होने आचार्यश्री से निवेदन किया कि जब तक पच मिलकर फैसला नही कर लेंगे, तब तक हम अनशन करेंगे। आचार्यश्री से भी अनुरोध किया कि वे तब तक के लिए अपना व्याख्यान स्थगित रखें। उनके अनुरोध पर आचार्यश्री ने प्रवचन नही किया। अनेक वर्षो बाद आचार्यश्री आयें और वे प्रवचन भी न करें, यह बात सभी को अखरी। आखिर दोनो पक्षो के व्यक्ति मिले और शीघ्र ही समझौता हो गया। गांव में पडे दो तड मिट गये।

नाना का दोष

रावलिया मे शोभालाल नामक एक चौदह वर्षीय बालक ने आचार्यश्री के हाथ में एक चिट्ठी दी।

आचार्यश्री ने पूछा—"क्या है इसमें ?"

उसने कहा—"गुरुदेव ! मेरे नाना और गांव वालो मे परस्पर कलह चलता है। इस पत्र मे उसे मिटाने की आपसे प्रार्थना की गई है।"

आचार्यश्री ने चिट्ठी पढी और उस बालक से ही पूछा—"तुझे इसमें किसका दोष मालूम देता है ?"

१—जैन भारती, २३ अप्रैल, १९६१

बालक ने कहा—"अधिक दोष तो मेरे नाना का ही लगता है।"

आचार्यश्री ने उसके नाना से कुछ बातचीत की और उसे समझाया। फलस्वरूप उसी रात्रि को वह झगड़ा मिट गया। प्रात आचार्यश्री के सम्मुख परस्पर क्षमा-याचना कर ली गई। जो व्यक्ति समूचे गाँव और पचों की बात ठुकरा चुका था, वही आचार्यश्री की कुछ प्रेरणा पाकर सरल बन गया।

एक सामाजिक विग्रह

कुछ समय पूर्व थली के ओसवालो में 'देशी-विलायती' का एक समाज-व्यापी विग्रह उत्पन्न हो गया था। वह अनेक वर्षों तक चलता रहा। उसमे समाज को अनेक हानियाँ उठानी पड़ीं। एक प्रकार से उस समय समाज की सारी शृ खला ही टूट गई थी। धीरे-धीरे वर्षों बाद उसका उपरितन रोष और खिंचाव तो ठडा पड गया, किन्तु उसकी जड नही गई। सामूहिक भोज आदि के अवसर पर उसमें अनेक बार नये अकुर फूटते रहते थे।

स० १९९९ के चूरू चातुर्मास में आचार्यश्री ने लोगो को एतद्विषक प्रेरणा दी। दोनो ही दलों के व्यक्तियों को पृथक्-पृथक् तथा सामूहिक रूप से समझाया। आखिर अनेक दिनों के प्रयास के पश्चात् उन लोगों ने समझौता किया और आचार्यश्री के सम्मुख परस्पर क्षमा-याचना की। वह विग्रह चूरू से ही प्रारम्भ होकर समग्र थली में फैला था और सयोगवशात् चूरू में ही उसकी अन्तेष्टि भी हुई।

ऐसे उदाहरण यह बतलाते हैं कि विभिन्न समाजो के व्यक्तियों पर आचार्यश्री का कितना प्रभाव है और वे सब उनके वचनो का कितना आदर करते हैं। अपने पारिवारिक तथा सामाजिक कलह को इस प्रकार उपदेश मात्र से मिटा लेना आचार्यश्री के प्रति रही हुई श्रद्धा से ही सम्भव है। यह श्रद्धा और विश्वास उनके नैरन्तरिक सम्पर्क से ही उद्भूत हुआ मानना चाहिए।

(२) विशिष्ट जन-सम्पर्क

व्यापक सम्पर्क

आचार्यश्री का सम्पर्क जितना जन-साधारण से है, उतना ही विशिष्ट व्यक्तियो से भी। वे धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक दलबन्दी को प्रश्रय नही देते, पर परिचित सभी से रहना अभीष्ट समझते है। समाज तथा राष्ट्र के वर्तमान नेतृ-वर्ग से भी उनका प्रगाढ परिचय है। साहित्यकारों तथा पत्रकारों से भी वे बहुधा मानवीय समस्याओ पर विचार-विमर्श करते रहते हैं। वे चिन्तन के आदान-प्रदान में विश्वास करते है, अत अनुकूल और प्रतिकूल बातों को समरसता से सुन लेने के अभ्यस्त है।

दूसरों के सुझावों में से ग्राह्य तत्त्व को वे बहुत शीघ्रता से पकडते हैं। वे जिस रसानुभूति के साथ राजनीतिज्ञों से बातें करते हैं, उतनी ही तीव्र रसानुभूति के साथ किसी साधारण

गृहस्थ से उनको जितना सहयोग मिला है, उससे कही अधिक उनकी आलोचनाएँ हुई हैं, फिर भी उनके सामर्थ्य ने कभी धैर्य नही खोया। तभी तो आलोचकों की सख्या घटती गई और समर्थको की सख्या बढती गई है।

दूरी व्यक्ति से पीछे होती है, पहले मन से होती है। अविश्वास या घृणा उसका माध्यम बनती है। जो न घृणा करता हो और न अविश्वास, वही उस खाई को पाट सकता है। आचार्यश्री ने उसे पाटा है। वे किसी को अपने से दूर नही मानते, किसी से घृणा नहीं करते और सभी का विश्वास खुलकर लेते है तथा देते है। विचार और विश्वास के आदान-प्रदान की कृपणता उन्हें प्रिय नही, इसीलिए उनके सम्पर्क का दायरा तथा उसकी गहराई निरन्तर बढती रही है। जितने व्यक्तियो से उनका सम्पर्क हुआ है, उनका विवरण बहुत बडा है। उन सबका नामोल्लेख कर पाना भी सम्भव नही है, फिर भी दिग्दर्शन के रूप में कुछ व्यक्तियों का सम्पर्क—प्रसग यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

जैनेन्द्रकुमारजी

जैनेन्द्रकुमारजी भारत के सुप्रसिद्ध साहित्यकारो में से एक है। गम्भीर चिन्तन और भावानुसारी शब्दाङ्कन, उनकी अपनी विशेषता है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति उनकी भावनाएँ बहुधा मुखर होती रहती है। तेरापन्थ की एकता के प्रति उनके मन में आश्चर्य-गर्भी जिज्ञासाएँ उभरती है और उत्तर मांगती है। उन्होने अपनी दार्शनिक पद्धति के आधार पर उन जिज्ञासाओ को उत्तर प्रदान किया है। आचार्यश्री के प्रति वे अतिशय आकृष्ट है। वे अनेक बार उनके सम्पर्क में आते रहे है। उनकी यह निकटता धीरे-धीरे ही सम्पन्न हुई है। पहले वे अपने आपमें बहुत दूरी का अनुभव करते थे। अपनी प्रथम भेंट के विषय में वे लिखते है—"पहली भेंट में व्यक्ति से नहीं पा सका, गुरु के ही दर्शन हुए।" किन्तु वे ही अपनी दूसरी भेंट के विषय में लिखते है—"उस दिन से मैं तुलसीजी के प्रति अपने में आकर्षण अनुभव करता हूँ और उनके प्रति सराहना के भाव रखता हूँ।......उस परिचय को मैं अपना सद्‌भाग्य गिनता हूँ।" उसके पश्चात् वे आचार्यश्री और उनके विभिन्न कार्यक्रमों में बडी आत्मीयता से भाग लेते रहे है।

आचार्य कृपलानी

इसी प्रकार आचार्य कृपलानी से भी प्रथम परिचय अत्यन्त नीरस रहा था। स-२००४ में जब वे कांग्रेस के अध्यक्ष थे, किसी कार्यवश फतहपुर आये थे। कुछ व्यक्तियो की इच्छा रही कि आचार्य श्री से कृपलानीजी का सम्पर्क हो सके तो अच्छा रहे। वे लोग फतहपुर गये और उन्हें रतनगढ ले आये। वे आचार्यश्री के पास आये तो सही, पर न आचार्यश्री उनकी प्रकृति से परिचित थे और न वे आचार्यश्री की प्रकृति से। जब उन्हे सघ का परिचय दिया जाने लगा तो वे बोले—"मैंने तो अपना गुरु गांधी को मान लिया है, अब आप मुझे क्या समझायेंगे ?" और दूसरी बात चले, उससे पूर्व ही उन्होंने यह भी कह दिया "मैं तो सुनने के लिए नहीं,

किन्तु सुनाने के लिए आया हूँ।" वे लगभग दस-मिनट ठहरे होंगे, किन्तु किसी पूर्व-आग्रह से भरे होने के कारण बातचीत के क्रम में कोई सरसता नही आ सकी।

वे ही कृपलानीजी जब स २०१३ में दिल्ली में दुबारा मिले, तब वह तनाव तो था ही नही, अपितु अत्यन्त सौजन्य ने उनका स्थान ले लिया था। अणुव्रत-गोष्ठी में भी उन्होने भाग लिया और बहुत सुन्दर बोले। उसके पश्चात् सुचेताजी के साथ जब वे आचार्यश्री से मिले तो ऐसा लगा मानो प्रथम भेंटवाले कृपलानी कोइ दूसरे ही थे। आचार्यश्री ने जब प्रथम भेंट की याद दिलाई तो वे हस पडे।

आचार्यश्री और डा० राजेन्द्रप्रसाद

भारतीय जनतन्त्र के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद आध्यात्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे। उनकी विद्वत्ता और पद-प्रतिष्ठा जितनी महान् थी, उतने ही वे नम्र थे। आचार्यश्री के प्रति उनके मनमें बहुत आदर-भाव था। वे पहले-पहल जयपुर में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उस समय वे भारतीय विधान-परिषद् के अध्यक्ष थे। उसके पश्चात् वह सिलसिला चालू रहा। और अनेक बार सम्पर्क तथा विचार-विमर्श करने का अवसर प्राप्त होता रहा। वे अणुव्रत-आन्दोलन के प्रबल प्रशसक थे। वे इसे एक समयोपयुक्त योजना मानते थे और इसका प्रसार चाहते थे। आचार्यश्री के सान्निध्य में मनाये गये प्रथम मैत्रीदिवस का उद्‌घाटन करते हुए उन्होंने कहा—"आप यदि अणुव्रत आन्दोलन में मुझे कोई पद देना चाहें तो मैं समर्थक का पद लेना चाहूगा।"

राष्ट्रपति का आचार्यश्री से अनेक बार और अनेक विषयो पर वार्तालाप होता रहता था। उसमें से कुछ वार्ता-प्रसग यहाँ दिये जाते है।

राजेन्द्र बाबू—"इस समय देश को नैतिकता की सबसे बडी आवश्यकता है। स्वतन्त्रता के बाद भी यदि नैतिक स्तर नहीं उठ पाया तो यह देश के लिए बडे खतरे की बात है।"

आचार्यश्री—"इस क्षेत्र में सबको सहयोगी बनकर काम करने की आवश्यकता है। यदि सब एक होकर जुट जायें तो यह कोई कठिन काम नही है।"

राजेन्द्रबाबू—"राजनैतिक नेताओ की बात आप छोडिये, उनमें परस्पर बहुत विचार-भेद तथा बुद्धि-भेद है। इस वस्तु-स्थिति के अन्दर रहकर इसे किस तरह सभाला जाये, वह विचारणीय है।"

आचार्यश्री—"जो नेता-गण आध्यात्मिकता में विश्वास करते है, वे सब सहयोग-भाव से इस कार्य में लग सकते है।"

राजेन्द्रबाबू—"सर्वोदय समाज भी इन कार्यो में रुचि रखता है, अत· आपका उससे सम्पर्क हो सके तो ठीक रहे।"

आचार्यश्री—"सबके उदय के लिए सबके सहयोग की आवश्यकता है। मैं ऐसे किसी भी सम्पर्क का प्रशंसक हूँ।"[1]

आचार्यश्री और डा० राधाकृष्णन्

भारत के वर्तमान राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आचार्यश्री तथा उनके कार्यक्रमों में अच्छी रुचि रखते हैं। स०२०१३ में जब आचार्यश्री दिल्ली पधारे, तब उनसे मिले थे। उस समय वे उपराष्ट्रपति के पद पर थे। वे अणुव्रत-गोष्ठी में भाग लेने वाले थे, किन्तु पत्नी का देहावसान हो जाने से नहीं आ सके थे। जब आचार्यश्री उनकी कोठी पर पधारे, तब वार्ताक्रम में उन्होंने कहा भी था कि मैं आपके किसी भी कार्यक्रम में सम्मिलित नहीं हो सका।

उस समय आचार्यश्री के साथ उनका अनेक विषयों पर महत्त्वपूर्ण वार्तालाप हुआ उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं :

डाक्टर राधाकृष्णन्—"जैन-मंदिर में हरिजन-प्रवेश के विषय में आपका क्या अभिमत है ?"

आचार्यश्री—"जहाँ धर्माभिलाषी व्यक्ति प्रवेश न पा सके, वह क्या मंदिर है ? किसी को अपनी अच्छी भावना को फलित करने से रोकना, मैं धर्म में बाधा डालना मानता हूँ। वैसे हम तो अमूर्तिपूजक है। जैनों में मुख्य दो परपराएं हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर। दोनों ही परम्पराओं में दो प्रकार के सम्प्रदाय हैं—एक अमूर्ति-पूजक और दूसरा मूर्ति-पूजक। जैन सम्प्रदायों में मान्यता के विषय में मौलिक-दृष्टि से प्रायः सभी एकमत है। कुछ एक प्रसंगों को लेकर थोड़ा पार्थक्य है, जो अधिकांश बाह्य व्यवहारों का है और क्रमशः कम होता जा रहा है। अभी जैन-सेमिनार में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के साधुओं ने भाग लिया। वहाँ मुझे भी प्रमुख वक्ता के रूप में निमंत्रित किया गया था और अच्छा सहिष्णुता का वातावरण बना था।"

डा० राधाकृष्णन्—"समन्वय का प्रयत्न तो होना ही चाहिए। आज के समय की यह सबसे बड़ी मांग है और इसी के सहारे बड़े-बड़े काम किये जा सकते हैं।"

आचार्यश्री—"आपका पहले राजदूत के रूप में और अब उपराष्ट्रपति के रूप में राजनीति में प्रवेश हमें कुछ अटपटा-सा लगा था कि एक दार्शनिक किधर जा रहे हैं, पर अब आपकी सांस्कृतिक रुचियाँ और अन्य कामों को देखकर लगा कि यह तो एक प्राचीन प्रणाली का निर्वाह हो रहा है। वर्तमान की जो राजनीति है, उसमें कोई विचारक ही सुधार कर सकता है और उसे एक नया मोड़ दे सकता है, क्योंकि उसके पास सोचने की नयी पद्धति होती है और नया चिन्तन होता है। वह जहाँ भी जाता है, सुधार का कार्य प्रारंभ कर देता है।"

डा० राधाकृष्णन्—"आज द्रव्य-हिंसा का तो फिर भी कुछ अंशों में निषेध हो रहा है, पर भाव-हिंसा का प्रभाव तो और भी जोरों से चल रहा है, इसके निषेध के लिए कुछ अवश्य होना चाहिए।"

१—वार्तालाप-विवरण

आचार्यश्री—"हाँ, अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा में सक्रिय है।"

डा० राधाकृष्णन्—"मैं ऐसा मानता हूँ कि जीवन-उदाहरण का जो असर होता है, वह उपदेश या बोध से नही होता। इसलिए आप जो काम करते हैं, उसका जनता पर स्वत सुन्दर प्रभाव होता है, क्योंकि आपका जीवन उसके अनुरूप है।"[1]

आचार्यश्री और जवाहरलाल नेहरू

आचार्य श्री का भारत के प्रधान मत्री पडित जवाहरलाल नेहरू के साथ अनेक बार विचार विमर्श हुआ है। प्रथम बार का मिलन स० २००८ में हुआ था। उसमें आचार्यश्री ने उन्हें अणुव्रत-आन्दोलन से परिचित कराया था। उस समय वे प्राय सुनते ही अधिक रहे, परन्तु दूसरी बार जब स० २०१३ में मिलना हुआ, तो काफी खुलकर बातें हुईं। आचार्यश्री ने उनसे यह कहा भी था—"मैं चाहता हूँ, आज हम स्पष्ट रूप से विचार-विमर्श करें। हमारा यह मिलन औपचारिक न होकर वास्तविक हो।" वस्तुत· वह बातचीत खुले मस्तिष्क से हुई और परिणाम-दायक हुई।

आचार्यश्री ने बात का सिलसिला प्रारभ करते हुए कहा—"हम जानते हैं कि गांधीजी व आप लोगों के प्रयत्नो से भारत को आजादी मिली। पर आज देश की क्या स्थिति है ? चरित्र गिरता जा रहा है। कुछेक व्यक्तियों को छोडकर देश का चित्र खिंचा जाये तो वह स्वस्थ नहीं होगा, यही स्थिति रही तो भविष्य कैसा होगा ? कोरी बातो से चरित्र उन्नत नहीं होगा। लोगो को चरित्र-सबंधी कोई काम दिया जाये, यही मैं चाहता हूँ। अणुव्रत-आन्दोलन ऐसी ही स्थिति पैदा करना चाहता है। छोटे-छोटे व्रतों के द्वारा जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना आवश्यक है। पाँच वर्ष पूर्व मैंने आपको इसकी गतिविधि बताई थी। आपने सुना अधिक, कहा कम। आपने आज तक कुछ भी सहयोग नहीं दिया। सहयोग से मतलब हमें पैसा नही लेना है। यह आर्थिक आन्दोलन नहीं है।"

प० नेहरू—"मैं जानता हूँ, आपको पैसा नहीं चाहिए।"

आचार्यश्री—"इस आन्दोलन को मैं राजनीति से भी जोडना नहीं चाहता।"

प० नेहरू—"मैं तो राजनैतिक व्यक्ति हूँ, राजनीति से ओत-प्रोत हूँ, फिर मेरा सहयोग क्या होगा ?"

आचार्यश्री—"जैसे आप राजनैतिक हैं, वैसे स्वतंत्र व्यक्ति भी हैं। हम आपके स्वतंत्र व्यक्तित्व का उपयोग चाहते हैं, राजनैतिक जवाहरलाल नेहरू का नहीं। पहली मुलाकात में आपने कहा था—'मैं उसे पढूंगा' पता नही आपने पढा या नहीं।"

प० नेहरू—"मैंने यह पुस्तक (अणुव्रत-आन्दोलन) पढी है, पर मैं बहुत व्यस्त हूँ। आन्दोलन के बारे में मैं कह सकता हूँ।"

१—नव निर्माण की पुकार

आचार्यश्री—"आपने कभी कहा तो नही, क्या आप इस आन्दोलन की उपयोगिता नहीं समझते ?"

पं० नेहरू—"यह कैसे हो सकता है ?"

आचार्यश्री—"हमारे सैकड़ों साधु-साध्वियाँ चरित्र-विकास के कार्य मे संलग्न हैं। उनका आध्यात्मिक क्षेत्र में यथेष्ट उपयोग किया जा सकता है।"

पं० नेहरू—"क्या 'भारत-साधु-समाज' से आप परिचित है ?"

आचार्यश्री—"जिस भारत-सेवक-समाज के आप अध्यक्ष है, उससे जो संबंधित है, वही तो ?"

प० नेहरू—"हाँ भारत-सेवक-समाज का मैं अध्यक्ष हूँ। वह राजनैतिक संस्था नहीं है। उसी से सबंधित वह 'भारत-साधु-समाज' है। आप श्री गुलजारीलाल नन्दा से मिले है ?"

आचार्यश्री—"पाँच वर्ष पहले मिलना हुआ था। भारत-साधु-समाज से मेरा संबंध नहीं है। जब तक साधु लोग मठों और पैसो का मोह नही छोडते, तब तक वे सफल नहीं हो सकते।"

प० नेहरू—"साधुओ ने धन का मोह तो नही छोड़ा है। मैंने नन्दाजी से कहा भी था, तुम यह बना तो रहे हो, पर इसमें खतरा है।"

आचार्यश्री—"जो मैं सोच रहा हूँ, वही आप सोच रहे है। आज आप ही कहिये, उनसे हमारा सबंध कैसे हो ?"

प० नेहरू—"उनसे आपको संबध जोड़ने की आवश्यकता भी नही है। साधु-समाज अगर काम करे तो अच्छा हो सकता है—ऐसी मेरी धारणा है। पर काम होना कठिन हो रहा है।"

वार्तालाप की समाप्ति पर पंडितजी ने कहा—"आन्दोलन की गतिविधियों को मैं जानता रहूँ, ऐसा हो तो बहुत अच्छा रहे। आप नन्दाजी से चर्चा करते रहिये। मुझे उनके द्वारा जानकारी मिलती रहेगी। मेरी उसमें पूरी दिलचस्पी है।"[1]

आचार्यश्री और अशोक मेहता

समाजवादी नेता श्री अशोक मेहता ६ दिसम्बर १९५६ को प्रात:कालीन व्याख्यान के बाद आये। आचार्यश्री से विचार-विनिमय के प्रसंग में जो बातें चलीं, उनमें से कुछ इस प्रकार है :

श्री मेहता—"अणुव्रती व्रत लेते है, वे उनका पालन करते है या नहीं, इसका आपको क्या पता रहता है ?"

आचार्यश्री—"प्रतिवर्ष होने वाले अणुव्रत-अधिवेशन में अणुव्रती परिषद् के बीच अपनी छोटी-छोटी गलतियों का भी प्रायश्चित्त करते है। इससे पता चलता है कि वे व्रत-पालन की

१—नव निर्माण की पुकार

दिशा में कितने सावधान हैं। कई लोग वापस हट भी जाते हैं। इससे भी ऐसा लगता है कि जो प्रतिवर्ष व्रत लेते है, वे उन्हें दृढ़ता से पालते है। अणुव्रतियों में अधिकांश जो हमारे सम्पर्क में आते रहते है, उनकी सार-सम्भाल तो मैं और सौ-सवा सौ जगह अलग-अलग घूमने वाले हमारे साधु-साध्वियाँ लेते रहते हैं। कठिनाइयों के कारण अगर कोई व्रत नही निभा सकता है, तो उसे अलग कर दिया जाता है और ऐसा हुआ भी है। इस पर से खरे उतरने वाले अणुव्रतियों का भाग नब्बे प्रतिशत रहता है।

"हम नैतिक सुधार का जो काम कर रहे है, उसमें हमें सभी लोगो के सहयोग की अपेक्षा है। रुपये-पैसे के सहयोग की हमें अपेक्षा नहीं है। हम चाहते हैं कि अच्छे लोग यदि समय-समय पर अपने आयोजनों में इसकी चर्चा करते रहें, तो इससे आन्दोलन गति पकड सकता है। अत हम आपसे भी चाहेंगे कि आप हमें इस प्रकार का सहयोग दें।"

श्री मेहता—"उपदेश करने का तो हमारा अधिकार है नही, क्योकि हमलोग राजनैतिक व्यक्ति हैं। राजनीति मे जिस प्रकार हमने निर्लोभ सेवा की है, उस पर से हमें उसके सम्बन्ध मे कहने का अधिकार है। पर धर्म का यह उपदेश नही कर सकते और करना भी नहीं चाहिए। वैसे तो मैं कभी-कभी इसकी चर्चा करता हूँ और आगे भी करता रहूँगा।"

चुनाव के सम्बन्ध में किये जाने वाले कार्यक्रम को लेकर जब उन्हें उनकी पार्टी का सहयोग देने के लिए कहा गया तो उन्होने कहा—"मैं अभी यहाँ रहने वाला हूँ नहीं। हमारी पार्टी के दूसरे सदस्य इस कार्यक्रम में जरूर भाग लेंगे। पर काम केवल घोषणा से नही होने वाला है। इसके लिए तो खडे होने वाले उम्मीदवारों और विशेषतः जनता को जागरूक बनाने की आवश्यकता है। अत आप जनता में भी कार्य करें।"

आचार्यश्री—"जनता में हमारा प्रयास चालू है। इसको हम उम्मीदवारो में भी शुरू करना चाहते हैं।"[1]

आचार्यश्री और सत विनोबा भावे

आचार्यश्री ने स० २००८ का वर्षाकाल दिल्ली में बिताया। उसके पूर्ण होते ही उन्हे वहाँ से अन्यत्र विहार करना था। कुछ दिन पूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के साथ हुई बातचीत के प्रसग में आचार्यश्री को पता चला कि विनोबाजी एक-दो दिन में ही दिल्ली पहुँचने वाले हैं। राष्ट्रपतिजी की इच्छा थी कि वे विनोबाजी से अवश्य मिलें। आचार्यश्री स्वयं भी उनसे विचारविनिमय करना चाहते थे। विनोबाजी आये, उधर चातुर्मास समाप्त हुआ। मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को राजघाट पर मिलने का समय निश्चित हुआ। आचार्यश्री वहाँ गये और उधर से विनोबाजी भी आ गए। गांधी-समाधि के पास बैठकर बातचीत प्रारभ हुई। उसके कुछ अश यहाँ दिये जाते हैं :

१—नव निर्माण की पुकार

सत विनोवा—"श्रमण-परम्परा में तो पद-यात्रा सदा से चलती ही है, अब मैंने भी आपकी उस वृत्ति को ले लिया है।"

आचार्यश्री—"लोग मुझ से पूछा करते हैं कि आज के युग में आप पैदल यात्रा क्यों अपनाये हुए है ? वायुयान या मोटर से जितना शीघ्र अपने लक्ष्य-स्थान पर पहुँचा जा सकता है, वहाँ पैदल चलकर पहुँचने में समय का बहुत अपव्यय होता है। मैं उन्हें कहा करता हूँ कि भारत की जनता ग्रामो में बसती है और उससे सम्पर्क करने के लिए पद-यात्रा बहुत उपयोगी है। आपका ध्यान भी इधर गया है, यह प्रसन्नता की वात है। अब यदि किसी कांग्रेसी ने मेरे सामने यह प्रश्न रखा तो मैं कहूँगा कि वह उसका उत्तर विनोवाजी से ले ले।"

और फिर वातावरण हसी से गूँज उठा।

सत विनोवा—"आप प्रतिदिन कितना चल लेते है ?"

आचार्यश्री—"साधारणतया लगभग दस-वारह मील।"

संत विनोवा—"इतना ही लगभग मैं चलता हूँ।"

आचार्यश्री—"जनता के आध्यात्मिक और नैतिक स्तर को ऊँचा करने की दृष्टि से अणुव्रती सघ के रूप में एक आन्दोलन प्रारंभ किया गया है। क्या आपने उसके नियमोपनियम देखे है ?"

सत विनोवा—"हाँ मैंने उसे पढा है। आपने अच्छा किया है। अणुव्रत का तात्पर्य यही तो है कि कम से कम इतना व्रत तो होना ही चाहिए।"

आचार्यश्री—"हाँ आप ठीक कह रहे हैं। पूर्ण व्रत की अशक्यता में ये अणुव्रत है। नैतिक जीवन की यह एक साधारण सीमा है।"

संत विनोवा—"अहिंसा और सत्य का मेल नहीं हो पा रहा है, इसीलिए अहिंसा का पक्ष दुर्वल हो रहा है। अहिंसा पर जितना वल दिया गया है, उतना वल सत्य पर नहीं दिया गया, यही कारण है कि जैन गृहस्थों में अहिंसा-विषयक जितनी सावधानी देखी जाती है, उतनी सत्य-विषयक नही।"

आचार्यश्री—"अहिंसा और सत्य की पूर्णता परस्परापेक्ष है। एक के अभाव में दूसरे की भी गौरवपूर्ण पालना नही हो सकती। अणुव्रत-कार्यक्रम व्यवहार में चलने वाले असत्य का एक प्रवल प्रतिकार है। अहिंसक दृष्टिकोण के साथ जब सत्य-मूलक व्यवहार की स्थापना होगी, तभी आध्यात्मिक और नैतिक स्तर उन्नत वन सकेगा।

"अणुव्रत-नियमों में निषेधपरक नियम ही अधिक है। हमारे विचार में 'किसी भी मर्यादा के विषय में निषेध जितना पूर्ण होता है, उतना विधान नहीं। इस विषय में आपके क्या विचार हैं ?"

सन्त विनोवा—"मैं नकारात्मक दृष्टि को पसन्द करता हूँ। इसका मैंने कई बार समर्थन भी किया है।"[१]

१—वार्तालाप-विवरण

आचार्यश्री और मुरारजी देसाई

आचार्यश्री बम्बई में थे। उस समय मुरारजी देसाई वहाँ के मुख्य मन्त्री थे। वे बम्बई के कार्यक्रमों में दो बार सम्मिलित हो चुके थे, परन्तु बातचीत करने का अवसर प्राप्त नही हुआ था। वे चाहते थे कि आचार्यश्री से व्यक्तिगत बातचीत हो। आचार्यश्री भी उसके लिए उत्सुक थे। समय की कमी और विभिन्न व्यवधानों के कारण ऐसा नही हो सका। जब बम्बई से विहार करने का अवसर आया, तब अतिम दिन आचार्यश्री मुरारजी भाई की कोठी पर गये। एक तरफ विदाई का कार्यक्रम था, तो दूसरी तरफ मुरारजी भाई से वार्तालाप। बीच में बहुत थोड़ा ही समय था। फिर भी आचार्यश्री वहाँ पधारे। मुरारजी भाई ने बडा सत्कार किया और बहुत प्रसन्न हुए। औपचारिक वार्तालाप के पश्चात् जो बातें हुई, उनमें से कुछ ये हैं

आचार्यश्री—"आप दो बार सभा में आये, पर वैयक्तिक बातचीत नही हो सकी।"

श्री देसाई—"मैं भी ऐसा चाहता था, परन्तु मुझे यह कठिन लगा। इधर कुछ दिनो से मैंने धार्मिक उत्सवों में जाना कम कर दिया है और आपको अपने यहाँ बुला कैसे सकता था।"

आचार्यश्री—"धार्मिक कार्यों में कम भाग लेने का क्या कारण है ?"

श्री देसाई—"मेरे नाम का वहाँ उपयोग किया जाता है। यह सम्प्रदाय बढाने का तरीका है। मैं सम्प्रदायो से दूर भागने वाला व्यक्ति इसे कतई पसद नही करता।"

आचार्यश्री—"जहाँ सम्प्रदाय बढाने की बात हो, वहाँ के लिए तो मैं नही कहता, पर जहाँ असाम्प्रदायिक रूप से काम किया जाता हो और उससे यदि आध्यात्मिकता और नैतिकता को बल मिलता हो, तो उसमें किसी के नाम का उपयोग होना मेरी दृष्टि में कोई बुरा नहीं है।"

श्री देसाई—"आप लोग प्रचार-कार्य में क्यों पडते है ? सतो को तो प्रचार से दूर रहना चाहिए।"

आचार्यश्री—"साधुत्व की अपनी मर्यादा में रहते हुए जनता में सत्य और अहिंसा-विषयक भावना को जाग्रत करने का प्रयास मेरे विचार से उत्तम कार्य है।"

श्री देसाई—"बुराई न करने की प्रतिज्ञा दिलाना मुझे उपयुक्त नही लगता। इस विषय में गांधीजी से भी मेरा विचार-भेद था। मैंने उनसे कहा था—'आप प्रतिज्ञा दिलाकर लोगों को आश्रम में रखते हैं। लोग आपको खुश करने के लिए यहाँ आ जाते हैं। यहाँ की प्रतिज्ञाएँ न निभापाने पर वे उसे छिपकर तोडते हैं।' गाधीजी से मेरा यह मतभेद अन्त तक चलता ही रहा। आपके सामने भी वही बात रखना चाहूँगा कि आपको खुश करने के लिए लोग अणुव्रती बनते जाते हैं, परन्तु वे उसे ठीक ढग से निभाते हैं, इसका क्या पता ?"

आचार्यश्री—"प्रतिज्ञा के विना सकल्प में दृढता नहीं आती, इसलिए उसमें मेरा दृढ विश्वास है। कोई भी व्रत या प्रतिज्ञा आत्मा से ली जाती है और आत्मा से ही पाली जाती

है। बलात् न वह ग्रहण करायी जा सकती है और न पालन कराई जा सकती है। कौन प्रतिज्ञाओ को पालता है और कौन नही, इस विषय में मैं उसके आत्म-साक्ष्य को ही महत्त्व देता हूँ।

"अणुव्रतों के विषय में आपके कोई सुझाव हों तो बतलाइये।"

श्री देसाई—"इस दृष्टि से मैंने अभी तक पढा नही है। अब आपने कहा है, इसलिए[1] इस दृष्टि से पढ़ूँगा और आपके शिष्य मिलेंगे, उन्हे बतला दूँगा।"

(३) प्रश्नोत्तर

आचार्यश्री का जन-सम्पर्क इतने विविध रूपो में है कि उन सबकी गणना करना एक प्रयास-साध्य कार्य है। कुछ व्यक्ति उनके पास धर्मोपदेश सुनने के लिए आते है, तो कुछ धर्म-चर्चा के लिए। कुछ उन्हें सुझाव देने के लिए आते है, तो कुछ मार्ग-दर्शन लेने के लिए। कुछ की बातो में केवल व्यावहारिक रूप होता है, तो कुछ की बातों में तत्त्व की गहरी जिज्ञासा। देश और विदेश के विभिन्न व्यक्ति विभिन्न रूपों में अपनी जिज्ञासाएँ उनके सामने रखते रहे है। आचार्यश्री उन सबकी जिज्ञासाओ को शांत करने का प्रयत्न करते रहे है। प्राय जिज्ञासुओ को आचार्यश्री के उत्तर तथा व्यवहार से तृप्त होकर जाते देखा गया है। यह बात मैं अपनी ओर से नही कह रहा, किन्तु उन व्यक्तियो के द्वारा आचार्यश्री के प्रति लिखे गए या व्यक्त किये गए उद्‌गार इस बात के साक्षी हैं। यहाँ हम देशी तथा विदेशी विद्वानो के द्वारा किये गए कतिपय प्रश्न और आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त उत्तर दे रहे हैं।

डा० के० जी० रामाराव

दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० के० जी० रामाराव एम० ए०, पी० एच० डी० आचार्यश्री के सम्पर्क मे आये। आचार्यश्री के साथ उनके जो तात्त्विक प्रश्नोत्तर चले, उनमें से कुछ यो हैं·

श्री रामाराव—"जीवन सक्रियता का प्रतीक है (Life is activity)। क्रमश: वैराग्य का होना कर्म-विमुखता है, अत: वैराग्य तथा जीवन का सामजस्य कैसे हो सकता है?"

आचार्यश्री—"जिस रूप में आप जीवन को सक्रिय बतलाते हैं, जीवन की वे क्रियाएँ सोपाधिक है। जैसे भोजन करना तब तक आवश्यक है, जब तक भूख का अस्तित्व हो। जिन कारणो से ये सोपाधिक सक्रियताएँ रहती हैं, वे कारण यदि नष्ट हो जायँ, तो फिर उनकी (सक्रियताओ की) आवश्यकता नही रहेगी। आत्मा की स्वाभाविक सक्रियता है—ज्ञान के निज स्वरूप में रमण करना, जो हर क्षण रह सकती है। इस रूप में सक्रिय रहती हुई आत्मा अन्यों से (आत्म-रमण-व्यतिरिक्त अन्य क्रियाओ से) अक्रिय रहती है। सोपाधिक सक्रियता वैकारिक या वैभाविक है। उसे मिटाने के लिए त्याग, तपस्या आदि की आवश्यकता होती है।"

१—वार्तालाप-विवरण

श्रीरामाराव—"समाज-प्रवृत्ति का हेतु है—दूसरों के लिए जीना। यदि प्रत्येक व्यक्ति वैराग्य अंगीकार कर ले, तो वह एक प्रकार का स्वार्थ होगा। स्वार्थपरता दो प्रकार की है—एक तो यह कि अपने लिए धन आदि सांसारिक सुख-साधनों के सचय का प्रयत्न करना। दूसरी यह कि दूसरो की चिन्ता न करते हुए केवल अपनी मुक्ति की लालसा करना। इस स्थिति में केवल अपनी मुक्ति की लालसा रखने से क्या जीवन का ध्येय पूर्ण हो सकता है ?"

आचार्यश्री—"दूसरे प्रकार की स्वार्थपरता जो आपने बतायी, वस्तुत वह स्वार्थपरता नहीं है। यदि सभी व्यक्ति उस पर आ जायें तो मेरे खयाल में उसमें दूसरो को हानि की कोई सभावना नही होगी। सभी विकासोन्मुख होगे। वह स्वार्थ नही, परमार्थ होगा। जबकि हम मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन-विकास करने का जन्म-सिद्ध अधिकारी है, जब कि वह अकेला जन्मता है, अकेला मरता है, तब यदि अकेला अपने-आपको उठाने की—आत्म-विकास करने की, चेष्टा करता है तो, उसका ऐसा करना स्वार्थ कैसे माना जायेगा ?"

श्री रामाराव—"क्या पुण्य कर्म मोक्ष का रास्ता—मोक्ष की ओर ले जाने वाला नहीं है ?"

आचार्यश्री—"पुण्य शुभ कर्म है। कर्म बंधन है, अत· पुण्य भी मोक्ष में बाधक है। 'कर्म' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) क्रिया, (२) क्रिया के द्वारा जो दूसरे विजातीय पुद्गल आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं—चिपक जाते हैं, वे भी कर्म कहे जाते है। अच्छे कर्म पुण्य और बुरे कर्म पाप कहलाते हैं। बुरे कर्म तो स्पष्टत· मोक्ष में बाधक हैं ही। अच्छे कर्मों का फल दो प्रकार का है—उनसे पुराने बधन टूटते हैं, किन्तु साथ-साथ में शुभ पुद्गलों का बधन भी होता रहता है। बधन मोक्ष में बाधक है।"

श्री रामाराव—"अच्छे कर्मों से बधनों के टूटने के साथ-साथ पुन· बन्धन कैसा ?"

आचार्यश्री—"उदाहरणस्वरूप बगीचे में आप घूमने जायेंगे, वहाँ उससे अस्वस्थता के पुद्गल दूर होंगे और स्वस्थता के अच्छे पुद्गल समाविष्ट होंगे। अच्छी क्रिया में मुख्य फल आत्म-शुद्धि है, किन्तु जब तक उस क्रिया मे राग-द्वेष का अंश समाविष्ट रहता है, उसमें बधन भी है। गेहूँ की खेती की जाती है, गेहूँ के साथ चारा या भूसा भी पैदा होता है। बादाम के साथ छिलके भी पैदा होते हैं। जब तक वीतरागता नहीं आयेगी, तब तक की अच्छी प्रवृत्ति यत्-किंचित् अश में राग-द्वेष से सर्वथा विरहित नही होगी, अत· बंधन होता रहेगा।"

श्री रामाराव—"बन्धन से छुटकारा कैसे हो ?"

आचार्यश्री—"ज्यो-ज्यों कषायावस्था का शमन होता रहेगा, त्यो-त्यों जो क्रियाएँ होंगी उनमें बधन कम होगा, हल्का होगा, आत्मा ऊँची उठती जायेगी। एक अवस्था ऐसी आयेगी जिसमें सर्वथा बंधन नही होगा, क्योंकि उसमें बधन के कारणो का अभाव होगा।"

श्री रामाराव—"क्या निष्काम भाव से कर्म करने पर बन्धन कम होगा ?"

आचार्यश्री—"निष्काम भावना के साथ आत्म-अवस्था भी शुद्ध होनी चाहिए। बहुत-से लोग कहने को कह देते हैं कि वे निष्काम कर्म करते हैं, किन्तु जब तक आत्म-अवस्था विशुद्ध नहीं होती, तब तक वह निष्कामता नहीं कही जा सकती।"

श्री रामाराव—"साइकोलोजी (मनोविज्ञान-शास्त्र) का विचार-क्षेत्र मानसिक क्रिया से ऊपर नहीं जाता। आपके विचार इस विषय में क्या हैं ?"

आचार्यश्री—"आत्मा की मानसिक, वाचिक व कायिक क्रिया तो है ही, इनके अतिरिक्त 'अध्यवसाय' या 'परिणाम' नाम की एक सूक्ष्म क्रिया भी है। स्थावर जीवों के मन नहीं होता, किन्तु उनके भी वह सूक्ष्म क्रिया होती है, उसे 'योग', 'लेश्या' आदि नामों से अभिहित किया जाता है।"

श्री रामाराव—"जिनके मन नहीं होता क्या उनके आत्मा नहीं होती है ?"

आचार्यश्री—"आत्मा के आलोचनात्मक ज्ञान के साधन का नाम मन है। जिस प्रकार पाँचों इन्द्रियाँ ज्ञान का साधन हैं, उसी प्रकार मन भी। यदि दूसरे शब्दों में कहा जाये तो आत्मा की बौद्धिक क्रिया का नाम मन है। जिनकी बौद्धिक क्रिया अविकसित होती है, उन्हें अमनस्क कहा जाता है अर्थात् उनके मन नहीं होता।"

श्री रामाराव—"क्या इन्द्रियों की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति से आत्मा मुक्ति पाती है ?"

आचार्यश्री—प्रवृत्ति दो प्रकार की है—"सत् प्रवृत्ति तथा असत् प्रवृत्ति। सत्प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों आत्म-मुक्ति की साधनभूत हैं।"

श्री रामाराव—"मनोविज्ञान ऐसा मानता है कि विचार-शक्ति में मनुष्य कार्यप्रवृत्ति से (सतत चेष्टा से) विकास कर सकता है, किन्तु कुछ बातें ऐसी होती हैं, जो संस्कार लक्ष्य हैं। मनोविज्ञान में विचारधारा के तीन प्रकार माने गए हैं—(१) माता-पिता की अपनी संतति के प्रति जैसी रक्षात्मक भावना होती है, वैसी भावना रखना और दूसरे से वैसी ही रक्षात्मक भावना की माँग करना, (२) घृणित भावनाओं से घृणा करना व उन्हें छोड़ने की प्रवृत्ति करना, और (३) उत्तेजक काम-क्रोध वासना आदि। ये तीनों भावनाएँ स्वाभाविक शक्तियाँ (Energies) हैं। इनको सरलतया मिटाया नहीं जा सकता। इनको दूसरी ओर लगाया जा सकता है, अर्थात् दूसरे मार्ग पर ले जाने की कोशिश की जा सकती है। स्कूलों में चरित्र-गठन की शिक्षा के लिए यह विधि प्रयुक्त की जाती है कि पहली को प्रोत्साहन दिया जाये और तीसरी को रोकने की चेष्टा की जाये, क्या यह ठीक है ?"

आचार्यश्री—"तीसरी को रोकने का प्रयास करना बहुत ठीक है। पहली में प्रवृत्ति करने की या प्रोत्साहन देने की प्रेरणा एक सामाजिक भावना है। जो दूसरी विचारधारा है, उसको प्रश्रय देना प्रोत्साहन देना उत्तम है।"[1]

१—तत्त्व-चर्चा

डा० हर्बर्टटिसि

डा० हर्बर्टटिसि एम० ए०, डी० फिल्० आस्ट्रिया के यशस्वी पत्रकार तथा लेखक हैं। वे डाक्टर रामाराव के साथ ही हांसी में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये थे। आचार्यश्री के साथ हुए उनके कुछ प्रश्नोत्तर इस प्रकार हैं·

डा० हर्बर्टटिसि—"लगभग पचास वर्ष पूर्व रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय वालो में ऐसी भावधारा उत्पन्न हुई कि वे जो कुछ कहते हैं, वह सर्वथा मान्य, विश्वसनीय व सत्य है। उसमें अविश्वास या भूल की कोई गुंजाइश नहीं। किन्तु इस पर लोगो ने यह शङ्का की कि मनुष्य से भूल का होना सम्भव है। क्या आप भी आचार्य के विषय में ऐसा मानते हैं ? अर्थात् वे जो कुछ कहते है, क्या वह एकान्तत· स्खलन-शून्य ही होता है ?"

आचार्यश्री—"यद्यपि सघ के लिए, अनुयायियो के लिए आचार्य ही एकमात्र प्रमाण हैं। उनका कथन—आदेश सर्वथा मान्य व स्वीकार्य होता है, किन्तु हम ऐसा नही मानते कि आचार्यो से कभी भूल होती ही नही। जब तक सर्वज्ञ नही होते, तब तक भूल की सम्भावना रहती है। यदि ऐसा प्रसग हो तो आचार्य को वह बात निवेदन की जा सकती है। वे उस पर उचित ध्यान देते है।"

डा० हर्बर्टटिसि—"क्या कभी ऐसा काम पड सकता है, जबकि एक पूर्वतन आचार्य के बनाये नियमों में परिवर्तन किया जा सके ?"

आचार्यश्री—"ऐसा सम्भव है। पूर्वतन आचार्य उत्तरवर्ती आचार्य के लिए ऐसा विधान करते है कि देश, काल, भाव परिस्थिति आदि को देखते हुए व्यवस्थामूलक नियमों में परिवर्तन करना चाहें तो कर सकते है। किन्तु साथ-साथ में यह ध्यान रहे—धर्म के मौलिक नियमों में परिवर्तन करने का अधिकार किसी को भी नहीं है। वे सर्वदा व सर्वथा अपरिवर्तनशील है।"

डा० हर्बर्टटिसि—"क्या जीव पुद्गल पर कुछ असर कर सकता है ?"

आचार्यश्री—"हाँ, जीव पुद्गलों को अनुकूल-प्रतिकूल अनुवर्तित या परिणत करने का सामर्थ्य रखता है। जैसे—कर्म पुद्गल हैं। जीव कर्म-बन्ध भी करता है और कर्म-निर्जरण भी। इससे स्पष्ट है कि जीव पुद्गलों पर अपना प्रभाव डाल सकता है।"

डा० हर्बर्टटिसि—"जीव मनुष्य के शरीर में कहाँ है ?"

आचार्यश्री—"शरीर में सर्वत्र व्याप्त है। कही एकत्र—एक स्थान-विशेष पर नहीं। उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है, जब शरीर के किसी भी अग-प्रत्यग पर चोट लगती है, तत्क्षण पीडा अनुभव होती है।"

डा० हर्बर्टटिसि—"जब सब जीव संसार-भ्रमण शेष कर लेंगे, तब क्या होगा ?"

आचार्यश्री—"बिना योग्यता व साधनों के सब जीव कर्म-मुक्त नहीं हो सकते। जीव सख्या में इतने हैं कि उनका कोई अन्त नही है। उनमें से बहुत कम जीवों को वह सामग्री

उपलब्ध होती है, जिससे वे मुक्त हो सकें। जबकि ससार की स्थिति यह है कि करोड़ों लोगों में लाखों शिक्षित है, लाखो में हजारों विद्वान् या कवि हैं, हजारों में भी ऐसे बहुत कम हैं, जो स्वानुभूत बात कहने वाले तत्त्व-ज्ञानी हों। तब अध्यात्म-रत योगी समार में कितने मिलेंगे, जो संसार-भ्रमण शेष कर लेते है ?"[1]

डा० फेलिक्स वेल्यि

प्राच्य संस्कृति विषयक उच्चतर अध्ययन के लिए एक विद्या-सस्थान के प्रतिष्ठापक तथा सञ्चालक डा० फेलिक्स वेल्यि द्वारा किये गए प्रश्नों के आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त उत्तर इस प्रकार हैं :

डा० वेल्यि—"योग की उपयोगिता क्या है ?"

आचार्यश्री—"मानसिक व आध्यात्मिक शक्तियों के विकास के लिए एव इन्द्रिय-विजय के लिए उसका व्यवहार होता है।"

डा० वेल्यि—"इन्द्रिय-दमन का प्रथम स्तर क्या है ?"

आचार्यश्री—"आत्मा और शरीर के भेद का ज्ञान होना एवं आत्मा के निर्वाण-स्वरूप तक पहुँचने की भावना होना, इन्द्रिय-दमन का प्रथम स्तर है।"

डा० वेल्यि—"ज्ञान व चरित्र—इन दोनों में जैनों ने किसको अधिक महत्त्व दिया है।"

आचार्यश्री—"जैन-दृष्टि में ज्ञान और चरित्र-निर्माण दोनों समान महत्त्व रखते है।"

डा० वेल्यि—"जैन योग का अन्तिम ध्येय क्या है ?"

आचार्यश्री—"जैन योग का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है।"

डा० वेल्यि—"काम-विजय के सक्रिय उपाय कौन-से है ?"

आचार्यश्री—"मोहजनक कथा न करना, चक्षु-सयम रखना, मादक व उत्तेजक वस्तुए न खाना, अधिक न खाना, विकारोत्पादक वातावरण में न रहना, मन को स्वाध्याय, ध्यान या अन्य सत्प्रवृत्तियों में लगाये रहना आदि काम-विजय के सक्रिय उपाय है।"

डा० वेल्यि—"क्या जैन विवाह को एक धर्म-संस्कार मानते हैं ? विवाह-विच्छेद-प्रथा के प्रति जैनों का दृष्टिकोण क्या है ?"

आचार्यश्री—"जैन विवाह को धर्म-सस्कार नहीं मानते। विवाह-विच्छेद की प्रथा जैन समाज में नही है। जैन लोग उक्त प्रथाओं को धर्म में सम्मिलित नहीं करते।"

डा० वेल्यि—"जैन साधुओं में परस्पर प्रतिस्पर्धा है या नहीं ?"

आचार्यश्री—"आत्म-साधना एव अध्ययन के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा होती है। यश-प्राप्ति की स्पर्धा वैध नहीं है। यश की अभिलाषा रखना दोष समझा जाता है।"

१—तत्त्व-चर्चा

डा० वेल्यि—"क्या धर्म-गुरु से कभी कोई गलती नहीं होती ? क्या वे सदा सन्तुष्ट रहते हैं ? क्या वे हमेशा स्वस्थ रहते हैं ? क्या औषधोपचार भी विहित है ? क्या उन्हें स्वास्थ्यकर भोजन हमेशा मिलता रहता है ?"

आचार्यश्री—"गुरु भी अपने को साधक मानता है। साधना में कोई भूल हो जाये तो वे उसका प्रायश्चित्त करते हैं। हमारी दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ सुख आत्म-संतोष है। इसकी गुरु में कमी नहीं होती। शारीरिक स्थिति के बारे में कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। क्योंकि वह भिन्न-भिन्न क्षेत्र और परिस्थितियों पर निर्भर है। साधु भिक्षा द्वारा भोजन प्राप्त करते हैं, इसलिए भोजन सदा स्वास्थ्यकर ही मिले, यह बात आवश्यक नहीं।

"साधु को शारीरिक व्यथाएँ होती हैं और मर्यादा के अनुकूल उनका उपचार करना भी वैध है। औपधि-सेवन करना या अपनी आत्म-शक्ति से ही उसका प्रतिकार करना, यह वैयक्तिक इच्छा पर निर्भर है।"

डा० वेल्यि—"संसार के प्रति साधुओं का कर्तव्य क्या है ?"

आचार्यश्री—"हमें विश्व के दुःख के जो मूल-भूत कारण हैं, उन्हें नष्ट करना चाहिए। अपने आत्म-विकास और साधना के साथ-साथ जन-कल्याण करना, अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह का प्रचार करना, साधुओं का लक्ष्य है।"[1]

श्री जे० आर० वर्टन

आचार्यश्री बम्बई के उपनगरों में थे, तब दो अमेरिकन सज्जन—सर्वश्री जे० आर० वर्टन और डब्ल्यू० डी० वेल्स दर्शनार्थ आये। वे विभिन्न धर्मों की अन्तर-भावना का परिशीलन करने के लिए एशियाई देशों में भ्रमण करते हुए यहाँ आये थे। आचार्यश्री के साथ उनका वार्तालाप इस प्रकार हुआ :

श्री वर्टन—"मैंने बौद्ध-दर्शन में यह पढ़ा है कि तृष्णा या आकांक्षा को मिटाना जीवन-विकास का साधन है। जैन-दर्शन की इस विषय में क्या मान्यता है ?"

आचार्यश्री—"जैन-धर्म में भी वासना, तृष्णा, लिप्सा आदि का वर्जन करने के उपदेश हैं। आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप तक पहुँचाने में ये दोष बड़े बाधक हैं।"

श्री वर्टन—"ईसा के उपदेशों के सम्बन्ध में आपका क्या खयाल है ?"

आचार्यश्री—"अपरिग्रह और अहिंसा आदि अध्यात्म-तत्त्वों के सम्बन्ध में जो कुछ उन्होंने कहा है, वह हृदयस्पर्शी है।"

श्री वर्टन—"क्या आप धर्म-परिवर्तन भी करते हैं ?"

आचार्यश्री—"हमारा कार्य तो धर्म के सत्य-तत्त्वों के प्रति व्यक्ति के मन में श्रद्धा और निष्ठा पैदा करना है। हृदय-परिवर्तन द्वारा व्यक्ति को आत्म-विकास के पथ का सच्चा

१—जनपद विहार पृष्ठ २३ से २६

पथिक बनाना है । कहीं भी रहता हुआ व्यक्ति ऐसा करने का अधिकारी है । एकमात्र बाहरी रङ्ग-ढङ्ग को बदलने में मुझे श्रेयस् प्रतीत नहीं होता, क्योंकि धर्म का सीधा सम्बन्ध आत्म-स्वरूप के परिमार्जन और परिष्कार से है ।"

श्री वर्टन—"श्रद्धा का क्या तात्पर्य है ?"

आचार्यश्री—"सत्य-विश्वास को श्रद्धा कहते हैं ।"

श्री वर्टन—"सत्य विश्वास किसके प्रति ?"

आचार्यश्री—"आत्मा के प्रति, परमात्मा के प्रति और आध्यात्मिक तत्त्वों के प्रति ।"

श्री वर्टन—"क्या कर्तव्य ही धर्म है ?"

आचार्यश्री—"धर्म अवश्य कर्तव्य है, पर सब कर्तव्य धर्म नहीं । सामाजिक जीवन में रहते हुए व्यक्ति को पारिवारिक, सामाजिक आदि कई कर्तव्य ऐसे भी करने पड़ते है, जो धर्मानु-मोदित नहीं होते । समाज की दृष्टि से तो वे कर्तव्य है, पर अध्यात्म-धर्म नहीं । आत्म-विकास उनसे नहीं सधता ।"[1]

श्री वुडलैंड केलर

अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी मण्डल के उपाध्यक्ष तथा यूनेस्को के प्रतिनिधि श्री वुडलैंड केलर जो शाकाहार एवं अहिंसावादी लोगों से मिलने व विचार-विमर्श करने सपत्नीक भारत आये थे, बम्बई में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये । श्री केलर ने कहा—"भारतवर्ष एक शाकाहार-प्रधान देश है और जैन धर्म में विशेष रूप से आमिषवर्जन का विधान है । अतः भारतवर्ष से तथा मुख्यतः जैनो से, हमारा एक सहज सम्बन्ध एव आत्मीयभाव जुड जाता है ।"

आचार्य प्रवर के साथ श्री केलर का जो वार्तालाप हुआ, उसका सारांश यो है :

श्री केलर—"रूस विश्व की उलझनों अथवा समस्याओ के लिए साम्यवाद के रूप में जो समाधान प्रस्तुत करता है, उसके सम्बन्ध में आपका क्या विचार है ?"

आचार्यश्री—"साम्यवाद समस्याओं का स्थायी और शुद्ध हल नही है, वह अर्थ-सम्बन्धी समस्याओ का एक सामयिक हल है । आर्थिक समस्याओ का सामयिक हल जीवन की समस्याओं को सुलझा सके, यह सम्भव नही ।"

श्री केलर—"क्या राजनैतिक विधि-विधानो से लोक-जीवन की बुराइयों और विकृतियों का विच्छेद हो सकता है ?"

आचार्यश्री—"विकारों अथवा बुराइयों के मूलोच्छेद का सही साधन है—हृदय-परिवर्तन । विकारों के प्रति व्यक्ति के मन में घृणा और परिहेयता के भाव पैदा होने से उसमें स्वतः परिवर्तन आता है । हृदय बदलने पर जो बुराइयाँ छूटती हैं, वे स्थायी रूप से छूटती हैं और

१—जैन भारती, २८ नवम्बर, १९५४

कानून या डण्डे के वल पर जो बुराइयाँ छुडाई जाती है, वे तव तक छूटी रहती है, जव तक विकारों में फसे व्यक्ति के सामने डडे का भय रहे।"

श्री केलर—"ससार में जो कुछ दृश्यमान है, वह क्षणभगुर है, नाशवान् है, फिर व्यक्ति क्यों क्रियाशील रहे, किसलिए प्रयास करे ?"

आचार्यश्री—"दृश्यमान-अदृश्यमान भौतिक पदार्थ नाशवान् है, भौतिक सुख क्षण-विध्वसी हैं, पर आत्म-सुख तो शाश्वत, चिरन्तन और अविनश्वर है। उसीके लिए व्यक्ति को सत्कर्म-निष्ठ और प्रयत्नशील रहने की अपेक्षा है। भौतिक दृश्यमान जगत् या सुख-सामग्री जीवन का चरम लक्ष्य नही है। चरम लक्ष्य है—आत्म-साक्षात्कार, आत्म-विशोधन।"

श्री केलर—"दूसरे लोगों में जो बुराइयाँ है, उनके विषय में आप टीका करते है या मौन रहते हैं ?"

आचार्यश्री—"वैयक्तिक आक्षेप या टीका करने की हमारी नीति नही है। पर सामुदायिक रूप में बुराइयों पर तो आघात करना ही होता है, जो आवश्यक है।"

श्री केलर—"मनुष्य जो कर्म करता है, क्या उसका फल-परिपाक ईश्वराधीन है ?"

आचार्यश्री—"ईश्वर या परमात्मा केवल द्रष्टा है। व्यक्ति जैसा कर्म करता है, उसका फल स्वय उसे मिलता है। फल-परिपाक कर्म का सहज गुण है। ईश्वर या परमात्मा विगत-बन्धन है, निर्विकार है, स्वस्वरूप में अधिष्ठित है। कर्म-फल-प्रदातृत्व से उसका क्या लगाव ?"[1]

डानेल्ड-दम्पति

कैनेडियन पादरी श्री डानेल्ड कैंप अपनी पत्नी तथा चर्च के अन्य कार्यकर्त्ताओ के साथ जलगांव में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उनका वार्तालाप-प्रसग निम्नांकित है :

श्रीमती कैंप—"वाइविल के अनुसार हम ऐसा मानते है कि न्यायी व्यक्ति श्रद्धा से जीवन विताता है।"

आचार्यश्री—"हमारी भी मान्यता है कि सच्चा श्रद्धावान् वही है, जो अपने जीवन में अन्याय को प्रश्रय नहीं देता।"

श्रीमती कैंप—"प्रभु यीशू ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति यह सोचे कि जिसको तू मारना चाहता है, वह तू ही है।"

आचार्यश्री—"भगवान् महावीर का कथन है कि जिस तरह तुझे अपना जीवन प्रिय है, उसी तरह वह सवको प्रिय है। सव जीव जीना चाहते हैं, इसलिए तुम्हें क्या अधिकार है कि तुम दूसरो के प्राण हरो। इस प्रकार वहुत-सी वातें ऐसी है, जो विभिन्न धर्मों मे समन्वय वताती है।"

१—जैन भारती, २० फरवरी, १९५५

श्री कैंप—"संसार में व्याप्त अशांति और दुःख का कारण क्या है ?"

आचार्यश्री—"आज का संसार भौतिकवाद में बुरी तरह फंसा है। परिणामस्वरूप उसकी लालसाएँ असीमित बन गई है। स्वार्थ के अतिरिक्त उसे कुछ नजर नहीं आता। अध्यात्म, जो शांति का सही तत्त्व है, वह दिन-पर-दिन भुलाया जा रहा है। जहाँ तक मैं सोचता हूँ, आज के संघर्ष और अशांति का यही कारण है।"

श्री कैंप—"हमारी मान्यता यह है कि मनुष्य जब पैदा होता है, तो पापमय—पापों को लिए हुए पैदा होता है।"

आचार्यश्री—"हमारी मान्यतानुसार जब मनुष्य पैदा होता है तो पाप और पुण्य दोनों लिये हुए पैदा होता है। यदि पुण्य साथ नहीं लाता, तो उसे अनुकूल सुख-सुविधाएँ कैसे मिलतीं ?"

श्री कैंप—"जो प्रभु यीशू की शरण में आ जाते है, उनकी मान्यता रखते हैं, उनके पापों के लिए वे पेनैल्टी (दण्ड) चुका देते हैं।"

आचार्यश्री—"तब मनुष्य का अपना कर्त्तव्य क्या रहा ? हमारी मान्यता यह है कि मनुष्य को पैदा करनेवाली ईश्वर-जैसी कोई शक्ति नहीं है। मनुष्य-जाति अनादिकालीन है। सत्-असत्, शुभ-अशुभ मनुष्य के स्वकृत कर्मों पर आधारित है। उनके लिए मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है। अपने भले-बुरे कार्यों के लिए व्यक्ति का अपना उत्तरदायित्व न हो, तब मनुष्य का क्या दोष ? वह तो ईश्वर के चलाये चलता है।"

श्री कैंप—"मेरी ऐसी मान्यता है कि हम लोग खुद कुछ नही कर सकते, सब ईश्वरीय प्रेरणा से करते हैं।"

आचार्यश्री—"इसमें हमारा विचार-भेद है। हमारे विचारानुसार हम अपने सत्-असत् के स्वयं उत्तरदायी हैं और हमारी मान्यता यह है कि व्यक्ति आत्म-शक्ति से ही कार्य करता है, किसी दूसरी शक्ति से नहीं।"[1]

१—जैन भारती, २९ मई १९५५

: ८ :

संघर्षों के सम्मुख

स्थितप्रज्ञता

आचार्यश्री का जीवन संघर्षमय जीवन की एक कहानी है। ज्यों-ज्यों उनका जीवन विकास करता रहा है, त्यों-त्यों सघर्ष भी बढता रहा है। उनके विकास-शील व्यक्तित्व ने जहाँ अनेकों भक्त तैयार किये हैं, वहाँ विरोधी भी। भक्ति श्रद्धा या गुणज्ञता से उत्पन्न होती है, तो विरोध अश्रद्धा या ईर्ष्या से। विरोध चट्टान बनकर बार-बार उनके मार्ग में अवरोधक बनकर आता रहा है, किन्तु उन्होंने हर बार उसे अपनी सफलता की सीढी बनाया है। वे जहाँ जाते हैं, वहाँ हजारों स्वागत करने वाले भी मिलते हैं, तो पाँच-दस आलोचना करने वाले भी निकल आते हैं।—'विकास विरोधियो के साथ सघर्ष का नाम है'—लेनिन का यह वाक्य अपने पूरे रहस्य के साथ आचार्यश्री पर लागू होता है। विरोध और अनुरोध—इन दोनों ही परिस्थितियों में अपने-आपको सन्तुलित रखने की शक्ति उनमें है। अनुरोधजन्य अह्-भाव और विरोधजन्य हीनभाव उन्हें प्रभावित नही करते। अपनी स्थितप्रज्ञता के बल पर वे इन सब भावों से ऊपर उठे हुए हैं।

दो प्रकार

सघर्ष प्राय: हर जीवन में रहते हैं। सफल जीवन में तो और भी अधिक। आचार्यश्री के जीवन में वे काफी मात्रा में रहे हैं, कुछ साधारण, तो कुछ असाधारण। वर्तमान वातावरण को तो सभी सघर्ष झकझोरते ही हैं, परन्तु उनमें कुछ स्वल्पकालिक प्रभाव छोडने वाले होते है तो कुछ चिरकालिक। आचार्यश्री के सम्मुख आने वाले सघर्षो में कुछ आन्तरिक है तथा कुछ बाह्य।

(१) आन्तरिक सघर्ष

दृष्टि-भेद

आन्तरिक सघर्ष से यहाँ तात्पर्य है—तेरापन्थियो द्वारा किया हुआ सघर्ष। आचार्यश्री तेरापन्थ के आचार्य है, अत: तेरापन्थ के विधानानुसार उनकी आज्ञा सभी अनुयायियों को समान रूप से शिरोधार्य होनी चाहिए, परन्तु कुछ प्राचीनतावादियों के मन में उनके प्रति अश्रद्धा के भाव उत्पन्न हुए हैं। उनके विचारानुसार उनकी अनेक बातें तेरापन्थ की परम्परा के विरुद्ध होती जा रही है। वे सोचते हैं कि आचार्यश्री द्वारा युग की आवश्यकता के नाम पर जो परिवर्तन किये जा रहे है, वे सब अन्तत· अहितकर ही होंगे।

आचार्यश्री का दृष्टिकोण है कि धर्म के मूल नियम अपरिवर्तनीय भले ही हों, किन्तु किसी भी प्रकार के परिवर्तन का विरोध करना, जीवन की गति का ही विरोध करना है। मूल-गुणों

को सुरक्षित रखते हुए उत्तर-गुणों से सम्बद्ध अनेक परम्पराओं का जिस प्रकार पूर्वाचार्यों ने परिवर्तन किया है, उसी प्रकार आज भी आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन की गुंजाइश हो सकती है।

नवीनता से भय

प्राचीनता और नवीनता का यह संघर्ष कोई नया नहीं है। हर प्राचीनता नवीनता को इसी आशंका-भरी दृष्टि से देखती है कि यह कहीं सारे ढाँचे को ही न ढहा दे। परन्तु जो दूर-द्रष्टा होते हैं, वे जानते हैं कि नवीन प्राण-शक्ति के बिना कोई भी समाज जीवित नहीं रह सकता। इसी आधार पर वे प्राचीनता के इन तर्कों से भयभीत नहीं होते और आवश्यक परिवर्तन करते हैं। आचार्यश्री ने अनेक परिवर्तन किये हैं और उनके मार्ग में आने वाले विरोधों को उन्होंने विचार-मंथन का ही एक साधन माना है। जिस क्रिया में विरोध या रुकावट नहीं आती, वह कार्य उतना प्रभावकारी भी नहीं होता। जिस काम में चेतना लाने वाली शक्ति होती है, वही हर एक के मस्तिष्क में हलचल पैदा कर सकता है। कुछ लोगों के लिए वह हलचल भय का कारण बन जाती है। वही भय फिर संघर्ष के लिए अनेक निमित्त उपस्थित कर देता है। उन निमित्तों में से कुछ का दिग्दर्शन यहाँ कराना अनुचित नहीं होगा।

संघर्ष का बीज-वपन

आन्तरिक संघर्ष का बीज-वपन अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना के पारिपार्श्विक वातावरण में हुआ। उससे पूर्व आचार्यश्री के प्रति सभी की अटूट निष्ठा थी। तब तक आचार्यश्री का विहार-क्षेत्र प्रायः थली (बीकानेर डिवीजन) तक ही सीमित था। उनके समय और शक्ति का बहुलांश प्रायः उसी समाज के बंधे हुए दायरे में लगता था। आन्दोलन की प्रवृत्तियों के साथ-साथ ज्यों-ज्यों दायरा विशाल बनता गया,—दृष्टिकोण व्यापक होता गया, त्यों-त्यों उस वर्ग पर लगनेवाला समय और सामर्थ्य का प्रवाह जन-साधारण की ओर मुड़ता चला गया। इससे कतिपय व्यक्तियों को लगने लगा कि आचार्यश्री तेरापन्थ से दूर हटने लगे हैं। वे गैर-तेरापन्थियों से घिरते चले जा रहे हैं।

आन्दोलन के प्रति

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति भी अनेक शंकाएँ उठाई जाने लगीं। उनमें मुख्य ये थीं :

१. जो व्यक्ति सम्यक्त्वी नहीं है, क्या उसे अणुव्रती कहा जा सकता है ?

२. गृहि-जीवन के विषय में नियम बनाना क्या साधुचर्या के अनुकूल है ?

३. श्रावक के बारह व्रतों को छोड़कर नया प्रचार करना क्या आगमों के प्रति अन्याय नहीं है ? आदि-आदि।

आचार्यश्री ने यथासमय उपर्युक्त तथा इन जैसी अन्य सभी शंकाओं का अनेक बार समाधान किया। जो व्यक्ति अणुव्रती शब्द की उलझन में थे, वे स्वयं श्रावक-व्रत धारण न करने वाले

को भी श्रावक ही कहा करते थे। श्रावक और अणुव्रती शब्द के प्रयोग की तुलना पर ध्यान देने से वह शंका स्वय ही निरस्त हो जाने वाली थी। परन्तु श्रावक शब्द के प्रयोग की प्राचीनता और अणुव्रती शब्द के प्रयोग की नवीनता उसे समझने में बाधक बनी रही। गृहि-जीवन के विषय में नियम बनाने की बात भी श्रावक के बारह व्रतों की नियमावली के आधार पर समझ में आ सकती थी। भगवान् महावीर ने श्रावको की तात्कालिक जीवन-व्यवस्था के आधार पर जो नियम बनाये थे, उसी प्रकार के ये नियम थे, जो कि वर्तमान जीवन-व्यवस्था को ध्यान में रखकर बनाये गए थे। अणुव्रत और बारह व्रतों में तो कोई संघर्ष ही नहीं था। उस समय भी अनेक व्यक्ति बारह व्रत धारण करते थे तथा अनेक द्वादशव्रती अणुव्रत के नियमों को भी स्वीकार करते थे। इतना स्पष्ट होते हुए भी ये शकाएँ दुहराई जाती रहीं।

प्रार्थना में

अणुव्रत-आन्दोलन खुद ही जब चर्चा का विषय बना हुआ था, तब अणुव्रत-प्रार्थना में भी दो मत होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। उसके विरोध में यह प्रचारित किया गया कि प्रात. भगवान् का नाम लेना चाहिए, वह तो इसमें है नही। इसमें तो झूठ, फरेब आदि के नाम भर दिये गये हैं, जिनको कि उस समय याद ही नही करना चाहिए। कई लोग इसीलिए प्रात·कालीन प्रार्थना में सम्मिलित होते सकुचाते हैं।

एक बार की बात है—एक व्यक्ति को मैंने प्रार्थना में सम्मिलित होने के लिए कहा, तो उत्तर मिला कि वह तो मेरी समझ में ही नही बैठती।

मैंने पूछा—"क्यो, ऐसी कौनसी उलझन की बात है उसमें ?"

उसने कहा—"नित्य सवेरे ही यह ढिंढोरा पीटना कि हम अणुव्रती बन चुके हैं। अतः हमारे भाग्य बड़े तेज हैं—मुझे तो बिलकुल पसद नहीं है, और मैं तो अभी तक अणुव्रती बना भी नहीं, अत· मेरे लिए तो ऐसा कहना भी असत्य ही होगा।"

अणुव्रत-प्रार्थना की प्रथम कडी का जो अर्थ उसने लगाया था, उसे सुनकर मैं दग रह गया। इस विरोध के प्रवाह में बहकर और भी अनेक व्यक्ति न जाने किन-किन बातों का क्या-क्या मनमाना अर्थ लगाते रहते होंगे। मुझे उस भाई की बुद्धि पर तरस आया। मैंने समझाते हुए उससे कहा—"तुमने प्रार्थना की कडी का गलत अर्थ लगाया है, इसीलिए तुम्हें उसके विषय में भ्रम हुआ है। उस कडी का अर्थ तो यह है कि यदि हम अणुव्रती बन सकें, तो यह हमारे लिए बड़े भाग्य की बात होगी। जिस प्रकार श्रावक के लिए तीन मनोरथों का उल्लेख आगमों में आता है और उनके द्वारा भाव-विशुद्धि होती है, उसी प्रकार का इस प्रार्थना में जीवन-शुद्धि के लिए जो सकल्प है, उनसे भाव-विशुद्धि होती है। अणुव्रती बन सकने का सामर्थ्य न होने पर भी वैसा बनने की भावना करना बुरा नहीं है।" इन सब बातों को समझ लेने के पश्चात् वह व्यक्ति प्रार्थना में सम्मिलित होने लगा।

अस्पृश्यता-निवारण

जैन परम्परा जातीयता के आधार पर किसी को छोटा या बडा मानने की नही रही है। तब इस आधार पर किसी को स्पृश्य और किसी को अस्पृश्य मानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, फिर भी पिछली कुछ शताब्दियों में बाह्य प्रभाववश अस्पृश्यता की भावनाएं बनीं और फिर धीरे-धीरे रूढ हो गई। अब उन्हें फिर से मूल परम्परा तक ले जाना कठिन हो गया है। उनके सामने उन रूढ सस्कारों का महत्त्व भगवान् महावीर के क्रांतदर्शन से भी अधिक हो गया है।

आचार्यश्री ने जब जातिवाद को अवास्तविक कहा और तथाकथित अस्पृश्य व्यक्तियों को भी अपने सम्पर्क में लेना प्रारम्भ किया, तब बहुत से व्यक्तियों के मन में एक मूक, किन्तु प्रबल हलचल होने लगी। उस हलचल के प्रथम दर्शन छापर में हुए। आचार्यश्री ने वहाँ की एक हरिजन-बस्ती में व्याख्यान देने के लिए एक साधु को भेजा और कहा कि उन्हें समझाकर मद्य-मांस आदि का परित्याग कराओ। हरिजन-बस्ती में किसी साधु को भेजे जाने का वह प्रथम अवसर ही था। उन्हें जाना तो पडा, किन्तु उनका मन समस्या-संकुल बना हुआ था। व्याख्यान हुआ, अनेक व्यक्तियों ने मद्य-मांस आदि छोडा। व्याख्यान-समाप्ति पर सैकडों लोग उनके साथ आचार्यश्री तक आये। सवर्ण व्यक्तियों ने उनको बड़े कुतूहल की दृष्टि से देखा। उस दृष्टि में स्वय उपदेष्टा भी अपने-आपको कुछ हीन-सा अनुभव करने लगे।

उसी समय सकुचाते-से दूर खडे हरिजनों से किसी ने कहा—"देखते क्या हो, आचार्यश्री का चरण-स्पर्श करो।" कहने वाले की भावना में क्या था, पता नही, परन्तु देखने वाले स्तब्ध खड़े थे कि देखें, अब क्या होता है। आचार्यश्री अपने-आप में स्पष्ट थे। हरिजन भाइयों ने आगे आकर उनका चरण-स्पर्श किया। आचार्यश्री ने उन्हें प्रोत्साहित ही किया, रोका तनिक भी नही। यह घटना काफी चर्चा का विषय बनी। कुछ लोग उत्तेजित भी हुए। कुछ ने कहा कि ये हम सबको एक कर देना चाहते हैं। साधुओं में भी इसकी हलचल कम नहीं थी।

पारमार्थिक शिक्षण-संस्था

पारमार्थिक शिक्षण-सस्था की स्थापना भी अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना के एक पक्ष पश्चात् ही (स० २००५ चैत्र कृष्णा तृतीया को) हुई थी। श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता की ओर से दीक्षार्थियों को अध्ययन की सुविधा देने के लिए इस सस्था का निर्माण हुआ। यह काफी दिनो तक आलोचना का विषय बनती रही। दीक्षार्थी महासभा द्वारा निर्धारित अध्ययन करने के साथ-साथ अपनी आचार-साधना के विषय में आचार्यश्री से भी आदेश-निर्देश पाते थे। आलोचकों ने उसी बात को पकड़ा और प्रचारित किया कि दीक्षार्थियो के खान-पान, रहन-सहन आदि की सारी व्यवस्था आचार्यश्री के आदेश से होती है।

आचार्यश्री ने अनेक बार उस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा—"साधना के विषय में मार्ग-दर्शन करना मेरा कर्तव्य है, वह मैं करता हूँ। सस्था में चलने वाली अन्य प्रवृत्तियों से मेरा सम्बन्ध नहीं है। यहाँ तक कि सस्था में किसे लिया जाये और किसे नही, यह निर्णय भी स्वय सस्था के पदाधिकारी करते हैं। प्रत्येक दीक्षार्थी को सस्था में रहना ही पडेगा, अन्यथा मैं दीक्षित नहीं करूँगा—ऐसा मेरा कोई निर्णय नहीं है। कोई दीक्षार्थी अध्ययन करना चाहे और वह इस संस्था में रहे तो मैं कोई बाधा नही देखता और न रहे तो भी मेरे सामने कोई बाधा नही है।"

(२) बाह्य संघर्ष

सामंजस्य-गवेषणा

आचार्यश्री को आन्तरिक सघर्षों की तरह ही बाह्य संघर्षों का भी सामना करना पडा है। तेरापन्थ के लिए ऐसे सघर्ष नवीन नही हैं। वे उसकी उत्पत्ति के साथ से ही चले आ रहे हैं। समय-समय पर उन सघर्षों का रूप अवश्य बदलता रहा है, परन्तु विरोधी जनो की भावना की तीव्रता सम्भवत कम नही हुई है।

आचार्यश्री अपनी तथा अपने सघ की सारी शक्ति को निर्माण में लगा देना चाहते हैं। पारस्परिक संघर्षों में शक्ति खपाना उन्हें बिलकुल अभीष्ट नहीं है। इसीलिए यथासम्भव वे सघर्षों को टालना चाहते हैं। विरोधी स्थितियो में भी वे सामजस्य का सूत्र खोजते रहते है। इसका यह अर्थ कदापि नही है कि वे विरोधों का सामना कर नहीं सकते। उनके सामने अनेक विरोध आये हैं और उन्होने उनका बडे सामर्थ्य के साथ सामना किया है।

वे सत्य के भक्त हैं, अत' जहाँ उसकी प्राप्ति होती है, वहाँ कट्टर विरोधी की बात मानने मे भी वे कभी हिचकिचाहट नही करते। जहाँ सत्य की अवहेलना होती है, वहाँ वे किसी की भी बात नहीं मानते। सत्यांश की अवज्ञा और असत्यांश को प्रश्रय उन्हें किसी भी परिस्थिति में इष्ट नही है।

विरोध के दो स्तर

तेरापन्थ की मान्यताओं को लेकर अनेक आलोचनाएँ होती रहती हैं। उनमें बहुत-सी निम्नस्तरीय होती है। आचार्यश्री उनकी उपेक्षा करते हैं। किन्तु कुछ उच्चस्तरीय भी होती है, उनका वे आदर करते हैं। अपनी आलोचना मे लिखी गई बातों को वे बडे ध्यान से पढते हैं, उन पर मनन करते है, आवश्यकता होने पर उसी औचित्यपूर्ण ढग से उसका प्रतिवाद भी करते है। इस पद्धति को वे विरोध-पूर्ण न मानकर सौहार्दपूर्ण ही मानते है।

निम्नकोटि की आलोचना में बहुधा इतर सम्प्रदायो के कुछ असहिष्णु व्यक्ति रस लेते है। उनमें कुछ ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं, जो अपने-आपको किसी भी सम्प्रदाय का न कहें, तथा कुछ ऐसे भी हो सकते हैं, जो स्वय को तेरापन्थी कहें, पर उन सबका ध्येय प्राय' विरोध के लिए विरोध होता है। वे आचार्यश्री की उन प्रवृत्तियो का भी उपहास करते हैं, जिनको कि

वे ठीक समझते होते हैं। आचार्यश्री जब हरिजनों में व्याख्यान आदि के लिए जाने लगे तथा अस्पृश्यता का खण्डन करने लगे, तब इसी प्रकार के कुछ लोगों ने उस प्रवृत्ति का मजाक— 'कौआ चले हंस की चाल' कह कर किया था। जब अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से आचार्यश्री ने नैतिक जागरण का उद्घोष किया, तो उन लोगों ने उसे 'नयी बोतल में पुरानी शराब' बतलाया। ऐसे व्यक्ति अंधेरा-ही-अंधेरा देखते रहने के आदी हो जाते है। ज्योत्स्ना की धवलिमा या तो उनके बाँटे ही नहीं पड़ती या फिर अपने स्वाभावानुसार वे उसे स्वीकार ही नहीं करते।

दीक्षा-विरोध

जो व्यक्ति गृहि-जीवन से विरक्त हो जाते है, वे मुनि-जीवन में दीक्षित होते हैं। दीक्षा की पद्धति प्रायः सभी भारतीय सम्प्रदायों में है, तेरापन्थ में भी है। तेरापन्थ इन दीक्षाओं में विशेष सावधानी बरतता है। इसमें केवल आचार्य को ही दीक्षा देने का अधिकार है। दीक्षार्थी के अभिभावकों की लिखित स्वीकृति के बिना किसी को दीक्षित नहीं किया जाता। दीक्षार्थी के लिए एक निर्धारित सीमा तक का तात्त्विक-ज्ञान अनिवार्य माना जाता है। वर्षों तक दीक्षार्थी के कष्ट-सहिष्णुता आदि गुणों की परीक्षा की जाती है। जब वह इन सब परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाता है, तब उसको जन-समूह में दीक्षित किया जाता है। तेरापन्थ की यह प्रणाली हर प्रकार से सन्तोषप्रद परिणाम लाने वाली रही है।

विरोध हर बात का हो सकता है, परन्तु जब विरोध करने का ही दृष्टिकोण बना लिया जाता है, तब तो वह और भी सहज हो जाता है। दीक्षा का भी विरोध किया जाता रहा है, कहीं 'बाल दीक्षा' के नाम पर, तो कहीं साधु-संस्था को ही अनावश्यक बताकर। तेरापन्थ के सामने ऐसे अनेक विरोध आते रहे है। कहीं-कहीं ये विरोध ऊपर से तो दीक्षा-विरोध ही लगते हैं, पर अन्तरङ्ग मे ये तेरापन्थ के विरोध होते हैं। जयपुर का दीक्षा-विरोध इसी कोटि का था।

विरोधी समिति

सं० २००६ के जयपुर चातुर्मास में आचार्यश्री ने कुछ व्यक्तियों को दीक्षित करने की घोषणा की। विरोधी व्यक्ति सम्भवतः विरोध करने का अवसर खोज ही रहे थे। उन्हें वह अवसर मिल गया। उन लोगों ने 'बाल दीक्षा-विरोधी समिति' का गठन किया। हालांकि उन दीक्षार्थियों में एक भी ऐसा बालक नहीं था, जिसके लिए उन्हें विरोध करने को बाध्य होना पड़े, फिर भी विरोधी वातावरण बनाया गया। वस्तुतः वह दीक्षा का विरोध न होकर आचार्यश्री के बढ़ते हुए व्यक्तित्व और प्रभाव का विरोध था। दीक्षा को तो विरोध करने के लिए माध्यम बनाया गया था।

वह अणुव्रत-आन्दोलन का आरम्भ-काल था। आचार्यश्री उसके प्रचार-प्रसार में पूरी तन्मयता से लगे हुए थे। जनता पर उन व्रतों का अच्छा प्रभाव हो रहा था। उसके माध्यम से

साधारण जनता से लेकर जन-नेता तक आचार्यश्री के सम्पर्क में आ रहे थे। देश के चोटी के व्यक्तियों ने भी उनके कार्यक्रमो को सराहा और देश के लिए उन्हें उपयोगी माना। वह कुछ व्यक्तियों को अखरा। उसी अखरन का फलित रूप वह विरोध था। दीक्षा के विरुद्ध वातावरण तैयार करने की योजना बनी और वह विज्ञप्तियो आदि द्वारा कार्य में परिणत की जाने लगी। समाचार पत्रों में भी एतद् विषयक विरोधी लेख, टिप्पणियाँ आदि प्रकाशित की गईं। जनता को बडे पैमाने पर भ्रान्त करने का वह एक सुनियोजित षड्यन्त्र था।

एक प्रवचन

आचार्यश्री को उस विरोधी प्रचार पर ध्यान देना आवश्यक हो गया। लोगो में फैलाई जाने वाली भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करना आवश्यक था, अत: उन्ही दिनों में जैन-दीक्षा विषय पर एक सार्वजनिक प्रवचन रखा गया। उसमे आचार्यश्री ने तेरापन्थ की दीक्षा-प्रणाली को सबके सामने रखा। दीक्षा के विषय में उठाये जाने वाले तर्कों का समाधान किया। दीक्षा-विषयक अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए उन्होंने कहा—"मेरे विचार से दीक्षा के लिए न तो सारे बालक ही योग्य होते हैं और न सारे युवक या वृद्ध ही, कुछ बालक भी उसके लिए योग्य हो सकते हैं और कुछ युवक तथा वृद्ध भी। दीक्षा में अवस्था की परिपक्वता का उतना महत्त्व नहीं होता, जितना कि संस्कारों की परिपक्वता का होता है। बालक को ही दीक्षित किया जाना चाहिए, यह मेरा मन्तव्य नहीं है। इस विषय में मेरा कोई आग्रह भी नहीं है। मेरा आग्रह तो यह है कि अयोग्य दीक्षा नही होनी चाहिए, भले ही वह व्यक्ति युवा या वृद्ध ही क्यों न हो।"

विरोधी समिति के सदस्यो को भी आह्वान करते हुए उन्होने कहा—"वे दूर-दूर से ही विरोध क्यों करते हैं? उन्हें चाहिए कि वे मेरे विचार समझें तथा अपने विचार समझायें। मैं किसी भी प्रकार के परिवर्तन में विश्वास न करने वालो में नहीं हूँ। देश-काल की परिस्थितियो से भी अनभिज्ञ नहीं हूँ, पर साथ में यह भी कह दूँ, कि किसी भी प्रकार के वातावरण के प्रवाह में बह जाने वाला भी मैं नही हूँ।"

विरोध मे तीव्रता

उस भाषण से लोग काफी प्रभावित हुए। उस सभा में विरोधी समिति के कई सदस्य भी उपस्थित थे। उन पर भी प्रतिक्रिया हुई। वे उस विषय पर विचार-विमर्श के लिए आचार्यश्री के पास आये, बातचीत हुई, परन्तु उसका परिणाम विरोध को मन्द या बन्द कर देने के बजाय अधिक तीव्र कर देने के रूप में ही सामने आया। उन लोगों द्वारा दीक्षा का विरोध करने के लिए बाहर से अनेक विद्वानों को बुलाया गया। विरोधी सभाएँ आयोजित की गईं। धुआंधार भाषण किये गए। पैम्फलेटों, समाचार-पत्रों तथा पुस्तिकाओं द्वारा भी काफी विष-वमन किया गया। तेरापन्थ से या तेरापन्थ की प्रगति से विरोध रखने वाले प्राय. सभी

व्यक्तियों का उन्हें समर्थन और सहयोग प्राप्त था। उन सबने मिलकर एक ऐसा मोर्चा बना लिया था कि जिससे दीक्षाओं को रोककर तेरापन्थ को पराजित किया जा सके।

प्रबोध-सूत्र

विरोध में से गुजरते समय विशृंखलित समाज भी संगठित बन जाता है। तेरापन्थ तो फिर एक सुसंगठित धर्म-सम्प्रदाय है। ज्यों-ज्यों लोगों को उस विरोध का पता लगता गया, त्यों-त्यों वे जयपुर पहुँचने लगे। उन सबका निर्णय था कि दीक्षा किसी भी स्थिति में नहीं रुकेगी। दीक्षा की घोषित तिथि ज्यों-ज्यों समीप आती गई, त्यों-त्यों जनता बढ़ती गई। वातावरण में गरमी भी बढ़ती गई। जनता को शांत रखना कठिन अवश्य हो रहा था, पर वह आवश्यक था, इसलिए आचार्यश्री ने सबको सावधान करते हुए कहा—"हिंसा को हिंसा से जीतना कोई मौलिक विजय नहीं होती। हिंसा को अहिंसा से जीतना चाहिए। हम साधन-शुद्धि पर विश्वास करते है, अतः पथ की समस्त बाधाओं को स्नेह और सौहार्द से ही पार करना होगा। उत्तेजित होकर काम को बिगाड़ा ही जा सकता है, सुधारा नहीं जा सकता। मैं यह नहीं कहता कि आप विरोध के सामने झुक जायें, मैं तो यह कहता हूँ कि विरोध का सामना अवश्य करें, परन्तु अहिंसक ढंग से करें। विरोधी लोग उत्तेजना बढ़ाना चाहें और आप उत्तेजित हो जायें, तो यह उनकी सफलता मानी जायेगी, यदि आप उस समय भी शान्त रहें, तो यह आपकी सफलता होगी। मैं आशा करता हूँ कि कोई भी तेरापन्थी भाई न उत्तेजित होगा और न उत्तेजना बढ़े, वैसा कार्य करेगा। दूसरा क्या कुछ करता है, यह उसके सोचने की बात है, पर हमारा मार्ग सदैव शान्ति का रहा है और इसी में हमारी सफलता के बीज निहित है।"

दीक्षा के विषय में भी जनता को आचार्य श्री ने बताया—"यदि दीक्षार्थी दृढ-संकल्प होंगे तो उनकी दीक्षा किसी भी प्रकार से नहीं रोकी जा सकेगी। विरोधी जन अधिक-से-अधिक इतना ही कर सकते हैं कि वे दीक्षार्थियों को निर्णीत समय पर मेरे पास न पहुँचने दें। उस स्थिति में दीक्षार्थियों को स्वयं ही दीक्षा ग्रहण कर लेनी चाहिए। दीक्षा एक आत्मभाव है। वह दीक्षार्थी की आत्मा से उद्भूत होता है। गुरु तो उसमें केवल साधन-मात्र या साक्षी-मात्र होते हैं। दीक्षा के अवसर पर किये जाने वाले आयोजन आदि भी केवल व्यवहार-मात्र ही होते हैं। उसे न कोई हिंसक पशु-बल रोक सकता है और न तथाकथित सत्याग्रह आदि।"

आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त इस प्रबोध-सूत्र ने दूर-दूर से समागत उत्तेजित बन्धुओं को शान्ति प्रदान की तथा दीक्षार्थियों को मार्ग-दर्शन दिया। विरोधियों के समस्त शस्त्र इस पर टकरा कर व्यर्थ हो गए।

दीक्षाएँ संपन्न

दूसरे दिन प्रातः ठीक समय पर पूर्व-निर्धारित स्थान पर ही दीक्षाएँ हुई। किसी भी प्रकार की अशान्ति नहीं हुई। तेरापन्थ के लिए वह एक कसौटी का अवसर था। विरोधीजनों के

इतने सुव्यवस्थित तथा सुसगठित विरोध को परास्त कर देना कोई सामान्य बात नही थी, वह अपने प्रकार का प्रथम विरोध ही था और सम्भवत: अन्तिम भी।

योग्य कौन ?

उस विरोध में कई समाचार-पत्रों के सचालक और सम्पादक भी सम्मिलित थे। विरोधी पक्ष को सामने रखने तथा दीक्षा के विरुद्ध प्रचार करने में उनका खुलकर उपयोग हुआ था। एक ओर जहाँ बाहर के पत्रों में अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में अनुकूल विचार जाते थे, वहाँ दूसरी ओर बालदीक्षा को लेकर प्रतिकूल विचार भी। फल यह हुआ कि आचार्यश्री बालदीक्षा के कट्टर समर्थक माने जाने लगे। पर वे न तो बालदीक्षा के कट्टर समर्थक है और न युवा-दीक्षा या वृद्ध-दीक्षा के ही। वे तो अपने-आपको केवल योग्य दीक्षा का समर्थक मानते हैं। वह योग्यता क्वचित् बालक में भी हो सकती है तथा क्वचित् युवा और वृद्ध में भी। बालक में वैसी योग्यता हो ही नही सकती—इस मान्यता के वे कट्टर विरोधी अवश्य हैं।

एक पृच्छा

जो व्यक्ति दीक्षा-मात्र के विरोधी हैं, उन्हें वे कुछ नही कहना चाहते, परन्तु जो किसी एक भी अवस्था में, चाहे वह युवावस्था हो या वृद्धावस्था, दीक्षा की उपयोगिता स्वीकार करते हैं, उनसे वे पूछना चाहते हैं कि ऐसा करके क्या वे जन्मान्तर को नही मान लेते है ? जन्मान्तर मानने वाले के लिए क्या कभी पूर्व-सस्कार अमान्य हो सकते हैं ? यदि पूर्वसस्कार नामक कोई तत्त्व है तो फिर वह बालक में भी उद्‌बुद्ध होता है। दीक्षा और क्या है ? पूर्व-सस्कारो के उद्‌बोध की फल-परिणति का नाम ही तो है। उसमें अवस्था का प्रश्न मुख्य नही, गौण रह जाता है।

विधेयक और आचार्यश्री

यद्यपि आचार्यश्री युग-भावना के साथ संगति बिठाकर ही चलते है, परन्तु जहाँ तत्त्व-विवेक का प्रश्न है, वहाँ उससे आँखें मीचना भी तो उचित नही होता। वे इसी आधार पर जहाँ-जहाँ ऐसे प्रकरण उठते है, वहाँ-वहाँ दीक्षा के साथ आयु का अनिवार्य सबध जोडने का विरोध करते है। उनकी दृष्टि में यह भी उचित नहीं है कि कानून द्वारा बालदीक्षा को रोका जाये। विभिन्न राज्यों की विधान-परिषदो में इस विषय के विधेयक प्रस्तुत होते रहे हैं। आचार्यश्री ने उनका विरोध किया है।

विधेयक और मुरारजी देसाई

बम्बई विधान-परिषद् में 'बाल-सन्यास-दीक्षा-प्रतिबधक बिल' आया था। तब वहाँ मुरारजी देसाई मुख्यमंत्री थे। उस बिल के सिलसिले में मुनि श्री नगराजजी उनसे मिले थे। विचारों का आदान-प्रदान हुआ, तो पता लगा कि वे भी आचार्यश्री के समान ही कानून के द्वारा उसे रोकने के विरोधी हैं। उनकी उस नीति के कारण ही वह प्रस्ताव वहाँ पारित नहीं हो सका था।

मुरारजी देसाई का भाषण

उन्होंने उस अवसर पर विधान-परिषद् के सदस्यों के सम्मुख जो भाषण[1] दिया था, वह विचारों की दृष्टि से बहुत ही मननीय था। उसे पढते समय ऐसा लगता है मानो आचार्यश्री के ही उद्‌गार भाषान्तर से उन्होंने कहे थे। उनके भाषण का कुछ अंश यहाँ दिया जा रहा है :

—"पहले हमें इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि क्या हर हालत में यह गलत है कि बालक सांसारिक जीवन का परित्याग करे ? अगर हम कर्मवाद के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं, तो जो बालक बाल-दीक्षा के पूर्व सस्कारों के सहित जन्म लेता है, उससे संसार-परित्याग में कोई बाधा नहीं हो सकती। उन व्यक्तियों के हमारे पास गौरवपूर्ण उदाहरण है, जिन्होंने बचपन में सन्यास दीक्षा ग्रहण की। मेरे बन्धु महाशय का कहना है कि इस प्रकार के व्यक्ति बहुत कम होते है, लेकिन मै उन्हें यह बतलाना चाहता हूं कि ससार का भला करने वाले व्यक्ति भी बहुत कम ही है।

—"इसी प्रकार संसार का भला बहुत थोड़े आदमियों से ही हुआ है, बहुतों से नहीं, और संसार को छोड़ने वाले भी बहुत से आदमी नही हो सकते।

—"नाबालिग का अर्थ सदा उस व्यक्ति से नहीं होता, जो किसी चीज को न समझे। नाबालिग वह है, जो इक्कीस वर्ष से नीचे का हो और अगर वह संसार को छोड़ना चाहे तथा उसके लिए कटिबद्ध रहे तो सरकार के लिए क्या यह उचित है कि वह उसे रोके" नाबालिग भी हमसे ज्यादा बुद्धिमान् हो सकता है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यह एक पूर्व कर्मों की भी बात है। ससार में अद्‌भुत बालक हुए है। वे सारे उदाहरण हमारे सामने है। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि हम वयस्क हो चूके है, अतः अधिक बुद्धिमान् हैं। ...मैं नहीं कहता कि हरएक बालक बुद्धिमान् होता है और हर एक बालक यह समझता है, ऐसा कभी नहीं होता। मेरे विचार से बहुत थोड़े बालक ऐसे होते हैं। फिर भी यह कानून उनकी उन्नति में रुकावट डालेगा, अगर वे अपनी इच्छानुसार ऐसा नहीं कर सकेंगे, जबकि उनकी आत्मा ऐसा करने के लिए तडपती हो। ...भारतीय सस्कृति एव सभ्यता के विकास में साधु-संघ की बहुत बडी देन है। मुझे यह कहने में भी हिचकिचाहट नहीं है कि साधु-सस्था में बहुत से दोष भी आ गये है। लेकिन एक वस्तु का उपयोग या दुरुपयोग हो सकना, उस चीज को बिलकुल मिटा देने का कारण या आधार नही हो सकता।

..."हम यहाँ तमाम लोग सोच रहे है कि सिर्फ वयस्क ही ऐसे हैं, जो बुद्धिमान् हैं और बच्चे नहीं। हम भूल जाते है कि ज्ञानेश्वर ने सोलह वर्ष की आयु में 'ज्ञानेश्वरी' को लिखा था और बहुत से बालिग पुरुष शताब्दियों के बाद भी आज उनकी पूजा कर रहे है। ऐसा एक ही

१—९ सितम्बर १९५५ और १२ सितम्बर १९५५ को यह भाषण दिया गया था।

उदाहरण नहीं है, ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं। महामना रायचन्द्र ने, जिनमें महात्मा गांधी श्रद्धा रखते थे, बारह से सोलह वर्ष की आयु में लिखना प्रारभ कर दिया था और उनकी पुस्तकें आज भी पढी जाती हैं। वे सन्यासी नही थे, लेकिन निरतर जीवन अपनी पसन्द के अनुसार बिताते थे। इससे कोई मतलब नहीं कि ऐसे आदमी सन्यास लेते हैं या नही। मान लीजिये कोई ऐसा बच्चा दीक्षा लेना चाहता है तो क्या मुझे उसे रोकना चाहिए ?

······"यह सच है कि इस बिल को प्रस्तुत करने वाले सज्जन ने जो उदाहरण दिये हैं, वे प्राय: जैनो के हैं, और किसी के नही। इसलिए अगर जैन यह सोचें कि यह बिल सर्वसाधारण के लिए न होकर केवल उनके द्वारा जो दीक्षाएँ दी जाती हैं, उन्हीं को रोकने के लिए है, तो वे गलत नहीं कहे जायेंगे। मेरे पास सैकडों विरोध-पत्र व तार पहुँचे हैं और वे तमाम जैनों के हैं, लेकिन एक दूसरी बात और है, जिसे मैं स्पष्ट करना चाहूँगा। साधु या सन्यासियों के तमाम सघों में, जिनको कि मैंने देखा है, मुझे कहना चाहिए कि त्याग और तपस्या के आदर्श को जितना जैन साधुओ ने सुरक्षित रखा है, उतना और किसी सघ के साधुओं ने नही। यह जैनियो के लिए गौरव की बात है। ऐसे सम्प्रदायों पर, जिनके साथ मत-भिन्नता के कारण हम एक मत नहीं, आक्रमण करने से कोई फायदा नहीं।

"मुझे किसी व्यक्ति को संन्यास-जीवन अपनाने से नही रोकना चाहिए—इस कारण से कि मैं खुद सन्यास-जीवन को नही अपना सकता। इन्सान के साथ वर्ताव करने का यह तरीका गलत है। सिर्फ इसी कारण से कि मैं सांसारिक जीवन को अच्छा समझता हूँ, मुझे हर एक व्यक्ति को सासारिक जीवन की ओर जाने के लिए नहीं कहना चाहिए। अगर सन्यासी लोग कहें भी कि सांसारिक जीवन अच्छा नही है, तो भी मैं संन्यासी होने के लिए तैयार नही हूँ। तब मुझे क्यों जोर देकर कहना चाहिए कि मैं सांसारिक जीवन को अच्छा समझता हूँ, अत: किसी को भी संन्यासी नही होना चाहिए। जिस तरह मैं अपने जीवन में उस रास्ते पर चलने की स्वतंत्रता चाहूँगा, जिसे मैं चाहता हूँ, उसी तरह मुझे दूसरों को उस रास्ते पर चलने की स्वतंत्रता देनी चाहिए, जिस पर वे चलना पसद करते हों। ···मैं यह नही सोचता कि शंकराचार्य, हेमचन्द्राचार्य और ज्ञानेश्वर जैसे व्यक्तियों के रास्ते में रोडा अटकाना हमारे लिए उचित कदम होगा, क्योंकि अगर हम ऐसा करते हैं, तो उसका मतलब होगा कि हम केवल अपने देश को ही नहीं, बल्कि संसार को ऐसे महान् व्यक्तियों से वंचित करते हैं। मैं नहीं सोचता कि हमें सामाजिक सुधार के नाम पर कभी ऐसी चेष्टा करनी चाहिए, चाहे कई लोगो को ऐसा करना कितना ही अभीष्ट क्यों न हो।

······"धर्म मानव के अन्तर की स्वाभाविक प्रेरणा है, जिसे दबाया नही जा सकता। जब हम कहते हैं कि बच्चों को इस क्षेत्र में नही जाने देना चाहिए, तब हमें यह याद रखना चाहिए कि हम उन्हें बहुत-से दूसरे क्षेत्रों में जाने देते हैं। क्या हमने बच्चों को स्वतंत्रता के

सग्राम में भरती नही किया और उस सग्राम में लम्बे समय तक लगाकर उनके भावी जीवन के सारे विकास को नही रोका ? क्या यह उनकी भावना जगाने का प्रश्न नहीं था ? क्या हम यह सोचते है कि हम बच्चो का गलत उद्देश्य के लिए प्रयोग कर रहे थे ? बिलकुल नही। यह एक महान् कार्य था। महात्माजी ने बच्चो मे गहने ले लिये और उनको आशीर्वाद दिया। क्या वे बच्चे जानते थे कि वे क्या कर रहे थे ? क्या यह कहा जा सकता है कि बच्चे सही काम कर रहे थे और महात्मा गांधी हमारी भावी सन्तान को महान् बलिदान व त्याग की शिक्षा दे रहे थे, लेकिन आज मैं यह सोचता हूँ कि वह सब सही था। मैं उसमें कोई दोष नहीं पाता। जब कभी हम मनुष्यों को व बच्चो को अच्छी बातों की शिक्षा दे रहे हो, तो मैं समझता हूँ कि हमें उसका अनादर नही करना चाहिए, वरन् स्वागत करना चाहिए।"[1]

विरोध की मृत्यु

उपर्युक्त विचार दीक्षा के समर्थकों और विरोधियों—दोनो के लिए ही मननीय है। इस भाषण में जिन तथ्यो का निरूपण है, बहुधा वे ही तथ्य आचार्यश्री सबके सामने रखते रहे है। उनके इन विचारो से सभी सहमत हो— यह कोई आवश्यक बात नही है। पर उसमें रहे तथ्यों की अवहेलना कैसे की जा सकती है ? इन विचारों ने जो अनेक सघर्ष खडे किये है, उनमें से एक वह जयपुर का संघर्ष भी था। उठा तो वह तूफान की तरह था, परन्तु किन्हीं ठोस तथ्यो पर उसका आधार नही था, अत: उसकी समाप्ति फुटपाथ पर किसी अनाथ व्यक्ति की मृत्यु के समान ही हुई।

एक अकारण विरोध

आचार्यश्री का कलकत्ता महानगरी में पदार्पण हुआ। जनता की ओर से उनका हार्दिक स्वागत किया गया। आचार्यश्री के विचार जनता के हृदय को आलोकित कर रहे थे, क्योंकि उनके विचार युग की भूख को तृप्ति प्रदान करने वाले थे। यो भी कहा जा सकता है कि युग की भूख उन विचारो को पाने के लिए तडप रही थी। उनके विचार समय के अनुकूल थे और समय उनके विचारो के अनुकूल था। लोगों ने उन्हें युग-चेतना के प्रतिनिधि के रूप में देखा। वहाँ के व्यापारिक क्षेत्रो में नैतिकता और अध्यात्म की चर्चा होने लगी। जहाँ लोग बहुधा व्यापार या नौकरी के लिए हो पहुँचते है, वहाँ कोई नैतिकता और अध्यात्म की अलख जगाने पहुँचे, तो वह एक अनोखी-सी ही बात लगेगी। आचार्यश्री इसीलिए वहाँ गए थे, अत: एक नये प्रकार के व्यक्तित्व को देखने का कुतूहल हर किसी में सहज ही जागृत होने लगा था। जो परिचित थे, वे तो आते ही, पर जो अपरिचित थे, वे भी काफी बडी संख्या में आते। देखने-सुनने की भावना लेकर आते और तृप्त होकर जाते।

१—जैन भारती, १८ दिसम्बर ५५

चातुर्मास से पूर्व उस महानगरी के अनेक अचलो में आचार्यश्री का पदार्पण हुआ। सर्वत्र जनता का अपार उत्साह और अपार स्नेह उन्हें मिला। उन्होने भी जनता को वह उपदेश दिया, जो उसे वहाँ कभी भूले-भटके भी नही मिल पाता। विशेष प्रवचनो तथा कार्यक्रमो की सफलता भी अद्वितीय रही। आचार्यश्री को कलकत्ता और कलकत्ते को आचार्यश्री भा गए।

कुछ व्यक्ति आचार्यश्री की यशो-गाथा के प्रति असहिष्णु थे। वे उनके वर्चस्व को किसी भी मूल्य पर रोक देना चाहते थे। आचार्यश्री ने जब तक अपने वर्षाकालीन प्रवास का निर्णय नही किया था, तब तक तो वे लोग प्राय. शान्त ही रहे। सम्भवत: उन्होने उस थोडे दिन के प्रवास को साधारण और अस्थायी प्रभाव वाला ही समझा हो, अत· उसकी उपेक्षा कर दी हो। परन्तु जब आचार्यश्री ने वहीं वर्षाकाल बिताने का निर्णय कर दिया, तब उनके प्रयत्नो मे त्वरता आ गई। विरोधी वातावरण निर्मित करने के उपाय खोजे जाने लगे। वे किसी-न-किसी बहाने से आचार्यश्री और उनके मिशन के प्रति ऐसी घृणा फैला देना चाहते थे कि जिससे उनके पूर्वोपार्जित समस्त वर्चस्व और प्रभाव को आवृत किया जा सके।

उन विरोधी व्यक्तियों में कुछ तो ऐसे थे, जो कि आचार्यश्री और उनके कार्यो का जब-तब विरोध करते रहे हैं। उसमें उन्होने सच-झूठ का भी कोई विशेष अन्तर नहीं किया है। यो उनमें अनेक व्यक्ति पढे-लिखे है, कार्यकुशल है, शिष्ट हैं, परन्तु आचार्यश्री के विरोध मे वे अपनी शिष्टता को बहुधा नही निभा पाते। सम्भवत उसकी आवश्यकता भी नही मानते। यद्यपि मैं उनमें से अनेको को व्यक्तिश: नही जानता, परन्तु आचार्यश्री के प्रति किये जाते रहे उनके भाषा-प्रयोगो ने कम से कम मेरे मन पर तो यही छाप छोडी है। मूलत: विरोधी भाव उन्ही कुछ लोगो के मन मे था। उन्होने जब वैसा वातावरण बनाया, तब कुछ और व्यक्ति भी उसमें आ मिले। कुछ उनके मैत्री-सम्पर्क से, तो कुछ भुलावे से।

विरोध का वह एक विचित्र प्रकार था, परन्तु आचार्यश्री का साहस उससे भी विचित्र था। वे देखते रहे, सुनते रहे और अपने कार्यों मे लगे रहे। वे स्वय भी तो कलकत्ता में विरोध करने के लिए ही गये थे। यह दूसरी बात है कि आचार्यश्री अनीति और अधर्म का विरोध कर रहे थे, जबकि उनके विरोधी लोग अनीति और अधर्म का विरोध करने वालो का विरोध कर रहे थे।

आचार्यश्री के विरुद्ध वह अभियान लगभग छ· महीने तक चलता रहा, कभी धीमे, तो कभी तेज। पर न कभी वे उससे उत्तेजित हुए और न कभी भयभीत। वे विरोध को विनोद समझकर चलने के आदी हैं। जहाँ उन्हें किसी विरोध का सामना करने को बाध्य होना पडता है, वहाँ वे उसके लिए कभी घबराते नहीं। वे मानते है—"विरोध से घबराने की कोई आवश्यकता नही। उससे घबराने वाले समाप्त हो जाते हैं और उठकर उसका सामना करने वाले विजय प्राप्त कर लेते हैं।"[1]

१—नैतिक संजीवन, पृष्ठ ३६

: ६ :

जीवन-शतदल

आचार्यश्री का जीवन शतदल कमल के समान है। कमल की प्रत्येक पंखुडी अपनी विशिष्ट आकृति और विशिष्ट महत्ता लिए हुए होती है। उन पखुड़ियों की समवायात्मक एकता ही तो कमल की आत्मा होती है। जीवन का शतदल विभिन्न घटनाओं की पखुड़ियो से बना होता है। प्रत्येक घटना अपने-आप में परिपूर्ण होती है, फिर भी अपने से उच्च पूर्णता का एक अंग बन कर वह जीवन को आकृति प्रदान करती है। मधुकोश की सुरक्षा में खडी पखुडियाँ अधिक सुव्यवस्थित लगती है, जबकि उसके बाहरी घेरे की बिखरी-बिखरी-सी। फिर भी मूल से बधी हुई वे उससे अभिन्न होती है। जीवन-घटनाओ में भी यही क्रम होता है। कुछ घटनाएँ एक ही किसी क्रम में ढलकर जीवन के विशेष क्षेत्र को घेरती है, पर कुछ ऐसी भी होती है, जो जीवन का अभिन्न अंग होने पर भी अलग-अलग-सी लगती है। अपेक्षाकृत कुछ अधिक खुलापन उन्हें ऐसा बना देता है। फिर भी पखुडियों के सौरभ की तरह प्रेरणात्मकता की अतिशयता तो उनका अपना जन्म-जात स्वभाव होता ही है। इस अध्याय में आचार्यश्री के जीवन शतदल की उन अलग-अलग दिखाई देने वाली स्फुट घटनाओं का दिग्दर्शन कराया गया है।

आचार्यश्री का जीवन किसी एक बधी-बंधाई परिपाटी का जीवन नहीं है। वह तो एक बहते हुए प्रवाह का जीवन है। उसमें घुमाव है, कटाव है तथा नव-निर्माण की उच्च अभिलाषा है, बहाव तो उन सब में व्याप्त है ही। इसीलिए उनका जीवन घटना-सकुल है। उन घटनाओं के प्रकाश में हम आचार्यश्री के जीवन को नये-नये कोणों से देख सकते है। जिस तरह हीरे को उसका छोटे-से-छोटा पहलू भी एक नयी चमक और नई आकृति प्रदान करता है, उसी तरह इन छोटी-छोटी स्फुट घटनाओं की प्रत्येक स्फुरणा आचार्यश्री के जीवन का एक-एक नया कक्ष खोलने वाली है। यहाँ कुछ घटनाएँ संकलित की गई है।

(१) शारीरिक सौन्दर्य

पूर्ण दर्शन

आचार्यश्री के पास जहाँ आन्तरिक सौन्दर्य का अक्षय स्रोत है, वहाँ बाह्य-सौन्दर्य भी कुछ कम नहीं। प्रकृति ने उनके व्यक्तित्व के निर्माण में रूप-सम्पदा को खुले हाथ से लुटाया है, इसलिए उनके शारीरिक अवयवों की रचना किसी कलाकार की अद्वितीय कला-कृति के समान है। साधारण व्यक्तियों की आँखें उनकी आकृति पर टिके, यह कोई आश्चर्य की बात नही, किन्तु दार्शनिकों और विद्वानों को भी उनकी आकृति लुब्ध कर लेती है। दक्षिण से दो दार्शनिक राजस्थान में आचार्यश्री के पास आये। कई दिनों तक नाना दार्शनिक विषयो पर

विमर्षण होता रहा। जब वे विदा होने लगे तो बोले—"सभी तृप्तियो के साथ हम एक अतृप्ति भी लिये जा रहे है।"

साश्चर्य आचार्यश्री ने पूछा—"कौन सी अतृप्ति ?"

उन्होंने कहा—"मुखवस्त्रिका के कारण हम आपके पूर्णमुख का दर्शन नही कर पाये। आपके मुख का अर्ध-दर्शन हमें प्रतिदिन पूर्ण-दर्शन के लिए उत्सुक करता रहा है। हमे आज सकोच छोडकर यह कहने को विवश होना पड रहा है कि यदि कोई शास्त्रीय बाधा न हो तो क्षण भर के लिए भी अपने अनावृत मुख के दर्शन का अवसर अवश्य दें।"

नेत्रों का सौन्दर्य

यूनेस्को के प्रतिनिधि तथा अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी-मण्डल के उपाध्यक्ष श्री वुडलेण्ड केलर बबई में सपत्नीक आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। श्री केलर जब आचार्यश्री से बातचीत कर रहे थे, तब श्रीमती केलर आचार्यश्री के नेत्रो की ओर बडी उत्सुकता से देख रही थी। बात-चीत की समाप्ति पर श्रीमती केलर ने कहा—"मुझे बहुत लोगो से मिलने का अवसर मिला है, किन्तु जो ओज, आभा और आत्म-तेज आपके नेत्रो मे है, वैसा अन्यत्र कही देखने में नही आया। निस्सन्देह आपके नेत्रो का सौन्दर्य और तेजस्विता मनुष्य को लुभा लेने वाली है।"

तात्कालिक प्रतिक्रिया

यूरोप की लब्ध-ख्याति चित्रकर्त्री कुमारी एलिजाबेथ ब्रूनर दिल्ली में जब मेरे सम्पर्क में आयीं, तब उन्होने मुझे आचार्यश्री का एक स्वनिर्मित चित्र दिखलाया तथा उसका इतिहास भी बतलाया। एक दिन 'शाति-निकेतन' मे अचानक ही आचार्यश्री से उनकी भेंट हो गई। आचार्यश्री अपनी बगाल-यात्रा के समय विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सास्कृतिक व ऐतिहासिक संग्रहालय तथा शाति-निकेतन के समृद्ध पुस्तकालय का अवलोकन कर बाहर आ रहे थे और उधर से ही कुमारी एलिजाबेथ अन्दर जा रही थी। एक क्षण के लिए उनका आकस्मिक साक्षात्कार हुआ। इतने मात्र से ही वे इतनी प्रभावित हुई कि पुनः कलकत्ता आकर आचार्यश्री से मिली और एक महीने तक वहाँ ठहर कर आचार्यश्री का जो एक भव्य चित्र बनाया, वही यह था।

वे ऐसा करने के लिए क्यो प्रेरित हुई, उन्होने इस विषय पर एक लेख भी लिखा, जो कि कलकत्ता के पत्रों में प्रकाशित हुआ था। उस लेख में उन्होंने बतलाया है—"शांति-निकेतन में जब मैं उत्तरायण के द्वार पर पहुँची, तो उधर से आते व्यक्तियों के एक समूह ने मेरा ध्यान आकर्षित किया। मैंने देखा कि वे नगे पाँव श्वेत वस्त्रधारी साधु थे, जो कवि-गृह से आ रहे थे। वे जैन थे और उनके मुँह पर श्वेत वस्त्र बधा हुआ था। मैं आदर-पूर्वक एक ओर खडी हो गई। वे निकट पहुँचे। मुझे शान्ति अनुभव हुई। उन्होंने मेरे नाम व देश के विषय में प्रश्न पूछे। उनके प्रश्न गहरे थे और मेरी तात्कालिक प्रतिक्रिया थी कि उनकी आँखें बडी तेज हैं।"

एक विदेशी कलाकार महिला की यह प्रतिक्रिया आचार्यश्री के व्यक्तित्व की जहाँ असाधारणता की द्योतक है, वहाँ उनके रूप सौन्दर्य का एक ज्वलन्त उदाहरण भी।

ठीक बुद्ध की तरह

एक बार आचार्यश्री सरदारशहर पधार रहे थे। उन्हीं दिनों वहाँ एक वैद्य-सम्मेलन हो रहा था। अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ वैद्यों ने उसमें भाग लिया। उनमें से कई व्यक्तियों ने सरदारशहर मे आकर मार्ग-स्थित ग्रामों में आचार्यश्री के दर्शन किये। उनमें जयपुर के सुप्रसिद्ध राजवैद्य नन्दकिशोरजी भी थे। आचार्यश्री से उन लोगों ने विविध विषयो पर वार्तालाप किया और पूर्ण तृप्ति के साथ जब वापस जाने के लिए खड़े हुए, तब नन्दकिशोरजी ने कहा—"आचार्यश्री के कानों की बनावट ठीक भगवान् बुद्ध के कानों की तरह है। मैंने कानों की ऐसी सुषमा अन्यत्र कहीं नहीं देखी।"

(२) आत्म-सौन्दर्य

आचार्यश्री ने जन-निर्माण में लगकर भी आत्म-निर्माण को गौण नहीं बनाया है, वे अपने जीवन को आगे बढ़ाकर जीते रहे हैं और सिंहावलोकन पद्धति मे अपने भूतकाल का अवलोकन करते हुए उसे समझते रहे हैं। ध्यान, योगासन आदि क्रियाएँ उनके आत्म-निर्माण के ही अंग हैं। इनसे उनका आत्म-सौन्दर्य निरन्तर निखार पाता रहा है।

वे सात्विक तथा मित आहार के समर्थक रहे है। अपने आहार पर उनका बहुत अधिक नियन्त्रण है। यथासम्भव वे बहुत स्वल्प द्रव्यों से तृप्त हो जाते है। अपने आचार-व्यवहार की कुशलता पर भी वे कड़ाई से ध्यान देते रहे है। जब कोई कांटा या कंकर उनके पैरों में लग जाता है, तब वे बहुधा यह कहते सुने जाते है कि यह तो ईर्या-समिति की क्षति का दण्ड है। अपनी हर प्रकार की स्खलनाओं को वे आत्म-नियंता बनकर दूर करते हैं। निन्दा और प्रशंसा से असुब्ध रहते हुए, वे अपनी गति को बनाये रखने में सर्वथा समर्थ है। यह उनका आन्तरिक सौन्दर्य शारीरिक सौन्दर्य से भी अधिक प्रभावक है।

प्रेम की भाषा

जो व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता है, वह बहुधा उनका ही हो जाता है। वह उनकी आत्मीयता और अकारण वात्सल्य में खो-सा जाता है। शायद स्नेह की भाषा समझने वाला ही उसका पूरा रसास्वादन कर पाता है। कलकत्ता से राजस्थान आते हुए आचार्यश्री दिल्ली पहुँचे। वहाँ दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी हाल में उनका सार्वजनिक स्वागत किया गया। सुप्रसिद्ध चित्रकर्त्री कुमारी एलिजाबेथ ब्रूनर उस कार्यक्रम में आदि से अन्त तक उपस्थित रहीं। कार्यक्रम समाप्त होने पर आचार्यश्री ने उससे कहा—"तुम हिन्दी नहीं समझती, फिर इतनी देर चुपचाप कैसे बैठी रहती हो?" उसने उत्तर देते हुए कहा—"प्रेम की भाषा अलग ही होती है। मैं उसे समझती हूँ। हर कोई उसे नहीं समझ पाता, इसीलिए ऊब जाता है।"

प्रखर तेज

ब्यावर में 'अणुव्रत-प्रेरणा-दिवस' पर बोलते हुए अजमेर के तपे हुए कार्यकर्त्ता रामनारायण चौधरी ने कहा—"मेरे दिमाग में कल्पना थी कि आचार्यश्री तुलसी कोई वृद्ध मनुष्य होगे, पर आज ज्योंही मैंने उनके दर्शन किये, तो पाया कि आचार्यश्री में प्रखर आध्यात्मिक तेज के साथ-साथ आयु और शरीर का भी तेज है।"

शक्ति का अपव्यय क्यो ?

राजस्थान विधान-सभा में आचार्यश्री के प्रवचन का कार्यक्रम था। उसके बारे में एक स्थानीय पत्रिका के सम्पादक ने कुछ अनर्गल बातें लिखी थी। विधान-सभा के उपाध्यक्ष निरजननाथजी को वह बहुत बुरा लगा। उन्होने उस कार्य को अपमान-जनक समझा और आचार्यश्री के सम्मुख कहने लगे—"यह हमारा और विधान-सभा का अपमान है। हम इस पर कानूनी कार्यवाही करेंगे।"

आचार्यश्री ने कहा—"हमारे लिए किसी व्यक्ति का अहित हो, यह मैं नही चाहता। किसी की इस प्रकार की आलोचना करना अज्ञान है। अज्ञान को मिटाना है, तो उसके दोष को क्षमा कर देना होगा। दूसरी बात यह भी है कि इन तुच्छ घटनाओ में हमें अपनी शक्ति का अपव्यय क्यो करना चाहिए।"

प्रशसा का क्या करें ?

एक पुरोहित ने आचार्यश्री से कहा—"मैंने आपके दर्शन तो आज पहली बार ही किये है, किन्तु मैं लोगों के बीच आपकी बहुत प्रशसा करता रहता हूं। अनेकों व्यक्तियों को मैंने आपके सम्पर्क में आने की प्रेरणा दी है।"

आचार्यश्री ने कहा —"पुरोहितजी! हमें अपनी प्रशसा नही चाहिए। हम उसका क्या करें? हम तो चाहते है कि हर कोई अपने जीवन की सत्यता को पहचाने। इसी में उसके जीवन का उत्कर्ष निहित है।"

क्या पैरों मे पीड़ा है ?

आचार्यश्री ने पिलानी से विहार किया, तो सेठ जुगलकिशोरजी बिडला भी विदा देने के लिए दूर तक साथ-साथ आये। मार्ग में वे आचार्यश्री से बातें करते चल रहे थे। आचार्यश्री जब-जब बोलते, तब पैर रोक लेते। बिडलाजी ने समझा, सम्भवत· पैरों में पीड़ा है, जिससे वे ऐसा कर रहे हैं। जब कई बार ऐसा हुआ, तो उन्होने पूछ लिया—"क्या पैरों में पीडा विशेष है ?"

आचार्यश्री ने कहा—"नहीं तो, कोई भी पीडा नही है।"

बिड़लाजी ने तब साश्चर्य पूछा—"तो आप रुक-रुक कर क्यो चल रहे हैं ?"

आचार्यश्री ने प्रश्न का भाव अब समझा। उन्होंने समझाते हुए कहा—"चलते समय बातें न करने का हमारा नियम है, अतः जब-जब बोलने का अवसर आता है, तब-तब मैं रुक जाता हूँ।"

विड्लाजी ने क्षमा माँगते हुए कहा—"तब तो मुझे भी नहीं बोलना चाहिए था।"

(३) शान्तिवादिता

आचार्यश्री की नीति सदा से ही शान्ति-प्रधान रही है। अशांति को न वे चाहते हैं और न दूसरों के लिए पैदा करते हैं। जहाँ अशांति की सम्भावना होती है, वहाँ वे अपने को तत्काल अलग कर लेते है। इसी शांतिवादी नीति का परिणाम है कि आज उनके विरोधी भी उनकी प्रशंसा करते हैं।

प्रथम झलक

आचार्य-काल के प्रारंभ में ही उनकी शान्ति-प्रियता की एक झलक सबको मिल गई थी। उन्होंने अपना प्रथम चातुर्मास बीकानेर में किया था। उसकी समाप्ति पर जब वहाँ से विहार किया, तब कई सहस्र व्यक्ति उनके साथ थे। वहाँ के सुप्रसिद्ध रांगडी चौक की सड़क जन-संकुल हो रही थी। उसी समय सामने से एक अन्य सम्प्रदाय के युवाचार्य आ गए। उनकी नीति सदा से ही तेरापन्थ के विरुद्ध रही थी। उस समय भी वे किसी अच्छे इरादे से नहीं आये थे। उनके साथ के आगे चलने वाले कुछ भाई बड़े अपमान-जनक ढंग से 'हटो-हटो' कहते हुए आगे बढे।

आचार्यश्री ने स्थिति को तत्काल भाँप लिया। सबको चीर कर आगे बढ़ने के उनके इरादे से इधर वाले भाइयों में बड़ी उत्तेजना फैली, परन्तु आचार्यश्री ने स्थिति को सम्भाला और सड़क छोड़कर एक ओर हो गए। साथ के जन-समुदाय के लिए इधर-उधर हटने का कोई स्थान नहीं था। फिर भी आचार्यश्री ने उन्हें शांत रहने तथा उनका मार्ग न रोकने का निर्देश किया। सड़क पर के सभी व्यक्तियों ने एक-दूसरे से सटते हुए उनके लिए मार्ग खाली किया। दूर तक केवल दो आदमी गुजर सकें, इतनी-सी पट्टी में से वे लोग 'विजय' का गर्व करते हुए गुजरे। यदि आचार्यश्री उस समय शांति न रख पाते, तो झगडा अवश्यम्भावी था।

उस कार्य की जन-प्रतिक्रिया यह रही कि आचार्यश्री ने बड़ी समझदारी और शान्ति से काम लिया। स्वयं दूसरे पक्ष के समझदार व्यक्तियों ने भी आचार्यश्री के कार्य की प्रशंसा की और अपने पक्ष की नीति की आलोचना की। यह उनकी शान्तिवादिता की जन-साधारण के लिए प्रथम झलक थी।

स्वाध्याय ही सही

नवलगढ में रात्रिकालीन व्याख्यान बाजार में हुआ और शयन पास के दिगम्बर-मंदिर में। जनता ने अगले दिन फिर वहीं व्याख्यान देने के लिए आग्रह किया, आचार्यश्री ने स्वीकृति

दे दी। जब दूसरे दिन साय बाजार में पहुचे, तो सुना कि वहाँ किसी वैष्णव साधु का व्याख्यान होने वाला है। आचार्यश्री कुछ असमजस में पडे, पर तत्काल ही निर्णय कर लिया कि चलो, आज रात को मदिर में स्वाध्याय ही करेंगे।"

कुछ लोगो ने आकर कहा—"आप भी यहीं ठहर जाइये। हम दोनों का ही व्याख्यान सुन लेंगे।"

आचार्यश्री ने कहा—"यद्यपि एक सभा में दो धर्मावलम्बियों के व्याख्यान आजकल कोई आश्चर्य का विषय नही रहा है, फिर भी यहाँ जिस ढग से यह कार्यक्रम रखा गया है, उससे मुझे लगता है कि उसके पीछे कोई विद्वेष-बुद्धि काम रही है। ऐसी स्थिति में वहाँ व्याख्यान देने से शान्ति रहनी कठिन है।" आचार्यश्री वहाँ नहीं ठहरे और मन्दिर में चले गये।

जब उस वैष्णव साधु को इस घटना-क्रम का पता लगा, तो आदमी भेजकर कहलाया कि मुझे यह पता नहीं था कि वहाँ पहले किसी जैनाचार्य का व्याख्यान होना निश्चित हो चुका है। मुझसे आग्रह करने वालों ने मुझे इस स्थिति से अनजान रखा। यद्यपि मैंने उस स्थान पर व्याख्यान देना स्वीकार कर लिया, पर अब प्रसन्नता से कहता हूँ कि मैं वहाँ नही जाऊँगा। पूर्व निर्णयानुसार वहाँ जैनाचार्य का ही व्याख्यान हो। मुझसे सुनने की इच्छा रखने वाले मेरी कुटिया पर आ सकते हैं।

आचार्यश्री ने उस भाई से कहा—"हमें उनके व्याख्यान देने पर कोई आपत्ति नहीं है। हमारा व्याख्यान कल वहाँ हो ही चुका है, आज यदि लोग उनका सुनें, तो यह हमारे लिए कोई बाधा की बात नहीं है।" इस पर भी उस सन्देश-वाहक ने स्पष्ट कर दिया कि वे नहीं आयेंगे। आचार्यश्री फिर भी वहाँ नही गये, तब बाजार के अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने आकर पुनः निवेदन किया और दबाव दिया कि अब तो किसी प्रकार की अशांति का भी भय नहीं रहा है। इस पर आचार्यश्री ने व्याख्यान देना स्वीकार कर लिया और वहाँ गये।

शांति का मार्ग

सौराष्ट्र में जिन दिनों विरोधी वातावरण चल रहा था, तब मास्टर रतिलाल भाई आचार्यश्री के दर्शन करने आये। सौराष्ट्र में धर्मप्रचार के लिए अपना समय और शक्ति लगाने वालों में वे एक प्रमुख व्यक्ति थे। वे जब आये, तो उनके मन में यह भय था कि न जाने आचार्यश्री क्या कहेंगे? मुनिजनों को वहाँ भेजने की प्रार्थना करते समय उन्हें यह पता नहीं था कि विरोधी लोग वातावरण को इतना कलुषित कर देंगे। किन्तु अब उसका सामना करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग भी नही था।

आचार्यश्री ने पूछा—"कहिये, सौराष्ट्र में कैसी स्थिति है? प्रचार कार्य ठीक चल रहा है?"

इस प्रश्न ने रतिलाल भाई को असमंजस में डाल दिया। वे कुछ सोच नहीं पा रहे थे कि इसका उपयुक्त उत्तर क्या हो सकता है? फिर भी उन्होंने कुछ साहस करके कहा—"एक प्रकार से ठीक ही चल रहा है, किन्तु विरोधी वातावरण के कारण उसकी गति में पूर्ववत् तीव्रता नहीं रह सकी है।"

आचार्यश्री ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—"यह कोई चिन्ता की बात नहीं है। हमें अपनी ओर से वातावरण को पूर्ण शान्त बनाये रखना है। विरोधी लोग क्या करते हैं, इस ओर ध्यान न देकर, हमें क्या करना चाहिए—यही अधिक ध्यान देने की बात है। हमें विरोध का शमन विरोध से नहीं, अपितु शान्ति से करना है। भगवान् का तो मार्ग ही शांति का है।"

आचार्यश्री के इस कथन से रतिलाल भाई आश्चर्यान्वित हो गए। उन्होंने कहा—"गुरुदेव! मुझे तो यह भय था कि आप कड़ा उलाहना देंगे। मैंने सोचा था कि सौराष्ट्र में साधु-साध्वियों के प्रति किये जा रहे व्यवहार से अवश्य ही आप क्रुद्ध हुए होंगे, किन्तु आपने तो मुझे उलटा शान्ति का ही उपदेश दिया।"

(४) गहराई में

आचार्यश्री अनेक बार साधारण-सी बात को भी इतनी गहराई तक ले जाते हैं कि उसमें दार्शनिक तत्त्व नवनीत की तरह ऊपर उभर आता है। साधारण-सी-साधारण घटना भी आचार्यश्री के चिन्तन का स्पर्श पाकर गम्भीर बन जाती है। साधारण व्यक्ति बहुधा घटना के बहिस्तल को ही देखता है, जबकि आचार्यश्री उसके अन्तस्तल को देखते हैं।

पीछे से भी

एक बार कुहासा छाया हुआ था। उसके कारण विहार रुका हुआ था। मुनिजन अपना-अपना सामान समेटे विहार के लिए तैयार बैठे थे। कुछ प्रतीक्षा के पश्चात् थोड़ा-सा उजाला हुआ। सामने से ऐसा लगने लगा कि अब कुहासा समाप्त होने वाला ही है। एक साधु ने खड़े होकर सामने दूर तक दृष्टि फैलाते हुए कहा—"अब कुहासा मिटने में अधिक देर नहीं है।" यह बात चल ही रही थी कि इतने में पीछे से रुई के फाहे जैसे कुहासे के बादल उमड़ आये और फिर पहले जैसा ही वातावरण हो गया।

आचार्यश्री ने उस बात को गहराई तक ले जाते हुए कहा—"आगे सब देखते हैं, पर पीछे कोई नहीं देखता। विपत्ति पीछे से भी तो आ सकती है। सच तो यह है कि यह प्रायः सामने से कम और पीछे से ही अधिक आया करती है।"

पैड़ी का दोष

आचार्यश्री जिस मकान में ठहरे थे, उसकी एक पैड़ी बहुत खराब थी। अपनी असावधानी के कारण उस दिन अनेक व्यक्तियों ने उससे चोट खायी। चोट खाकर अन्दर आने वाले प्रायः प्रत्येक व्यक्ति ने उस पैड़ी को तथा उसके निर्माता और स्वामी को कोसा।

पैडी के प्रति व्यक्त किये जाने वाले उन विविध उद्‌गारों को सुनकर आचार्यश्री ने उस बात को गहराई तक पहुँचाते हुए कहा—"पर-दोष-दर्शन कितना सहज होता है और आत्म-दोष-दर्शन कितना कठिन, यह इस पैडी की बात ने सिद्ध कर दिया है। चोट खाने वाला हर कोई पैडी को दोष देता है, जब कि वस्तुतः दोष अपनी असावधानी का है। पैडी की बनावट में कुछ कमी हो सकती है, फिर भी कुछ दोष अपनी ईर्या का भी तो है।"

टोपी का रंग

समाजवादी नेता श्री जयप्रकाश नारायण पहले-पहल जब जयपुर में आचार्यश्री से मिले, तब सफेद टोपी पहने हुए थे। किन्तु जब दूसरी बार दिल्ली में मिले, तब लाल टोपी पहने हुए थे। वार्तालाप के मध्य आचार्यश्री ने टोपी के लिए पूछ लिया कि सफेद के स्थान पर यह लाल टोपी कैसे लगाई हुई है?

जयप्रकाशजी ने कहा—"हमारी पार्टी वालो ने यही निर्णय किया है। सफेद टोपी अब बदनाम भी हो चुकी है।"

आचार्यश्री ने स्मितभाव से कहा—"टोपी बदनाम हो गई, इसलिए आपकी पार्टी ने उसका रग बदल दिया, परन्तु बदनामी के काम तो टोपी नही, मनुष्य करता है। उसको बदलने की आपकी पार्टी ने क्या योजना बनायी ?"

सम्प्रदाय, धर्म की शोभा

आचार्यश्री विहार करते हुए जा रहे थे। मार्ग में एक विशाल आम्र वृक्ष आ गया। सतो ने उनका ध्यान उधर आकृष्ट करते हुए कहा—"यह वृक्ष बहुत बडा है।"

आचार्यश्री ने भी उसे देखा और गम्भीरता से कहने लगे—"एक मूल में ही कितनी शाखाएँ प्रशाखाएँ निकल जाती है। धर्म-सम्प्रदाय भी इसी प्रकार एक मूल में से निकली हुई विभिन्न शाखाएँ है, परन्तु इनकी यह विशेषता है कि इनमे परस्पर कोई झगड़ा नहीं है, जबकि सम्प्रदायों में नाना प्रकार के झगड़े चलते रहते हैं। शाखाएँ वृक्ष की शोभा है, उसी प्रकार सम्प्रदायों को भी धर्म-वृक्ष की शोभा बनना चाहिए।"

नास्तिकता पर नया प्रकाश

प्रसिद्ध कीर्तनकार डा० रामनारायण खन्ना आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उन्होने अपनी कुछ चौपाइयाँ आदि भी सुनाईं। बातचीत के क्रम में वे थोडी-थोडी देर के पश्चात् 'रामकृपा' को दुहराते रहे। सम्भवत' उन्होने इस शब्द का प्रारम्भ तो भक्ति की दृष्टि से ही किया होगा, पर बाद में वह उनके लिए एक मुहावरा बन गया था।

आचार्यश्री ने जब इस बात की ओर लक्ष्य किया, तो कहने लगे—"डाक्टर साहब ! आप मनुष्य के पुरुषार्थ को भी कुछ मानियेगा ? 'रामकृपा', 'प्रभुकृपा' आदि शब्दो को भक्ति-सभृत हृदय के उद्‌गारो से अधिक महत्त्व देने पर स्वय प्रभु को भी राग-द्वेष-लिप्त मान लेना होगा।

अहभाव को रोकने के लिए 'रामकृपा' जैसी भावनाएँ आवश्यक हैं, तो क्या अकर्मण्यता और हीनभाव को रोकने के लिए पुरुषार्थ को नहीं मानना चाहिए ? मैं मानता हूँ कि परमात्मा को न मानना नास्तिकता है, पर क्या अपने आपको न मानना उतनी ही बड़ी नास्तिकता नहीं है ?"

डाक्टर साहब मानो सोते से जाग पडे। आचार्यश्री ने नास्तिकता पर जो नया प्रकाश डाला था, वह उनके लिए एक बिलकुल ही नया तत्त्व था।

कार्य ही उत्तर है

एक भाई ने आचार्यश्री को एक दैनिक पत्र दिखलाया। उसमे आचार्यश्री के विषय में बहुत सी अनर्गल बातें लिखी हुई थीं, उसी समय एक वकील आचार्यश्री से बातचीत करने के लिए आये। उन्होने भी पत्र देखा। वे बडे खिन्न हुए। कहने लगे—"यह क्या पत्रकारिता है ? ऐसे सम्पादको पर मुकदमा चलाया जाना चाहिए।"

आचार्यश्री ने स्मित भाव से कहा—"कीचड में पत्थर फेंकने से कोई लाभ नहीं। मैं कार्य को आलोचना का उत्तर मानता हूँ, अत मुकदमा चलाने या उत्तर देने की अपेक्षा कार्य करते जाना ही अधिक अच्छा है। मौखिक समाधानो से कार्यजन्य समाधान अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं।"

भूख नही सताती

एक बार आगरा सेन्ट्रल जेल में आचार्यश्री का प्रवचन रखा गया था। वापस स्थान पर शीघ्र ही पहुँच जाने की सभावना थी, अतः भिक्षाचरी आदि की व्यवस्था के लिए उन्होंने किसी को कुछ निर्देश नही दिया। संयोगवशात् देरी हो गई। उधर मुनिजन इसलिए प्रतीक्षा करते रहे कि अभी आने वाले ही होगे। इतनी देरी का अनुमान उनका भी नहीं था।

जेल दूर थी। गरमी काफी बढ गई थी। सडक पर पैर जलने लगे थे। इन सभी कठिनाइयो को झेलते हुए वे आये। अपने विश्राम से भी पहले उन्हें सबकी चिन्ता थी, अत आते ही उनका पहला प्रश्न था—"क्या अभी तक भिक्षाचरी के लिए तुम लोग नहीं गये ?"

सन्तो ने कहा—"कुछ निर्देश नही था, अत हमने सोचा कि अभी आ ही रहे होंगे, प्रतीक्षा ही प्रतीक्षा में समय निकल गया।"

आचार्यश्री ने थोडी-सी आत्मग्लानि के साथ कहा—"तब तो मैं तुम लोगों के लिए बहुत अन्तराय का कारण बना।"

सन्तों ने कहा—"आप भी तो अभी निराहार ही हैं।"

आचार्यश्री बोले—"हाँ, निराहार तो हूँ, पर काम के सामने मुझे कभी भूख नहीं सताती।"

फोटो चाहिए

अचार्यश्री राजस्थान के भू० पू० पुनर्वास मन्त्री अमृतलाल यादव की कोठी पर पधारे। यादवजी तथा उनकी पत्नी ने श्रद्धा-विभोर होकर उनका स्वागत किया। कुछ देर वहाँ ठहरना हुआ। बातचीत के दौरान में यादवजी की पत्नी ने कहा—"मुझे नैतिक कार्यो में बड़ी अभिरुचि है। मैंने अपने घर में उन्ही लोगो के फोटो विशेष रूप से लगा रखे है, जिनकी सेवाएँ ससार को उच्च चारित्रिक आधार पर प्राप्त हुई हैं। मुझे अपने कमरे में लगाने के लिए आपका भी एक फोटो चाहिए।"

आचार्यश्री ने कहा—"फोटो का आप क्या करेंगी, जब कि मैं स्वय ही आपके घर में बैठा हुआ हूँ। मेरी दृष्टि में आवश्यकता तो यह है कि मनुष्य की आकृति को न पूजकर उसके गुणों का या कथन का अनुसरण किया जाए।"

हमारा सच्चा ऑटोग्राफ

आचार्यश्री विद्यार्थियो में प्रवचन कर बाहर आये। कई विद्यार्थी उनका ऑटोग्राफ लेने को उत्सुक थे। फाउन्टेनपेन और डायरी आचार्यश्री की तरफ बढाते हुए विद्यार्थियो ने कहा—"आप इसमें हस्ताक्षर कर दीजिए।"

आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए कहा—"देखो बालको! मैंने अभी जो बातें कही है, उन्हें जीवन में उतारने का प्रयास करो। यही हमारा सच्चा ऑटोग्राफ होगा।"

गर्म का बिगाड़

एक प्याले में दूध पडा था और उसके पास में ही अचित्त किया हुआ नीवू। आचार्यश्री को जिज्ञासा हुई—"क्या नीवू के रस से दूध तत्काल फट जाता है?"

पास में खडे एक साधु ने कहा—"फट तो जाता है।"

आचार्यश्री ने नीवू लिया और थोडा-सा दूध लेकर उसमें चार-पाँच बूंदें डाली। दो एक मिनट के बाद देखा, तब तक वह नहीं फटा।

एक साधु ने कहा—"गर्म दूध जल्दी फट जाता है। यह ठडा है, शायद इसीलिए नही फटा।"

आचार्यश्री ने उस बात को जीवन पर लागू करते हुए कहा—"ठीक ही है। ठडी प्रकृति वाले मनुष्य का दूसरा कुछ नही बिगाड सकता। गर्म प्रकृति वाले का ही शीघ्रता से बिगाड हुआ करता है।"

पन्थ और बाड़ा

बडी सादडी के जवाहर चौक में आचार्यश्री प्रवचन दे रहे थे। जनता अधिक थी, अत: कुछ लोग मार्ग में बैठ गये। गायें आईं, उनमें से एक डर गई। आचार्यश्री उस समय तेरापन्थ की व्याख्या कर रहे थे। गाय की स्थिति का चित्रण करते हुए उन्होने कहा—"पन्थ

चलने के लिए होता है, बैठने के लिए नहीं। पन्थ में रुकावट न हो, वह सबके लिए खुला रहे, यही अच्छा है। उसे बांध लेने पर दूसरे डरने लगते हैं। यह गाय इसीलिए डर रही है कि लोगों ने पन्थ को घेर कर अपना बना लिया है। पन्थ को पन्थ ही रहने दो, बाडा मत बनाओ।"

उनकी प्रत्युत्पन्न मति ने गाय के रूपक में जहाँ अपना मंतव्य प्रकट कर दिया, वहाँ उनको शिक्षा भी दे दी, जो कि मत के व्यामोह में घेराबन्दी किया करते हैं। साथ ही व्यवस्था-भंग करने वालों को भी जता दिया कि वे गलत काम कर रहे है। कहना नहीं होगा कि मार्ग में बैठे लोगों ने तत्काल उठकर मार्ग को खुला कर दिया।

बरगद का नयामोड़

सड़क के किनारे बरगद का पेड़ था। विहार के समय मार्ग में आचार्यश्री कुछ क्षण के लिए उसके नीचे रुके। पेड़ काफी पुराना था। नीचे भूमि तक पहुँचने वाली उसकी जटाएँ इस बात की साक्षी थी। फिर भी ऋतु-परिवर्तन के कारण उस समय उस पर नये किसलय आये हुए थे। नयनाभिराम सौंदर्य ने वहाँ एक मनोहारी वातावरण बना रखा था। आचार्यश्री ने एक क्षण के लिए उसे ऊपर से नीचे तक देखा और साथ में चलने वाले मेवाडी भाइयों से कहने लगे—"देखा आपने इस बरगद को? कितना समयज्ञ है यह? समय की पुकार पर अपने चिरपोषित पुराने पत्तो को छोड़कर नया मोड़ लेने में इसे तनिक भी संकोच नहीं होता। तभी तो आज यह अपनी सघन छाया और नव-सौन्दर्य से पथिकों का मन मोह रहा है। मेवाड़ी भाईयों को इस बरगद से शिक्षा लेनी है। उन्हें सोचना है कि प्राचीनता के व्यामोह में वे कहीं पिछड तो नहीं रहे हैं? नये मोड की पुकार पर उन्हें ध्यान देना है।"

(५) परिश्रमशीलता

आचार्यश्री श्रम में विश्वास करते है। वे एक क्षण के लिए भी किसी कार्य को भाग्य पर छोड़ कर निश्चिन्त बैठना नहीं चाहते, वे भाग्य को बिलकुल ही नहीं मानते है, ऐसी बात नहीं है। परन्तु वे भाग्य को पुरुषार्थ जन्य मानते है। इसीलिए वे रात-दिन अपने काम में जुटे रहते है। दूसरों को भी इसी ओर प्रेरित करते रहते है। अनेक बार तो वे कार्य के सामने भूख-प्यास को भी भूल जाते हैं।

अधिक बीमार न हो जाऊँ

आचार्यश्री कुछ अस्वस्थ थे। फिर भी दैनन्दिन के कार्यो से विश्राम नहीं ले रहे थे। रात्रि के समय साधुओं ने निवेदन किया कि वैद्य की राय है—आपको अभी कुछ दिन के लिए पूर्ण विश्राम करना चाहिए।

आचार्यश्री ने कहा—"मैं इस विषय में कुछ तो ध्यान रखता हूँ, पर पूर्ण विश्राम की बात कठिन है। मुझसे यों सर्वथा निष्क्रिय होकर नहीं बैठा जा सकता। मैं सोचता हूँ कि ऐसे विश्राम से तो मैं कहीं अधिक बीमार न हो जाऊँ?"

श्रम उत्तीर्ण कराता है

एक छात्रा ने आचार्यश्री से पूछा—"आप तो बहुत ज्ञानी हैं। मुझे बतलाइये कि मैं इस वर्ष परीक्षा उत्तीर्ण हो जाऊँगी या नही ?"

आचार्यश्री ने कहा—"तुमने अध्ययन मन लगाकर किया या नहीं ?"

छात्रा—"अध्ययन तो मन लगाकर ही किया है।"

आचार्यश्री—"तब तुम्हारा मन उत्तीर्णता के विषय में शंकाशील क्यो बन रहा है ? अपने श्रम पर विश्वास होना चाहिए। अपना श्रम ही तो उत्तीर्ण कराने वाला होता है। ज्योतिष-वाणी या भविष्यवाणी किसी को उत्तीर्ण नही करा सकती।"

पुरुषार्थवादी हूँ

आचार्यश्री एक मन्दिर में ठहरे हुए थे। मध्यान्ह में एकान्त देखकर पुजारी ने अपना हाथ आचार्यश्री के सम्मुख बढाते हुए कहा—"आप तो सर्वज्ञ हैं, कृपया मेरा भविष्य भी तो देख दें, कुछ उन्नति भी लिखी है या नहीं ?"

आचार्यश्री ने कहा—"मैं कोई ज्योतिषी नहीं हूँ, जो तुम्हारा भविष्य बतला दूँ। मैं तो पुरुषार्थवादी हूँ। मनुष्य को सदा सम्यक् पुरुषार्थ में लगे रहना चाहिए। जो ऐसा करेगा, उसका भविष्य बुरा हो ही नहीं सकता।"

(६) दयालुता

आचार्यश्री की प्रकृति बहुत दयालुता की है। वे बहुत शीघ्र पिघल जाते हैं। संघ-सचालक के लिए यह आवश्यक भी है कि वह विशिष्ट स्थितियों पर अपनी दयार्द्रता का परिचय दे। नाना प्रकार की प्रार्थनाएँ उनके सम्मुख आती रहती है। कुछ समय का ध्यान रखकर की गई होती हैं, तो कुछ ऐसे ही। कुछ मानने योग्य होती हैं, कुछ नही। जिसकी प्रार्थना नहीं मानी जाती, उसके मन में खिन्नता होती है। यह आवश्यक भले ही न हो, पर स्वाभाविक है। इन सब स्थितियो में से गुजरते हुए भी सबका सन्तुलन बनाये रखना, उनका कर्तव्य होता है। अपना सन्तुलन रखना तो सहज होता है, पर उन्हें दूसरों का सन्तुलन भी बनाये रखना होता है। स्वभाव में दयार्द्रता हुए बिना ऐसा हो नही सकता।

कैसे जा सकते है ?

मेवाड-यात्रा में आचार्यश्री को उस दिन 'लम्बोडी' पहुँचना था। मार्ग के एक 'सोन्याणा' नामक ग्राम में प्रवचन देकर जब वे चलने लगे, तब एक वृद्धा ने आगे बढकर आचार्यश्री को कुछ रुकने का संकेत करते हुए कहा—"मेरा 'मोभी' बेटा (प्रथम पुत्र) बीमार है। वह आ ही रहा है, आप थोडी देर ठहरकर उसे दर्शन दे दें।"

लोगों ने उसे टोकते हुए कहा—"आचार्यश्री को आगे जाना है, पहले ही काफी देर हो चुकी है, धूप भी प्रखर है, अत वे अब नही ठहर सकते।"

वृद्धा ने तुनकते हुए कहा—"तुम कौन होते हो कहने वाले ? मैं भी तो सुबह से बैठी बाट देख रही हूँ। महाराज दर्शन दिये बिना ही कैसे जा सकते है ?" वृद्धा सचमुच ही मार्ग रोक कर खड़ी हो गई।

आचार्यश्री ने उसकी भक्ति-विह्वलता को देखा तो द्रवित हो गए। उन्होंने कहा— "माँजी ! तुम्हारा घर किधर है ? उधर ही चलें तो दर्शन हो जायेंगे।"

वृद्धा तो एक प्रकार से नाच उठी और आगे हो ली। आचार्यश्री उसके घर की ओर बढ़े, तो कुछ ही दूर पर वह लड़का आता हुआ मिल गया। उसने अच्छी तरह से दर्शन कर लिये, तब आचार्यश्री ने वृद्धा से पूछा—"क्यों माँजी ! अब तो हम चलें ?"

वृद्धा गद्‌गद हो गई और वाष्पार्द्र नेत्रों से उसने विदाई दी।

विना भक्ति तारो ता पै तारबो तिहारो है

सुजानगढ़ में चांदमलजी सेठिया अपनी युवावस्था में धर्म-विरोधी प्रकृति के रहे थे। यों बड़े समझदार तथा दृढ़-संकल्प व्यक्ति थे। वे कालान्तर में राजयक्ष्मा से पीड़ित हो गए। उस स्थिति में उनके विचारों में भी परिवर्तन आया। उन्होंने आचार्यश्री से दर्शन देने की प्रार्थना करायी। आचार्यश्री वहाँ गये, तब उन्होंने अपनी धर्म-विमुखता का पश्चात्ताप किया और एक राजस्थानी भाषा का 'कवित्त' सुनाया। उसकी अन्तिम कड़ी थी—'विना भक्ति तारो ता पै तारबो तिहारो है' अर्थात्, भक्तों को तो भगवान् तारते ही है, पर मुझ जैसे अभक्त को भी तारें, तभी आपकी विशेषता है।

आचार्यश्री उनकी उस भावना पर मुग्ध हो गए। उसके पश्चात् स्वयं वे वहाँ जाते रहे और धर्मोपदेश सुनाते रहे। अनेक बार सन्तों को भी वहाँ भेजते रहे।

द्वेष को विस्मृत कर दो

लाडनूं के नूरजमलजी बोरड़ पहले धार्मिक प्रकृति के थे, किन्तु बाद में किसी कारण से धर्म-विरोधी हो गए। उन्होंने अनेक लोगों को भ्रांत किया। परन्तु जब रुग्ण हुए, तब उनके विचार बदल गए। उन्होंने आचार्यश्री को दर्शन देने की प्रार्थना करायी। आचार्यश्री वहाँ पधारे, तब आत्म-निन्दा करते हुए उन्होंने अपने कृत्यों की क्षमा मांगी।

आचार्यश्री काफी देर वहाँ ठहरे और उनसे बातें कीं। प्रसगवशात् यह भी पूछा— "स्वामीजी के सिद्धान्तों में कोई भ्रांति हो गई थी या कोई मानसिक द्वेष ही था ? यदि भ्रांति थी, तो अब उसका निराकरण कर लो और यदि द्वेष था तो अब से उसे विस्मृत कर दो। तुम्हारे कारण से जिन लोगों में धर्म के प्रति भ्रांतियाँ पैदा हुई हैं, उन्हें भी फिर से सत्-प्रेरणा देना तुम्हारा कर्तव्य है।"

उन्होंने आचार्यश्री को बतलाया—"मेरी श्रद्धा ठीक रही है, किन्तु मानसिक द्वेष-वश ही यह इतनी दूरी हो गई थी। मैंने जिनको भ्रांत किया है, उनसे भी कहूँगा।"

उसके पश्चात् आचार्यश्री प्राय' प्रतिदिन उन्हें दर्शन देते रहे। वे आचार्यश्री की इस दयालुता से बहुत ही तृप्त हुए। वे बहुधा अपने साथियो के सामने अपनी पिछली भूलों का स्पष्टीकरण करते रहते थे। उनकी वह धर्मानुकूलता अन्त तक वैसी ही बनी रही।

भावना कैसे पूर्ण होती ?

आत्म-विशुद्धि के निमित्त एक वहिन ने आजीवन अनशन कर रखा था। उसे निराहार रहते छत्तीस दिन गुजर गए। तभी उस शहर में आचार्यश्री का पदार्पण हुआ। उस वहन को अनशन में आचार्यश्री के दर्शन पा लेने की वडी उत्सुकता थी। उसने आचार्यश्री के वहाँ पधारते ही प्रार्थना करायी। आचार्यश्री ने शहर में पधार कर प्रवचन कर चुकने के पश्चात् सन्तों से कहा—"चलो ! उस वहन को दर्शन दे आयें।"

देर हो गई थी और धूप भी काफी थी, अत' सतों ने कहा—"रेत में पैर जलेंगे, अत' सध्या-समय उधर पधारें तो ठीक रहेगा।"

आचार्यश्री ने कहा—"नही, हमें अभी चलना चाहिए।" यद्यपि उसका घर दूर था, फिर भी आचार्यश्री ने दर्शन दिये, वहन की प्रसन्नता का पार न रहा। आचार्यश्री थोड़ी देर वहाँ ठहरकर वापस अपने स्थान पर आ गए। कुछ देर पश्चात् ही उस वहिन के दिवगत होने के समाचार भी आ गये।

आचार्यश्री ने सतों से कहा—"अगर हम उस समय नहीं जाते, तो उसकी भावना पूर्ण कैसे होती ? ऐसे कार्यों में हमें देर नही करनी चाहिए।"

झोंपड़े का चुनाव

आचार्यश्री वीदासर से विहार कर ढाणी में पधारे। वस्ती छोटी थी। स्थान वहुत कम था। कुछ झोंपडे वहुत अच्छे थे, पर कुछ शीतकाल के लिए विलकुल उपयुक्त नही थे। आचार्यश्री ने वहाँ अपने लिए एक ऐसे ही झोंपडे को पसन्द किया कि जहाँ शीतागमन की अधिक सम्भावना थी। सन्तों ने दूसरे झोंपडे का सुझाव दिया, तो कहने लगे—"हमारे पास तो वस्त्र अधिक रहते हैं, अत पर्दे आदि का प्रवन्ध ठीक हो सकता है। अन्य साधुओं के पास प्राय वस्त्र कम ही मिलते है, अत' उनके लिए सर्दी का वचाव अधिक आवश्यक होता है।"

(७) वज्रादपि कठोराणि

आचार्यश्री में जितनी दयालुता अथवा मृदुता है, उतनी ही दृढता भी। आचार्यश्री की मृदुता शिष्य-वर्ग में जहाँ आत्मीयता और श्रद्धा के भाव जगाती है, वहाँ दृढता, अनुशासन और आदर के भाव भी। न उनका काम केवल मृदुता से चल सकता है और न दृढता से। दोनों का सामजस्य विठा कर ही वे अपने कार्य में सफल हो सकते हैं। आचार्यश्री ने इन कामों का अपने में अच्छा सामजस्य विठाया है। वे एक ओर वहुत शीघ्र द्रवित होते देखे जाते है, तो दूसरी ओर अपनी वात पर कठोरता से अमल करते हुए भी देखे जा सकते हैं।

मुझे रोकता है

एक बार आचार्यश्री लाडणूं में थे। वहाँ कुछ भाइयों ने स्थानीय हरिजनों को व्याख्यान श्रवण की प्रेरणा दी। वे आये तो उसमें कुछ लोगों ने आपत्ति की। कुछ इस कार्य के पक्ष में थे, तो कुछ विपक्ष में। वातावरण में गरमी आयी और कुछ पारस्परिक वाद-विवाद बढ़ने लगा। वह बात आचार्यश्री तक पहुँची। उन्होंने अत्यन्त स्पष्टता के साथ चेतावनी देते हुए कहा—"इस समय यह स्थान साधुओं की निश्राय में है। यहाँ धर्म-श्रवण के लिए कोई भी व्यक्ति आ सकता है। यदि कोई आगन्तुकों को रोकता है, तो वस्तुत मुझे ही रोकता है।"

आचार्यश्री की इस दृढ़तापूर्ण घोषणा ने सारा विरोध शांत कर दिया। यह उस समय की घटना है जब कि आचार्यश्री ने इस ओर अपने प्राथमिक चरण बढ़ाये थे। अब तो यह प्रश्न प्रायः समाप्त हो चुका है कि व्याख्यान में कौन आता है और कहाँ बैठता है?

मन्दिर मे भगवान् नहीं है

एक गांव में आचार्यश्री को एक मन्दिर में ठहराने का निश्चय किया गया। वे जब वहाँ आये, तो उनके साथ कुछ हरिजन भी थे। उनके साथ-साथ वे भी मन्दिर में आ गए। पुजारिन ने जब यह देखा तो क्रोधवश गालियाँ बकने लगी। कुछ देर तो आचार्यश्री का उधर ध्यान ही नहीं गया, पर जब पता लगा तो साधुओं से कहने लगे—"चलो भाई, अपने उपकरण वापस समेट लो। यहाँ मन्दिर में तो भगवान् नहीं, क्रोध—चाण्डाल रहता है। हम इस अपवित्रता में ठहर कर क्या करेंगे?"

पुजारिन ने जब आचार्यश्री के ये शब्द सुने तो कुछ ठण्ढी पड गई। कहने लगी—"आप क्यों जा रहे है? मैं आपको थोड़े ही कह रही हूँ। मैं तो इन लोगों से कह रही हूँ।"

आचार्यश्री ने कहा—"तुम जब हम लोगों को ठहरा रही हो, तो हमारे पास आने वाले लोगों को कैसे रोक सकती हो?"

पुजारिन ने आचार्यश्री का जब यह दृढ रुख देखा, तो चुपचाप एक ओर चली गई।

सिद्धान्त-परक आलोचना

आचार्य-पद पर आसीन होने के कुछ महीने पश्चात् ही आचार्यश्री ब्यावर पधारे। वहाँ अपने प्रथम व्याख्यान में उन्होंने मुनि-चर्या का वर्णन करते हुए कहा—"अपने निमित्त बने स्थान में रहने से साधु को दोष लगता है। सेठ-साहूकारों के निवासार्थ हवेलियाँ बनती हैं, इसी प्रकार यदि साधुओं के लिए स्थान बनाये जाते हों, तो फिर उनमें नाम के अतिरिक्त क्या अन्तर हो सकता है?"

आचार्यश्री की उस बात पर कुछ स्थानीय भाई बहुत चिढे। मध्यान्ह में एकत्रित होकर वे आचार्यश्री के पास आये और प्रातः कालीन व्याख्यान में कही गई उपर्युक्त बात को अपने

पर किया गया आक्षेप बतलाने लगे। उन्होंने आचार्यश्री पर दबाव डाला कि वे अपने इस कथन को वापस लें और आगे के लिए ऐसी आक्षेप-पूर्ण बात न कहें।

आचार्यश्री ने कहा—"हम किसी की व्यक्ति-परक आलोचना नहीं करते। सिद्धान्त-परक आलोचना अवश्य करते है। ऐसा होना भी चाहिए; अन्यथा तत्त्व-बोध का कोई मार्ग ही खुला न रह जाए। मेरे कथन को किसी पर आक्षेप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह किसी व्यक्ति-विशेष या समाज-विशेष के लिये नही कहा गया है। वह तो समुच्चय सिद्धान्त का प्रतिपादन-मात्र है। यदि हम वैसा करते है, तो स्वयं हमारे पर भी वह उतना ही लागू होगा, जितना कि दूसरो पर होता है। अपने कथन को वापस लेने तथा आगे के लिए न दुहराने की तो बात ही कैसे उठ सकती है ? यह प्रश्न मुनि-चर्या से सम्बद्ध है, अतः इस पर सूक्ष्मतापूर्वक मीमांसा करते रहना नितान्त आवश्यक है।"

वे लोग आचार्यश्री को लघुवय तथा नवीन समझकर दबाने की दृष्टि से आये थे, परन्तु आचार्यश्री के दृढतामूलक उत्तर ने यह स्पष्ट कर दिया कि व्यक्तिगत आलोचना जहाँ मनुष्य की हीन वृत्ति की द्योतक होती है, वहाँ सैद्धान्तिक आलोचना ज्ञान-वृद्धि और आचार-शुद्धि की हेतु होती है। उन्हें रोकने की नहीं, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से समझने की आवश्यकता है। सत्य को आग्रही नहीं, अनाग्रही पा सकता है।

कुप्रथा को प्रश्रय नही

मेवाड के एक गांव में आचार्यश्री पधारे। वहाँ एक बहिन ने दर्शन देने की प्रार्थना करायी। आचार्यश्री ने कारण पूछा। अनुरोध करने वाले भाई ने कहा—"उसका पति दिवगत हो गया है। यहाँ की प्रथा के अनुसार वह ग्यारह महीने तक अपने घर से बाहर नहीं निकल सकती।"

आचार्यश्री ने कहा—"तुम्ही कहते हो या उससे भी पूछा है, ऐसा कौन होगा, जो इतने महीनों तक एक ही मकान में बैठा रहना चाहे ?"

इस पर वह भाई उस बहिन को समझा कर वहीं स्थान पर ले आने के लिए गया, पर रूढ़ियों में पली हुई वह वहाँ न आ सकी।

आचार्यश्री ने तब कहा—"कोई रोगी या अशक्त होता, तो मैं अवश्य वहाँ जाकर दर्शन देता, पर वहाँ जाने का अर्थ है—इस कुप्रथा को प्रश्रय देना, अतः मैं नहीं जा सकता।"

इस बहिन ने जब यह बात सुनी, तो बहुत चिन्तित हुई। लोग सहस्रो मील जाकर दर्शन करते है और वह गांव में पधारे हुए गुरुदेव के दर्शनो से भी वचित रह जायेगी, इस चिन्तन ने उसको झकझोर डाला। अन्तत' वह अपने को नही रोक सकी। कुछ बहिनो की ओट लिए भीत मृगी-सी वह आयी और दर्शन कर जाने लगी।

आचार्यश्री ने उसे आगे के लिए उस प्रथा को छोड देने का वहुत उपदेश दिया, पर वह सामाजिक भय के कारण उसे नहीं मान सकी।

आचार्यश्री ने कहा—"एक ही कोठरी में वैठे रहना और वही मलमूत्र करना तथा दूसरों से फिकवाना, क्या तुम्हें वुरा नही लगता ?"

उसने कहा—"वेटे की वहू विनीत है, अत वह सहज भाव से यह सव कुछ कर लेती है।"

आचार्यश्री सन्तो की ओर उन्मुख होकर कहने लगे—"अव इस घोर अज्ञान को कैसे मिटाया जाये ?"

श्मशान मे भी

आचार्यश्री ने सौराष्ट्र मे साधु-साध्वियों को भेजा। वहाँ उन्हें घोर विरोध का सामना करना पड़ा। चूडा आदि मे कुछ लोग तेरापन्थी वने, उन्हें जाति-वहिष्कृत कर दिया गया। तेरापन्थी साधुओ के विरुद्ध ऐसा वातावरण वनाया गया कि उन्हें सौराष्ट्र मे चातुर्मास करने के लिए कही स्थान नही मिल पाया। उस समय वहाँ पर मुनि घासीरामजी, मुनि डूंगरमलजी और साध्वी रूपांजी—ये तीन सिंघाड़े विचर रहे थे। उन्हें क्रमश: जोरावरनगर, वांकानेर और चूडा में चातुर्मास करने थे। यद्यपि समाज-वहिष्कार का भय सर्वत्र व्याप्त था, फिर भी वांकानेर और चूडा में कुछ व्यक्तियो ने उस स्थिति का सामना करने का निश्चय किया और उन्होंने अपना स्थान प्रदान किया। जोरावरनगर में मुनि घासीरामजी के सम्मुख उससे विलकुल विपरीत स्थिति थी। वहाँ कोई भी जैन भाई उन्हें स्थान देने को उद्यत नही हुआ। ऐसी स्थिति में यह चिन्ता होना स्वाभाविक ही था कि चातुर्मास कहाँ किया जाये ? सौराष्ट्र से अन्यत्र जाकर कही चातुर्मास कर सकें, इतने दिन अवशिष्ट नही थे।

अन्त में वहाँ से कुछ भाई थली में आचार्यश्री के दर्शन करने के आये और वहाँ की सारी स्थिति वतलायी। आचार्यश्री ने क्षण-भर के लिए कुछ सोचा और कहा—"यद्यपि वहाँ आहार-पानी तथा स्थान आदि की अनेक कठिनाइयां है, फिर भी उन्हें साहस से काम लेना है। घवराने की कोई आवश्यकता नही है। जैन-अजैन कोई भी व्यक्ति स्थान दे, उन्हें वही रह जाना चाहिए। कोई भी स्थान न मिलने की स्थिति में श्मशान में रह जाना चाहिए। भिक्षु-स्वामी के आदर्श को सामने रख कर दृढतापूर्वक उन्हें कठिनाइयो का सामना करना है।"

आचार्यश्री की उस दृढतापूर्ण स्फूर्तवाणी से श्रावको को वड़ा सम्वल मिला। तत्रस्थ साधु-साध्वियों को भी एक मार्ग-दर्शन मिला। वे अपने निश्चय पर और भी दृढता के साथ जमे रहे।

एकात्मकता

सौराष्ट्र-स्थित साधु-साध्वियों को स्थान न मिलने के कारण आचार्यश्री चिन्तित थे। उन्होंने अपने मन-ही-मन एक निर्णय किया और ऊनोदरी करने लगे। पार्श्वस्थित सभी व्यक्तियो कों धीरे-धीरे यह तो पता हो गया कि आचार्यश्री ऊनोदरी कर रहे है, पर क्यो

कर रहे हैं, इसका पता किसी को नहीं लग सका। बार-बार पूछने पर भी उन्होंने अपने रहस्य को नही खोला। आखिर वह रहस्य तब खुला, जब सौराष्ट्र से साधु-साध्वियो की कुश-लता के तथा चातुर्मास के लिए उपयुक्त स्थान मिल जाने के समाचार आ गये।

सघ के साधु-साध्वियों के प्रति आचार्यश्री की यह आत्मीयता उन सबको एकसूत्रता का भान कराती है तथा सघ के लिए सर्वभावेन समर्पण की बुद्धि उत्पन्न करती है। इस एकात्म-कता के सम्मुख कोई परीषह, परीषह के रूप में टिक नही पाता, वह कर्त्तव्य की वेदी पर बलिदान की भूमिका बन जाता है।

पंचायती जाजम

आचार्यश्री मारवाड के एक गाम में पधारे। स्थानीय लोगों ने मध्यान्ह में उनके प्रवचन की व्यवस्था की। जनता को आतप से बचाने के लिए पाल बांधे तो धूल से बचाने के लिए जाजमें बिछाई।

आचार्यश्री परीक्षार्थी मुनियो को अध्ययन करवा रहे थे, अत पहले एक साधु को व्याख्यान प्रारभ करने के लिये भेज दिया। व्याख्यान प्रारभ हुआ। सभी वर्ग के लोग आकर जमने लगे। कुछ मेघवाल (हरिजन) भाई भी आये और सभी के साथ जाजम पर बैठ गये। स्थानीय जैन लोगों को यह बहुत बुरा लगा। उन्होने साक्रोश उन्हे वहाँ से उठाते हुए कहा—"तुम लोगो को कुछ भी होश नहीं है, जो पंचायती जाजम पर आकर बैठ गये।" उन्होने उनके नीचे से जाजम खीचली। हरिजनो को उस व्यवहार से बडी ठेस पहुची। उनकी आंखें उस अपमान के मूक विरोध में आर्द्र हो गई।

आचार्यश्री ने अन्दर से यह सब देखा तो वे बड़े खिन्न हुए। मानवता के उस अपमान ने उन्हें व्यग्र बना दिया। शिष्यों को वे आगे कुछ नहीं पढा सके। वे तत्काल सभा-स्थल में पहुँचे और कहने लगे—"साधुओ के व्याख्यान में आने का हर एक को अधिकार है। वहाँ जातीयता के आधार पर किसी का अपमान करना स्वय साधुओ का अपमान करना है। आपकी जाजम व्याख्यान में आगन्तुक व्यक्तियों के बैठने से यदि अपवित्र होती थी, तो उसे यहाँ बिछाया ही क्यो गया था ?" आचार्यश्री ने वहाँ के सरपच को, जो कि एक जैन था और उस कार्य में भी सम्मिलित था, पूछा—"क्या आपके यहाँ पचायत में सभी सवर्ण है ?"

सरपंच—"नही, उसमें एक हरिजन भी है ?"

आचार्यश्री—"तो क्या पचायत करते समय उसके बैठने की व्यवस्था तुम लोगों से पृथक् होती है ?"

सरपंच—"नही महाराज, वहाँ तो सभी साथ मे ही बैठते है।"

आचार्यश्री—"तो यहाँ क्या हो गया ? वहाँ की जाजम से शायद यहाँ की जाजम अधिक पवित्र और अधिक नाजुक होगी।"

उन लोगों के पास आगे बोलने के लिए कोई तर्क नही था। वे बहुत लज्जित थे। उन्होंने अपनी भूल स्वीकार करते हुए संबन्धित व्यक्तियों से क्षमायाचना की।

(८) प्रत्युत्पन्न मति

आचार्यश्री में अपनी बात को समझाने की अपूर्व योग्यता है। वे किसी भी प्रकार की तर्क से घबराते नहीं। अपनी तर्क-सम्पन्न वाक्यावली से वे एक ही क्षण में पासा पलट देते हैं। उनको सुनने वाले उनकी इस क्षमता से जहाँ चकित हो जाते है, वहाँ तर्क करने वाले निरुत्तर। उनकी प्रत्युत्पन्न बुद्धि बहुत ही समर्थ है।

पादरी का गर्व

एक पादरी ने ईसाई धर्म को सर्वोत्कृष्ट बताते हुए आचार्यश्री से कहा—"ईसा ने शत्रु से भी प्यार करने का उपदेश दिया है। ऐसा उदार सिद्धान्त अन्यत्र नहीं मिलेगा।"

आचार्यश्री ने तत्काल कहा—"महात्मा ईसा ने यह बहुत अच्छा कहा है, परन्तु इससे शत्रु का अस्तित्व तो प्रकट होता ही है। भगवान् महावीर ने इससे भी आगे बढकर, किसी को भी अपना शत्रु न मानने को कहा है।" पादरी का अपने धर्म की सर्वोत्कृष्टता का गर्व चूर-चूर हो गया।

आप लोग क्या छोड़ेंगे ?

रूपनगढ में गोविन्दसिंह नामक एक सेवानिवृत्त सैन्य-अधिकारी आचार्यश्री के पास आया। वह कुछ बातचीत कर ही रहा था कि इतने में कुछ वणिग्-जन भी आ गए। उस अधिकारी से आचार्यश्री को बात करते देखा, तो किसी वणिक् ने अवसर देखकर आचार्यश्री के कान में कहा—"यह तो शराबी है। आप इससे क्या बात करते हैं ?"

आचार्यश्री ने उसकी बात सुन ली और फिर काफी देर तक उस अधिकारी से बात करते रहे। बातचीत के प्रसग में उससे पूछ भी लिया—"क्या तुम शराब पीते हो ?"

अधिकारी—"हाँ महाराज! पहले तो बहुत पीता था, पर अब प्राय: नहीं पीता।"

आचार्यश्री—"तो क्या अब इसे पूर्णत छोडने का सकल्प कर सकोगे ?"

अधिकारी—"इतना तो विचार नही किया, पर अब पीना नही चाहता।"

आचार्यश्री—"जब पीना नहीं चाहते, तो मानसिक दृढता के लिए सकल्प कर लेना चाहिए।"

अधिकारी ने एक क्षण के लिए कुछ सोचा और फिर खड़ा होकर कहने लगा—"अच्छा महाराज! आज आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं आजीवन शराब नही पीऊँगा।"

आचार्यश्री ने उसके मानसिक निर्णय को टटोलते हुए पूछा—"मेरे कहने के कारण तथा प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए तो तुम ऐसा नही कर रहे हो ?"

अधिकारी ने दृढता के साथ कहा—"नही महाराज! मैं अपनी आत्म-प्रेरणा से ही व्रत ले रहा हूँ। इतने दिन भी मेरा प्रयास इस ओर था, पर आजतक संकल्प-बल जाग्रत नही

हुआ था। आज आपके सम्पर्क में आने से मेरे में यह बल जागृत हुआ है। उसी की प्रेरणा से मैंने यह व्रत लिया है।"

आचार्यश्री ने उसके पश्चात् उन समागत व्यापारियों से पूछा—"अब आप लोग क्या छोड़ेंगे ? व्यापार में मिलावट आदि तो नहीं करते ?"

व्यापारियों ने बगलें झांकना प्रारंभ कर दिया। किसी तरह साहस बटोर कर कहने लगे—"आजकल इसके बिना व्यापार चल ही नहीं सकता।"

आचार्यश्री के बार-बार समझाने पर भी वे लोग उस अनैतिकता को छोडने के लिए उद्यत नहीं हो सके।

आचार्यश्री ने कहा—"जिसको तुम लोग बात करने योग्य नहीं बतलाते थे, उसने तो अपनी बुराई को छोड दिया, पर तुम लोग जो अपने को उससे श्रेष्ठ मानते हो, अपनी बुराई नहीं छोड पा रहे हो। तुम लोगो से उसकी सकल्प-शक्ति अधिक तीव्र रही।"

वास्तविक प्रोफेसर

पिलानी-विद्यापीठ में प्रवचन करते हुए आचार्यश्री ने कहा—"जो अनुभव स्वयं पढते समय नहीं हो पाता, वह विद्यार्थियों को पढाते समय होता है, अत वास्तविक प्रोफेसर तो विद्यार्थी होते हैं।"

आचार्यश्री भाषण देकर आये, तब एक परिचित विद्यार्थी ने उनसे पूछा—"अब आपका आगे का कार्यक्रम क्या है ?"

आचार्यश्री—"चार बजे के लगभग प्रोफेसरो की सभा में भाषण है।"

छात्र ने हँसते हुए कहा—"तब तो हम भी इसमें सम्मिलित हो सकेंगे, क्योंकि अभी-अभी आपने हमें प्रोफेसर बना दिया है।"

आचार्यश्री—"पर मेरे उस कथन के अनुसार वह सभा प्रोफेसरों की न होकर छात्रो की ही तो होगी। तब तुम्हारे सम्मिलित होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?"

कोई तो चाहिए

आचार्यश्री नवीगंज जा रहे थे। मार्ग में रघुवीरसिंहजी त्यागी का आश्रम आया। त्यागीजी ने आचार्यश्री को वहाँ ठहराने का बहुत प्रयास किया। आचार्यश्री का कार्य-क्रम आगे के लिए पहले से ही निश्चित हो चुका था, अत वहाँ ठहर पाना सभव नहीं था।

त्यागीजी ने अपना अन्तिम तर्क काम में लेते हुए कहा—"यहाँ तो अमुक-अमुक आचार्य ठहर चुके हैं, अच्छा स्थान है, आपको किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा। सभी तरह की सुविधाएँ यहाँ उपलब्ध हैं।"

आचार्यश्री ने भी उसके विरुद्ध अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा—"जहाँ सभी प्रकार की सुविधा होती है, वहाँ तो सभी ठहरते ही हैं। जहाँ सुविधाएँ न हों, वहाँ भी तो ठहरने वाला कोई चाहिए।"

त्यागीजी के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। आचार्यश्री ने अपने पूर्व-निर्धारित कार्य-क्रम की अनिवार्यता बतलाते हुए उनके आग्रह को प्रेमपूर्वक शान्त किया।

नींद उड़ाने की कला

प्रातःकालीन प्रवचन में कुछ साधु झपकियाँ ले रहे थे। आचार्यश्री ने उनकी ओर देखा और चालू प्रकरण में कष्ट-सहिष्णुता का विवेचन करते हुए कहने लगे—"साधना करने वाले को कष्ट-सहिष्णु बनना अत्यन्त आवश्यक है। यह उसकी साधना का ही एक अंग है। मुनि-जन कितना कष्ट सहते है, यह देखने या सुनने से उतना नहीं जाना जा सकता, जितना कि स्वयं अनुभव करने से। गर्मी का समय है। रात को खुले आकाश में सो नहीं सकते। प्यास लगने पर भी पानी नहीं पी सकते। ऐसी स्थिति में नींद कम आये, यह सहज है। आप समझ रहे होंगे, झपकियाँ लेने वाले साधु प्रवचन सुनने के रसिक नहीं हैं। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है, प्रवचन सुनने के लिए आने पर भी रात की नींद प्रातःकाल के ठण्डे समय में सताने लगती है। इन झपकियों का मुख्य कारण यही तो है।

आचार्यश्री के इस विवेचन ने ऐसा चमत्कार का काम किया कि सबकी नींद उड गई। कुछ व्यक्तियों ने सोचा कि यह प्रवचन के प्रसंग में ही फरमाया गया है। कुछ ने सोचा कि यह नींद उड़ाने की नई कला है। नींद लेने वालो ने अपनी स्थिति को सम्भालते हुए सोचा कि अब नींद नहीं लेनी है।

इतनी तो सुविधा है

गर्मी के दिन थे, फिर भी फतहगढ से साढे तीन बजे विहार हुआ। सूर्य जल रहा था। धूप बहुत तेज थी। सड़क के उत्ताप से पैर झुलसे जा रहे थे। कुछ दूर तो वृक्षों की छाया आती रही, किन्तु बाद में वह भी नहीं रही। एक साधु ने कहा—"धूप इतनी तेज है और वृक्ष कहीं दिखायी नहीं पड़ रहे है। बड़ी मुसीबत है।"

आचार्यश्री ने उस निराशावादी स्थिति को उलटते हुए कहा—"आज इतनी तो सुविधा है कि सूर्य पीठ की ओर है, यदि यह सम्मुख होता तो कार्य और भी कठिन होता।"

(६) विचार-प्रेरणा

आचार्यश्री की कार्य-प्रेरणा जितनी तीव्र है, उतनी ही विचार-प्रेरणा भी। वे ऐसी स्थिति पैदा कर देते हैं कि जिससे व्यक्ति को उनके विचारों को जानने की उत्सुकता हो। यद्यपि वे बहुत सरल और सुबोध भाषा में बोलते है, फिर भी उस सुबोधता में एक ऐसा तत्त्व रहता है, जो प्रयासगम्य होता है। उनकी सहज बात दूसरो के लिए मार्ग-दर्शक बन जाती है।

आशा से भर दिया

एक बार 'दिल्ली-अणुव्रत-समिति' के अध्यक्ष श्री गोपीनाथ 'अमन' अणुव्रत अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए गये। वे तब किसी कारणवश काफी निराश थे। किन्तु जब लौटकर दिल्ली आये, तब आशा से भरे हुए थे।

मैंने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने बतलाया—"अभी दिल्ली नगरनिगम के चुनावों में मेरे अपने ही मुहल्ले में वोट खरीदे गए थे। यह कार्य मेरी पार्टी वालों ने ही मुझसे छिपाकर किया था। इस प्रकार की प्रच्छन्न अनैतिकताओं से मुझे बड़ी ग्लानि है। अत निराश होना स्वाभाविक ही था। इसी निराशा की स्थिति में अधिवेशन में भाग लेने गया था। मैंने जब इस घटना को आचार्यश्री के सम्मुख रखा और कहा कि जब देश में इस प्रकार की अनैतिकता व्याप्त है, तब कुछ व्यक्तियों के अणुव्रती होने का कोई अधिक प्रभाव नहीं हो सकता। मुझे अपनी प्रभावहीनता पर बड़ा दुःख है कि मेरी पार्टी वालों पर भी मेरा कोई प्रभाव नहीं है। अधिक व्यक्तियों द्वारा की जानेवाली भ्रष्टाचारिता के साथ जो सम्मिलित होना नहीं चाहता, उसे समाज के अन्य व्यक्तियों से अलग-अलग रहना पड़ता है। उसका जीवन जाति-बहिष्कृत जैसा बन जाता है। मेरे साथी जब यह जान गए कि मैं उनकी इन बातों में सहयोग नही दूगा, तो वे उन बातों के विषय में मुझसे विमर्षण किये बिना ही अपना निर्णय कर लेते हैं।"

आचार्यश्री ने मुझसे कहा—"क्या यह कम महत्त्वपूर्ण बात है कि अनेक व्यक्ति किसी एक व्यक्ति की सचाई का भी सामना नहीं कर सकते। उन्हें छिपकर काम करना पड़ता है।" बस, आचार्यश्री की इसी एक बात ने मुझे आशा से भर दिया।

मेरा मद उतर गया

सुरेन्द्रनाथ जैन आचार्यश्री के सम्पर्क में आये, आचार्यश्री ने उनसे पूछा—"धर्म-शास्त्रों का नैरन्तरिक अभ्यास चालू रहता होगा?"

उन्होंने कहा—"मैंने दस वर्ष तक दिगम्बर धर्म-शास्त्रों का अभ्यास किया है।"

आचार्यश्री—"तब तो मोक्षशास्त्र, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, परीक्षा-मुख आदि ग्रन्थ पढे ही होंगे?"

सुरेन्द्रनाथजी—"हां, मैंने इन सबका अच्छी तरह से पारायण किया है।"

आचार्यश्री—"आत्म-तत्त्व का विश्वास हुआ कि नही?"

सुरेन्द्रनाथजी—"जितना निर्विकल्प होना चाहिए, उतना नही हुआ।"

आचार्यश्री—"हो भी कैसे सकता है? पुस्तकें आत्मतत्त्व का विश्वास थोड़े ही कराती हैं? वे तो केवल उसका ज्ञान देती हैं।"

सुरेन्द्रनाथजी—"तो विश्वास कैसे होता है?"

आचार्यश्री—"साधना से। भले ही कोई ग्रन्थ न पढ़े, पर आत्म-साधना करने वाले को आत्म-दर्शन अवश्य होगा। केवल ज्ञान की प्राप्ति पुस्तकों से नहीं, किन्तु साधना से ही होती है। केवल ज्ञान के लिए कहीं कालेज में भर्ती नहीं होना पड़ता, उसके लिए तो एकान्त में बैठकर अपनी आत्मा को पढ़ना होता है। उसी से अलभ्य आत्म-बोधि की प्राप्ति हो जाती है।"

आचार्यश्री की उपर्युक्त बातों का श्री सुरेन्द्रनाथजी पर जो प्रभाव पड़ा, उसको उन्होंने इस प्रकार भाषा दी है—"इतनी बड़ी बात और इतने सरल ढंग से। मेरा ज्ञानी होने का मद क्षण-भर में उतर गया। तभी मुझे लगा कि हजार शास्त्र घोटू पंडितों से एक साधक सहस्रों गुना अधिक ज्ञानवान् है।"[1]

पाने की आशा से जाता हूँ

कलकत्ता विश्वविद्यालय के दर्शन-विभागाध्यक्ष डा० सतकरी मुखर्जी जयपुर में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने बाद में आचार्यश्री के विषय में लिखा—"विद्वानों तथा विद्वत्ता का पेशा अपनाए हुए व्यक्तियों की, जो पेशावी विद्या-बुद्धि का अत्यधिक गर्व किया करते हैं, कमजोरियों से मैं अपने आपको मुक्त नहीं मानता। पर मैंने उनकी उपस्थिति में पाया कि यह कमजोरी दब गई तथा मैंने अपने को उनके सम्मुख एक शिशु के रूप में अनुभव किया। मेरे मन पर यह प्रभाव पड़ा कि वे त्रांत मानवता के मुक्ति दाता हैं।"

प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी ने उनके उपर्युक्त विचारों की आलोचना की। जब डा० मुखर्जी तक यह बात पहुंची, तो उन्होंने अपने एक अन्य पत्र में लिखा—"किसी व्यक्ति को ज्ञान का गर्व हो सकता है। वह कह भी सकता है—आचार्य क्या जानते हैं। पर मैं तो जब-जब आचार्यश्री के सान्निध्य में जाता हूँ, तब मुझे बहुत शांति का अनुभव होता है और मैं वहाँ बहुत पाने की आशा से जाता हूँ।"

हिन्दू या मुसलमान ?

बिहार प्रदेश में किसी ने आचार्यश्री से पूछा—"आप हिन्दू हैं या मुसलमान ?"

आचार्यश्री ने कहा—"मेरे चोटी नहीं है, अतः मैं हिन्दू नहीं हूँ। मैं इस्लाम परम्परा में नहीं जन्मा, अतः मुसलमान भी नहीं हूँ, मैं तो केवल मानव हूँ।"

भोजन का अधिकार

'गोड़ता' गाँव में आचार्यश्री के पास मृत्यु-भोज के त्याग का प्रकरण चल पड़ा। अनेक व्यक्तियों ने मृत्यु-भोज करने तथा उसमें सम्मिलित होने का परित्याग किया। आचार्यश्री ने वहाँ के सरपंच से भी त्याग करने के लिए कहा।

सरपंच ने कहा—"मैंने अभी कुछ दिन पहले मृत्यु-भोज किया है। चार-हजार रुपये लगाकर मैंने सब लोगों को भोजन कराया है, तो अब उनके यहाँ का मृत्यु-भोज कैसे छोड़ दूँ ?

१—जैन भारती, १९ दिसम्बर, '५४

कम-से-कम एक बार तो सबके घर भोजन करने का मुझे अधिकार है। हाँ, यह हो सकता है कि मैं अब मृत्यु-भोज नही करूंगा।"

आचार्यश्री ने अपने तर्क को नया मोड देते हुए कहा—"परन्तु जब तुम मृत्यु-भोज नही करोगे, तो तुम्हें फिर क्यो कोई अपने यहाँ बुलायेगा ? सब सोचेंगे—यह हमें नहीं बुलायेगा, तब फिर हम ही इसे क्यों बुलायें ? और फिर यह भी सोचो कि जब सब लोग इसका परित्याग करते है, तब एक-एक बार सबके घर भोजन करने का तुम्हारा अधिकार किस काम का रह जायेगा ?"

सरपच के पास इसका कोई उत्तर नही था। आचार्यश्री के तर्कों ने उसे अपने मन्तव्यो पर पुन विचार करने को प्रेरित किया। एक क्षण उसने सोचा और फिर गाँव वालो के साथ खडा होकर प्रतिज्ञा में सम्मिलित हो गया।

हमारा अनुभव भिन्न है

एक सन्यासी को आचार्यश्री ने अणुव्रत आन्दोलन का परिचय दिया। उसने पूछा—"क्या लोग आपकी बातें मान लेते है ? हमने तो देखा है कि प्रायः लोग व्रत के नाम से ही भागते है।"

आचार्यश्री ने कहा—"हमारा अनुभव आपसे भिन्न है। व्रतो का उद्देश्य और उनकी भावना को ठीक ढग से समझाने पर अधिकांश लोग व्रतों के प्रति निष्ठाशील होते पाये गये हैं। भागते तो वे तब है, जब कि स्वय प्रेरक उन व्रतों को अपने जीवन में न उतार कर केवल उपदेश बघारने लगता है।"

अमरीकन का प्रश्न

दिल्ली में एक अमरीकन व्यक्ति कुछ जिज्ञासाएँ लेकर आचार्यश्री के पास आया। उसका प्रथम प्रश्न था—"शान्ति कैसे मिल सकती है ?"

आचार्यश्री ने मुस्कराकर कहा—"क्या अभी तक भी आप लोगो के ध्यान में यह बात नहीं आई ?"

वह सकुचाता-सा बोला—"नहीं।"

आचार्यश्री ने उसके विचारों को झकझोरते हुए कहा—"जब एक धनकुबेर देश का विद्वान् व्यक्ति एक अकिंचन भिक्षु से यह प्रश्न पूछता है, तब इसका तो सीधा यही अर्थ हुआ कि धन या वस्तु की उपलब्धि से शांति प्राप्त नहीं होती। उसका मार्ग तो आवश्यकताओ का अल्पीकरण तथा इच्छाओं का सयमन है।"

वह व्यक्ति प्रसन्नता से मानो उछल पडा। इतने दिन तक जो बात बार-बार उसके मस्तिष्क को इधर-उधर भटका रही थी, उसे सहसा ही इतना सहज समाधान मिल जायेगा, यह कल्पना ही नहीं थी।

शंकर प्रिया

श्री वी० डी० नागर को आचार्यश्री ने अणुव्रतों की प्रेरणा दी, तो वे बोले—"मैं शंकर का उपासक हूँ। शंकर को भांग बहुत प्रिय थी, अतः मैं उन्हें भांग चढ़ाता हूँ। जो वस्तु अपने इष्टदेव को चढ़ाता हूँ, उसे प्रसाद के रूप में स्वयं भी स्वीकार करता हूँ। अणुव्रती बनने से उसमें बाधा आती है।"

आचार्यश्री—"आप तो एक बौद्धिक व्यक्ति हैं। थोड़ा सोचिये, क्या बिना भांग के शंकर की पूजा नहीं हो सकती ?"

श्रीनागर—"हो तो सकती है, किन्तु अन्य वस्तुएं उनकी सर्वाधिक प्रिय वस्तु का स्थान तो नहीं ले सकतीं।"

आचार्यश्री—"ईश्वर को भक्त अपना ही रूप देना चाहता है। वह स्वयं जिन वस्तुओं को प्रिय मानता है, उन्हीं पर भगवान् की प्रियता का आरोपण कर लेता है। गांजा आदि पीने वाले भी शंकर के नाम की आड लेते हैं। इस क्रम से तो भगवान् के निर्मल स्वरूप में बाधा ही पहुँचती है। आप इस विषय पर गंभीरता से सोचियेगा।"

श्रीनागर—"हाँ, यह बात सोचने की अवश्य है। नशे के रूप में भांग छोड़ देने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। अन्य बातों पर जब तक पूर्ण मनन न कर लूँ, तब तक के लिए इतना संकल्प भी काम देगा।"

बड़ी भेंट चाहता हूँ

मेवाड़ में आचार्यश्री आदिवासी क्षेत्रों की ओर गये। वहाँ एक बार कुछ भील मिलकर उनके पास आये। आचार्यश्री ने स्मितभाव से उन्हें पूछा—"क्यों भाई! खाली हाथ ही आये हो या भेंट के लिये कुछ लाये भी हो ?"

सब एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। उनमें से एक व्यक्ति आगे आया और कुछ पैसे आचार्यश्री की ओर बढ़ाते हुए बोला—"यह लो बाबा! मेरे पास तो इतनी ही भेंट है।"

आचार्यश्री—"बस, इतनी ही ? इस छोटी भेंट से काम नहीं चलेगा। मैं तो बड़ी भेंट चाहता हूँ।"

वह और उसके साथी असमंजस में पड़ गये। आखिर आचार्यश्री ने अपने रहस्य को कुछ स्पष्ट करते हुए पूछा—"शराब पीते हो ?"

वह व्यक्ति—"वह तो पीता हूँ।"

आचार्यश्री—"कितनी पीते हो ?"

वह व्यक्ति—"यह मत पूछिये। हम लोगों की सारी कमाई इसी में बह जाती है।"

आचार्यश्री—"खून-पसीना एक करके कमाते हो, उसे यों दुर्व्यसन में फूंक देना, कहाँ की समझदारी है ? यदि मैं तुम्हारे से शराब छोड़ देने की भेंट मांग लूं, तो दोगे या नहीं ?"

वह व्यक्ति और उसके साथी कुछ देर तक विचार-मग्न हो गये। परस्पर फुस-फुसाहट में कुछ विचार-विनिमय हुआ। आखिर वह एक निर्णय पर पहुँचा और बोला—"लो बाबा! जब तुमने भेंट मांग ही ली है, तो लो यही देता हूँ। आज से मैं कभी शराब नहीं पीऊँगा।"

उसके अनेक साथियों से भी आचार्यश्री ने वही भेंट स्वीकार की।

किसान का बेटा हूँ

एक किसान आचार्यश्री के पास आया और दर्शन करके पास में ही बैठ गया। आचार्यश्री ने उससे पूछा—"कहाँ से आये हो?"

उसने उत्तर देते हुए कहा—"पास के ही गाम का हूँ। मेरा लड़का और स्त्री पहले आ गये थे। उन्होंने ही मुझे कहा कि मैं भी एक बार दर्शन कर आऊँ। इसीलिए खेत से सीधा यहाँ आपके दर्शन करने आ गया।"

आचार्यश्री—"केवल दर्शन से क्या होगा? कुछ संकल्प भी तो करना होगा। तमाखू पीते हो?"

किसान—"वह तो बचपन से ही पीता हूँ।"

आचार्यश्री—"अपने हाथ दिखाओ तो।"

किसान ने अपने दोनों हाथ आचार्यश्री के सम्मुख किये, तो उन्होंने कहा—"देखते हो, ये तमाखू के दाग तुम्हारे हाथो पर कितनी गहराई से बैठे हुए हैं। ये तुम्हारे फेफड़ों पर भी तो इसी प्रकार से बैठ गये होंगे? दुर्व्यसन होने के कारण इसका दाग तुम्हारे जीवन पर भी तो बैठता है। ऐसी वस्तु को तुम छोड़ क्यों नही देते?"

किसान कुछ क्षणों के लिए विचार-मग्न हो गया। उसने कुछ निर्णय किया और बोला—"आप कहते हैं तो छोड़ देता हूँ।"

आचार्यश्री—"मैं तो कहता ही हूँ, परन्तु उतने मात्र से कुछ नहीं होता। मूल बात तो किये हुए सकल्प को दृढता से निभाने की है।"

किसान—"मैं किसान का बेटा हूँ महाराज! प्राण भले ही चले जाएं, परन्तु प्रण नही जाने पायेगा।"

उसके विचारों को प्रेरित कर इतनी दृढ़ता की भूमिका पर लाने के पश्चात् आचार्यश्री ने उसको सकल्प करा दिया।

भेंट क्या चढ़ाओगे?

आचार्यश्री एक छोटे-से गांव में ठहरे। ग्रामीण उनको चारों ओर से घेर कर खड़े हो गए। आचार्यश्री ने विनोद में उनसे कहा—"खड़े तो हो, पर भेंट क्या चढाओगे?"

बेचारे किसान सकुचाये और कहने लगे—"महाराज! भेंट के लिए तो हम कुछ नही लाये।"

आचार्यश्री—"तो क्या तुम लोग नहीं जानते कि दर्शन करने के बाद कुछ चढाना भी आवश्यक होता है ?"

किसान और भी अधिक सकुचा गये। उनमें से किसी एक ने कुछ साहस करते हुए कहा—"हम तो सब गरीब हैं, आपके योग्य भेंट ला भी क्या सकते हैं ?"

आचार्यश्री ने उन्हें और भी विस्मय में डालते हुए कहा—"तुम सबके पास चढाने के उपयुक्त सामग्री है तो सही, परन्तु उसे चढाने का साहस करना होगा।"

वे लोग विस्मित होकर एक-दूसरे की ओर ताकने लगे। आचार्यश्री ने उनकी दुविधा को ताड़ते हुए कहा—"डरो मत, मैं तुम्हारे से रुपया-पैसा मांगने वाला नहीं हूँ। मुझे तो तुम्हारी बुराइयों की भेंट चाहिए। तमाखू, मद्य-पान, चोरी आदि की जिसमें जो बुराई हो, वह मुझे भेंट चढ़ा दो।"

यह सुनकर सबमें प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। उन लोगों ने सचमुच ही आचार्यश्री के चरणों में काफी सारी भेंट चढाई।

गंगाजल से भी पवित्र

अकराबाद में एक ब्राह्मण गंगाजल लेकर आया और आचार्यश्री से उसे स्वीकार करने का आग्रह करने लगा। आचार्यश्री ने उसे समझाया कि कच्चा जल हमारे उपयोग में नहीं आता।

ब्राह्मण बोला—"यह तो गंगाजल है। यह कभी कच्चा होता ही नहीं। मैं इसे अभी-अभी लेकर आया हूँ।"

अन्ततः आचार्यश्री ने उसके बढ़ते हुए आग्रह को देखा, तो अपनी बात का रुख बदलते हुए कहने लगे—"पंडितजी ! श्रद्धा पानी से बड़ी होती है, मैं आपकी श्रद्धा को सादर ग्रहण करता हूँ। वह इस गंगाजल से भी पवित्र वस्तु है।"

सबसे समान सम्बन्ध

उत्तरप्रदेशीय विधान-सभा के सदस्य श्री ललिताप्रसादजी सोनकर की प्रार्थना पर आचार्यश्री ने दलितवर्ग-संघ के वार्षिक अधिवेशन में जाना स्वीकार कर लिया। उनके कुछ विरोधियों ने आचार्यश्री से कहा—"सब दलितवर्गीय लोगों का इसमें सहयोग नहीं है। अतः आपका वहाँ जाना उचित नहीं लगता।"

आचार्यश्री ने कहा—"सबका सहयोग होना अच्छा है, फिर भी वह न हो, तबतक के लिए मैं अपनी बात न कहूँ, यह उचित नहीं। सत्यान्वेषण या सत्यप्रापण में यदि सबके सहयोग की शर्त रहे, तो शायद सत्य के पनपने का कभी अवसर ही न आये। जो इस संगठन में हैं, वे मेरे विचार आज सुन लें और जो इस संगठन में नहीं हैं, वे आज वहाँ भी सुन सकते हैं तथा अन्यत्र कहीं भी। मेरा इस या उस किसी भी संगठन से कोई संबन्ध नहीं है और जो संबन्ध है, वह सभी संगठनों से एक समान है।"

चरण-स्पर्श कर सकते हैं ?

रेल से उतर कर आये हुए कुछ व्यक्तियो ने आचार्यश्री का चरण-स्पर्श करना चाहा। परन्तु उन्हें रेल के धुए से मलिन हुएं अपने वस्त्रों के कारण कुछ संकोच हुआ। सभवत: यह विचार भी मन में उठा हो कि एक पवित्र आत्मा के सम्पर्क में आते समय तन और वसन की पवित्रता अनिवार्यतया होनी चाहिए। दूसरे ही क्षण मन ने एक दूसरा तर्क प्रस्तुत किया कि उनसे सम्पर्क करने में तन और वसन से कहीं अधिक श्रद्धा माध्यम बनती है। वह तो सदा पवित्र ही है। आखिर उन्होंने पूछ लेना ही उचित समझा। वे आचार्यश्री के पास आये और बोले—"क्या हम इस अस्नात स्थिति में आपका चरण-स्पर्श कर सकते हैं ?"

आचार्यश्री ने कहा—"क्यों नहीं ? वस्त्रो की मलिनता उपेक्षणीय न होते हुए भी गौण वस्तु है। मन की मलिनता नही होनी चाहिए।"

(१०) विनोद

कभी-कभी अवसर आने पर आचार्यश्री विनोद की भाषा में बोलते सुने जाते हैं। उनका विनोद केवल परिहास के रूप में नही होता, अपितु अपने में एक गहरा अर्थ लिये हुए होता है। उनके विनोदों का व्यग्यार्थ बाण की तरह वस्तु-स्थिति के हार्द को विद्ध करने वाला होता है।

एक घड़ी

लाडणू में युवक-सम्मेलन की समाप्ति पर एक स्वय सेवक ने सूचना देते हुए कहा—"एक घडी मिली है, जिस सज्जन की हो, वह चिन्ह बताकर कार्यालय से उसे ले ले।"

वह बैठ भी नहीं पाया था कि आचार्यश्री ने कहा—"मैंने भी आप लोगों में एक घडी (समय-विशेष) खोई है। देखें, कौन-कौन उसे वापस ला देते हैं।"

हँसी का वह कहकहा लगा कि पण्डाल में काफी देर तक एक मधुर सगीत की-सी झंकार छायी रही।

पर्दा-समर्थकों को लाभ

भरतपुर से विहार कर आचार्यश्री पुलिस-चौकी पर पधारे। यात्री निकट की एक वाटिका में ठहरे। वहाँ एक वृक्ष पर मधुमक्खियो का छत्ता था। भोजन पकाने के लिए जलायी गई आग का धूँआ सयोगवशात् वहाँ तक पहुँच गया। उससे क्रुद्ध हुई मधुमक्खियो ने बहुत से भाई-बहिनों को काट लिया। उस काण्ड में पर्दे वाली बहिने साफ बच गई।

आचार्यश्री को जब इस बात का पता चला तो हँसते हुए कहने लगे—"चलो! पर्दा-समर्थक व्यक्ति उसकी एक उपयोगिता तो अब निर्विवाद बता सकेंगे।"

यह भी कट जायेगी

आचार्यश्री कानपुर पधार रहे थे। विहार में मील पर मील कटते जा रहे थे। मील का-

एक पत्थर आया, वहाँ से कानपुर चौरासी मील शेष था। एक भाई ने कहा—"अभी तक तो कानपुर चौरासी मील दूर है।"

आचार्यश्री ने उस बात में अपने विनोद का रस भरते हुए कहा—"यह चौरासी भी कट जायेगी।" इस छोटे से वाक्य के साथ ही सारा वातावरण मधुमय हास से व्याप्त हो गया।

कुआँ, प्यासे के घर

आचार्यश्री ने विभिन्न बस्तियों में जाकर व्याख्यान देना प्रारम्भ किया, तब आलोचक-प्रकृति के लोग कहने लगे—"प्यासा कुए के पास जाता है, पर कुआँ प्यासे के पास क्यों जावे ?"

आचार्यश्री ने इस बात का रस लेते हुए कहा—"अरे भाई ! क्या किया जावे, युग की रीति ही विपरीत हो गई है। अब तो नलों के द्वारा कुआँ भी तो प्यासे के घर जाने लगा।"

भाग्य की कसौटी

एक बहिन आचार्यश्री को अपना परिचय दे रही थी। अन्यान्य बातों के साथ उसने यह भी बतलाया कि उसकी एक बहिन विदेश गयी हुई है।

आचार्यश्री ने कहा—"तुम विदेश नहीं गयीं ?"

उसने उदासीन स्वर से उत्तर दिया—"मेरा ऐसा भाग्य कहाँ है ?"

आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए कहा—"बस; यही है तुम्हारे भाग्य की कसौटी ?"

बचाव

जोधपुर-चातुर्मास में विरोधियों ने स्थान-स्थान पर विरोधी पर्चे चिपकाये। जिस मार्ग से आचार्यश्री का बहुधा आवागमन हुआ करता था, उस पर तो उन लोगों ने और भी अधिक चिपकाये थे।

आचार्यश्री ने जब यह देखा तो कहने लगे—"तारकोल की सड़क पर पैर काले हो जाया करते हैं, परन्तु आज कुछ बचाव हो जायेगा।"

जेब नहीं है

आदिवासी लोगों में प्रवचन करने के पश्चात् आचार्यश्री अपने किसी दूसरे कार्य में व्यस्त थे। कुछ लोग उनके सामने बैठे हुए थे। एक भील बालक आया और आचार्यश्री से कहने लगा—"मुझे मद्य-मांस का परित्याग करवा दीजिये।" आचार्यश्री ने परित्याग करवा दिया और फिर कार्य में लग गये। वह भी चरण-स्पर्श करके एक ओर बैठ गया। थोड़ी देर पश्चात् आचार्यश्री का ध्यान आसन पर गया तो वहाँ पैरों के पास एक चवन्नी पड़ी दिखलाई दी।"

आचार्यश्री ने साश्चर्य पूछा—"यह किसने रख दी है।"

पार्श्वस्थ भाइयों ने कहा—"सभवतः वंदन करते समय किसी की जेब से गिर गई है।"

आचार्यश्री उसे उठाकर नीचे रखने लगे तो उस भील बालक ने जिसका कि नाम 'ऊदा' था, सकुचाते हुए निवेदन किया—"महाराज ! यह तो इस सेवक की तुच्छ भेंट है।"

आचार्यश्री ने अपने वस्त्रों की ओर इंगित करते हुए स्मयमान मुद्रा में कहा—"बतलाओ तो ! हम तुम्हारी इस भेंट को कहाँ रखेंगे। हमारे पास तो ऐसा कोई वस्त्र ही नहीं है, जिसमें जेब हो।"

आचार्यश्री के उस अभाव पर पार्श्वस्थ व्यक्ति खिलखिला पडे।

अन्धेरे से प्रकाश में

रात्रि के समय खुली छत पर दुग्ध-धवल चंद्रिका में अणुव्रत-गोष्ठी का कार्यक्रम प्रारंभ होने वाला था। वहाँ पास में एक पाल बंधा हुआ था। लगभग आधी छत पर उसकी छाया पड रही थी। कुछ अणुव्रती चन्द्र के प्रकाश में बैठे थे, तो कुछ उस छाया में। प्रकाश वाला कुछ भाग यों ही खाली पडा था। कुछ व्यक्तियों ने पीछे छाया में बैठे भाइयों से आगे आजाने का अनुरोध किया, पर वहाँ से कोई उठा नहीं।

आचार्यश्री ने उस स्थिति को अपने विनोद का विषय बनाते हुए कहा—"प्रकाश में आने के पश्चात् हर बात में जितनी सावधानी बरतनी पडती है, अन्धेरे में उतनी नहीं। सम्भवतः यही सुविधा अन्धेरे के प्रति आकर्षण का कारण हो सकती है, अन्यथा प्रकाश को छोडकर अन्धेरे को कौन पसन्द करेगा ?" वातावरण में चारों ओर स्मित-भाव छलक उठा। पीछे बैठे हुए भाई किसी के अनुरोध के बिना स्वयं ही उठ-उठ कर आगे आ गए।

जो आज्ञा

प्रवचन चल रहा था। एक छोटा बालक घूमता-फिरता उधर आया और आचार्यश्री के पैरों की तरफ हाथ बढाते हुए बोला—"पैर दो।" आचार्यश्री अपने प्रवाह में बोल रहे थे। जनता विमुग्ध भाव से सुन रही थी। बालक को इसकी कोई परवाह नहीं थी। आचार्यश्री का प्रवाह रुका। लोगों की दृष्टि बालक की ओर गई। आचार्यश्री ने अपने पैर को उसकी ओर आगे बढ़ाते हुए हँसकर कहा—"जो आज्ञा!" बालक अपनी मस्ती से चरण-स्पर्श कर चलता बना।

अच्छाई-बुराई की समझ

अलीगढ के एक वृद्ध एडवोकेट निधीशजी आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। बातचीत के प्रसंग में उन्होंने कहा—"मैं यदि बुराई भी करता हूँ, तो उसे अच्छी समझकर ही करता हूँ।"

आचार्यश्री ने कहा—"जब अच्छाई करते है तो शायद बुरी समझकर करते होंगे ?"

(११) प्रामाणिकता

आचार्यश्री अपने कार्य में परिपूर्ण प्रामाणिकता का ध्यान रखते हैं। अपनी तथा अपने साधुओं की कार्य-वृत्ति से किसी को दुविधा न हो, तथा किसी की वस्तु का दुरुपयोग न हो, इसमें भी वे पूर्णतः जागरूक रहते हैं।

किसी पूर्वाग्रह तथा न्यूनता लगने के भय से भी वे अपनी प्रामाणिकता को आंच आने देना नहीं चाहते।

हीनता की बात

एक विद्वान् ने आचार्यश्री से कहा—"आचार्यजी ! भविष्य में इतिहास का विद्यार्थी जब यह पढ़ेगा कि भारत में छोटी-छोटी बुराइयों को मिटाने के लिये व्रत बनाने पड़े और आन्दोलन चलाना पड़ा, तो क्या यह बात भारत की हीनता प्रकट करने वाली नहीं होगी ?"

आचार्यश्री—"हो सकती है, किन्तु वस्तु-स्थिति को छिपाना भी तो अच्छा नहीं है। भारत शताब्दियों तक परतंत्र रहा, यह घटना भी तो हीनता की द्योतक है, पर क्या इस वस्तु-स्थिति को बदला जा सकता है ? इतिहास में उत्कर्ष और अपकर्ष आते ही रहते हैं, उनके कारण वस्तु स्थिति को छिपाने का प्रयास कर हमें अप्रामाणिक नहीं बनना चाहिए।"

श्रद्धा का सदुपयोग करें

आचार्यश्री आहार कर रहे थे। उसी कमरे में एक पेटी पर पानी से भरा पात्र रखा था। आचार्यश्री ने देखा तो पूछने लगे—"यहाँ पानी किसने रखा है ? यदि थोड़ा-सा भी पानी नीचे गिरा तो वह पेटी के अन्दर चला जायेगा। इसके अन्दर कपड़े भी हो सकते हैं तथा आवश्यक कागज-पत्र भी। हमारी असावधानी से वे खराब हों, यह लज्जा की बात है। लोग हमें जिस श्रद्धा से स्थान देते हैं, हमें उनकी वस्तुओं का उतनी ही प्रामाणिकता से ध्यान रखना चाहिए।" उन्होंने उस पानी को तत्काल उठा लेने का निर्देश किया।

पांच मिनट पहले

उत्तर प्रदेश की यात्रा के पहले दिन सायं आचार्यश्री 'अछनेरा' पधारे। इन्टर कालेज में ठहरना हुआ। परीक्षाएँ चल रही थीं, अतः प्रिंसिपल ने प्रार्थना की—"रात को तो आप आनन्द से यहाँ ठहरिये, परन्तु प्रातः यदि सूर्योदय से पाँच मिनट पहले ही खाली कर सकें तो ठीक रहेगा, अन्यथा परीक्षार्थी लड़कों के लिए थोड़ी दिक्कत रहेगी।"

आचार्यश्री ने उस बात को स्वीकार कर लिया और दूसरे दिन प्रातः वैसा ही किया। सूर्योदय से पांच मिनट पूर्व ही सब सन्त सड़क पर आगए और सूर्योदय होने पर वहाँ से विहार कर दिया। इस प्रामाणिकता पर कॉलेज के अधिकारी गद्गद् हो गये।

(१२) वक्तृत्व

आचार्यश्री की अन्य अनेक प्रबल शक्तियों में से एक है उनकी वक्तृत्व-शक्ति। किसी व्यक्ति को कौन-सी बात किस प्रकार से कही जानी चाहिए, यह वे बहुत अच्छी तरह से जानते हैं। विद्वानों की सभा में जहाँ वे अपनी प्रखर विद्वत्ता की छाप छोड़ते हैं, वहाँ ग्रामीणों पर उनके उपयुक्त सहज और सुबोध बातों की। उनके उपदेशों से सहस्रों जन मद्य, मांस, भांग, तमाखू तथा अपमिश्रण आदि अनैतिकताओं से विमुक्त हुए हैं। अनेक बार ग्रामों में ऐसे दृश्य भी उपस्थित होते रहते हैं, जब कि वर्षों तक मद्य तथा तमाखू पीने वाले व्यक्ति आचार्यश्री के सामने अपनी चिलमें फोड़ देते हैं, तथा अपने पास की बीड़ियों का चूरा करके फेंक देते हैं।

वाणी का प्रभाव

डा० राजेन्द्रप्रसाद जब २१ अक्टूबर ४९ में आचार्यश्री से मिले थे, तब उनकी वाणी से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने अपने एक पत्र में उसका उल्लेख करते हुए लिखा है :

"उस दिन आपके दर्शन पाकर बहुत अनुगृहीत हुआ। इस देश में ऐसी परम्परा चली आई है कि धर्मोपदेशक धर्म का ज्ञान और आचरण जनता को बहुत करके मौखिक ही दिया करते है। जो विद्याध्ययन कर सकते हैं, वे तो ग्रन्थों का सहारा ले सकते हैं, पर कोटि-कोटि साधारण जनता उस मौखिक प्रचार से लाभ उठाकर धर्म-कर्म सीखती है। इसलिए जिस सहज-सुलभ रीति से आप गूढ तत्त्वो का प्रचार करते हैं, उन्हें सुनकर मैं बहुत प्रभावित हुआ और आशा करता हूँ कि इस तरह का शुभ अवसर मुझे फिर मिलेगा।"[1]

उनकी आत्मा बोल रही है

आचार्यश्री साधारण जीवनोपयोगी बातों पर ही प्रभावशाली ढग से बोलते हों, सो बात नहीं। वे जिस विषय पर भी बोलते हैं, उसी में इतनी सजीवता ला देते हैं कि उन विषयो से विशेष सम्बद्ध न होने वाले व्यक्ति भी प्रभावित होते देखे जाते हैं।

सं० २००८ दिल्ली में भिक्षु-चरमोत्सव के अवसर पर अजमेर के भूतपूर्व मुख्यमंत्री हरिभाऊ उपाध्याय उसमें सम्मिलित हुए। आचार्यश्री ने स्वामी भीखणजी के विषय में जो भाषण दिया, उससे वे इतने प्रभावित हुए कि अपने स्थान पर जाकर उन्होंने एक पत्र भेजा। आचार्यश्री की वक्तृत्व-शक्ति पर प्रकाश डालने वाला वह पत्र इस प्रकार है :

"महामान्य श्री आचार्यजी,

सादर प्रणाम। इधर तीन दिनो से आपके दर्शन और सत्सग का जो अवसर मिला, वह मुझे सदैव याद रहेगा। मुझे बडा खेद है कि आज कुछ मित्रो के अनुरोध करने पर भी मैं वहाँ कुछ बोल न सका। इधर मेरी प्रवृत्ति बोलने की कम होती जा रही है, लिखने की भी। ऐसा लगने लगा है कि मनुष्य को अपने जीवन से ही लोगो को अधिक देना चाहिए, जिससे हमें अपने जीवन को मांजते रहने का अवसर मिले।

पूज्य स्वामी भिक्षुजी का चरित्र और आपका आज का तद्विषयक व्याख्यान मुझे बहुत प्रभावकारी मालूम हुआ। ऐसा लगा, मानो उनकी आत्मा आप में बोल रही है। आप अपने क्षेत्र के 'युग-पुरुष' हैं। जैन धर्म को मैं मानव धर्म मानता हूँ। उसके आप प्रतीक बनेंगे, ऐसा विश्वास है। मैं दिल्ली फिर आऊँगा तब अवश्य मिलूंगा। आप अपने इस जीवन-कार्य में मुझे अपना सहयोगी समझ सकते हैं। इति

विनीत

हरिभाऊ उपाध्याय[2]

१—विशेष विवरण

२—वही

(१३) विविध

आचार्यश्री का जीवन विविधता के ताने-वाने से बना है। उसकी महत्ता घटनाओं में बिखरी पड़ी है। घटनाएँ भी इतनी कि समेटे नही सिमटती। आदि से ही विविधता उनके जीवन का प्रमुख-सूत्र बनकर रही है, इसीलिए उनके जीवन से सम्बन्धित घटनाओं के संकलन में भी उसकी अभिव्यक्ति हुई है।

मैं अवस्था मे छोटा हूँ

मध्यान्ह में एक किसान आया और आचार्यश्री के पास बैठ गया। आचार्यश्री ने उससे बातचीत की, तो उसने बतलाया—"मैं खेत पर काम कर रहा था तब सुना कि गांव में एक बड़े महात्मा आये हैं। मैंने सोचा—चलूँ, कुछ सेवा-वन्दगी कर आऊँ। किसान ने आचार्यश्री के पैरों की ओर हाथ बढ़ाते हुए कहा—लाइये, थोड़ा-सा चरण दबादूँ।"

आचार्यश्री ने अपनी पलथी को और अधिक समेटते हुए कहा—"नहीं भाई! हम किसी से शारीरिक सेवा नहीं लेते।"

किसान ने कहा—"आप क्यों नहीं दबवाते। मैंने तो अनेक सन्तों के पैर दबाये हैं।"

आचार्यश्री ने कहा—"यह हमारा नियम है। दूसरी बात यह भी है कि मेरी अवस्था तुम्हारे से छोटी है। मैं तुम्हारे से पैर कैसे दबवा सकता हूँ। मेरे पैर दुखते भी नहीं। युवा हूँ, तब पैर दबवाऊँ ही क्यों?"

मध्यम मार्ग

विहार में एक ग्राम के लोगों ने जब यह सुना कि आज प्रातः आचार्यश्री तुलसी पार्श्ववर्ती जी० टी० रोड से होकर गुजरेंगे, तो वे लोग काफी पहले से ही दूध के लोटे भर-भर कर वहाँ ले आये। काफी देर बाद देखने पर जब आचार्यश्री वहाँ पहुँचे, तो उन्होंने अपनी भेंट आचार्यश्री के सामने रखी। आचार्यश्री सामने लायी गई वस्तु न लेने के नियम से बधे थे और वे लोग अपनी श्रद्धा की कृतार्थता चाहते थे।

अनेक बार समझाने पर भी जब वे नहीं माने, तो साथ में चलने वाले भाई दौलतरामजी ने एक बीच का मार्ग निकाल डाला। उन्होंने उन सबसे कहा कि जब महात्माजी का यह नियम है, तो तुम उनके पास चलने वाले भक्तो को ही यह दूध क्यों नहीं पिला देते? इतना दूध अकेला तो कोई पी नहीं सकता, सारी जमात को पिलाने के लिए ही तो लाये हो?

यह बात उनके दिमाग में बैठ गई और बड़ा आग्रह कर-करके उन्होंने लोगों को दूध पिलाया। उस मध्यम मार्ग ने आचार्यश्री का कुछ समय बचा दिया, नहीं तो उन्हें समझाने में काफी समय लगाना पड़ता।

फीस और पद

एक भाई ने आचार्यश्री से कहा—"ऐसे तो मेरी सतों में कोई विशेष श्रद्धा नहीं रहती, किन्तु इस बार कुछ ऐसी भावना जागी कि प्रतिदिन तीनो समय आता रहा हूँ। मुझे आपके

संघ की दो बातों ने विशेष आकृष्ट किया है। एक सदस्यता की कोई फीस नहीं है, दूसरे पदों का-झगड़ा नहीं है।"

आचार्यश्री ने उसकी आशा के विपरीत कहा—"तुमने सम्भवतः गहराई से ध्यान नहीं दिया। यहाँ तो फीस भी लगती है और पद भी दिया जाता है।"

वह भाई कुछ असमंजस में पड़ा और पूछने लगा—"कहाँ ? मेरे देखने में तो कोई ऐसी बात नहीं आई।"

आचार्यश्री—"अब तक नहीं आई होगी, पर लो अब लाये देता हूँ कि हम अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति से संयम की फीस लेना चाहते हैं और अणुव्रती का पद देना चाहते हैं। क्यों है न स्वीकार ?"

तब उस भाई को न फीस की शिकायत हुई, न पद की। उसने सहर्ष फीस भी दी और पद भी लिया।

चरणामृत मिले तो

एक व्यक्ति अपने भानजे को लेकर आया। वह अपने साथ गर्म जल का पात्र तथा चांदी की कटोरी भी लाया था। आचार्यश्री को वंदन कर वह बोला—"महाराज! यह मेरा भानजा है। इसका दिमाग कुछ अस्वस्थ है। कुछ समय पूर्व एक मुनि आये थे। मैंने उनका अंगुष्ठ धोकर इसे चरणामृत पिलाया था। तब से यह कुछ-कुछ स्वस्थ हुआ है, परन्तु रोग पूर्ण रूप से गया नहीं। मैंने सोचा—इस बार यदि आपका चरणामृत पिला दूँ, तो यह अवश्य पूर्ण स्वस्थ हो जाएगा।"

आचार्यश्री ने कहा—"मैं अपना अंगुष्ठ नहीं धुलवाऊँगा। अंगुष्ठ धोये पानी से रोग में कुछ लाभ होता है, इसका मुझे तनिक भी विश्वास नहीं। मैं इसे एक अन्ध-विश्वास मानता हूँ। आप इसे चरणस्पर्श करा सकते हैं, उसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं। उससे अधिक कुछ नहीं।"

उस भाई ने अपने भानजे को आचार्यश्री का चरणस्पर्श करवाया और बड़ी प्रसन्नता से अपने घर लौट गया।

छोटे का बड़ा काम

आचार्यश्री की सेवा में आये हुए एक परिवार की मोटर के पीछे बंधी हुई कपड़ों की गठरी मार्ग में गिर गई। उसमें लगभग पाँच-सौ रुपये का कपड़ा था। पीछे से एक तांगे वाले ने उसे गिरता देखा तो मोटर के नम्बर ले लिये। गठरी लेकर खोजता हुआ वह वहाँ पहुँचा, जहाँ कि आचार्यश्री की सेवा में आये हुए अनेक परिवार ठहरे हुए थे। उसने वहाँ लोगों को बतलाया कि अमुक नम्बर की मोटर वाले की यह गठरी है। पूछताछ के पश्चात् पता चलते ही गठरी यथास्थान पहुंचा दी गई।

, कोई भाई उसे आचार्यश्री के पास ले आया। आचार्यश्री ने सारी घटना सुनकर परिचय के रूप में उससे उसका नाम पूछा। उसने अपना नाम 'छोटा' बतलाया। इस पर आचार्यश्री ने सत्यनिष्ठा के प्रति उसका उत्साह बढ़ाते हुए कहा—"छोटे ने बड़ा काम किया है। जनता की ओर उन्मुख होते हुए उन्होंने कहा—इस घटना से पता चलता है कि भारतीय मानस की पवित्रता मरी नहीं है।"

हमनै के बेरा

आचार्यश्री उन दिनों हरियाणा में विहार कर रहे थे। एक गाँव के लोगों ने कई दिन पहले से सुन रखा था कि एक बड़े महात्मा आने वाले हैं। उन लोगों ने अपनी कल्पना के अनुसार समझा कि कोई बड़े महंत आदि की तरह ही ये भी होंगे। लोगों में उन्हें देखने की बड़ी उत्कण्ठा थी। वहाँ के अधिकांश व्यक्ति दूर तक सामने आये। उन सब के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब कि उन्होंने आचार्यश्री को नंगे पाँव पैदल चलते हुए देखा।

आचार्यश्री गाँव में आये और उसी समय अपने पहले व्याख्यान में जनता को आचार-शुद्धि का सन्देश दिया। भाषा और बातें वहाँ की जनता के बिलकुल अनुरूप थीं। वे लोग इतने प्रसन्न हुए कि जिसका कोई पार नहीं। व्याख्यान समाप्त होते ही वे आचार्यश्री के पास घिर आये और कहने लगे—"हमनै के बेरा तूँ इसा सै" अर्थात्—हमें क्या पता था कि आप ऐसे हैं।

: १० :

भविष्य के वातायन से

इयत्ता से संघर्ष

आचार्यश्री विश्व की एक विभूति हैं। उनका जीवन व्यक्तिगत से बढ़कर समष्टिगत है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व से समष्टि को प्रभावित किया है। उनके वर्तमान के भवन में खड़े होकर जब भविष्य के वातायन से झांकने का प्रयास किया जाता है तब लगता है कि वह वर्तमान से भी महान् होगा।

जो केवल अपने में ही समाकर रह जाता है, वह विद्वान् तो हो सकता है, पर महान् नहीं। महत्ता को इयत्ता के किसी भी वलय से घेरा नहीं जा सकता। उन्मुक्त परिव्याप्ति ही उसकी सार्थकता है। यद्यपि महत्ता के मार्ग में इयत्ताएँ आती हैं, परन्तु उनका घेरा हर बार टूटता है। कौन कितना महान् है—यह परिमाण इयत्ताओं की ही अपेक्षा से होता है। निरपेक्ष महत्ता सदा अतुलनीय ही रही है। संसार के हर महापुरुष की गति उसी निरपेक्ष महत्ता की ओर रही है। इसीलिए हर इयत्ता के साथ उनका सदैव संघर्ष चालू रहा है।

टूटते हुए वलय

आचार्यश्री ने इयत्ताओं के अनेक वलय तोड़े हैं। वर्त्तमान इयत्ता से भी उनका संघर्ष चालू है। आज नहीं तो कल, यह वलय अवश्य ही टूटने वाला है। चरमरा तो वह अभी से रहा है। भविष्य के गर्भ में न जाने कितने वलय और हैं तथा उनके साथ होने वाला भावी संघर्ष समय की कितनी अवधि घेरेगा, कहा नहीं जा सकता। आज उसकी आवश्यकता भी नहीं है, वह 'कल' की बात है। 'कल' ही उसे अधिक स्पष्टता से बतलायेगा।

एक अंकन

वर्तमान की जड़ भूतकाल की भूमि में गहराई तक धंसी रहती है और उसकी फुनगियां भविष्य को चूमती हुई आगे बढ़ती रहती हैं। कोरा वर्तमान टिक नहीं पाता, इसीलिए उससे संबंधित भूतकाल की भूमिका और भविष्य काल के नील गगन के बीच में ही उसे देखा जा सकता है। आचार्यश्री का वर्तमान-काल अवस्था की दृष्टि से सैंतालीस और आचार्यत्व की दृष्टि से पच्चीस वर्ष-प्रमाण भूत-काल को अवगाहित किये अनन्त भविष्य की छाया में खड़ा है।[1] उसी परिप्रेक्ष्य में उसका अंकन किया गया है।

१—यह उल्लेख सं० २०१८ का है।

स्याद्वादी जीवन

लगभग तीस वर्ष के प्रत्यक्ष-सम्पर्क में मैंने आचार्यश्री के जीवन में जो विविधताएँ देखी है, यदि उनको किसी एक ही शब्द में अभिव्यक्ति देने के लिए मुझे कहा जाये तो मैं उसे 'जीवन का स्याद्वाद' कहना चाहूँगा। आचार्यश्री के इस स्याद्वादी जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन उनके साथ रहने वाला हर कोई व्यक्ति कर सकता है। जैन-दर्शन का प्राण स्याद्वाद जिस प्रकार परस्पर विरुद्ध दिखाई देने वाले धर्मों में भी अविरोध पा लेता है, उसी प्रकार आचार्यश्री भी हर परिस्थिति में से समन्वय के सूत्र को पकड़ने के अभ्यासी रहे हैं। उनकी इस प्रवृत्ति ने अनेक व्यक्तियों को अतिशयता से प्रभावित किया है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्र कुमारजी के निम्नोक्त उद्गार इसी बात के साक्षी हैं। वे कहते है—"...... मैंने बहुत नजदीक से अध्ययन करके पाया है कि आचार्यश्री में बहुत से अपूर्व गुण हैं। वे विरोधी से विरोधी वातावरण में भी क्षुब्ध नहीं होते और न विरोध का प्रतिकार विरोध से ही करते हैं। वे अपनी आत्म-श्रद्धा से विरोध-शमन का कोई न कोई रास्ता निकाल ही लेते हैं।"[1]

प्रभावक

आचार्यश्री के जीवन-व्यवहार तथा प्ररूपण में कुछ ऐसी सहज व्यावहारिकता आगई है कि उससे प्रभावित हुए बिना रह सकना कठिन है। कोई अध्यात्म में विश्वास करे या न करे, परन्तु आचार्यश्री जिस पद्धति से आध्यात्मिकता को जीवन व्यवहार में उतारने की प्रेरणा देते है, उससे कोई इनकार नहीं कर सकता। सुप्रसिद्ध उपन्यासकार कामरेड यशपाल का अनुभव इस बात को अधिक स्पष्ट करने वाला होगा। वे कहते है—"मैं साधु-संतों और अध्यात्म से दूर रहता हूँ। इसमें भी एक कारण है। मैंने देखा है वे समाज से दूर हैं, जो हमसे दूर हैं, हम भी उनसे दूर हैं। आचार्यश्री जैसे जो संत महात्मा समाज के नजदीक है, मैं उनसे उतना ही नजदीक हूँ। हम संसारी है, संसार में रहते है, संसार से हमें काम है। साधना चमत्कार के लिए नहीं, कार्यों के लिए है, जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ और आचार्यश्री के निकट आया हूँ, उसका श्रेय अणुव्रत-आन्दोलन को है। अणुव्रत मेरी दृष्टि में व्यक्ति को परोक्षवादी नहीं, प्रत्यक्षवादी बनाता है। वह स्वार्थमुखी नहीं, व्यक्ति को समाजमुखी बनाता है।"[2]

स्वयं संस्कृति

वे जीवन को जड़ देखना नहीं चाहते। जीवन में परिष्कार और संस्कार को वे नितान्त आवश्यक मानते हैं। उनकी यही भावना कार्यरूप में परिणत होकर संस्कृति का उन्नयन करने वाली बन गई है। भारतीय संस्कृति के अन्यान्य प्रहरियों के समान आचार्यश्री भी उसको पल्लवित, पुष्पित व फलित करने में दत्तावधान रहे है। उनकी इसी कार्य-पद्धति से प्रभावित होकर सुप्रसिद्ध कवि स्वर्गीय श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने अपनी कविता-पुस्तक 'क्वासि'

१—नव भारत टाइम्स ३१ अक्टूबर १९५४

२—जैन भारती ९—४१

की भूमिका में आचार्यश्री को संस्कृति का उन्नयन कर्त्ता या परिष्कर्ता ही नहीं, अपितु अभेदोपचार से स्वय संस्कृति ही कहा है। वे लिखते हैं—"तब सस्कृति क्या है ? मेरी मति के अनुसार सस्कृति गांधी है, सस्कृति विनोवा है, सस्कृति कबीर, तुलसी, सूर, ज्ञानदेव, समर्थ तुकाराम है, सस्कृति अणुव्रत-प्रचारक जैन-मुनि आचार्य तुलसी है। सस्कृति रमण महर्षि है। आप हसेंगे, पर हसने की बात नही है। सस्कृति है आत्म-विजय, संस्कृति है राग-वशीकरण, संस्कृति है भाव-उदात्तीकरण, जो साहित्य मानव को इस ओर ले जाये, वही सत्साहित्य है।"[1]

बढ़ते चरण

इस प्रकार आचार्यश्री के स्याद्वादी जीवन ने विविध व्यक्तियों तथा विविध विचारधाराओं को अपनी ओर आकृष्ट किया है। वे उनकी पारस्परिक असमानताओं में भी समानता के आधार बने हैं। उन्होने जन-जन को विश्वास दिया है, अतः वे उनसे विश्वास पाने के भी अधिकारी बने हैं। वस्तुतः जो जितने व्यक्तियों को विश्वास दे सकता है, वह उतने ही व्यक्तियों का विश्वास पा भी लेता है। उन्होने निश्चित ही वह विश्वास पाया है। उज्ज्वल भविष्य की ओर अनवरत बढ़ते हुए उनके चरण उस जन-विश्वास के और अधिक अधिकारी होंगे, यह निःसंशय कहा जा सकता है।

१—'श्वासि' की भूमिका पृष्ठ २४

: ११ :

ज्ञातव्य विवरण

महत्त्वपूर्ण वर्ष

(१) जन्म-सवत्	१९७१ कार्तिक शुक्ला द्वितीया
(२) दीक्षा-सवत्	१९८२ पौष कृष्णा पचमी
(३) युवाचार्यपद-संवत्	१९९३ प्रथम भाद्रपद शुक्ला तृतीया
(४) आचार्यपद संवत्	१९९३ प्रथम भाद्रपद शुक्ला नवमी

महत्त्वपूर्ण स्थान

(१) जन्म-स्थान	लाडणू
(२) दीक्षा-स्थान	लाडणू
(३) युवाचार्यपद-स्थान	गंगापुर
(४) आचार्यपद-स्थान	गंगापुर

आयुष्य-विवरण

(१) गृहस्थ	११ वर्ष १॥ मास
(२) साधारण साधु	१० वर्ष ८॥ मास
(३) युवाचार्य	६ दिन
(४) आचार्य	सं० २०१७ तेरापन्थ द्विशताब्दी तक उनका आचार्यकाल चौवीस वर्ष प्रमाण हुआ है। आगे वे शतायु होकर संघ का मार्ग-दर्शन करते रहें।

जन्म-कुण्डली

जन्म-चक्र

चलित-चक्र

नवांश
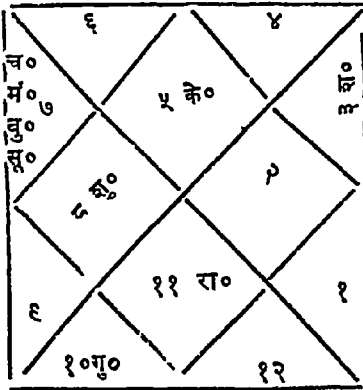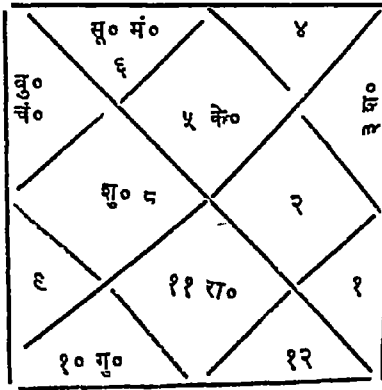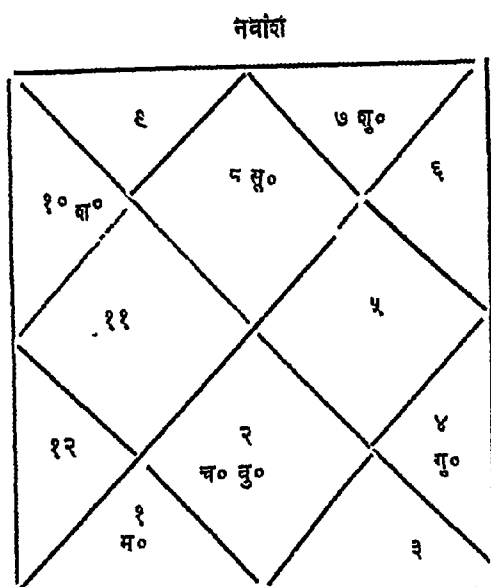
विहार-क्षेत्र

आचार्यश्री तुलसी का विहार-क्षेत्र तेरापन्थ के समस्त पूर्वाचार्यों से अधिक विस्तीर्ण रहा है। भारत के अनेक प्रान्तो में उनका पद-विहार हो चुका है तथा अवशिष्ट प्रान्त उनकी प्रतीक्षा कर रहे है। स० २०१७ तेरापन्थ द्विशताब्दी तक वे राजस्थान में अनेक बार भ्रमण कर चुके हैं। उसका हर डिवीजन आज उनके लिए घर का कमरा-सा बना हुआ है। उसके अतिरिक्त पजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, बगाल, मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रान्तो में भी काफी भ्रमण कर चुके हैं। सुदूर दक्षिण प्रान्तो में जाने की उनकी कल्पना साकार बनने को आतुर है। इतने नये प्रान्तों को अपना विहार-क्षेत्र बनाने का अवसर पिछले किसी भी आचार्य को प्राप्त नहीं हुआ।

चातुर्मास

आचार्यश्री तुलसी ने साधारण साधु-अवस्था में ग्यारह चातुर्मास किये। वे सब अष्टमाचार्य श्री कालूगणी की सेवा में रहते हुए ही किये थे। आचार्य-पद पर आसीन होने के पश्चात् सं० २०१७ तक के उनके चौबीस चातुर्मासो का विवरण निम्नोक्त प्रकार से है :

स्थान	चातुर्मास संख्या	संवत्
बीकानेर	१	१९९४
सरदारशहर	३	१९९५,२००९,१३
बीदासर	१	१९९६
लाडणं	१	१९९७

स्थान	चातुर्मास संख्या	संवत्
राजलदेसर	१	१९९८
चूरू	१	१९९९
गंगाशहर	१	२०००
सुजानगढ	२	२००१,१४
श्रीडूंगरगढ	१	२००२
राजगढ	१	२००३
रतनगढ	१	२००४
छापर	१	२००५
जयपुर	१	२००६
हांसी	१	२००७
दिल्ली	१	२००८
जोधपुर	१	२०१०
बम्बई	१	२०११
उज्जैन	१	२०१२
कानपुर	१	२०१५
कलकत्ता	१	२०१६
राजनगर	१	२०१७

मर्यादा-महोत्सव

आचार्य श्री तुलसी वर्तमान समय तक विभिन्न स्थानों पर २८ मर्यादा-महोत्सव मना चुके है। उनका विवरण इस प्रकार है :

स्थान	महोत्सव-संख्या	संवत्
ब्यावर	१	१९९३
गंगाशहर	२	१९९४,२०००,
रतनगढ़	१	१९९५
सरदारशहर	६	१९९६,९८,२००२,८,९,१३
लाडणू	३	१९९७,२०१४,२०
श्रीडूंगरगढ	१	१९९९
सुजानगढ	१	२००१
चूरू	१	२००३
बीदासर	१	२००४
राजलदेसर	१	२००५

स्थान	महोत्सव सख्या	संवत्
जयपुर	१	२००६
भिवानी	१	२००७
राणावास	१	२०१०
बम्बई	१	२०११
भीलवाडा	१	२०१२
सँथिया	१	२०१५
हाँसी	१	२०१६
आमेट	१	२०१७
भीनासर	१	२०१८
राजनगर	१	२०१९

शिष्य-सपदा

आचार्यश्री तुलसी के वर्तमान शासनकाल में स० २०१७ की आपाढ पूर्णिमा तक चार सौ-बयासी दिक्षाएँ हुई। उनमें एक-सौ-छप्पन साधु और तीन-सौ छब्बीस साध्वियाँ थीं। उस समय एक-सौ-छियासठ साधु और चार-सौ-नवासी साध्वियाँ सघ में विद्यमान थीं।

★

परिशिष्ट १

द्विशताब्दी-समारोह

पूर्व भूमिका

तेरापन्थ एक जागरूक धर्म-संघ है। उसके आचार्य तथा उसके सदस्य अपने करणीय के प्रति सावधानी बरतने वाले होते है। संघ को प्रगति प्रदान करने वाले अवसरों का निर्माण करना और फिर तदनुरूप उन अवसरों का उपयोग करना तेरापन्थ को बहुत अच्छी तरह से आता है। तेरापन्थ के जन्म को जब दो सौ वर्ष संम्पन्न होने वाले थे, तब उस अवसर के उपयोगार्थ जन-मानस में विविध कल्पनाएं हिलोरें लेने लगी थीं। आचार्यश्री ने उसका उपयोग आध्यात्मिक भूमिका पर करने का निश्चय किया, तो तेरापन्थी महासभा ने सामाजिक भूमिका पर। अपनी-अपनी सीमाओं में दोनों ही महत्वपूर्ण कार्य थे। प्रथम कार्य को धर्म-संघ की आत्मा कहा जा सकता है, तो द्वितीय को उसका शरीर। एक सूक्ष्म तथा दूसरा स्थूल होते हुए भी वे परस्पर सापेक्ष और एक दूसरे के पूरक थे।

आचार्यश्री ने ज्ञानवर्धन, साहित्य-सर्जन, व्यवस्थाओं के पुनर्निरीक्षण और उत्साह के नवीनीकरण आदि रूपों में अपनी योजना को आगे बढाया, तो महासभा ने साहित्य प्रकाशन, समाज के हर व्यक्ति से सम्पर्क स्थापन, भिक्षुस्मृति ग्रन्थ के निर्माण व प्रकाशन और द्विशताब्दी समारोह के आयोजन आदि रूपों में। इसी पूर्व-भूमिका के आधार पर तेरापन्थ-द्विशताब्दी के समग्र कार्यों की आधारशिला रखी गई थी।

वातावरण का निर्माण

आचार्यश्री औरंगाबाद (महाराष्ट्र) में थे। वहाँ ५ अप्रैल १९५६ के दिन महावीर-जयन्ती के पुनीत अवसर पर वे जन-सभा को सम्बोधित कर रहे थे। अपने उस वक्तव्य में उन्होंने ये विचार व्यक्त किए कि सं० २०१७ की आषाढ पूर्णिमा (आठ जुलाई १९६०) को तेरापन्थ के उद्भव को दो सौ वर्ष पूरे हो जाएगे। उस अवसर पर क्रांतद्रष्टा आचार्यश्री भीखणजी के चरणों में आध्यात्मिक श्रद्धांजलि अर्पित करने की तैयारी करनी चाहिए। आचार्यश्री की उसी सात्विक प्रेरणा ने जन-साधारण में एक नव-चेतना का वातावरण उत्पन्न कर दिया।

कार्य-संकल्प

आचार्यश्री ने उक्त अवसर के उपलक्ष्य में स्वामी भीखणजी के समग्र साहित्य को सुव्यवस्थित रूप से संकलित करने तथा जैनागमों के पाठशोधन और उसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने का संकल्प किया।

श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा (कलकत्ता), जो समस्त तेरापन्थी समाज का प्रतिनिधित्व करने वाली अखिल भारतीय संस्था है—ने द्विशताब्दी-समारोह को व्यापक व विराट् रूप में समायोजित करने का निर्णय लिया। महासभा के अध्यक्ष श्री नेमीचन्दजी गधैया और मन्त्री श्री मोहनलालजी बांठिया आदि अन्य सभी पदाधिकारी तथा सदस्यगण उत्साह सहित उस कार्य को आगे बढ़ाने में लग गये।

व्यवस्था-उपसमिति

दिनांक २१ अगस्त १९५९ को महासभा द्वारा 'श्री तेरापन्थ-द्विशताब्दी-समारोह व्यवस्था उपसमिति' का गठन किया गया। उसके अध्यक्ष नेमीचन्दजी गधैया और संयोजक प्रभुदयालजी डाबड़ीवाला बनाये गये। विभागीय कार्यों का सुचारु रूप से परिचालन करने के लिए निम्नोक्त व्यक्तियों को उत्तर-दायित्व सौंपा गया।

(१) साहित्य विभाग— श्रीचन्दजी रामपुरिया, बी० ए० बी० एल० (सुजानगढ़)

(२) अर्थव्यवस्था— (१) गोपीचन्दजी चोपड़ा, बी० ए० बी० एल० (गंगाशहर)
(२) माणकचन्दजी सेठिया, (सुजानगढ़)

(३) प्रचार विभाग— संतोषचन्दजी बरड़िया, बी० ए० ऑनर्स (नोहर)

(४) अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क— (१) डालिमचन्दजी सेठिया, बार एट० लॉ० (सुजानगढ़)
(२) खींवकरणजी भूतोड़िया, बी० ए०, बी० एल० (सुजानगढ़)
(३) श्रीचन्दजी सेठिया बी० ए० (बीदासर)

(५) आन्तरिक संपर्क और संगठन—(१) नेमीचन्दजी गधैया, (सरदारशहर)
(२) जयचन्दलालजी कोठारी (लाडनूं)

(६) समारोह-व्यवस्था— जब्बरमलजी भंडारी, बी० ए० एल० एल० बी० एडवोकेट (जोधपुर)

(७) साहित्य-विक्रय— भंवरलालजी पुगलिया, बी० ए० (श्रीडूंगरगढ़)

(८) साहित्य-वितरण— (१) मोहनलालजी बांठिया बी० कॉम० (चूरू)
(२) कन्हैयालालजी दूगड़ (रतनगढ़)

स्थान-निर्धारण

द्विशताब्दी के विषय में प्रत्येक तेरापन्थी के मन में एक उत्साह था। विभिन्न भूमिकाओं के आधार पर विभिन्न चिन्तन चले। स्थान के विषय में कुछ व्यक्तियों का विचार था कि जिस व्यापक तथा विराट् पैमाने पर द्विशताब्दी मनाने का विचार किया जा रहा है, उसके लिए तो दिल्ली जैसा समग्र भारत का केन्द्र स्थान ही उपयुक्त हो सकता है। कुछ व्यक्तियों का विचार इससे भिन्न था। उनकी दृष्टि में ऐसे समारोह के लिए तेरापन्थ का ही कोई केन्द्र स्थान उपयुक्त हो सकता था। थली, मारवाड़ और मेवाड़ के लोग अपने-अपने तर्क प्रस्तुत

करते हुए आचार्यश्री के सम्मुख अपनी प्रार्थनाएं रखने लगे। सभी की प्रार्थनाओं में अपनी अपनी वास्तविकताए थीं। थली तेरापन्थ की जन-शक्ति का केन्द्र-स्थल है, मारवाड़ स्वामी भीखणजी का जन्मस्थल और निर्वाण-स्थल है तथा मेवाड़ को तेरापन्थ की जन्मभूमि बनने का गौरव प्राप्त है।

मेवाड़ की जनता इस विषय में अत्यन्त भावना-प्रवण थी। उसका तर्क था कि जब तेरापन्थ के उद्‌भव के आधार पर ही द्विशताब्दी मनाई जा रही है, तो वह उसके उद्‌भवस्थल पर ही मनाई जानी चाहिए। मेवाड़-वासियों का यह तर्क बहुत बलवान् था। उन लोगो ने 'मेवाड़ जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी कान्फ्रेंस' की विशेष बैठक बुलाई और उसमें आवश्यक सभी बातो पर विस्तार से विचार-विमर्श किया। तदनन्तर उन सबने बडी प्रबलता के साथ अपनी सामूहिक प्रार्थना आचार्यश्री के सम्मुख रखनी प्रारम्भ की।

कानपुर चातुर्मास संपन्न करने के पश्चात् आचार्यप्रवर उत्तर प्रदेश तथा बिहार की ऐतिहासिक पद-यात्रा सम्पन्न करते हुए बंगाल पधारे। वि० सं० २०१५ का मर्यादामहोत्सव सैंथिया मे किया। वहाँ विभिन्न स्थानो से आये हुए प्रार्थियों ने द्विशताब्दी-समारोह के लिए अपने-अपने नगरो की ओर से प्रार्थना की। सबकी प्रार्थनाएं सुन लेने के पश्चात् आचार्यश्री ने मेवाड़-वासियो की प्रार्थना स्वीकार करते हुए यह घोषणा की कि द्विशताब्दी-समारोह का मुख्य आयोजन आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन मेवाड में किया जायगा। मेवाड़-वासी इस घोषणा से आनन्द-विभोर हो गये।

अधिकार के साथ उत्तरदायित्व बढता ही है। मेवाड़-वासियों पर उपर्युक्त घोषणा के कारण अनेक उत्तरदायित्व आ गये। समारोह की आध्यात्मिक सीमाओं के विषय में तो वे पूर्णतः निश्चित थे, क्योंकि उनकी चिन्ता करने का अधिकार स्वय आचार्यश्री को ही था, परन्तु उसके अतिरिक्त बाह्य व्यवस्था सम्बन्धी जितने भी कार्य थे, उन सबके लिए उन्हें अपनी तैयारी करनी थी। तैयारी करने में सबसे बड़ी बाधा यह थी कि आचार्यश्री जबतक मेवाड में किसी एक स्थान-विशेष की घोषणा नही करते, तबतक वे कोई भी तैयारी करें तो कहाँ के लिए करें? आवश्यकताओ का अनुमान भी लगाएँ तो कैसे लगाएँ?

आचार्यश्री उनकी उस आवश्यकता से परिचित थे, परन्तु वे चाहते थे कि स्वयं मेवाड निवासी ही अपनी सम्मति दें कि वे कौन से स्थान को सर्वाधिक उपयोगी समझते है। एतदर्थ चिन्तन तथा निरीक्षण हुआ। उसमें स्थानीय व्यक्तियों के साथ महासभा का भी योगदान रहा। निष्कर्ष स्वरूप केलवा, राजसमद, आमेट तथा उदयपुर—इन चार स्थानो की पृथक्-पृथक् सुविधाएँ तथा असुविधाए आचार्यश्री के सम्मुख रखी गई और प्रार्थना की गई कि अब आप जहाँ भी उचित समझें, वहाँ के लिए चातुर्मासिक प्रवास की घोषणा करने की कृपा करें। आचार्यश्री ने सब बातों को ध्यान में रखते हुए स० २०१६ के मर्यादा-महोत्सव पर

हांसी में यह घोषणा की कि आषाढ़-पूर्णिमा का मुख्य आयोजन केलवा में मनाया जाएगा एवं चातुर्मास राजसमन्द क्षेत्र में किया जायगा।

स्वागत-समिति

स्थान-निर्धारण होने के साथ ही कार्य ने गति पकड़ ली। मेवाड़-वासियों ने महासभा के साथ पहले से ही यह तय कर लिया था कि समारोह का भार तेरापन्थी महासभा भले ही वहन करे, परन्तु स्थानीय व्यवस्था का सारा भार मेवाड़ ही वहन करेगा। तदनुसार आगतुक जनता की व्यवस्था और स्वागत उन्हीं लोगों को करना था। उन्होंने इसके लिए ३१ सदस्यों की एक स्वागत-समिति का गठन किया। उसमें स्वागताध्यक्ष हीरालालजी कोठारी को और स्वागत मन्त्री देवेन्द्रकुमारजी कर्णावट को बनाया गया। अन्य कार्यों के लिए भी पृथक्-पृथक् विभागीय मन्त्रियों का निर्वाचन कर कार्य प्रारम्भ कर दिया गया।

अभिनिष्क्रमण-समारोह

द्विशताब्दी के अवसर पर मेवाड़ पहुँच जाने के लिए जब आचार्यश्री कलकत्ता से विहार कर यली में पहुँच गये, तब वहाँ बगड़ी (सज्जनपुर) के कुछ बन्धु आचार्यश्री के दर्शनार्थ आये। वे चाहते थे कि द्विशताब्दी मनाने के लिए मेवाड़ पदार्पण से पूर्व बगडी में अभिनिष्क्रमण-समारोह मनाया जाए। तेरापन्थ की स्थापना का मूल स्वामीजी के अभिनिष्क्रमण में समाया हुआ है। बगड़ी आचार्य भिक्षु का अभिनिष्क्रमण-स्थल है। वहीं से उन्होंने अन्त में श्रेयस् का पुनीत लक्ष्य लेकर असीम आत्मबल के साथ नव-जागरण का शंख फूँका था। दो सौ वर्ष पूर्व जिस चैत्र शुक्ला नवमी को उन्होंने संप्रदाय-विशेष का परित्याग कर अभि-निष्क्रमण किया था, वह नवमी का पुनीत दिन निकट ही था। बगड़ीनिवासियों की प्रार्थना थी कि उस ऐतिहासिक दिवस पर आचार्यश्री के सान्निध्य में अभिनिष्क्रमण-वेला की स्मृति की जाए। यद्यपि समय बहुत कम रह गया था, फिर भी उन लोगों की भक्ति-संभृत प्रार्थना को आचार्यश्री ने स्वीकार कर लिया।

आचार्यश्री विहार करते हुए बगड़ी पधारे। वि० सं० २०१७ चैत्र शुक्ला नवमी (५ अप्रैल १९५९) को वहां अभिनिष्क्रमण-समारोह मनाया गया। जहाँ आचार्य भिक्षु ने अभि-निष्क्रमण के पश्चात् स्थानाभाव के कारण अपना प्रथम निवास किया था, उसी जैतसिंहजी की छत्री के सामने की भूमि पर सहस्रों व्यक्ति उन्हें श्रद्धांजलि अर्पित करने को एकत्रित हुए। यह वही गाँव था, जहाँ अपने स्वामियों के कथन पर सेवक ने यह ढिंढोरा पीटा था· 'भीखणजी को स्थान देगा, उसे श्रीसंघ की आण है' आज उसी गाँव में उनके गुणोत्कीर्त्तन के लिए राजस्थान के मुख्यमन्त्री मोहनलालजी सुखाड़िया, वित्तमन्त्री हरिभाऊजी उपाध्याय, विधान सभा के अध्यक्ष आचार्य निरंजननाथजी आदि लोकनेता उपस्थित हुए थे। उपर्युक्त समारोह को द्विशताब्दी-समारोह का उपोद्घात कहा जा सकता है।

उस समारोह की स्मृति में छत्री के सम्मुख एक स्मृतिस्तम्भ का निर्माण कराया गया। वही पास में एक शिला-पट्ट भी लगवाया गया, जिस पर आचार्य भिक्षु का जीवन-वृत्त उत्कीर्ण था। उस अवसर पर वहाँ एक कला-प्रदर्शनी भी लगाई गई। उसमें स्वामीजी के तत्त्व-दर्शन के आधार पर बनाये गये चित्र-पटों का प्रदर्शन किया गया था। उस समग्र तैयारी में स्वागताध्यक्ष श्री कुन्दनमलजी सेठिया (बगडी निवासी) तथा मोतीलालजी राका आदि उत्साही व्यक्तियो का श्रम बोल रहा था।

उक्त अवसर पर बगड़ी में भारत-कलानिकेतन ब्यावर के कलाकारो द्वारा रात्रिकाल में 'अणुव्रत अभियान' नामक एक नाटक का भी प्रदर्शन किया गया। वह नाटक राजस्थान विधानसभा के तत्कालीन उपाध्यक्ष श्री निरजननाथजी आचार्य द्वारा लिखा गया था।

चबूतरे का उद्धार

अभिनिष्क्रमण-समारोह के अनन्तर आचार्यश्री सिरियारी पधारे। वहाँ २१ अप्रैल को 'आचार्य भिक्षु-स्मृति दिवस' मनाया गया। सिरियारी स्वामीजी का निर्वाण-स्थान है। वि० स० १८६० भाद्रपद शुक्ला त्रयोदशी को वहाँ उन्होंने आमरण अनशनपूर्वक देह-त्याग किया था। जहाँ स्वामीजी के शरीर का दाह-सस्कार किया गया था, वहाँ पर स्मृति-स्वरूप एक चबूतरा बनाया हुआ था, परन्तु डेढ सौ वर्षो के लम्बे काल मे सिरियारी मे अनेक परिवर्तन आ चुके थे, वहाँ के अनेक घर व्यापारार्थ दक्षिण में जा बसे थे, फलस्वरूप स्वामीजी के दाह-संस्कार के स्थान पर बना हुआ चबूतरा विस्मृति के गर्भ में चला गया। द्विशताब्दी के अवसर पर कुछ उत्साही युवकों का ध्यान उस ओर गया। उनमें सपतकुमार गधैया, (सरदार-शहर), मन्नालाल बरडिया (सरदारशहर), रामचन्द्र सोनी (सोजतरोड़) आदि प्रमुख थे। उन्होने उस चबूतरे को खोज निकालने में बड़ा परिश्रम किया और अन्त में सफल हुए। स्वामीजी के उस स्मृति-चिह्न का उद्धार करने हेतु सिरियारी के कुवर साहब श्री गुलाबसिंहजी तथा सुप्रसिद्ध स्थानीय श्रावक श्री बस्तीमलजी छाजेड आदि ने विशेष उत्साह से भाग लिया।

प्राचीन चबूतरे के स्थान पर एक नया सगमरमर का चबूतरा बनवाया गया। उसके चारों ओर स्वामीजी के बहुमुखी व्यक्तित्व की झाँकी देने वाले विभिन्न १३ शिलालेख उत्कीर्ण कर लगवाये गये—इनमें एक शिक्षा-लेख चबूतरे के ऊपर लगवाया गया, उस पर लिखा है 'हे प्रभो यह तेरा पन्थ।' शेष १२ शिलालेख चबूतरे की चारो दीवारो पर तीन-तीन करके लगाये गये है। उनमे स्वामीजी के दया, दान और धर्म सम्बन्धी पद्य, उनकी कृतियों के नाम, उनके चातुर्मास, उनका अन्तिम सन्देश आदि उत्कीर्ण हैं। एक शिलालेख में स्वामीजी की जन्मकुण्डली तथा उनके शरीर के चिन्ह आदि बतलाये गये है। एक में राज-स्थान का मानचित्र देकर उनके पदार्पण के स्थानो को अकित किया गया है। चबूतरे के चारों ओर की जमीन प्राप्त कर चहारदीवारी द्वारा उसकी सुरक्षा का भी प्रबन्ध किया गया है।

कंटालिया में

कटालिया स्वामी भीषणजी की जन्मभूमि रहा है, अत. उनकी स्मृति के सदर्भ में उसका अपना महत्त्व है। २२ अप्रैल को वहाँ भी 'भिक्षु स्मृति दिवस' मनाया गया। स्वामीजी का जन्म जिस मकान में हुआ था, वहाँ एक शिलालेख लगवाया गया। इस प्रकार द्विशताब्दी-समारोह से पूर्व मारवाड में अनेको ऐतिहासिक स्थानो में आचार्यश्री का पदार्पण हुआ।

बोधिनगर

द्विशताब्दी-समारोह के अवसर पर बहुत बड़ी संख्या में जनता के आगमन की सम्भावना थी, अतः मेवाड़निवासियों ने समग्र मेवाड़ की ओर से ही उसकी व्यवस्था करने का निश्चय किया। इतना ही नही अपितु केलवा में मनाये जाने वाले आषाढ पूर्णिमा के मुख्य समारोह और राजसमद-चातुर्मास की सारी व्यवस्था सामूहिक ही रखी गई। वह चातुर्मास राजनगर का न होकर राजसमद का था। दूसरे शब्दों में वह सारे मेवाड़ का था। वहाँ की व्यवस्था में सारा मेवाड सम्मिलित रूप से लगा था।

जनागमन को देखते हुए राजनगर में मकानों की उपलब्धि दुष्कर ही नहीं असम्भव थी, अत अस्थायी रूप से एक नगर-निर्माण की बात सोची गई। राजनगर में स्वामी भीखणजी को बोधि प्राप्त हुई थी। अतः उसकी स्मृति में नव निर्मित नगर का नाम बोधिनगर रखने का निर्णय किया गया। नगर-निर्माण के लिए राजस्थान-सरकार ने टीन देने स्वीकार किये थे, वे यथासमय वहाँ पहुँच गये और उनसे एक सुव्यवस्थित नगर की रचना की गई। उसमें सफाई, बिजली और सुरक्षा आदि की भी समुचित व्यवस्था थी। ११ जून को राजस्थान के मुख्य मन्त्री श्रीमोहनलाल सुखाड़िया द्वारा उसका उद्घाटन किया गया। आषाढ पूर्णिमा तथा चातुर्मासिक काल में सेवा-निमित्त आने वाले सहस्रो यात्रियो ने उस नगर का लाभ उठाया।

केलवा में

द्विशताब्दी-समारोह को दो चरणों में मनाये जाने का निश्चय किया गया था। प्रथम चरण आषाढ़ पूर्णिमा के दिन केलवा में और द्वितीय चरण चातुर्मासिक काल में राजसमद में। मुख्य समारोह प्रथम चरण का ही था, अतः जनता का आगमन उसी अवसर पर अधिक होने वाला था। चातुर्मास-प्रवास के लिए राजसमंद (राजनगर) में पधार जाने के पश्चात् आचार्यदेव द्विशताब्दी-समारोह के प्रथम चरण के अवसर पर कुछ दिनो के लिए अस्थायी रूप से केलवा पधारे। ज्यो-ज्यों आषाढ पूर्णिमा निकट आती गई, त्यो-त्यो जनता की भीड बढती गई। केलवा उन दिनो जन-समुद्र-सा बना हुआ था। मकान, चबूतरे, गलियां और बाजार सब कुछ जनाकीर्ण हो रहा था।

द्विशताब्दी का प्रथम चरण

आषाढ पूर्णिमा का दिन आया। समारोह की तैयारियाँ पूर्ण हो चुकी थी। केलवा से बाहर थोडी दूर पर पहाडी टीलो से घिरे देवतलाई नामक स्थान पर विशाल पडाल बनाया गया।

वहाँ तक पहुँचने के लिए श्रमदान के द्वारा मार्ग निर्माण हुआ। लगभग चालीस सहस्र व्यक्ति उस अवसर पर वहाँ सम्मिलित हुए। व्यवस्थापको द्वारा व्यवस्था-हेतु लिखे गये विवरण के अनुसार वे ५५० गावो से आये थे।

आचार्यश्री पडाल में पधारने से पूर्व अधेरी ओरी वाले मन्दिर में पधारे। वह तेरापन्थ की स्थापना का मूल स्थान था। स्वामी भीखणजी की भावदीक्षा और प्रथम चातुर्मास का आश्रय-स्थल होने के कारण समग्र तेरापन्थियो के लिए वह एक तीर्थ-भूमि के समान बना हुआ है। दो सौ वर्ष पूर्व की उस सारी घटनावलि के केन्द्रस्थल पर पधार कर आचार्यश्री ने स्वामीजी के निष्ठाशील कर्तृत्व का स्मरण किया, उन्हें श्रद्धाजलि समर्पित की और वहाँ से सीधे देवतलाई के पडाल में पधार गये।

नीचे धरती जन-सकुल थी और ऊपर आकाश मेघ-सकुल। एक में अमृतमयी श्रद्धा भरी थी, तो दूसरे में अमृतमय पानी। दोनो बरसकर बह उठने को आतुर थे। दोनों में एक प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता थी। श्रद्धा तेज निकली। वह पहले बही और पानी बाद में। पानी पहले बहा होता तो निस्सन्देह समारोह में विघ्न उपस्थित हो जाता। पर ऐसा हो कैसे सकता था? श्रद्धाबल ऐसा होने नहीं देता था। सचमुच ही मामूली बूदा-बांदी के अतिरिक्त वृष्टि ठहरी रही और समारोह में निर्विघ्नता बनी रही।

उद्घाटन भाषण

भारत के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री बी० पी० सिन्हा ने समारोह का उद्घाटन करते हुए कहा—"तेरापन्थ के प्रवर्त्तक आदरणीय आचार्यश्री भिक्षु एक सत्यशोधक महापुरुष थे। सत्य की खोज में वे गालियो को पुष्पार्चा मानकर चले और अभिशापो को वरदान। उनके मार्ग में पग-पग पर दुविधाएँ थी, पर उन्होने अपने साहस, धैर्य और गांभीर्य से उन सबको पार किया। वे आध्यात्मिक संपदा के अभिलाषी थे, आधिभौतिक संपदा के नही। उनका यह मन्तव्य मुझे बहुत ही अच्छा लगा कि हिंसा में यदि धर्म हो तो जलमन्थन से घृत निकल आये। वे व्यापक अहिंसा के उपासक थे। उन्होंने उपासना में और सिद्धान्त में अहिंसा को खडित नही होने दिया। बहुत बार लोग अहिंसा को तोड़मरोड़ कर परिस्थितियों के साथ उसकी संगति बैठाते हैं, पर यह ठीक नहीं। अहिंसा एक शाश्वत सिद्धान्त और आदर्श है, यदि हम उस तक नहीं पहुच पा रहे हैं तो हमें अपनी दुर्बलता को समझना चाहिये। हिंसा और अहिंसा का कोई तादात्म्य नही हो सकता। आचार्य भिक्षु का यह कथन बहुत यथार्थ है कि पूर्व और पश्चिम की ओर जाने वाले दो मार्गों की तरह हिंसा और अहिंसा कभी मिल नहीं सकती।

"तेरापथ-द्विशताब्दी के अवसर पर हम उन्हें जितनी श्रद्धांजलियां दें, स्वल्प हैं। भारत वर्ष सदा उनके प्रति कृतज्ञ रहेगा कि उन्होंने तेरापन्थ के रूप में आध्यात्मिक प्रेरणा का एक धर्म-स्तूप खड़ा कर दिया है, जिसके अणुव्रतो की ज्योति आज सारे देश में जगमगा रही है।"

मुख्य मन्त्री का भाषण

राजस्थान के मुख्य मन्त्री श्री मोहनलाल सुखाडिया ने मेवाड़ को द्विशताब्दी-समारोह का अवसर प्रदान करने पर आचार्य श्री का अभार मानते हुए अपने भाषण में कहा —"आज द्विशताब्दी के इस पुनीत अवसर पर सबको आत्मनिरीक्षण करना है कि अहिंसा और अपरिग्रह हमारे जीवन में कितने व्यापक बन पाये है। अहिंसा-धर्म जीवन का अग है। भारत ने जो सदेश विश्व भर को दिया था, आज उसी सदेश को आचार्यश्री दूर-दूर तक फैला रहे हैं।"

आचार्यश्री का भाषण

उस पुण्य प्रसङ्ग पर आचार्यश्री भिक्षु को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए आचार्यश्री तुलसी ने कहा—"आषाढ पूर्णिमा का दिन तेरापन्थ के इतिहास में गौरवपूर्ण दिन है। आज के दिन ठीक दो सौ वर्ष पूर्व महामहिम आचार्य भिक्षु ने दीक्षा स्वीकार की थी, तेरापन्थ का उदय हुआ था, अनुशासन, संगठन और व्यवस्था का बीज-वपन हुआ था तथा धर्म-क्रांति का शंख फूका गया था। दो शताब्दियाँ पूर्ण हुई। हमारा धर्म-शासन अपनी समृद्ध परम्पराओं व व्यवस्थित प्रणालियों के साथ तीसरे शतक के पहले चरण का स्पर्श कर रहा है। आज हम हर्ष विभोर हैं, जितने हर्ष-विभोर है उतने ही गंभीर भी है। हम हर्ष-विभोर इसलिए हैं कि समय की इस अवधि में हमें जो मिला है, वह साधारण नहीं है, यत्र तत्र सुलभ नहीं है। दायित्व का चिंतन करते समय हम गभीर हो जाते हैं, हमने जो दायित्व ओढ़ा है, उसका सम्यक् पालन हो, इसलिए हम गम्भीर हैं।"

उक्त अवसर पर आचार्यश्री ने भूतकाल में सघ-सेवा के लिये अपने आप को खपा देने वाले मुनिवर्ग तथा श्रावक-वर्ग के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की, वर्तमान को उज्ज्वल तथा सामर्थ्यशील बनाये रखने का सकल्प व्यक्त किया और भविष्य के लिये नव-नव उन्मेषो द्वारा सघ को समृद्ध बनाने की ओर सकेत किया। उन्होंने साधु-साध्वियो को सम्बोधित करते हुए उनसे पाँच अपेक्षाए की—

(१) आज्ञा का जो सर्वोपरि स्थान है, उसे बनाये रखना है। 'जिन-शासन में आज्ञा बड़ी है' आचार्य भिक्षु की इस वाणी को तुम कभी मत भूलो।

(२) हमारा सम्बन्ध आचार का है। अनाचार को कभी प्रोत्साहन मत दो।

(३) सबसे परस्पर प्रेम रखो।

(४) गण के प्रति अत्यंत निष्ठावान् रहो। कठिन परिस्थिति में भी उससे दूर होने की मत सोचो।

(५) सेवाभाव, कष्ट-सहिष्णुता, दृढ विश्वास आदि जो विशिष्ट परम्पराएं पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त है, उन्हें विकसित करो।

साहित्य-समर्पण

द्विशताब्दी के शुभ प्रसङ्ग पर विभिन्न संस्थाओ द्वारा प्रकाशित साहित्य भी आचार्यश्री को भेंट किया गया। आदर्श-साहित्य-सघ द्वारा प्रकाशित साहित्य जयचन्दलालजी दफ्तरी ने और जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा द्वारा प्रकाशित साहित्य श्रीचंदजी रामपुरिया ने आचार्यश्री के चरणों में भेंट किया।

कलाकृति-समर्पण

उक्त अवसर पर चित्रकार सन्त दुलह और श्रमण सागर ने संयुक्त परिश्रम के द्वारा आचार्यश्री भिक्षु की जीवन-घटनाओं से सम्बन्धित ५१ चित्र निर्मित किये थे। सेवाभावी मुनिश्री चम्पालालजी ने समारोह के अवसर पर उन्हें आचार्यश्री के चरणो में भेंट किया। स्वामी भीखणजी की यह चित्रमय जीवन-झांकी ऐतिहासिक तथ्यो का आधार लेकर बनाई गई थी, अत. कहा जा सकता है कि यह अदृष्य भूतकाल को दृश्यता में उतारने का प्रयास था।

तेरह दीक्षाएं

प्रात· कालीन आयोजन की सम्पन्नता के पश्चात् आचार्यश्री तथा साधु-साध्वी वृन्द स्थान पर पधार गये थे, परन्तु अधिकांश जनता वहीं पंडाल में डटी रही। बीच-बीच में झर पड़ने वाली पानी की बौछार भी उन्हें वहाँ से डिगा न सकी। मध्यान्तरीय विश्राम के पश्चात् जब आचार्य श्री दीक्षा-समारोह सम्पन्न करने के लिए पुन. पडाल में पधारे, तब तक लगभग एक बजे का समय हो गया था। मानव-मेदिनी वहाँ पहले से ही जमी हुई थी। आचार्यश्री के पदार्पण के साथ ही वह और भी सघन हो गई। जब दीक्षार्थियो की शोभा-यात्रा आई, तब तक तो यह स्थिति हो चुकी थी कि पडाल में घुस पाने तक का अवकाश भी प्रायः नही रह गया था। सहस्रों मनुष्य पडाल से बाहर पार्श्ववर्ती पहाड़ी टीलों पर बैठे हुए थे।

तेरापन्थ की स्थापना के प्रथम दिन स्वामी भीखणजी आदि तेरह सन्त ही थे, अतः द्विशताब्दी के अवसर पर भी तेरह ही व्यक्तियों को दीक्षा के लिए चुना गया। उनमें तीन भाई तथा दस बहिनें थी। यथासमय आचार्यश्री ने उन सबको शास्त्र-विधि के अनुसार दीक्षित किया।

उसी दिन तेरह क्षत्रियों ने भी आचार्यश्री के पास सम्यक् श्रद्धा ग्रहण की और अपने जीवन को सादा तथा सदाचारयुक्त बनाने के लिए कुछ प्रतिज्ञायें लीं। इनमें राजसमन्द पचायत समिति के प्रधान केप्टन दौलतसिंहजी आदि प्रमुख थे। आगे चलकर यह सख्या सोलह हो गई थी।

राजसमंद में

गुरु-पूर्णिमा का मुख्य कार्यक्रम सानन्द सम्पन्न होने के पश्चात् उसी दिन सायं विहार करके आचार्य श्री राजसमद [राजनगर] पधार गये। उस दिन प्रायः सभी ने उपवास किया

था, अतः सभी भोजन की चिंता से दूर थे। कुछ व्यक्ति पैदल चलते हुए आचार्यदेव के साथ-साथ तथा कुछ उन दिनो के लिये विशेषरूप से चलाई गई बसों आदि द्वारा राजनगर पहुच गये। आचार्यश्री का चातुर्मासिक प्रवास महाराणा हाई स्कूल में हुआ। वह स्थान नव निर्मित बोधिनगर तथा राजनगर की सघन बस्ती के लगभग मध्य में था, अतः प्रायः सभी के लिये सुविधाजनक था।

अवशिष्ट कार्यक्रम

प्रथम चरण के अवशिष्ट कार्यक्रम राजनगर में दो दिन तक और चलते रहे। विभिन्न विषयों पर विभिन्न विद्वानों के भाषण हुए। उनके अतिरिक्त भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद, उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन्, प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू आदि देश के मान्य नेताओं, जगद्गुरु रामानुजाचार्य, स्वामी राघवाचार्य आदि धर्म-गुरुओं, भारत स्थित अनेक विदेशी राजदूतों तथा विभिन्न विद्वानो और समाज-सेवियो के उक्त अवसर पर जो संदेश प्राप्त हुए थे, वे पढकर सुनाये गये।

सक्रिय श्रद्धांजलि

स्वामीजी को सक्रिय श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिये देश के विभिन्न स्थानो के व्यक्तियों ने विभिन्न त्याग और तपस्या ग्रहण की थी। उन सबका विवरण यहाँ दे पाना सहज नहीं है। राजनगर में आचार्यश्री के सम्मुख जिन व्यक्तियों ने त्याग-तपस्यामूलक विशिष्ट श्रद्धांजलि अर्पित की थी, उनमें से कुछ नाम यहाँ दिये जा रहे है। सर्व प्रथम १३ दम्पतियो ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया। आगे वह संख्या २५ हो गई। इसके अतिरिक्त अनेक व्यक्तियों ने तपस्या का सकल्प भी किया, उनमें से अपेक्षाकृत बड़ी तपस्याएँ स्वीकार करने वाले १३ साधु-साध्वियो के नाम तथा इनकी तपस्या का विवरण निम्नोक्त है :—

(१)	साध्वी श्री भूरांजी	महाभद्रोत्तर तप
(२)	,, ,, तनसुखांजी	प्रतर तप
(३)	,, ,, भत्तूजी	सार्ध चातुर्मासिक तप (१३५ दिन)
(४)	,, ,, इन्द्रूजी	चातुर्मासिक तप (१२० दिन)
(५)	,, ,, पन्नाजी	चातुर्मासिक तप (१२० दिन)
(६)	,, ,, अणचांजी	मासिक तप (३० दिन)
(७)	,, ,, छोटांजी	मासिक तप (३० दिन)
(८)	,, ,, पिस्तांजी	पाक्षिक तप (१५ दिन)
(९)	,, ,, पन्नांजी	पाक्षिक तप (१५ दिन)
(१०)	,, ,, सुजाणांजी	एक वर्ष एकान्तर
(११)	मुनि श्री अर्जुनलालजी	२१ दिन
(१२)	,, ,, गुलाबचन्दजी	१३ दिन
(१३)	,, ,, सपतमलजी	१३ दिन

नया मोड़

द्विशताब्दी के अवसर पर आचार्यश्री समग्र समाज को एक नया मोड़ देना चाहते थे। मेवाड़ की अनेक सामाजिक रूढियों में तो वे तत्काल ही परिवर्तन चाहते थे। उन्होंने समाज के सम्मुख कुछ नियम रखे, जो कि बाद में 'नया मोड' नाम से प्रचलित हुए। मेवाड-वासियो द्वारा सामाजिक स्तर पर उन पर विचार किया गया। उनमें से कुछ नियम उसी समय समाज-मान्य हो गये, कुछ धीरे-धीरे वातावरण बनने के पश्चात् मान्य हुए। मेवाड के बहुत से गाँवो में काफी परिवर्तन आया। जहाँ परिवर्तन नही आ पाया, वहाँ भी एक विचार-क्षेत्र तो बना ही। इस कार्य में जितना समय और श्रम अपेक्षित है, उतना लग पाने पर प्रभूतफल की आशा की जा सकती है।

द्वितीय चरण

द्विशताब्दी-समारोह का द्वितीय चरण साप्ताहिक कार्यक्रम के रूप में २५ सितम्बर से प्रारम्भ हुआ। सुप्रसिद्ध सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाशनारायण ने उसका उद्घाटन किया। उसके पश्चात् दो दिन तक दर्शन-परिषद, दो दिन तक साहित्य-परिषद् और दो दिन तक शिक्षा-परिषद् का कार्यक्रम चला। देश के मान्य दार्शनिकों, साहित्यिकों तथा शिक्षा-शास्त्रियों ने उनमें भाग लिया।

तीन घोषणाएं

उक्त अवसर पर आचार्यश्री ने श्रमणसघ के लिये शिक्षा, साधना और गाथा-प्रणाली के विषय में तीन महत्वपूर्ण घोषणाएं की।

(१) प्रथम घोषणा तेरापन्थ में दीक्षित व्यक्तियो के लिये अनिवार्य शिक्षा की थी। उसके अनुसार साधारण क्षमता वालों को सैद्धान्तिक शिक्षा-क्रम का और विशिष्ट क्षमता वालो को आध्यात्मिक शिक्षाक्रम का, जो क्रमशः तीन और सात वर्ष का पाठ्यक्रम है, पढना होगा। आध्यात्मिक शिक्षाक्रम के अन्तर्गत योग्य, योग्यतर और योग्यतम—ये तीन परीक्षाएं हैं। भावी अग्रणी के लिये न्यूनतम योग्यता आध्यात्मिक शिक्षाक्रम की योग्य परीक्षा और सैद्धान्तिक शिक्षा-क्रम की पूर्ण परीक्षा तक होनी आवश्यक होगी।

(२) द्वितीय घोषणा साधना-विकास के लिए थी। उसके अनुसार श्रमण-वर्ग के लिये आसन, प्राणायाम, सेवा, विनय आदि का नैरन्तरिक अभ्यास करने की प्रेरणा तथा व्यवस्था थी

(३) तीसरी घोषणा गाथा-प्रणाली के विषय में थी। उसके अनुसार गाथाओं का पुनर्मूल्यन तथा साधुओं के समान साध्वियों में भी उसके प्रयोग की व्यवस्था करने का निश्चय किया गया।

कलात्मक प्रदर्शनियाँ

उस अवसर पर कई प्रदर्शनियां भी लगाई गईं। प्रथम प्रदर्शनी तेरापन्थ के साधु-साध्वियों द्वारा निर्मित वस्तुओ की थी। उसका नाम था 'हस्तकला प्रगति-प्रदर्शनी'। २५ सितम्बर

को आचार्यश्री ने उसका उद्घाटन किया। उसे कलापूर्ण ढग से सभाने में सत दुलह और श्रमणसागर का विशेष श्रम रहा। वह प्रदर्शनी लगभग ८० फुट लम्बी थी। उसमें साहित्य विभाग, लिपि-विभाग, चित्रकला-विभाग, काष्ठकला-विभाग आदि अनेक विभाग थे। वह स्कूल के बाहरी भाग में लगाई गई थी।

दूसरी 'नैतिक विकास प्रदर्शनी' स्कूल के अन्दर चौकवाले भाग में लगाई गई थी। उसमें अणुव्रत आन्दोलन के पांच अणुव्रत, बुद्ध के पंचशील, ईसा के पांच कानून तथा वेद, कुरान आदि सभी धर्मों के समन्वय के आधार पर शिक्षात्मक चित्र और नैतिकता पर महापुरुषो के महत्वपूर्ण सदेशो के आलेखपट्ट संकलित थे। साथ-साथ सामाजिक कुरूढियों के दुष्परिणाम बतलाने वाले चित्र भी लगाये गये थे। यह प्रदर्शनी जालना निवासी श्री गणेशलाल बाफणा के अनवरत श्रम एवं लगन का परिणाम थी।

तीसरी प्रदर्शनी 'आचार्यश्री भिक्षु-तत्त्व-आलेख कक्ष' नाम से बाल-निकेतन में लगाई गई। उसका निर्माण कांठा-निवासी तेरापन्थी बन्धुओं ने—जो कि व्यापारार्थ दक्षिण के विभिन्न गांवों तथा नगरों में बसते हैं—बैंगलोर में करवाया। उसकी व्यवस्था में मुख्यत: धनराजजी सेठिया और मोतीलालजी रांका आदि का श्रम लगा था, जबकि उसकी सज्जा में दक्षिण के कलाकार श्री राजम् व कनकाचलम् का श्रम लगा था। उस कक्ष के प्रागैतिहासिक कालीन जैन-परम्परा के भावचित्रों का निर्माण दक्षिण भारत के प्रसिद्ध कलाकार श्री जयम् ने किया था। बाद में समाज द्वारा उनका सत्कार तथा वर्धापन किया गया।

वह प्रदर्शनी कई विभागो में विभक्त थी। उसके एक भाग में जैन परम्परा की प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक विभिन्न घटनाओं को अजंता की प्राचीन जैन शैली में चित्र रूप दिया गया था। इतिहास पर प्रकाश डालने वाले अनेक आलेख-पट्ट भी लगाये गये थे। दूसरे विभाग में आचार्य भिक्षु के जीवन की झांकियाँ तथा उनके द्वारा तत्त्व-विवेचन के समत प्रयुक्त विविध दृष्टान्तों पर आधारित चित्र आदि थे। एक अन्य भाग में आचार्यश्री तुलसी की पद-यात्राओं, जन-सम्पर्क, लोकोद्बोधन आदि से संबद्ध चित्र थे।

'आलेख कक्ष' की शोभा बढाने में अन्य दो संग्रहों का भी विशेष सहयोग रहा। उनमें एक संग्रह छापर निवासी मोहनलालजी दूधेड़िया का था। उसमें ताड-पत्र तथा कागजों पर लिखे विभिन्न काल के प्राचीन ग्रन्थ और पुरातत्त्व सम्बन्धी अन्य दुर्लभ सामग्रियो का बड़ा महत्त्वपूर्ण सकलन था। दूसरा संग्रह चूरू निवासी मंगलचन्दजी सेठिया का था। उसमें अणुव्रत आन्दोलन के प्रत्येक नियम पर कलात्मक विवेचन देने वाले भावचित्र थे। उन्होंने वे चित्र कलकत्ता व चूरू में तैयार करवाये थे। उपर्युक्त प्रदर्शनी का उद्घाटन राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया ने किया।

समारोह के सहयोगी

इस समारोह में तेरापन्थ के श्रावकगण का श्रम तो स्वाभाविक ही था, पर अन्य अनेक व्यक्तियों ने भी इसे सफल बनाने में बड़ा महत्त्वपूर्ण योग दिया था। राजस्थान-सरकार की ओर से आवश्यक सामग्री समय पर प्रदान करने तथा कार्य-सफलता में अभिरुचि लेने की बात बहुत ही महत्वपूर्ण कही जा सकती है। मांग करने पर कांकरोली स्टेशन पर अतिरिक्त डिब्बे देने तथा ट्रेनों के ठहरने के समय में वृद्धि करने में रेल्वे का सहयोग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। ऑल इंडिया रेडियो ने भी प्रथम-चरण की कार्यवाही को प्रसारित कर सहयोग की कड़ियों में एक कड़ी और जोड दी थी। देश के विभिन्न दैनिक, साप्ताहिक और पाक्षिक पत्रो ने भी उस समारोह को यथेष्ट महत्त्व देकर समाचार छापे थे। उस समय अनेक पत्रो में तेरापन्थ और आचार्यश्री के सम्बन्ध में अनेक अग्रलेख तथा विशिष्ट लेख भी प्रकाशित हुए थे।

तृतीय चरण

द्विशताब्दी-समारोह दो चरणों में सम्पन्न हो गया, परन्तु उनमें कम ही साधु-साध्वियाँ सम्मिलित हो सके। चातुर्मास-काल में सबका सम्मिलन सम्भव नहीं था। फलत: अवशिष्ट रहे कार्यो की सम्पन्नता के लिए उसका तृतीय चरण मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर आमेट मे मनाया गया। उसे समापन-समारोह भी कहा जा सकता है। उसमें श्रावक-समुदाय के अतिरिक्त विभिन्न प्रान्तों से समागत तेरापन्थ-सघ के ४८० साधु-साध्वियों ने भी भाग लिया।

द्विशताब्दी-समारोह के तीनों चरणो की अपनी पृथक्-पृथक् विशेषताएं थीं। प्रथम चरण तेरापन्थ की स्थापना के मुख्य दिन से सबद्ध था, अत· उसमें जनागमन, आयोजन, आत्म-निरीक्षण और श्रद्धांजलि-समर्पण की प्रधानता थी। द्वितीय चरण में तेरापन्थ समाज की भावी गतिविधियो के विषय मे चिन्तन और निर्धारण की मुख्यता थी। तृतीय चरण मुख्यत श्रमण-सघ की व्यवस्थाओ के पुनर्निरीक्षण और पुनर्व्यवस्थापन से सबद्ध था।

आचार्य भिक्षु-स्मृति-ग्रथ

द्विशताब्दी-समारोह के उपलक्ष्य में तेरापन्थी महासभा ने 'आचार्यश्री भिक्षु-स्मृति-ग्रथ' प्रकाशित करने का निर्णय किया। उसके अनुरूप सामग्री-सग्रह तथा प्रकाशन आदि के प्रबन्ध का भार कन्हैयालालजी दूगड (रतनगढ निवासी) को दिया गया। विविध सामग्री से परिपूर्ण वह ग्रन्थ लगभग आठ सौ पृष्ठों का है। वह तीन खण्डो में विभक्त है। प्रथम दो खण्डो में हिन्दी भाषा के लेख सकलित हैं, जबकि तृतीय खण्ड में अग्रेजी भाषा के। प्रथम खण्ड में स्वामी भीखणजी को समर्पित श्रद्धांजलियाँ तथा तेरापन्थ के इतिहास, मान्यता, साहित्य आदि विविध पहलुओ पर प्रकाश डालने वाली सामग्री है। द्वितीय खण्ड में जैन-इतिहास, साहित्य और सस्कृति विषयक सामग्री सकलित है। तृतीय खण्ड में जैनधर्म विषयक विविध सामग्री दी गई है।

सम्पादक-मण्डल

उक्त ग्रन्थ के सम्पादक-मण्डल में नौ सदस्य थे। कन्हैयालालजी दूगड़ ने प्रवन्ध-सम्पादक के रूप में कार्य किया। सम्पादक-मण्डल के सदस्यों के नाम इस प्रकार है :—

डा० सतकरि मुखर्जी	डा० नथमल टांटिया
डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	मोहनलाल वांठिया
डा० हीरालाल जैन	जयचन्दलाल कोठारी
प्रो० तान युन शान	शुभकरण दसाणी

भूमिका

उक्त ग्रन्थ की भूमिका राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने लिखी। वे लिखते हैं—"भारत-भूमि की यह विशेषता रही है, जब-जब जैसा आवश्यक हुआ, यहाँ महापुरुष उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने अपने समय में फैली हुई बुराइयों और विकारों से लोहा लिया, उनका उन्मूलन करने के लिये वे जीवन भर लड़े।

"श्री भिक्षु भी एक ऐसे ही महापुरुष थे। आत्म-साधना उनके जीवन का साध्य था। वे एक सन्त थे; जो आम जनता की भाषा में बहुत सरल शब्दों में तत्त्व की खरी बात कहा करते थे। वे कोई काव्य-सर्जन करना नहीं चाहते थे, पर जो कुछ उन्होंने कहा, वह साहित्य की एक बहुमूल्य निधि बन गया। अध्यात्म की जो बात उन्होंने कही, आज दो शताब्दियाँ बीत रही है, महत्त्व जरा भी कम नहीं हुआ ...

"इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा ने उस दिवंगत महापुरुष के जीवन-सत्य और जैन-दर्शन के नवनीत को जगत् के सामने रखने का सुन्दर प्रयास किया है। मैं इस प्रयास की सराहना करता हूँ और स्मृति-ग्रन्थ के विद्वान् लेखकों तथा सम्पादक-मंडल को बधाई देता हूँ।"

परिशिष्ट २

धवल-समारोह

सम्मान से अधिक मूल्यवान्

कोई भी महापुरुष जनहित का कार्य सम्मान या यश की प्राप्ति के लिए नहीं करता, फिर भी उसमें उन्हें वे अनायास ही प्राप्त होते रहते है। यद्यपि उनके कार्य का महत्त्व उस प्राप्त सम्मान की कसौटी से नही परखा जा सकता, उसका मूल्य तो उन सबसे बहुत अधिक होता है, फिर भी कभी-कभी किसी-किसी के लिए सम्मानो की गुरुता अथवा व्यापकता भी व्यक्ति की महत्ता को समझने में सहायक होती पायी गई है।

अखण्ड आशा

आचार्यश्री ने जन-हितार्थ अपना जीवन समर्पित किया है। उसमें उन्हें न सम्मानो की अपेक्षा रही है और न अभिनन्दनों की। फिर भी उन्हें जनसाधारण से अपरिमेय सम्मान मिला है। वे जहाँ भी गये हैं, प्राय: सर्वत्र उनके कार्यों को अभिनन्दनीय प्रशंसा प्राप्त हुई है। भारत के मनीषियो ने उन्हें बडी आशा-भरी दृष्टि से देखा है। नवनालन्दा महाविहार (पाली-इन्स्टीट्यूट) के डायरेक्टर डा० सतकरि मुखर्जी द्वारा इन्स्टीट्यूट की ओर से आचार्यश्री के अभिनन्दन में पठित पत्र के ये शब्द इस विषय में बडे ध्यान देने योग्य है। वे कहते है—"न तो पूर्वतन महापुरुषों का भारत-भूमि में अवतरण ही निष्फल हो सकता है और न यहाँ का अन्तिम परिणाम 'पतन'। इसमें प्रमाण है—आप जैसे व्यक्तियों का भारतभूमि में अवतरण।"[1]

'रजत' बनाम 'धवल'

आचार्यश्री का कार्यक्षेत्र इतना व्यापक है कि उसमें उनका व्यक्तित्व सम्प्रदायातीत-रूप में निखार पा चुका है। यद्यपि वे एक सम्प्रदाय के आचार्य हैं, फिर भी उनका आचार्यकाल सम्पूर्ण मानव-जाति के हित में खपता रहा है। जनता उनके चारो ओर घिरती रही है और वे उसके प्रेरणास्रोत बनते रहे है। इसी प्रक्रिया का फल था कि आचार्यश्री के आचार्यकाल के जब पच्चीस वर्ष सम्पन्न होने वाले थे, तब सार्वजनिक रूप से उनकी रजत-जयन्ती मनाने का विचार लोगो के मन में उठा।

१—नहि पूर्वतनानां महापुरुषाणां भारत-भूमौ जनन निष्फलं भवितुमर्हति। न वा विनिपात एव पार्यन्तिक परिणामो भवेत्। तत्र च प्रमाण भवादृशानां भारत-वसुन्धरायां क्रिया-समभिहारेणाविर्भावः।

—जैन भारती, २५ जनवरी १९५९

(१३) विविध

आचार्यश्री का जीवन विविधता के ताने-बाने से बना है। उसकी महत्ता घटनाओं में बिखरी पड़ी है। घटनाएँ भी इतनी कि समेटे नहीं सिमटतीं। आदि से ही विविधता उनके जीवन का प्रमुख-सूत्र बनकर रही है, इसीलिए उनके जीवन से सम्बन्धित घटनाओं के संकलन में भी उसकी अभिव्यक्ति हुई है।

मैं अवस्था में छोटा हूँ

मध्यान्ह में एक किसान आया और आचार्यश्री के पास बैठ गया। आचार्यश्री ने उससे बातचीत की, तो उसने बतलाया—"मैं खेत पर काम कर रहा था तब सुना कि गांव में एक बड़े महात्मा आये हैं। मैंने सोचा—चलूँ, कुछ सेवा-बन्दगी कर आऊँ। किसान ने आचार्यश्री के पैरों की ओर हाथ बढ़ाते हुए कहा—लाइये, थोड़ा-सा चरण दबादूँ।"

आचार्यश्री ने अपनी पलथी को और अधिक समेटते हुए कहा—"नहीं भाई! हम किसी से शारीरिक सेवा नहीं लेते।"

किसान ने कहा—"आप क्यों नहीं दबवाते। मैंने तो अनेक सन्तों के पैर दबाये हैं।"

आचार्यश्री ने कहा—"यह हमारा नियम है। दूसरी बात यह भी है कि मेरी अवस्था तुम्हारे से छोटी है। मैं तुम्हारे से पैर कैसे दबवा सकता हूँ। मेरे पैर दुखते भी नहीं। युवा हूँ, तब पैर दबवाऊँ ही क्यों?"

मध्यम मार्ग

बिहार में एक ग्राम के लोगों ने जब यह सुना कि आज प्रातः आचार्यश्री तुलसी पार्श्ववर्ती जी० टी० रोड से होकर गुजरेंगे, तो वे लोग काफी पहले से ही दूध के लोटे भर-भर कर वहाँ ले आये। काफी देर बाद देखने पर जब आचार्यश्री वहाँ पहुँचे, तो उन्होंने अपनी भेंट आचार्यश्री के सामने रखी। आचार्यश्री सामने लायी गई वस्तु न लेने के नियम से बंधे थे और वे लोग अपनी श्रद्धा की कृतार्थता चाहते थे।

अनेक बार समझाने पर भी जब वे नहीं माने, तो साथ में चलने वाले भाई दौलतरामजी ने एक बीच का मार्ग निकाल डाला। उन्होंने उन सबसे कहा कि जब महात्माजी का यह नियम है, तो तुम उनके पास चलने वाले भक्तों को ही यह दूध क्यों नहीं पिला देते? इतना दूध अकेला तो कोई पी नहीं सकता, सारी जमात को पिलाने के लिए ही तो लाये हो?

यह बात उनके दिमाग में बैठ गई और बड़ा आग्रह कर-करके उन्होंने लोगों को दूध पिलाया। उस मध्यम मार्ग ने आचार्यश्री का कुछ समय बचा दिया, नहीं तो उन्हें समझाने में काफी समय लगाना पड़ता।

फीस और पद

एक भाई ने आचार्यश्री से कहा—"ऐसे तो मेरी संतों में कोई विशेष श्रद्धा नहीं रहती, किन्तु इस बार कुछ ऐसी भावना जागी कि प्रतिदिन तीनों समय आता रहा हूँ। मझे आपके

यही हो सकता है कि आज तक के इतिहास में कोई भी ऐसी आदर्श पूजा उपलब्ध नहीं होती, जिसमें व्यक्ति को माध्यम नही बनाया गया हो। प्रत्येक आदर्श किसी-न-किसी की तपोभूमि में फलित होकर ही जनग्राह्य बना करता है। इसलिए आदर्श की ओर प्रेरित करने वाले किसी व्यक्ति को यदि हम श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, तो वह उपयुक्त ही है।

नवभारत टाइम्स के सम्पादक श्री अक्षयकुमार जैन इसी बात को यों कहते है—"सामान्यत: आज का युग व्यक्ति-पूजा का नही रहा है, पर आदर्शों की पूजा के लिए भी हमें व्यक्ति को ही खोजना पडता है। अहिंसा, सत्य व सयम की अर्चा के लिए अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्त्तक आचार्यश्री तुलसी यथार्थ प्रतीक है। वे अणुव्रतो की शिक्षा देते है और महाव्रतो पर स्वय चलते हैं।"[1]

सुप्रसिद्ध सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाश नारायण कहते है—"भारतवर्ष में सदा ही त्याग और संयम का अभिनन्दन होता रहा है। आचार्यश्री तुलसी स्वय अहिंसा व अपरिग्रह की भूमि पर हैं और समाज को भी वे इन आदर्शों की ओर मोडना चाहते हैं। सामान्यतया लोग सत्ता की पूजा किया करते हैं। इस प्रकार सेवा के क्षेत्र में चलने वाले लोगों का अभिनन्दन समाज करता रहा तो सत्ता और अर्थ जीवन पर हावी नही होंगे।"[2]

उपर्युक्त सभी उद्धरण मैंने इसलिए दिए है कि आचार्यश्री के अभिनन्दन को श्रद्धातिरेक से उनका शिष्य-वर्ग ही नहीं, अपितु समाज के विचारक व्यक्ति भी आदर्श पूजा का प्रतीक मानते हैं।

दो चरण

आचार्यश्री के जनोत्थानकारी कार्यों को श्रद्धाँजलि अर्पित करने का जब निश्चय किया गया, तब यह विचार सामने आया कि समारोह को दो चरणो में मनाया जाना चाहिए। प्रथम चरण भाद्रपद शुक्ला नवमी को मनाया जाए, जो कि आचार्यश्री के पदारोहण का मूल दिन है और दूसरा चरण शीतकाल में किसी निर्धारित दिन पर मनाया जाए, ताकि सुदूरवर्ती क्षेत्रों में विहार करने वाले अधिकांश मुनिजन भी उसमें सम्मिलित हो सकें। विचार-विमर्श के पश्चात् समारोह को दो चरणों में मनाने का निश्चय हुआ।

प्रथम चरण

धवल-समारोह का प्रथम चरण बीदासर में मनाया गया। उस अवसर पर सहस्रो की सख्या में जनता ने उपस्थित होकर आचार्यश्री का अभिनन्दन किया। उसके अतिरिक्त केन्द्रीय विद्युत्-उपमन्त्री श्री जयसुखलाल हाथी, बीकानेर महाराजा श्री करणीसिंह, पजाब के सिंचाई व विद्युत्-मन्त्री सरदार ज्ञानसिंह राड़ेवाला, उत्तरप्रदेश-विधान सभा के उपाध्यक्ष रामनारायण

1—आ० तु० अ० ग्रं०, प्रबन्ध सम्पादक की ओर से

2—आ० तु० अ० ग्रं०, सम्पादकीय

त्रिपाठी, उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व मन्त्री लक्ष्मीरमण आचार्य, सुप्रसिद्ध समाजसेवी डा० युद्धवीर सिंह, उपन्यास-लेखक कामरेड यशपाल तथा कवि रामनाथ 'सुमन' आदि ने भी उनके अभिनन्दन में प्रमुखरूप से भाग लिया।

द्वितीय चरण

धवल-समारोह का मुख्य आयोजन द्वितीय चरण में ही रखा गया था। उस अवसर पर जो स्वागत-समिति का गठन किया गया, उसमें राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री मोहनलाल सुखाड़िया स्वागताध्यक्ष थे। समारोह के लिए चोपड़ा हाईस्कूल के मैदान में पण्डाल बनाया गया। वह स्थान विशाल तो था ही, मौके पर भी था। बीकानेर के सान्निध्य तथा दोनों ओर सड़कों के कारण जनता के आवागमन के लिए भी काफी अनुकूल था। उपस्थित होने वाले विशाल जनसमूह की सुव्यवस्था के लिए वहाँ स्वयंसेवक-दल का प्रबन्ध किया गया था।

भूतपूर्व कांग्रेस अध्यक्ष श्री उ० न० ढेबर की अध्यक्षता में वह समारोह किया गया। तत्कालीन उपराष्ट्रपति (वर्तमान राष्ट्रपति) डा० राधाकृष्णन् आदि देश के अनेक गणमान्य नेता, साहित्यकार और पत्रकार उसमें सम्मिलित होने और आचार्यश्री को श्रद्धांजलि अर्पित करने को एकत्रित हुए। जनता की तो अपार भीड़ थी ही।

ग्रन्थ-समर्पण

आचार्यश्री को उसी समारोह में डा० राधाकृष्णन् द्वारा 'आचार्यश्री तुलसी-अभिनन्दन-ग्रन्थ' समर्पित किया जाना था। मंगलाचरण, स्वागत-भाषण आदि के पश्चात् अभिनन्दन-ग्रन्थ के सम्पादक-मण्डल की ओर से जननेता जयप्रकाश बाबू ने आचार्यश्री का अभिनन्दन करते हुए ग्रन्थ-समर्पण के लिए उपराष्ट्रपति को निवेदन किया। उन्होंने कहा—"आज हम सब आचार्यश्री के धवल-समारोह में सम्मिलित हुए हैं। इस अवसर पर आचार्यश्री को मानने वालों में मैं भी अपने आपको मानता हूं। मैंने अपना एक ही मत स्थिर किया है और वह है—मानव-धर्म। मुझे जहाँ-जहाँ मानवता के दर्शन हुए है, मैं वहाँ झुका हूं। आचार्यश्री में भी मैंने मानवता का साक्षात् रूप पाया है।... मैं सम्पादक-मण्डल की ओर से आचार्यश्री का धवल-अभिनन्दन करता हूँ और माननीय उपराष्ट्रपतिजी से निवेदन करता हूँ कि अब वे अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करें।"[1]

उपराष्ट्रपति ने ग्रन्थ भेंट करने से पूर्व अपने भाषण में कहा—"राजनीतिक नेताओं और राजे-रजवाड़ों को अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने की पुरानी परम्परा रही है, पर किसी राष्ट्र-संत का अभिनन्दन यह एक नया सूत्रपात है।...मैं अपने आपको सौभाग्यशाली मानता हूँ कि राष्ट्र-संत का अभिनन्दन मैं कर रहा हूँ......।"[2]

१—जैन भारती, १८ मार्च १९६२

२—जैन भारती, १८ मार्च १९६२

अपने भाषण की सम्पन्नता के पश्चात् उपराष्ट्रपति ने मच पर खडे होकर बड़े ही आदर और विनम्रभावों के साथ आचार्यश्री के कर-कमलों में अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया। मंच पर बैठे सभी आगन्तुक उस समय आदर व भक्ति व्यक्त करने के लिए खडे हो गये। सामने समुद्र की तरह लहराता हुआ जन-समूह उस दृश्य की रमणीयता में अपने आपको विस्मृत किए हुए तल्लीनता से देख रहा था। उस समर्पण के क्षण को हर कोई की आँखें पूर्णतः आत्मसात् कर लेने को आतुर थी। वस्तुतः वह एक अभूतपूर्व दृश्य था।

अभिनन्दन-ग्रन्थ

अभिनन्दन-ग्रन्थ की सामग्री आचार्यश्री की गरिमा के अनुरूप है। वह विशाल-ग्रन्थ लगभग आठ सौ पृष्ठों का है। सामग्री-चयन में यह ध्यान रखा गया है कि वह एक प्रशस्ति ग्रथ ही न रहे, अपितु दर्शन और जीवन-व्यवहार का एक सर्वांगीण शास्त्र बन जाए। उसके चारों अध्याय अपनी पृथक्-पृथक् मौलिकता लिए हुए है।

प्रथम अध्याय श्रद्धांजलि और सस्मरण-प्रधान है। साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक प्रभाव-क्षेत्र होता है और उससे उसे यथासमय श्रद्धा भी प्राप्त होती है, परन्तु सबका प्रभाव-क्षेत्र समान नहीं होता। किसी का प्रभाव-क्षेत्र केवल अपना घर ही होता है, तो किसी का सम्पूर्ण राष्ट्र अथवा विश्व। अध्यात्म और नैतिकता के उन्नायक होने के कारण आचार्यश्री का व्यक्तित्व सर्वक्षेत्रीय बन गया है और वह इस अध्याय से निर्विवाद अभिव्यक्त होता है। देश और विदेश के विभिन्न व्यक्तियों ने उनके प्रति जो उद्‌गार व्यक्त किये है, वे उनके व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव डालते है।

द्वितीय अध्याय में उनका जीवन-वृत्त है। हर एक महापुरुष का जीवन-वृत्त प्रेरणादायी होता है, फिर आचार्यश्री ने तो अपने समग्र जीवन को अहिंसा और सत्य के लिए समर्पित किया है। सर्वसाधारण के लिए वह एक दीप-स्तम्भ का कार्य करने वाला कहा जा सकता है।

तृतीय अध्याय में अणुव्रतों की भावना पर प्रकाश डाला गया है। विभिन्न लेखकों ने समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र के आधार पर विभिन्न पहलुओ से समाज की नैतिक आवश्यकता पर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया है। यह अध्याय एक प्रकार से संक्षिप्त नैतिक दर्शन कहा जा सकता है।

चतुर्थ अध्याय का विषय है—दर्शन और परम्परा। इस अध्याय के शोधपूर्ण लेख, बडी महत्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करते है। यद्यपि इस अध्याय के अधिकांश लेख जैन-दर्शन से सम्बद्ध है, फिर भी वे तुलनात्मक अध्ययन करने वालो के लिए जैन-दर्शन सम्बन्धी विभिन्न जानकारी प्राप्त करने में बहुत उपयोगी हो सकते है।

सम्पादक-मण्डल

ग्रन्थ के प्रबन्ध-सम्पादक के कथनानुसार इस ग्रंथ का संकलन, सम्पादन और प्रकाशन केवल छह महीने में ही सम्पन्न हो गया। यह आशातीत ही कहा जा सकता है। सम्पादक मण्डल का कार्य-कौशल इस त्वरा में सम्भवतः मुख्य कारण रहा हो। सम्पादक-मण्डल के सदस्य निम्नोक्त व्यक्ति थे :—

श्री जयप्रकाशनारायण	मुनि श्री नगराज
श्री नरहरिविष्णु गाडगिल	श्री मैथिलीशरण गुप्त
श्री के० एम० मुन्शी	श्री एन० के० सिद्धान्त
श्री हरिभाऊ उपाध्याय	श्री जैनेन्द्रकुमार
श्री मुकुटविहारी वर्मा	श्री जवरमल भंडारी
श्री अक्षयकुमार जैन	श्री मोहनलाल कठोतिया

इस कार्य में मुनिश्री नगराजजी का परिश्रम आद्योपान्त समानरूप से रहा था। श्री जयप्रकाशनारायण ने इस बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है—"ग्रंथ-सम्पादन की शालीनता का सारा श्रेय मुनि श्री नगराजजी को है। साहित्य और दर्शन उनका विषय है। मैं सम्पादक-मंडल में अपना नाम इसीलिए दे पाया कि वह कार्य इनकी देख-रेख में होना है।"[1]

आचार्यश्री का उत्तर

आचार्यश्री ने इस अभिनन्दन को अपना तो नहीं माना; फिर भी जनता ने उन्हीं का अभिनन्दन किया था, अतः उसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा—"अध्यात्म से भिन्न मेरा अस्तित्व नहीं है। इसीलिए लोग सोचते हैं कि मेरा अभिनन्दन हो रहा है। मेरे लिए अध्यात्म ही सब कुछ है। इसलिए मैं सोचता हूँ कि उसी का अभिनन्दन है। मैंने दूसरों का विकास या उत्थान करने का कभी दावा नहीं किया, तो उनका अभिनन्दन लेने का अधिकार मुझे कैसे मिल सकता है? मैं अपने विकास या उत्थान के लिए चला, वह दूसरों के विकास का निमित्त बन गया। इसीलिए लोग मानते होंगे कि मैं उनका विकास कर रहा हूँ। ··अनात्मवान् को जो पूजा प्राप्त होती है, वह उसके हित के लिए नहीं होती और आत्मवान् को जो पूजा प्राप्त होती है, वह उसके हित-सम्पादन में सहायक होती है—भगवान् महावीर की इस वाणी में जो प्रेरक सन्देश है, उससे प्रेरणा लूँ, प्राप्त पूजा से और अधिक विनम्र बनूँ—यही संकल्प मेरे अग्रिम जीवन के प्रकाश-दीप होंगे।"[2]

१—आ० तु० अ० ग्रं०, सम्पादकीय

२—जैन भारती, १८ मार्च १९६२

उपलब्ध तथ्य

अपने आचार्यकाल के पच्चीस वर्षो के अनुभवो के आधार पर उन्हें जो तथ्य उपलब्ध हुए, उनको उन्होंने अभिनन्दन का उत्तर देते हुए इन शब्दो में व्यक्त किया—"मेरे आध्यात्मिक नेतृत्व के २५ वर्ष पूर्ण हुए है। इस अवधि में मुझे जो वस्तु-सत्य उपलब्ध हुए, उन्हें मैं आपके सम्मुख प्रस्तुत करना चाहता हूँ। उनमें से कुछ ये हैं :—

(१) अध्यात्म-शून्य बुद्धिवाद मनुष्य को भटकाने वाला होता है।

(२) साधना की गहराई में समुदायवाद और व्यवहार की चोटी पर व्यक्तिवाद—ये दोनो ही भ्रान्त हैं।

(३) नग्न सत्य के बिना सवस्त्र सत्य कोरा आभास होता है, तो सवस्त्र सत्य के बिना कोरा नग्न सत्य अनुपादेय। इसलिए इन दोनो की सहावस्थिति ही मनुष्य को सत्य की उपलब्धि करा सकती है।

(४) धर्म-सस्थान के बिना अध्यात्म प्रगतिशील नही रह सकता है।

(५) भौतिकता मनुष्य को विभक्त करती है। उसकी एकता अध्यात्म के क्षेत्र में ही सुरक्षित है।

(६) धर्म-संस्थान राजनीति और परिग्रह से निर्लिप्त रहकर ही अपना अस्तित्व रख सकते हैं।

(७) वर्त्तमान जीवन में मोक्ष की अनुभूति करके ही कोई धार्मिक या आध्यात्मिक बन सकता है। केवल परलोक के लिए धर्म करने वाला अच्छा धार्मिक नही बन सकता।

(८) आध्यात्मिक एकता का विकास होने पर ही सह-अस्तित्व का सिद्धान्त क्रियान्वित हो सकता है; जातिवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद और राष्ट्रवाद की सीमाएँ निर्विकार हो सकती हैं। अभेद बुद्धि को विकसित किये बिना कोई भी व्यक्ति दूसरो को नहीं अपना सकता।

(९) धर्म को सर्वोच्च उपलब्धि मानकर ही मनुष्य साम्राज्यवादी आक्रामक मनोवृत्ति को त्याग सकता है।[1]

साधु-संस्थाओं से

उन्होंने उस अवसर पर आध्यात्मिक विकास के लिए वर्त्तमान साधु-संस्थाओं को भी कुछ बातें सुझाव के रूप में कहीं, वे इस प्रकार हैं :—

(१) राजनीति में हस्तक्षेप न करे।

(२) परिग्रह से अलिप्त रहें।

(३) जातिवाद, भाषावाद, प्रान्तवाद, और राष्ट्रवाद आदि झमेलो में न फँसें। शान्ति, समन्वय और विश्व की एकता का प्रसार करें।

१—जैन भारती, १८ मार्च १९६२

(४) नवीनता या प्राचीनता का मोह न करें, सदा समीचीनता का समादर करें।

(५) चारित्रिक विकास को ही अपना कार्य-क्षेत्र बनाएं।

(६) सुशिक्षित, सुव्यवस्थित और अनुशासित हों।[1]

गौरवपूर्ण अस्तित्व के लिए

आज के भौतिक और बौद्धिक युग में साधु-संस्था को अपने गौरवपूर्ण अस्तित्व के लिए जिन प्रमुख बातों की आवश्यकता है, उनको उन्होंने इस प्रकार गिनाया :—

(१) लक्ष्य के प्रति दृढ आस्थावान् होना।

(२) अपने नेता, सह-धार्मिकों व स्वयंभूत सिद्धान्तों के प्रति असंदिग्ध होना।

(३) बाह्य उपकरणों व आवश्यकताओं को अत्यल्प रखना।

(४) अनुशासन, विनय और वात्सल्य का समुचित समादर करना।

(५) पद-लोलुपता व निर्वाचन से मुक्त रहना।

(६) श्रम-परायण होना और आगमपरकता से बचना।

(७) लोक-संग्रह की अपेक्षा लोक-कल्याण पर अधिक ध्यान देना।[2]

साधुवाद और आह्वान

आचार्यश्री ने उस अवसर पर तेरापन्थ साधु-साध्वियों को उनकी प्रगति पर साधुवाद देते हुए आह्वान किया, वह इस प्रकार है—"मैंने इन २५ वर्षों में जिस साधु-संस्था का नेतृत्व किया है, उसका अतीत उत्तम रहा है, वर्तमान गौरवपूर्ण है और भविष्य उज्ज्वल दीखता है, क्योंकि उसमें अनुशासन है, व्यवस्था है, विनय और वात्सल्य की भावना है, श्रद्धा और बुद्धिवाद का समन्वय है तथा लक्ष्य के प्रति एक अडिग विश्वास है।

मैं अपने साधु-साध्वियों को प्राप्त विशेषताओं के लिए साधुवाद देता हूं और अप्राप्त विशेषताओं की प्राप्ति के लिए उनका आह्वान करता हूं।[3]

आभार-प्रदर्शन

सेवाभावी मुनिश्री चम्पालालजी के प्रति आचार्यश्री ने उस अवसर पर जो आभार प्रदर्शित किया, वह इस प्रकार है :—

"सेवाभावी मुनिश्री चम्पालालजी ! आपसे मुझे बहुत सत्प्रेरणाएं मिली। मेरे विकास में आपका बहुत योग रहा है। इससे मैं प्रसन्न हूं। इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं अत्यन्त कृतज्ञभाव से आपके प्रति आभार प्रदर्शित करता हूं।"

१—जैन भारती, १८ मार्च १९६२

२—जैन भारती, १८ मार्च १९६२

३—जैन भारती, १८ मार्च १९६२

सम्मान

मुनिश्री चम्पालालजी मीठिया और लाडांजी का सम्मान करते हुए उन्होंने ये उद्गार व्यक्त किये :—

"विनयनिष्ठ मुनि चम्पालालजी (मीठिया) ! आपकी सहज विनम्रता से मैं प्रसन्न हूं। इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं आपका विनयनिष्ठ के रूप में सम्मान करता हूं।"

"विनयनिष्ठा सुशिष्या लाडांजी ! तुम्हारी सहज विनम्रता से मैं प्रसन्न हूं। धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हारा विनय-निष्ठा के रूप में सम्मान करता हूं।"

परामर्शक-नियुक्ति

मुनि बुद्धमल्ल तथा मुनिश्री नगराजजी को आचार्यश्री ने उस अवसर पर क्रमशः अपने साहित्य-विभाग और अणुव्रत-विभाग का परामर्शक नियुक्त किया। नियुक्ति-पत्र इस प्रकार है :—

"सुशिष्य मुनि बुद्धमल्लजी ! तुमने साहित्य के माध्यम से धर्मशासन की श्री-वृद्धि में जो प्रशसनीय योग दिया है, उससे मैं प्रसन्न हूं। इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें साहित्य विभाग-परामर्शक के रूप में नियुक्त करता हूं।"

"सुशिष्य मुनि नगराजजी ! तुमने आन्दोलन के माध्यम से धर्म-शासन की श्री-वृद्धि करने में जो प्रशसनीय योग दिया है, उससे मैं प्रसन्न हूं। इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें अणुव्रत-विभाग परामर्शक के रूप में नियुक्त और अग्रगण्य की लागत के रूप में गाथाओं से मुक्त करता हूं।"

आशीर्वाद

मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम', मुनि दुलहराजजी और साध्वी किस्तूरांजी को आचार्यश्री ने आशीर्वाद प्रदान किया। वह इस प्रकार है :—

"सुशिष्य मुनि महेन्द्रजी ! तुमने अणुव्रत-प्रसार और साहित्य की दिशा में जो प्रयत्न किया है, उससे मैं प्रसन्न हूं। विशेष प्रगति के लिए इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूं।"

"सुशिष्य मुनि दुलहराजजी ! तुमने साहित्य के क्षेत्र में जो प्रगति की है, उससे मैं प्रसन्न हूं। दक्षिण प्रान्तीय एव अग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं के साहित्य में विशेष प्रगति के लिए इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूं।"

"सुशिष्या किस्तूरांजी ! तुमने सुदूर प्रान्त दक्षिण में अणुव्रत-आन्दोलन की प्रगति के लिए जो यत्न किया, उससे मैं प्रसन्न हूं। कार्यक्षमता के लिए इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूं।"

वदनांजी के प्रति

मातृवरा वदनांजी के प्रति आचार्यश्री ने जो उद्गार व्यक्त किए, वे इस प्रकार है :—

"ऋजुमना साध्वीवरा वदनांजी ! आपसे मुझे मातृवात्सल्य के साथ-साथ जो पवित्र संस्कार मिले, वे मेरे जीवन-विकास के महान् हेतु बने। मैंने जो सत्प्रयत्न किया, उसमें आपकी तप. पूत भावनाएं सदा मेरे साथ रही हैं।"

स्मरण

उस अवसर पर उन्होंने विभिन्न गुणों के आधार पर अनेक व्यक्तियों का स्मरण किया। वह इस प्रकार है :—

साध्वी श्री हुलासांजी को विनय-निष्ठा के रूप में, पंडित रघुनन्दनजी शर्मा को शासन-सेवी एवं विशिष्ट-अणुव्रती के रूप में, प्रतापमलजी मेहता को शासन-सेवी के रूप में एवं कल्याणमलजी बरड़िया को अणुव्रती एवं त्यागवृत्तिक के रूप में स्मरण किया गया।

विविध गोष्ठियां

धवल-समारोह के अवसर पर विभिन्न गोष्ठियों के आयोजन भी रखे गये थे। श्रीमन्नारायण की अध्यक्षता में अणुव्रत-विचार परिषद्, डा० हरिवंशराय 'बच्चन' की अध्यक्षता में कवि-सम्मेलन, इसी प्रकार दर्शन-परिषद्, साहित्य-परिषद् एवं अणुव्रत अधिवेशन आदि द्वारा समागत जनता को विशेष रूप से अध्यात्म का पोषण मिलता रहा था।

विशेषांक समर्पण

धवल-समारोह के द्वितीय चरण के अवसर पर मुनिजनों द्वारा हस्तलिखित पत्रिका 'जयज्योति' का एक अभिनन्दन-विशेषांक भी निकाला गया। उसमें विभिन्न लेखकों द्वारा संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन और अर्वाचीन पच्चीस भाषाओं में श्रद्धांजलियां तथा लेख लिखे गये थे। सम्पादक-मण्डल की ओर से मुनिश्री मोहनलालजी 'शार्दूल' ने उसे आचार्यश्री के चरणों में समर्पित किया।

साहित्य-सम्पादन

धवल-समारोह के अवसर पर आचार्यश्री की कृतियों का सम्यक् सम्पादन करने का निश्चय किया गया था। तदनुसार श्रमण सागर और मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' इस कार्य को सम्पन्न करने में लगे। अनेक ग्रन्थ उनकी सम्पादकता में जनता के सामने आये।

साहित्य की भेंट

आचार्यश्री तथा मुनिजनों द्वारा नवनिर्मित साहित्य में से अनेक ग्रंथों को भारत के सुप्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थान 'आत्माराम एन्ड सन्स' ने प्रकाशित किया। धवल-समारोह के दोनों ही चरणों के अवसर पर संस्थान के संचालक श्री रामलालपुरी ने स्वयं आकर उन प्रकाशित ग्रन्थों को अपनी संस्था की ओर से आचार्यश्री के चरणों में भेंट किया। उनमें आचार्यश्री की रचनाओं के अतिरिक्त विभिन्न साधुओं की रचनाएं भी थीं।

प्रकाशन की दृष्टि से वह भेंट 'आत्माराम ऐन्ड सन्स' की अवश्य थी, पर लेखन की दृष्टि से तो वह विभिन्न लेखकों की भेंट थी।

परिशिष्ट ३

व्यक्ति नामावलि

परिशिष्ट ४

ग्राम नामावलि

★

परिशिष्ट ५

पारिभाषिक शब्दकोश

अङ्ग	जिनवाणी के आधार पर गणधरों द्वारा रचित शास्त्र।
अंधश्रद्धा	अविचारित विश्वास।
अकल्प	आचार की सीमा से बाहर।
अकिंचन	जिसके पास कुछ न हो। अपरिग्रही।
अकुतोभय	जिसको किसी से भय न हो। सब ओर से निर्भय।
अग्रगामी	सिंघाडे (मण्डली) का मुखिया।
अग्रणी	सिंघाडे (मण्डली) का मुखिया।
अचेल	वस्त्र रहित। वस्त्र-परिधान को मान्यता न देने वाला।
अछाया	खुला आकाश। रात्रि के समय बरसने वाली सूक्ष्म अप्काय।
अणुव्रत	हिंसादि दोषों की स्थूल विरति। अहिंसादि की क्रमिक विकासशील साधना के लिए अपनाये जाने वाले प्राथमिक नियम। आंशिक नियम।
अणुव्रत आन्दोलन	चारित्रिक उत्थान के लिए आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित आन्दोलन।
अदृष्ट	भावी। होने वाला।
अधर्म	पापकारी प्रवृत्ति। आत्मशुद्धि में बाधक प्रवृत्ति।
अध्यात्म	आत्म-सम्बन्धी। आत्म-परक।
अनशन	आहार का सावधिक अथवा निरवधिक परित्याग
अनासक्त	आसक्ति रहित। निर्मोह।
अनुकम्पा	दया। किसी की पीडा या विवशता देखकर आत्मा में होने वाला कम्पन।
अनुप्रेक्षा	तर्क-वितर्क युक्त मनन।
अनेकान्तवाद	स्याद्वाद। प्रत्येक वस्तु में अनन्त स्वभावों का अस्तित्व स्वीकार करने वाला अभिमत।
अन्तराय	प्राप्ति में विघ्न डालने वाला कर्म। विघ्न।
अन्तर्दृष्टि	आत्म-दृष्टि। सयम मूलक दृष्टि।
अन्तर्ध्वनि	अन्दर से उठने वाली आवाज। आत्मा की आवाज।
अन्तर्मुहूर्त	एक मुहूर्त ४८ मिनिट का होता है, उसका प्रथम और अन्तिम समय छोड़कर शेष उसके अन्तर्गत कोई भी काल।

अपछन्दा	स्वच्छन्द। गुरुजनों के अभिप्राय की अवज्ञा करने वाला।
अपरिग्रह	अमूर्च्छाभाव। धन आदि के सग्रह से निवृत्ति। वस्तुओं के प्रति अनासक्ति।
अपवाद वेप	छूट रूप से धारण किया जाने वाला कादाचित्क परिधान।
अभिग्रह	दृढ सकल्प। वह गुप्त संकल्प, जिसकी पूर्ति होने पर ही चालू उपवास या नियम को पूर्ण किया जाता है।
अभिनिष्क्रमण	प्रव्रज्या के लिए गृह-त्याग। किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए सब कुछ छोडकर निकल जाना।
अभिहृत	सम्मुख लाकर दिया गया आहार। भिक्षाचरी का एक दोष।
अभेदोपचार	अभिन्नता का आरोप। अभिन्नता की कल्पना।
अयत्ना	असावधानी।
अर	युग। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के विभिन्न खण्ड।
अरिहंत	तीर्थंकर। चार घनघाती कर्मों का नाश करने वाला। प्रातिहार्य आदि अतिशयों से युक्त व्यक्ति।
अर्थ	शब्द से व्यक्त होने वाला भाव। आगमों का भावपक्ष।
अवधिज्ञान	विकल पारमार्थिक ज्ञान का एक भेद। वह ज्ञान जो अपनी उत्पत्ति में आत्मा के अतिरिक्त किसी भी बाह्य पदार्थ की अपेक्षा नही रखता और केवल रूपी द्रव्यो को अपना विषय बनाता है।
अवसर्पिणी	कालचक्र का प्रथम अर्धभाग जो कि दश कोटि-कोटि सागर का होता है। जिस काल मे हर वस्तु का क्रमश: अपकर्ष होता है। जिस काल में क्रमश: सुख का ह्रास और दु ख की वृद्धि होती है।
अव्रत	अप्रत्याख्यान। अत्याग भाव।
अशुभयोग	मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्ति।
असंज्ञी	अमनस्कप्राणी। सम्मूच्छिम प्राणी।
असयम	अविरति। आत्मनियंत्रण का अभाव।
असमाधि	मानसिक अशान्ति की स्थिति।
अस्तेय	अचौर्य।
अस्थल	सम्प्रदाय-विशेष के सन्यासियो का निवास-स्थान।
अस्वाध्यायी	स्वाध्याय के लिए वर्जनीय काल, स्थिति या वस्तु।
अहिंसा	प्राणी मात्र के प्रति संयम रखना, उनको कष्ट न पहुचाना तथा उनके प्रति मैत्री रखना।
आकार	आकृति पर उभरने वाले भाव।

आगम	जैन सूत्र। आप्तवाणी।
आगमानुमोदित	शास्त्र-सम्मत।
आगार	छूट। अपवाद।
आचार	आचरण। चरित्र।
आचार्य	गुरु। मार्ग-दर्शक। आचार-सम्बन्धी शिक्षा देने का अधिकारी।
आछ	छाछ को उष्ण करने के कुछ समय पश्चात् उस पर निथर आने वाला पानी।
आण	शपथ। आज्ञा।
आतापना	सूर्य का आताप सहने की तपस्या।
आत्मगुण	आत्मा का सहभावी धर्म।
आत्म-प्रदेश	आत्मा का वह अविभाज्य काल्पनिक अवयव, जो परमाणु जितना होता है।
आत्मयज्ञ	आत्मशुद्धि का उपाय।
आत्मवाद	आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने वाला अभिमत।
आत्म-साधना	आत्मा को निर्मल करने वाले साधनों का अनुष्ठान।
आत्मा	चेतनावान् द्रव्य। जीव।
आत्मानुकंपी	जिसकी साधना का उद्देश्य जन-सुधार न होकर केवल आत्म-शोधन ही होता है।
आत्मानुशासन	अपने पर अपना नियन्त्रण।
आत्मार्थिता	निष्काम सेवा-परायणता। आत्माभिमुखता। निर्जरार्थिता।
आधाकर्म	भिक्षाचरी सम्बन्धी एक दोष। साधु के निमित्त बनाया गया आहार, मकान आदि।
आध्यात्मिकता	आत्माभिमुखता।
आम्नाय	परम्परा। सम्प्रदाय।
आर्या	साध्वी।
आलोचना	ज्ञात-अज्ञात दोष का प्रायश्चित्त। गुरु के सम्मुख आत्मदोष का प्रकाशन।
आलोयणा	ज्ञात-अज्ञात दोष का प्रायश्चित्त। गुरु के सम्मुख आत्मदोष का प्रकाशन।
आसन	सन्यासियों के एक सम्प्रदाय का निवास-स्थान।
इंगित	संकेत। इशारा।

इन्द्रिय	जिनके द्वारा शब्दादि नियत विषयों का ज्ञान होता है।
इन्द्रियवादी	इन्द्रियों को सावद्य मानने वाली परम्परा के अनुयायी।
इष्टदेव	आराध्य व्यक्ति।
उकाली	गरम मशालों से बनाया गया एक पेय। मिर्च-पतासी।
उत्क्रान्ति	संघर्षपूर्वक लाया गया परिवर्त्तन।
उत्सर्पिणी	कालचक्र का द्वितीय अर्धभाग, जो कि दश कोटि-कोटि सागर का होता है। जिस काल में हर वस्तु का उत्कर्ष होता है। जिस काल में क्रमशः दुःख का ह्रास व सुख की वृद्धि होती है।
उदक	पानी।
उदय	कर्मों की वेद्यावस्था।
उद्दिष्ट	साधु के निमित्त बनाया गया आहार, स्थान आदि। भिक्षाचरी का एक दोष।
उपकार	सहयोगदान।
उपधि	वस्त्र, पात्र आदि उपकरण।
उपनिषद्भूत	सारभूत।
उपयोग	चेतना की प्रवृत्ति।
उपसर्ग	उपद्रव। कष्ट।
उपाश्रय	यति तथा संवेगी मुनियों के ठहरने का स्थान।
उभयानुकंपी	जिसकी साधना स्व और पर—दोनों के कल्याणार्थ चलती है।
उवगरण	उपकरण। वस्त्र, पात्र आदि वस्तुएं।
उसन्ना	शिथिलाचारी साधु। सामाचारी में प्रमाद करने वाला।
ऊहापोह	तर्क-वितर्क।
एकल विहारी	अकेला रहने वाला श्रमण।
एकान्तर उपवास	एक दिन के अन्तर से निराहार रहना।
एकान्तर तप	एक दिन के अन्तर से निराहार रहना।
ओघा	रजोहरण। जैन मुनियों का एक उपकरण, जो कि भूमि-प्रमार्जन आदि कामों में आता है।
ओरण	गांव के बाहर की खुली छोड़ी गई भूमि (यह शब्द 'अरण्य से बिगड़ कर बना है)।
ओरी	कोठरी।
कच्चा जल	सचित्त पानी।

कर्म	आत्मा की सत् या असत् प्रवृत्ति से आकृष्ट होकर उसके साथ सबद्ध होने वाले पुद्गल ।
कल्प	आचार की सीमा ।
कांठा	सीमांत प्रदेश ।
कारी	फटे वस्त्र के छेद पर लगाया जाने वाला वस्त्र-खण्ड । पैवन्द । थेगली ।
काल	मृत्यु । समय ।
कालचक्र	बीस कोटि-कोटि सागर-प्रमाणकाल, जिसका प्रथमार्द्ध अवसर्पिणी और द्वितीयार्द्ध उत्सर्पिणी काल होता है ।
काल-परिपाक	किसी घटना या कार्य के लिए समय की उपयुक्त अवधि का आ जाना ।
कालवादी	जीवादि द्रव्यों की पर्यायों को काल में अन्तर्गर्भित करने वाली मत-परम्परा के अनुयायी ।
कासीद	सदेशवाहक । चिट्ठी-पत्री ले जाने वाला । हरकारा । पद-यात्रा में सेवा के लिए नियुक्त व्यक्ति ।
कीडीनगरा	एक प्रकार का रोग ।
कुशीलिया	शिथिलाचारी साधु । मूल तथा उत्तर गुणो में दोप लगाने वाला ।
कूत	अनुमानित प्रमाण ।
केवलज्ञान	पूर्णज्ञान ।
केवली	सर्वज्ञ ।
केशलुंचन	केशों को हाथ से उखाडना ।
कैवल्य	पूर्णज्ञान ।
क्रान्तद्रष्टा	असाधारण चिन्तक । भविष्य की पर्त्तों में छिपी बात को भी देख लेने वाला ।
क्रियोद्धार	शिथिलाचार को हटाकर शुद्धाचार की स्थापना ।
क्षमाश्रमण	जैनाचार्यों की एक उपाधि ।
क्षयोपशम	घातिकर्म (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) का विपाक—वेद्याभाव ।
खमतखामणा	क्षमायाचना और क्षमादान ।
खांडा	अपूर्ण । खडित ।
गच्छ	सम्प्रदाय । श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक आचार्यों द्वारा विभिन्न समयों में स्थापित विभिन्न सगठन ।

गच्छवासी	मूर्त्तिपूजक जैन सम्प्रदाय ।
गड्डरी-प्रवाह	भेड़चाल । अविचारित अनुसरण ।
गण	जैन मुनियों की एक संगठनात्मक इकाई। दो आचार्यों का संगठित शिष्य-समूह । कुल-समूह ।
गणधर	गण का मुखिया । भगवद्वाणी को आगमरूप में ग्रथित करने वाला । तीर्थंकर के बाद जैन श्रमण-संघ का सर्वोच्च पदाधिकारी ।
गणधरवंश	एक ही गण के आचार्यों की क्रमिक परम्परा ।
गणाचार्य	गण की चारित्रिक सुव्यवस्था करने वाला । एक ही गण की परम्परा में होने वाले आचार्य ।
गम	गमा । अर्थ-भेद का बोध कराने वाला विकल्प ।
गवेषणा	अन्वेषण । जैन श्रमणों द्वारा भिक्षा की निर्दोषता के सम्बन्ध में की जाने वाली पूछताछ ।
गहना	आभूषण ।
गाथा	एक पद्य-विशेष । लेखन या लिपीकरण का एक माप । तेरापन्थ श्रमण-संघ की एक ऐसी पूंजी, जो लेखन, लिपीकरण या सेवा द्वारा अर्जित की जाती है ।
गुण	वस्तु का सहभावी धर्म । शक्ति का सबसे छोटा अंश ।
गुणस्थान	आत्मा की क्रमिक विशुद्धि का माप-दण्ड ।
गुप्ति	संयम के प्रतिकूल प्रवृत्तियों का निरोध । मन, वचन और काया का निग्रह ।
गुरु	आचार्य । सन्मार्ग द्रष्टा । साधु । आचार सम्बन्धी शिक्षा देने का अधिकारी ।
गुरु-धारणा	गुरु-मन्त्र का ग्रहण । गुरु बनाने की प्रक्रिया ।
गुरु-भाई	एक गुरु द्वारा दीक्षित ।
गोचरी	जैन मुनियों का विधिवत् आहार-याचन । भिक्षाटन । माधुकरी ।
गोठ	उद्यान आदि में की गई आमोद-प्रमोद युक्त भोजन-व्यवस्था ।
गोला	दास ।
घाट	राजस्थान का एक भोज्य पदार्थ ।
चतुर्विध संघ	जैन धर्म का वह संगठन, जिसके साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—ये चार अङ्ग होते हैं ।
चरणामृत	वह जल जिसमें किसी देवता, महात्मा या गुरुजन के पैर धोये गये हों ।

चर्चा	शास्त्रार्थ । विचार-विमर्श ।
चर्या	आचरण । कार्य-परम्परा ।
चलावा	शवयात्रा से दाहक्रिया तक के कार्य ।
चातुर्मास	वर्षाकाल । श्रावण प्रतिपदा से कार्तिक पूर्णिमा तक के चार महीने ।
चातुर्याम धर्म	अहिंसा, सत्य, अस्तेय और बहिर्धादान—इन चार महाव्रतों को मान्य करने वाला धर्म । भगवान् पार्श्वनाथ का धर्म ।
चारित्र	सम्यक् आचार । संयम ।
चारित्रमोह	मोहनीय कर्म का एक भेद, जो कि सम्यक् चारित्र का अवरोधक होता है ।
चारित्रात्मा	संयमी व्यक्ति ।
चितारना	कण्ठस्थ पाठ को अविस्मृति के लिए पुन: पुनः दुहराना ।
चिलम	मिट्टी से बनी हुई ऐसी नलिका, जिसके एक सिरे पर तमाखू और आग रखकर दूसरे सिरे से धुंआ खींचा जाता है ।
चैत्यवासी	उग्र विहार छोडकर मन्दिरों के परिपार्श्व में बस जाने वाले जैन श्रमण तथा उनके अनुयायी । यति सम्प्रदाय । द्राविड संघ ।
चौखला	ग्राम-मण्डल । मुनि-मण्डली के लिए प्रतिवर्ष निर्धारित किया जाने वाला विहार-क्षेत्र ।
चोलपट्टा	कटिपट । शरीर के अधोभाग पर पहनने का लुंगीनुमा वस्त्र ।
चौक	चार वस्तुओं का समूह ।
चौविहार उपवास	निर्जल उपवास । जिस उपवास में अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य—इन चारों प्रकार के आहार का परित्याग होता है ।
छतरी	मृतक की स्मृति में बनवाया गया छत्राकार स्मारक ।
छद्मस्थ	असर्वज्ञ ।
छुटभाई	छोटा भाई या उसकी वंश-परम्परा ।
छेदोपस्थापनीय चारित्र	जिसमें महाव्रतों की विभागत: उपस्थापना की जाती है ।
जनपद-विहार	पादचार से ग्रामानुग्राम भ्रमण ।
जिन-कल्पिक	अकेले रहकर विशिष्ट प्रकार से साधना करने वाले मुनि ।
जिन-भाषित	भगवान् द्वारा प्ररूपित ।
जिनेश्वरदेव	अरिहंत भगवान् ।
जैनधर्म	जिन-द्वारा प्रवर्तित आत्मशुद्धि का मार्ग ।

जैनशासन	जैन संघ। जिनाज्ञा को मानकर चलने वाला समुदाय।
जोड	राजस्थानी भाषा की पद्य-रचना।
जोड़ीपल्ला	चिकने पात्र को अन्तिम रूप से साफ करने में काम आने वाला वस्त्र-खण्ड।
झोलका	बडी झोली जिसमें, वस्त्र-पात्र रखकर कधे पर उठाये जाते है।
झोली	वह वस्त्र, जिसमें गोचरी के समय पात्र रखे जाते है।
टालोकर	वह व्यक्ति, जो सघ से पृथक् हो गया हो या कर दिया गया हो।
टीकाकार	व्याख्याकार। सूत्र या ग्रन्थों का अविकल अर्थ लिखने वाला।
टोला	उपसम्प्रदाय। समुदाय।
ठाकुर	ग्राम का अधिपति। क्षत्रियों की एक उपाधि।
ठाम	पात्र।
ठिकाणा	ग्रामाधिपति का निवास-स्थान। क्षत्रिय जागीरदार का गढ या हवेली। मुनिजन ठहरे हुए हों, वह स्थान।
डाम	गरम की हुई लोह-शलाका से शरीर पर लगाया गया दाग।
डीकरी	पुत्री।
ढाल	गीतिका। चमडे या लोह से बना हुआ एक युद्धोपकरण, जो कि तलवार आदि के आघात को रोकने के काम आता है।
ढूंढिया	स्थानकवासी सम्प्रदाय का प्राचीन नाम।
णमुक्कार मन्त्र	जैनो का सर्वश्रेष्ठ मन्त्र, जिसमें पच-परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है।
तत्त्व	सारभूत वस्तु। यथार्थता। आत्मा के बन्धन और मोक्ष में हेतुभूत पदार्थ।
तत्त्वचिन्तन	बध, बंधहेतु, मोक्ष, मोक्ष-हेतु—इन चारों का चिन्तन।
तपश्चर्या	आत्मशुद्धि के लिए की जाने वाली एक विशिष्ट साधना, जिसमें अन्न-पानी आदि बाह्य पदार्थों तथा क्रोध-मान आदि आन्तरिक दोषो का परिहार होता है।
तहत्त	गुरुजनों के कथन की स्वीकृति का सूचक शब्द, जिसका अर्थ होता है—'सत्य है।'
तारण तरण समाज	तारण स्वामी द्वारा स्थापित दिगम्बर जैन-परम्परा का एक अमूर्ति-पूजक सम्प्रदाय।
तीन आहार	पानी के अतिरिक्त शेष तीन आहार (अशन, खाद्य और स्वाद्य)।

तीर्थङ्कर	साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका—इन चार तीर्थों की स्थापना करने वाला। जिनधर्म-प्रवर्त्तक। भगवान्।
तीर्थ-प्रवर्त्तन	धर्म-प्रवर्त्तन। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना।
तेरापंथ	(१) आचार्यश्री भीखणजी द्वारा प्रवर्तित एक श्वेताम्बर सम्प्रदाय। (२) दिगम्बर विद्वान् बनारसीदासजी के 'बनारसी मत' का अर्वाचीन नाम। 'बनारसी मत' का उल्लेख आगे आया है।
तेला	लगातार तीन दिनों का उपवास।
तोत्र-गवेषक	बार-बार कहलवा कर काम करने वाला। अड़ियल।
त्याग	इन्द्रिय-सुखों को छोड़ना। निवृत्ति।
थेगड़ी	फटे वस्त्र के छेद पर लगाया जाने वाला वस्त्र-खण्ड। पैबन्द। कारी।
दया	अनुकम्पा। आत्म-पतन से रक्षा। प्राण-रक्षा। दुःख-प्रतिकार।
दया-धर्म	लोंकागच्छ का एक नाम।
दर्शन	सम्यक् श्रद्धा।
दलबन्दी	गुटबाजी।
दान	स्व-पर-उपकारार्थ अपनी वस्तु का दूसरों को वितरण करना।
दिगम्बर	जैनों का वह सम्प्रदाय, जो मुनि के लिए नग्नत्व अनिवार्य मानता है।
दीक्षा	महाव्रतों का स्वीकरण। संन्यास।
दीक्षा-पर्याय	दीक्षा की अवधि।
दुधारी तलवार	दोनों ओर धारवाली तलवार।
दुर्गति	बुरी गति। नरक और तिर्यंच गति।
दुष्षमकाल	कलिकाल। पंचम आरा।
देव	धर्म-मार्ग-संस्थापक। अरिहन्त। पूज्य व्यक्ति।
देवानुप्रिय	एक कोमल तथा प्रिय सम्बोधन, जिसका अर्थ होता है—देवताओं का प्यारा।
देशऊन	आंशिक न्यून। कुछ कम।
द्रव्य	पदार्थ। वस्तु। गुण और पर्याय का आश्रय।
द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव	वस्तु का वह स्वपर-चतुष्टय, जिससे एक वस्तु से दूसरी का पृथक्त्व समझा जाता है।
द्रव्यदीक्षा	वह दीक्षा, जिसमें केवल परिपाटी या वेष का ही पोषण होता है, संयमानुकूल गुणों का नहीं।
द्रव्य-परम्परा	अशुद्ध-परम्परा। शिथिलाचारी मुनियों की परम्परा।

द्रव्य-संयम	संयम के गुणो से शून्य केवल वेष-धारण।
द्राविड सघ	एक दिगम्बर जैन सम्प्रदाय। चैत्यवासी सघ।
धंडा	वह पत्र जिसमें प्रत्येक 'साझ' की आहार सम्बन्धी अनुमानित आवश्यकता लिखी जाती है।
धर्म	जो आत्मशुद्धि का साधन होता है।
धर्म-कथा	धर्म-सम्बन्धी वात। व्याख्यान।
धर्म-तीर्थ	धर्मानुशीलन के लिए उपयोगी व्यवस्था।
धर्म-शासन	धर्म-सघ। धार्मिक व्यवस्था।
धर्मानुरागी	धर्म के प्रति अनुराग रखने वाला। श्रद्धालु।
धोवण	अचित्त पानी। वह पानी, जिसमे कोई चीज धोई गई हो।
ध्यान	एकाग्रचिन्तन। योग-निरोध।
नमोत्थुणं	आवश्यक सूत्र का 'सक्कत्थुई' नामक पाठ।
नरक	अधोलोक के वे स्थान, जिनमे घोर पापाचारी जीव उत्पन्न होते है और अपने कर्मो का फल भोगते है।
नांगला	पुस्तको का वन्धा हुआ ऐसा जोडा, जो खधे के दोनो ओर लटकाया जा सकता है।
नित्यपिण्ड	जैन श्रमणो का भिक्षाचरी सम्वन्धी एक दोष। नित्य एक घर से ग्रहण किया गया भोजन।
निरवद्य	पापरहित। निर्दोष।
निर्ग्रन्थ	जैन श्रमण। अपरिग्रही। आन्तरिक और वाह्य ग्रन्थियो को छोडने वाला।
निर्वाणपद	मोक्ष। समस्त कर्मों की समाप्ति पर प्राप्त होने वाली अवस्था।
निर्विकल्प	सशय-रहित।
निश्राय	ममत्व-रहित उपयोग। स्वामित्व तथा अधिकार की भावना को विसर्जित कर वस्तु और उसके उपयोक्ता का सम्वन्ध द्योतन करने वाला शब्द।
निष्क्रमण	प्रव्रज्या के लिए गृह-त्याग। वाहर निकलना।
निह्नव	निन्दा करने वाला। श्रमण-सघ से पृथक् होने वाला वह व्यक्ति, जो जिन-भाषित मान्यता का विरोध करने लगता है।
नेगचार	विवाह आदि के अवसर पर सेवा-प्रवृत्त व्यक्तियों के लिए वधा हुआ पारम्परिक देय। पारम्परिक अनुष्ठान।
नेव्र	खपरैल की छत वाले मकान का छज्जेनुमा वाहर निकला हुआ भाग।

पंचमआरा	कलिकाल। दुष्षमकाल। अवसर्पिणी काल का पचम तथा उत्सर्पिणी काल का द्वितीय खड।
पचम काल	कलिकाल। पचम आरा।
पंचयाम	पचमहाव्रत।
पछेवड़ी	प्रच्छदपट। शरीर के ऊपरी भाग पर ओढ़ने का चादरनुमा वस्त्र।
पट्टावलि	पट्ट-परम्परा।
पडिलेहन	निर्धारित समय पर वस्त्र-पात्र आदि का निरीक्षण। प्रतिलेखन।
परठना	अनुपयोगी वस्तु का यथाविधि विसर्जन। परिष्ठापन।
परिग्रह	मूर्च्छाभाव। आसक्तिभाव। धनधान्य आदि का संग्रह।
परिणाम	विचार। अध्यवसाय। भावना।
परिवर्त्तना	कठस्थ पाठ को अविस्मृति के लिए पुनः पुन. दुहराना।
परिष्ठापन	अनुपयोगी वस्तु का यथाविधि विसर्जन। परठना।
परीषह	मुनि-जीवन में उत्पन्न होने वाले कष्ट। उपसर्ग।
परोक्षवादी	अप्रस्तुत की आशा में प्रस्तुत की उपेक्षा करने वाला। दृष्ट से अधिक अदृष्ट को महत्त्व देने वाला।
पर्याय	वस्तु का क्रमभावी धर्म।
पर्यूषण पर्व	जैनों का एक धार्मिक पर्व, जो कि भाद्रमास में मनाया जाता है।
पलथी	बैठने की एक पद्धति, जिसमें पैरों के पजो को अपने से दूसरे पैर के पट्ठे के नीचे दबाया जाता है।
पश्चात् कर्म	भिक्षाचरी का एक दोष। साधु को आहार आदि देने के पश्चात् तत्सम्बन्धी आरम्भ करना।
पहर	प्रहर। दिन या रात्रि का चतुर्थांश।
पहाड़ा	किसी अक के एक से लेकर दस तक के गुणनफलों की क्रमागत सूची।
पाती	विभाग।
पाडिहारिय	वह याचित वस्तु, जो उपयोग के पश्चात् वापस सौंपी जा सकती है।
पात्र-दान	मोक्ष-दान के योग्य व्यक्ति को देना।
पात्री	काठ का बरतन।
पानीझरा	मियादी बुखार। छोटी शीतला। मोतीझरा।
पाप	अशुभ कर्म।
पारण	निराहार रहने के पश्चात् उसकी पूर्ति पर प्रथम आहार। तपस्या की पूर्ति।

पारायण	पूर्ण रूप से अध्ययन। आद्यन्त पठन। पार-प्राप्ति।
पासत्था	शिथिलाचारी साधु। ज्ञानादि विराधक। शय्यांतर पिंडभोजी।
पुण्य	शुभकर्म।
पुद्गल-आसक्ति	भौतिक पदार्थों के प्रति अनुराग।
पंजना	प्रमार्जन करना। पोंछना। बुहारना।
पूठा	हस्तलिखित पत्रो की सुरक्षा के लिए बनाया गया कपड़े या गत्ते का घर।
पूणी	कातने के लिए बनाई गई रूई की लच्छी या पिउनी।
पूर्व	दृष्टिवाद नामक अंगसूत्र का एक भाग। चौरासी लाख को चौरासी लाख से गुणन करने पर, जो सख्या उपलब्ध होती है, उतने वर्षों का कालमान (अर्थात् ७०५६०००,००००००० वर्ष प्रमाण काल एक पूर्व कहलाता है।)
पृच्छना	तत्त्व-सम्बन्धी जिज्ञासा करना। पूछना।
पोतियावंध सम्प्रदाय	जैनों का एक उपासक सम्प्रदाय; जिसके सदस्य अपने सिर पर सफेद कपड़ा बांधते और साधु की तरह चर्या करते थे।
पौद्गलिक सुख	वस्तु-जन्य सुख। भौतिक सुख।
पौषध	एक दिन रात के लिए सावद्य-प्रवृत्ति से निवृत्ति। श्रावको का ग्यारहवां व्रत।
प्रकृति	स्वभाव।
प्रतिक्रमण	जैन साधक की एक आवश्यक क्रिया, जो कि जान-अजान में हुए दोषो के प्रायश्चित्तार्थ रात्रि के प्रथम और अन्तिम मुहूर्त्त में की जाती है।
प्रतिबुद्ध	सम्यक् बोध प्राप्त करने वाला। दीक्षा ग्रहण करने को उद्यत।
प्रतिबोधित	जिसे सम्यक् बोध दिया गया हो।
प्रतिलेखन	निर्धारित समय पर वस्त्र-पात्र आदि का निरीक्षण। पड़िलेहन।
प्रत्यक्ष	स्पष्टतया निर्णय करने वाला ज्ञान। साक्षात् ज्ञान।
प्रत्यक्षवादी	अप्रस्तुत की आशा में प्रस्तुत की उपेक्षा न करने वाला। अदृष्ट से अधिक दृष्ट को महत्त्व देने वाला।
प्रत्युत्पन्न बुद्धि	तत्पर बुद्धि। मौके या ठीक समय पर उपजने वाली बुद्धि। उपस्थित बुद्धि।
प्रमाण	यथार्थ निर्णायी ज्ञान। यथार्थ निर्णय में साधकतम।

प्रमाद	अनुत्साह। आलस्य।
प्रमादी	आचार-पालन में असावधानी करने वाला। आलसी।
प्रमार्जनी	रजोहरण का छोटा रूप, जो कि शरीर-प्रमार्जन या सस्तारक प्रमार्जन आदि कामों में आता है।
प्ररूपण	मन्तव्यो की निश्चायक रूप से उद्घोषणा। मन्तव्यों का व्याख्यापूर्वक कथन।
प्रव्रजित	दीक्षित।
प्रसाद	देवता आदि को चढाने के बाद बची हुई वस्तु।
प्रायश्चित्त	विशुद्धि के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान।
प्रासुक	अचित्त। जीव-रहित।
फडद	चातुर्मासिक स्थानों का सूचीपत्र।
बंध	आत्मा के साथ कर्मपुद्गलों का सम्बन्ध।
बधामणा	वर्धापन। आनन्ददायक बात की सूचना।
बनारसीमत	दिगम्बर विद्वान् बनारसीदासजी के अभिमत पर स्थापित सम्प्रदाय दिगम्बर तेरापन्थ।
बनौरा	दीक्षा ग्रहण करने वाले या विवाह करने वाले व्यक्ति की शोभा-यात्रा तथा उसे दिया जाने वाला भोज।
बहराना	मुनिजनो को आहार आदि कोई भी वस्तु प्रदान करना।
बहिर्धादान	चतुर्थ याम। मैथुन और परिग्रह का सम्मिलित नाम। धर्मोपकरणों के अतिरिक्त किसी भी बाह्य वस्तु का आदान।
बहीखाता	आय-व्यय लिखने की पुस्तक।
बाईसटोला	स्थानकवासी सम्प्रदाय।
बारहव्रत	श्रावकों के लिए आदरणीय नियम, जो कि सख्या में १२ होते है। गृहिधर्म।
बाह्य दृष्टि	भोगमूलक दृष्टि। भौतिक पदार्थों से आक्रान्त दृष्टि।
बीसपंथ	दिगम्बर भट्टारक-सम्प्रदाय का अर्वाचीन नाम।
बैकुण्ठी	शव-यात्रा के लिए विमानाकार बनाई गई अरथी।
बोधि-प्राप्ति	सत्य को पाना। सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति।
बोल	मान्यता सम्बन्धी बात।
बौद्ध	बुद्ध के अनुयायी।
बौद्धधर्म	बुद्ध के द्वारा प्रवर्त्तित धर्म।

ब्रह्मचर्य	मैथुन-विरमण। जननेन्द्रिय का संयमन। विकार-वर्जन।
भडोवगरण	वस्त्र-पात्र आदि वस्तुए।
भगवान्	तीर्थंकर।
भट्टारक	एक उपाधि। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के वे साधु, जो शिथिल होकर मठो में रहने लगे।
भट्टारक सम्प्रदाय	दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का एक प्राचीन संगठन।
भद्र-परिणामी	सरल-स्वभावी। निष्कपट।
भविष्यवाणी	घटित होने से पूर्व किसी वात की की गई घोषणा।
भावदीक्षा	वह दीक्षा जिसमें सयम के वास्तविक गुणो को जीवन मे उतारा-जाता है। वास्तविक संयम।
भाव-परम्परा	शुद्ध-परम्परा। यथोपदिष्ट आचार पालने वाले मुनियो की परम्परा।
भाव-संयम	वास्तविक सयम। गुणयुक्त संयम।
भाष्यकार	सूत्रार्थों की विस्तृत व्याख्या करने वाला।
भिक्षु चरमोत्सव	आचार्य भिक्षु के दिवगत होने की तिथि को प्रति वर्ष मनाया जाने वाला उत्सव।
भिलावा	भिल्लातक नामक औषध।
भोग	इन्द्रिय सुख। भौतिक वस्तुओ के प्रति आसक्ति।
मगलपाठ	मंगल के लिए स्मरणीय पाठ।
मंडलिया	भोजन के समय सामग्री रखने के लिए विछाया जाने वाला वस्त्र।
मठ	साधुओं के निवासार्थ वनाया गया मकान। वह मकान, जिसमें एक महंत की अधीनता में अनेक साधु रहते है।
मढी	छोटा मठ। साधुओ के निवासार्थ वनाया गया मकान।
मताग्रह	अपनी मान्यता का आग्रह। मतपक्ष।
मध्यम मार्ग	बुद्ध द्वारा उपदिष्ट मार्ग। सव प्रकार की 'अति' को छोडने वाला मार्ग।
मर्यादा	धर्मसघ की सुव्यवस्था के लिए वनाया गया नियम। सीमा।
मर्यादानुवर्तिता	नियमों के अनुसार चलने की वृत्ति।
महाव्रत	हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह का पूर्ण त्याग। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पूर्ण पालन।
मिथ्यात्व	विपरीत तत्त्व-श्रद्धा।
मिर्चपतासी	उकाली। कालीमिर्च, वताशे तथा कुछ अन्य गर्म मशाले डालकर किया गया पेय।

मिश्रक्रिया	वह क्रिया जिसमें कुछ पुण्य और कुछ पाप-दोनो का बधन होना माना जाता है।
मिश्रबंध	आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का वह बन्धन, जिसमें पुण्य और पाप—दोनो एक क्रिया-सापेक्ष हों।
मीमांसा	किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए की गई तात्त्विक विचारणा।
मुहपट्टी	मुख-वस्त्रिका। वायुकाय की यत्ना के लिए मुख पर बांधा जाने वाला वस्त्र।
मुक्ति	आत्मस्वरूप की उपलब्धि। सम्पूर्ण कर्मों से छुटकारा। सिद्धावस्था।
मुखवस्त्रिका	वायुकाय की यत्ना के लिए मुख पर बांधा जाने वाला वस्त्र।
मुमुक्षु	मुक्त होने की इच्छा रखने वाला। साधु।
मुहूर्त	दिन-रात का तीसवांभाग। एक कालमान, जो कि ४८ मिनट जितना होता है।
मूर्च्छा	ममत्व। आसक्ति।
मूलसंघ	एक दिगम्बर जैन सम्प्रदाय। वनवासी संघ।
मोतीझरा	मियादी बुखार। छोटी शीतला। पानीझरा।
मोदक	लड्डू।
मोभी	प्रथम पुत्र। सबसे बड़ा पुत्र।
मोह	घातिकर्म का एक भेद। दर्शन और चारित्र का घात कर आत्मा को व्यामूढ बना देने वाले कर्म-पुद्गल।
युगप्रधान आचार्य	अपने युग का सर्वोपरि प्रभावशाली आचार्य।
योग	मन, वचन और काया की प्रवृत्ति।
रजोहरण	जैन मुनियों का एक उपकरण, जो कि भूमि-प्रमार्जन आदि कामों में आता है। ओघा।
रण	क्षारमय भूमि। जहाँ वर्षा ऋतु में समुद्र का पानी भर जाता है, वह भूमि।
रत्नत्रयी	स क् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र का सम्मिलित ना।
रस्तान	पानी के पात्रों को ढांकने में काम आने वाला वस्त्र।
राग	मोह। अनुरक्ति। आसक्ति। अनुग्रह की भावना जगाने वाला स्नेह।
रात्निक	दीक्षा-पर्याय में बड़ा।
रोक रुपया	नक़द रुपया।

लवाजमा	परिकर। अधिकार, पद और वैभव को प्रदर्शित करने वाली शोभा-सामग्री।
लिखित	लेखपत्र।
लूहणा	पात्र को पोंछने में काम आने वाला वस्त्र-खण्ड।
लोंकागच्छ	लोंकाशाह के नाम पर स्थापित सम्प्रदाय।
लोकामत	लोंकाशाह का प्ररूपित मत। लोंकागच्छ।
लोंकाशाह की हुण्डी	लोंकाशाह द्वारा रचित आचार-विचार सम्बन्धी एक ग्रन्थ।
लोकधर्म	लौकिक अभ्युदय करने वाला कार्य।
लोकोत्तर धर्म	आत्मोदय करने वाला कार्य। निश्रेयस् या मोक्ष का साधन।
लोगस्स	आवश्यक सूत्र का 'उक्कित्तण' नामक पाठ।
लोट	तुम्बे पर रंग-रोगन करके बनाया गया पात्र।
वनवासी	एक दिगम्बर जैन सम्प्रदाय। मूल संघ
वाचक	आगमों की वाचना देने वाला। एक उपाधि।
वाचकवंश	वाचनाचार्यों की कालक्रमानुसारी परम्परा। विद्याधरवंश।
वाचना	पठन। आगमों का शोध-पूर्ण पठन।
वाचनाचार्य	गण की शैक्षणिक सुव्यवस्था करने वाला।
वायुकाय	वायु को ही शरीर रूप में धारण करने वाले सूक्ष्म जीव।
वासती	रेजी। मोटा और गाढा वस्त्र।
विगय	वे भोज्य पदार्थ, जो मात्रा का ध्यान रखे बिना खाने पर विकार उत्पन्न कर देते है। दूध, दही, घृत, तैल, मीठा और तले हुए पदार्थ—ये छह 'विगय' विकृति है।
विद्याधर वंश	वाचनाचार्यों की कालक्रमानुसार परम्परा। वाचकवंश।
विधिमार्गी	संवेगी-सम्प्रदाय का एक प्राचीन नाम।
विराग	भोग-वृत्ति से पराङ्मुखता। सांसारिकता से विरक्ति।
विलायती	थली के ओसवालों में सामाजिक झगड़े के समय स्थापित एक पक्ष, जो कि विदेश जाने वालों व उनके साथ खान-पान करने वालों को जाति-बहिष्कृत करने का विरोधी था।
विहार	श्रमणों की पदयात्रा।
वेद	वैदिकों के धर्मग्रन्थ।
वेदविद्	वेदों का ज्ञाता।
वेषधारी	संयमोचित आचार को छोड़कर केवल वेष धारण करने वाला।

वोसराना	त्यागना। व्युत्सर्ग करना। अपना सम्बन्ध या अधिकार हटा लेना।
व्यंग्यार्थ	प्रकटनीय अर्थ। प्रतिध्वनित होने वाला अर्थ।
व्युत्क्रान्त	निष्क्रान्त। ग्रह का किसी राशि पर से हटना।
व्युत्सर्ग	परित्याग। विसर्जन।
व्रत	सावद्य प्रवृत्ति का त्याग। प्रत्याख्यान।
शासन	जैन-सघ। जिनाज्ञा को मानकर चलने वाला समुदाय।
शीतदाह	वह ज्वर, जिसमें अत्यन्त शीत अनुभव होता है।
शुभयोग	मन, वचन और काया की शुभ प्रवृत्ति।
शैक्ष	नवदीक्षित।
श्रद्धा	सम्यग् दर्शन। मान्यता। विश्वास।
श्रमण	अपने श्रम से अपना उत्थान करनेवाला जैन या बौद्ध भिक्षु।
श्रावक	श्रद्धा-पूर्वक शास्त्र-श्रवण करने वाला जैन गृहस्थ। व्रतधारी गृहस्थ। देशव्रती। श्रद्धावान् गृहस्थ।
श्रावक व्रत	गृहस्थ धर्म। गृहस्थी के लिए उपदिष्ट बारह व्रत।
श्री सघ	जैन संघ। श्रावकों का साधर्मिकता के आधार पर चलने वाला धार्मिक व सामाजिक संगठन। थली के ओसवालों में सामाजिक झगड़े के समय स्थापित एक पक्ष, जो कि विदेश जाने वालों तथा उनके साथ खान-पान करने वालों को जाति-बहिष्कृत करने का पक्षपाती था।
श्रुत	आगम। वह ज्ञान जो शब्द या सकेत आदि के द्वारा दूसरो को समझाया जा सकता है।
श्वेताम्बर	जैनों का वह सम्प्रदाय, जो मुनि के लिए श्वेत-वस्त्रों का परिधान मान्य करता है।
सकल्प	प्रतिज्ञा। त्याग। किसी दुर्व्यसन या वस्तु-विशेष को छोड़ने का निर्णय।
सक्रान्त	प्रविष्ट। ग्रह का एक राशि मे दूसरी राशि में प्रवेश।
सघनायक	आचार्य।
संज्ञी	समनस्क प्राणी। गर्भजप्राणी।
संतवाणी	सतो द्वारा रचित वैराग्य-युक्त पद्यावलि।

सत-समागम	सतो की संगति।
संथारा	आजीवन के लिए आहार का परित्याग।
संन्यासी	योगी।
संभोग	समान समाचारी वाले साधुओं का आहारादि विषयक सम्मिलित व्यवहार।
सयम	सब प्रकार के सावद्य कार्यो से विरति। सम्यक् चारित्र।
सलेखना	उपवास आदि तपस्या। निर्धारित दिनो तक आहार का परित्याग।
सविग्न	एक जैन सम्प्रदाय। सवेगी।
संस्कृति	आचार और व्यवहार सम्बन्धी वे सस्कार, जो परम्परा से पुष्ट तथा वर्त्तमान को उत्प्रेरित करने वाले होते है।
सहनन	शरीर-रचना।
सचित्त	जीव-सहित। अप्रासुक।
सचेल	वस्त्र-परिधान को मान्यता देने वाला। वस्त्र-सहित।
सत्य	यथार्थ। अविसवादी।
समाधि	मानसिक शान्ति की स्थिति।
समिति	सयम के अनुकूल प्रवृत्ति।
सम्प्रदाय	गुरु-परम्परा। धर्म-विशेष का उपसंगठन
सम्यक्त्व	सम्यक् तत्त्व-श्रद्धा।
सांग	नकल उतारने के लिए की गई तद्रूप वेषभूषा।
सांभोगिक	जिनमें परस्पर भोजन-पानी आदि देने लेने का व्यवहार खुला हो।
सांवत्सरिक पर्व	श्वेताम्बर जैनों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पर्व। पर्यूषण पर्व का अन्तिम दिन।
साझ	भोजन आदि दैनिक चर्या की सुव्यवस्था के लिए एक व्यक्ति की प्रमुखता में स्थापित मुनियो का मण्डल।
साझपति	भोजन आदि दैनिक चर्या की सुव्यवस्था के लिए बनाये गए मुनियों के मडल का प्रमुख।
सामवायिक	सामूहिक।

सामायक	एक मुहूर्त के लिए सावद्य प्रवृत्ति में निवृत्ति। श्रावकों का नवमा व्रत।
सामायक चारित्र	पांच प्रकार के चारित्रों में से प्रथम। सामायक-सूत्र के द्वारा ग्रहण किया जाने वाला चारित्र। प्रारम्भिक चारित्र।
सामायक-सूत्र	दीक्षा ग्रहण करते समय उच्चारित किया जाने वाला आगम पाठ। दीक्षा-सूत्र।
साम्मिवच्छल	सार्घमिकों को दिया जाने वाला भोज। सार्घमिकों के प्रति वात्सल्य।
सारणा-वारणा	उचित का प्रसारण और अनुचित का निवारण।
सावद्य	पाप-सहित। सदोष।
सिंघाडा	जैन मुनियों की ऐसी मण्डली, जिसमें एक मुखिया होता है और शेष उसके आज्ञावर्ती।
सिद्ध	परमात्मा। मुक्तात्मा। जिसने सब कर्मों का नाश कर दिया।
सुखैषी	सुख की खोज में रहने वाला। सुख में आसक्त।
सुविहित मार्गी	सवेगी-सम्प्रदाय का एक प्राचीन नाम।
सूत्र	आगम। थोडे मे अधिक अर्थ व्यक्त करने वाला पद या वाक्य।
स्थण्डिलभूमि	शौचभूमि। गांव के बाहर का स्थान, जहाँ मलोत्सर्ग के लिए जाया जाता है।
स्थविर कल्पिक	संघ में रहकर साधना करने वाले मुनि।
स्थविरावलि	प्राचीन आचार्यों की पट्ट-परम्परा।
स्थानक	स्थानकवासी साधुओं के ठहरने का स्थान।
स्थानकवासी	बाईस टोला। स्थानकों में रहने वाले श्रमण और उनके अनुयायी।
स्याद्वाद	अनेकान्तवाद। जैनदर्शन। परस्पर विरोधी धर्मों में भी अपेक्षा-भेद से अविरोध मानने वाला मत।
स्याद्वादी	अनेकान्तवादी। जैन। परस्पर विरोधी धर्मों में भी अपेक्षा-भेद से अविरोध मानने वाला।
स्वर्ग	देवों के रहने का स्थान।
स्वाध्याय	काल आदि की मर्यादा से किया जाने वाला अध्ययन। आत्म विषयक चिन्तन।

हरकारा	संदेश वाहक। चिट्ठी-पत्री पहुँचाने वाला। कासीद।
हाजरी	गण की विशुद्धि के लिए बनाए गये वे शिक्षात्मक नियम, जो स्वामी भीखणजी द्वारा निर्मित मर्यादाओं पर आधारित हैं। संघीय मर्यादाओं का परिषद् में पठन।
हाट	दुकान।

★

परिशिष्ट ६

उद्धृत ग्रन्थ एवं संकेत-सूची

अणुव्रत-आन्दोलन	
अणुव्रत जीवन-दर्शन	
आषाढभूत रो वखाण	
आगम अष्टोत्तरी	
आचार की चौपाई	आ० चौ०
आचाराङ्ग	आचा०
आचार्य श्री तुलसी	
आनन्द बाजार पत्रिका (बंगला दैनिक)	
आवश्यक चूर्णी	
इण्डियन फिलोसॉफी	
उत्तराध्ययन	उत्त०
उदयपुर राज्य का इतिहास	
ऋषिराय सुजस	ऋ० सु०
ओघनिर्युक्ति	
कल्पसूत्र	
ख्वासि	
ख्यात	
चेडा कोणिक री सिंध	
चोपडी	
छान्दोग्य उपनिषद्	
जनपद-विहार	
जयसुजस	ज० सु०
जयाचार्य कृत महोत्सव की ढालें	ज० कृ० म० ढा०
जैन भारती	
जैन साहित्य और इतिहास	
टाइम (न्यूयार्क का साप्ताहिक पत्र)	
तत्त्व-चर्चा	
दशवैकालिक	

दी माइण्ड ऑफ मिस्टर नेहरू
धर्मसागर कृत पट्टावली
नव निर्माण की पुकार
नवभारत टाइम्स
नीतिशतक
नैतिक संजीवन
पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म
पोरवालों की वंशावलि
प्रकीर्ण पत्र संग्रह　प० प० सं०
प्रबुद्ध जीवन
बगचूलिया
बही
बीकानेर राजपत्र
भगवती　भ० च०
भारीमाल चरित्र　भारी० च०
भिक्षु चरित (वेणीरामजी स्वामी रचित)　वेणी० भि० च०
भिक्षु जस रसायण　भि० ज० र०
भिक्षु गुणवर्णन
भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर　भि० ग्र० र०
भिक्षु दृष्टान्त　भि० दृ०
भ्रमविध्वंसन
मघवासुजस　म० सु०
मज्झिमनिकाय
माणक महिमा
युक्ति प्रबोध
लघु भिक्षु जस रसायण　ल० भि० ज० र०
वार्तालाप-विवरण
विशेष विवरण
विशेषावश्यक भाष्य
वीर विनोद

बृहत्कल्प चूर्णी
शासन प्रभाकर शा० प्र०
शासन विलास
श्रावक शोभजी कृत ढाल
श्री जैन धर्म नो प्राचीन संक्षिप्त इतिहास अने प्रभुवीर पट्टावली
संतो की ख्यात
सद्धर्म मण्डनम्
साधांरा दृष्टांत
साध्वियों की ख्यात
सिद्धान्तसार
स्वामीजी की वंशावलि
स्वामी रामचरणजी की अणभेवाणी
हरिजन सेवक
हिन्दुस्तान टाइम्स
हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड
हेम दृष्टान्त
हेम नवरसो

लेखक की अन्य कृतियाँ :—

मंथन

आवर्त्त

उत्तिष्ठत ! जागृत !!

उठो ! जागो !!

आँखों ने कहा

पराग

विचार विन्दु

तेरापंथ (हिन्दी, अंग्रेजी, कन्नड़)

तेरापंथ के मौलिक मन्तव्य और वर्तमान लोक

तेरापंथ का इतिहास (द्वितीय खण्ड)

मानवता का मार्ग—अणुव्रत आन्दोलन

अणुव्रत विचार-दर्शन

श्रमण संस्कृति के अंचल में

स्मितम् (संस्कृत)

आप्तमीमांसा प्रवेशिका (संस्कृत)

जयहिन्दी व्याकरण

उस पार

The contribution of Jain writers to Indian languages.

अनूदित :—

श्री भिक्षुन्यायकर्णिका

शिक्षापण्णवति

कर्त्तव्यषट्त्रिंशिका